

255703, 139 * रोडवेज पुस्तकालय
2203476, 2431740 * पुलिस
नियंत्रण कक्ष 100, 2414150 *
अतिशयन सेवा-चेतार्गज 2414363,
भेलपुर 2277666 * जल संस्थान (नियंत्रण
कक्ष) 2275827 * जीएचयू अस्पताल
2369250 * एडुलेंस 2309307,
2307558 * शिवप्रसाद गुप्त अस्पताल
2214723-एडुलेंस 2214723 *
आईएमए 3209111, 3209112
एडुलेंस 2414122 * हेरिटेज
2369991-5, 2368888 *
अस्पताल 2454839 *
कैप्ट 2208731, 2200

15.3

अर्थ और इतिहास

जिनका निस्तारण नहीं किया गया था
इस संबंध में थानाध्यक्ष सुहवल को व्यक्तिगत
पत्रावली पर कठोर चेतावनी दी गयी है।
समस्त थाना प्रभारियों को निर्देशित किया
गया कि थाना दिवस के सभी प्रार्थनापत्रों
का निस्तारण उसी दिन किया जाए एवं
आवश्यकतानुसार उसी दिन टीम बनाकर
मौके के लिए भेजी जाए। क्षेत्रीय लेखपाल
के न आने पर अनुपस्थित रहने की दशा
में निकटवर्ती/लोक लेखपाल को मौके
पर लेकर जाये एवं प्रार्थनापत्रों का निस्तारण
कराये। थाना दिवस का प्रचार प्रसार करया
जाए एवं थाना दिवस के दिवस बैनर
भी लगाये जायें।

किया एवं कार्यवाही का समीक्षा का। ग्राम
के दौरान पाया गया कि थाना गहमर पर
राजस्व विभाग के कई अधिकारी, नायब
तहसीलदार, कानूनगो, एवं कई क्षेत्रीय
लेखपाल भी मौजूद नहीं थे। बाद में नायब
तहसीलदार आये जिन्होंने बताया कि
वे विजली टावर विवाद के निस्तारण
में मौके पर गये हुए थे। थानाध्यक्ष गहमर
एवं सुहवल को निर्देशित किया गया
कि शासन की मंशा के अनुरूप थाना
दिवस पर कार्यवाही करें। सभी राजस्व
विकास, बिजली एवं अन्य संबंधित विभागों
के अधिकारीगण की नामवार /पदवार
सूची मंगा कर उपस्थिति रजिस्टर बनाये
और जो भी अधिकारीगण नहीं आते हैं,

चतुष्पाद दवाई

लेखक

नाथूराम प्रे

जी

लोकसभा चुनाव हेतु
भाजपा की बैठक

में हुआ
रहता
टीम

युधिष्ठिर मीमांसक १३१

म-सूची

६०९

रावतार १०७, १२२
 रार्णव १११-२
 रार्णव-चंद्रिका ९५, १००-५,
 ११२ इ०, १३८, १४३
 रार्णव-प्रक्रिया ११४ इ०
 रामोजभास्कर १०६, १०८ इ०,
 ३९
 र १२७
 ४००
 रला १४०
 रदीन १३१, १३३
 राय २३१
 रार्य ५२०
 रनेन्द्र ८८, ३५९
 रमेश्वर २३७
 रायन २९, ३०, ४२, ४३, ४५,
 ७, ६०, ९३, १००, ११७,
 १८, १२७, १५० इ०, ५१८,
 १३२
 शाकटायन-प्रक्रियासंग्रह १५१
 शाकटायन-न्यास १५४
 शाकटायन टीका १५५
 शाकटायन सूत्र १५८
 शारदासदन १३०, १४१
 शार्ङ्गधरपद्धति १४०
 शालुरीय ९९
 शासनचतुर्ल्लिंशतिका १३९
 शास्त्रवार्तासमुच्चय १५३
 शास्त्रसार-समुच्चय ५३४
 ३९

शांत ५३१
 शांतिकुमार ५७२
 शांतिदेव ४५४
 शांतिनाथपुराण ३४४
 शांतिपुराण ७५
 शांतिषेण १७२, १७५-६, ४२२, ४३१
 शांतिस्मरि १५३
 शांत्यष्टक १२३-४
 शिरपुर २२७
 शिलाग्राम ५४
 शिलादित्य ४२८
 शिलाहार ११२, १३८
 शिवकांची २३१
 शिवकोटि २५, २६, २८, २९, ३६,
 ५७, २६१, ३५५
 शिवगुप्त २५, ४२२
 शिवजित् १९७
 शिवजीलाल ३५, १६५, १६७, १७१
 शिवदत्त १६, ५३, ४२२
 शिवनंदि २५
 शिवमहिम्न ३०३
 शिवविजय १९८, २२५
 शिवाजी २३८
 शिवायन २६, २६१
 शिवार्य २३, २४, २८, ३०, ५६ इ०,
 १३५, १५३, १७७, ४३५
 शिशुपालवध ३८६
 शिंदखेड २३०
 शीलगुणस्मरि ३५३

शीलमट्ट ३१४
 शीलमट्ट ११, ११६
 शीलविजय १९८, २००, २०६,
 २२५, २३०, २३३, २४६, ५१५
 शीलपदेशमाला ५२६
 शुक्र यतींद्र ५२०
 शुक्र ६३, ७२
 शुक्रनीति ८०, ८३
 शुभकीर्ति ४७६
 शुभचंद्र ९८, ११३, १२२, १५०,
 २३३, २४५, ४०६, ४०९,
 ४४०इ०, ४४५-६, ४५६, ४५८,
 ५२७ इ०, ५७२
 शुभतुंगदेव ३२१, ३२६
 शेकिलार ४८२
 शेतवाल ५५५
 शोमन ३१४, ४६८
 श्रमणगिरि २०१, २०३-४, २१५
 श्रवणगिरि २०३
 श्रवणबेलगोल १९८
 श्रवणसेन २०४
 श्री (?) १५
 श्रीकलश ४१
 श्रीकीर्ति १६१
 श्रीकुमार २६०-२
 श्रीकोटिदकरण ३०३
 श्रीचंद्र ३९, ४०, ३१३, ३३५ इ०,
 ४०६, ४४३
 श्रीदत्त २६, ५३, १२०, १२१

श्रीदेवी १२३, ३१६
 श्रीधर १४, १६, ४२२
 श्रीनंदि ३९, २५४, ३३६-७
 श्रीपति ३०५
 श्रीपति-निबंध ३०३
 श्रीपति मट्ट ३०३
 श्रीपति-समुच्चय ३०३
 श्रीपाल २६५, ३७५, ५००, ५०१
 श्रीपाल-चरित्र ४१०
 श्रीपाल (त्रैविद्य) ३५७, ४७८
 श्रीपालदेव ३५६, ३९७, ४००, ४५४
 श्रीपाल-आख्यान २६९, २७०
 श्रीपुर ११, ५३, ५५
 श्रीपुराण २६६
 श्रीपुरान्वय ११
 श्रीभूषण ३४० इ०
 श्रीमतीकल्याण २६२
 श्रीरत्नी १३१
 श्रीरंगपट्टण २३३
 श्रीवल्लभ ४२४, ४२५
 श्रीविजय ४५, ५२, २५३, २६९,
 ४५४
 श्रीषेण १७६
 श्रीहर्ष १८०, ३२३, ३२५, ३७१,
 ३८४, ३८६-७
 श्रुतकीर्ति १००, १०६, १०८, ११०,
 ११४
 श्रुतपंचमी कथा २९८
 श्रुतविदु ४५४

श्रुतसागर ४४, ५१, ६६, ३६३,
४०६ इ०, ४८०
श्रुतस्कंध २५५
श्रुतस्कन्ध-पूजा ४०९
श्रुतावतार ६, ८, १०, १६, २९, ५३,
२५५, २९८, ४२२, ४९७-८,
५६८
श्रुतिगुप्त ४२२
श्लोकवार्तिक १०४, १६३, ५३१
षट्कर्मोपदेश १७६, २७५
षट्कर्मोपदेश-रत्नमाला ५४२
षट्खंडागम १०, १२, २०२, ५०३
षट्पाहुड ५१
षट्पाहुड-टीका ४०७
षट्प्राभृत ४४, ३६३, ४१०
षड्दर्शनसमुच्चय ४४
षड्वाद (?) ५३३
णवतिप्रकरण ७१, ८८
षष्टिशतक ३५४
सकलकीर्ति ४०६, ५२७, ५२९, ५३१
सकलचंद्र २५३-४
सज्जनचित्तवल्लभ ४१६
सत्कर्मपंजिका ५०३
सत्कर्मप्राभृत १२
सत्यपुरीयमहावीरउत्साह ४६९
प्रत्यवाक्य २६०, २६२, ३५६, ४००
सतगम २६४
सदासुख ३०, ३१, ३५, ४५, ४६,
५७, ५९, १०९

सन्मति-टीका १६४
सन्मतिप्रकरण ५३६
सन्मतिसागर ४०५
सपादलक्ष ८६, १४३
सन्निवेश ८७
समन्तभद्र २५, २६, २८, २९, ५७,
६९, १२०, १२६, २४०, २६०-
१, ४०५, ४३०, ४४२, ४६१,
देखो लघु समन्तभद्र ५३७, ५५९
समयसार १०, ३४५
समयसार-टीका ३९, ४५७
समयसार-नाटक ३६७, ३६९, ५६०
समयसुन्दर ९३
समाधि-तंत्र ९९, १२१
समाधितंत्र-टीका ३३९
समाधि-शतक ९६, १२१
समुद्धर १४१
समुद्रगुप्त ४४१, ५५७
सम्मेदशिखर १८८, २०७, २१७
सम्यग्दर्शन यंत्र १९७
सरण्यापुर २६३-४
सरस्वती १३१, ३०९
सरस्वतीकंठाभरण १२६
सरस्वती गच्छ २५५, ३४३, ४०६,
४३९, ५२७, ५२९, ५४२
सरस्वती-पूजा ५३०, ५३३
सरस्वती-मंत्रकल्प ४१५
सर्वगुप्त २४, २९, ३०, ५६, ५७,
१५३

सर्वज्ञसिद्धि ४५२
 सर्वतोमद्र २१९, ५३३
 सर्वदेव ४६८
 सर्वनन्दि २, ४, ७, ११, २७५,
 ५६९, ५७०
 सर्वार्थसिद्धि २८, ५३, ९६, ९८,
 १०३-५, १२१, २९६
 सर्वार्थसिद्धि-टिप्पण ३३९
 सलखण १३२, १७२
 सल्लक्षण १३१, १३२
 सवालख १४३, २०८
 सहवासी वंश ३४
 सहस्रकीर्ति ४४४, ४४६, ४९३,
 ५७२-३
 सहस्रनाम १३७, ४०९
 सहस्रनामस्तवन सटीक १३६
 सहस्रार्जुन ३२२
 संघदास वाचक २८३
 संघपट्टक ३५३
 संघवी, संघी ५४०
 संजीवनी १४०
 संत ३२१
 संतइय ३२१
 संतरनम २६४
 संदेहध्वान्त-दीपिका ४७४
 संप्रति २४१
 संबोध-प्रकरण ३५०, ३५२, ३६५
 संशयिवदन-विदारण ५३३
 संस्कृत आराधना ३६ इ०

सागरदत्त १९०
 सागरसेन ३३६
 सागवाड़ा २७०
 सागारधर्माभूत ९८, १३४, १३६-
 १४१, ४६३
 सातकर्णि ५५७
 सामायिक पाठ १७८
 सामिअब्बा ३७४, ३७६
 सामियर ३५८
 सारसंग्रह १२२
 सारस्वत गच्छ १४५
 सार्द्धद्वयद्वीपप्रज्ञप्ति १७९, २५२
 साहसाङ्क ५७३
 साहु (साधु) ५४१
 सांख्य ८५
 सांख्यकारिका ११८
 सांगण ४९२
 सांची १८९
 सांभर १४३
 सिकंदर ३३६
 सिकाकोलि २३१
 सिद्धचक्रवर्त-पूजा ५३३
 सिद्धवरकूट २०१
 सिद्धनगर २०७
 सिद्धनन्दि १६२, ३५८
 सिद्धभूपद्धति-टीका ५०२, ५१२
 सिद्धवर कूट १८९, २०५-७
 सिद्धसेन ३०, १२०, १२६, १२८,
 १६४, २३८, ३२५, ३७१, ४२२,
 ४३०, ५३६

सिद्धहैम १२५-७
 सिद्धहैमशब्दानुशासन १००
 द्वादिकूट २१७
 द्वार्य १६, २५५
 द्वांतशेखर ३०३
 द्वांतसार २७०
 द्वातसार-भाष्य ५३०
 द्विविनिश्चय ४५२
 रपुर २३७
 सेरिउजपुर ४६८
 सिंगई, सिंघई ५४०
 संघखेडि २२९, २३०
 सिंधुपति १७७
 सिंधुराज १८०, १८३
 सिंधुल १७२, १७७, १७९, १८०,
 ४४०, ४४१
 सिंह (संघ) ४०५, ५२४
 सिद्धक्षमाश्रमण १६४
 सिद्धगिरि १५, १६२
 सिंहगुप्त ४८३
 सिंह चक्रेश्वर ३९८
 सिंहदेव गणि ४८५-६
 सिंहनंदि २९९, ४०६, ५३७
 सिंहपुर ३५६, ४००, ४०५
 सिंहबल ४२२
 सिंहभट १८०, ३२८
 सिंहल ७५, ४४१
 सिद्धवाहिनी ४३०
 सिद्धसूर्य ४

सिंहसूरि २, २७५, ५७०
 सिंहसेन ४२२
 सीयक १८०, ३२३, ३२८
 सीलइय ३०६, ३२१, ३७६
 सीलणिहि ३८५
 सुअब्बा ३७४
 सुकुमारसेन ४१७
 सुकृतसागर २४२
 सुखेन्द्रकीर्ति ४३९
 सुद्राअ ३८५
 सुद्धसहाव ३८५
 सुद्धसील ३८५
 सुधर्म (मा) १६, २५५
 सुधासागर ४०२
 सुपार्श्वचन्द्र १४
 सुबोधिका ९३
 सुब्रह्मण्य २३४
 सुभगसुलोचना-चरित्र २७०
 सुमट वर्मा १३३
 सुमद्र १६, २५५
 सुमद्राहरण २६३, २६६
 सुभरमणि २३४
 सुभाषितरत्नसंदोह ३६, १७५-६
 १७९, १८०, १८४
 सुभाषितहारावलि ४६५
 सुमतिकीर्ति ५२८-९
 सुमतिदेव ५३६-७
 सुमति-सप्तक ५३६
 सुरेन्द्रकीर्ति १७३, ४३९

सुलोचना कथा ४२०, ४३१, ५३८
 सुवर्णगिरि २०१
 सुवर्णनदी २३४
 सुवर्णभद्र १९२
 सुविज्ञप्ति ५३२
 सुहृदराज ३८५
 सुहंकर १६८
 सूक्त (क्ति) मुक्तावलि १४०, ३६८,
 ४६५
 सूत्रकंठ ५६०
 सूत्रकृतांग ४८
 सूत्रसेन ७३
 सूर्यप्रज्ञप्ति २५२
 सूर्यवंश ८६
 सूर्यशतक ४०२
 सेतव ५२५
 सेनगण २५५
 सेनान्वय ८९, ४९७ इ०
 सेनसंघ ८९, २९६
 सेनवंश ४१४
 सेंदपा २०८
 सोनागिरि १३७, १९७, २०१,
 २०३-५, २२३, २३९
 सोमकीर्ति ३१४
 सोमदेव २७, ६१ इ०, ८६, ९९,
 १००-२, ११२-४, १३८-९,
 ३१४, ३२२, ३२८, ३५९,
 ३६२, ३९६, ४०८, ४५३,
 ५४८, ५६२

सोमप्रभ १९०
 सोमश्रेष्ठी ४८४
 सोमेश्वर २३०, ३९९, ४५५
 सोलंकी १८०, १८४
 सोवनगिरि २०२
 सोहन ३२१
 सौर ४२४, ४२७
 सौराष्ट्र ४१
 स्कंदिल २७३
 स्तंभ १८९
 स्तंभतीर्थ २४४
 स्तंभदेव १४१
 स्त्रीमुक्तिप्रकरण ४३
 स्त्रीनिर्वाण-केवलिमुक्तिप्रकरण १५२,
 १५४
 स्तुतिविद्या ४६१
 स्थविरावलि १६२
 स्मृतिरत्नाकर ८२
 स्याद्वादोपनिषत् ७१, ८७, ८८
 स्याद्वाद २३८
 स्वयंभु ४२, ४३, ६०, २८५,
 ३२५-६, ३७० इ०
 स्वयंभु-छंद ३२५, ३८२
 स्वयंभु-व्याकरण ३८५
 स्वयंभुस्तोत्र-पंजिका ३३९
 स्वरूप-संबोधन ५३३
 स्वर्णगिरि २१७
 स्वर्णरेखा ४९५
 स्वामिकराज ४३०

हनसोगो ५५

हरअत्त ३८५

हरदेव १४१

हरपति ५४२

हरप्रबोध ७२

रेआस ३८५

शुचन्द्र ११३, ११४, ४७२ इ०

बल ७९

मद्र ४२, ४४, ९४, ९५, १२८,

१६४, १७७, २३८, ३१४, ३५०,

३५२-३, ३६५, ४६७

हरिवंश २०३, ३७२, ३७६, ३८५,

३८७, ४२० इ०

हरिवंशपुराण १८-२०, २९, ६०,

९५, १११, १६४, २०२, २११, २१३,

२५५, २७४, ३१३, ३७१, ३७३,

३७९, ३८१-२, ३८७, ४४६,

५०९, ५३६-९, ५५८, ५७१

हरिवंशपुराण ३७८, ३८०

हरिषेण २६, १७७, ३२५, ३२९,

३३३, ३७०, ३७१, ४२१, ४२३,

४२८-९, ४३४इ०, ४४६, ४६८, ५३९

हरिहर (राजा) १२२, २३१, ५०६

हर्ष ३८६

हर्षचरित ३७१

हर्षदेव ३२८

हर्षवर्धन ३८६, ४०२, ४४१

हलायुध १८०

हस्तिनापुर २००

हस्तिमल्ल २६, २६०, ३०, ४१७, ४९६

हंससिद्धान्तदेव ६९

हंससोम २०२

हाल ३८५

हिमवत् १९०, २१७

हीरविजय २४६, ४९२

हुल्लप ३६०

हुल्लमय्य ३६०

हुंवसि २३६

हूमच पद्मावती २४६

हेमकीर्ति १९६-७

हेमचंद्र ९४, ९५, ११८, २०९,

२५३, २७९, ३१५, ३७७, ३८१,

३८७, ४०९, ४४७-९, ४६७,

४८६, ५७१

हेमसेन १९८, ४५४

हेमाचल (होन्नूर) २६२

हेमाद्रि ८२, २३३

हेलाचार्य ४१६

हैम (शब्दानुशासन) ९९, १२८

होय्सल २६१

होलगिरि २३७

होलिका-चरित्र २७०

ना
—

जैन साहित्य और इतिहास

[संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओंके
विविध जैन-ग्रन्थों और उनके रचयिताओंका
परिचय और इतिहास]

लेखक

नाथूराम प्रेमी

अस्तंगत 'जैनहितैषी' के सम्पादक, 'माणिक्यचन्द्र जैनग्रन्थमाला' के
मंत्री, और 'हिन्दीग्रन्थरत्नाकर' के संचालक]

प्रकाशक—

हेमचन्द्र मोदी,

ठि० हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,

हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई

पहली बार

अप्रैल, १९४२

मूल्य तीन रुपये

मुद्रक—

रघुनाथ दिपाजी देसाई,

न्यू भारत प्रिन्टिंग प्रेस,

६, केलेवाडी, गिरगाँव, बम्बई ४

जिसकी अविश्रान्त सेवा-शुश्रूषाने
अनेक लम्बी लम्बी और कष्टसाध्य बीमारियोंके समय
मृत्युके मुँहमें जानेसे बचाया,
जिसके पवित्र साहचर्यने पशुसे मनुष्य बनाया,
कष्ट-कालमें धैर्य और साहस दिया,
समाज-सुधार-कार्योंमें सदा उत्साहित किया,
जिसने सब कुछ दिया ही, लिया कुछ भी नहीं,
और
जो अप्रत्याशितरूपसे परलोक-यात्रा करके
हृदयमें सदाके लिए एक गहरी टीस छोड़ गई कि
'मैं उसे सुखी न कर सका'
अपनी उसी स्वर्गीया साध्वी पत्नीको

INTRODUCTION

Pt. Nathuram Premi's name is quite familiar to the student of Hindī literature, and the Orientalist knows him as the General Editor of the *Māṇikachandra D. Jaina Granthamālā* which has issued some forty volumes containing unpublished Jaina works in Prākṛit and Sanskrit and in which are lately published the magnificent volumes of *Nyāyakumudacandra* of Prabhācandra edited by Pt. Mahendrakumar and the *Mahāpurāṇa* of Puṣpadanta edited by Dr. P. L. Vaidya.

It was at the close of the last century that Oriental Scholars got access to the Jaina Bhaṇḍāras. Due to the efforts of some Provincial Governments many Jaina Mss. were brought to light: some of them were welcomed by European Universities that were taking keen interest in Indological studies and many others were collected and catalogued in India by experts. So far as Western India is concerned, the Reports prepared by Bhandarkar, Peterson and others contained such a rich harvest of new material that many scholars came to be interested in the study of Jaina literature and chronology as a part of Indian literature and history. Complaints were already being made against Indian literature in general that it was wanting in historical facts about the authors and their dates; but the details about many Jaina authors and their contemporaries and predecessors brought to light by Bühler, Bhandarkar, Peterson etc. from literary sources and by Narasimhachar and others from epigraphic sources were not only reliable but proved also to be valuable landmarks in Indian history and literature. The various details about Jaina Nyāya

literature discussed by Pathak and Vidyabhushan evoked much interest, and for years together their conclusions held the ground.

Among the elderly Jaina scholars who were specially attracted by the results of Bhandarkar, Peterson, Pathak, Vidyabhushan etc., the names of Dalal, Jinavijayaji, Jugalkishore and Premi stand foremost; and their studies have been a source of inspiration to many Jaina scholars of the younger generation. With a remarkable forethought they realized the importance of Jaina collections of Mss., visited them, took down notes and their Praśastis and kept themselves busy in bringing to light important facts about Jaina authors and their compositions. Unluckily Dalal died a premature death; but that which stands against his name bears eloquent testimony to his earnest scholarship. The remaining three scholars are still amidst us and are continuing their studies in Indian literature in general and Jaina literature in particular.

Pt. Premiji wrote a number of monographs on various Jaina authors, and his *Vidvadratanamālā* (Bombay 1912) contained six essays on Jinasena-Guṇabhādra, Āśādhara, Amitagati, Vādirāja, Mallīṣena and Samantabhadra. During subsequent years his desire to collect information about different Jaina authors and their works went on increasing, with the result that he contributed many papers to his Jaina Hitaishi with which later on Pt. Jugalkishore also came to be associated. Some of the Introductions of the volumes of Māṇikachandra D. Jaina Granthamālā show that both of them were bringing to light a large mass of facts. Pt. Premi's essay on the Jaina Hindī Literature (Jaina Hitaishi vols. XII. pp. 541-568, XIII. pp. 10-35), presented to the seventh session of the Hindī Sāhitya Sammelana, Jubbulpore, clearly shows how studiously he must have worked in different Bhaṇḍāras to collect historical and chronological data.

Though he spends a busy life as the Proprietor of the Hindi Grantha Ratnakara Karyalaya, Bombay, his yearning for research still continues unabated, and his note-books have gone on swelling

for the last few years. He is a real scholar with whom the search for truth weighs above everything; and he never hesitates to set aside his personal predilections in the light of newly discovered facts. Thus he is a scholar and a sport; and a new fact, a novel interpretation or a fresh approach to the problem is always welcomed by him. Being a scholar of progressive mind, Premiji often thought that he should revise some of his earlier papers in the light of new facts and place before the scholars the unpublished material that was lying with him. The desire of our veteran scholar has materialised in this book; and it gives me great joy to introduce this volume to students of Indian literature in general and Jaina literature in particular.

The title of the book, *Jaina Sāhitya* and *Itihāsa*, plainly indicates that the topics discussed here fall into two broad divisions: those dealing with problems connected with Jaina literature and others dealing with socio-historical topics relating to Jainism.

Yāpanīya Saṃgha was one of the important schisms in Jainism, and in some of the early inscriptions it is mentioned along with *Digambara* and *Śvetāmbara Saṃghas*. Pt. Premi's discussion about the *Yāpanīya* literature (pp. 41-60 & 571) is full of suggestions which need further investigation. In his essay on the *Caityavāsa* and *Vanavāsa* (pp. 347-69 & 570), he has laid under obligation both the *Digambara* and *Śvetāmbara* sources, and traced this twofold tendency as developed in the *Digambara* and *Śvetāmbara* ascetic organisation. In his discussion about the Jaina holy places (pp. 185-222), the literary evidence has been subjected to critical scrutiny, and a good deal of side-light is thrown on their history. Jaina monks toured from place to place excepting in the rainy season; and some interesting records of their journey have come down to us. Pt. Premi has presented to us a critical study of the Jaina holy places in the South (pp. 223-238) described by Śīlavijaya in his *Tirthamālā* (Sarnvat 1740). It is a record of great topographical interest. Somewhat connected with the Jaina holy places is another paper (pp. 239-50) in which Premiji

looks historically at the quarrels raged in the Jaina community about the ownership of holy places. This article should be an eye-opener to those who are wasting their energy and money on endless litigation.

Turning to the literary papers, some of them are mainly devoted to the study of various authors; and naturally their works are enumerated, their dates are discussed, and references to them are put together from various sources. Devanandi and Śākaṭāyana (pp. 93-128, 151-62) are eminent grammarians whose treatises on Sanskrit grammar, with their different commentaries, have come down to us. Āśādhara and Amitagati (pp. 129-49, 172-82) were versatile writers whose works have a great didactic value. Pt. Premi's essay on Āśādhara is packed with information; and Āśādhara impresses us as an outstanding personality of his age. Hastimalla and Vādicandra (pp. 260-271) were playwrights whose Sanskrit dramas and other works have come to light. Jinasena I (pp. 420-33) Virasena, Jinasena II and Guṇabhadra (pp. 497-523) and Cāmuṇḍarāya and his contemporaries have left a great stamp on subsequent Jaina works. Virasena was a veritable storehouse of Jaina learning, and his worthy pupil Jinasena was in no way inferior to his great master. The Purāṇas composed by Jinasena and Guṇabhadra have served as a model to many other authors. The great works that some of them produced and the royal patronage that they enjoyed have marked out a definite period for them in the cultural history of Jainism. Haricandra (pp. 472-76), Vādībhasinīha (pp. 477-82) Dhanaṁjaya (pp. 463-66), Vādirājasūri (pp. 397-405) and Mahāsena (pp. 183-86) were worthy masters of Sanskrit language; and some of their works possess great literary merit. Amṛtacandra (pp. 457-60) and Padmaprabha (pp. 453-56) were remarkable spiritual poets, and their commentaries are a model of facile Sanskrit expression. Śrutasāgara (pp. 407-12) was mainly a commentator and Śricandra (pp. 335-339) an annotator. Prabhācandra was a voluminous writer (pp. 335-339), but his fame,

like that of Anantakīrti (pp. 452) rests on his Nyāya treatises. Malliṣeṇa (pp. 413-419) was a poet, but his unique contributions are some Jaina Tāntric and ritualistic texts that strike almost a new path in Jaina literature. Śubhacandra (pp. 527-33) is one of the latest authors that composed works, both in Sanskrit and Prākṛit, on different topics. In his essays on Puṣpadanta, Svayambhū and Tribhuvana Svayambhū (pp. 300-335, 370-96 & 571), Pt. Premiji has presented in a systematic form the great mass of material about these three luminaries of Apabhraṃśa literature whose bounds are being widened by new works that are coming to light in plenty, in different Jaina Bhaṇḍāras. He has been one of the pioneer workers in the field of Apabhraṃśa literature, and he has justly rescued the personality of Caturmukha from confusion (pp. 370 ff.). It is in the fitness of things that an eminent Hindī scholar like Premiji, with his close acquaintance with different phases of old-Hindī seen in Jaina works of successive centuries, should be attracted to the study of Apabhraṃśa authors like Puṣpadanta; and what he has achieved as a pioneer should be a point of legitimate pride to any scholar. He has distinguished three Dhanapālas (pp. 467-71) and four Vāgbhaṭas (pp. 483-88); and added short notes on Māghanandi and Guṇabhadra (pp. 533-34).

Besides, Pt. Premiji has presented his study of different Jaina works, both in Prākṛit and Sanskrit, putting together all the available information about their authors and dates. The Lokavibhāga, Tiloyapaṇṇatti (pp. 1-22 & 568) and Jambūdivapaṇṇatti (pp. 251-59 & 572) are old Jaina texts dealing with cosmography. The notes on the commentaries of the Bhagavatī Ārādhana (pp. 23-40) are important; and after Pt. Premi wrote this paper first in the Anekānta, their value was recognised and some of them were subsequently printed too. The note on the Nayacakra (pp. 163-172) gives good many details about Devasenasūri and his other compositions. His study of Nītivākyāmṛta (pp. 61-92), a work on Polity, shows how Pt. Premi approaches the texts from a wider

and critical point of view. His comparative study of the *Paūmacariya* and *Padmacarita* (pp. 272-92 & 571) and the *Jñānārṇava* and *Yogaśāstra* (pp. 441-57 & 572) is still a fruitful line of exhaustive study which needs further investigation from different points of view. Important details are given about texts like the *Kathākośa* (pp. 431-39) *Jinaśataka* (pp. 460-62), *Nemicarita-kāva* (pp. 491-95) and *Jyotiḥprabhākalyāṇa* (p. 496); and special attention is drawn to the works of Sumati, Vajranandi, Mahāseṇa and Prabhañjana which have not been discovered as yet (pp. 534-539). Pt. Premiji, with his usual progressive views, has written a few notes on some general topics connected with Jainism and Jaina community (p. 540 etc.)

It is beyond the scope of a short Introduction to give more details than these; but what I have briefly reviewed would convince any one that Pt. Premiji has covered a vast field of Jaina literature in this volume which should serve hereafter as a fine supplement to Winternitz's treatment of Jaina Literature in his *History of Indian Literature Vol. II* (Calcutta 1933).

It is merely an accident of selection that Pt. Premi confines himself to Jaina literature, but his outlook is always wide. In his study of *Nītivākya-mṛta* of Somadeva he has compared it with the *Arthaśāstra*. With him Jaina authors and texts do not stand isolated, but he is convinced of the need of studying them against the back-ground of Indian literature and history. In his discussions about Jinasena I, Jinasena II, Śākaṭyāyana, Āśādhara, Somadeva and Prabhācandra, he takes into account their royal contemporaries and the then period of Indian history to the knowledge of which also he contributes new facts sometimes modifying and sometimes confirming the known details. He always uses earlier material whenever it is available and within his reach. Some of these articles are revised up to date, and as such this volume has become a mine of information for the student of Jaina literature. Differences of opinion held by others do not detract the value of facts that are laboriously collected.

By his catholic outlook, readiness to correct himself, unbiased approach and balanced judgement, Pt. Premi is a model research scholar who is more after facts than mere ingenuity of interpretation and argument. Premiji never entered the portals of any College, nor did he get the advantage of studying in any University; he is, however, a self-made scholar who has taught himself, all through his career, by modest devotion to study and rigorous habits of work.

The quality of his work gives him a respectable place with our eminent scholars like Bhagawanlal Indraji and Gaurishankar Ojha. The Hindi language too should consider itself richer by this valuable work which contains solid facts of abiding interest and results of patient labour. Pt. Premiji has earned our gratitude by this publication.

Due to war conditions he had to withhold some of his notes, and publish the book as it stands now. I pray for a long and healthy life to Pt. Premiji that he might further enrich the field of Indian studies by his contributions.

Kolhapur, }
5th March 42. }

A. N. UPADHYE

80

दो शब्द

भारतीय इतिहासका अभीतक पूरा पूरा अनुसन्धान नहीं हुआ है। प्राचीन वेद-कालसे लगाकर प्रायः आधुनिक कालतकके राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक इतिहासके अनेक भाग अभी तक खंडित दशामें और अन्धकारमें ही पड़े हुए हैं। जैन संस्कृतिके इतिहासकी तो और भी बड़ी दुर्दशा है। इसका तो प्रमुख साहित्य भी अभीतक पूरा पूरा प्रकाशमें नहीं आया है। यहाँ अनुसन्धानकोंकी कठिनाई इस कारण और बढ़ जाती है कि स्वयं जैन समाजके भीतर एक ऐसा दल विद्यमान है जो प्रकाशन और समालोचनका विरोधी है। अतः यह कोई आश्चर्य नहीं जो इस क्षेत्रमें कार्य करनेवालोंकी संख्या अत्यल्प रही हो।

जिन थोड़ेसे व्यक्तियोंने कठिनाइयोंकी परवाह न करके जैन साहित्य और इतिहासको प्रकाशमें लानेका प्रयत्न किया है उनमें श्रीयुक्त पं० नाथूरामजी प्रेमीका नाम अग्रगण्य है। पंडितजीकी साहित्य-सेवायें जैनत्व तक ही सीमित नहीं रहीं, हिन्दी साहित्यके उद्धार और निर्माणमें भी उनका कार्य अद्वितीय और चिरस्मरणीय है। किन्तु जैन साहित्यमें तो उन्होंने एक नया युग ही स्थापित कर दिया है। आज जो जैन साहित्यके प्रकाशन और अनुसन्धानका कार्य चल रहा है उसपर प्रेमीजीके प्रयत्नोंकी प्रत्यक्ष या परोक्ष अमिट छाप लगी हुई है। नवीन खोजकोंके लिए प्रेमीजीके अनुसन्धान पथ-प्रदर्शकका काम देते हैं।

प्रेमीजीके खोजपूर्ण और अत्यन्त महत्त्वशाली लेख प्रायः जैन पत्रिकाओं और स्फुट पुस्तिकाओं तथा ग्रन्थोंकी भूमिकाओंमें समाविष्ट होनेसे सबके लिए सदा सुलभ नहीं हैं और कुछ तो अप्राप्य ही हो गये हैं। बहुत कालसे मेरा प्रेमीजीसे आग्रह था कि वे अपने इन लेखोंको एक जगह संग्रह कर दें तो नये खोजकोंको बड़ा सुमीता हो जाय। किन्तु वृद्धावस्था, अस्वास्थ्य और अन्य चिन्ताओंके कारण वे इस ओर बहुत समय तक प्रवृत्त न हो सके। अत्यन्त हर्षका विषय है कि अन्ततः प्रेमीजीने इस कार्यकी आव-

श्यकताको प्रधान स्थान दिया और उपर्युक्त कठिनाइयोंके बढ़ते जानेपर भी वे इस कार्यमें जुट गये । न केवल उन्होंने अपने पूर्व प्रकाशित लेखोंका संग्रह ही किया है, किन्तु उनमें आजतकके अनुसन्धानोंकी दृष्टिसे उचित परिवर्तन और परिवर्धन भी कर दिया है ।

इन लेखोंमें अधिकांश जैनसाहित्यके इतिहाससे सम्बन्ध रखनेवाले हैं और कुछ जैन तीर्थों तथा धार्मिक सामाजिक संस्थाओंके इतिहासपर प्रकाश डालनेवाले । जिन्होंने कभी साहित्यिक इतिहासके किसी अंशका कुछ अनुसन्धान करनेका प्रयत्न किया है वे इन लेखोंकी गम्भीरता, महत्ता और लेखकके अपार परिश्रम तथा विवेकका अंदाज लगा सकेंगे । प्रेमीजीकी लेखन-शैली पेसी सरल और सुन्दर है कि साहित्यसे प्रेम रखनेवाला कोई भी पाठक इन लेखोंको दिलचस्पीसे पढ़ सकता है । क्या ही अच्छा होता यदि प्रेमीजी इसी शैलीसे अपनी शेष रचनाओंका भी संस्करण करके प्रकाशित करा सकते । किन्तु असाधारण विघ्नोके कारण वह महत्त्वपूर्ण कार्य फिलहाल यहीं रुक गया है । हमें आशा और विश्वास है कि ये काले बादल शीघ्र ही नष्ट होंगे और वह शेष पुनीत कार्य भी सम्पन्न हो जायगा । तब तक हमें इन महत्त्वशाली लेखोंके संग्रहसे पूरा लाभ उठाना चाहिए ।

किंग एडवर्ड कालेज, अमरावती }
१७-३-४२

हीरालाल जैन

लेखककी ओरसे

सन् १९२१ के अन्तमें जब 'जैनहितैषी' बन्द हुआ था, तभीसे यह सोचता रहा हूँ कि अपने लिखे हुए तमाम ऐतिहासिक लेखोंका एक संग्रह प्रकाशित कर दिया जाय। स्नेही मित्र भी इसके लिए हमेशा प्रेरणा करते रहे हैं; परन्तु अब तक यह कार्य न हो सका।

गत वर्ष जब इस कार्यको करने बैठा, तब देखा कि उन लेखोंको ज्योंका त्यों प्रकाशित नहीं किया जा सकता, क्योंकि पिछले ३० वर्षोंमें बहुत-सा अलभ्य साहित्य प्रकाशमें आ गया है, बहुतसे शिलालेख, ताम्रपत्र आदि आविष्कृत हो चुके हैं और बहुत-सी नई नई खोजें भी विद्वानोंने की हैं। जब तक उनकी रोशनीमें इन सबकी जाँच पड़ताल न कर ली जाय, तब तक यह एक निरर्थक-सा काम होगा। अतएव यही निश्चय करना पड़ा कि प्रत्येक लेखका संशोधन कर लिया जाय।

परन्तु यह कार्य सोचा था, उतना सहज नहीं मालूम हुआ। अधिकांश लेखोंको तो बिल्कुल नये सिरेसे लिखना पड़ा और कुछ काफी परिवर्तन और संशोधन करनेके बाद ठीक हो सके। प्रतिदिन तीन चार घंटेसे कम समय नहीं दिया गया, फिर भी इसमें लगभग एक वर्ष लगा गया।

इस संग्रहमें कुछ लेख ऐसे भी हैं, जो पहले कहीं प्रकाशित तो नहीं हुए हैं परन्तु जिनके विषयमें बहुत-सी तैयारी कर रखी गई थी, जैसे महाकवि स्वयंभु और त्रिभुवन स्वयंभु, पद्मचरित और पउमचरिय, पद्मप्रभ मलधारि-देव, जिनशतकके टीकाकर्त्ता, चार वाग्भट, तीन धनपाल, आदि। ये सब भी इसी बीच लिख लिये गये और इस संग्रहमें दे दिये गये।

सारे लेखोंके संशोधनमें अभी तीन चार महीने और लग जाते परन्तु इसी समय महायुद्धकी बिभीषिका भारतके बिल्कुल सिरपर आ पहुँची और उसके भयसे वम्बई नगर खाली होने लगा, इसलिए अब इतने समय तक ठहर-नेका साहस न रहा, न जाने कल क्या हो जाय, इसलिए जितना तैयार था, उतना ही पाठकोंकी सेवामें उपस्थित कर देना ठीक प्रतीत हुआ।

जो लेख ठीक नहीं किये जा सके और इस संग्रहमें नहीं दिये जा सके, उनमें भट्टाकलंक, समन्तभद्र, कुन्दकुन्द, उमास्वाति, विद्यानन्दि, दर्शनसार-विवेचन, तारनपन्थ, परवार जाति आदि मुख्य हैं। यदि जीवित रहा, और परिस्थितियाँ अनुकूल हुई, तो कमसे कम इस समय तो उनको ठीक करके प्रकाशित कर देनेकी भावना है। यद्यपि इस साठ वर्षकी उम्रमें और इस प्रलय-कालमें जीवित रहने और अनुकूल परिस्थितियोंकी आशा करना एक दुराशा ही है।

लेखोंमें अनेक दोष और त्रुटियाँ रह गई होंगी, परन्तु उनके लिए मैं पाठकोंसे क्षमा नहीं माँगता। मनुष्यसे दोष और त्रुटियाँ होती ही हैं। केवल इतना विश्वास दिला देना चाहता हूँ कि किसी आग्रह या पक्षपातके वशीभूत होकर मैंने कोई निर्णय नहीं किया। अपनी अल्प बुद्धि और साधारण विवेकसे जो कुछ मुझे ठीक मालूम हुआ है वही लिखा है और मैं समझता हूँ कि एक इतिहासके विद्यार्थीके लिए यह काफी है। मैं अपनेको इतिहासका एक तुच्छ विद्यार्थी ही मानता हूँ।

यद्यपि इस संग्रहके प्रायः सभी लेख अपने पूर्व रूपमें नहीं रहे हैं उनमें प्रायः आमूल परिवर्तन किया गया है; फिर भी सबसे पहले वे कब लिखे गये थे और कहाँ प्रकाशित हुए थे, लेख-सूचीमें इसकी सूचना दे दी गई है।

इस संग्रह-कार्यमें राजाराम कालेजके अर्धमागधीके प्रोफेसर डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय एम० ए० ने बहुत अधिक सहायता दी है। बड़ी ही तत्परतासे अनेक प्रूफोंका संशोधन कर दिया है, समय समयपर अनेक बहु-मूल्य सूचनायें दी हैं, अपनी देख-रेखमें उपयुक्त नाम-सूची तैयार करा दी है, और साथ ही एक अँग्रेजी भूमिका भी लिख दी है।

सुहृद्भर प्रो० हीरालालजीने भी अनेक प्रूफोंका संशोधन करके, जयधवला, गणितसारसंग्रह आदिकी प्रशस्तियाँ भेजकर तथा अनेक प्रश्नोंका उत्तर देकर बहुत सहायता दी है ।

वास्तवमें इन दोनों विद्वान् मित्रोंके सौजन्य, आग्रह और सहयोगसे ही यह संग्रह प्रकाशित हो सका है और इस तरह दोनोंने ही मुझे सदाके लिए अपना ऋणी बना लिया है ।

‘ जैन-गुर्जरकविओ ’ और ‘ जैन-साहित्यनो इतिहास ’ के लेखक श्री मोहनलाल दलीचन्दजी देसाई वी० ए० एल एल० बी० ने अपने विशाल संग्रहके अनेक ग्रन्थ मुझे उपयोग करनेके लिए दिये हैं और पं० रामप्रसादजी शास्त्रीने ए० प० सरस्वती-भवनके वीसों ग्रन्थोंका उपयोग करने दिया है, इसके लिए उक्त दोनों महाशयोंका भी मैं बहुत कृतज्ञ हूँ ।

पं० हीरालालजी शास्त्री, पं० फूलचन्दजी शास्त्री, साहित्याचार्य पं० राज-कुमार शास्त्रीने भी अनेक सूचनायें देनेकी कृपा की है ।

इनके सिवाय जिन जिन सज्जनोंके लेखों और ग्रन्थोंसे सहायता ली है, उनका उल्लेख यथास्थान कर दिया गया है । उन सब सज्जनोंका भी मैं हृदयसे कृतज्ञ हूँ ।

मेरे पुत्र आयुष्मान् हेमचन्द्र मोदीने अनेक अँग्रेजी लेखों और उद्धरणोंका अनुवाद करने और अनेक लेखोंको सुव्यवस्थित करनेमें सहायता दी है ।

बम्बई
२०-३-४२ }

नाथूराम प्रेमी

प्रकाशककी ओरसे

मेरी स्वर्गीया माताकी मृत्युके समय पिताजीने दो हजार रुपया किसी शुभकार्यमें लगानेका संकल्प किया था। यह ग्रन्थ उन्हीं रुपयोंसे प्रकाशित किया जा रहा है। इसकी बिक्रीसे जो रुपया वसूल होगा, वह इसी खातेमें जमा किया जायगा और फिर किसी ऐसे ही कार्यमें लगाया जायगा। कागजकी इस बेहद महँगाईके समयमें भी ग्रन्थका मूल्य बहुत कम रक्खा गया है, जिससे अधिकसे अधिक इसका प्रचार हो सके।

—हेमचन्द्र

लेख-सूची

पृ० सं०

१ लोकविभाग और तिलोपपण्णत्ति (जैनहितैषी, १९१७)	१
२ आराधना और उसकी टीकायें (अनेकान्त, १९३१)	२३
३ यापनीय साहित्यकी खोज (अनेकान्त, १९३९)	४१
४ सोमदेवसूरिका नीतिवाक्यामृत (जै० सा० सं०, १९२३)	६१
५ देवनन्दि और उनका जैनेन्द्र व्याकरण (जै० हि०, १९२१)	९३
६ पण्डितवर आशाधर (जै० हि०, १९०९)	१२९
७ शाकटायन और उनका शब्दानुशासन (जै० हि०, १९१६)	१५०
८ नयचक्र और देवसेनसूरि (जै० हि०, १९२१)	१६३
९ आचार्य अमितगति (जै० हि०, १९०८)	१७२
१० हमारे तीर्थक्षेत्र (जै० सि० मा०, १९३९)	१८५
११ दक्षिणके तीर्थक्षेत्र (अनेकान्त, १९४०)	२२३
१२ तीर्थोंके झगड़ोंपर ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार (जै० हि०, १९२१)	२३९
१३ जंबुद्वीपपण्णत्ति (जै० सा० सं०, १९२४)	२५१
१४ नाट्यकार हस्तिमल्ल (विक्रान्तकौरवकी भूमिका, १९२९)	२६०
१५ वादिचन्द्र सूरि (जून १९०९)	२६७
१६ पद्मचरित और पउमचरिय	२७२
१७ चामुण्डराय और उनके समकालीन आचार्य (जै० हि०, १९१६)	२९३
१८ महाकवि पुष्पदन्त (जै० सा० सं०, १९२३)	३०१
१९ श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र (अनेकान्त, १९४१)	३३५
२० साम्प्रदायिक द्वेषका एक उदाहरण (जै० हि०, १९०९)	३४०
२१ वनवासी और चैत्यवासी सम्प्रदाय (जै० हि०, १९२०)	३४७
२२ महाकवि स्वयंभु और त्रिभुवन स्वयंभु	३७०
२३ वादिराजसूरि (जैनहितैषी, १९१२)	३९६
२४ श्रुतसागरसूरि (जै० हि०, १९२१)	४०६
२५ मल्लिषेणसूरि (विद्वद्रत्नमाला, १९१२)	४१३
२६ आचार्य जिनसेन और उनका हरिवंश (ह० की भू०, १९३०)	४२०

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

लोक-विभाग और तिलोयपण्णत्ति

लोक-विभाग

लोक-विभाग बहुत ही प्राचीन ग्रन्थ है। श्रीयुत विन्सेंट ए० स्मिथने अपने इतिहास (अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया) के पृष्ठ ४७१ में इसका उल्लेख किया है और इसे शककी चौथी शताब्दिका बतलाया है। खोज करनेपर हमें इसकी एक प्रति स्वर्गीय विद्याप्रेमी सेठ माणिकचन्दजीके सरस्वती-भण्डारसे प्राप्त हो गई। इसकी श्लोक-संख्या २२३० और पत्र-संख्या ७१ है। भट्टारक भुवन-कीर्तिके शिष्य ज्ञानभूषण भट्टारकके उपदेशसे किसी लेखकने इसकी प्रतिलिपि की थी। अतएव यह विक्रमकी सोलहवीं शताब्दिकी लिखी हुई प्रति है। ज्ञानभूषण इसी शताब्दिमें हुए हैं।

ग्रन्थकी भाषा संस्कृत और छन्द अनुष्टुप् है। इसमें १ जम्बूद्वीप, २ लवण-समुद्र, ३ मानुष-क्षेत्र, ४ द्वीप-समुद्र, ५ काल, ६ तिर्यग्-लोक, ७ भवनवासि-लोक, ८ गति, ९ मध्य-लोक, १० व्यन्तर-लोक, ११ स्वर्ग और मोक्ष विभाग नामके ग्यारह अधिकार या अध्याय हैं। इसका मंगलचरण यह है—

लोकालोकविभागज्ञान् भक्त्या स्तुत्वा जिनेश्वरान् ।

व्याख्यास्यामि समासेन लोकतत्त्वमनेकधा ॥ १ ॥

अन्तिम प्रशस्तिके श्लोक ये हैं—

भव्येभ्यः सुरमानुषोरुसदासि श्रीवर्द्धमानार्हता,
यत्प्रोक्तं जगतो विधानमखिलं ज्ञातं सुधर्मादिभिः ।

आचार्यावलिकागतं विरचितं तत्सिंहसूरर्षिणा,
 भाषायाः परिवर्तनेन निपुणैः सम्मानिता (तं) साधुभिः ॥ १
 वैश्वे स्थिते रविसुते वृषभे च जीवे,
 राजोत्तरेषु सितपक्षमुपेत्य चन्द्रे ।
 ग्रामे च पाटलि(क)नामनि पाण(ण्ड्य)राष्ट्रे,
 शास्त्रं पुरा लिखितवान् मुनिसर्वनन्दिः ॥ २ ॥
 संवत्सरे तु द्वार्विशे कांचीशसिंहवर्मणः ।
 अशीत्यग्रे शकाब्दानां सिद्धमेतच्छतत्रये ॥ ३ ॥
 पञ्चादशशतानि षड्विंशत्यधिकानि वै ।
 शास्त्रस्य संग्रहस्त्विदं छन्दसानुष्ठुभेन च ॥ ४ ॥

इति लोकविभागे मोक्षविभागो नाम एकादशप्रकरणं समाप्तं ।
 अर्थात् देवों और मनुष्योंकी समाप्ति भगवान् वर्द्धमान् अरहन्तेन भव्य जनोंके
 लिए जो जगत्का सारा स्वरूप कहा था और जिसे सुधर्म स्वामी आदि गणधरोंने
 जाना था, वह आचार्योंकी परम्पराद्वारा चला आया, और उसे सिंहसूरिने भाषाका
 परिवर्तन करके रचा । निपुण साधुओंने इसका सम्मान किया ॥ १ ॥

जिस समय उत्तराषाढ़ नक्षत्रमें शनिश्चर, वृषभ (?)में बृहस्पति और उत्तरा-
 फाल्गुनीमें चन्द्रमा था, तथा शुक्लपक्ष था (अर्थात् फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा थी)
 उस समय पाणैराष्ट्रके पाटलिक ग्राममें इस शास्त्रको पहले सर्वनन्दि नामक
 मुनिने लिखा ॥ २ ॥

कांचीके राजा सिंहवर्मके २२ वें संवत्सरमें और शकके ३८० वें वर्षमें यह
 ग्रन्थ समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

यह शास्त्रका संग्रह १५२६ अनुष्टुप् छन्दोंमें समाप्त हुआ है ।

१ 'वृषभे' पाठ अशुद्ध दिखता है । वृष राशिमें उस समय बृहस्पतिकी स्थिति ठीक
 नहीं बैठती ।

२-३ पं० के० मुजबलि शास्त्रीने बतलाया है कि यह 'पाण' नहीं किन्तु पाण्ड्य
 राष्ट्र है जिसकी राजधानी उस समय कांची थी और पाटलिक ग्राम वर्तमान कड्डलोर
 (Cuddalore) है । तामिल भाषाके 'पेरियपुराण' आदि ग्रंथोंमें इसे 'त्रिप्पदिरिपु-
 लियूर' कहा गया है । ४ सिंहवर्मा 'पल्लव' वंशके राजा थे और उनकी राजधानी
 'कांची' थी ।

प्रशस्तिके इन श्लोकोंको पढ़नेके बाद हमने देखा कि इसमें ग्रन्थान्तरोंसे भी कुछ श्लोक उद्धृत किये गये हैं। सबसे पहले हमारी दृष्टि 'तिलोयपण्णत्ति' पर पड़ी, क्योंकि इस ग्रन्थकी पचासों गाथायें लोक-विभागमें उद्धृत हैं। इससे हमें इस निश्चयपर आना पड़ा कि तिलोय-पण्णत्ति लोकविभागसे भी पुराना ग्रन्थ है। परन्तु इसके बाद ही जब मालूम हुआ कि लोक-विभागमें त्रैलोक्यसारकी भी गाथाएँ मौजूद हैं, तब उसकी प्राचीनतामें सन्देह खड़ा हो गया, क्योंकि त्रैलोक्यसार विक्रमकी ११ वीं शताब्दिका बना हुआ ग्रन्थ है, और यह एक तरहसे सुनिश्चित है। कारण, त्रैलोक्यसारकी संस्कृत-टीकामें पं० माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव, जो त्रैलोक्यसारके कर्त्ता नेमिचन्द्रके शिष्य थे, स्पष्ट शब्दोंमें लिखते हैं कि यह ग्रन्थ मन्त्रिवर चामुण्डरायके प्रतिबोधके लिए बनाया गया है और चामुण्डरायके बनाये हुए 'त्रिषष्टि-लक्षण-महापुराण'में उसके बननेका समय शक संवत् ९०० (वि० सं० १०३५) लिखा हुआ है। कनहीके और भी कई ग्रन्थोंसे चामुण्डराय और नेमिचन्द्रका समय यही निश्चित होता है।

लोक-विभागमें त्रैलोक्यसारकी गाथा देते समय स्पष्ट शब्दोंमें 'उक्तं च त्रैलोक्यसारे' इस प्रकार लिखा है। इस कारण यह सन्देह नहीं हो सकता कि वे गाथाएँ किसी अन्य प्राचीन ग्रन्थकी होंगी और उससे लोक-विभागके समान त्रैलोक्यसारमें भी ले ली गई होंगी, क्योंकि त्रैलोक्यसार संग्रह-ग्रन्थ है। अतः सिद्ध हुआ कि लोक-विभाग त्रैलोक्यसारसे पीछेका, विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दिके बादका ग्रन्थ है।

लोक-विभागमें त्रैलोक्यसारकी जो गाथायें उद्धृत की गई हैं उनमेंसे दो ये हैं—

बेलंघरभुजगविमाणान सहस्साणि बाहिरि सिहरे ।

अंते बावत्तारि अडवीसं वादालयं लवणे ॥

दुतडादो सत्तसयं दुकोसअहियं च होइ सिहरादो ।

णयरानि हु गयणतले जोयण दसगुणसहस्सवासाणि ॥

ये त्रैलोक्यसारकी ९०३-४ नम्बरकी गाथाएँ हैं और लोक-विभागमें

१ नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके समयादिके विषयमें हमारा स्वतंत्र लेख 'आचार्य नेमिचन्द्र' देखिए।

४२२ वें नम्बरके श्लोकके बाद उद्धृत की गई हैं। इसी प्रकारकी और भी चार पाँच गाथाएँ हैं। त्रैलोक्य-संग्रह नामके एक और ग्रन्थकी भी कुछ गाथाएँ लोक-विभागमें उद्धृत की गई हैं, परन्तु वह प्राप्त नहीं हो सका। अतएव उसके विषयमें कुछ नहीं कहा जा सकता। आगे चलकर पाँचवें अध्यायके ४२ वें श्लोकके बाद ‘उक्तं चाषे’ लिखकर तीन श्लोक उद्धृत किये गये हैं, जो आदि-पुराणके तीसरे पर्वमें मौजूद हैं—

ततस्तृतीयकालेऽस्मिन्व्यतिक्रामत्यनुक्रमात् ।

पल्योपमाष्टभागस्तु यदास्मिन्परिशिष्यते ॥

कल्पानोकह्वर्याणां क्रमादेव परिच्युतौ ।

ज्योतिरंगास्तदा वृक्षा गता मन्दप्रकाशतां ॥

पुष्पवन्तावथाषाढ्यां पौर्णमास्यां स्फुरत्प्रभौ

सायाह्ने प्रादुरास्तां तौ गगनोभयभागयोः ॥

आदिपुराणमें इनका नम्बर ५५-५६-५७ है और अनेक ग्रन्थकार आदिपुराणका ‘आर्ष’ कहकर उल्लेख करते हैं। आदिपुराण विक्रमकी नौवीं शताब्दिके अन्तमें बना है। अतएव यह कहना होगा कि लोक-विभाग उससे पीछेका है, शक संवत् ३८० (वि० सं० ५१५) का नहीं। तब ग्रन्थके अन्तमें जो समय लिखा है, उसका क्या अभिप्राय है ?

प्रशस्तिके श्लोकोंपर बहुत बारीकीके साथ विचार करनेपर इस प्रश्नका उत्तर मिल जाता है। पहले श्लोकके ‘भाषायाः परिवर्तनेन सिंहसूरार्षिणा विरचितं’ पदसे और दूसरे श्लोकके ‘शास्त्रं पुरा लिखितवान् मुनिसर्वनन्दिः’ पदसे मालूम हुआ कि इस ग्रन्थको पहले (प्राकृत) भाषामें सर्वनन्दि नामक मुनिने बनाया था, पीछे उसे भाषाका परिवर्तन करके सिंहसूरिने संस्कृतमें बनाया। अतः शक संवत् ३८० (वि० सं० ५१५) मूल प्राकृत ग्रन्थके बननेका समय है, इस संस्कृत ग्रन्थके बननेका नहीं। इसके बननेका समय या तो लिखा ही नहीं गया, या लेखकोंकी गलतीसे छूट गया है।

गरज यह कि उपलब्ध ‘लोक-विभाग’ जो कि संस्कृतमें हैं बहुत प्राचीन ग्रन्थ नहीं है। प्राचीनतासे उसका इतना ही सम्बन्ध है कि वह एक बहुत पुराने शक संवत् ३८० के बने हुए ग्रन्थसे अनुवाद किया गया है। इस बातका निश्चय नहीं हो सका कि यह त्रैलोक्यसारसे कितने समय पीछे बना है। यदि

इसके कर्त्ता सिंहसुरिके' बनाये हुए किसी अन्य ग्रन्थका पता लगता, तो उससे शायद इसका निश्चय हो जाता ।

तिलोय-पण्णात्ति

अब त्रिलोक-प्रज्ञप्तिको लीजिए । इसका प्राकृत नाम 'तिलोय-पण्णात्ति' है । इसकी श्लोकसंख्या आठ हजार है । ग्रन्थका अधिकांश प्राकृत गाथा-बद्ध है । कुछ अंश गद्यमें भी है ।

इसका विषय इसके नामसे ही प्रकट है । त्रैलोक्यसारकी गाथा-संख्या एक हजार है, अतएव यह उससे अठगुना बड़ा है । ऐसा मालूम होता है कि त्रैलोक्यसार इसी ग्रन्थका सार है । इसमें सामान्य जगत्स्वरूप, नारक-लोकस्वरूप, भवनवासी, मनुष्यलोक, तिर्यक्-लोक, व्यन्तर-लोक, ज्योतिर्लोक, सुरलोक और सिद्धलोक नामके नौ महा अधिकार या अध्याय हैं । प्रत्येक अध्यायके भीतर छोटे छोटे और भी अनेक अध्याय हैं । इस ग्रन्थकी आरंभिक गाथा यह है—

अट्टविहकम्मवियला णिट्टियकज्जा पणट्टुसंसारा ।

दिट्टुसयलट्टुसारा सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु ॥

इसके बाद चार गाथाओंमें अरहंत, आचार्य, उपाध्याय और साधुओंको नमस्कार किया है । फिर एक बड़ी लम्बी पीठिका दी है, जिसमें मंगल, कारण, हेतु आदि बातोंपर खूब विस्तारसे विचार किया है । उसके अन्तमें लिखा है—

सासणपदमावण्णं पवाहरूवत्तणेण दोसेहिं ।

णिस्सेसेहिं विमुक्कं आइरियअणुक्कमायादं ॥ ८६ ॥

भव्वज्जणाणंदयरं वोच्छामि अहं तिलोयपण्णात्ति ।

णिब्भरभत्तिपसादिदवरगुरुचरणणुभावेण ॥ ८७ ॥

इसमें तिलोय-पण्णात्तिको, भव्यजनानन्दकारिणी, प्रवाहरूपसे शाश्वती, निःशेष-दोषरहित और आचार्योंकी परम्पराद्वारा चली आई, ये विशेषण दिये हैं और कहा है कि इसे मैं श्रेष्ठ गुरुओंके चरणोंके प्रभावसे कहता हूँ । आगे नीची लिखी गाथाएँ देकर ग्रन्थ समाप्त किया है—

१ सिंहसुरि नाम पूरा नहीं जान पड़ता । छन्दकी कठिनाईके कारण संक्षिप्त-सा किया गया है । पूरा नाम शायद सिंहनन्दि हो ।

पणमह जिणवरवसहं गणहरवसहं तहेव गुणवसहं ।
 दट्ठण य रिसिवसहं जदिवसहं धम्मसुत्तपाठए वसहं ॥ ५०
 चुणिसरूवच्छकरणसरूवपमाण होदि किं जं तं ।
 अट्ठसहस्सपमाणं तिलोयपणत्तिणामाए ॥ ५१
 एवं आयरियपरंपरागए तिलोयपणत्तीए सिद्धलोयसरूवनिरू-
 वणपणत्ती णाम णवमो महाहियारो सम्मत्तो ।
 मंगप्पभावणट्ठं पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया ।
 भणिदं गंथप्पवरं सोहंतु बहुस्सुदाइरिया ॥
 तिलोयपणत्ती सम्मत्ता ।

तिलोयपणत्तिके कर्त्ता

पहली गाथासे मालूम होता है कि यह ग्रन्थ यतिवृषभाचार्यका बनाया हुआ है । ये यतिवृषभ आचार्य वही हैं, जिनका उल्लेख इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतारमें किया गया है और जिन्हें कषायप्राभृत नामक द्वितीय श्रुतस्कन्धके चूर्णि-सूत्रोंका कर्त्ता बतलाया है—

पार्श्वे तयोर्द्वयोरप्यधीत्य सूत्राणि तानि यतिवृषभः ।

यतिवृषभनामधेयो बभूव शास्त्रार्थनिपुणमतिः ॥ १५५

तेन ततो यतिपतिना तद्गाथावृत्तिसूत्ररूपेण ।

रचितानि षट्सहस्रग्रन्थान्यथ चूर्णसूत्राणि ॥ १५६

अर्थात् गुणधर आचार्यने कषायप्राभृतको जिन नागहस्ति और आर्य मंक्षु मुनियोंके लिए व्याख्यान किया था, उन दोनोंके पास यतिवृषभ नामक श्रेष्ठ यतिने उन्हें पढ़ा और फिर उनपर छह हजार श्लोकपरिमाण चूर्णि-सूत्र लिखे ।

१ 'चुणिसरूवत्थ' भी पाठ है ।

२ पंचास्तिकायकी अन्तिम गाथा इसीसे बिल्कुल मिलती जुलती है । पूर्वाह्न तो बिल्कुल एक-सा है—

मंगप्पभावणट्ठं पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया ।

भणिदं पवयणसारं पंचात्थियसंगहं सुत्तं ॥ १७३

३ नागहस्ति और आर्यमंक्षु नामसे इन्हीं आचार्योंका उल्लेख श्वेताम्बर-परम्परामें भी मिलता है । इसके विषयमें अधिक जाननेके लिए देखो 'धवलाकी भूमिका' ।

जयधवल टीकामें यतिवृषभको कषाय-प्राभृतका वृत्ति-सूत्रकर्त्ता लिखकर उनसे वरकी याचना की है—“ सो वित्तिमुत्तकत्ता जइवसहो मे वरं देउ । ”
चूर्णि-सूत्र और वृत्ति-सूत्र पर्यायवाची मालूम पड़ते हैं ।

जयधवलामें (मंगलाचरणमें) भी कहा है कि गुणधर आचार्यके मुखसे निकली हुई गाथाओंका अर्थ आर्यमंक्षु और नागहस्तिने अवधारण किया और उनसे सीखकर यतिवृषभने उनपर वृत्ति-सूत्र लिखे ।

धवल-सम्पादक प्रो० हीरालालजीने अपनी भूमिकामें बतलाया है कि धवलामें कई जगह यतिवृषभके मतका उल्लेख किया गया है^१ । हमारी समझमें यह मत कषाय-प्राभृतकी वृत्तिका ही होगा ।

धवलकारने ‘ तिलोपपणत्ति ’ का भी अनेक जगह उल्लेख किया है^२ और उसकी बहुत-सी गाथायें उद्धृत की हैं^३ ।

ऊपर उद्धृत की हुई तिलोपपणत्तिकी ५१ वीं पूरी गाथाका अर्थ ठीक ठीक नहीं लगता । गाथाके उत्तरार्धके अनुसार तिलोपपणत्ति आठ हजार श्लोक प्रमाण है और पूर्वार्धसे यह अभिप्राय जान पड़ता है कि यह प्रमाण उतना ही है जितना चूर्णि-ग्रन्थका और षट्करणस्वरूपका एकत्र करनेसे होता है । चूँकि इन्द्रनन्दिने कषायप्राभृतके चूर्णि-सूत्रोंका परिमाण छह हजार श्लोक बतलाया है, इसलिए षट्करण-स्वरूपका परिमाण दो हजार श्लोक होगा ।

यतिवृषभका समय

यतिवृषभ कब हुए हैं, इसका बिल्कुल ठीक निर्णय करना तो बहुत कठिन है, फिर भी हम यह कह सकते हैं कि तिलोपपणत्ति ग्रन्थ सर्वनन्दिके प्राकृत ‘ लोक-विभाग ’ से बादका बना हुआ है । क्योंकि तिलोपपणत्तिकी काल-गण-

१ ‘यतिवृषभोपदेशात् सर्वघातिकर्मणा’ इत्यादि ।—धवल अ० ३०२

एसो दंसणमोहणीयउवसामओ ति जइवसहेण भणिदं ।—धवल अ० ४२५

२ तिरियलोगो त्ति तिलोपपणत्तिसुत्तादो ।—धवल अ० १४३

तिलोपपणत्तिसुत्ताणुसारि ।—धवल अ० २५९

३ सत्परूपणामें तिलोपपणत्तिके मुद्रित अंशकी सात गाथायें ज्योंकी त्यों उद्धृत हैं ।

नाके अनुसार वीर-निर्वाणके एक हजार वर्ष बाद कल्कि मृत्यु हुई है और शकके ६०५ वर्ष पहले वीर-निर्वाण हुआ है। अतएव कल्कि मृत्युका संवत् ३९५ (शक) होता है।

कल्कि मृत्युके बाद उसके पुत्र अजितजयका दो वर्ष तक धर्म-राज्य करनेका भी उल्लेख है और फिर कहा है कि उसके बाद क्रमशः दिनोंदिन काल-माहात्म्यसे धर्मका न्हास होने लगा।

जान पड़ता है कि अजितजयके धर्म-राज्यके कुछ ही समय बाद तिलोयपण्णत्तिकी रचना हुई होगी। बहुत बाद हुई होती तो उसमें अजितजयके बादके अन्य राजाओंका भी उल्लेख किया जाता जैसा कि पहलेके राजाओंका किया गया है। बल्कि आश्चर्य नहीं जो अजितजयके राज्य-कालमें ही यतिवृषभ मौजूद हों। उन्होंने देखा होगा कि दो वर्ष तक तो इस राजाने धर्म-राज्य किया, पर अब उसमें व्यत्यय आ गया। यदि हमारा यह अनुमान ठीक हो तो श० सं० ४०० के लगभग तिलोयपण्णत्तिका रचना-काल मानना चाहिए, और यह काल लोक-विभागके रचना-कालसे कुछ पीछे पड़ता है।

इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें तिलोयपण्णत्तिके अनुसार ही वीर-निर्वाणके ६८३ वर्ष बाद तक अंगज्ञानका अस्तित्व माना है। उसके बाद अर्हद्वलि हुए और फिर कुछ समय बाद (तत्काल ही नहीं) माघनन्दि हुए। उनके स्वर्गवासके कुछ समय पीछे धरसेन हुए जिन्होंने भूतबलि-पुष्पदन्तको पढ़ाया और फिर भूतबालिने जिनपालितको। फिर एक गुणधरनामके आचार्य हुए जिनके शिष्य आर्यमंक्षु और नागहस्तिसे यतिवृषभने कषायप्राभृत पढ़ा। इन्द्रनन्दिको यह पता नहीं था कि धरसेन और गुणधरमेंसे कौन पहले हुआ और कौन पीछे क्योंकि उनके समक्ष उक्त आचार्योंके अन्वयको बतलानेवाले न तो आगम ही थे और मुनिजन।

१-२ आर्य मंक्षु और नागहस्तिके कालका ठीक पता श्वेताम्बर-साहित्यसे नहीं लगता। तपागच्छ पट्टावलीमें वी० नि० ४६७ में आर्यमंक्षुको बतलाया है, और कल्पसूत्रकी अवचूरिमें नागहस्ति (नागहस्ति) का समय वीर नि० संवत् ६३० वर्ष पाया जाता है। दोनोंके बीच काफी अन्तर है।

३ गुणधरधरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः।

न शायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात् ॥ १५१ ॥

यदि ये सब आचार्य लगातार हुए होते तो उनके समयका कुछ अनुमान हो सकता था, परन्तु कई जगह इनके बीच-बीचकी शृंखला टूटी हुई है,, इससे नहीं हो सकता । यदि यतिवृषभका उपर्युक्त काल ३० सं० ४०० के लगभग अर्थात् वीर निर्वाण १००५ माना जाय तो फिर उक्त सब आचार्योंके अन्तराल-कालको ३२२ वर्ष (१००५-६८३=३२२) मानना होगा और यह कल्पनामें आ सकता है ।

पद्मनन्दि और यतिवृषभ

इस ग्रन्थके अन्तमें तीर्थकरोंके स्तवन-प्रसंगमें नीचे लिखी गाथा मिलती है—

एस सुरासुरमणुसिंदवंदियं धोदघादिकम्ममलं ।

पणमामि वड्डमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥ ७७

यही गाथा प्रवचनसारकी प्रारंभिक गाथा है । अब प्रश्न यह होता है कि वास्तवमें इस गाथाके मूल रचयिता कौन हैं ? तिलोयपण्णत्तिके कर्त्ता या प्रवचनसारके कर्त्ता ?

प्रवचनसार ग्रन्थकी यह सबसे पहली गाथा है और ऐसे स्थानपर है कि जहाँसे अलग नहीं की जा सकती । इस गाथामें वर्द्धमान भगवानको नमस्कार करके आगेकी गाथामें ‘सेसे पुण तित्थयेरे’ शेष ‘तेईस तीर्थकरोंको नमस्कार है । पहली गाथाको अलग कर देनेसे दूसरी गाथा लटकती हुई रह जाती है ।

अब तिलोयपण्णत्तिमें इस गाथाकी अवस्थितिको देखिए । जो प्रति हमारे समक्ष है, उसमें २४ तीर्थकरोंकी स्तुतिकी २४ गाथाओंका क्रम इस प्रकार रक्खा है कि पहलेके आठ अधिकारोंके प्रारंभ और अन्तमें एक एक तीर्थकरकी एक एक गाथा-द्वारा स्तुति की गई है । ये सब १६ गाथायें हो जाती हैं । अब रहे शेष आठ तीर्थकर—कुन्धुनाथसे वर्द्धमान तक—सो उनकी आठ गाथायें ग्रन्थके अन्तमें देकर २४ की संख्या पूरी कर दी गई है और इन्हीं आठमेंकी अन्तिम गाथा प्रवचनसारकी उक्त गाथा है । बहुत सम्भव है कि ये सब गाथायें मूल ग्रन्थकी न हों, पीछेसे किसीने जोड़ दी हों और उनमें प्रवचनसारकी उक्त गाथा आ गई हो ।

डा० ए० एन० उपाध्येने इस विषयमें मुझे अपने पत्र (२३-६-४१) में लिखा है कि “ तिलोयपण्णत्ति और कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें इस तरहके समान श्लोक ज्यादा मिलते हैं । मेरा मत यह है कि इस प्रकारके श्लोक एक दूसरेसे लिये हुए नहीं किन्तु परम्परागत मौखिक साहित्यसे प्राप्त किये हुए हैं और वे एकाधिक

आचार्योंके ग्रन्थोंमें मिलते हैं। भगवती आराधना, मूलाचार, कुन्दकुन्दके ग्रन्थ, तिलोयपण्णत्ति आदि दिगम्बर ग्रन्थोंमें ही नहीं बल्कि श्वेताम्बर सम्प्रदायके निर्युक्ति, प्रकीर्णक (पयण्णा) आदि ग्रन्थोंमें भी इस तरहके समान श्लोक हैं। इसी दृष्टिसे मैं उन श्लोकोंको परम्परागत कहता हूँ। जिस समय सब ग्रन्थ कण्ठस्थ रखे जाते थे उस समय ऐसा होना असम्भव नहीं।”

मैं इस बातको मानता हूँ; फिर भी यह प्रश्न रह जाता है कि क्या अपने स्वतंत्र ग्रन्थोंके मंगलाचरण या नमस्कारात्मक पद्य भी आचार्य स्वयं न बनाकर परम्परागत पद्योंमेंसे ले लेते होंगे? सैद्धान्तिक पद्योंका ज्योंका त्यों उपयोग कर लेना तो समझमें आता है, पर मंगलाचरण-गाथाओंका लेना कुछ अद्भुत-सा लगता है।

आचार्य कुन्दकुन्दका समय-निर्णय अभी तक ठीक ठीक नहीं हो सका है। परन्तु इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें जो कुछ लिखा है, उससे ऐसा मालूम होता है कि वे या तो यतिवृषभसे कुछ पीछे हुए हैं या लगभग एक ही समयके होंगे। क्योंकि यतिवृषभके बाद ही कुण्डकुण्डपुरमें पद्मनन्दि मुनिने षट्खण्डागमके पहले तीन खंडोंपर १२ हजार श्लोककी परिकर्म नामकी टीका लिखी थी। इस टीकाके उल्लेख भी धवला टीकामें कई जगह मिलते हैं^१। कुन्दकुन्दका ही दूसरा नाम पद्मनन्दि है और इसलिए परिकर्म-टीकाके कर्ता ही समयसार आदि ग्रन्थोंके कर्ता होंगे, ऐसा समझा जाता है। यदि यह ठीक है तो फिर कुन्दकुन्द यतिवृषभके ही समयके श० सं० ४०० के लगभगके हो जाते हैं। और इसकी पुष्टि कुन्दकुन्दके नियमसारकी सत्रहवीं गाथासे भी होती है जिसमें लोक-विभागका उल्लेख किया गया है—

चउदहभेदा भणिदा तेरिच्छा सुरगणा चउब्भेदा ।

पदेसिं वित्थारं लोयविभागेसु णादब्बं ॥

इसपर पद्मप्रभ मलघारिदेवकी टीका है, “एतेषां चतुर्गतिजीवभेदानां विस्तारः लोकविभागाभिधानपरमागमे दृष्टव्यः” अर्थात् इन चतुर्गतिजीव-भेदोंका विस्तार

१ श्रुतावतारके १६०-६१ पद्य देखो।

२ त्ति परियम्मे वुत्तं—धवला अ० १४१

ण च परियम्मेण सह विरोहो—धवला अ० २०३ आदि।

लोक-विभाग नामके परमागममें देखना चाहिए ।

यदि यह लोकविभाग परमागम पूर्वोक्त सर्वनन्दिका ही लोक-विभाग है, तो इससे भी नियमसारके कर्त्ता कुन्दकुन्दका समय श० सं० ३८० के बाद सिद्ध होता है और इससे इन्द्रनन्दिके अभिप्रायकी पुष्टि हो जाती है कि कुन्दकुन्द (पद्मनन्दि) यतिवृषभके समकालीन टीकाकर्त्ता हैं ।

इस समयके माननेमें सबसे बड़ी बाधा यह है कि मर्करा (कुर्ग) के शिलालेखमें जो श० सं० ३८८ का लिखा हुआ है, चन्द्रनन्दि भट्टारकके पूर्वके पाँच गुरुओंका उल्लेख है और उन्हें कोण्डकुन्दान्वयका बतलाया है । यदि पाँच गुरुओंका समय सौ वर्ष ही मान लिया जाय और पहले गुरु गुणचन्द्रसे एक ही पीढ़ी पहले कुन्दकुन्दको माना जाय, तो फिर श० सं० २६८ के लगभगके ही वे ठहरते हैं और तब उनका यतिवृषभके बाद मानना असंगत हो जाता है ।

पर इसका समाधान एक तरहसे हो सकता है और वह यह कि कौण्डकुन्दान्वयका अर्थ हमें कुन्दकुन्दकी वंश-परम्परा न करके कोण्डकुन्दपुर नामक स्थानसे निकली हुई परम्परा करना चाहिए । जैसे कि श्रीपुर स्थानकी परम्परा श्रीपुरान्वय, अरुंगलकी अरुंगलान्वय, किचूरकी किचूरान्वय, मथुराकी माथुरान्वय, आदि । अर्थात् जिस तरह पद्मनन्दि कोण्डकुन्दके अन्वयके थे उसी तरह मर्कराके दान-पत्रमें बतलाये हुए मुनि भी कोण्डकुन्दान्वयवाले हो सकते हैं, भले ही वे उनसे पहले हुए हों । चूँकि कोण्डकुन्दपुरके अन्वयमें पद्मनन्दि बहुत प्रसिद्ध और प्रभाव-

१ मूलमें 'लोकविभागेषु' शब्द बहुवचनान्त है, इसलिए यह आपत्ति की जाती है कि वहाँ लोकविभाग नामके किसी एक ग्रन्थकी नहीं किन्तु लोकविभागसम्बन्धी अनेक ग्रन्थोंकी देखनेकी प्रेरणा है । परन्तु एक तो टीकाकार पद्मप्रभ उससे लोक-विभाग नामक आगम इष्ट बतलाते हैं, दूसरे बहुवचनका प्रयोग इस लिए भी इष्ट हो सकता है कि लोक-विभागके अनेक विभागों या अध्यायोंमें उक्त भेद देखने चाहिए ।

२ "...श्रीमान् कौण्णिमहाराजाधिराज-अविनीतनामधेयदत्तस्य देशी-गणं कौण्डकुन्दान्वय-गुणचन्द्रभट्टार(प्र)शिष्यस्य अभयपांदिभट्टारतस्य शिष्यस्य शीलभद्रभट्टारशिष्यस्य जनापांदिभट्टारशिष्यस्य गुणपांदि-भट्टारशिष्यस्य चन्द्रणन्दि भट्टारगौ अष्टअशीतित्रयोशतस्य संवत्सरस्य माघमासं..."—कुर्ग इन्क्रान्त (प० क० ३०)

शाली आचार्य हुए, इस लिए, उनका एक नाम ही कोण्डकुन्द या कुन्दकुन्द हो गया, जैसे तुम्बलूर ग्रामके तुम्बलूराचार्य। पर उनसे भी पहले कौण्डकुन्दाचार्य नहीं था, यह नहीं कहा जा सकता। अतएव मर्कराके दानपत्रसे पद्मनन्दिको यतिवृषभके परवर्ती माननेमें कोई बाधा नहीं पड़ सकती।

परन्तु इसपर डाक्टर ए० एन० उपाध्ये अपने पत्र (२३-६-४१) में लिखते हैं कि “सत्कर्मप्राभृत (षट्खंडागम) और कषायप्राभृत ये दोनों दो स्वतन्त्र परम्पराओंके ग्रन्थ हैं। पहलीका सम्बन्ध घरसेनसे और दूसरीका गुणधरसे है। यतिवृषभने जो चूर्णि-टीका लिखी वह कषायप्राभृतपर और पद्मनन्दि या कुन्दकुन्दने जो परिकर्म-टीका लिखी वह षट्खंडागमके पहले तीन खंडोंपर। इन्द्रनन्दिने कहनेके सुभीतेकी दृष्टिसे ही आगे पीछे उन टीकाओंका कथन किया है और १६० वें पद्यमें जो यह कहा है कि द्विविध सिद्धान्त गुरुपाटीसे कुण्डकुण्डपुरमें पद्मनन्दिको ज्ञात हुए, सो इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि पद्मनन्दि यतिवृषभके बाद हुए। क्योंकि दोनोंने एक ही ग्रन्थपर टीकायें नहीं लिखीं, पृथक्-ग्रन्थोंपर लिखी हैं। पद्मनन्दिको जो दोनों सिद्धान्तोंका ज्ञान हुआ, सो उसमें यतिवृषभकी चूर्णिका भी अन्तर्भाव हो जाता है, ऐसा कोई उल्लेख नहीं है।”

पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तारकी भी लगभग यही राय है।

इसपर मेरा वक्तव्य यह है कि पद्मनन्दिको दोनों सिद्धान्तोंका जो ज्ञान हुआ उसमें यतिवृषभकी चूर्णिका अन्तर्भाव भले ही न हो, परन्तु इस बातका स्पष्ट उल्लेख है कि गुणधर आचार्यका दूसरा कषायप्राभृत सिद्धान्त उन्हें गुरुपरिपाटीसे प्राप्त हुआ, और उस कषायप्राभृतके कर्ता गुणधर आचार्यके और यतिवृषभके समयमें अधिकसे अधिक २०-२५ वर्षका ही अन्तर होगा। क्योंकि इन्द्रनन्दिके कथनानुसार गुणधर मुनिने वर्तमानके लोगोंकी शक्तिका विचार करके कषायप्राभृत (प्रायोदोषप्राभृत) १८३ मूल सूत्र-गाथाओं और ५३ विवरण-गाथाओंमें बनाया और फिर १५ महा अधिकारोंमें विभाजित करके श्रीनागहस्ति और आर्यमंथु

१ एवं द्विविधो द्रव्यभावपुस्तकगतः समागच्छन् ।

गुरुपरिपाठ्या ज्ञातः सिद्धान्तः कोण्डकुण्डपुरे ॥१६०

मुनियोंके लिए उसका व्याख्यान किया और फिर उनके बाद उन सूत्रोंका अध्ययन करके यतिवृषभने चूर्णि-सूत्र रचे^१ । इससे यह स्पष्ट समझमें आता है कि नागहस्ति और आर्यमंक्षु गुणधरके साक्षात् शिष्य थे, और यतिवृषभने उन्हींके निकट अध्ययन किया था । अतएव जिस द्वितीय कषायप्राभृत सिद्धान्तको पद्मनन्दिने प्राप्त किया उसके कर्ता गुणधर यतिवृषभके समकालीन अथवा २०-२५ वर्ष ही पहले हुए थे और ऐसी दशामें पद्मनन्दि यतिवृषभके समसामयिक बल्कि कुछ पीछेके ही होंगे । क्योंकि उन्हें दोनों सिद्धान्तोंका ज्ञान गुरुपरिपाटीसे प्राप्त हुआ था । अर्थात् एक दो गुरु उनसे पहलेके और मानने होंगे ।

जयधवला टीकाके मंगलाचरणमें लिखा है कि वे आर्यमंक्षु नागहस्तिके सहित मुझे वर दें जिन्होंने गुणधरके मुखसे निकली हुई गाथाओंका सारा अर्थ अवधारित किया, और वे वृत्तिसूत्रकर्त्ता यतिवृषभ भी मुझे वर दें जो आर्य मंक्षुके शिष्य और नागहस्तिके अन्तेवासी थे^२ । इससे भी मालूम होता है कि गुणधर-आर्यमंक्षु-नागहस्ति-यतिवृषभका साक्षात् गुरु-शिष्य सम्बन्ध था, इसलिए गुणधरका मूल सिद्धान्त कषायप्राभृत भी जो पद्मनन्दि मुनिको प्राप्त हुआ यतिवृषभसे २०-२५ वर्ष ही पहलेका समझना चाहिए । गरज यह कि इन्द्रनन्दिके श्रुतान्वेत्तारके अनुसार पद्मनन्दिका समय यतिवृषभसे बहुत पहले नहीं जा सकता । अब यह बात दूसरी है कि इन्द्रनन्दिने जो इतिहास दिया है, वही गलत हो और या ये पद्मनन्दि कुन्द-

१ अथ गुणधरमुनिनाथः सकषायप्राभृतान्वयं (ख्यं ?) तत्

प्रायो-दोषप्राभृतकापरसंज्ञां साम्प्रतिकशक्तिमपेक्ष्य ॥ १५२

त्र्यधिकाशीत्या युक्तं शतं च मूलसूत्रगाथानाम् ।

विवरणगाथानां च त्र्यधिकं पञ्चाशतमकार्षीत् ॥ १५३

एवं गाथासूत्राणि पञ्चदशमहाधिकाराणि ।

प्रविरच्य (मज्ज) व्याचख्यौ स नागहस्त्यार्यमंक्षुभ्याम् ॥ १५४

२—देखो श्रुतावतारके १५५-५६ नम्बरके पद्य जो ऊपर उद्धृत हो चुके हैं ।

३—गुणधर-वयण-विणिग्गिय-गाहाणत्थोवहारिओ सब्बो ।

जेणज्जमंखुणा सो स-नागहत्थी वरं देऊ ॥ ७

जो अज्जमंखुसीसो अंतेवासी वि नागहत्थिस्स ।

सो वित्तिसुत्तकत्ता जइवसहो मे वरं देऊ ॥ ८

कुन्दके बादके दूसरे ही आचार्य हों और जिस तरह कुन्दकुन्द कोण्डकुण्डपुरके थे, उसी तरह पद्मनन्दि भी कोण्डकुण्डपुरके हों ।

गुरु-परम्परा

भगवान् वीरके निर्वाणके बादकी गुरुपरम्परा और काल-गणना जो तिलोय-पणत्तिमें दी है वह आगे उद्धृत की जाती है—

जादो सिद्धो वीरो तद्विवसे गोदमो परमणाणी ।

जादे तस्सि सिद्धे सुधम्मसामी तदो जादो ॥ ६६

तंमि कदकम्मणासे जंबूसामि त्ति केवली जादो ।

तत्थ वि सिद्धिपवण्णे केवल्लिणो णत्थि अणुवद्धा ॥ ६७

वासट्ठो वासाणि गोदमपहुदीण णाणवन्ताणं ।

धम्मपयट्ठकाले परिमाणं पिंडरुवेण ॥ ६८

अर्थ—जिस दिन श्रीवीर भगवान्का मोक्ष हुआ, उसी दिन गौतम गणधरको परम ज्ञान या केवल-ज्ञान हुआ और उनके सिद्ध होने पर सुधर्मा स्वामी केवली हुए। उनके कृत कर्मोंके नाश कर चुकने पर जम्बू केवली हुए। उनके बाद कोई केवली नहीं हुआ। इन गौतम आदि केवलियोंके धर्म-प्रवर्तनका एकत्रित समय ६२ वर्ष है।

कुंडलगिरिस्मि चरिमो केवलणाणीसु सिरिधरो सिद्धो ।

चारणरिसीसु चरिमो सुपासचंदाहिधाणो य ॥ ६९

पण्णसमणेसु चरिमो वइरजसो णाम ओहिणाणीस ॥

चरिमो सिरिणामो सुदविणयसुसीलादिसंपण्णो ॥ ७०

मउडधरेसुं चरिमो जिणदिक्खं धरदि चंदगुत्तो य ।

तत्तो मउडधरादो पव्वज्जं णेव गेह्मन्ति ॥ ७१

अर्थ—केवल-ज्ञानियोंमें सबसे अन्तिम श्रीधर हुए जो कुंडलगिरिसे मुक्त हुए और चारण ऋद्धिके धारक ऋषियोंमें सबसे अन्तिम सुपार्श्वचन्द्र हुए। इसी

१ सुधर्मा स्वामीका ही दूसरा नाम लोहार्य था ।

२ भगवान् महावीरके बाद केवल तीन ही केवलज्ञानी हुए हैं, जिनमें जम्बूस्वामी अंतिम थे। ऐसी दशमें यह समझमें नहीं आता कि यहाँ श्रीधरको क्यों अंतिम केवली बतलाया और ये कौन थे तथा कब हुए हैं। शायद ये अन्तःकृतकेवली हों ।

तरह प्रज्ञाश्रमणोंमें सबसे अंतिम वइरजस या वज्रयश हुए और अवधिशानियोंमें श्रुतविनयशीलदिसम्पन्न श्री (?) नामके मुनि । मुकुटधर राजाओंमें सबसे अन्तिम चन्द्रगुप्त (मौर्य ?) ने जिनदीक्षा धारण की । इसके बाद किसी राजाने प्रव्रज्या या दीक्षा नहीं ग्रहण की ॥ ६९-७१ ॥

णंदी य णंदिमित्तो विदिओ अवराजिदं तइं जाइं ।

गोवद्धणो चउत्थो पंचमओ भइवाहु त्ति ॥ ७२ ॥

पंच इमे पुरिसवरा चउदसपुव्वी जगमि विक्खादा ।

ते बारसअंगधरा तित्थे सिस्विट्ठमाणस्स ॥ ७३ ॥

पंचाण मेलिदाणं कालपमाणं हवेदि वाससदं ।

वारिमि य पंचमए भरहे सुदेकवली णत्थि ॥ ७४ ॥

अर्थ—नन्दि, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन, और भद्रबाहु ये पाँच पुरुष-श्रेष्ठ चतुर्दशपूर्वधारी कहलाये । ये द्वादशांगके ज्ञाता थे । इन पाँचोंका एकत्रित समय एक सौ वर्ष होता है । इनके बाद भरत क्षेत्रमें इस पंचम कालमें और कोई श्रुतकेवली नहीं हुआ ॥ ७२-७४ ॥

पढमो विसाहणामो पुट्ठिल्लो खत्तिओ जओ णागो ।

सिद्धत्थो धिदिसेणो विजओ बुद्धिल्लुगंगदेवा य ॥ ७५ ॥

एक्करसो य सुधम्मो दसपुव्वधरा इमे सुविक्खादा ।

पारंपरिउवगमदो तेसीदिसदं च ताण वासाणि ॥ ७६ ॥

१ 'प्रज्ञाश्रमण' ऋद्धिको धारण करनेवाले । धवलाटीकामें पण्ड-समणोंको नमस्कार किया गया है और प्रज्ञाश्रमणत्व ऋद्धिकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'प्रज्ञा एव श्रवणं येषां ते प्रज्ञाश्रवणः ।'

२ इवेतांवर सम्प्रदायमें अज वइर या आर्य वज्रके नामसे शायद इन्हींका उल्लेख मिलता है । कल्पसूत्र-स्थविरावलीके अनुसार ये आर्य सिंहगिरिके शिष्य और गौतमगोत्रीय थे । तपागच्छ-पट्टावलीके अनुसार ये दशपूर्ववित् थे, वीर नि० सं० ४९६ में इनका जन्म हुआ था, और ५८४ में स्वर्गवास । ये दक्षिणापथको गये थे ।—देखो धवला दू० भा०, भूमिका पृ० ३६ आदि ।

३ कहीं कहीं इनका नाम विष्णु भी मिलता है । पूरा नाम शायद विष्णुनन्दि होगा और उसीका संक्षेप कहीं विष्णु और कहीं नन्दि किया गया है ।

सव्वेसु वि कालवसा तेसु अदीदेसु भरहखेत्तम्मि ।
वियसंतभव्वकमला ण संति दसपुव्विदिवसयरा ॥ ७७ ॥

अर्थ—विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और सुधर्म ये ग्यारह आचार्य दशपूर्वके धारी विख्यात हुए । ये सब एकके बाद एक १८३ वर्षमें हुए । इन सबके कालवश होनेपर भरत क्षेत्रमें भव्यरूपी कमलेंको प्रफुल्लित करनेवाले दशपूर्वके धारक सूर्य फिर नहीं हुए ॥ ७७

णक्खत्तो जयपालो पंडुअधुवसेण-कंस-आइरिया ।

एक्कारसंगधारी पंच इमे वीरतित्थम्मि ॥ ७८ ॥

दोणिसया वीसजुदा वासाणं ताण पिंडपरिमाणं ।

तेसु अतीदे णत्थि हु भरहे एक्कारसंगधरा ॥ ७९ ॥

अर्थ—नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंसार्थ, ये पाँच आचार्य ग्यारह अंगोंके धारक हुए । इनके समयका एकत्र परिमाण २२० वर्ष होता है । इनके बाद ग्यारह अंगोंका धारक और कोई नहीं हुआ ।

पढमो सुभङ्गणामो जसभहो तह य होदि जसवाहू ।

तुरियो य लोयणामो पदे आचारअंगधरा ॥ ८० ॥

सेसेक्करसंगाणि चोहसपुव्वाणमेक्कदेसधरा ।

एक्कसयं अट्टारसवासजुदं ताण परिमाणं ॥ ८१ ॥

तेसु अदीदेसु तदा आचारधरा ण होंति भरहम्मि ।

गोदममुणिपहुदीणं वासाणं छस्सदाणि तेसीदी ॥ ८२ ॥

अर्थ—सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु, और लोह ये चार आचार्य आचारांगके धारक हुए । शेष कुछ आचार्य ग्यारह अंग चौदह पूर्वके एक अंशके ज्ञाता थे । ये सब ११८ वर्षमें हुए । इनके बाद भरतक्षेत्रमें कोई आचारांगधारी नहीं हुआ । गौतमगणधरके बाद यहाँ तक ६८३ वर्ष हुए । यथा—

१ श्रुतावतार (इन्द्रनंदिकृत) में चारों ही आचार्योंका समय ११८ वर्ष बतलाया है । उसमें अंग-पूर्वाश्रानियोंका समय शामिल नहीं मालूम होता, पर यहाँ उनका समय शामिल बतलाया है । श्रुतावतारमें अंगज्ञानियोंके विनयंधर, श्रीधर, शिवदत्त, अहंदत्त ये चार नाम भी बतलाये हैं । पर इनका समय जुदा नहीं दिया है । इससे जान पड़ता है कि इनका समय उन ११८ वर्षोंमें ही शामिल है ।

६२ वर्षमें ३ केवलज्ञानी,
 १०० ,, ५ श्रुतकेवली,
 १८३ ,, ११ ग्यारह अंग और दशपूर्वधारी,
 २२० ,, ५ ग्यारह अंगके धारी,
 ११८ ,, ४ आचारांगके धारी,
 ६८३ छः सौ तिरासी वर्ष ।

वीस सहस्सं ति सदा सत्तारसवच्छराणि सुदतित्थं ।
 धम्मपयट्ठणहेदू विच्छिस्सदि कालदोसेण ॥ ८३ ॥
 तेत्तियमेत्ते काले जं मिस्सदि चाउरणसंघादो ।
 अविणीदुम्मेधा वि य असूयको तह य पाएण ॥ ८४ ॥
 सत्तभयअट्टमदेहिं संजुत्ता सल्लगारववरेपहिं ।
 कलहपिओ रागट्ठो क्रूरो कोहादुओ लोहो ॥ ८५ ॥

अर्थ—(पंचमकाल २१००० वर्षका है । इसमें ६८३ वर्ष तक श्रुतज्ञान रहा, अतएव शेषके) २०३१७ वर्ष तक धर्मप्रवृत्तिका हेतुभूत श्रुततीर्थ काल-दोषसे विच्छिन्न रहेगा । इतने समय तक चातुर्वर्ण संघमें प्रायः अविनीत, दुर्बुद्धि, ईर्ष्यालु, सात भय और आठ मदों तथा शल्यादिसे युक्त कलहप्रिय, रागी, क्रूर, क्रोधी और लोभी मुनि उत्पन्न होंगे ॥ ८३-८५ ॥

राजकाल-गणना

वीरजिणे सिद्धिगदे चउसद-इगिसट्ठि-वासपरिमाणो ।
 कालम्मि अदिक्कंते उप्पण्णो एत्थ सगराओ ॥ ८६ ॥
 अहवा वीरे सिद्धे सहस्सणवकम्मि सगसयब्भहिये ।
 पणसीदिम्मि अतीदे पणमासे सगणिओ जादो ॥ ८७ ॥
 (पाठान्तरं)
 चोइस-सहस्स-सगसय तेणउदी वासकालविच्छेदे ।
 वीरेसरसिद्धीदो उप्पणो सगणिओ अहवा ॥ ८८ ॥
 (पाठान्तरं)

णिब्बाणे वीरजिणे छब्बाससदेसु पंचवरिसेसु ।
 पणमासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा ॥ ८९ ॥

अर्थ—वीर भगवानके मोक्षके बाद जब ४६१ वर्ष बीत गये, तब यहाँपर शक नामका राजा उत्पन्न हुआ। अथवा भगवानके मुक्त होनेके बाद ९७८५ वर्ष ५ महीने बीतनेपर शक राजा हुआ। (यह पाठान्तर है।) अथवा वीरेश्वरके सिद्ध होनेके १४७९३ वर्ष बाद शक राजा हुआ। (यह पाठान्तर है।) अथवा वीर भगवानके निर्वाणके ६०५ वर्ष और ५ महीने बाद शक राजा हुआ ॥ ८६-८९ ॥

णिव्वाणगदे वीरे चउसद-इगिसट्टि-वासविच्छेदे ।

जादो य सगणरिंदो रज्जं वस्सस्स दुसय बादाला ॥ ९३ ॥

दोणिसदा पणवण्णा गुत्ताणं चउमुहस्स बादालं ।

वस्सं होदि सहस्सं केई एवं परुवंति ॥ ९४ ॥

अर्थ—वीर-निर्वाणके ४६१ वर्ष बीतनेपर शक राजा हुआ और इस वंशके राजाओंने २४२ वर्ष राज्य किया। उनके बाद गुप्त वंशके राजाओंका राज्य २५५ वर्ष तक रहा और फिर चतुर्मुख (कल्कि) ने ४२ वर्ष तक राज्य किया। कोई कोई इस तरह (४६१+२४२+२५५+४२=१०००) एक हजार वर्ष प्ररूपण करते हैं।

जं काले वीरजिणो णिस्सेयससंपयं समावण्णो ।

तक्काले अभिसित्तो पालयणामो अवंतिसुदो ॥ ९५ ॥

पालकरज्जं सट्ठि इगिसयपणवण्ण विजयवंसभवा ।

चालं मरुदयवंसा तीसं वंसा सु पुस्समिच्चंमि ॥ ९६ ॥

१ इन गाथाओंसे मालूम होगा कि इस समयसे लगभग १४०० वर्ष पहले भी महावीर भगवानके निर्वाण-कालके विषयमें सन्देह था। एक मत था कि उनका निर्वाण शकके ४६१ वर्ष पहले हुआ है और दूसरा था कि नहीं ६०५ वर्ष पहले हुआ है। (त्रैलोक्यसार और हरिवंशपुराण आदिमें यह दूसरा ही मत माना गया है।) इसके सिवाय तीसरे और चौथे मत भी थे जो बहुत ही विलक्षण थे। उनके विषयमें तो कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती। उनके अनुसार शकसे हजार पाँचसौ नहीं किन्तु नौ हजार और चौदह हजार वर्ष पहले भगवानका निर्वाण हुआ था और बड़े आश्चर्यकी बात तो यह है कि उक्त मत-भेद उस समय एक महान् ग्रन्थमें भी उल्लेख योग्य समझे गये!

वसुमित्तअग्गिमित्ता सट्ठी गहव्वया वि सयमेकं ।
 णहवाहणो य चालं तत्तो भत्थट्ठणा जादा ॥ ९७ ॥
 भत्थट्ठणाण कालो दोणिसयाइं हवन्ति वादाला ।
 तत्तो गुत्ता ताणं रज्जे दोणियसयाणि इगितीसा ॥ ९८ ॥
 तत्तो कर्का जादो इंदसुदो तस्स चउमुहो णामो ।
 सत्तरिवरिसा आऊ विगुणिय-इगिवीस रज्जत्तो ॥ ९९ ॥

अर्थ—जिस समय वीर भगवानका मोक्ष हुआ, ठीक उसी समय अवन्ति (चण्डप्रद्योत) का पुत्र पालक नामक राजा अभिषिक्त हुआ। उसने या उसके वंशने ६० वर्ष तक राज्य किया। उसके बाद १५५ वर्ष तक विजयवंशके^३

१ पुत्रादसंघके आचार्य जिनसेनने अपने हरिवंशपुराणमें उक्त राजवंशावलीका एक तरहसे अनुवाद किया है जो यहाँ दिया जाता है—

वीरनिर्वाणकाले च पालको अभिषिच्यते ।
 लोकेऽवन्तिसुतो राजा प्रजानां प्रतिपालकः ॥ ४८८
 षष्ठिवर्षाणि तद्राज्यं ततो विजयभूभुजाम् ।
 शतं च पंचपंचाशद्वर्षाणि तदुदीरितम् ॥ ४८९
 चत्वारिंशन्मुखण्डानां भूमण्डलमखण्डितम्
 त्रिंशत्तु पुष्यमित्राणां षड्विंस्वमित्रयोः ॥ ४९०
 शतं रासभराजानां नरवाहनमप्यतः ।
 चत्वारिंशत्ततो द्वाभ्यां चत्वारिंश्छतद्वयम् ॥ ४९१
 भट्टवाणस्य तद्राज्यं गुप्तानां च शतद्वयम्
 एकत्रिंशच्च वर्षाणि कालविद्विरुदाहृतम् ॥ ४९२
 द्विचत्वारिंशदेवातः कल्किराजस्य राजता ।
 ततोऽजितंजयो राजा स्यादिन्द्रपुरसंस्थितः ॥ ४९३ —पर्व ६०

२ सिरिजिणिव्वाणगमणरयणीए उज्जेणीए चंडपज्जोअमरणे पालओ राजा अहिसित्तो । तेण य अपुत्तउदाइमरणे कोणिअरजं पाडलिपुरं पि अहिद्धिअं ।

—सिरि दुसमाकालसमणसंघ-थयं अवचूरि (पट्टावलीसमुच्चय, पृ० १७)

३ तपागच्छपट्टावली और मेरुतुंगकी विचार-श्रेणीमें पालकके बाद १५५ वर्षका राज्य-काल नन्द-राजाओंका बतलाया है — संट्ठो पालयरण्णो पणवण्णसयं तु होइ पंदाणं । जान पड़ता है, इसी नन्दवंशकी यहाँ विजयवंश कहा गया है ।

राजाओंने, ४० वर्ष तक मुरुदय (मौर्य ?) वंशने और ३० वर्ष तक पुष्यमित्रने राज्य किया। फिर ६० वर्षतक वसुमित्र अग्निमित्रने, १०० वर्षतक गर्दमिल्ल राजाओंने और ४० वर्ष तक नरवाहन राजाने राज्य किया। इसके बाद भृत्यान्त्रै राजा हुए जिनका राज्य २४२ वर्षतक रहा। इनके बाद गुप्तोंका राज्य २३१ वर्ष तक रहा और तब कल्कि उत्पन्न हुआ। वह इन्द्रका पुत्र था और चतुर्मुख उसका नाम था। वह ७० वर्ष तक जिया और ४२ वर्ष तक उसने राज्य किया। इस तरह भी सब मिलाकर (६०+१५५+४०+३०+६०+१००+४०+२४२+२३१+४२=१०००) एक हजार वर्ष होते हैं।

आचारंगधरादो पणहत्तरिजुत्तदुसयवासेसु ।

वोलीणेषुं बद्धो पट्टो कक्कीसणरवइणो ॥ १००

अर्थ—आचारंगधारियोंके बाद २७५ वर्ष बीतनेपर कल्कि राजा पट्टपर बैठा। अर्थात् आचारंगधारियोंके काल ६८३ में २७५ जोड़नेसे ९५८ हुए और उसमें कल्कि राज्यके ४२ वर्ष मिलानेसे पूरे एक हजार हो जाते हैं।

अह साहियूण कक्की णियजोग्गे जणपदे पयत्तेण ।

सुकं जाचदि लुद्धो पिकं जाव ताव समणाओ ॥ १०१ ॥

१ मेरुतुंगकी विचारश्रेणीमें वसुमित्र अग्निमित्रके बदले बलमित्र और मानुमित्र नाम दिये हैं और गद्धव्याके बदले गर्दमिल्ल—

बलमित्तमाणुमित्ता सट्ठीवरिसाण चत्तणहवाणे ।

तह गद्धमिल्लरजं तेरंस वरिस संगत्स चउवरिसा ॥ ३

२ हरिवंशपुराणके कर्त्ताने 'गर्दमिल्ल' को 'गर्दम' मानकर उसके पर्यायवाची शब्द 'रासम' का प्रयोग किया है। वास्तवमें गर्दमिल्ल एक राजवंश था जिसकी स्व० म० म० काशीप्रसाद जायसवालने खारवेल्लके राजवंशसे एकता सिद्ध की है। देखो सितम्बर १९३० का बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटीका जर्नल।

३ 'नहपान' को ही यहाँ नरवाहन लिखा है। मूलमें शायद 'णहवाण' हो।

४ हरिवंशपुराणमें 'मत्थट्ठाणं' की जगह 'मट्ठवाणस्य' लिखा है जो ठीक नहीं। मतलब आन्ध्रमृत्त्योंसे जान पड़ता है। 'मच्चथाणं' पाठ माननेसे उसकी छाया 'मृत्त्यान्ध्राणां' हो सकती है।

दाऊणं पिंडग्गं समणा कालोय अंतराणं पि ।
 गच्छन्ति ओहिणाणं उप्पज्जइ तेसु एकं पि ॥ १०२ ॥
 अह कोवि असुरदेवा ओहीदो मुणिगणाण उवसग्गं ।
 णादूणं तक्कक्की मारेदि हु धम्मदोहि त्ति ॥ १०३ ॥
 कक्किसुतो अजिदंजयणामो रक्खन्ति णमदि तच्चरणे ।
 तं रक्खदि असुरदेओ धम्मो रज्जं करेज्जं ति ॥ १०४ ॥
 तत्तो दोवे वासो सम्मं धम्मो पयट्ठदि जणाणं ।
 कमसो दिवसे दिवसे कालमहप्पेण हापेदे ॥ १०५ ॥
 एवं वस्ससहस्से पुह कक्की हवेइ एक्केको ।
 पंचसयवच्छरेसुं एक्केको तहय उवकक्की ॥ १०६ ॥

अर्थ—जब कल्किने अपने योग्य देशोंको यत्नपूर्वक जीत लिया, तब वह अतिशय लुब्ध बनकर जिस तिस भ्रमण (जैनमुनि) से शुल्क या कर माँगने लगा । इसपर भ्रमण अपना पहला ग्रास देकर भोजनमें अन्तराय हो जानेसे जाने लगे । उन मुनियोंमेंसे किसी एकको अवधिज्ञान हो गया । फिर कोई असुर अवधिज्ञानसे यह जानकर कि मुनियोंको उपसर्ग हो रहा है, आया और उसने धर्मद्रोही कल्किको मार डाला । कल्किका अजितंजय नामका पुत्र था । उसको असुने बचा दिया और उससे धर्म-राज्य कराया । इसके बाद दो वर्ष तक लोगोंमें धर्मकी प्रवृत्ति अच्छी तरह होती रही परन्तु फिर दिनों दिन कालके माहात्म्यसे उसकी हीनता होने लगी । आगे इसी तरह प्रत्येक एक एक हजार वर्षमें एक एक कल्कि और प्रत्येक पाँच पाँच सौ वर्षमें एक एक उपकल्कि होगा ॥ १०१-१०६ ॥

कल्कि एक ऐतिहासिक राजा हुआ है । इसके विषयमें स्वर्गीय महामहोपाध्याय काशीप्रसाद जायसवालने हिन्दू पुराणों और जैनग्रन्थोंके आधारसे एक विस्तृत लेख लिखा था और उसमें बतलाया था कि मालवाधिपति विष्णु यशोधर्मा ही कल्कि है जिसका विजयस्तंभ मन्दसौर (ग्वालियर) में खड़ा है और जिसने मिहिरकुलको काश्मीरमें पराजित किया था । मन्दसौरका विजयस्तंभ

१ देखो जैनहितैषी भाग १३ अंक १२ में ' कल्कि अवतारकी ऐतिहासिकता ' शीर्षक लेख ।

ईस्वी सन् ५५५-३४ में स्थापित किया गया था। जैनग्रन्थोंके समयके साथ भी यह समय मिल जाता है।

स्व० डा० काशीनाथ बापूजी पाठकने भी अपने एक लेखमें 'कल्कि को ऐतिहासिक राजा बतलाया था, परन्तु वे विष्णुयशोधर्माको नहीं किन्तु मिहिरकुलको कल्कि मानते थे, जिसने ४० वर्ष राज्य किया और जो ७० वर्षकी अवस्थामें मरा। इस राजाका वर्णन चीनी यात्री हुएन्त्सांगने विस्तारसे लिखा है। राजतरंगिणीमें भी इस दुष्ट राजाका वृत्तान्त दिया है।

कल्कि विष्णुयशोधर्मा था या मिहिरकुल, इसमें मत-भेद है परन्तु कल्कि ऐतिहासिक पुरुष है, यह प्रायः निश्चित है।

१ देखो जैनहितैषी भाग १३ अंक १२ में 'गुप्त राजाओंका काल, मिहिरकुल और कल्कि।'

आराधना और उसकी टीकायें

मूल ग्रन्थका परिचय

नाम — यह एक बहुत ही प्रसिद्ध और प्राचीन ग्रन्थ है। इसकी भाषा शौर-सेनी प्राकृत है। इसमें सब मिलाकर २१७० गाथाएँ हैं। इनमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तरूप चार आराधनाओंका विवेचन है, इसी कारण इसका नाम 'आराधना' है। यद्यपि यह 'भगवती आराधना' के नामसे अधिक प्रसिद्ध है; परन्तु वास्तवमें 'भगवती' नामका अंश नहीं, उसका एक विशेषण है। यदि नाम होता, तो 'भगवत्याराधना' होता। स्वयं ग्रन्थ-कर्त्ताने भी मंगलाचरणमें 'आराधना' नाम प्रकट किया है, 'वन्दित्ता अरिहंते बुच्छं आराहणा कमसो।' अर्थात् अरहंतोंकी वन्दना करके मैं 'आराधना' कहता हूँ। इसके सिवाय ग्रन्थान्तमें भी कहा है 'आराहणा सिवञ्जेण पाणिंदलमोइणा रइदा' अर्थात् पाणितलमोजी शिवार्यने 'आराधना' की रचना की। इस ग्रन्थके प्राचीन टीकाकार अपराजितसूरिने भी 'अपराजितसूरिणा...रचिता आराधना-टीका विजयोदया नाम्ना समाप्ता' लिखकर इसका नाम 'आराधना' ही प्रकट किया है। पण्डित आशाधरजीने अपनी टीकाका नाम 'मूलाराधना-दर्पण' लिखा है। इससे भी मूल ग्रन्थका नाम 'आराधना' ही प्रकट होता है। इसी तरह तीसरी टीकाका नाम भी 'आराधना-पंजिका' है।

मूल ग्रन्थकर्त्ताने एक जगह २१६४ नम्बरकी गाथामें 'आराधना' के लिए स्वयं 'भगवती' विशेषण दिया है; परन्तु वह विशेषण ही है, नाम नहीं और आराधनाके बाद दिया है। जान पड़ता है, आगे चलकर पूज्यतावश यही विशेषण नाममें शामिल हो गया है।

श्रीअमितगतिसूरिने इस ग्रन्थके संस्कृत अनुवादरूप अपने ग्रन्थको भी आराधना ही कहा है, 'आराधनैषा यदकारि पूर्णा'। हाँ, विशेषण रूपमें अवश्य ही

उसके साथ 'भगवती' पद लगाया है, 'आराधना भगवती कथिता स्वशक्त्या ।' यह प्रयोग भी मूलकी २१६४ नम्बरकी गाथाके समान है ।

विषय—यह प्रधानतः मुनि-धर्मका ग्रन्थ है । मुनि-धर्मकी अन्तिम सफलता शान्तिपूर्वक समाधिमरण है और इस समाधिमरणका—पण्डितपण्डितमरण, पण्डितमरण आदिका—इसमें विशद और विस्तृत विवेचन है ।

मूल कर्त्तृका परिचय

ग्रन्थकर्त्तानि ग्रन्थान्तर्मे अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

अज्जजिणणंदिगणि-सव्वगुत्तगणि-अज्जमित्तणंदीणं ।

अवगमिय पादमूले सम्मं सुत्तं च अत्थं च ॥ २१६१ ॥

पुब्बायरियणिवद्धां उवजीवित्ता इमा ससत्तीए ।

आराहणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रइदा ॥ ६२ ॥

छदुमत्थदाइ एत्थ दु जं वद्धं होज्ज पवयणविरुद्धं ।

सोधंतु सुगीदत्था पवयणवच्छल्लदाए दु ॥ ६३ ॥

आराहणा भगवदी एवं भत्तीए वणिणदा संती ।

संघस्स सिवज्जस्स य समाधिवरमुत्तमं देउ ॥ ६४ ॥

असुर-सुर-मणुअ-किण्णर-रवि-ससि-किंपुरिस-महियवरचरणो ।

दिसउ मम बोहिलाहं जिणवरवीरो तिहुवणिंदो ॥ ६५ ॥

खम-दम-णियम-धराणं धुदरयसुहदुक्खविप्पजुत्ताणं ।

णाणुज्जोदियसल्लेहणम्मि सुणमो जिनवराणं ॥ ६६ ॥

अर्थात्—आर्य जिननंदि गणि, आर्य सर्वगुप्त गणि और आर्य मित्रनन्दिके चरणोंके निकट मूल सूत्रों और उनके अर्थ या अभिप्रायको अच्छी तरह समझ करके, पूर्वाचार्योंद्वारा निबद्ध की हुई रचनाके आधारसे पाणितलभोजी (करतलपर लेकर भोजन करनेवाले) शिवार्यने यह 'आराधना' अपनी शक्तिके अनुसार रची है । अपनी छद्मस्थता या ज्ञानकी अपूर्णताके कारण इसमें जो कुछ प्रवचनविरुद्ध लिखा गया हो, उसे सुगीतार्थ अर्थात् पदार्थको भले प्रकार समझनेवाले प्रवचनवात्सल्य-भावसे शुद्ध कर लें । इस प्रकार भक्तिपूर्वक वर्णन की हुई भगवती आराधना संघको और शिवार्यको (मुझे) उत्तम समाधि दे । असुर-सुर-मनुष्य—

१ पं० आशाधरजीने अपनी टीकामें 'पुब्बायरियकयाणि य' पाठ माना है ।

किन्नर-रवि-शशि-किंपुरुषोंके द्वारा पूज्य और तीन भुवनके इन्द्र भगवान् महावीर मुझे बोधि दें । क्षम (क्षमा), दम (इन्द्रियदमन) और नियमोंके धारक, कर्म-रहित, सुखदुःखविप्रयुक्त और ज्ञानके द्वारा सहेखनाको उद्योतित करनेवाले जिन-वरों (तीर्थंकरों) को नमस्कार हो ।

इससे मालूम होता है कि ग्रन्थकर्त्ताका पूरा नाम शिवार्य था । अपने तीनों गुरुओंके नामके साथ उन्होंने 'आर्य' विशेषण दिया है । इससे जान पड़ता है कि उनके साथ जो 'आर्य' शब्द है, वह भी विशेषण ही है और इसलिए उनका नाम शिवनन्दि, शिवगुप्त, शिवकोटि या ऐसा ही कुछ होगा, जो संक्षेपमें 'शिव' कहा जा सकता है ।

आदिपुराणके कर्ता भगवजिनसेनने अपने ग्रन्थके प्रारंभमें उनका शिवकोटि मुनीश्वर कहकर उल्लेख किया है—

शीतीभूतं जगद्यस्य वाचाऽऽराध्य चतुष्टयं ।

मोक्षमार्गं स पायान्नः शिवकोटिमुनीश्वरः ॥ ४९ ॥

अर्थात् वे शिवकोटि मुनीश्वर हमारी रक्षा करें, जिनकी वाणीद्वारा (निर्मित) चतुष्टयरूप (दर्शन-ज्ञान-चरित्र-तत्परूप) मोक्षमार्गका आराधन करके यह जगत् शीतीभूत या शान्त हो रहा है ।

अवश्य ही इस श्लोकमें 'आराधना'का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है, परन्तु जिस ढँगसे यह कहा गया है उससे ऐसा मालूम होता है कि जिनसेनस्वामीका आशय शायद इसी 'आराधना' ग्रन्थसे है, क्योंकि इसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तत्परूप चार प्रकारकी आराधनाओंका ही विस्तृत व्याख्यान है और इसमें भी सन्देह नहीं है कि वह संसारको शीतीभूत करनेवाला है । इससे संभव है कि उनका पूरा नाम 'आर्य शिवकोटि' हो ।

समन्तभद्रका शिष्यत्व—श्री प्रभाचन्द्रके आराधना कथाकोश (गद्य) में और देवचन्द्रके ' राजावलि कथे ' (कनड़ी) में शिवकोटिको स्वामी समन्त भद्रका शिष्य बतलाया है । इनके अनुसार वे काशी या कांचीके शैव राजा थे और उनके शिवलिंग फोड़कर उसमेंसे चन्द्रप्रभकी प्रतिमा प्रकट करनेके चमत्कारको देखकर वे जैन हो गये थे । परन्तु इन कथाओंपर अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता । इतिहासदृष्टिसे ये लिखी भी नहीं गई हैं । जैनधर्मका प्रभाव प्रकट करना ही इनका उद्देश्य जान पड़ता है । यह कदापि संभव नहीं कि

शिवकोटि अपने इतने बड़े ग्रन्थमें अपने इतने बड़े उपकारी गुरु समन्तभद्रका उल्लेख न करें। कमसे कम उनका नामस्मरण तो अवश्य करते। परन्तु वे अपने गुरुओंके नाम जुदा ही बतलाते हैं।

हरिवेणकृत कथाकोश उपलब्ध कथाकोशोंमें सबसे पुराना श० सं० ८५३ (वि० सं० ९८८) का बना हुआ है। इस ग्रन्थमें जब कि प्रभाचन्द्रके गद्य-कथाकोशकी अन्य प्रायः सभी कथायें दी हुई हैं, तब उक्त शिवकोटि और समन्तभद्रवाली कथा नहीं है, इससे मालूम होता है कि समन्तभद्रके शिष्यत्वकी उक्त कल्पना उसके बाद की है।

शिवकोटिका सबसे पुराना उल्लेख आदिपुराणमें मिलता है। जिनसेनस्वामीको शायद इस बातका पता था कि वे किसके शिष्य हैं। यदि वे उन्हें समन्तभद्रका शिष्य समझते होते तो समन्तभद्रके बाद ही उनकी स्तुति करते। सो न करके उन्होंने बीचमें श्रीदत्त, यशोभद्र और प्रभाचन्द्रकी प्रशस्ति लिखकर फिर शिवकोटिका स्मरण किया है।

कवि हस्तिमल्ल (वि० की चौदहवीं शताब्दि) ने ' विक्रान्तकौरव ' में समन्तभद्रके शिवकोटि और शिवायन दो शिष्य बतलाये हैं और उन्हींके अन्वयमें वीरसेन जिनसेनको बतलाया है, परन्तु इस बातका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है कि समन्तभद्रकी शिष्यपरम्परामें वीरसेन जिनसेन हुए हैं। शिवकोटि तो खैर ठीक परन्तु ये ' शिवायन ' और कौन हैं ? कहीं ' सिवज्जेण ' (शिवायेंण) पद ही तो किसी गलतफहमीसे शिवायन नहीं बन गया है ? अन्यत्र कहीं भी शिवायनका कोई उल्लेख अब तक नहीं मिला।

इस तरह शिवकोटि समन्तभद्रके शिष्य नहीं माने जा सकते।

अन्य दो रचनायें—' आराधना ' के अतिरिक्त शिवकोटि आचार्यकी दो रचनायें और बतलाई जाती हैं, जिनमेंसे एक ' रत्नमौला ' है।

१ पं० परमानन्द शास्त्रीने अपने एक लेख (अनेकान्त वर्ष २, किण ६) में बतलाया है कि शिवायने गाथा २०७९-८३ में स्वामी समन्तभद्रकी तरह गुणव्रतोंमें भोगोपभोग परिमाणको न गिनकर देशवकाशिकको ग्रहण किया है और शिक्षाव्रतोंमें देशवकाशिकको न लेकर भोगोपभोगपरिमाणका विधान किया है। यदि वे समन्तभद्रके शिष्य होते तो इस विषयमें उनका अनुसरण अवश्य करते।

२ माणिकचन्द्र-ग्रन्थमालाके २१ वें ग्रन्थ ' सिद्धान्तसारादिसंग्रह ' में प्रकाशित।

इस संस्कृत ग्रन्थमें केवल ६७ अनुष्टुप् श्लोक हैं। इसका अन्तिम श्लोक इस प्रकार है—

यो नित्यं पठति श्रीमान् रत्नमालामिमां परा ।

स शुद्धभावतो नूनं शिवकोटित्वामाप्नुयात् ॥ ६७ ॥

हमारी समझमें यह ग्रन्थ आराधनाके कर्त्ताका कदापि नहीं है। या तो किसीने जान बूझकर अपनी बातोंको अधिक प्रामाणिक बतलानेकी नीयतसे इसे शिवकोटिके नामसे प्रसिद्ध किया है और या वे कोई दूसरे ही शिवकोटि होंगे। एक तो रत्नमालाकी रचना बहुत ही साधारण है, उसमें कोई प्रौढ़ता नहीं है, दूसरे उनके बादके किसी भी ग्रन्थकर्त्ताने इस ग्रन्थका उल्लेख नहीं किया है, किसीने इसका कोई पद्य प्रमाण रूपमें भी पेश नहीं किया है, तीसरे इसमें लिखी हुई कुछ बातें बुरी तरह खटकनेवाली हैं। इस ग्रन्थका नीचे लिखा हुआ श्लोक देखिए—

कलौ काले वने वासो वर्ज्यते मुनिसत्तमैः ।

स्थीयेत च जिनागारे ग्रामादिषु विशेषतः ॥ २२ ॥

अर्थात् इस कलिकालमें मुनियोंको वनमें न रहना चाहिए। श्रेष्ठ मुनियोंने इसको वर्जित किया है। इस समय उन्हें जैन-मन्दिरोंमें विशेष करके ग्रामादिकोंमें रहना चाहिए।

इससे साफ प्रकट होता है कि यह उस समयकी रचना है जब दिगम्बर सम्प्रदायमें 'चैत्य वास' अच्छी तरह चल रहा था, और उसके अनुयायी इतने प्रबल हो गये थे कि उन्होंने वनोंमें रहना वर्जित तक बतला दिया था। मन्दिरों या ग्रामोंमें रहनेको किसी तरह जायज बतलाना एक बात है और उन्हींमें रहना चाहिए, वनमें नहीं, यह दूसरी बात है। यह तो भगवती आराधनासे भी विरुद्ध है।

रत्नमालाका ६५ वाँ श्लोक इस प्रकार है—

सर्वमेवविधिर्जनः प्रमाणं लौकिकः सतां ।

यत्र न व्रतहानिः स्यात्सम्यक्त्वस्य च खंडनं ॥ ६५ ॥

यह श्रीसोमदेवसूत्रिकृत यशस्तिलक चम्पूके उपासकाध्ययनके नीचे लिखे श्लोकको बिगाड़कर बनाया गया है—

सर्वमेव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः ।

यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥

यशस्तिलककी रचनाका समय शक संवत् (८८१ वि० सं० १०१६) है, अतएव रत्नमाला उससे पीछेके किसी समयकी रचना है^१ ।

श्रवणबेलगोलके १०५ वें शिलालेखमें जो वि० सं० १४५५ का है, शिव-कोटिको तत्त्वार्थसूत्रका टीकाकार बतलाया है, 'संसारवाराकरपोतमेतत्तत्त्वार्थ-सूत्रं तदलंकार ।' अर्थात् जिन्होंने संसार समुद्रको पार करनेके लिए पोत (जहाज) के समान यह तत्त्वार्थसूत्र अलंकृत किया । इसमें जो 'एतत्' (यह) शब्द पड़ा हुआ है, उससे पंडित जुगलकिशोरजी मुस्तारने यह अनुमान किया है कि उद्धरणका उक्त पद्य तत्त्वार्थसूत्रकी उसी शिवकोटिकृत टीकाकी प्रशस्तिका एक श्लोक है, जो शिलालेखमें एक विचित्र ढंगसे शामिल कर लिया गया है । अन्यथा शिलालेखके पद्योंके अनुक्रममें इस 'एतत्' शब्दकी और किसी तरह संगति नहीं बिठाई जा सकती । यद्यपि अभी तक उक्त तत्त्वार्थटीका उपलब्ध नहीं हुई है; परन्तु, जहाँ तक हमारा खयाल जाता है, उसका अस्तित्व जरूर है और वह शिवकोटिकी ही बनाई हुई होगी । परन्तु वे आराधनाके कर्त्ता शिवार्थ या शिवकोटिसे भिन्न कोई दूसरे ही शिवकोटि होंगे और आश्चर्य नहीं जो रत्नमालाके कर्त्ता शिवकोटिकी ही वह रचना हो । यह भी असंभव नहीं है कि उनके गुरुका नाम भी समन्तभद्र हो । शिवकोटिके समान समन्तभद्र नामको धारण करनेवाले भी अनेक भट्टारक हो सकते हैं । एक समन्तभद्रका नाम तो पाठकोंने भी सुना होगा, जिन्होंने अष्टसहस्रीपर एक 'विषमपदतात्पर्यटीका' लिखी है और जिनका समय पं० जुगलकिशोरजी विक्रमकी तेरहवीं शताब्दिके लगभग अनुमान करते हैं^२ । ये लघु समन्तभद्र कहलाते थे ।

तत्त्वार्थसूत्रकी यदि यह टीका इतनी प्राचीन होती जितनी कि आराधना है, तो उसका उल्लेख दूसरे टीकाकारोंने अवश्य किया होता और वह सर्वार्थसिद्धि-टीकासे भी प्राचीन होती । परन्तु अभीतक किसी भी प्राचीन ग्रन्थमें उसका किसी भी रूपमें कोई उल्लेख नहीं मिला है ।

इन सब बातोंसे हम इस निश्चयपर पहुँचते हैं कि आराधनाके कर्त्ता न

१ सिद्धान्तसारादिसंग्रहकी मेरी लिखी हुई भूमिकामें इस विषयपर कुछ विस्तारसे लिखा गया है ।

२ देखो 'स्वामि समन्तभद्र' के पृष्ठ २२९ की टिप्पणी ।

तो समन्तभद्रके शिष्य थे, न जिनदीक्षा लेनेके पहले वे शैव राजा थे और न उनका बनाया हुआ आराधनाके अतिरिक्त कोई दूसरा ग्रन्थ ही उपलब्ध है । रत्नमाला और तत्त्वार्थटीकाके कर्त्ता कोई दूसरे शिवकोटि थे ।

गुरु-परम्परा और सम्प्रदाय

दिगम्बर सम्प्रदायकी पट्टावलियों, शिलालिपियों और श्रुतावतार, हरिवंशपुराण आदि ग्रन्थोंमें जो गुरुपरम्परायें मिलती हैं उनमेंसे किसी परम्परामें जिननन्दि, सर्वगुप्त और मित्रनन्दिके नाम नहीं मिलते । परन्तु इनमेंसे सर्वगुप्तका उल्लेख यापनीय संघके आचार्य शाकटायनने अपने व्याकरणमें किया है—‘उपसर्वगुप्तं व्याख्यातारः’ (१-३-१०४) अर्थात् सारे व्याख्याता सर्वगुप्तसे नीचे हैं— उनके जैसा कोई दूसरा व्याख्याता नहीं । शायद इन्हीं सर्वगुप्तके चरणोंके निकट बैठकर शिवार्यने सूत्र और उनका अर्थ अच्छी तरह आयत्त करके आराधनाकी रचना की थी । शाकटायनके उक्त उल्लेखसे हमारा अनुमान है कि शिवार्य या शिवकोटि यापनीय संघके ही आचार्य हैं और इसीलिए दिगम्बर गुरुपरम्परामें उनके गुरुओंका कोई उल्लेख नहीं मिलता ।

इस अनुमानकी पुष्टि और भी कई प्रमाणोंसे होती है जिन्हें हमने विस्तारके साथ अन्यत्र लिखा है । यहाँ संक्षेपमें उनमेंसे थोड़ी-सी बातें दी जाती हैं—

१ भगवती आराधनाकी उपलब्ध टीकाओंमें सबसे पुरानी टीका अपराजित-सूरिकी है और जैसा कि आगे बतलाया जायगा वे निश्चयसे यापनीय संघके हैं । ऐसी दशामें मूल ग्रन्थकर्त्ता शिवार्यके भी यापनीय होनेकी अधिक संभावना है ।

२ यापनीय संघ श्वेताम्बरोंके समान सूत्र-ग्रन्थोंको (श्वेताम्बर आगमोंको) मानता है और आराधनामें सैकड़ों गाथायें ऐसी हैं जो सूत्र-ग्रन्थोंमें मिलती हैं ।

३ दस स्थितिकल्पोंके नामोंवाली गाथा जीतकल्पभाष्य और अनेक श्वेताम्बर टीकाओं तथा निर्युक्तियोंमें मिलती है । आचार्य प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमल-मार्तण्डमें भी इसे श्वेताम्बर गाथा मानी है ।

४ आराधनाकी ६६५-६६६ नं० की गाथायें दिगम्बरोंके मुनियोंके आचारसे मेल नहीं खाती । उनमें बीमार मुनिके लिए चार मुनियोंके द्वारा

१ देखो ‘यापनीय साहित्यकी खोज’ शीर्षक लेख और अनन्तकीर्तिमालामें प्रकाशित भगवती आराधनाकी भूमिका ।

भोजन-पान लानेका निर्देश है। इसपर स्व० पं० सदासुखजीने अपनी वचनिकामें और दीवान अमरचन्दजीने अपने कविवर वृन्दावनजीको लिखे हुए पत्रमें आपत्ति की है।

५ आराधनाकी ४२८ वीं गाथा आचारांग और जीतकल्प ग्रन्थोंका उल्लेख करती है जो श्वेताम्बर सम्प्रदायके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

६ शिवार्यने अपनेको 'पाणितलभोजी' अर्थात् हथेलियोंपर भोजन करने-वाला लिखा है। यापनीय संघके साधु श्वेताम्बर साधुओंके समान पात्र-भोजी नहीं बल्कि दिगम्बरोंके समान कर-पात्रभोजी थे।

शिवार्य जब यापनीय संघके थे, तब भगवजिनसेनने उनका स्मरण क्यों किया? इस विषयमें हमारा खयाल है कि उस समयके विद्वानोंमें इतनी उदारता थी और वे इसमें कोई दोष नहीं समझते थे। उन्होंने इसी दृष्टिसे सिद्धसेनाचार्यकी भी प्रशंसा की है।

मूल कर्त्ताका समय

भगवजिनसेनने शिवार्यकी स्तुति की है और शाकटायनने उनके गुरु सर्व-गुप्तको बड़ा भारी व्याख्याता बतलाया है, इससे वे इन दोनों ग्रन्थकर्त्ताओंसे तो निश्चयपूर्वक पहलेके हैं। कितने पहलेके हैं, यह तो नहीं बतलाया जा सकता। परन्तु ऐसा मालूम होता है कि बहुत पहलेके हैं। आराधनाके चालीसवें 'विजहना' नामक अधिकारमें जो आराधक मुनिके मृतकसंस्कारका वर्णन है, उससे इसकी प्राचीनतापर प्रकाश पड़ता है। उसके अनुसार उस समय मुनिके मृतक शरीरको वनमें किसी अच्छी जगहपर यों ही छोड़ दिया जाता था और उसे पशु-पक्षी समाप्त कर देते थे^१। इस ग्रन्थपर जैसा कि आगे बतलाया गया है कई प्राकृत टीकायें थीं और प्राकृत टीकाओंके लिखे जानेका समय छठी सातवीं शताब्दिके बाद नहीं मालूम होता। फिर तो संस्कृतटीकाओंका काल आ जाता है।

इस प्राचीन ग्रन्थपर अनेक टीकायें लिखी गई हैं, जिनमेंसे नीचे लिखी उपलब्ध हैं—

१ देखो 'वृन्दावनविलास' में मेरी लिखी हुई भूमिका।

२ भगवती आराधनाकी भूमिकामें इस विधिको कुछ विस्तारके साथ लिखा गया है। पाठक वहाँसे देख लें।

टीकाओंका परिचय

१ विजयोदया—यह टीका छप चुकी है। इसके कर्त्ता अपराजितसूरि हैं जो चन्द्रनन्दि महाकर्मप्रकृत्याचार्यके प्रशिष्य और बलदेवसूरिके शिष्य थे, आरातीय आचार्योंके चूडामणि थे, जिनशासनका उद्धार करनेमें धीर वीर तथा यशस्वी थे और नागनन्दि गणिके चरणोंकी सेवासे उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था। श्रीनन्दिगणिकी प्रेरणासे उन्होंने यह विजयोदया टीका लिखी थी।

“चन्द्रनन्दिमहाकर्मप्रकृत्याचार्यशिष्येण आरातीयसूरिचूलामणिना नागनन्दिगणिपादपद्मोपसेवाजातमतिलवेन बलदेवसूरिशिष्येण जिनशासनोद्धरणधीरेण लब्धयशःप्रसरेणापराजितसूरिणा श्रीनन्दिगणिना वचोदितेन रचिता आराधनाटीका श्रीविजयोदया नाम्ना समाप्ता।”

पं० आशाधरजीने अपने मूलाराधनादर्पणमें अनेक स्थलोंपर अपराजितसूरिका ‘श्रीविजयाचार्य’ नामसे उल्लेख किया है और अनगरधर्माभूतटीका (पृ० ६७३) में भी एक जगह लिखा है, ‘एतच्च श्रीविजयाचार्यविरचित-संस्कृतमूलाराधनटीकायां सुस्थितसूत्रे विस्तरतः समर्थितं दृष्टव्यम्।’ इससे जान पड़ता है कि अपराजितसूरि ‘श्रीविजयाचार्य’ भी कहलाते थे। विजयोदया नाम भी इसी लिए रक्खा गया है।

अपराजितसूरि भी यापनीयसंघके थे। इस विषयमें अब कोई सन्देह नहीं रह गया है। क्योंकि उन्होंने ‘दशवैकालिक’ सूत्र पर भी विजयोदया नामकी टीका लिखी थी जिसका उल्लेख ११९७ वीं गाथाकी टीकामें वे स्वयं इस प्रकार करते हैं, “दशवैकालिकटीकायां श्रीविजयोदयायां प्रपञ्चिता उद्गमादिदोषा इति नेह प्रतन्यते।” अर्थात् उद्गमादि दोषोंका वर्णन दशवैकालिककी विजयोदया-टीकामें किया है, इस लिए अब उसे नहीं किया जाता। यह बतलानेकी जरूरत नहीं कि ‘दशवैकालिक’ प्रसिद्ध श्वेताम्बर सूत्रग्रन्थ है और उसे यापनीय संघ भी मानता था।

पं० सदासुखजीके सामने वचनिका लिखते समय यही टीका मौजूद थी। इस लिए वे ४२७ वीं गाथाकी वचनिकामें लिखते हैं, “इनिका विशेष बहु ज्ञानी होइ सो आगमके अनुसारि जाणि विशेष निश्चय करो। बहुरि इस ग्रन्थकी टीकाका

१ देखो गाथा नं० ४४, ५९५, ६८१, ६८२, १७१२, १९९९ की टीका।

कर्त्ता श्वेताम्बर है, दूसरी गाथाके अर्थमें वस्त्र पात्र कम्बलादि पोषे है, कहै है, तातें प्रमाणरूप नहीं है। ” चूँ कि उन्हें यापनीय संघके स्वरूपका कुछ पता नहीं था, इसलिए उन्होंने अपराजितसूरिको श्वेताम्बर समझ लिया था। वास्तवमें वे यापनीय थे और यापनीयसंघके बहुतसे सिद्धान्त श्वेताम्बरसम्प्रदाय जैसे हैं। वे आचारांग, उत्तराध्यन आदि आगमोंका मानते हैं और अपराजितसूरि जगह जगह उनके उद्धरण देकर अपने विषयका निरूपण करते हैं। उनके यापनीय होनेके और भी अनेक प्रमाण मैंने अपने ‘यापनीय साहित्यकी खोज’ शीर्षक लेखमें दिये हैं, पाठक वहाँसे देख सकते हैं।

अपराजितसूरिका ठीक समय तो नहीं मालूम हो सका, परन्तु अनुमान यह है कि वे विक्रमकी नवीं शताब्दिके पहलेके ही होंगे। गंगवंशके पृथ्वीकोङ्कणि महा-राजका एक दानपत्र श० सं० ६९८ (वि० सं० ८३३) का मिला है। उसमें यापनीयसंघके चन्द्रनन्दि, कीर्तिनन्दि और विमलचन्द्रको ‘लोकतिलक’ जैनमन्दिरके लिए एक गाँव दिये जानेका उल्लेख है। अपराजितसूरि शायद इन्हीं चन्द्रनन्दिके प्रशिष्य होंगे। उक्त दानपत्रमें उनके एक शिष्य कुमारनन्दिकी ही गुरुपरम्परा दी है, दूसरे शिष्य शायद बलदेवसूरि हों और उनके शिष्य अपराजित।

२ मूलाराधना-दर्पण — इसके कर्त्ता पं० आशाधरजी हैं जिनके अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं और जिनके समय आदिके विषयमें काफी लिखा जा चुका है।^१ यह टीका भी विजयोदया टीकाके साथ छप चुकी है। कारंजाकी जिस प्रतिके आधारसे यह छपी है उसमें अन्तकी प्रशस्तिका एक पृष्ठ नष्ट हो गया है, इसलिए यह न मालूम हो सका कि यह टीका किस संवत्में लिखी गई थी।

पं० आशाधरजीसे पहले अमितगति की संस्कृत आराधना बन चुकी थी।

१ इंडियन एण्टिक्वेरी जिल्द २ पृ० १५६-५९।

२ चन्द्रनन्दिको अपराजितसूरिने महाकर्मप्रकृत्याचार्य लिखा है। श्रवणवेल्लोलके ५४ वें शिलालेखमें जो श० सं० १०५० का है, अनेक आचार्योंके साथ एक कर्म-प्रकृति भट्टारकको भी नमस्कार किया गया है। ये बहुत करके चन्द्रनन्दि आचार्य होंगे। उक्त शिलालेखसे समयपर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है।

३ देखो, ‘अनेकान्त’ वर्ष ३, अंक ११-१२ में मेरा लिखा ‘पं० प्र० आशाधर’ शीर्षक विस्तृत लेख।

इसके सिवाय उनके सामने भगवती आराधनाका एक और भी कोई पद्यानुवाद था जिसके सैस ऊपर पद्य उन्होंने अपनी टीकामें उद्धृत किये हैं। जान पड़ता है इसी लिए अपनी टीकाका नाम उन्होंने मूलाराधना-दर्पण रक्खा है। कोई यह न समझ ले कि यह किसी संस्कृत आराधनाकी टीका है।

३ आराधना-पञ्जिका—पूनेके भाण्डारकर-प्राच्यविद्यासंशोधक-मन्दिरमें इसकी एक प्रति है। १५-१६ वर्ष पहले मैंने इसे देखा था और इसके अन्तकी लेखक-प्रशस्तिको नकल कर लिया था, जो इस प्रकार है—

कुन्दावदातयशसा सहवासिवंशपद्माकरद्युमणिना गुणिनां वरेण ।
श्रीदेवकीर्तिविबुधाय बुधप्रियाय दत्तं यशोधवलनामधुरंधरेण ॥
श्रीदेवकीर्तिपण्डितच्छात्रेण काहत्याकनाम्ना लिखितमिति ।

संवत् १४१६ वर्षे चैत्रसुदिपञ्चम्यां सोमवासरे सकलराजशिरो-
मुकुटमाणिक्यमरीचिपिंजरीकृतचरणकमलपादपीठस्य श्रीपिरोज-
साहेः सकलसाम्राज्यधुरीविभ्राणस्य समये श्रीदिल्ल्यां श्रीकुन्दकु-
न्दचार्यान्वये सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे भट्टारकश्रीरत्नकीर्तिदे-
वपट्टोदयाद्रितरुणतरणित्वमुर्वीकुर्वाणं भट्टारकश्रीप्रभाचन्द्रदेव-त-
त्सिष्याणां ब्रह्म नाथूराम । इत्याराधनापंजिकायां (?) ग्रन्थ आत्म-
पठनार्थं लिखापितम् । शुभस्तु मंगलमहाश्रीः । समस्तसंघस्य शुभम् ।

अग्रोतकान्वये साधु नयपाल तत्पुत्र कुलधरः तथा गोहिलगोत्र
साधु खेतल साधु राजा तस्य पुत्र वीरपाल लिखापितम् ।

इसके न तो मंगलाचरणादि प्रारंभिक अंशको मैं नोट कर सका और न टीकाकर्त्ताके अन्तिम उल्लेखको, जिससे यह बतलाया जा सकता कि इसके कर्त्ता कौन हैं। मेरा अनुमान है कि शायद यह पंजिका प्रमेयकमलमार्तण्ड आदिके कर्त्ता आचार्य प्रभाचन्द्रकी हो। उनके ग्रन्थोंकी सूचीमें एक आराधना-पंजिकाका उल्लेख है। पूर्वोक्त प्रशस्तिसे तो इस टीकाके लिखने लिखानेवालोंका ही पता लगता है। यह एक विचित्र बात है कि इसमें तीन बारके लिपिकारोंका उल्लेख सुरक्षित है। इसकी एक प्रति श्रीदेवकीर्ति पण्डितके विद्यार्थी काहत्याकने लिखी थी और सहवासीवंशके यशोधवल नामक धुरंधर या पण्डितने बुद्धिमानोंके

प्यारे श्रीदेवकीर्ति पण्डितको भेंट दी थी। इस प्रतिके लिखे जानेका समय नहीं दिया है। इस प्रतिपरसे जो दूसरी प्रति लिखी गई, वह रत्नकीर्ति भट्टारकके पट्टशिष्य श्रीप्रभाचन्द्रदेवके शिष्य ब्रह्मचारी नाथूरामने संवत् १४१६ की चैत सुदी ५ सोमवारको अपने पढ़नेके लिए दिल्लीमें लिखाई, जिस समय कि बादशाह फीरोज़शाह तुग़लकका राज्य था।

इस दूसरी प्रतिपरसे तीसरी प्रति अग्रोतक या अग्रवालवंशके नयपाल साहूके पुत्र कुलधर, गोहिलगोत्री साहू खेतल और साहू राजाके पुत्र वीरपालने लिखाई। किस समयमें लिखाई गई, यह नहीं लिखा है।

यह पद्धति बहुत ही अच्छी है। इस प्रकार यदि ग्रन्थ-लेखक (लिपिकर्त्ता) अपने पहलेकी मातृका प्रतियोंकी लेखक-प्रशस्तियाँ भी पूरी लिख दिया करें, तो बहुत लाभ हो। परन्तु तिथि और संवत् भी लिखना न छोड़ना चाहिए।

दूसरे लिपिकर्त्ताने अपना संवत् १४१६ दिया है और उसने वह प्रति अपनेसे पहलेकी प्रति परसे की है। इससे टीकाके निर्माण-कालके विषयमें इतनी बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि यह टीका चौदहवीं शताब्दिके बादकी नहीं है।

४—भावार्थ-दीपिका टीका—यह टीका भी पूनेके भाण्डारकर-प्राच्य-विद्या-संशोधक मन्दिरमें है। इसका प्रारंभका और अन्तका अंश इस प्रकार है—

श्रीमन्तं जिनदेवं वीरं नत्वामरार्चितं भक्त्या ।

वृत्तिं भगवत्याराधनासुग्रन्थस्य कुर्वेऽहम् ॥ १ ॥

घनघटितकर्मनाशं गुरुं च वंशाधिपं च कुन्दाह्वं ।

वंदे शिरसा तरसा ग्रन्थसमाप्तिं समीप्सुरहम् ॥ २ ॥

वाग्देवीं श्रीजैनीं नत्वा संप्रार्थ्य ग्रन्थसंसिद्धिं ।

सरलां मुग्धां विरचे वृत्तिं भावार्थदीपिकासंज्ञां ॥ ३ ॥

कृतेयं सद्भुक्तिः शिवजिदरुणाख्येन विदुषा,

गुणानां सत् व्यातिर्व्यपहतसमस्ताघनिकरा ।

प्रवक्तुः श्रोतुर्या वितरति दिवं मुक्तिमपरां,

चिरं जीयादेषा बुधजनमनोरंजनकरी ॥

महासंघे गच्छे गिरिगगवलात्कारपदके,
गुरौ नन्द्याम्नायेऽन्वयवरगुरौ कुन्दमुनिपे ।

*

*

*

सुजातो वै सूरिर्जयपुरपदस्थो मुनिवरः ॥ २ ॥

महेन्द्रस्तत्पट्टे गुरुगुणनिधिः क्षेमसुवृषा,
तदीयः सच्छिष्यो बुधवरनिहालेति पदभाक् ।
तदीयः सच्छिष्यो गुणनिधिदयाचन्द्रविबुधः,
तदीयः सत्तेजः दिलसुखबुधो ज्ञाननिरतः ॥ ३ ॥

तदीयः सच्छिष्यः शिवजिदरुणो भक्तिनिरतः,
गुरुणामाज्ञावान् धृतजिनसुधर्मोऽभवदिह ।
तदीयः सत्पुत्रो मणिजिदरुणाख्यो लघुमति-
स्तदर्थं वृत्तिर्वा प्रकटितपथाकारि रुचिरा ॥ ४ ॥

समे वस्वेकार्यैर्दुमिति शुभपक्षे शुचिभवे,
त्रयोदश्येहोत्ये (?) चरमसमये वारधिषणे
ऽनुराधानक्षत्रे शुभसुयशार्द्धिप्रजननी,
चिरं जीयादेषा भुवि जिनमतोद्योतनकरी ॥

इति भगवती आराधनाटीका समाप्ता ।

यह टीका शिवजिदरुण अर्थात् पं० शिवजीलालने अपने सुपुत्र मणिजिदरुण (मणिजीलाल या मणिलाल) के लिए बनाई है । वे जयपुरके भट्टारककी गद्दीके पण्डित थे । उन्होंने अपनी गुरुपरम्परा इस प्रकार दी है—भट्टारक महेन्द्रकीर्तिके शिष्य भट्टारक क्षेमकीर्ति, उनके पं० निहालचन्द, निहालचन्दके शिष्य दयाचन्द्र, दयाचन्द्रके दिलसुख और दिलसुखके शिवजीलाल । प्रशस्तिके पाँचवें पद्यमें टीका निर्माणका समय दिया हुआ है, परन्तु उसका पहला चरण कुछ अशुद्ध-सा हो गया है, इस कारण वह ठीक नहीं बतलाया जा सकता । संवत् १८१८ की जेठ सुदी १३ गुरुवारको टीका समाप्त हुई है । पं० शिवजीलाल पं० सदासुखजीके ही समकालीन विद्वान् थे और एक प्रकारसे उनके प्रतिपक्षी थे । उस समय तेरहपन्थ और बीसपन्थमें बहुत कटुता बढ़ी हुई थी । शिवजीलालका एक तेरहपन्थ-खण्डन नामका ग्रन्थ भी है । उन्होंने रत्नकरण्ड, चर्चासंग्रह, बोधसार,

दर्शनसार,, अध्यात्मतरंगिणी आदि अनेक ग्रन्थोंकी भाषावचनिकायें लिखी हैं ।
वे कट्टर बीसपन्थी थे ।

५—संस्कृत आराधना—माथुरसंघके आचार्य अमितगतिके बनाये हुए धर्मपरीक्षा, उपासकाध्ययन, सुभाषितरत्नसंदोह, पंचसंग्रह आदि ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं । ये नेमिषेण आचार्यके प्रशिष्य और माधवसेनके शिष्य थे । इन्होंने अपने अनेक ग्रन्थोंमें रचनाका समय दिया है, इस लिए उनका समय निर्णीत है । वे विक्रमकी ग्यारहवीं सदीके विद्वान् हैं । आचार्य शिवकोटिकी आराधनापर उन्होंने टीका तो नहीं लिखी है, परन्तु उसका संस्कृत पद्योंमें अनुवाद किया है जो विजयोदया और दर्पणके साथ प्रकाशित हो चुका है । पं० आशाधरजीने अपने अनंगारधर्माभूतकी टीकामें इस संस्कृत 'आराधना' के कुछ श्लोक उद्धृत भी किये हैं ।

इसकी रचना भगवती आराधनाकी प्रत्येक गाथाका अभिप्राय लेकर मुख्यतः संस्कृत अनुष्टुप् श्लोकोंमें की गई है, बीच बीचमें दूसरे छन्द भी हैं । रचना प्रायः अनुवादरूप ही है ।

जिस प्रतिपरसे उक्त मुद्रण हुआ है, उसमें प्रारंभके १९ श्लोक नहीं हैं, नष्ट हो गये हैं ।

संस्कृत आराधनाका अन्तिम अंश इस प्रकार है—

आराधना भगवती कथिता स्वशक्त्या,
चिन्तामणिं वितरितुं बुधचिन्तनानि ।
अह्नाय जन्मजलधिं तरितुं तरण्डं,
भव्यात्मना गुणवती ददतां समाधिम् ॥ १२ ॥

*

*

*

*

श्रीदेवसेनोऽजनि माथुराणां गणी यतीनां विहितप्रमोदः ।
तत्त्वावभासी विहितप्रदोषः सरोरुहाणामिव तिग्मरश्मिः ॥
धृतजिनसमयोऽजनिमहनीयो गुणमणिजलधेस्तदनु यतिर्यः ।
शमयमनिलयोऽमितगतिसूरिः प्रदलितमदनो पदनतसूरिः ॥
सर्वशास्त्रजलराशिपारगो नेमिषेणमुनिनायकस्ततः ।
सोऽजनिष्ठ भुवने तमोपहः शीतरश्मिरिव यो जनप्रियः ॥

माधवसेनोऽजनि मुनिनाथो ध्वंसितमायामदनकदर्थः ।
 तस्य गरिष्ठो गुरुरिव शिष्यस्तत्त्वविचारप्रवणमनीषः ॥ १७
 शिष्यस्तस्य महयिसोऽमितगतिर्मग्नयालम्बिनी-
 मेनां कल्मषमोषिणीं भगवतीमाराधनां श्रेयसीम् ॥ १८ ॥
 आराधनेषा यदकारि पूर्णा मासैश्चतुर्भिर्न तदस्ति चित्रं ।
 महोद्यमानां जिनभाक्तिकानां सिद्ध्यन्ति कृत्यानि न कानि सद्यः ॥ १९ ॥
 स्फुटीकृता पूर्वजिनागमादियं मया जने यास्यति गौरवं परं ।
 प्रकाशितं किं न विशुद्धबुद्धिना महार्घतां गच्छति दुग्धतो घृतं ॥ २० ॥

अन्य टीकायें और टिप्पण

विजयोदया टीकामें पहली गाथाकी टीकाका प्रारंभ करते हुए लिखा है—

“ सिद्धे जयप्पसिद्धे इत्यादि । अत्रान्ये कथयन्ति निवृत्तविषयरागस्य निराकृतसकलपरिग्रहस्य क्षीणायुषस्साधकस्याराधना विधानावबोधनार्थमिदं शास्त्रं तस्याविघ्नप्रसिद्धयर्थमियं मंगलस्य कारिका गाथेति । असंयतसम्यग्दृष्टि-संयतासंयता-संयतस्य वा निवृत्तविषयरागता सकलग्रन्थपरित्यागो वास्ति । क्षीणायुष इति चानुपपन्नं । अक्षीणायुषोप्याराधकतां दर्शयिष्यति सूत्रं ‘ अणुलोमा वा सत्तु चारित्तविणासया हवे जस्स ’ इति । ”

अर्थात् यहाँ ‘ अन्य ’ कहते हैं कि जिसके विषयराग निवृत्त हो गये हैं, जो सकल परिग्रहसे रहित है, जिसकी आयु क्षीण हो गई है, उस साधकको आराधनाकी विधि बतलानेके लिए यह शास्त्र है और उसकी विघ्नरहित सिद्धिके लिए यह मंगलकारिका गाथा है । परन्तु जब असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और प्रमत्तसंयत आदि भी आराधक या साधक हैं, तब उन्हें निवृत्तविषयराग और निराकृतसकलपरिग्रह कैसे कह सकते हैं ? क्यों कि असंयतसम्यग्दृष्टि और संयता-संयतके निवृत्तविषयरागता और सकलपरिग्रहपरित्याग नहीं बन सकता है । इसी तरह क्षीणायुष कहना भी नहीं बन सकता है, क्यों कि ‘ अणुलोमा वा सत्तु ’ आदि सूत्रमें अक्षीणायु भी आराधक होता है, ऐसा दिखलाया है ।

इस उल्लेखसे ऐसा मालूम होता है कि विजयोदया टीकाकारके सामने कोई टीका थी, जिसमें ‘ सिद्धे जयप्पसिद्धे ’ आदि गाथाकी टीकामें साधकको निवृत्त-

१ पूनेकी प्रतिमें और बम्बईकी प्रतिमें भी ‘ विराधना ’ पाठ है ।

विषयराग, निराकृतसकलपरिग्रह और क्षीणायुष विशेषण दिये हैं; परन्तु इन विशेषणोंका देना वे ठीक नहीं समझते हैं।

इसके सिवाय उन्होंने और भी कई जगह 'अत्र परा व्याख्या' 'अत्रान्ये व्याक्षते' आदि कहकर अपना मत-भेद प्रकट किया है, इतना ही नहीं किन्तु अनेक स्थलोंपर तो वे उन पूर्ववर्तिनी टीकाओंका खण्डन करते हुए भी पाये जाते हैं। इससे उनके समक्ष अन्य टीकायें जरूर थीं, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है।

पं० हीरालालजी शास्त्रीने जैनसिद्धान्तभास्कर (भाग ५, किरण ३) में अन्य टीकाओंके सम्बन्धमें कुछ और भी प्रकाश डाला है और वह यह कि—

१ पं० आशाधरने गाथा नं० ४३० की व्याख्यामें मनुष्य-भवकी दुर्लभता बतलाते हुए 'चुल्लय पासं घणं' आदि गाथाका उल्लेख करनेके बाद लिखा है, " एते चुल्लीभोजनादिकथासम्प्रदायाः दशापि प्राकृतटीकादिषु विस्तरेणोक्ताः प्रतिपत्तव्याः । ”

२ गाथा नं० ५२५ की व्याख्यामें लिखा है, षट्त्रिंशद्गुणा यथा—अष्टौ ज्ञानाचाराः, अष्टौ दर्शनाचाराश्च, तपो द्वादशविधं, पंचसमितयः तिस्रो गुप्तयश्चेति संस्कृतटीकायां । प्राकृतटीकायां तु अष्टाविंशति मूलगुणाः आचारवत्त्वादयश्चाष्टौ, इति षट्त्रिंशत् ।

३ गाथा नं० ५५० के 'काउसग्ग' पदकी व्याख्या करते हुए लिखा है, 'काउसग्गं सामायिकदण्डकस्तवप्रयोगपूर्वकं बृहत्सिद्धमक्तिं कृत्वोपविश्य लघु-सिद्धमक्तिं करोतीति प्राकृतटीकाम्नायः । '

४ इनसे एक प्राकृतटीका और एक संस्कृतटीकाके अस्तित्वका स्पष्ट पता लगता है। इनके सिवाय जान पड़ता है कि कुछ और भी गद्यात्मक टीकायें थीं, जिनके कर्त्ता मूलगाथाओंके कुछ भिन्न भिन्न पाठ निर्देश करते थे और टीका भी भिन्न करते थे। यथा—

गाथा नं० १८१८—एषा प्राकृतटीकाकारमतेन व्याख्या । अन्ये 'संयम-

१ पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने (अनेकान्त वर्ष ३, किरण १ में) 'किमिरागकंबलस्सव' आदि गाथा (नं० ५३७) की टीका (मूलराधनादपेण) का एक उद्धरण और दिया है जिसमें संस्कृतटीकाका और उल्लेख है ।

मेज्झाणीति' पठित्वा अमेध्ययोग्यात्स्वयमशुचीनि सन्तीत्यर्थमाहुः । अपरे पुनः सलिलादीनित्यादिसूत्रं सामान्येन व्याख्यायोत्तरसूत्रेण प्रकृतं देहाशुचित्वं अनुसंदधते ।

गाथा १९६७ अन्ये तु वासे वासे इति पठित्वा वर्षे वर्षे इत्यर्थे व्याचक्रुः । अपरे मासे मासे इति पाठं मत्वा एव शब्दं विकल्पार्थमीषुः ।

गाथा १९६८—अन्ये 'एगंता सलोगा' इति पठित्वा एकान्तपरैः प्रायेणादृश्या इत्यर्थे प्रतिपन्नाः × × × अपरे तु 'दूरमगोढा' इत्यस्य निषद्यास्थानस्तंभापेक्षया बह्वधः प्रवेशेत्यर्थमाहुः ।

५ अमितगतिके संस्कृतपद्यानुवादके अतिरिक्त एक और पद्यानुवाद किसी आचार्यका है जिसके लगभग सौसे अधिक पद्य आशाधरजीने अपनी टीकामें 'उक्तं च' 'तथोक्तं' इत्यादिके रूपमें उद्धृत किये हैं । उनमेंसे एक यहाँ दिया जाता है—

मूल—पडिचोदणासहणवायखुभिदपडिवयणइंधणाइद्धो ।

चंडो हु कसायग्गी सहसा संपजिलेज्जाहि' ॥ २६५

अनु०—प्रतिवचनेन्धनजनितः प्रतिकूलाचरणपवनसंचलितः ।

चण्डः कषायदहनः सहसा संप्रज्वलेत्पापः ॥

इसी गाथाका अमितगतिकृत पद्यानुवाद यह है—

वाक्यासहिष्णुतावात्या प्रेरितः कोपपावकः ।

उदेति सहसा चंडो भूरिप्रत्युत्तरेन्धनः ॥ २६५

पं० आशाधरजीके सामने मूलग्रन्थके कुछ टिप्पण भी थे । उनमेंसे एक तो श्रीचन्द्रकृत टिप्पण था, जिसका उल्लेख गाथा नं० ५८९ की टीकामें इस प्रकार किया है—“श्रीचन्द्रटिप्पणके त्वेवमुक्तम् ।”

इसके सिवाय एक और टिप्पणकी खोज पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार (अनेकान्त वर्ष १, कि० १) ने आराधना-दर्पणसे लगाई है, जो जयनन्दिका है—

१ इसी गाथाका अमितगतिकृत पद्यानुवाद भी साथ ही उद्धृत किया गया है जिससे और भी स्पष्ट हो जाता है कि यह दूसरा ही पद्यानुवाद है ।

२ ये वही श्रीचन्द्र हैं जिन्होंने पुष्पदन्तके उत्तरपुराण और रविषेणके पञ्चरितके टिप्पण और पुराणसार आदि ग्रन्थ लिखे हैं, जो भोजदेवके समयमें १०८७ में थे और जिनके गुरुका नाम श्रीनन्दि था ।

गाथा नं० १९९९—कमेत्यादि । अत्र स कर्ममलः मिथ्यात्वादिस्तोक-
कर्माणि । सिद्धिं सर्वार्थसिद्धिमिति जयनन्दिटिप्पणे व्याख्या ।

इन सब उल्लेखोंसे मालूम होता है कि भगवती आराधनापर पूर्वोक्त उपलब्ध
टीकाओंके अतिरिक्त और भी अनेक टीकायें थीं जो अपराजितसूरिके सामने थीं
और पं० आशाधरके सामने भी । यह नहीं कहा जा सकता कि जो अपराजित-
सूरिको प्राप्त थीं वे ही पं० आशाधरको मिली थीं, अथवा वे उनके अतिरिक्त
थीं । दोनोंकी संभावना है । पं० आशाधरने जयनन्दि और श्रीचन्द्रके दो
टिप्पणोंका भी उपयोग किया है । साथ ही एक अमितगतिका तथा दूसरा किसी
अज्ञातनाम आचार्यका, इस तरह दो संस्कृत पद्यानुवाद, भी उनके समक्ष थे ।

जिस ग्रन्थपर इतने अधिक टीका टिप्पण अनुवादादि किये गये, उसकी
महत्ताके विषयमें क्या कहना है । बहुत कम ग्रन्थ ऐसे हैं जिनको इतनी अधिक
टीकाओंका सौभाग्य प्राप्त हुआ हो ।

यापनीय साहित्यकी खोज

यापनीय संघ

जैनधर्मके मुख्य दो सम्प्रदाय हैं, दिगम्बर और श्वेताम्बर । इन दोनोंके अनुयायी लाखों हैं और साहित्य भी विपुल है, इसलिए इनके मतों और मत-भेदोंसे साधारणतः सभी परिचित हैं, परन्तु, इस बातका बहुत ही कम लोगोंको पता है कि इन दोके अतिरिक्त एक तीसरा सम्प्रदाय भी था जिसे 'यापनीय' या 'गोप्य' संघ कहते थे और जिसका इस समय एक भी अनुयायी नहीं है ।

यह सम्प्रदाय भी बहुत प्राचीन है । दर्शनसारके कर्त्ता देवसेनसूरिके कथनानुसार कमसे कम वि० सं० २०५ से तो इसका पता चलता ही है और यह समय दिगम्बर-श्वेताम्बरों उत्पत्तिसे सिर्फ ६०-७० वर्ष बाद पड़ता है । इसलिए यदि मोटे तौरपर यह कहा जाय कि ये तीनों ही सम्प्रदाय लगभग एक ही समयके हैं तो कुछ बड़ा दोष न होगा, विशेष कर इसलिए कि सम्प्रदायोंकी उत्पत्तिकी जो तिथियाँ बताई जाती हैं वे बहुत सही नहीं हुआ करती ।

किसी समय यह सम्प्रदाय कर्नाटक और उसके आसपास बहुत प्रभावशाली रहा है । कदम्ब, राष्ट्रकूट और दूसरे वंशोंके राजाओंने इस संघको और इसके

१ कल्लाणे वरणयरे दुणिसए पंचउत्तरे जादे ।

जावणियसंघभावो सिरिकलसादो हु सेवडदो ॥ २९ ॥

२ छत्तीसे वरिससए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।

सोरहे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो ॥ १ ॥

श्वेताम्बर सम्प्रदायके अनुसार दिगम्बरोंकी उत्पत्ति वीरनिर्वाणके ६०९ वर्ष बाद (वि० सं० १३९ में) हुई है ।

३ कदम्बवंशी राजाओंके दानपत्र, देखो जैनहितैषी, भाग १४, अंक ७-८ ।

४ देखो, इ० ए० १२ पृ० १३-१६ में राष्ट्रकूट प्रभूत्ववर्षका दानपत्र ।

५ देखो इ० ए० जिल्द २ पृ० १५६-५९ में पृथ्वीकौगणि महाराजका दानपत्र ।

आचार्योंको अनेक भूमि-दानादि किये थे। प्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य हरिभद्रसूरिने अपनी ललितविस्तरामें यापनीयतंत्रका सम्मान-पूर्वक उल्लेख किया है।

✓ भुतकेवलदेशीयाचार्य शाकटायन (पात्यकीर्ति) जैसे सुप्रसिद्ध वैयाकरण इस सम्प्रदायमें उत्पन्न हुए हैं। पउमचरिउ और अरिष्टनेभिचरिउके कर्ता अपभ्रंश भाषाके महाकवि स्वयंभू और त्रिभुवन स्वयंभू भी इसी सम्प्रदायके मालूम होते हैं।^२

इस संघका लोप कब हुआ और किन किन कारणोंसे हुआ, इन प्रश्नोंका उत्तर देना तो बहुत परिश्रम-साध्य है, परंतु अभी तककी खोजसे यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि विक्रमकी पन्द्रहवीं शताब्दि तक यह सम्प्रदाय जीवित था। कागबाड़ेके श० सं० १३१६ (वि० सं० १४५१) के शिलालेखमें, जो^३ जैनमन्दिरके भौंहिरेमें है, यापनीय संघके धर्मकीर्ति और नागचन्द्रके समाधि-लेखोंका उल्लेख है। इनके गुरु नेमिचन्द्रको तुलुवराज्यस्थापनाचार्यकी उपाधि दी हुई है, जो इस बातकी द्योतक है कि वे एक बड़े राज्यमान्य व्यक्ति थे और इस-लिए संभव है कि उनके बाद भी सौ पचास वर्ष तक इस सम्प्रदायका अस्तित्व रहा हो।

यापनीय साहित्यका क्या हुआ ?

बेलगाँवके ' दोड्ड बस्ति ' नामक जैनमन्दिरकी श्रीनेमिनाथकी मूर्तिके नीचे एक खंडित लेख है, जिससे मालूम होता है कि उक्त मन्दिर यापनीय संघके किसी पारिसय्या नामक व्यक्तिने शक ९३५ (वि० सं० १०७०) में बनवाया था और आजकल उक्त मन्दिरकी यापनीयोंद्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमा दिगम्बरियोंद्वारा पूजी जाती है।

जिस तरह यापनीय संघकी उक्त प्रतिमा इस समय दिगम्बर संप्रदायद्वारा मानी-पूजी जाती है, क्या आश्चर्य है जो उनके कुछ साहित्यका भी समावेश उसके साहित्यमें हो गया हो ! यापनीय संघकी प्रतिमायें निर्वर्ण होती हैं, इसलिए

१ श्रीहरिभद्रसूरिका समय आठवीं शताब्दि है।

२ देखो प्राचीन लेखमाला भाग १ पृ० ६८-७२।

३ देखो बाम्बे यू० जर्नलके मई १९३३ के अंकमें प्रो० ए० एन० उपाध्याय एम० ए० का ' यापनीय संघ ' नामक लेख और जैनदर्शन वर्ष ४ अंक ७ में उसका अनुवाद।

४ देखो जैनदर्शन वर्ष ४, अंक ७

सरसरी तौरसे नहीं पहिचानी जा सकती कि वे दिगम्बर संप्रदायकी हैं या यापनीयकी। इसी तरह यापनीय संघका बहुत-सा साहित्य भी तो ऐसा हो सकता है जो स्थूल दृष्टिसे दिगम्बर सम्प्रदाय जैसा ही मालूम हो। उदाहरणके लिए हमारे सामने शाकटायन व्याकरण है ही। वह दिगम्बर सम्प्रदायमें सैकड़ों वर्षोंसे केवल मान्य ही नहीं है उसपर बहुत-से दिगम्बर विद्वानोंने टीकायें तक लिखी हैं।

शाकटायनाचार्यके व्याकरणके अतिरिक्त दो और ग्रन्थ प्रकाशमें आये हैं जिनमेंसे एकका नाम 'स्त्री-मुक्ति प्रकरण' और दूसरेका 'केवलि-मुक्ति प्रकरण' है। इन ग्रन्थोंमें नामके अनुसार स्त्रीको उसी भवमें मोक्ष हो सकता है और केवली भोजन करते हैं, इन दो बातोंको सिद्ध किया गया है। चूँकि ये दोनों सिद्धान्त दिगम्बर सम्प्रदायसे विरुद्ध हैं, शायद इसीलिए इनका संग्रह दिगम्बर भण्डारोंमें नहीं किया गया परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय इन बातोंको मानता है इसलिए उसके भण्डारोंमें यह संग्रहीत रहा।

पाल्यकीर्ति (शाकटायन) का एक साहित्यविषयक ग्रन्थ भी था जिसका मत 370
राजशेखरने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ काव्य-मीमांसामें उद्धृत किया है। ?

जैसा कि पाठकोंको आगे चलकर मालूम होगा यापनीय संघ सूत्र या आगम-ग्रन्थोंको भी मानता था और उनके आगमोंकी वाचना उपलब्ध बल्लभी वाचनासे, जो श्वेताम्बर संप्रदायमें मानी जाती है, शायद कुछ भिन्न थी। उसपर उनकी स्वतंत्र टीकायें भी होंगीं जैसी कि अपराजितसूरिकी दशवैकालिक सूत्रपर एक टीका थी। इस सब साहित्यमेंसे कुछ न कुछ साहित्य जरूर मिलना चाहिए।

जिस संप्रदायके अस्तित्वका पन्द्रहवीं शताब्दि तक पता लगता है और जिसमें शाकटायन और स्वयंभू जैसे प्रतिभाशाली विद्वान् हुए हैं, उसका साहित्य सर्वथा ही नष्ट हो गया होगा, इस बातपर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता। वह अवश्य होगा और दिगम्बर-श्वेताम्बर भण्डारोंमें ज्ञात-अज्ञात रूपमें पड़ा होगा।

विक्रमकी बारहवीं-तेरहवीं शताब्दि तक कनड़ी साहित्यमें जैन विद्वानोंने एकसे एक बढ़कर सैकड़ों ग्रन्थ लिखे हैं। कोई कारण नहीं है कि जब उस समय तक यापनीय संघके विद्वानोंकी परम्परा चली आ रही थी तब उन्होंने भी कनड़ी साहित्यको दस-बीस ग्रन्थ भेंट न किये हों।

१ जैन साहित्य-संशोधक भाग २ अंक ३, ४ में ये प्रकरण प्रकाशित हो चुके हैं।

यापनीय संघके साहित्यकी एक बड़ी भारी उपयोगिता यह है कि जैनधर्मका तुलनात्मक अध्ययन करनेवालोंको उससे बड़ी सहायता मिलेगी। दिगम्बर-श्वेताम्बर मत-भेदोंके मूलका पता लगानेके लिए यह दोनोंके बीचका और दोनोंको परस्पर जोड़नेवाला साहित्य है और इसके प्रकाशमें आये बिना जैनधर्मका प्रारम्भिक इतिहास एक तरहसे अपूर्ण ही रहेगा।

यापनीय सम्प्रदायका स्वरूप

मैंने अपने दर्शनसार-विवेचना और उसके परिशिष्टमें यापनीयोंका विस्तृत परिचय प्रमाणोंके सहित दिया है। यहाँ मैं उसकी पुनरावृत्ति न करके सार-मात्र लिख देता हूँ, जिससे इस लेखका अग्रिम भाग समझनेमें कोई असुविधा न हो।

ललितविस्तारके कर्त्ता हरिभद्रसूरि, षट्दर्शनसमुच्चयके टीकाकार गुणरत्नसूरि और षट्प्राभृतके व्याख्याता श्रुतसागरसूरिके अनुसार यापनीय संघके मुनि नग्न रहते थे, मोरकी पिच्छि रखते थे, पाणितलभोजी थे, नग्न मूर्तियाँ पूजते थे^१ और वन्दना करनेवाले श्रावकोंको 'धर्म-लभ' देते थे। ये सब बातें तो दिगम्बरियों जैसी थीं, परन्तु साथ ही वे मानते थे कि स्त्रियोंको उसी भवमें मोक्ष हो सकता है, केवली भोजन करते हैं और सग्रन्थावस्था और परशासनसे भी मुक्त होना सम्भव है। इसके सिवाय शाकटायनकी अमोघवृत्तिके कुछ उदाहरणोंसे मालूम होता है कि यापनीय संघमें आवश्यक, छेद-सूत्र, निर्युक्ति और दशवैकालिक आदि ग्रन्थोंका पठन-पाठन होता था^२, अर्थात् इन बातोंमें वे श्वेताम्बरियोंके समान थे।

१-२ देखो जैनहितोषी भाग १३ अंक ५-६ और ९-१०।

३ “या पंचजैनाभासैरंचलिकारहितापि नग्नमूर्तिरपि प्रतिष्ठिता भवति सा न वन्दनीया न चार्चनीया च।”-षट्प्राभृतटीका पृष्ठ ७९। श्रुतसागरके इस वचनसे मालूम होता है कि यापनीयोंद्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमायें नग्न होती थीं क्योंकि उनके विश्वासके अनुसार यापनीय पाँच जैनाभासोंके अन्तर्गत हैं।

४ एतकमावश्यकमध्यापय। इयमावश्यकमध्यापय।-अमोघवृत्ति १-२-२०३-४
भवता खलु छेदसूत्रं बोढव्यम्। निर्युक्तिरधीष्व। निर्युक्तिरधीते। ४-४-१३३-४०
कालिकसूत्रस्यानध्यायदेशकालाः पठिताः। ३-२-४७
अथो क्षमाश्रमणैस्ते शानं दीयते १-२-२०१

अपराजितसूरि यापनीय थे

यापनीय संघकी मानताओंका थोड़ा-सा परिचय देकर अब हम यह बतलाना चाहते हैं कि क्या सचमुच ही कुछ यापनीय साहित्य ऐसा है जिसे इस समय दिगम्बर सम्प्रदाय अपना मान रहा है, जिस तरह कि कुछ स्थानोंमें उनके द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमाओंको ? इसके प्रमाणमें हम सबसे पहले मूलाराधनाकी टीका श्रीविजयोदयाको उपस्थित करते हैं, जो अपराजितसूरि या श्रीविजयाचार्यकी बनाई हुई है।

यह टीका भगवती आराधनाके वचनिकाकार पं० सदासुखजीके सम्मुख थी। सबसे पहले उन्होंने ही इसपर सन्देह किया था और लिखा था कि इस ग्रन्थकी टीकाका कर्त्ता श्वेताम्बर है। वस्त्र, पात्र, कम्बलादिका पोषण करता है, इसलिए अप्रमाण है। सदासुखजी चूँकि यापनीय संघसे परिचित नहीं थे, इसलिए वे अपराजितसूरिको श्वेताम्बरके सिवाय और कुछ लिख भी नहीं सकते थे। इसी तरह स्व० डॉ० के० बी० पाठकको भी अमोघवृत्तिमें आवश्यक, छेदसूत्र, निर्युक्ति आदिके उदाहरण देखकर शाकटायनको श्वेताम्बर मान लेना पड़ा था, जो कि निश्चित रूपसे यापनीय थे।

अपराजितसूरिके यापनीय होनेका सबसे स्पष्ट प्रमाण यह है कि उन्होंने दशवैकालिक सूत्रपर स्वयं एक टीका लिखी थी और उसका भी नाम इस टीकाके समान 'श्रीविजयोदया' था। इसका जिक्र उन्होंने स्वयं ११९७ नम्बरकी गाथाकी टीकामें किया है, "दशवैकालिकटीकायां प्रपंचिता उद्गमादिदोषा इति नेह प्रतन्यते।" अर्थात् मैंने उद्गमादि दोषोंका वर्णन दशवैकालिक टीकामें किया है, इसलिए अब उसे यहाँ नहीं करता। दिगम्बर सम्प्रदायका कोई आचार्य किसी अन्य सम्प्रदायके आचार-ग्रन्थकी टीका लिखेगा, यह एक तरहसे अद्भुत-सी बात है जब कि दिगम्बर सम्प्रदायकी दृष्टिमें दशवैकालिकादि सूत्र नष्ट हो चुके हैं। वे इस नामके किसी ग्रन्थके अस्तित्वमें मानते ही नहीं हैं।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि श्वेताम्बर संप्रदाय-मान्य जो आगम ग्रन्थ हैं यापनीयसंघ शायद उन सभीको मानता था; परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि दोनोंके आगमोंमें कुछ पाठ-भेद था और इसका कारण शायद यह हो कि उपलब्ध बह्वर्णी-वाचनासे पहलेकी कोई वाचना (संभवतः माथुरी वाचना)

यापनीय संघके पास थी। क्यों कि विजयोदया टीकामें आगमोंके जो उद्धरण दिये गये हैं वे श्वेताम्बर आगमोंमें बिल्कुल ज्योंके त्यों नहीं, कुछ पाठ-भेदके साथ मिलते हैं।

अचेलकताकी चर्चामें यापनीयत्व

जिस ४२७ नं० की गाथाकी टीकापरसे पं० सदासुखजीने टीकाकारको श्वेतांबरी करार दिया है, वह यह है—

आचेलक्कुहेसियसेज्जाहररायपिंडकरियम्मे ।

वदजेड्डपडिकम्मणे मासं पज्जो सवणकण्णो ॥

इस गाथामें दश प्रकारके श्रमणकल्प अर्थात् श्रमणों या जैन साधुओंके आचार गिनाये हैं, उनमें सबसे पहला श्रमणकल्प आचेलक्य या निर्वस्त्रता है। साधुओंको क्यों नग्न रहना चाहिए, और निर्वस्त्रतामें क्या क्या गुण हैं, वह कितनी आवश्यक है, इस बातको टीकाकारने खूब विस्तारके साथ लगभग दो पेजमें स्पष्ट किया है और उसका बड़े जोरोंसे समर्थन किया है। उसके बाद शंका की है कि यदि ऐसा मानते हो, अचेलकताको ही ठीक समझते हो, तो फिर पूर्वागमोंमें जो वस्त्र-पात्रादिका ग्रहण उपदिष्ट है, सो कैसे ?

पूर्वागमोंमें वस्त्रपात्रादि कहाँ कहाँ उपदिष्ट हैं, इसके उत्तरमें आगे उन पूर्वागमोंमेंसे नाम और स्थानसहित अनेक उद्धरण दिये हैं। जिन आगमोंके वे उद्धरण हैं, उनके नामोंसे और उन उद्धरणोंका जो अभिप्राय है, उससे साफ समझमें आ जाता है कि वे कोई दिगम्बर सम्प्रदायके आगम या शास्त्र नहीं-हैं बल्कि वही हैं जो श्वेताम्बर सम्प्रदायमें उपलब्ध हैं और थोड़ेसे पाठ-भेदके साथ यापनीय संघमें माने जाते थे।

अक्सर ग्रन्थकार किसी मतका खंडन करनेके लिए उसी मतके ग्रन्थोंका भी हवाला दिया करते हैं और अपने सिद्धान्तको पुष्ट करते हैं। परन्तु इस टीकामें ऐसा नहीं है। इसमें तो टीकाकारने अपने ही आगमोंका हवाला देकर अचेलकता सिद्ध की है और बतलाया है कि अपवादरूपसे अवस्था-विशेषमें ही वस्त्रका उपयोग किया जा सकता है, सदा नहीं।

१ अथैवं मन्यसे पूर्वागमेपु वस्त्रपात्रादिग्रहणमुपदिष्टं तथा (तत्कथं ?)

पहला उद्धरण ' आचार-प्रणिधि ' का है और यह आचार-प्रणिधि दशवैकालिक सूत्रके आठवें अध्ययनका नाम है। उसमें लिखा है कि पात्र और कम्बलकी प्रतिलेखना करना चाहिए कि वे निर्जन्तुक हैं या नहीं।^१ और फिर कहा है कि प्रतिलेखना तो तभी की जायगी जब पात्र-कम्बलादि होंगे, उनके बिना वह कैसे होगी^२ ? दूसरा उद्धरण आचारांगसूत्रका है। उसके ' लोक-विचय ' नामके दूसरे अध्ययनके पाँचवें उद्देश्यमें भी कहा है कि भिक्षु पिच्छिका, रजोहरण, उग्गह और कटासन इनमेंसे कोई उपधि रखे।^३

इसके आगे वत्थेसणा (वल्लेसणा) और पाएषणा (पात्रेसणा) के तीन उद्धरण दिये हैं जिनका सारांश यह है कि जो साधु हीमान या लज्जालु हो, वह एक वस्त्र तो धारण करे और दूसरा प्रतिलेखनाके लिए रखे, जिसका लिंग बड़ौल जुगुप्साकर हो वह दो वस्त्र तो धारण करे और तीसरा प्रतिलेखनाके लिए रखे और जिसे शीतादि परिषह सहन न हो वह तीन वस्त्र धारण करे और चौथा प्रतिलेखनाके लिए रखे^४। यदि मुझे तूबी, लकड़ी या मिट्टीका अल्पप्रमाण, अल्पबीज, अल्पप्रसार, और अल्पाकारवाला पात्र मिलेगा, तो उसे ग्रहण करूँगा।

इन उद्धरणोंको देकर पूछा है कि यदि वस्त्र-पात्रादि ग्राह्य न हों तो फिर ये सूत्र कैसे लिये जाते हैं ?^५

इसके आगे भावना (आचारांगसूत्रका २४ वाँ अध्ययन) का उद्धरण दिया है कि भगवान् महावीरने एक वर्ष तक वस्त्र धारण किया और उसके बाद वे अचेलक (निर्वस्त्र) हो गये।^६

१—आचारप्रणिधौ भणितं। २-३—प्रतिलिखेत्पात्रकम्बलं ध्रुवमिति। असत्सु पात्रादिषु कथं प्रतिलेखना ध्रुवं क्रियते। ४—आचारस्यापि द्वितीयाध्यनो लोकविचयो नाम, तस्य पञ्चमे उद्देशे एवमुक्तम्। पडिलेहणं पादपुच्छं उग्गहं कटासणं अण्णदरं उपधिं पावेज्ज इति। ५—तथा वत्थेसणाए बुत्तं तत्थ एसे हिरिमणे सेगं बत्थं वा धारेज्ज, पडिलेहणं विदियम्। तत्थ एसे जुग्गिदे दुवे बत्थाण धारेज्ज पडिलेहणं तिदियम्। तत्थ एसे परिस्सहं अण्णधिहासस्स तगो वत्थाणि धारेज्ज पडिलेहणं चउत्थम्।

६ पुनश्चोक्तं तत्रैव—आलुबुपत्तं वा दारुगपत्तं वा मट्ठिगपत्तं वा अप्पपाणं अप्पबीजं अप्पसरिदं तथा अप्पाकारं पात्रलामे सति पडिग्गहिस्सामीति।

७ वस्त्रपात्रे यदि न ग्राह्ये कथमेतानि सूत्राणि नीयन्ते ?

८ वरिसं चीवरधारी तेन परमचेलके तु जिणे।

सूत्रकृतांगके पुण्डरीक अध्ययनमें कहा है कि साधुको किसी वस्त्रपात्रादिकी प्राप्तिके मतलबसे धर्मकथा नहीं कहनी चाहिए और निशीथसूत्रके दूसरे उद्देश्यमें भी कहा है कि जो भिक्षु वस्त्र-पात्रोंको एक साथ ग्रहण करता है उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त लेना पड़ता है ।^३

शंकाकार कहता है कि इस तरह सूत्रोंमें जब वस्त्र-ग्रहण निर्दिष्ट है, तब अचेलता कैसे बन सकती है^३? इसके समाधानमें टीकाकार कहते हैं कि आगममें अर्थात् आचारांगादिमें आर्थिकाओंको तो वस्त्रकी अनुशा है परन्तु भिक्षुओंको नहीं है। और जो है वह कारणकी अपेक्षा है। जिस भिक्षुके शरीरावयव लज्जाकर हैं और जो परीषह सहन करनेमें असमर्थ है वही वस्त्र ग्रहण करता है^४। और फिर इस बातकी पुष्टिमें आचारांग तथा कल्प (वृहत्कल्प) के दो उद्धरण देकर आचारांगका एक दूसरा सूत्र बतलाया है जिसमें कारणकी अपेक्षा वस्त्र ग्रहण करनेका विधान है^५ और फिर उसकी टीका करते हुए लिखा है—यह जो कहा है कि हेमन्त ऋतुके समाप्त हो जाने पर परिजीर्ण उपधिको रख दे, सो इसका अर्थ यह है कि यदि शीतका कष्ट सहन न हो तो वस्त्र ग्रहण कर ले और फिर ग्रीष्मकाल आ जाने पर उसे उतार दे। इसमें कारणकी अपेक्षा ही ग्रहण कहा गया है। परन्तु जीर्णको छोड़ दे, इसका मतलब यह नहीं हो सकता कि दृढ़ (मजबूत) को न छोड़े। अन्यथा अचेलता-वचनसे विरोध आ जायगा। वस्त्रकी परिजीर्णता प्रक्षालनादि संस्कारके अभावसे कही

१—एण कहेज्जो धम्मकहं बत्थपत्तादिहेदुमिदि ।

२—कसिणाइं वत्थकंबलाइं जो भिक्खू पडिग्गहिदि पज्जदि मासिगं लहुगं इदि ।

३—एवं सूत्रनिर्दिष्टे चेले अचेलता कथं इति ।

४—आर्थिकाणामागमे अनुज्ञातं वस्त्रं, कारणापेक्षया भिक्षूणाम् । हीमानयोग्यशरीरावयवो दुश्चर्मोभिलम्बमानबीजो वा परीषहसहने वा अक्षमः स गृह्णाति ।

५—हिरिहेतुकं व होइ देहदुगुच्छंति देहे जुग्गिदगे धारेज्ज सियं वत्थं परिस्सहाणं च ण विहासीति ।

६—द्वितीयमपि सूत्रं कारणमपेक्ष्य वस्त्रग्रहणमित्यस्य प्रसाधकं आचारांगे विद्यते—‘अहं पुण एवं जाणेज्ज । पातिकंते हेमन्तेहिं सुपडिवण्णे से अथ पडिजुणमुवधिं पदिट्ठावेज्ज ।’

गई है, दृढ़का त्याग करनेके लिए नहीं^१ और यदि ऐसा मानोगे कि संयमके लिए पात्र-ग्रहण सिद्ध है तो यह ठीक नहीं है। क्यों कि अचेलताका अर्थ है परिग्रहका त्याग और पात्र परिग्रह है, इसलिए उसका त्याग सिद्ध है। अर्थात् वस्त्र-पात्र-ग्रहण कारणसापेक्ष है। जो उपकरण कारणकी अपेक्षा ग्रहण किये जाते हैं उनका जिस तरह ग्रहणका विधान है उसी तरह उनका परिहरण भी अवश्य कहना चाहिए। इसलिए बहुतसे सूत्रोंमें अर्थाधिकारकी अपेक्षा जो वस्त्र-पात्र कहे हैं सो उन्हें ऐसा मानना चाहिए कि कारणसापेक्ष ही कहे गये हैं^२। और जो भावना (आचारंगका २४ वाँ अध्ययन) में कहा है कि भगवान् महावीरने एक वर्ष तक चीवर धारण किया और उसके बाद वे अचेलक हो गये, सो इसमें बहुत-सी विप्रतिपत्तियाँ हैं, अर्थात् बहुतसे विरोध और मत-भेद हैं। क्योंकि कुछ लोग कहते हैं कि उस वस्त्रको जो वीर जिनके शरीरपर लटका दिया गया था, लटका देनेवाले मनुष्यने ही उसी दिन ले लिया था। दूसरे कहते हैं कि वह काँटों और डालियों आदिसे उलझते उलझते छह महीनेमें छिन्न भिन्न हो गया था। कुछ लोग कहते हैं कि एक वर्षसे कुछ अधिक बीत जानेपर खंडलक नामक ब्राह्मणने उसे ले लिया था और दूसरे कहते हैं कि जब वह हवासे उड़ गया और भगवानने उसकी अपेक्षा की, तो लटकानेवालेने फिर उनके कन्धेपर लटका दिया। इस तरह अनेक विप्रतिपत्तियाँ होनेके कारण इस बातमें कोई तत्त्व नहीं दिखलाई देता। यदि सचेल लिंग प्रकट करनेके लिए भगवानने वस्त्र ग्रहण किया था, तो फिर उसका विनाश क्यों इष्ट हुआ? उसे सदा ही धारण किये रहना था। यदि उन्हें पता था कि वह नष्ट हो जायगा

१—हिमसमये शीतवाधासहः परिग्रह्य चेत् तस्मिन्निष्क्रान्ते ग्रीष्मे समायाते प्रतिष्ठापयेदिति कारणमपेक्ष्यं ग्रहणमाख्यातम् । परिजीर्णविशेषोपादानाद्दृढानामपरित्याग इति चेत् अचेलता-वचनेन विरोधः । प्रक्षालनादिसंस्कारविरहात्परिजीर्णता वस्त्रस्य कञ्चिता, न तु दृढस्य त्याग-कथनार्थं पात्रप्रतिष्ठापनासूत्रेणोक्तेति ।

२—संयमार्थं पात्रग्रहणं सिद्धयति इति मन्यसे, नैव । अचेलता नाम परिग्रहत्यागः पात्रं च परिग्रह इति तस्यापि त्यागः सिद्ध एवेति । तस्मात्कारणापेक्षं वस्त्रपात्रग्रहणम् । यदुपकरणं ग्रह्यते कारणमपेक्ष्य तस्य ग्रहणविधिः ग्रहीतस्य च परिहरणमवश्यं वक्तव्यमेव । तस्माद्वस्त्रं पात्रं चार्थाधिकारमपेक्ष्य सूत्रेषु बहुषु यदुक्तं तत्कारणमपेक्ष्य निर्दिष्टमिति ग्राह्यम् ।

तो फिर उसका ग्रहण करना निरर्थक हुआ और यदि पता नहीं था तो वे अशानी सिद्ध हुए । और फिर यदि उन्हें चेलप्रज्ञापना वांछनीय थी, तो फिर यह वचन मिथ्या हो जायगा कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरका धर्म आचेलक्य (निर्वस्त्रता) था ।

और जो यह कहा है कि जिस तरह मैं अचेलक हूँ उसी तरह पिछले जिन (तीर्थंकर) भी अचेलक होंगे, सो इससे भी विरोध आयगा । इसके सिवाय वीर भगवान्‌के समान यदि अन्य तीर्थंकरोंके भी वस्त्र थे तो उनका वस्त्र-त्याग-काल क्यों नहीं बतलाया जाता है ? इसलिए यही कहना उचित मालूम होता है कि सब कुछ त्यागकर जब जिन (वीर भगवान्) स्थित थे तब किसीने उनके ऊपर वस्त्र डाल दिया था और वह एक तरहका उपसर्ग^२ था ।

इसके बाद कहा है कि परीषह-सूत्रोंमें (उत्तराध्ययनमें) जो शीत-दंश-मसक-तृणस्पर्श-परीषहोंके सहनके वचन हैं वे सब अचेलताके साधक हैं । क्योंकि जो सचेल या सवस्त्र हैं उन्हें शीतादिकी बाधा होती ही नहीं है^३ ।

फिर उत्तराध्ययनकी ऐसी नौ गाथायें उद्धृत की हैं जो अचेलताको प्रकट

१-यच्चभावनायामुक्तं—‘वरिसं चीवरधारी तेण परमचेलगो जिनो’ ति तदुक्तं विप्रतिपत्ति-बहुलत्वात् । कथम् ? केचिद्वदन्ति तस्मिन्नेव दिने तद्वस्त्रं वीरजिनस्य विलम्बनकारिणा गृहीतमिति । अन्ये षण्मासाच्छिन्नं तत्कण्टकशाखादिभिरिति । साधिकेन वर्षेण तद्वस्त्रं खण्डलकप्राद्वेगेन गृहीतमिति केचित्कथयन्ति । केचिद्वातेन पतितमुपेक्षितं जिनेनेति । अपरे वदन्ति-विलम्बनकारिणा जिनस्य स्कन्धे तदारोपितमिति । एवं विप्रतिपत्तिबाहुल्याच्च दृश्यते तत्त्वम् । सचेललिंगप्रकटनार्थं यदि चेलग्रहणं जिनस्य, कथं तद्विनाश इष्टः ? सदा तद्वारयितव्यम् । किं च, यदि नश्यतीति ज्ञानं, निरर्थकं तस्य ग्रहणं, यदि न शातमज्ञानस्य प्राप्नोति । अपि च चेलप्रज्ञापना वांछिता चेत् ‘आचेलको भम्मो पुरिमचरिमाणं’ इति वचो मिथ्या भवेत् ।

२-यदुक्तं ‘यथाहमचेली तथा होउ पच्छिमो इति होक्खदिति’ तेनापि विरोधः । किं च जिनानामितरेषां वस्त्रत्यागकालः वीरजिनस्यैव किं न निर्दिश्यते यदि वस्त्रं तेषामपि भवेत् । एवं तु युक्तं वक्तुं सर्वत्यागं कृत्वा स्थिते जिने केनचिद्वस्त्रं वस्तुं निक्षिप्तं उपसर्ग इति ।

३-इदं चाचेलताप्रसाधनपरं शीतदंशमशकतृणस्पर्शपरीषहनवचनं परीषहसूत्रेषु । नहि सचेलं शीतादयो बाधन्ते ।

करती हैं^१ और इस तरह इस आचेलक्य भ्रमणकल्पकी समाप्त की गई है।

इससे अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि व्याख्याकार यापनीय संघके हैं और वे उन सब आगमोंको मानते हैं जिनके उद्धरण उन्होंने अचेलताके प्रकरणमें दिये हैं। उनका अभिप्राय यह है कि साधुओंको नम्र रहना चाहिए, नम्र रहनेकी ही आगमोंकी प्रधान आज्ञा है और कहीं कहीं जो वस्त्रादिका उल्लेख मिलता है सो उसका अर्थ इतना ही है कि यदि कभी अनिवार्य जरूरत आ पड़े, शीतादिकी तकलीफ बरदास्त न हो, या शरीर बेडौल धिनौना हो तो कपड़ा ग्रहण किया जा सकता है परन्तु वह ग्रहण करना कारणसापेक्ष है और एक तरहसे अपवादरूप है^२। भगवान् महावीरकी वे उन सब भिन्न भिन्न कथाओंका उल्लेख करते हैं जो उनके कुछ काल तक वस्त्रधारी रहनेके सम्बन्धमें श्वेताम्बर-सम्प्रदायमें प्रचलित रही हैं और दिगम्बर सम्प्रदायमें जिनका कहीं जिक्र तक नहीं है।

१-स्थानाभावसे यहाँ उत्तराध्ययनकी चार ही गाथायें दी जाती हैं—

परिचत्तेसु वत्थेसु ण पुणो चेलमादिए ।
अचेलपवरो भिक्खू जिणरूढधरे सदा ॥
अचेलगास्स ल्हस्स संजयस्स तवस्सिणो ।
तणेसु सयमाणस्स णं ते होदि विराहिणा ॥
ण मे णिवारणं अत्थि छवित्ताणं ण विज्जई ।
अहं तु अग्गिं सेवामि इदि भिक्खू ण चित्तए ॥
आचेलक्को य जो धम्मो जो वायं पुणरुत्तरो ।
देसिदो वड्ढमाणेण पासेण य महप्पणा ॥

२ इस विषयमें यापनीय संघकी तुलना शुरूके भट्टारकोंसे की जा सकती है। वे ये तो दिगम्बर सम्प्रदायके ही अनुयायी, श्रीकुन्दकुन्दकी आम्नायके माननेवाले और नम्रताके पोषक, परन्तु अनिवार्य आवश्यकता होनेपर वस्त्रोंका भी उपयोग कर लेते थे। यों तो वे अपने मठोंमें वस्त्र छोड़कर नम्र ही रहते थे और भोजनके समय भी नम्र हो जाते थे। श्रीश्रुत-सागरसूरिने षट्पाण्डु टीकामें इसे अपवादवेष कहा है। यथा—

“कलौ किल म्लेच्छादयो नम्रं दृष्ट्वा उपद्रवं यतीनां कुर्वन्ति, तेन मण्डपदुरों श्रीवसन्त-कीर्तिना स्वामिना चर्चादिवेलायां तट्टीसारादिकेन शरीरमाच्छाद्य पुनस्तन्मुञ्चति इत्युपदेशः कृतः संयामिनां। इत्यपवादवेषः।” अर्थात् कलिकालमें यतियोंकी नम्र देखकर म्लेच्छादि

विजयोदया टीकाका यह एक ही प्रसंग उसे यापनीय सिद्ध करनेके लिए काफी है और इसी लिए यह खास तौरसे पाठकोंके सामने पेश किया गया है । और भी कई प्रसंग और उद्धरण दिये जा सकते हैं परन्तु उनमें जो दिगम्बर-यापनीय भेद हैं वे इतने सूक्ष्म हैं कि उन्हें जल्दी नहीं समझाया जा सकता और उनपर विवाद भी किया जा सकता है ।

अपराजितसूरिकी गुरु-परम्परा

श्रीविजयोदया टीकाके अनुसार अपराजितसूरि बलदेवसूरिके शिष्य और चन्द्रनन्दि महाप्रकृत्याचार्यके प्रशिष्य थे । नागनन्दि गणिकी चरण-सेवासे उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था और श्रीनन्दिगणिके कहनेसे उन्होंने यह टीका लिखी थी । वे आरातीय सूरियोंमें श्रेष्ठ थे । श्रीविजय उनका दूसरा नाम था और शायद इसीसे इस टीकाका तथा दशवैकालिक टीकाका नाम श्रीविजयोदया रखा गया है ।

दिगम्बर-सम्प्रदायके किसी भी संघकी गुर्वावली या पट्टावलीमें यह गुरुपरम्परा

उपद्रव करते हैं, इससे मण्डपदुर्ग (मांडलगढ़) में वसन्तकीर्ति स्वामीने मुनियोंको यह उपदेश किया कि आहारादिके लिए निकलते समय चटाई, सादड़ी (बाँस या खजूरके पत्तोंसे बनी हुई चटाईके टुकड़े) से शरीर ढँक लेना और फिर उसे छोड़ देना । यह अपवाद-वेश है । तत्त्वार्थटीकामें इन्हीं श्रुतसागरने इसे द्रव्यलिंग कहा है । यथा—“द्रव्यलिङ्गिनः असमर्था महर्षयः शीतकालादौ कम्बलादिकं गृहीत्वा न प्रक्षालयन्ते न सीव्यन्ति न प्रयत्नादिकं कुर्वन्ति अपरकाले परिहरन्तीति ।” अर्थात् द्रव्यलिङ्गी असमर्थ महर्षि शीतकालादिमें कम्बलादिक ग्रहण कर लेते हैं, परन्तु न उन्हें धोते हैं, न सीते हैं, न उनके लिए कुछ प्रयत्न करते हैं और फिर उसे छोड़ देते हैं ।

१—“चन्द्रनन्दिमहाप्रकृत्याचार्य-प्रशिष्येण आरातीयसूरिचूलामणिना नागनन्दिगणिपादपक्षोपसेवाजातमतिलवेन बलदेवसूरिशिष्येण जिनशासनोद्धरणधीरेण लब्धयशःप्रसरेणापराजितसूरिणा श्रीनन्दिगणिनावचोदितेन रञ्जिता—।”

२—आशाधरने अपराजितका अपने ग्रन्थोंमें श्रीविजयाचार्यके नामसे भी उल्लेख किया है—“यत्तच्च श्रीविजयाचार्यविरचितसंस्कृतमूलाराधनटीकायां सुस्थितसूत्रे विस्तरतः समर्थितं दृष्टव्यं ।”

—अनगारधर्माश्रित टीका पृ० ६७३

नहीं मिलती और यह आरातीय पद भी विनयदत्त, श्रीदत्त और अर्हदत्त, इन चार आचार्योंके सिवार्य और किसी भी आचार्यके लिए व्यवहृत नहीं किया गया है। सर्वार्थसिद्धि टीकाके अनुसार भगवान्के साक्षात् शिष्य गणधर और श्रुतकेवलियोंके बाद जो आचार्य हुए और जिन्होंने दशवैकालिकादि सूत्र उपनिबद्ध किये हैं वे आरातीय कहलाते हैं^२। चूँकि अपराजितसूरिने दशवैकालिककी टीका लिखी थी, शायद इसीलिए वे 'आरातीय-चूडामणि' कहलाते हों। दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार दशवैकालिकादि अंगबाह्य श्रुत तो हैं; परन्तु उसकी दृष्टिमें वे छिन्न हो गये हैं और जो उपलब्ध हैं वे अप्रमाण हैं। अतएव दिगम्बर सम्प्रदायका कोई भी आचार्य इस पदवीका धारक नहीं है।

यापनीयोंका नन्दिसंघ

गंगवंशी पृथ्वीकोङ्कणि महाराजका शक ६९८ (वि० सं० ८३३) का एक दान-पत्र मिल है जो श्रीपुर (शिरूर) के ' लोकतिलक ' नामक जैनमंदिरको ' पौनजलि ' नामक ग्रामके रूपमें दिया था। उसमें जो गुरुपरम्परा दी है वह इस प्रकार है—श्रीचन्द्रनन्दि गुरु, उनके शिष्य कुमारनन्दि, उनके कीर्तिनन्दि और उनके विमलचन्द्राचार्य। इन्हें श्रीमूलमूलगणामिनन्दित नन्दिसंघ, एरे गितूर

१—विनयधरः श्रीदत्तः शिवदत्तोऽन्योऽर्हदत्तनामैते ।

आरातीयाः यतयस्ततोऽभवन्नङ्गपूर्वधराः ॥ २४

—श्रुतावतार

२—त्रयो वक्तारः सर्वश्रुतीर्थकरः इतरो वा श्रुतकेवली आरातीयश्चेति ।

—अनगारधर्माश्रुतटीका पृ० ६७३

आरातीयैः पुनराचार्यैः कालदोषात्संक्षिप्तायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्धं तत्प्रमाणमर्थतस्तदेवेदमिति क्षीराणवज्रं घटगृहीतमिव ।

—अ० १, सूत्र २०

३—इण्डियन एण्टिक्वेरी २-१५६-५९ श्रीमूलशरणाभिनन्दितनन्दिसंघान्वयपरेगितूरनान्नि गणे मूलिकलागच्छे स्वच्छतरुणकिरणप्रततिप्रह्लादितसकललोकश्चन्द्र इवापरश्चन्द्रनन्दिनामा गुरुरासीत्...।

४—'श्रीमूलमूलशरणाभिनन्दित' पाठ शायद ठीक नहीं है। सम्भव है पढ़नेवालेने 'गण' को 'शरण' पढ़ लिया हो।

नामक गण और मूलिकल गच्छका बतलाया है। हमारा खयाल है कि जिस तरह मूल संघके अन्तर्गत एक नन्दिसंघ है, उसी तरह यापनीय संघके अन्तर्गत भी एक नन्दिसंघ था। इसके प्रमाणमें हम राष्ट्र-कूटनेरेश द्वि० प्रभूतवर्षके एक दान-पत्रको पेश कर सकते हैं, जिसके द्वारा शक ७३५ (वि० सं० ८७०) को यापनीय-नन्दिसंघके विजयकीर्तिके शिष्य अर्ककीर्ति मुनिको मान्यपुरके (मैसूर राज्यके नेल मंगल ताल्लुकेके मौने नामक ग्रामके) शिलाग्राम जिनेन्द्रभवनको एक गाँव भेंट किया गया था। उसमें स्पष्टतासे ' श्रीयापनीय-नन्दिसंघ-पुंनागवृक्षमूलगण ' लिखा हुआ है। इस नन्दिसंघके अन्तर्गत उसकी शाखारूप पुंनागवृक्षमूल नामका गण था। जिस तरह मूलसंघके अन्तर्गत, देशीय, काणूर आदि गण हैं, उसी तरह यापनीय नन्दिसंघमें यह भी था। रायबागके शिलालेखमें जो ई० स० १०२० का लिखा हुआ है, यापनीयसंघ-पुंनागवृक्षमूलगणके कुमारकीर्तिदेवको कुछ दान दिया गया है। इसी तरह कोल्हापुरके ' मंगलवारबस्ति ' नामक जैनमन्दिरकी एक प्रतिमाके नीचे भी एक शिलालेख^३ है जिससे मालूम होता है कि पुंनागवृक्षमूलगण-यापनीयसंघके विजयकीर्ति पण्डितके शिष्य और रविण्णके भाई वोमिण्णने उसकी प्रतिष्ठा कराई थी। इन दो लेखोंमें यापनीयसंघ पुंनागवृक्षमूलगणका उल्लेख तो है परन्तु नन्दिसंघका नहीं है, फिर भी यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि नन्दिसंघ यापनीयोंमें भी था और उसके अन्तर्गत पुंनागवृक्षमूल गण था।

द्रविड संघमें भी नन्दिसंघ

यापनीय संघ ही नहीं द्रविड या द्रमिल संघमें भी नन्दिसंघ नामका संघ था,

१-ई० ५० जिल्द १२, पृ० १३-१६ ... श्रीयापनीयनन्दिसंघपुंनागवृक्षमूलगणे श्रीकीर्त्याचार्यान्वये ...।

२-जर्नेल आफ दि बाम्बे हिस्टारिकल सुसाइटी जिल्द ३, पृष्ठ १६२-२००

३- प्रो० के० जी० कुंडनगरने कनडी मासिक पत्र ' जिनविजय ' (सन १९३२) में यह और यापनीयोंके अन्य लेख प्रकाशित किये थे। इनका उल्लेख प्रो० उपाध्यायने अपने ' यापनीय संघ ' शीर्षक लेखमें किया है। देखो जैनदर्शन वर्ष ४, अंक ७।

जिसका उल्लेख कई शिलालेखोंमें मिलता है^१ और यह एक मार्केकी बात है कि देवसेनसूरिने यापनीयके समान द्रविड़ संघको भी जैनाभासोंमें गिना है^२।

प्रायः प्रत्येक संघमें गण, गच्छ, अन्वय, बलि आदि शाखायें रहती थीं। कभी कभी गण-गच्छादिको संघ और संघोंको गण या गच्छ भी लिख दिया जाता था। मतलब सबका मुनियोंके एक समूहसे था।

संघों और गणोंके नामोंकी उपपत्ति

इन संघों या गणोंसे कुछके नाम देशोंके नामसे जैसे द्रविड़, माथुर, लाड़-बागड़ आदि, कुछ ग्रामोंके नामसे जैसे किचूर, नमिलूर, तगरिल, श्रीपुर, हनसेगे^३ आदि, और कुछ दूसरे चिह्नोंसे रखे गये हैं।

इन्द्रनन्दिने श्रुतावतारमें लिखा है कि जो मुनि शात्मलिवृक्षमूलसे आये उनका अमुक नाम पड़ा, जो अशोकवाटिकासे आये उनका अमुक^४। इस विषयमें जो मत-भेद हैं उनका भी उन्होंने उल्लेख कर दिया है। यद्यपि वृक्षोंसे नामोंकी कोई ठीक उपपत्ति नहीं बैठती है फिर भी यह माननेमें कोई हर्ज नहीं कि गुरु गुरुमें कुछ संघों या गणोंके नाम वृक्षोंपरसे भी पड़े थे।

ये पुन्नागवृक्षमूलगण और श्रीमूलमूलगण भी इसी तरहके मालूम होते हैं। पुन्नाग नागकेसरको कहते हैं और श्रीमूल शात्मलि या सेमरको। बंगला भाषामें

१-श्रीमद्रमिलसंघेस्मिन्नन्दिंसंघेऽस्त्यरुंगलः ।

अन्वयो भाति योऽशेषशास्त्रवारीशपासगः ॥

...श्रीमद्रमिणगणदनन्दिंसंघदरुङ्गलान्वयदाचार्यावलियेन्ते दोडे...

—जैनशिलालेखसंग्रह पृ० ३९७

२-दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघो महामोहो ।

३-७-इन नामोंके स्थान कर्नाटकमें अब भी हैं। बलि, गच्छ और अन्वयके नाम इन्हींपरसे रखे गये हैं। गित्तर और किचूर एक ही हैं। किचूरका पुराना नाम कीर्तिपुर है जो पुन्नाट देशकी राजधानी था। 'एरे' कनडीमें 'बड़े' को कहते हैं। किचूर और 'एरे गित्तर' दोनों ही नामके गण या गच्छ हैं।

८-ये शात्मलिमहाद्रुममूलावतयोऽभ्युपगताः, ये खण्डकेसरद्रुममूलान्मुनयः समागताः प्रथितादशोकवाटात्समागता ये मुनीश्वराः इत्यादि।

सेमरको 'शिमूल' कहते हैं जो 'श्रीमूल'का ही अपभ्रंश मालूम होता है। कनड़ीमें भी सेमरके लिए सम्भव है कि शिमूल या श्रीमूलसे ही मिलता जुलता कोई शब्द हो।

संस्कृत कोषोंमें नन्दि भी एक वृक्षका नाम है, इससे कल्पना होती है कि शायद नन्दिसंघ नाम भी उक्त वृक्षके कारण पड़ा होगा। ऐसी दशामें मूल संघके समान अन्य संघोंमें भी नन्दि संघ होना स्वाभाविक है।

हमारा अनुमान है कि पृथ्वीकौङ्गणि महाराजके दानपत्रमें जिन चन्द्रनन्दि आचार्यका उल्लेख है, उनके ही प्रशिष्य अपराजितसूरि होंगे। उक्त दानपत्रमें उनके एक शिष्य कुमारनन्दिकी ही शिष्य-परम्परा दी है, संभव है दूसरे शिष्य बलदेवकी परम्परामें अपराजितसूरि हुए हों।

दानपत्रमें दिगम्बर सम्प्रदायके मूलसंघान्तर्गत नन्दिसंघसे पृथक्त्व प्रकट करनेके लिए ही शायद 'श्रीमूलमूलगणाभिनन्दित' विशेषण दिया गया है।

क्या शिवार्य भी यापनीय थे ?

अपराजितसूरिके विषयमें विचार करते समय मूल भगवती आराधनामें भी कुछ बातें ऐसी मिली हैं जिनसे उसके कर्ता शिवार्य भी यापनीय संघके मालूम होते हैं। देखिए—

१ इस ग्रन्थकी प्रशस्तिमें लिखा है कि आर्य जिननन्दि गणि, आर्य सर्वगुप्त गणि और आर्य मित्रनन्दि गणिके चरणोंसे अच्छी तरह सूत्र और उनका अर्थ समझकर और पूर्वाचार्योंकी रचनाको उपजीव्य बनाकर 'पाणितलभोजी' शिवार्यने यह आराधना रची। हम लोगोंके लिए प्रायः ये सभी नाम अपरिचित हैं।

१—अजाजिणणंदिगाणिअजमिच्छणंदीणं ।

अवगमियपायमूले सम्मं सुत्तं च अत्थं च ॥ २१६१

पुब्बायरियणिवद्धा उपजीवित्ता इमा ससत्तीए ।

आराहणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रहदा ॥ २१६२

२—यापनीय संघके मुनियोंमें कीर्तिनामान्त अधिकतासे हैं—जैसे पाल्यकीर्ति, रविकीर्ति, विजयकीर्ति, धर्मकीर्ति, आदि। नन्दि, गुप्त, चन्द्र, नामान्त भी काफी हैं जैसे—जिननन्दि, मित्र-नन्दि, सर्वगुप्त, नागचन्द्र, नेमिचन्द्र। पर इनसं किसी संघका निश्चयपूर्वक निर्णय नहीं हो सकता है।

अपराजितसूरिकी परम्पराके समान यह परम्परा भी दिगम्बर सम्प्रदायकी किसी पट्टावली या गुर्वावली आदिमें नहीं मिलती। इस धारणाके सही होनेका भी कोई पुष्ट और निर्भ्रान्त प्रमाण अभी तक नहीं मिला है कि शिवकोटि और शिवार्य एक ही हैं जो स्वामि समन्तभद्रके शिष्य थे, जो कुछ प्रमाण इस सम्बन्धमें दिये जाते हैं, वे बहुत पीछेके गढ़े हुए मालूम होते हैं। स्वयं शिवार्य ही यह स्वीकार नहीं करते कि मैं समन्तभद्रका शिष्य हूँ।

२ अपराजितसूरि यदि यापनीय संघके थे तो अधिक सम्भावना यही है कि उन्होंने अपने ही सम्प्रदायके ग्रन्थकी टीका की होगी।

३ आराधनाकी गाथायें काफी तादादमें श्वेताम्बर सूत्रोंमें मिलती हैं^१, इससे शिवार्यके इस कथनकी पुष्टि होती है कि पूर्वाचार्योंकी रची हुई गाथायें उनकी उपजीव्य हैं।

४ जिन तीन गुरुओंके चरणोंमें बैठकर उन्होंने आराधना रची है, उनमेंसे 'सर्वगुप्त गणि' शायद वही हैं, जिनके विषयमें शाकटायनकी अमोघवृत्तिमें लिखा है कि "उपसर्वगुप्तं व्याख्यातारः।" १-३-१०४। अर्थात् सारे व्याख्याता या टीकाकार सर्वगुप्तसे नीचे हैं। चूँकि शाकटायन यापनीय संघके थे इसलिए विशेष सम्भव यही है कि सर्वगुप्त यापनीय संघके ही सूत्रों या आगमोंके व्याख्याता हों।

५ शिवार्यने अपनेको 'पाणितलभोजी' अर्थात् हाथोंमें ग्रास लेकर भोजन करनेवाला कहा है। यह विशेषण उन्होंने अपनेको श्वेताम्बर सम्प्रदायसे अलग प्रकट करनेके लिए दिया है। यापनीय साधु हाथपर ही भोजन करते थे।

६ आराधनाकी ११३२ वीं गाथामें 'मेदस्स मुण्णिस्स अक्खणं' (मेतार्यमुनेराख्यानम्) अर्थात् मेतार्य मुनिकी कथाका उल्लेख किया गया है। पं० सदासुखजीने अपनी वचनिकामें इस पदका अर्थ ही नहीं किया है। यही

१—देखो 'आराधना और उसकी टीकायें' शीर्षक लेख।

२—अनन्तकीर्ति-ग्रन्थमालामें प्रकाशित भगवती आराधना वचनिकाके अन्तमें उन गाथाओंकी एक सूची दी है जो मूलचार और आराधनामें एकसी हैं और पं० सुखलालजी-द्वारा सम्पादित 'पंच प्रतिक्रमण सूत्र' में मूलचारकी उन गाथाओंकी सूची दी है जो मद्र-बाहुकृत 'आवश्यकनिर्युक्ति' में भी हैं।

हाल नई हिन्दी टीकाके कर्त्ता पं० जिनदासजी शास्त्रीका भी है। संस्कृतटीकाकार पं० आशाधरजीने तो इस गाथाकी विशेष टीका इसलिए नहीं की है कि वह सुगम है परन्तु आचार्य अमितगतिने इसका संस्कृतानुवाद करना क्यों छोड़ दिया ? वे मेतार्यके आख्यानसे परिचित नहीं थे, शायद इसी कारण।

मेतार्यमुनिकी कथा श्वेताम्बर सम्प्रदायमें बहुत प्रसिद्ध है^१। वे एक चाण्डालिनीके लड़के^२ थे परन्तु किसी सेठके घर पले थे। अत्यन्त दयाशील थे। एक दिन वे एक सुनारके यहाँ भिक्षाके लिए गये। उसने अपनी दूकानमें उसी समय सोनेके जौ बनाकर रखे थे। वह भिक्षा लानेके लिए भीतर गया और मुनि वहीं दूकानमें खड़े रहे जहाँ जौ रखे थे। इतनेमें एक क्रौंच (सारस) पक्षीने आकर वे जौ चुग लिये। सुनारको सन्देह हुआ कि मुनिने ही जौ चुग लिये हैं। मुनिने पक्षीको चुगते तो देख लिया था परन्तु इस भयसे नहीं कहा कि यदि सच बात मालूम हो जायगी तो सुनार सारसको मार डालेगा और उसके पेटमेंसे अपने जौ निकाल लेगा। इससे सुनारको सन्देह हो गया कि यह काम मुनिका ही है, इसने ही जौ चुगाये हैं। उसने उन्हें बहुत कष्ट दिया और अन्तमें भीगे चमड़ेमें कस दिया। इससे उनका शरीरान्त हो गया और उन्होंने केवल-ज्ञान प्राप्त किया। मेरे समझमें इस ढंगकी कथा दिगम्बर सम्प्रदायमें नहीं है।^३

७ दश स्थितिकल्पोंके नामवाली गाथा जिसकी टीकापर अपराजितसूरिको यापनीय संघ सिद्ध किया गया है, जीतकल्प-भाष्यकी १९७२ नं० की गाथा है। श्वेताम्बर सम्प्रदायकी अन्य टीकाओं और निर्युक्तियोंमें भी यह मिलती है और आचार्य प्रमाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्तण्डके स्त्री-मुक्ति-विचार (नया एडीशन पृ० १३१) प्रकरणमें इसका उल्लेख श्वेताम्बर सिद्धान्तके रूपमें ही किया है—

“ नाचालेक्यं नेष्यते (अपि ईष्यतेव) ‘ आचेलककुहेसिय-सेज्जाहर-रायपिंड-किथिकम्मे ’ इत्यादेः पुरुषं प्रति दशविधस्य स्थितिकल्पस्य मध्ये तदुपदेशात् । ”

आराधनाकी ६६५ और ६६६ नम्बरकी गाथायें^३ भी दिगम्बर सम्प्रदायके

१—देखो आवश्यक-निर्युक्ति गाथा ८६७—७०।

२—चाण्डालिनीके लड़केका मुनि होना भी शायद दिगम्बर-सम्प्रदायके अनुकूल नहीं है।

३—चत्तारिजणा भत्तं (पाणय) उवकप्पंति अगिलाणए पाउग्गं ।

छंडियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपणा ॥

साथ मेल नहीं खाती हैं। उनका अभिप्राय यह है कि लब्धियुक्त और मायाचार-रहित चार मुनि ग्लानिरहित होकर क्षपकके योग्य निर्दोष भोजन और पानकः (पेय) लावें। इसपर पं० सदासुखजीने आपत्ति की है और लिखा है कि “यह भोजन लानेकी बात प्रमाणरूप नहीं है।” इसी तरह ‘सेजोगासणिसेजा’ आदि गाथापर (जो मूलाचारमें भी है) कविवर वृन्दावनदासजीको शंका हुई थी और उसका समाधान करनेके लिए दीवान अमरचन्दजीको पत्र लिखा था। दीवानजीने उत्तर दिया था कि “इसमें वैयावृत्ति करनेवाला मुनि आहार आदिसे मुनिका उपकार करे; परन्तु यह स्पष्ट नहीं किया है कि आहार स्वयं हाथसे बनाकर दे। मुनिकी ऐसी चर्या आचारांगमें नहीं बतलाई है^२।”

८ आराधनाका चालीसवाँ ‘विजहना’ नामका अधिकार भी विलक्षण और दिगम्बर सम्प्रदायके लिए अभूतपूर्व है, जिसमें मुनिके मृत शरीरको रात्रि-भर जागरण करके रखनेकी और दूसरे दिन किसी अच्छे स्थानमें वैसे ही (बिना जलाये) छोड़ देनेकी विधि वर्णित है^३। अन्य किसी दिगम्बर ग्रन्थमें अभी तक यह पारसी लोगों जैसी विधि देखनेमें नहीं आई है।

९ नम्बर १५४४ की गाथामें कहा है कि घोर अवमोदर्य या अल्प भोजनके कष्टसे बिना संक्लेश बुद्धिके भद्रबाहु मुनि उत्तम स्थानको प्राप्त हुए। परन्तु दिगम्बर सम्प्रदायकी किसी भी कथामें भद्रबाहुके इस ऊनोदर-कष्टके सहनका उल्लेख नहीं है।

१० नं० ४२८ की गाथामें आधारवत्त्व गुणके धारक आचार्यको ‘कप्पववहारधारी’ विशेषण दिया है और कल्प-व्यवहार, निशीथ सूत्र, श्वेताम्बर सम्प्रदायके प्रसिद्ध

१—सेजोगासणिसेजा तहो उवहिपडिलिहरणहि उवगाहो।—मूलाचार ३११

आहारोसयभोयणविकिंचण वंदणादीणं ॥

—भगवती आराधना ३१०

२—देखो ‘आराधना और उसकी टीकायें’ शीर्षक लेख।

३—देखो म० अ० वचनिकाकी भूमिका पृष्ठ १२ और १३

४—ओमोदारिए घोराए भद्रबाहुअसंकलिहमदी।

घोराए विगिंछाए पडिवण्णो उत्तमं ठाणं ॥

५—चोहस-दस-णव-पुव्वी मतामदी सायरोव्व गंभीरो।

कप्पववहारधारी होदि हु आधारवं णाम ॥

ग्रन्थ हैं। इसी तरह ४०७ नम्बरकी गार्थामें निर्यापक गुणकी खोजके लिए परसंघमें जानेवाले मुनिकी 'आयार-जीद-कप्पगुणदीवणा' होती है। विजयोदया टीकामें इस पदका अर्थ किया है, 'आचारस्य जीतसंज्ञितस्य कल्पस्य गुण-प्रकाशना।' और पं० आशाधरकी टीकामें लिखा है, 'आचारस्य जीदस्य कल्पस्य च गुणप्रकाशना। एतानि हि शास्त्राणि रत्नत्रयतामेव दर्शयन्ति।' पं० जिनदासशास्त्रीने हिन्दी अर्थमें लिखा है कि 'आचारशास्त्र, जीतशास्त्र और कल्पशास्त्र इनके गुणोंका प्रकाशन होता है।' अर्थात् तीनोंके मतसे इन नामोंके शास्त्र हैं और यह कहनेकी जरूरत नहीं कि आचारांग और जीतकल्प श्वेताम्बर सम्प्रदायके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

इन सब बातोंसे मेरा अनुमान है कि शिवार्य भी यापनीय संघके आचार्य होंगे। पण्डित जन सावधानीसे अध्ययन करेंगे तो इस तरहकी और भी अनेक बातें मूल-ग्रन्थमें उन्हें मिलेंगी जो दिगम्बर सम्प्रदायके साथ मेल नहीं खातीं। मैंने तो यहाँ दिग्दर्शन मात्र किया है। साम्प्रदायिक आग्रहसे और पाण्डित्यके जोरसे खींच-तान करके मेल बिठाया जा सकता है, परन्तु इतिहासके विद्यार्थी ऐसे पाण्डित्यसे दूर रहते हैं, उनके निकट सत्यकी खोज ही बड़ी चीज है।

अन्तमें मैं फिर इस बातपर जोर देता हूँ कि यापनीय संघके साहित्यकी खोज होनी चाहिए, जो न केवल हमारे प्राचीन मन्दिरोंमें ही बन्द पड़ा है बल्कि विजयोदयाटीका और मूलाराधनाके समान उसे हम अबतक कुछका कुछ समझते रहे हैं।

अपभ्रंश भाषाके महाकवि स्वयंभूको महापुराण (पुष्पदन्तकृत) की टिप्पणीमें यापनीय संघका लिखा है। स्वयंभूके पउमचरिय और हरिवंशपुराण उपलब्ध हैं। पुष्पदन्तने अपने महापुराणमें स्वयंभूका स्मरण किया है।

शाकटायनने अपने एक सूत्रमें कहा है, 'उपविशेषवादिनं कवयः' (१-३-१०४) अर्थात् सारे कवि विशेषवादिसे नीचे हैं और वादिराजसूरिने अपने पार्श्वनाथचरितमें उनके 'विशेषाभ्युदय' काव्यकी प्रशंसा की है। ये विशेषवादि भी यापनीय संघके जान पड़ते हैं।

१-आयारजीदकप्पगुणदीवणा अत्तसोधिनिज्झंझा।

अजवमद्दव-लाघव-तुट्ठी पल्हादणं च गुणाः ॥

यही गाथा जरासे पाठान्तरके साथ १३० वें नम्बरपर भी है। उसमें 'तुट्ठी पल्हादणं च गुणाः' की जगह 'भत्ती पल्हादकरणं च' पाठ है।

सोमदेवसूरिका नीतिवाक्यामृत

ग्रन्थपरिचय

सोमदेवसूरिका 'नीतिवाक्यामृत' संस्कृत साहित्य-सागरका एक अमूल्य और अनुपम रत्न है। इसका प्रधान विषय राजनीति है। राजा और उसके राज्य-शासनसे सम्बन्ध रखनेवाली प्रायः सभी आवश्यक बातोंका इसमें विवेचन किया गया है। यह सारा ग्रन्थ गद्यमें है और सूत्र-पद्धतिसे लिखा गया है। इसकी प्रतिपादनशैली बहुत ही सुन्दर, प्रभावशालिनी और गंभीर है। बहुत बड़ी बातको एक छोटेसे वाक्यमें कह देनेकी कलामें इसके कर्त्ता सिद्धहस्त हैं। जैसा कि ग्रन्थके नामसे ही प्रकट होता है, इसमें विशाल नीति-समुद्रका मन्थन करके सारभूत अमृत संग्रह किया गया है और इसका प्रत्येक वाक्य इस बातकी साक्षी देता है।

यह ग्रन्थ ३२ समुद्देशोंमें विभक्त है और प्रत्येक समुद्देशमें उसके नामके अनुसार विषय प्रतिपादित हैं।

प्राचीन राजनीतिक साहित्य

राजनीति, चार पुरुषार्थोंमेंसे दूसरे अर्थपुरुषार्थके अन्तर्गत है। जो लोग यह समझते हैं कि प्राचीन भारतवासियोंने 'धर्म' और 'मोक्ष' को छोड़कर अन्य पुरुषार्थोंकी ओर ध्यान नहीं दिया, वे इस देशके प्राचीन साहित्यसे अपरिचित हैं। यह सच है कि पिछले समयमें इन विषयोंकी ओरसे लोग उदासीन होते गये, इनका पठन पाठन बन्द होता गया और इस कारण इनके सम्बन्धका जो साहित्य था वह धीरे धीरे नष्टप्राय होता गया। फिर भी इस बातके प्रमाण मिलते हैं कि राजनीति आदि विद्याओंकी भी यहाँ खूब उन्नति हुई थी और इनपर अनेकानेक ग्रन्थ लिखे गये थे।

उक्त ग्रन्थोंमेंसे राजनीतिका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' अबसे

लगभग २२०० वर्ष पहले मौर्यवंशीय सम्राट् चन्द्रगुप्तके' लिए आर्य चाणक्यने निर्माण किया था'। नन्दवंशका समूल उच्छेद करके उसके सिंहासनपर चन्द्र-गुप्तको आसीन करानेवाले चाणक्य कितने बड़े राजनीतिज्ञ थे, यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं है। उनकी राजनीतिज्ञताका सबसे अधिक उज्ज्वल प्रमाण यह अर्थशास्त्र है। यह एक अद्भुत ग्रन्थ है और उस समयकी शासन-व्यवस्थापर ऐसा प्रकाश डालता है जिसकी पहले किसीने कल्पना भी न की थी। इसे पढ़नेसे मालूम होता है कि उस प्राचीन कालमें भी इस देशने राजनीतिमें आश्चर्यजनक उन्नति कर ली थी। इस ग्रन्थमें मनु, भारद्वाज, उशना (शुक्र), वृहस्पति, विशालाक्ष, पिशुन, पराशर, वातव्याधि, कौणपदन्त और बाहुदन्तीपुत्र नामक प्राचीन आचार्योंके राजनीतिसम्बन्धी मतोंका जगह जगह उल्लेख मिलता है। आर्य चाणक्य प्रारंभमें ही कहते हैं कि पृथिवीके लाभ और पालनके लिए पूर्वाचार्योंने जितने अर्थशास्त्र प्रस्थापित किये हैं, प्रायः उन सबका संग्रह करके यह अर्थशास्त्र लिखा जाता है^३। इससे मालूम होता है कि चाणक्यसे भी पहले इस विषयके अनेकानेक ग्रन्थ मौजूद थे और चाणक्यने उन सबका अध्ययन किया था।

चाणक्यके बादका एक और प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध है जिसका नाम 'नीतिसार'^४ है और जिसे संभवतः चाणक्यके ही शिष्य कामन्दक नामक विद्वानने अर्थशास्त्रको संक्षिप्त करके लिखा है^५। अर्थशास्त्र प्रायः गद्यमें है; परन्तु नीतिसार श्लोकबद्ध है।

१ जान पड़ता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य जैनधर्मके उपासक थे। 'तिलोयपण्णत्ति' नामक प्राकृत ग्रन्थमें—जो विक्रमकी पाँचवीं शताब्दिके लगभगका है—लिखा है कि मुकुटधारी राजाओंमें सबसे अन्तिम राजा चन्द्रगुप्त था जिसने जिनदीक्षा ली।—देखो 'लोकविभाग और तिलोयपण्णत्ति' शीर्षक लेख।

२ सर्वशास्त्रानुपक्रम्य प्रयोगानुपलभ्य च।

कौटिल्येन नरेन्द्रार्ये शासनस्य विधिः कृतः ॥

येन शास्त्रं च शास्त्रं च नन्दराजगता च भूः।

अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम् ॥

३—पृथिव्या लभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्थापितानि प्रायशस्तानि संहत्यैकमिदं शास्त्रं कृतम्।

४—देखो गुजराती प्रेस बम्बईके 'कामन्दकीय नीतिसार' की भूमिका।

यह भी अपने ढंगका अपूर्व और प्रामाणिक ग्रन्थ है और अर्थशास्त्रको समझनेमें इससे बहुत सहायता मिलती है। इसमें भी विशालाक्ष, पुलोमा, यम आदि प्राचीन नीतिग्रन्थकर्त्ताओंके मतोंका उल्लेख है।

कामन्दकके नीतिसारके बाद जहाँ तक हम जानते हैं, यह नीतिवाक्यामृत ग्रन्थ ही ऐसा बना है, जो उक्त दोनों ग्रन्थोंकी श्रेणीमें रक्खा जा सकता है और जिसमें शुद्ध राजनीतिकी चर्चा की गई है। इसका अध्ययन भी कौटिलीय अर्थ-शास्त्रके समझनेमें बड़ी भारी सहायता देता है।

नीतिवाक्यामृतके कर्त्ताने भी अपने द्वितीय ग्रन्थ (यशस्तिलक) में गुरु, शुक्र विशालाक्ष, भारद्वाजके नीतिशास्त्रोंका उल्लेख किया है^१। मनुके भी बीसों श्लोकोंको उद्धृत किया है। नीतिवाक्यामृतमें विष्णुगुप्त या चाणक्यका और उनके अर्थशास्त्रका उल्लेख है^२। बृहस्पति, शुक्र, भारद्वाज, आदिके अभिप्रायोंको भी उन्होंने नीतिवाक्यामृतमें संग्रह किया है, जिसका स्पष्टीकरण नीतिवाक्यामृतकी संस्कृत टीकासे होता है। स्मृतिकारोंसे भी वे अच्छी तरह परिचित मालूम होते हैं^३। इससे हम कह सकते हैं कि नीतिवाक्यामृतके कर्त्ता पूर्वोक्त राजनीतिके

१—“न्यायादवसरमलभमानस्य चिरसेवकसमाजस्य विश्वस्य इव नर्मसन्निवोक्तयः प्रति-पन्नकामचारव्यवहारेषु स्वैरविहारेषु मम गुरुशुक्रविशालाक्षपरीक्षितपराशरमीममीभ्यभारद्वाजादि-प्रणीतनीतिशास्त्रश्रवणसनाथं श्रुतपथमभजन्त ।”—यशस्तिलकचम्पू, आशवास २, पृ० २३६।

२ “दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः ।

समं सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥

इति कथमिदमाह वैवस्वतो मनुः ।”—यशस्तिलक आ० ४, पृष्ठ १००। यह श्लोक मनुस्मृति अ० ६ का ६६ वाँ श्लोक है। इसके सिवाय यशस्तिलक आशवास ४, पृ० ९०—९१—११६ (प्रोक्षितं भक्षयेत्), ११७ (क्रीत्वा स्वयं), १२७ (समी श्लोक) १४९ (समी श्लोक), २८७ (अधीत्य) ये श्लोक भी मनुस्मृतिमें ज्योंके त्यों मिलते हैं। यद्यपि वहाँ यह नहीं लिखा है कि ये मनुके हैं। ‘उक्तं च’ रूपमें ही दिये हैं।

३—नीतिवाक्यामृत पृ० ३६ सूत्र ९, पृ० १०७ सूत्र ४, पृ० १७१ सू० १४ आदि।

४ “विप्रकीतावृद्धापि पुनर्विवाहदीक्षामर्हतीति स्मृतिकाराः”—नी० वा० पृ० ३७७, सू० २७; “श्रुतेःस्पृतेर्बाह्याहृतरे”—यशस्तिलक आ० ४, पृ० १०५; “श्रुतिस्मृतीन्यामतीव बाह्ये” यशस्तिलक आ० ४, पृ० १११; “तथा च स्मृतिः” पृ० ११६; और “इति स्मृति-कारकीर्तितमप्रमाणीकृत्य” पृ० २८७।

साहित्यसे यथेष्ट परिचित थे । बहुत संभव है कि उनके समयमें उक्त सबका सब साहित्य नहीं तो उसका अधिकांश उपलब्ध हो । कमसे कम पूर्वोक्त आचार्योंके ग्रन्थोंके सार या संग्रह आदि अवश्य उन्हें मिले होंगे ।

इन सब बातोंसे और नीतिवाक्यामृतको अच्छी तरह पढ़नेसे हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि नीतिवाक्यामृत प्राचीन नीतिसाहित्यका सारभूत अमृत है । जिस तरह कामन्दकने चाणक्यके अर्थशास्त्रके आधारसे संक्षेपमें अपने नीतिसारका निर्माण किया है, उसी प्रकार सोमदेवसूरिने उनके समयमें जितना नीतिसाहित्य प्राप्त था उससे और अर्थशास्त्रके आधारसे यह नीतिवाक्यामृत निर्माण किया । दोनोंमें अन्तर यह है कि नीतिसार श्लोकबद्ध है और नीतिवाक्यामृत गद्य ।

यहाँ हम अर्थशास्त्र और नीतिवाक्यामृतके कुछ ऐसे अवतरण देते हैं जिनसे दोनोंकी समानता प्रकट होती है—

१—दुष्प्रणीतः कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्धानप्रस्थपरिव्राजकानपि कोपयति, किमङ्ग पुनर्गृहस्थान् । अप्रणीतो हि मात्स्यन्यायमुद्गावयति । बलीनबलं ग्रसते दण्डधराभावे ।

—अर्थशास्त्र अध्याय ४, १५

दुष्प्रणीतो हि दण्डः कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्वा सर्वजनविद्वेषं करोति । अप्रणीतो हि दण्डो मात्स्यन्यायमुद्गावयति । बलीयानबलं ग्रसते (इति मात्स्यन्यायः) ।

—नीतिवा० पृ० १०४-५ ।

२—ब्रह्मचर्यं चाषोडशाद्वर्षात् । अतो गोदानं दारकर्म च ।

—अर्थ० ५, ९ ।

ब्रह्मचर्यमाषोडशाद्वर्षात्ततो गोदानपूर्वकं दारकर्म चास्य । —नी० १६७ ।

३—पुरोहितमुदितोदितकुलशीलं षडंगे वेदे दैवे निमित्ते दण्डनीत्यां च अभिविनीतमापदां दैवमानुषीणां अथर्वभिरुपायैश्च प्रतिकर्तारं कुर्वति ।

अर्थ० ९, १५ ।

पुरोहितमुदितकुलशीलं षडंगवेदे दैवे निमित्ते दण्डनीत्यामभिविनीतमापदां दैवीनां मानुषीणां च प्रतिकर्तारं कुर्वति ।

—नीति० पृ० १५९ ।

१ यशस्तिलक आ० ४ पृ० १०० में नीतिकार भारद्वाजके षाड्गुण्य प्रस्तावके दो श्लोक और विशालाक्षके कुछ वाक्य दिये हैं । ये विशालाक्ष संभवतः वे ही नीतिकार हैं जिनका उल्लेख अर्थशास्त्र और नीतिसारमें किया गया है ।

सोमदेवसूरिका नीतिवाक्यामृत

६५

४ परमर्मज्ञः प्रगल्भः छात्रः कापटिकः ।—अर्थ० अ० ११, पृ० ७, ३

परमर्मज्ञः प्रगल्भः छात्रः कापटिकः ।—नी० पृ० १७३

५—श्रूयते हि शुक्रसारिकाभिः मन्त्रो भिन्नः श्वभिरन्यैश्च तिर्यग्योनिभिः ।
तस्मान्मन्त्रोद्देशमनायुक्तो नोपगच्छेत् । —अर्थ० अ० १५, प्र० ११, ४०

अनायुक्तो न मन्त्रकाले तिष्ठेत् । श्रूयते हि शुक्रसारिकाभ्यामन्यैश्च तिर्यग्भिर्मन्त्र
मेदः कृतः । —नीति० पृ० ११८

६—द्वादशवर्षा स्त्री प्राप्तव्यवहारा भवति । षोडशवर्षः पुमान् ।

—अर्थ० द्वि० खण्ड, तृ० अ० १-२

द्वादशवर्षा स्त्री षोडशवर्षः पुमान् प्राप्तव्यवहारौ भवतः ।

—नीति० ३७३

इस तरहके और भी अनेक अवतरण दिये जा सकते हैं ।

परन्तु इससे नीतिवाक्यामृतका महत्त्व कम नहीं होता । ऐसे विषयोंके ग्रन्थोंका अधिकांश भाग संग्रहरूप ही होता है । क्योंकि उसमें उन सब तत्त्वोंका समावेश तो नितान्त आवश्यक ही होता है जो ग्रन्थकर्ताके पूर्व-लेखकोंद्वारा उस शास्त्रके सम्बन्धमें निश्चित हो चुकते हैं । उनके सिवाय जो नये अनुभव और नये तत्त्व उपलब्ध होते हैं उन्हें ही वह विशेषरूपसे अपने ग्रन्थमें लिपिबद्ध करता है और हमारी समझमें नीतिवाक्यामृत ऐसे तत्त्वोंसे खाली नहीं है । ग्रन्थकर्ताकी स्वतंत्र प्रतिभा और मौलिकता उसमें जगह जगह प्रस्फुटित हो रही है ।

ग्रन्थकर्ताका परिचय

गुरुपरम्परा—जैसा कि पहले कहा जा चुका है नीतिवाक्यामृतके कर्ता श्रीसोमदेवसूरि हैं । वे देवसंघके आचार्य थे । दिगम्बर-सम्प्रदायके सुप्रसिद्ध चार संघोंमेंसे यह एक है ।

सोमदेवके गुरुका नाम नेमिदेव और दादागुरुका नाम यशोदेव था ।

यथा—

श्रीमानास्ति च देवसंघतिलको देवो यशःपूर्वकः

शिष्यस्तस्य बभूव सद्गुणनिधिः श्रीनेमिदेवाह्वयः ।

तस्याश्चर्यतपः स्थितोऽस्त्रिनवतेर्जेतुर्महावादिनां,

शिष्योऽभूदिह सोमदेव इति यस्तस्यैष काव्यक्रमः ॥

—यशस्तिलकचम्पू

नीतिवाक्यामृतकी गद्यप्रशस्तिसे भी यह मालूम होता है कि वे नेमिदेवके शिष्य थे। साथ ही उसमें यह भी लिखा है कि वे महेन्द्रदेव भट्टारकके अनुज थे। इन तीनों महात्माओं—यशोदेव, नेमिदेव और महेन्द्रदेवके सम्बन्धमें हमें और कोई भी बात ज्ञात नहीं है। न तो कोई रचना ही उपलब्ध है और न अन्य किसी ग्रन्थादिमें इनका कोई उल्लेख ही मिला है। इनके पूर्वके आचार्योंके विषयमें भी कुछ ज्ञात नहीं है। सोमदेवसूरिकी शिष्य-परम्परा भी अज्ञात है। यशस्तिलकके टीकाकार श्रीश्रुतसागरसूरिने एक जगह लिखा है कि वादिराज और वादीभसिंह दोनों ही सोमदेवके शिष्य थे; परन्तु इसके लिए उन्होंने जो प्रमाण दिया है वह किस ग्रन्थका है, यह नहीं बतलाया। यशस्तिलककी रचना शकसंवत् ८८१ (विक्रम १०१६) में समाप्त हुई है और वादिराजने अपना पार्श्वनाथचरित शक संवत् (वि० १०८२) में पूर्ण किया है; अर्थात् दोनोंके बीचमें ६६ वर्षका अन्तर है। ऐसी दशामें उनका गुरु-शिष्यका नाता होना दुर्घट जान पड़ता है। इसके सिवाय वादिराजके गुरुका नाम मतिसागर था और वे द्रविड संघके आचार्य थे। अब रहे वादीभसिंह, सो उनके गुरुका नाम पुष्पषेण था और पुष्पषेण अकलंकदेवके गुरुभाई थे, इसलिए उनका समय सोमदेवसे बहुत पहले जा पड़ता है। ऐसी अवस्थामें वादिराज और वादीभसिंहको सोमदेवका शिष्य नहीं माना जा सकता। ग्रन्थकर्ताके गुरु बड़े भारी तार्किक थे। उन्होंने तिरानवे वादियोंको पराजित करके विजय-कीर्ति प्राप्त की थी^१।

इसी तरह महेन्द्रदेव भट्टारक भी दिग्विजयी विद्वान् थे। उनका 'वादीन्द्र-कालानल' उपपद इस बातकी घोषणा करता है।

तार्किकत्व—श्रीसोमदेवसूरि भी अपने गुरु और अनुजके सदृश बड़े भारी तार्किक विद्वान् थे। वे इस ग्रन्थकी प्रशस्तिमें कहते हैं:—

अल्पेऽनुग्रहधीः समे सुजनता मान्ये महानादरः,

सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्रचरिते श्रीसोमदेवे मयि ।

१ “उक्तं च वादिराजेन महाकविना—...स वादिराजोऽपि श्रीसोमदेवाचार्यस्य शिष्यः—

वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्यः श्रीवादिराजोऽपि मदीयशिष्यः” इत्युक्तत्वाच्च ।”

—यशस्तिलकटीका आ० २, पृ० २६५

२ यशस्तिलकके ऊपर उद्धृत हुए श्लोकमें उन महावादियोंकी संख्या जिनको श्रीनेमिदेवने पराजित किया था—तिरानवे है; परन्तु नीतिवाक्यामृतकी गद्यप्रशस्तिमें पचपन है।

यः स्पष्टं तथापि दर्पदृढताप्रौढिप्रगाढाग्रह—

स्तस्याखर्वितगर्वपर्वतपविर्मद्वाङ्कृतान्तायते ॥

सारांश यह कि मैं छोटोंके साथ अनुग्रह, बराबरीवालोंके साथ सुजनता और बड़ोंके साथ महान् आदरका वर्ताव करता हूँ। इस विषयमें मेरा चरित्र बहुत ही उदार है। परन्तु जो मुझे ऐंठ दिखाता है, उसके लिए, गर्वरूपी पर्वतको विध्वंस करनेवाले मेरे वज्र-वचन कालस्वरूप हो जाते हैं।

दर्पान्धबोधबुधसिन्धुरसिंहनादे, वादिद्विपोद्दलनदुर्धरवाग्विवादे।

श्रीसोमदेवमुनिपे वचनारसाले, वागीश्वरोऽपि पुरतोऽस्त

न वादकाले ॥

भाव यह कि अभिमानी पण्डित गजोंके लिए सिंहके समान ललकारनेवाले और वादिगजोंको दलित करनेवाला दुर्धर विवाद करनेवाले श्रीसोमदेव मुनिके सामने, वादके समय वागीश्वर या देवगुरु बृहस्पति भी नहीं ठहर सकते।

यशस्तिलक चम्पूकी उत्थानिकामें कहा है—

आजन्मकृद्भ्यासाच्छुष्कात्तर्कात्तृणादिव ममास्याः।

मतिसुरभेरभवदिदं सूक्तिपथः सुकृतिनां पुण्यैः ॥ १७

अर्थात् मेरी जिस बुद्धिरूपी गौने जीवन-भर तर्करूपी सूखा घास खाया, उसीसे सज्जनोंके पुण्यसे अब यह काव्यरूपी दुग्ध उत्पन्न हो रहा है। इस उक्तिसे अच्छी तरह प्रकट होता है कि श्रीसोमदेवसूरिने अपने जीवनका बहुत बड़ा भाव तर्कशास्त्रके अभ्यासमें ही व्यतीत किया था। उनके स्याद्वादाचलसिंह, वादीमपंचानन और तार्किकचक्रवर्ती पद भी इसी बातके द्योतक हैं।

परन्तु वे केवल तार्किक ही नहीं थे, काव्य, व्याकरण, धर्मशास्त्र और राजनीति आदिके भी धुरंधर विद्वान् थे।

कवित्व—उनका यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य इस बातका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि वे महाकवि थे और काव्यकलापर भी उनका असाधारण अधिकार था। समूचे संस्कृत साहित्यमें यशस्तिलक एक अद्भुत काव्य है और कवित्वके साथ उसमें ज्ञानका विशाल खजाना संग्रहीत है। उसका गद्य भी कादम्बरी, तिलकमञ्जरी आदिकी टक्करका है। सुभाषितोंका तो उसे आकर ही कहना चाहिए। उसकी प्रशंसामें स्वयं ग्रन्थकर्त्ताने यत्र तत्र जो सुन्दर पद्य कहे हैं, वे जानने योग्य हैं—

असहायमनादर्शं रत्नं रत्नाकरादिव ।

मत्तः काव्यमिदं जातं सतां हृदयमण्डनम् ॥१४— प्रथम आश्वास
समुद्रसे निकले हुए असहाय, अनादर्श और सज्जनोंके हृदयकी शोभा बढ़ा-
नेवाले रत्नकी तरह मुझसे भी यह असहाय (मौलिक), अनादर्श (बेजोड़)
और हृदय-मण्डन काव्य-रत्न उत्पन्न हुआ ।

कर्णाञ्जलिपुटैः पातुं चेतः सूक्तामृते यदि ।

श्रूयतां सोमदेवस्य नव्याः काव्योक्तियुक्तयः ॥२४६—द्वितीय आ०
यदि आपका चित्त कानोंकी अंजुलिसे सूक्तामृतका पान करना चाहता है, तो
सोमदेवकी नई नई काव्योक्तियाँ सुनिए ।

लोकवित्त्वे कवित्वे वा यदि चातुर्यचञ्चवः ।

सोमदेवकवेः सूक्तिं समभ्यस्यन्तु साधवः ॥ ५१३ ॥ —तृतीय आ०
यदि सज्जनोंकी यह इच्छा हो कि वे लोकव्यवहार और कवित्वमें चातुर्य प्राप्त
करें तो उन्हें सोमदेव कविकी सूक्तियोंका अभ्यास करना चाहिए ।

मया वागर्थसंभारे भुक्ते सारस्वते रसे ।

कवयोऽन्ये भविष्यन्ति नूनमुच्छिष्टभोजनाः ॥—चतुर्थ आ० पृ० १६५
मैं शब्द और अर्थपूर्ण सारे सारस्वत रस (साहित्य रस) को भोग चुका हूँ,
अतएव अब जो अन्य कवि होंगे, वे निश्चयसे उच्छिष्टभोजी या जूठा खानेवाले
होंगे, वे कोई नई बात न कह सकेंगे ।

अरालकालव्यालेन ये लीढा साम्प्रतं तु ते ।

शब्दाः श्रीसोमदेवेन प्रोत्थाप्यन्ते किमद्भुतम् ॥ —पं० आ० १६५
समयरूपी विकट अजगरेन जिन शब्दोंको निगल लिया था, अतएव जो मृत
हो गये थे, यदि उन्हें श्रीसोमदेवने उठा दिया—जिला दिया तो इसमें कोई
आश्चर्य नहीं होना चाहिए । (इसमें ' सोमदेव ' शब्द श्लिष्ट है । सोम चन्द्रवाची
है और चन्द्रकी अमृत-किरणोंसे विषमूर्च्छित जीव सचेत हो जाते हैं ।)

उद्भृत्य शास्त्रजलधेर्नितले निमग्नैः

पर्यागतैरिव चिरादभिधानरत्नैः ।

या सोमदेवविदुषा विहिता विभूषा

वाग्देवता वहतु सम्प्रति तामनर्घाम् ॥ प० आ०, पृ० २६६

चिरकालसे शास्त्रसमुद्रके बिल्कुल नीचे डूबे हुए शब्द-रत्नोंका उद्धार करके सोमदेव पण्डितने जो यह बहुमूल्य आभूषण (काव्य) बनाया है, उसे श्रीसरस्वती देवी धारण करें ।

इन उक्तियोंसे इस बातका आभास मिलता है कि आचार्य सोमदेव किस श्रेणीके कवि थे और उनका उक्त महाकाव्य कितना महत्त्वपूर्ण है । पूर्वोक्त उक्तियोंमें अभिमानकी मात्रा विशेष रहनेपर भी वे अनेक अंशोंमें सत्य जान पड़ती हैं । सचमुच ही यशस्तिलक शब्द-रत्नोंका खजाना है और जिस तरह माघकाव्यके विषयमें कहा जाता है, उसी तरह यदि कहा जाय कि इस काव्यको पढ़ लेनेपर फिर कोई नया शब्द नहीं रह जाता, तो कुछ अत्युक्ति न होगी । इसी तरह इसके द्वारा सभी विषयोंकी व्युत्पत्ति हो सकती है । व्यवहारदक्षता बढ़ानेकी तो इसमें ढेर सामग्री है ।

महाकवि सोमदेवके वाक्कल्लोलपयोनिधि, कविराजकुंजर और गद्यपद्यविद्याधर-चक्रवर्ती विशेषण उनके श्रेष्ठकवित्वके ही परिचायक हैं ।

धर्माचार्यत्व—यद्यपि अभी तक सोमदेवसूरिका कोई स्वतंत्र धार्मिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, परन्तु यशस्तिलकके अन्तिम दो आश्वास, जिनमें उपासकाध्ययन या श्रावकोंके आचारका निरूपण किया गया है, इस बातके साक्षी हैं कि वे धर्मके बड़े भारी मर्मज्ञ थे । स्वामी समन्तभद्रके रत्नकरण्डके बाद श्रावकोंका आचारशास्त्र ऐसी उत्तमता, स्वाधीनता और मार्मिकताके साथ इतने विस्तृतरूपमें आज तक किसी भी विद्वान्की कलमसे नहीं लिखा गया । जो लोग यह समझते हैं कि धर्मग्रन्थ तो परम्परासे चले आये हुए ग्रन्थोंके अनुवादमात्र होते हैं, उनमें ग्रन्थकर्ता विशेष क्या कहेगा, उन्हें यह उपासकाध्ययन अवश्य पढ़ना चाहिए और देखना चाहिए कि धर्मशास्त्रोंमें भी मौलिकता और प्रतिभाके लिए कितना विस्तृत क्षेत्र है । नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिमें लिखा है:—

सकलसमयतर्के नाकलंकोऽसि वादिन्

न भवसि समयोक्तौ हंससिद्धान्तदेवः ।

न च वचनविलासे पूज्यपादोऽसि तत्त्वं

वदसि कथमिदानीं सोमदेवेन सार्धम् ॥

अर्थात् हे वादी, न तो तू समस्त दर्शन-शास्त्रोंपर तर्क करनेके लिए अकलंक-देवके तुल्य है; न जैनसिद्धान्तको कहनेके लिए हंस सिद्धान्तदेव है और न व्याक-

रणमें पूज्यपाद है, फिर इस समय सोमदेवके साथ किस बिरतेपर बात करने चला है ?

इस उक्तिसे स्पष्ट है कि सोमदेवसूरि तर्क और सिद्धान्तके समान व्याकरणशास्त्रके भी पण्डित थे ।

राजनीतिज्ञता—सोमदेवके राजनीतिज्ञ होनेका प्रमाण यह नीतिवाक्यामृत तो है ही, इसके सिवाय उनके यशस्तिलकमें भी यशोधर महाराजका चरित्रचित्रण करते समय राजनीतिकी बहुत ही विशद और विस्तृत चर्चा की गई है । पाठकोंको चाहिए कि वे इसके लिए यशस्तिलकका तृतीय आश्वास अवश्य पढ़ें ।

यह आश्वास राजनीतिके तत्त्वोंसे भरा हुआ है । इस विषयमें वह अद्वितीय है । वर्णन करनेकी शैली बड़ी ही सुन्दर है । कवित्वकी कमनीयता और सरसतासे राजनीतिकी नीरसता न मालूम कहाँ चली गई है । नीतिवाक्यामृतके अनेक अंशोंका अभिप्राय उसमें किसी न किसी रूपमें अन्तर्निहित जान पड़ता है ।

जहाँ तक हम जानते हैं जैन विद्वानों और आचार्योंमें—दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनोंमें—एक सोमदेवने ही राजनीतिशास्त्रपर कलम उठाई है । अतएव जैन विद्वानों द्वारा निर्मित साहित्यमें उनका नीतिवाक्यामृत अद्वितीय है । कमसे कम अब तक तो इस विषयका कोई दूसरा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है ।

१ अकलंकदेव—अष्टशती, राजवार्तिक आदि ग्रन्थोंके रचियता । हंस सिद्धान्तदेव—ये कोई सैद्धान्तिक आचार्य जान पड़ते हैं । पूज्यपाद—जैनेन्द्र व्याकरणके कर्ता देवगन्धि ।

२ नीतिवाक्यामृत और यशस्तिलकके कुछ समानार्थक वचनोंका मिलान कीजिए—

क—बुभुक्षुकालो भोजनकालः—नी० वा०, पृ० २५३ ।

चारायणो निशि, तिमिः पुनरस्तकाले, मध्ये दिनस्य धिषणश्चरकः प्रभाते ।

भुक्तिं जगाद नृपते मम चैष सर्गस्तस्याः स एव समयः क्षुधितो यदैव ॥३२८॥

—यशस्तिलक, आ० ३, पृ० ५०९

(पूर्वोक्त पद्यमें चारायण, तिमि, धिषण और चरक इन चार आचार्योंके मतोंका उल्लेख किया गया है ।)

ख—कोकवादिवाकामः निशिभुजीत । चकोरवन्नक्तकामः दिवापक्वम् ।—नी० पृ० २५७
अन्ये त्विदमाहुः—

यः कोकवादिवाकामः स नक्तं भोक्तुमर्हति ।

स भोक्ता वासरे यश्च रात्रौ रन्तां चकोरवत् ॥ ३३० ॥—यशस्तिलक, आ० २

ग्रन्थ-रचना—इस समय सोमदेवसूरिके केवल दो ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं—नीतिवाक्यामृत और यशस्तिलकचम्पू। इनके सिवाय जैसा कि नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिसे मालूम होता है तीन ग्रन्थ और भी हैं—१ युक्तिचिन्तामणि, २ त्रिवर्गमहेन्द्रमातलिसंजल्प और ३ षण्णवतिप्रकरण। परन्तु अभीतक ये कहीं प्राप्त नहीं हुए हैं। इस लेखके अन्तमें जो ‘दान-पत्र’ दिया गया है उसमें उन्हें ‘स्याद्वादोपनिषत्’ का और अनेक सुभाषितोंका भी कर्त्ता बतलाया है। उक्त ग्रन्थोंमेंसे युक्तिचिन्तामणि तो अपने नामसे ही तर्कग्रन्थ मालूम होता है, दूसरा शायद नीतिविषयक हो। महेन्द्र और उसके सारथी मातलिके संवादरूपमें उसमें त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और कामकी चर्चा की गई हो। तीसरेके नामसे सिवाय इसके कि उसमें ९६ प्रकरण या अध्याय हैं, विषयका कुछ भी अनुमान नहीं हो सकता है। चौथेमें स्याद्वाद-न्यायका विवेचन होगा।

विशाल अध्ययन—यशस्तिलक और नीतिवाक्यामृतके पढ़नेसे मालूम होता है कि सोमदेवसूरिका अध्ययन बहुत ही विशाल था। ऐसा जान पड़ता है कि उनके समयमें जितना साहित्य—न्याय, व्याकरण, काव्य, नीति, दर्शन आदि सम्बन्धी उपलब्ध था, उस सबसे उनका परिचय था। केवल जैन ही नहीं, जैनेतर साहित्यसे भी वे अच्छी तरह परिचित थे। यशस्तिलकके चौथे आश्रवासमें (पृ० ११३ में) उन्होंने लिखा है कि उर्व, भारवि, भवभूति, भर्तृहरि, भर्तृमेष्ठ, कण्ठ, गुणाढ्य, व्यास, भास, वोस, कालिदास, बाण, मयूर, नारायण, कुमार, माघ और राजशेखर आदि महाकवियोंके काव्योंमें नम्र क्षणिक या दिगम्बर साधुओंका उल्लेख क्यों आता है? उनकी इतनी अधिक प्रसिद्धि क्यों है?

१ माणिकचन्द्र-ग्रन्थमालाके ‘तत्त्वानुशासनादि संग्रह’ में ‘अध्यात्मतरंगिणी’ नामका ४० पद्योंका एक छोटा-सा प्रकरण प्रकाशित हुआ है। बम्बईके ए० पन्नालाल सरस्वती-भवनमें इसकी जो प्रति है उसमें इसका नाम ‘योगमार्ग’ लिखा है और यही नाम ठीक मालूम होता है। संभव है, यह ‘षण्णवतिप्रकरण’में का ही एक प्रकरण हो अथवा अन्य किसी सोमदेवका हो। २ भास महाकविका ‘पेया सुरा प्रियतमासुखमीक्षणीयं’ आदि पद्य भी पौंचवें आश्रवासमें (पृ० २५०) उद्धृत है। ३ रघुवंशका भी एक जगह (आश्रवास ४, पृ० १९४) उल्लेख है। ४ बाण महाकविका एक जगह और भी (आ० ४, पृ० १०१) उल्लेख है और लिखा है कि उन्होंने शिकारकी निन्दा की है।

3170 इससे मालूम होता है कि वे पूर्वोक्त कवियोंके काव्योंसे अवश्य परिचित थे । प्रथम आश्वासके १० वें पृष्ठमें उन्होंने इन्द्र, चन्द्र, जैनेन्द्र, आपिशल और पाणिनिके व्याकरणोंका जिक्र किया है । पूज्यपाद (जैनेन्द्रके कर्त्ता) और पाणिनिका उल्लेख और भी एक-दो जगह हुआ है । गुरु, शुक्र, विशालाक्ष, परीक्षित, पराशर, भीम, भीष्म, भारद्वाज आदि नीतिशास्त्रप्रणेताओंका भी कई जगह स्मरण किया गया है । कौटिलीय अर्थशास्त्रसे तो वे अच्छी तरह परिचित हैं ही । हमारे एक पण्डित मित्रके कथनानुसार नीतिवाक्यामृतमें सौ सवा सौके लगभग ऐसे शब्द हैं जिनका अर्थ वर्तमान कोशोंमें नहीं मिलता । अर्थशास्त्रका अध्येता ही उन्हें समझ सकता है । अद्वैतविद्या, गैजविद्या, रत्नपरीक्षा, कामशास्त्र, वैद्यक आदि विद्याओंके आचार्योंका भी उन्होंने कई प्रसंगोंमें जिक्र किया है । प्रजापतिप्रोक्त चित्रकर्म, ब्राह्ममिहिरकृत प्रतिष्ठाकाण्ड, आदित्यमृत, निमित्ताध्याय, महाभारत, रत्नपरीक्षा, पतंजलिका योगशास्त्र और वररुचि, व्यास, हरप्रबोध, कुमारिलकी उक्तियोंके उद्धरण दिये हैं । सैर्द्धान्ति वैशेषिक, तार्किक वैशेषिक, पाशुपत, कुलाचार्य, सांख्य, दशबल-शासन, जैमिनीय, बार्हस्पत्य, वेदान्तवादि, कणाद

१—“ पूज्यपाद इव शब्देतिहेपु ... पणिपुत्र इव पदप्रयोगेपु ” यश० आ० २, पृ० २३६ २, ३, ४, ५, ६—“ रोमपाद इव गजविद्यासु, रैवत इव ह्यनयेपु, शुक्रनाश इव रत्नपरीक्षासु, दत्तक इव कन्तुसिद्धान्तेपु ”—आ० ४, पृ० २३६-२३७ । ‘ दत्तक ’ कामशास्त्रके प्राचीन आचार्य हैं । वात्स्यायनने इनका उल्लेख किया है । ‘ चारायण ’ भी कामशास्त्रके आचार्य हैं । इनका मत यशस्तिलकके तीसरे आश्वासके ५०९ पृष्ठमें चरकके साथ प्रकट किया गया है ।

७, ८, ९, १०, ११—उक्त पाँचों ग्रन्थोंके उद्धरण यश० के चौथे आश्वासके पृ० ११२-१३ और ११९ में उद्धृत हैं । महाभारतका नाम नहीं है, परन्तु ‘ पुराण मानवो धर्मः सांगो वेदश्चिकित्सितम् ’ आदि श्लोक महाभारतसे ही उद्धृत किया गया है ।

१२—तदुक्तं रत्नपरीक्षायाम्—‘ न केवलं ’ आदि; आश्वास ५, पृ० २५६

१३—यशस्तिलक आ० ६, पृ० २७६-७७ ।

१४—१५—आ० ४, पृ० ९९ ।

१६—१७—आ० ५, पृ० २५१-५४

१८—इन सब दर्शनोंका विचार पाँचवें आश्वासके पृ० २६९ से २७७ तक किया गया है ।

ताथागत, कापिल, ब्रह्माद्वैतवादि, अवधूत आदि दर्शन-सिद्धान्तोंपर विचार किया है। इनके सिवाय मतङ्ग, भृगु, भर्ग, भरत, गौतम, गर्ग, पिंगल, पुलह, पुलोम, पुलस्ति, पराशर, मरीचि, विरोचन, धूमध्वज, नीलपट, ग्रहिल, आदि अनेक प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध आचार्योंका नामोल्लेख किया है। बहुतसे ऐतिहासिक दृष्टान्तोंका भी उल्लेख किया गया है। जैसे यवनदेश (यूनान ?) में मणिकुण्डला रानीने अपने पुत्रके राज्यके लिए विषदूषित शराबके कुरलेसे अज-राजाको, सूरसेन (मथुरा) में वसन्तमतीने विषमय आलतेसे रंगे हुए अघरोंसे सुरतविलास नामक राजाको, दशार्ण (भिलसा) में वृकोदरीने विषलिप्त करधनीसे मदनार्णव राजाको, मगध देशमें मदिराक्षीने तीखे दर्पणसे मन्मथविनोदको, पाण्ड्य देशमें चण्डरसा रानीने कबरीमें छुपी हुई छुरीसे मुण्डीर नामक राजाको मार डाला। इत्यादि। पौराणिक आख्यान भी बहुतसे आये हैं। जैसे प्रजापति ब्रह्माका चित्त अपनी लड़कीपर चलायमान हो गया, वररुचि या कात्यायनने एक दासीपर रीझकर उसके कहनेसे मद्यका घड़ा उठाया, आदि। इन सब बातोंसे पाठक जान सकेंगे कि आचार्य सोमदेवका ज्ञान कितना विस्तृत और व्यापक था।

विचारोंकी उदारता—यशस्तिलकके प्रारम्भके २० वें श्लोकमें कहा है—

लोको युक्तिः कलाश्छन्दोऽलंकाराः समयागमाः ।
सर्वसाधारणाः सद्भिस्तीर्थमार्ग इव स्मृताः ॥

अर्थात् सज्जनोंका कथन है कि व्याकरण, प्रमाणशास्त्र (न्याय), कलायें, छन्दःशास्त्र, अलंकारशास्त्र और (अर्हत, जैमिनि, कपिल, चार्वाक, कणाद, बुद्धादिके) दर्शनशास्त्र तीर्थमार्गके समान सर्वसाधारण हैं। अर्थात् जिस तरह गंगादि तीर्थोंके मार्गपर ब्राह्मण भी चल सकते हैं और चाण्डाल भी, उसी तरह

१—देखो आध्यात्म ५, पृ० २५२-५५ और २९९।

२ यशस्तिलक आ० ४, पृ० ५३। इन्हीं आख्यानोंका उल्लेख नीतिवाक्यामृत (पृ० २३२) में भी किया गया है। आध्यात्म ३-पृ० ४३१ और ५५० में भी ऐसे ही कई ऐतिहासिक दृष्टान्त दिये गये हैं।

३ यश० आ० ४ पृ० १३८-३९।

इनपर भी सबका अधिकार है' ।

इस उक्तिसे पाठक जान सकते हैं कि उनके विचार ज्ञानके सम्बन्धमें कितने उदार थे । उसे वे सर्वसाधारणकी चीज समझते थे और यही कारण है जो उन्होंने धर्माचार्य होकर भी अपने धर्मसे इतर धर्मके माननेवालोंके साहित्यका भी अच्छी तरहसे अध्ययन किया था, यही कारण है जो वे पूज्यपाद और भट्ट अकलंकदेवके साथ पाणिनि आदिका भी आदरके साथ उल्लेख करते हैं और यही कारण है जो उन्होंने अपना यह राजनीतिशास्त्र बीसों जैनेतर आचार्योंके विचारोंका सार खींचकर बनाया है । उनकी यह नीति नहीं थी कि ज्ञानका मार्ग भी संकीर्ण कर दिया जाय और संसारके विशाल ज्ञान-भाण्डारका उपयोग करना छोड़ दिया जाय ।

ग्रन्थकर्ताका समय और स्थान

नीतिवाक्यामृतके अन्तकी प्रशस्तिमें इस बातका कोई जिक्र नहीं है कि वह कब और किस स्थानमें रचा गया था; परन्तु यशस्तिलक चम्पूके अन्तमें इन दोनों बातोंका उल्लेख है—

“ शकनृपकालातीतसंवत्सरशतेष्वष्टस्वेकाशीत्याधिकेषु गतेषु अङ्कतः (८८१) सिद्धार्थसंवत्सरान्तर्गतचैत्रमासमदनत्रयोदश्यां पाण्ड्य-सिंहल-चोल-चेरमप्रभृतीन्महीपतीन्प्रसाध्य मेलैपाटीप्रवर्धमानराज्यप्रभावे श्रीकृष्णराजदेवे सति तत्पादपद्मोपजीविनः समधिगतपञ्चमहाशब्दमहासामन्ताधिपतेश्चालुक्यकुलजन्मनः सामन्त-

१ “ लोको व्याकरणशास्त्रम्, युक्तिः प्रमाणशास्त्रम्, समयागमाः जिनजैमिनिक-पिलकणचरचार्याकशाक्यानां सिद्धान्ताः । सर्वसाधारणाः सद्भिः कथिताः प्रतिपादिताः । कश्चिदर्थः तीर्थं मार्ग इव । यथा तीर्थमार्गे ब्राह्मणाश्चलन्ति, चाण्डाला अपि गच्छन्ति, नास्ति तत्र दोषः । ”—श्रुतसागरी टीका ।

२ पाण्ड्य=वर्तमानमें मद्रासका ‘तिनेवली’ । सिंहल=सिलोन या लंका । चोल=मद्रासका कारोमण्डल । चेर=केरल, वर्तमान त्रावणकोर । ३ मुद्रित ग्रन्थमें ‘मेल्याटी’ पाठ है । महापुराणमें पुष्पदन्तने इसीका अपभ्रंशरूप ‘मेलण्डि’ दिया है । उत्तर अर्काट जिलेकी बौदिवाश तहसीलका मेलण्डि गाँव यही है । शक सं० ८८१ के लगभग यहाँ कृष्ण तृतीयकी छावनी रही थी । इसका जिक्र कई शिलालेखों और महापुराणमें है । राजधानी मान्यखेटमें ही थी ।

चूडामणेः श्रीमदरिकेसरिणः प्रथमपुत्रस्य श्रीमद्व्यंगराजस्य लक्ष्मी-
 प्रवर्धमानवसुधारायां गङ्गधारायां विनिर्मापितमिदं काव्यमिति । ”

अर्थात् चैत्र सुदी १३, शकसंवत् ८८१ (विक्रम संवत् १०३६) को जिस-
 समय श्रीकृष्णराजदेव पाण्ड्य सिंहल, चोल, चेर आदि राजाओंको जीत कर
 मेलपाटी नामक सेना-शिविरमें थे उस समय उनके चरणकमलोपजीवी सामन्त
 बह्मिगकी—जो चालुक्यवंशीय अरिकेसरीके प्रथम पुत्र थे—राजधानी गंगधारामें
 यह काव्य समाप्त हुआ ।

कृष्णराजदेव (तृतीय कृष्ण) राष्ट्रकूट या राठौर वंशके महाराजा थे और
 इनका दूसरा नाम अकालवर्ष था । ये अमोघवर्ष तृतीयके पुत्र थे । इनका राज्य-
 काल कमसे कम ८६७ से ८९४ तक प्रायः निश्चित है । ये दक्षिणके सार्वभौम-
 राजा थे और बड़े प्रतापी थे । इनके अधीन अनेक माण्डलिक या करद राज्य
 थे । कृष्णराजने—जैसा कि सोमदेवसूरिने लिखा है—सिंहल, चोल, पाण्ड्य और
 चेर राजाओंको युद्धमें पराजित किया था । इनके समयमें कनड़ी भाषाका सुप्रसिद्ध
 कवि पोन्न हुआ है जो जैन था और जिसने शान्तिपुराण नामक श्रेष्ठ ग्रन्थकी
 रचना की है । महाराज कृष्णराज देवके दरबारसे उसे ‘ उभयभाषाकविचक्रवर्ती ’
 की उपाधि मिली थी ।

राष्ट्रकूटोंके समयमें दक्षिणका चालुक्यवंश (सोलंकी) हतप्रभ हो गया था ।
 क्योंकि इस वंशका सार्वभौमत्व राष्ट्रकूटोंने छीन लिया था । अतएव जब तक
 राष्ट्रकूट सार्वभौम रहे तब तक चालुक्य उनके आज्ञाकारी सामन्त या माण्डलिक
 राजा बनकर रहे । जान पड़ता है कि अरिकेसरिका पुत्र बह्मिग ऐसा ही एक
 सामन्तराजा था जिसकी गंगधारा नामक राजधानीमें यशस्तिलककी रचना
 समाप्त हुई है ।

चालुक्योंकी एक शाखा ‘ जोल ’ नामक प्रान्तपर राज्य करती थी जिसका
 एक भाग इस समयके धारवाड़ जिलेमें आता है और श्रीयुक्त आर० नरसिंहा-
 चार्यके मतसे चालुक्य अरिकेसरीकी राजधानी ‘ पुल्लोरी ’में थी जो कि इस समय
 ‘ लक्ष्मेश्वर ’के नामसे प्रसिद्ध है । गंगधारा भी शायद वही है ।

१ मुद्रित पुस्तकमें ‘ श्रीमद्वागराजप्रवर्धमान—’ पाठ है ।

इस अरिकेसरीके ही समयमें कनड़ी भाषाका सर्वश्रेष्ठ कवि पम्प हो गया है जिसकी रचनापर मुग्ध होकर अरिकेसरीने धर्मपुर नामका एक ग्राम पारितोषिकमें दिया था। पम्प जैन था। उसके बनाये हुए दो ग्रन्थ ही इस समय उपलब्ध हैं—एक आदिपुराण चम्पू और दूसरा भारत या विक्रमार्जुनविजय। पिछले ग्रन्थमें उसने अरिकेसरीकी वंशावली इस प्रकार दी है—युद्धमल्ल—अरिकेसरी-नारसिंह—युद्धमल्ल—बहिंग—युद्धमल्ल—नारसिंह और अरिकेसरी। उक्त ग्रन्थ शक संवत् ८६३ (वि० ९९८ में) समाप्त हुआ है, अर्थात् वह यशस्तिलकसे कोई १८ वर्ष पहले बन चुका था। इसकी रचनाके समय अरिकेसरी राज्य करता था, तब उसके १८ वर्ष बाद—यशस्तिलककी रचनाके समय—उसका पुत्र राज्य करता होगा, यह सर्वथा ठीक जैचता है।

काव्यमालाद्वारा प्रकाशित यशस्तिलकमें अरिकेसरीके पुत्रका नाम 'श्रीमद्वाग-राज' सुद्रित हुआ है; परन्तु हमारी समझमें वह अशुद्ध है। उसकी जगह 'श्रीमद्वहिराज' पाठ होना चाहिए। दानवीर सेठ माणिकचंदजीके सरस्वती-मंडारकी वि० सं० १४६४ की लिखी हुई प्रतिमें 'श्रीमद्वहिराजस्य' पाठ है और इससे हमें अपने कल्पना किये हुए पाठकी शुद्धतामें और भी अधिक विश्वास होता है। ऊपर जो हमने पम्पकवि-लिखित अरिकेसरीकी वंशावली दी है, उस-पर पाठकोंको जरा बारीकीसे विचार करना चाहिए। उसमें युद्धमल्ल नामके तीन, अरिकेसरी नामके दो और नारसिंह नामके दो राजा हैं। अनेक राजवंशोंमें प्रायः यही परिपाटी देखी जाती है कि पितामह और पौत्र या प्रपितामह और प्रपौत्रके नाम एकसे रखे जाते थे, जैसा कि उक्त वंशावलीसे प्रकट होता है^१। अतएव हमारा अनुमान है कि इस वंशावलीके अन्तिम राजा अरिकेसरी (पम्पके आश्रयदाता) के पुत्रका नाम बहिंग ही होगा जो कि लेखकोंके प्रमादसे 'वहग'

१ दक्षिणके राष्ट्रकुलोंकी वंशावलीमें भी देखिए कि अमोघवर्ष नामके चार, कृष्ण या अकालवर्ष नामके तीन, गोविन्द नामके चार, इन्द नामके तीन और कर्क नामके तीन राजा लगभग २५० वर्षके बीचमें ही हुए हैं।

२ श्रद्धेय पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझाने अपने 'सोलंकियोंके इतिहास' (प्रथम भाग) में लिखा है कि सोमदेवसरिने अरिकेसरीके प्रथम पुत्रका नाम नहीं दिया है; परन्तु ऐसा उन्होंने यशस्तिलककी प्रशस्तिके अशुद्ध पाठके कारण समझ लिया है; वास्तवमें नाम दिया है और वह 'बहिंग' ही है।

या ' वाग ' बन गया है ।

श्रीसोमदेवसूरिने नीतिवाक्यामृतकी रचना कब और कहाँपर की थी, इस बातका विचार करते हुए हमारी दृष्टि उसकी संस्कृत टीकाके निम्नलिखित वाक्योंपर जाती है ।

“ अत्र तावदखिलभूपालमौलिलालितचरणयुगलेन रघुवंशावस्थायिपराक्रम-
 पालितकस्य (कृत्स्न) कर्णकुब्जेन महाराजश्रीमहेन्द्रदेवेन पूर्वाचार्यकृतार्थशास्त्र-
 दुरवबोधग्रन्थगौरवखिन्नमानसेन सुबोधललितलघुनीतिवाक्यामृतरचनासु प्रवर्तितः
 सकलपारिषदत्वान्नीतिग्रन्थस्य नानादर्शनप्रतिबद्धश्रोतॄणां तत्तदमीष्टश्रीकण्ठाच्युत-
 विरच्यर्हतां वाचनिकनमस्कृतिसूचनं तथा स्वगुरोः सोमदेवस्य च प्रणामपूर्वकं
 शास्त्रस्य तत्कर्तृत्वं ख्यापयितुं सकलसत्त्वकृताभयप्रदानं मुनिचन्द्राभिधानः क्षपणक-
 त्रतधर्त्ता नीतिवाक्यामृतकर्त्ता निर्विघ्नसिद्धिकरं...श्लोकमेकं जगाद—” पृष्ठ २

इसका अभिप्राय यह है कि कान्यकुब्जनरेश्वर महाराजा महेन्द्रदेवने पूर्वाचार्य-
 कृत अर्थशास्त्र (कौटिलीय अर्थशास्त्र ?) की दुर्बोधता और गुरुतासे खिन्न
 होकर ग्रन्थकर्त्ताको इस सुबोध, सुन्दर और लघु नीतिवाक्यामृतकी रचना
 करनेमें प्रवृत्त किया ।

कन्नौजके राजा महेन्द्रपालदेवका समय वि० संवत् ९६० से ९६४ तक
 निश्चित हुआ है । कर्पूरमंजरी और काव्य-मीमांसा आदिके कर्त्ता सुप्रसिद्ध कवि
 राजशेखर इन्हीं महेन्द्रपालदेवके उपाध्याय थे । परन्तु हम देखते हैं कि
 यशस्तिलक वि० संवत् १०१६ में समाप्त हुआ है और नीतिवाक्यामृत उससे
 भी पीछे बना है । क्योंकि नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिमें ग्रन्थकर्त्ताने अपनेको
 यशोधरमहाराजचरित या यशस्तिलक महाकाव्यका कर्त्ता प्रकट किया है और
 इससे प्रकट होता है कि उक्त प्रशस्ति लिखते समय वे यशस्तिलकको समाप्त कर
 चुके थे । ऐसी अवस्थामें महेन्द्रपालदेवसे कमसे कम ५०-५१ वर्ष बाद नीति-
 वाक्यामृतका रचना-काल ठहरता है । तब समझमें नहीं आता कि टीकाकारने
 सोमदेवको महेन्द्रपालदेवका समसामयिक कैसे ठहरा दिया । आश्चर्य नहीं जो
 उन्होंने किसी सुनाई किंवदन्तीके आधारसे पूर्वोक्त बात लिख दी हो ।

१ देखो नागरीप्रचारिणी पत्रिका (नवीन संस्करण), भाग २, अंक १ में स्वर्गीय
 पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरीका ' अवन्तिसुन्दरी ' शीर्षक नोट ।

नीतिवाक्यामृतके टीकाकारका समय अज्ञात है; परंतु यह निश्चित है कि वे मूल ग्रन्थकर्तासे बहुत पीछे हुए हैं, क्योंकि और तो क्या वे उनके नामसे भी अच्छी तरह परिचित नहीं हैं। यदि ऐसा न होता तो मंगलाचरणके श्लोककी टीकामें जो ऊपर उद्धृत हो चुकी है, वे ग्रन्थकर्ताका नाम 'मुनिचन्द्र' और उनके गुरुका नाम 'सोमदेव' न लिखते। इससे भी मालूम होता है कि उन्होंने ग्रन्थकर्ता और महेन्द्रदेवका समकालिकत्व किसी किंवदन्तीके आधारसे या यों ही लिख दिया है।

सोमदेवसूरिने यशस्तिलकमें एक जगह जो प्राचीन महाकवियोंकी नामावली दी है, उसमें सबसे अन्तिम नाम राजशेखरका है। इससे मालूम होता है कि राजशेखरका नाम सोमदेवके समयमें प्रसिद्ध हो चुका था, अतएव राजशेखर उनसे अधिक नहीं तो ५० वर्ष पहले अवश्य हुए होंगे और महेन्द्रदेवके वे उपाध्याय थे। इससे भी नीतिवाक्यामृतका उनके समयमें या उनके कहनेसे बनना कम संभव जान पड़ता है।

और यदि कान्यकुब्ज-नरेशके कहनेसे सचमुच ही नीतिवाक्यामृत बनाया गया होता, तो इस बातका उल्लेख ग्रन्थकर्ता अवश्य करते; बल्कि महाराजा महेन्द्र-पालदेव इसका उल्लेख करनेके लिए स्वयं उनसे आग्रह करते।

इसकी अपेक्षा तो यह अधिक संभव मालूम होता है कि नीतिवाक्यामृत चालुक्य अरिकेसरीके पुत्र बहिरगके लिए ही बनाया गया हो।

नीतिवाक्यामृतके टीकाकार

संस्कृतटीका—जिस एक प्रतिके आधारसे यह टीका मुद्रित हुई है, उसमें कहीं भी टीकाकारका नाम नहीं दिया है। परन्तु टीकाकारने ग्रन्थके आरंभमें जो मंगलाचरणका श्लोक लिखा है, उससे अनुमान होता है कि उनका नाम बहुत करके 'हरिबल' होगा।

हरि हरिबलं नत्वा हरिवर्णं हरिप्रभम् ।

हरीज्यं च ब्रुवे टीका नीतिवाक्यामृतोपरि ॥

१ " तथा उर्व-भारवि-भवभूति-भर्तृहरि-भर्तृमेष्ठ-गुणाढ्य-न्यास-भास-बोस-कालिदास-वाण-मयूर-नारायण-कुमार-माध-राजशेखरादिमहाकविकाव्येषु तत्र तत्रावसरे भरतप्रणीते कान्याध्याये सर्वजनप्रसिद्धेषु तेषु तेषूपख्यानेषु च कथं तद्विषया महती प्रसिद्धिः । "

—यशस्तिलक आ० ४, पृ० ११३

यह श्लोक मूल नीतिवाक्यामृतके निम्नलिखित मंगलाचरणका बिल्कुल अनुकरण है—

सोमं सोमसमाकारं सोमाभं सोमसंभवम् ।

सोमदेवं मुनिं नत्वा नीतिवाक्यामृतं ध्रुवे ॥

जब टीकाकारका मंगलाचरण मूलका अनुकरण है और मूलकारने अपने मंगलाचरणमें अपना नाम भी पर्यायान्तरसे व्यक्त किया है, तब बहुत संभव है कि टीकाकारने भी अपने मंगलाचरणमें अपना नाम व्यक्त करनेका प्रयत्न किया हो और ऐसा नाम उसमें 'हरिबल' ही हो सकता है जिसके आगे मूलके सोमदेवके समान 'नत्वा' पद पड़ा हुआ है। यह भी संभव है कि हरिबल टीकाकारके गुरुका नाम हो और यह इसलिए कि सोमदेवको उन्होंने मूल ग्रन्थकर्ताके गुरुका नाम समझा है। यद्यपि यह केवल अनुमान ही है, परन्तु यदि उनका या उनके गुरुका नाम हरिबल हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

टीकाकारने मंगलाचरणमें हरि या वासुदेवको नमस्कार किया है। इससे मालूम होता है कि वे वैष्णव थे।

वे कहाँके रहनेवाले थे और किस समयमें उन्होंने यह टीका लिखी है, इसके जाननेका कोई साधन नहीं है। परन्तु यह बात निःसंशय होकर कही जा सकती है कि वे बहुश्रुत विद्वान् थे और एक राजनीतिके ग्रन्थपर टीका लिखनेकी उनमें यथेष्ट योग्यता थी। इस विषयके उपलब्ध साहित्यका उनके पास काफी संग्रह था और टीकामें उसका पूरा पूरा उपयोग किया गया है। नीतिवाक्यामृतके अधिकांश वाक्योंकी टीकामें उस वाक्यसे मिलते जुलते अभिप्रायवाले उद्धरण देकर उन्होंने मूल अभिप्रायको स्पष्ट करनेका भरसक प्रयत्न किया है। विद्वान् पाठक समझ सकते हैं कि यह काम कितना कठिन है और इसके लिए उन्हें कितने ग्रन्थोंका अध्ययन करना पड़ा होगा; स्मरण-शक्ति भी उनकी कितनी प्रखर होगी।

यह टीका पचासों ग्रन्थकारोंके उद्धरणोंसे भरी हुई है। उसमें अनेक नाम बिल्कुल अपरिचित हैं और अनेक ऐसे हैं जिनके नाम तो प्रसिद्ध हैं; परन्तु रचनायें इस समय अनुपलब्ध हैं। इस दृष्टिसे यह टीका और भी बड़े महत्त्वकी है कि इससे राजनीति या सामान्यनीतिसम्बन्धी प्राचीन ग्रन्थकारोंकी रचनाके सम्बन्धमें अनेक नई नई बातें मालूम होंगी।

कनड़ी टीका—नीतिवाक्यामृतपर जैन विद्वानोंके भी टीका-ग्रन्थ होने चाहिए। पं० के० भुजबलि शास्त्रीने (जै० सि० भा० भाग २ अंक १) कनड़ीभाषाके कवि नेमिनाथकी एक कनड़ी टीकाका परिचय दिया है जो कारकलके जैन छात्रावासमें मौजूद है। नेमिनाथ किसी राजाके सान्धिविग्रहिक मंत्री थे और उन्होंने मेघचन्द्रत्रैविद्यदेव और वीरनन्दिका स्मरण किया है। ये मेघचन्द्र वही हैं जिन्हें आचारसारके कर्त्ता वीरनन्दिने अपना गुरु बतलाया है। श्रवण-बेलगोलके शिलालेख नं० ४७-५०-५२ के अनुसार मेघचन्द्रका स्वर्गवास शक १०३७ (वि० सं० ११७२) में हुआ था और वीरनन्दिने अपने आचारसारकी कनड़ी टीका शक १०७६ (वि० सं० १२११) में लिखी थी। नेमिनाथने नीतिवाक्यामृतकी यह टीका वीरनन्दिकी आज्ञासे लिखी थी। अतएव उनका समय विक्रमकी बारहवीं शताब्दिका अन्त या तेरहवीं शताब्दिका प्रारंभ मानना चाहिए। यह टीका संभवतः संस्कृतटीकाके ही आधारसे लिखी गई है।

संस्कृत टीकाकारपर आक्षेप

माणिकचन्द-ग्रन्थमालामें जो ' नीतिवाक्यामृत ' प्रकाशित हुआ है, उसके संशोधक पं० पन्नालालजी सोनीने अपनी टिप्पणियोंमें टीकाकारपर कुछ आक्षेप किये हैं,—

१—टीकाकारने जो मनु, शुक्र और याज्ञवल्क्यके श्लोक उद्धृत किये हैं, वे मनुस्मृति, शुक्रनीति और याज्ञवल्क्यस्मृतिमें नहीं हैं। यथा पृष्ठ १६५ की टिप्पणी—“ श्लोकोऽयं मनुस्मृतौ तु नास्ति । टीकाकर्त्ता स्वदौष्ट्येन ग्रन्थकर्तृपरामर्शमभिप्रायेण बहवः श्लोकाः स्वयं विरचय्य तत्र तत्र स्थलेषु विनिवेशिताः । ” अर्थात् यह श्लोक मनुस्मृतिमें तो नहीं है, टीकाकारने अपनी दुष्टतावश मूलकर्त्ताको नीचा दिखानेके अभिप्रायसे स्वयं ही बहुतसे श्लोक बनाकर जगह जगह घुसेड़ दिये हैं।

२—इस टीकाकारने—जो कि निश्चयपूर्वक अजैन है—बहुतसे सूत्र अपने मतके अनुसार स्वयं बनाकर जोड़ दिये हैं। यथा पृष्ठ ४९ की टिप्पणी—“ अस्य ग्रन्थस्य कर्त्ता कश्चिदजैनविद्वानस्तीति निश्चितं । अतस्तेन स्वमतानुसारेण बहूनि सूत्राणि विरचय्य संयोजितानि । तानि च तत्र तत्र निवेदयिष्यामः । ”

पहले आक्षेपके सम्बन्धमें हमारा निवेदन है कि सोनीजी वैदिक साहित्य और उसके इतिहाससे सर्वथा अनाभिज्ञ हैं; फिर भी उनके साहसकी प्रशंसा करनी चाहिए कि उन्होंने मनु या शुक्रके नामके किसी ग्रन्थके किसी एक संस्करणको देखकर ही अपनी अद्भुत राय दे डाली ।

सोनीजीने सारी टीकामें मनुके नामके पाँच श्लोकोंपर, याज्ञवल्क्यके एक श्लोकपर, और शुक्रके दो श्लोकोंपर अपने नोट दिये हैं कि ये श्लोक उक्त आचार्योंके ग्रन्थोंमें नहीं हैं । सचमुच ही उपलब्ध मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति और शुक्रनीतिमें उद्धृत श्लोकोंका पता नहीं चलता । परन्तु जैसा कि सोनीजी समझते हैं, इसका कारण टीकाकारकी दुष्टता या मूलकर्ताको नीचा दिखानेकी प्रवृत्ति नहीं है ।

बात यह है कि हिन्दू धर्म-शास्त्रोंमें समय समय पर बहुत कुछ परिवर्तन होते रहे हैं । अपने निर्माण-समयमें वे जिस रूपमें थे, इस समय उस रूपमें नहीं मिलते । उनके संक्षिप्त संस्करण भी हुए हैं और प्राचीन ग्रन्थोंके नष्ट हो जानेसे वे फिर संग्रहीत किये गये हैं । इसके सिवाय एक स्थानकी प्रतिके पाठोंसे दूसरे स्थानोंकी प्रतियोंके पाठ नहीं मिलते । इस विषयमें प्राचीन साहित्यके खोजियोंने बहुत कुछ छान-बीन की है और इस विषयपर बहुत कुछ प्रकाश डाला है । कौटिलीय अर्थशास्त्रकी भूमिकामें उसके सुप्रसिद्ध सम्पादक पं० आर० शामशास्त्री लिखते हैं—

“अतश्च चाणक्यकालिकं धर्मशास्त्रमधुनातनाद्याज्ञवल्क्यधर्मशास्त्रदन्यदेवासीदिति प्रतिभाति । एवमेव ये पुनर्मानव-बाह्यस्पत्यौशनसा भिन्नाभिप्रायास्तत्र तत्र कौटिल्येन परामृष्टाः न तेऽधुनोपलभ्यमानेषु ततद्धर्मशास्त्रेषु दृश्यन्त इति कौटिल्यपरामृष्टानि तानि शास्त्राण्यन्यान्येवेति बाढं सुवचम् ।”

अर्थात् इससे मालूम होता है कि चाणक्यके समयका याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र वर्तमान याज्ञवल्क्य शास्त्र (स्मृति) से कोई जुदा ही था । इसी तरह कौटिल्यने अपने अर्थशास्त्रमें जगह जगह बाह्यस्पत्य, औशनस आदिसे जो अपने भिन्न अभिप्राय प्रकट किये हैं वे अभिप्राय इस समय मिलनेवाले उन धर्मशास्त्रोंमें नहीं दिखलाई देते । अतएव यह अच्छी तरह सिद्ध होता है कि कौटिल्यने जिन शास्त्रोंका उल्लेख किया है, वे इनके सिवाय दूसरे ही थे ।

स्वर्गीय बाबू रमेशचन्द्र दत्तने अपने ‘ प्राचीन सम्यताके इतिहास ’ में लिखा

है कि प्राचीन धर्म-सूत्रोंको सुधार कर उत्तरकालमें स्मृतियाँ बनाई गई हैं—जैसे कि मनु और याज्ञवल्क्यकी स्मृतियाँ। जो धर्मसूत्र खोये गये हैं उनमें एक मनुका सूत्र भी है जिससे कि पीछेके समयमें मनुस्मृति बनाई गई है।

याज्ञवल्क्य स्मृतिके सुप्रसिद्ध टीकाकार विश्वनाथ लिखते हैं, 'याज्ञवल्क्य-शिष्यः कश्चन प्रश्नोत्तररूपं याज्ञवल्क्यप्रणीतं धर्मशास्त्रं संक्षिप्य कथयामास, यथा मनुप्रोक्तं भृगुः।' अर्थात् याज्ञवल्क्यके किसी शिष्यने याज्ञवल्क्यप्रणीत धर्म-शास्त्रको संक्षिप्त करके कहा, जिस तरह कि भृगुने मनुप्रणीत धर्मशास्त्रको संक्षिप्त करके मनुस्मृति लिखी है। इससे मालूम होता है कि उक्त दोनों स्मृतियाँ, मनु और याज्ञवल्क्यके प्राचीन शास्त्रोंके उनके शिष्यों या परम्पराशिष्यों द्वारा निर्मित किये हुए सार हैं और इस बातको तो सभी जानते हैं कि उपलब्ध मनुस्मृति भृगुप्रणीत हैं—स्वयं मनुप्रणीत नहीं।

बम्बईके गुजराती प्रेसके मालिकोंने कुल्लूकभट्टकी टीकाके सहित मनुस्मृतिका एक सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया है। उसके परिशिष्टमें ३५५ श्लोक ऐसे हैं जो वर्तमान मनुस्मृतिमें तो नहीं मिलते हैं; परन्तु हेमाद्रि, मिताक्षरा, पराशर-माधवीय, स्मृतिरत्नाकर, निर्णयसिन्धु आदि ग्रन्थोंमें मनु, वृद्ध मनु और बृहन्मनुके नामसे 'उक्तं च' रूपमें उद्धृत किये हैं। इसके सिवाय सैकड़ों श्लोक क्षेपक-रूपमें भी दिये हैं, जिनकी कल्लूक भट्टने भी टीका नहीं की है।

हमारे जैनग्रन्थोंमें भी मनुके नामसे अनेक श्लोक उद्धृत किये गये हैं जो इस मनुस्मृतिमें नहीं हैं। उदाहरणार्थ पं० टोडरमल्लजीने अपने मोक्षमार्गप्रकाशके पाँचवें अधिकारमें मनुस्मृतिके तीन श्लोक दिये हैं, जो वर्तमान मनुस्मृतिमें नहीं हैं। इसी तरह 'द्विजवदनचपेट' नामक दिगम्बर जैनग्रन्थमें भी मनुके नामसे ७ श्लोक उद्धृत हैं जिनमेंसे वर्तमान मनुस्मृतिमें केवल २ मिलते हैं, शेष ५ नहीं।

१ रमेशबाबूने अपने इतिहासके चौथे भागमें इस समय मिलनेवाली पृथक् पृथक् बीसों स्मृतियोंपर अपने विचार प्रकट किये हैं और बतलाया है कि अधिकांश स्मृतियाँ बहुत पीछेकी बनी हुई हैं और बहुतोंमें—जो प्राचीन भी हैं—बहुत पीछे तक नई नई बातें शामिल की जाती रही हैं।

२ देखो मोक्षमार्गप्रकाशका बम्बईका संस्करण, पृष्ठ २०१।

३ 'द्विजवदनचपेट' संस्कृत ग्रन्थ है। कोल्हापुरके श्रीयुक्त पं० कछाप्या भरमाप्या नित्येने 'जैनबोधक' में और स्वतंत्र पुस्तकाकार भी, अबसे बहुत पहले, मराठी टीकासहित प्रकाशित किया था।

शुक्रनीति जो इस समय मिलती है उसके विषयमें तो विद्वानोंकी यह राय है कि वह बहुत पीछेकी बनी हुई है—पाँच छः सौ वर्षसे पहलेकी तो वह किसी तरह हो ही नहीं सकती। शुक्रका प्राचीन ग्रन्थ इससे कोई पृथक् ही ग्रन्थ था^१। कौटिलीय अर्थशास्त्रमें लिखा है कि शुक्रके मतसे दण्डनीति एक ही राजविद्या है, इसीमें सब विद्यायें गर्भित हैं; परन्तु वर्तमान शुक्रनीतिका कर्त्ता चारों विद्याओंको राजविद्या मानता है—‘विद्याश्चतस्र एवेताः’ आदि (अ० १ श्लो० ५१)। अतएव इस शुक्रनीतिको शुक्रकी मानना भ्रम है।

इन सब बातोंपर विचार करनेसे हम टीकाकारपर यह दोष नहीं लगा सकते कि उसने स्वयं ही श्लोक गढ़कर मनु आदिके नामपर मढ़ दिये हैं। हम यह नहीं कहते कि वर्तमान मनुस्मृति उक्त टीकाकारके बादकी है, इस लिए उस समय यह उपलब्ध न होगी। क्योंकि टीकाकारसे भी पहले मूलकर्त्ता श्रीसोमदेवसूरिने भी मनुके बीसों श्लोक उद्धृत किये हैं और वे वर्तमान मनुस्मृतिमें मिलते हैं; अतएव टीकाकारके समयमें भी यह मनुस्मृति अवश्य होगी; परन्तु इसकी जो प्रति उन्हें उपलब्ध होगी, उसमें टीकोद्धृत श्लोकोंका रहना असंभव नहीं माना जा सकता। यह भी संभव है कि किसी दूसरे ग्रन्थकर्त्ताने इन श्लोकोंको मनुके नामसे उद्धृत किया हो और उस ग्रन्थके आधारसे टीकाकारने भी उद्धृत कर लिया हो। जैसे कि अभी मोक्षमार्गप्रकाशके या द्विजवदनचपेटके आधारसे उनमें उद्धृत किये हुए मनुस्मृतिके श्लोकोंको कोई नया लेखक अपने ग्रन्थमें भी लिख दे।

याज्ञवल्क्यस्मृतिके श्लोकके विषयमें भी यही बात कही जा सकती है। अब रही शुक्रनीति, सो उसकी प्राचीनतामें तो बहुत ही संदेह है। वह तो इस टीकाकारसे भी पीछेकी रचना जान पड़ती है। इसके सिवाय शुक्रके नामसे तो टीकाकारने दो चार नहीं १७० के लगभग श्लोक उद्धृत किये हैं। तो क्या टीकाकारने वे सबके सब ही मूलकर्त्ताको नीचा दिखानेकी गरजसे गढ़ लिये होंगे? और मूलकर्त्ता तो इसमें अपनी कोई तौहीन ही नहीं समझते हैं। उन्होंने तो अपने यशस्तिलकमें न जाने कितने विद्वानोंके वाक्य और पद्य जगह जगह उद्धृत करके अपने विषयका प्रतिपादन किया है।

दूसरा आक्षेप यह है कि टीकाकारने स्वयं ही बहुतसे सूत्र (वाक्य) गढ़कर

१ देखो गुजराती शुक्रनीतिकी भूमिका।

मूलमें शामिल कर दिये हैं । विद्यावृद्धसमुद्देशके, नीचे लिखे २१ वें, २३ वें और २५ वें सूत्रोंको आप टीकाकर्त्ताका बतलाते हैं—

१—“वैवाहिकः शालीनो ज्ञायावरोऽघोरो गृहस्थाः ॥” २१

२—बालाखिल्य औदुम्बरी वैश्वानराः सद्यःप्रक्षल्यकश्चेति वानप्रस्थाः ॥ २३

३—“कुटीरकबह्मोदकहंस-परमहंसा यतयः” ॥ २५

इसका कारण आपने बतलाया है कि मुद्रित पुस्तकमें और हस्तलिखित मूल-पुस्तकमें ये सूत्र नहीं हैं । परन्तु—

१—जब तक दश पाँच हस्तलिखित प्रतियाँ प्रमाणमें पेश न की जा सकें, तब तक यह नहीं माना जा सकता कि मुद्रित और मूलपुस्तकमें जो पाठ नहीं है वे मूलकर्त्ताके नहीं है—ऊपरसे जोड़ दिये गये हैं । इस तरहके हीन अधिक पाठ जुदी जुदी प्रतियोंमें अकसर मिलते हैं ।

२—मूलकर्त्ताने पहले वर्णोंके भेद बतलाकर फिर आश्रमोंके भेद बतलाये हैं—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति । फिर ब्रह्मचारियोंके उपकुर्वाण, नैष्ठिक, और ऋतुप्रद ये तीन भेद बतलाकर उनके लक्षण दिये हैं । इसके आगे गृहस्थ, वानप्रस्थ और यतियोंके लक्षण क्रमसे दिये हैं; तब यह स्वाभाविक और क्रम-प्राप्त है कि ब्रह्मचारियोंके समान गृहस्थों, वानप्रस्थों और यतियोंके भी भेद बतलाये जायँ और वे ही उक्त तीन सूत्रोंमें बतलाये गये हैं । तब यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि प्रकरणके अनुसार उक्त तीनों सूत्र अवश्य रहने चाहिए और मूलकर्त्ताने ही उन्हें रचा होगा । जिन प्रतियोंमें उक्त सूत्र नहीं हैं; उनमें उन्हें भूलसे ही छूटे हुए समझना चाहिए ।

३—यदि इस कारणसे ये मूलकर्त्ताके नहीं है कि इनमें बतलाये हुए भेद जैनमतसम्मत नहीं हैं, तो उपकुर्वाण, ऋतुप्रद आदि ब्रह्मचारियोंके भेद भी किसी जैनग्रन्थमें नहीं लिखे हैं, तब उनके सम्बन्धके जितने सूत्र हैं, उन्हें भी मूलकर्त्ताके नहीं मानने चाहिए । यदि सूत्रोंके मूलकर्त्ताकृत होनेकी यही कसौटी ठहरा दी जाय, तब तो इस ग्रन्थका आधेसे भी अधिक भाग टीकाकारकृत ठहर जायगा । क्योंकि इसमें सैकड़ों ही सूत्र ऐसे हैं जिनका जैनधर्मके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है और कोई भी विद्वान् उन्हें जैनसम्मत सिद्ध नहीं कर सकता ।

४—जिस तरह टीका-पुस्तकमें अनेक सूत्र अधिक हैं और जिन्हें सोनीजी टीकाकर्ताकी गढ़न्त समझते हैं, उसी प्रकार मुद्रित और मूलपुस्तकमें भी कुछ सूत्र अधिक हैं (जो टीकापुस्तकमें नहीं हैं), तब उन्हें किसकी गढ़न्त समझनी चाहिए ? विद्यावृद्धसमुद्देशके ५९ वे सूत्रके आगे निम्नलिखित पाठ छूटा हुआ है जो मुद्रित और मूलपुस्तकमें मौजूद है:—

“ सांख्यं योगो लोकायतं चान्वीक्षिकी । बौद्धार्हतोः श्रुतेः प्रतिपक्षत्वात् (नान्वी-
क्षिकीत्वं), प्रकृतिपुरुषज्ञो हि राजा सत्त्वमवलम्बते । रजः फलं चाफलं च परि-
हरति, तमोभिर्नाभिभूयते । ”

मला इन सूत्रोंको टीकाकारने क्यों छोड़ दिया ? इसमें कही हुई बातें तो उसके प्रतिकूल नहीं थीं ? और मुद्रित तथा मूलपुस्तक दोनों ही यदि जैनोंके लिए विशेष प्रामाणिक मानी जावें तो उनमें यह अधिक पाठ नहीं होना चाहिए था । क्योंकि इसमें वेदविरोधी होनेके कारण जैन और बौद्धदर्शनको आन्वी-
क्षिकीसे बाहर कर दिया है और मुद्रित पुस्तकमें तो मूलकर्ताके मंगलाचरण तकका अभाव है । वास्तविक बात यह है कि न इसमें टीकाकारका दोष है और न मुद्रित करनेवालेका । जिसे जैसी प्रति मिली है उसने उसीके अनुसार टीका लिखी है और पाठ छपाया है । एक प्रतिसे दूसरी और दूसरीसे तीसरी इस तरह प्रतियाँ होते होते लेखकोंके प्रमादसे अकसर पाठ छूट जाते हैं और टिप्पण आदि मूलमें शामिल हो जाते हैं ।

परिशिष्ट

अभी हाल ही परमणीके श्री शं० ना० जोशीको एक ताम्रपट प्राप्त हुआ है, जो भारत-इतिहास-संशोधन मंडल पूनेके त्रैमासिक पत्र (भाग १३ अंक ३) में प्रकाशित हुआ है । इससे कुछ नई बातें मालूम हुई हैं, जो यहाँ प्रकट की जाती हैं ।

ताम्रपत्रकी प्रतिलिपि भी इस लेखके साथ प्रकाशित की जाती है । इसकी लिपि कनड़ी और भाषा संस्कृत है । पूरा लेख ५१ पंक्तियोंमें तौबिके तीन पत्रोंपर खुदा हुआ है जो एक मोटे तारमें नथी है । इसका सारांश यह है—

पहले मंगलाचरणके पद्यमें कहा गया है कि संसारमें उस जैनशासनकी जय हो

१ यह पत्र मराठीमें निकलता है ।

जिसने धर्म-चक्रके आरोंसे पापोंको विदलित कर दिया है, जो त्रिजगत्के अधीश्वरों-द्वारा बंदनीय है, मंगलोंका मन्दिर है और अत्यन्त मनोज्ञ पंचकल्याणरूपी लक्ष्मीको धारण करता है । आगे कहा है कि सूर्यवंशसे उत्पन्न हुए प्रसिद्ध चालुक्य (सोलंकी) वंशमें युद्धमल्ल नामका एक राजा हुआ, जो सपाद-लक्ष (सवाल्ल) प्रदेशका स्वामी था, और जिसने तैलसे भरी हुई वापीमें मत्त हाथियोंको स्नान करानेका उत्सव किया । उसका पुत्र अरिकेसरी हुआ, कलिंग-युद्ध सहित वेंगी^३ प्रदेशकी रक्षा की । (४) अरिकेसरीके चन्द्र-सूर्यके समान नरसिंह और भद्रदेव नामके दो पुत्र हुए । (५) इनमेंसे नरसिंहके युद्धमल्ल नामका पुत्र हुआ और उसके बन्दीजनों (भाटों) के लिए चिन्तामणिके तुल्य बहिग हुआ । (६) इसने अत्यन्त पराक्रमशाली भीम नामक राजाको जल-युद्धमें अनायास ही पकड़ लिया । (७) बहिगके युद्धमल्ल हुआ, जो अत्यन्त उदार, पराक्रमी, कीर्ति-शाली और प्रतापी था । (८) इसके नरसिंहराज और नरसिंहराजके अरिकेसरी नामक पुत्र हुआ । (९-११) सुप्रसिद्ध राष्ट्रकूट कुलकी कन्या लोकांबिका इसकी पत्नी हुई । (१२) इन दोनोंसे शिव-पार्वतीसे कार्तिकेयके समान भद्रदेव नामक पुत्र हुआ । (१३) और उससे अरिकेसरी नामक तेजस्वी राजा हुआ । (१४) श्रीगौडसंघमें यशोदेव नामक आचार्य हुए जो मुनिमान्य थे और जिनका उग्र तपके प्रभावसे शासन-देवतासे समागम हुआ । (१५) उन महान् ऋद्धिके धारक महानुभावके शिष्य नेमिदेव हुए, जो स्याद्वाद समुद्रके उस पार तक देखने-वाले और परवादियोंके दर्परूपी वृक्षोंके छेदनेके लिए कुठार थे । (१६) जिस तरह खानमेंसे अनेक रत्न निकलते हैं, उसी तरह उन तपोलक्ष्मीपातिके बहुतसे शिष्य हुए । (१७) उनमें सैकड़ोंसे छोटे श्री सोमदेव पंडित हुए, जो तप, शास्त्र और यशके स्थान थे ।

१ महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकरजी ओझाने अपने 'सोलंकियोंका इतिहास'में चौलुक्य नरेशोंको चन्द्रवंशी लिखा है और इसके लिए अनेक शिलालेखोंके प्रमाण दिये हैं । केवल इसी लेखमें सूर्यवंशी लिखा है ।

२ त्रिकलिंग अर्थात् तैलंगन या तिलंगाना ।

३ वेंगी राज्यकी सीमा उत्तरमें गोदावरी नदी, दक्षिणमें कृष्णा नदी, पूर्वमें समुद्रतट और पश्चिममें पश्चिमी घाट थी । इसकी राजधानी वेंगी नगर थी, जो इस समय पेड्डु वेंगी (गोदावरी जिला) नामसे प्रसिद्ध है ।

ये भगवान् सोमदेव समस्त विद्याओंके दर्पण, यशोधरचरितके (यशस्तिलक चम्पूके) रचयिता, स्याद्वादोपनिषत्के कर्त्ता, और दूसरे भी सुभाषितोंके निर्माता हैं। तमाम महासामन्तोंके मस्तकोंकी पुष्पमालाओंसे जिनके चरण सुगन्धित हैं; जिनका यशःकमल समस्त विद्वज्जनोंके कानोंका आभूषण है और तमाम राजाओंके मस्तक जिनके चरण-कमलोंसे शोभायमान् होते हैं।

स्वस्ति । श्रीपृथिवीवल्लभ महाराजाधिराज परमेश्वर परमभट्टारक श्रीमत् अमोघवर्षदेवके चरणोंका ध्यान करनेवाले अकालवर्ष श्रीकृष्णराजदेवके सेवक (पादपद्मोपजीवी) महासामन्ताधिपति चालुक्यवंशोद्भव और गन्धवारण, गन्धेम, विद्याधर, प्रियगल्ल, त्रिभुवनमल्ल, उदात्तनारायण, प्रत्यक्षवादल्लि, विक्रमार्जुन, गुणनिधि, गुणार्णव, सामन्तचूडामणि आदि अनेक विरूदावलियोंसे शोभित उस अरिकेसरीने अपनी लेंबुलपौटक नामक राजधानीके अपने पिता श्रीमत् बद्यारके 'शुभधामजिनालय' नामक मन्दिर (बसति) की मरम्मत (खण्डस्फुटित), चूनेकी कलई करने (नवसुधाकर्म), और पूजोपहार चढ़ानेके लिए (बलिनिवेद्यार्थ) शकके ८८८ वर्ष बीत जाने और क्षय संवत्सरके शुरु होनेपर वैशाख पूर्णिमा, बुधवारके दिन पूर्वोक्त श्री सोमदेवसूरिको सब्बिदेश सहस्रान्तर्गत रेपाक द्वादशोंमेंका बनिकटुपुल्ल नामका गाँव त्रिमोगाम्बन्तरासिद्धि और सर्वनमस्य सहित जलधारा छोड़कर दिया। उसके पूर्वमें दरियूरु, दक्षिणमें इलिन्दिकुट, पश्चिममें वेल्लालपट्टु और उत्तरमें कट्टाकूर, इस प्रकार चार

१ राष्ट्रकूटनरेश जगत्तुंगके दूसरे पुत्र अमोघवर्ष तृतीय ।

२ अमोघवर्ष तृतीयके पुत्र । इन्हींके समयमें यशस्तिलक चम्पूकी रचना हुई थी ।

३ निजाम स्टेटके करीम नगर जिलेका 'बेमुलवाडा' नामका गाँव ।

४ श्रीयुत जी० एच० खरे महाशयने गणना करके देखा तो मालूम हुआ कि वैशाख पूर्णिमाको बुधवार नहीं आता है। अप्रैल सन् १९६६ को यह दिन पड़ता है। ताम्रपटके लिखनेवालेकी भूल जान पड़ती है।

५ श्रीयुत खरे महाशयने हैद्राबादके इंजीनियर श्रीयुत गाडगीलकी सहायतासे सब्बि और दरियूरुके सिवाय अन्य सब गाँवोंके वर्तमान नामोंका पता लगा लिया है। ये सब करीमनगर जिलेमें हैं। इनके नाम क्रमसे इस प्रकार हैं—रेपाक, वोंडुडपुल्ल (बनिकटुपुल्ल), इलिन्दिकुट (इलिन्दिकुट), वल्लम् पुटला (वल्लालपट्टु), कुट्टाकूर (कट्टाकूर)

सीमाओंसे युक्त उक्त गाँव है। आगे १९-२०-२१-२२ नंबरके श्लोक प्रायः सभी दानपत्रोंमें पाये जाते हैं, इसलिए उनका अर्थ लिखनेकी आवश्यकता नहीं मालूम होती। २३ वें श्लोकमें लिखा है कि यह 'शुभधाम जिनालय' का शासन (दान) राजा अरिकेसरीने दिया, कवि पेहण भट्टने कहा (रचा) और रेव नामक शिल्पीने उत्कीर्ण किया (खोदा)।

१—इस दानपत्रमें दी हुई राष्ट्रकूटनरेश श्रीकृष्णराजदेवके महासामन्त चालुक्यवंशी अरिकेसरीकी पूर्व-परम्परा महाकवि पम्पके 'विक्रमार्जुनविजय' (पम्प भारत) से मिलती है।

२—यशस्तिलकमें अरिकेसरीके प्रथम पुत्रका नाम 'वागराज' मुद्रित हुआ है। हमने अनुमान किया था कि उसकी जगह बहिंग होना चाहिए, वह इस लेखसे ठीक सिद्ध हो गया।

३—यशस्तिलककी रचना शक संवत् ८८१ में हुई थी और उस समय अरिकेसरीका प्रथम पुत्र बहिंग राज्य करता था। यह दानपत्र उससे ७ वर्ष बाद बहिंगके पुत्र अरिकेसरीके समयमें उत्कीर्ण हुआ है।

४—जिस बहिंगके समयमें यशस्तिलककी रचना हुई है, वह जैनधर्मका उपासक होगा, क्योंकि उसके बनवाये हुए 'शुभधाम जिनालय' नामक मंदिरके लिए उसके पुत्र अरिकेसरीने यह दान किया था।

५—श्रीसोमदेवसूरिके नीतिवाक्यामृत और यशस्तिलक चम्पू इन दो उपलब्ध ग्रन्थोंके सिवाय युक्तिचिन्तामणि, त्रिवर्गमहेन्द्रमातलिसंजल्प और षण्णवति प्रकरण इन तीन ग्रन्थोंका उल्लेख मिलता था। परन्तु इस दानपत्रसे स्याद्वादोपनिषत्का और भी पता चलता है जो कि नीतिवाक्यामृतके बादकी रचना होगी। इनके सिवाय उनके अन्य भी कुछ सुभाषित थे।

६—यशस्तिलककी प्रशस्तिके अनुसार ये देवसंघ-तिलक या देवसंघके आचार्य

१ महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकरजी ओझाने अपने 'सोलंक्रियोंका इतिहास' में नेरूर गाँवसे मिले हुए एक ताम्रपत्रका उल्लेख किया है, जो शक संवत् ६२२ (वि० सं० ७५७) का है और जिसके अनुसार महाराजाधिराज विजयादित्यने पूज्यपादके शिष्य उदयदेवको 'शंखजिनेन्द्र' नामक जैनमन्दिरके निमित्त कदम नामका गाँव दान किया था। अर्थात् सोमदेवसूरिसे लगभग ढाई सौ वर्ष पहले भी मुनि दान लिया करते थे।

पूज्यपाद का मन्त्र लि. सं. ५२६ ६०११७

सोमदेवसूरिका नीतिवाक्यामृत

थे, परन्तु इस दान-पत्रसे स्पष्ट होता है कि गौडसंघके थे और यह संघ अभी तक बिलकुल ही अश्रुतपूर्व है। जिस तरह आदिपुराणके कर्ता जिनसेनका सेनसंघ या सेनान्वय पंचस्तूपान्वय भी कहलाता था, शायद उसी तरह सोमदेवका देवसंघ भी गौडसंघ कहलाता हो। सम्भव है, यह नाम देशके कारण पड़ा हो। जैसे द्रविड़ देशका द्राविड़संघ, पुन्नाट देशका पुन्नाटसंघ, मथुराका माथुरसंघ, उसी प्रकार गौड देशका यह गौडसंघ होगा। गौड बंगालका पुराना नाम है, उस गौडसे तो शायद इस संघका कोई सम्बन्ध न हो; परन्तु दक्षिणमें ही कोई गोल, गोल्ड, या गौड देश रहा है जिसका उल्लेख श्रवणबेलगोलके अनेक लेखोंमें (१२४, १३०, १३८, ४९१) मिलता है। गोल्डाचार्य नामके एक आचार्य भी हुए हैं जो वीरनन्दिके शिष्य थे और पहले गोल्ड देशके राजा थे। रल-डमें भेद नहीं होता है, इसलिए गोल और गोडको एक माननेमें कोई प्रत्यवाय नहीं है।

७—यह दानपत्र शक संवत् ८८८ (विक्रम संवत् १०२३) का अर्थात् विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दिके प्रथम पादका है; फिर भी उस समय दिगम्बर सम्प्रदायके मुनियोंमें चैत्यवासका प्रचार हो गया था, अर्थात् वे वनोंमें न रहकर मन्दिरोंमें रहते थे और मन्दिरोंके लिए स्वयं उनके नामसे गाँव दान किये जाते थे। यह संभव है कि वे नग्न रहते हों; परन्तु यशस्तिलकके शब्दोंमें वे पूर्व मुनियोंकी छायामात्र ही थे। पिछले समयके महन्तों या भट्टारकोंका उन्हें पूर्वज समझना चाहिए। मूलाचार आदिमें वर्णित मुनियोंके चरित्रसे उनकी तुलना नहीं हो सकती। स्वयं सोमदेवसूरि कहते हैं कि “ एको मुनिर्मेवेल्लभ्यो न लभ्यो वा यथागमम् ” अर्थात् आगमोक्त मुनि तो एकाध मिले भी और न भी मिले। उनके समयमें तो “ एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः ” यही आश्चर्य था कि अब भी दिगम्बर-रूपके धारण करनेवाले मनुष्य हैं।

८—इस समय निजाम राज्यमें जो मलखेड नामका छोटा-सा गाँव है वह उस समय राष्ट्रकूट-नेरेशोंकी राजधानी मान्यखेट थी, और इस समय ‘मेल्पाडि’ नामका जो गाँव उत्तर अर्काट जिल्लेके वाँदिवाश तालुकेमें है, वह मेल्पाटी मालूम होता है। एपिग्राफिआ इंडिकाकी जिल्द ४ पृष्ठ २७८ में जो कन्हाड-ताम्रपत्र प्रकाशित हुए हैं, वे फागुन वदी १३ शकसंवत् ८८० के हैं। उस समय राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज (तृतीय) का मुकाम मेल्पाटीमें था और उक्त

मुकामपर ही उसने ताम्रपत्रोक्त दान किया था। यशस्तिलकमें सोमदेवसूरि भी चैत्र सुदी १३ शक संवत् ८८१ को कृष्णराजका मेल्पाटीमें मुकाम बतलाते हैं और इससे बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि मेल्पाटीमें राष्ट्रकूट-नरेश कृष्णका कुछ समय तक सेनासन्निवेश रहा था।

आगे दानपत्रकी प्रतिलिपि दी जाती है—

ओं

जयति जगति जैनं शासनं धर्मचक्रकचविदालितैश्चक्रवालं नमस्यम् ।

त्रिजगदधिपवंद्यं मन्दिरं मंगलानां दधदधिकमनोज्ञं पंचकल्याणलक्ष्मीम् ॥ १ ॥

अस्त्यादित्यभवो वंशश्चालुक्य इति विश्रुतः । तत्राभूद्युद्धमह्लाख्यः नृपतिर्विक्रमार्णवः ॥ २ ॥

सपादलक्षभूमर्त्ता तैलवाप्यां सपोदने । अवगाहोत्सवं चक्रे शक्रश्रीर्मददन्तिनाम् ॥ ३ ॥

सकलिंगत्रयां वैगिं योऽवतिस्म पराक्रमात् । पुत्रो जयभ्रियःपात्रं तस्यासीदरिकेसरी ॥ ४ ॥

नरसिंहो भद्रदेवस्तेजः कान्तिनिधी स्वयं । तस्याभूतां सुतो साक्षात्सूर्यचन्द्रमसाविव ॥ ५ ॥

तत्राभून्नरसिंहस्य युद्धमह्लस्तनूभवः । वन्दिचिन्तामणिस्तस्य बह्विगोऽजनि नन्दनः ॥ ६ ॥

नानादुर्द्धरियुद्धलब्धविजयश्रीसंगमाकर्णनाद्

भीमः पाण्डव एष इत्यसुहृदो यस्मात्परः बिभ्यति ।

भीमं भीमपराक्रमैकनिलयन्तं हेलयैवाग्रहीद्-

उग्रं ग्राहमिवान्तरंखुसमेरे दोर्विक्रमाद् बह्विगः ॥ ७ ॥

औदार्य्यनिर्जितसुरदुमकामधेनोर्दोर्विक्रमक्रमतिरस्कृतकार्त्तवीर्यात् ।

तस्मादजायत सुतः कमनीयकीर्तिः श्रीयुद्धमह्लनृपतिः प्रथितः प्रतापः ॥ ८ ॥

कुर्व्वन्निवात्र निजनाम यथार्थ्यमुच्चैराविर्भवद्भुजपराक्रमडंबरेण ।

शातासि तीव्रनखराग्रविदारिताखिस्थलोजनिततो नरसिंहराजः ॥ ९ ॥

माद्यदुर्द्धरवैरिवारणशिरः कुट्टाकदोःशालिनः

सिंहस्येव स केसरीह नरसिंहस्य स्फुरद्विक्रमः ।

तस्यासीदरिकेसरीति तनयो (यः) शून्यं कृतं शैशवं

येनोद्याक्षितिभृत्प्रधानकटकक्रान्तिकृमाक्रीडया ॥ १० ॥

आर्य्यच्छत्रयुगं हिमांशुविशदं हैमारविन्दोकिंतं

मायूरातपवारणं च ककुदं यद्यौवराज्यभ्रियः ।

अग्रे धावति यस्य सम्प्रति स किं वण्ण्येत वीराग्रणी-

द्वावीरोरुपराक्रमो गुणमणिः सामन्तचूडामणिः ॥ ११ ॥

राष्ट्रकूटकुले ख्याते जाता लोकांबिका सती ।

वीरश्रीरिव वीरस्य तस्यासीत्सुदती प्रिया ॥ १२ ॥

भद्रदेव इति नन्दनस्तयोः शक्तिमान्सविनयस्सदक्षिणः ।

शैलराजतनयात्रिनेत्रयोः कार्तिकेय इव कीर्तिमानभूत् ॥ १३ ॥

तस्मादजनि तेजस्वी राजा नाम्नारिकेसरी ।

आनन्दचन्द्रवच्चक्रे कान्त्या कुवलयस्य यः ॥ १४ ॥

श्रीगौडसंधे मुनिमान्यकीर्तिर्नाम्ना यशोदेव इति प्रजज्ञे ।

बभूव यस्योग्रतपः प्रभावात्समागमः शासनदेवताभिः ॥ १५ ॥

शिष्यो भवत्तस्य महर्द्धिभाजः स्याद्वादरत्नाकरपादृश्वा ।

श्रीनेमिदेवः परवादिदर्पद्रुमावलीच्छेदकुठारनेमिः ॥ १६ ॥

तस्मात्तपःश्रियो भर्त्ता (चुं) ह्यो (लें) कानां हृदयंगमाः ।

बभूवुर्बहवः शिष्या रत्नानीव तदाकरात् ॥ १७ ॥

तेषां शतस्यावरजः शतस्य तयाभवत्पूर्वज एव धीमान् ।

श्रीसोमदेवस्तपसः श्रुतस्य स्थानं यशोधाम गुणोज्जितश्रीः ॥ १८ ॥

अपि च यो भगवानादर्शस्समस्त-विद्यानां विरचयिता यशोधरचरितस्य कर्त्ता
 स्याद्वादोपनिषदः कवि(वयि)ता चान्येषामपि सुभाषितानामखिलमहासाम(न्तसी)-
 मन्तप्रान्तपर्यस्तोत्तंसखसुरभिचरणस्सकलविद्वज्जनकणावतंसीभवद्यशःपुण्डरीकः
 सूर्य इव सकलावनिभृतां शिरःश्रोणिषु शिखण्डमण्डनायमानपादपद्मभूत् ।

स्वस्त्यकालवर्षदेवश्रीपृथिवीवल्लभमहाराजाधिराजपरमेश्वरपरमभट्टारकश्रीमदमोघव-
 र्षदेवपादानुध्यातप्रवर्द्धमानविजयराज्यश्रीकृष्णराजदेवपादपद्मोपजीविना ॥ स्वस्ति
 समधिगतपंचमहाशब्दमहासामन्ताधिपतिसमस्तभुवनसंस्तूयमानचालुक्यवंशोद्भवपाम्ब-
 रांकुशाम्मनगन्धवारणगन्धेभविद्याधरप्रियगल्लत्रिभुवनमहोदात्तनारायणप्रत्यक्षवाद्वलि-
 विक्रमार्ज्जुनगुणनिधिगुणार्णवसामन्तचूडामणिप्रमुखानेकप्रशस्तिविजयांकमालिकालं-
 कृतेन (लें) बुलपाटकनामधेयनिजराजधान्यां निजपितुः श्रीमद्वद्यगस्य शुभधाम-
 जिनालयाख्यवस (ते) खण्डस्फुटितनवसुधाकर्मबलिनिवेद्यार्थं शकान्देष्वाशी-
 त्याधिकेष्वष्टशतेषु गतेषु (प्रव) त्तमानक्षयसंवत्सरवैशाखपो (पौ) र्णमास्या (स्यां)
 बुधवारे तेन श्रीमदरिकेसरिणा अनन्तरोक्ताय तस्मै श्रीमत्सोमदेवसूरये सन्निवेशसह-
 स्नान्तर्गतरेपाकद्वादशग्रामी मध्ये कुतुंबवृत्ति वनिकटुपुल्लनामा ग्रामः त्रिभोगाभ्यन्तर-
 सिद्धिस्वर्वनमस्यस्सोदकधारन्दत्तः ॥ तस्य पूर्वतः दरिगूरु । दक्षिणतः इल्लिन्दिकुट ।

पश्चिमतः वेङ्गालपट्ट । उत्तरतः कङ्गाकूर । एवं चतुराघाटघटितभूमिखात-
सूर्योत्तरीयः ॥

सामान्यो यन्धर्मसेतुर्नृपाणां काले काले पालनीयो भवद्भिः ।

सर्वानितान्मावि (नः) पार्थिवेन्द्रान्भूयो भूयो याचते रामचन्द्रः ॥ १९ ॥

बहुभिर्वसुधा दत्ता राजभिस्सगरा (दिभिः) ।

यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् ॥ २० ॥

मद्वंशजाः परमहीपतिवंशजा वा पापादपेतमनसो (सु) वि भावि भूपाः ।

ये पालयन्ति मम धर्ममिमं समस्तं तेषां मया विरचितौजलिरेष मूर्द्धिन् ॥ २१ ॥

स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धराम् ।

षष्टिर्वर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः ॥ २२ ॥

अरिकेसरिणा दत्तं कथितं कविपेद्दणेन भट्टेन ।

शासनमिदमुत्कीर्णं शुभधामजिनालस्य रेवेण ॥ २३ ॥

देवनन्दि और उनका जैनेन्द्र व्याकरण

जैनेन्द्र और ऐन्द्र

मुग्धबोधकर्ता पं० बोपदेवने जिन आठ वैयाकरणोंके नामोंका उल्लेख किया है, उनमें एक 'जैनेन्द्र' भी है। ये जैनेन्द्र अथवा जैनेन्द्र व्याकरणके कर्ता कौन थे इस विषयमें इतिहासज्ञोंमें कुछ समय तक बड़ा विवाद चला था। डॉ० कीलहार्नने इसे जिनदेव अथवा भगवान् महावीरद्वारा इन्द्रके लिए कहा गया बतलाया था और इसके सुबूतमें उन्होंने कल्पसूत्रकी समयसुन्दरकृत टीका, और लक्ष्मीवल्लभकृत उपदेशमाला-कर्णिकाका यह उल्लेख पेश किया था कि जिनदेव महावीर जिस समय आठ वर्षके थे उस समय इन्द्रने शब्दलक्षणसंबंधी कुछ प्रश्न किये और उनके उत्तररूप यह व्याकरण बतलाया गया, इसलिए इसका नाम जैनेन्द्र पड़ा।

श्वेताम्बरसम्प्रदायके और भी कई ग्रन्थोंमें इस प्रकारके उल्लेख मिलते हैं। कल्पसूत्रकी विनयविजयकृत सुबोधिकों टीकामें लिखा है कि भगवानको माता-

१—इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशलीशाकटायनाः ।

पाणिन्यमरजैनेन्द्रो जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः ॥—धातुपाठ

२ इंडियन एन्टिक्वेरी १०, पृ० २५१

३—यदिन्द्राय जिनेन्द्रेण कौमारेपि निरूपितम् ।

ऐन्द्रं जैनेन्द्रमिति तत्प्राहुः शब्दानुशासनम् ॥

४ [शक्रः] यत्र भगवान् तिष्ठति तत्र पण्डितगेहे समाजगाम । आगत्य च पण्डितयोग्ये आसने भगवन्तं उपवेक्ष्य पण्डितमनोगतान् सन्देहान् पप्रच्छ, श्रीश्रीरोपि बालेयं किं वक्ष्यतीत्युत्कर्षेषु सकललोकेषु सर्वाणि उत्तराणि ददौ, ततो 'जैनेन्द्रव्याकरणं' जज्ञे । यतः—

सक्को य तस्समक्खं भगवंतं आसणे निवेसित्ता ।

सहस्स लक्खणं पुच्छे वागरणं अवयवा इदं ॥

पिताने पाठशालामें गुरुके पास पढ़नेके लिए भेजा है, यह जानकर इन्द्र स्वर्गसे आया और पण्डितके घर, जहाँ भगवान् थे वहाँ, गया। उसने भगवानसे पण्डितके मनमें जो जो सन्देह थे, उन सबको पूछा। जब सब लोग यह सुननेके लिए उत्कर्ण हो रहे थे कि देखें यह बालक क्या उत्तर देता है, तब भगवान् वीरने सब प्रश्नोंके उत्तर दे दिये, और तब 'जैनेन्द्र व्याकरण' बना।

परन्तु इस प्रसंगके वे सब उल्लेख अपेक्षाकृत अर्वाचीन ही हैं जिनमें भगवानके उत्तररूप इस व्याकरणका नाम 'जैनेन्द्र' बतलाया है। प्राचीन उल्लेखोंमें इसका नाम जैनेन्द्रकी जगह 'ऐन्द्र' प्रकट किया है, जैसा कि आवश्यकसूत्रकी हारिमद्रीयवृत्तिके पृष्ठ १८२ में लिखा है।

इसी प्रकार सुप्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्रने अपने योगशास्त्रके प्रथम प्रकाशमें लिखा है कि भगवानने इन्द्रके लिए जो शब्दानुशासन कहा, उपाध्यायने उसे सुनकर लोकमें 'ऐन्द्र' नामसे प्रकट किया। अर्थात् इन्द्रके लिए जो व्याकरण कहा गया, उसका नाम 'ऐन्द्र' हुआ।

प्राचीन कालमें इन्द्रनामक आचार्यका बनाया हुआ एक संस्कृत व्याकरण था। उसका उल्लेख अनेक ग्रन्थोंमें मिलता है। ऊपर दिये हुए बोपदेवके श्लोकमें भी

१-शक्रस्य तत्समक्षं लेखाचार्यसमक्षं भगवन्तं तीर्थकरं आसने निवेक्ष्य शब्दस्य लक्षणं पृच्छति । भगवता च व्याकरणं अभ्यधायि । व्याक्रियन्ते लौकिकसामयिकाः शब्दाः अनेन इति व्याकरणं शब्दशास्त्रम् । तदवयवाः केचन उपाध्यायेन गृहीताः, ततश्च ऐन्द्रं व्याकरणं संजातम् ।

२-मातापितृभ्यामन्येद्युः प्रारब्धेऽध्यापनोत्सवे ।

आः सर्वज्ञस्य शिष्यत्वमितीन्द्रस्तस्य सुपास्थित ॥ ५६ ॥

उपाध्यायासने तस्मिन्वासवेनोपवेशितः ।

प्रणम्य प्रार्थितः स्वामी शब्दपारायणं जगौ ॥ ५७ ॥

इदं भगवतेन्द्राय प्रोक्तं शब्दानुशासनम् ।

उपाध्यायेन तच्छ्रुत्वा लोकेष्वैन्द्रमितीरितम् ॥ ५८ ॥

३ डॉ० ए० सी० बर्नेलने इन्द्रव्याकरणके विषयमें चीनी तिब्बतीय और भारतीय साहित्यमें जो जो उल्लेख मिलते हैं उनको संग्रह करके 'ओन दि ऐन्द्रस्कूल ऑफ संस्कृत ग्रामेरियन्स' नामकी एक बड़ी पुस्तक लिखी है।

उसका नाम है। हरिवंशपुराणके कर्त्ताने देवनन्दिको 'इन्द्रचंद्राकजैनेन्द्र-
व्यापिव्याकरणेक्षिणः' विशेषण दिया है। शब्दार्णवचंद्रिकाकी ताडपत्रवाली प्रतिमें,
जो १३ वीं शताब्दिके लगभगकी लिखी हुई मालूम होती है, 'इन्द्रश्चन्द्रः
शकटतनयः' आदि श्लोकमें इन्द्रके व्याकरणका उल्लेख किया है। बहुत अधिक
समय हुआ यह नष्ट हो गया है। जब यह उपलब्ध ही नहीं है तब इसके विषयमें
कुछ कहनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। यद्यपि आजकलके समयमें इस बातपर
कोई भी विद्वान् विश्वास नहीं कर सकता है कि भगवान् महावीरने भी कोई
व्याकरण बनाया होगा और वह भी मागधी या प्राकृतका नहीं, किन्तु ब्राह्मणोंकी
खास भाषा संस्कृतका। तो भी यह निस्सन्देह है कि वह व्याकरण 'जैनेन्द्र' तो
नहीं था। यदि बनाया भी होगा तो वह 'ऐन्द्र' ही होगा। क्यों कि हरिभद्र-
सूरि और हेमचंद्रसूरि उसीका उल्लेख करते हैं, जैनेन्द्रका नहीं। जान पड़ता है,
विनयविजय और लक्ष्मीवल्लभने पीछेसे 'ऐन्द्र' को ही 'जैनेन्द्र' बना डाला है।
उनके समयमें भी 'ऐन्द्र' अप्राप्य था, इसलिए उन्होंने प्राप्य 'जैनेन्द्र' को
ही भगवान् महावीरकी कृति बतलाना विशेष सुकर और लाभप्रद सोचा।

हरिभद्रसूरि विक्रमकी आठवीं शताब्दिके और हेमचंद्रसूरि तेरहवीं शताब्दिके
विद्वान् हैं जिन्होंने 'ऐन्द्र' को भगवान्का व्याकरण बतलाया है; परंतु 'जैनेन्द्र'
को भगवत्प्रणीत बतलानेवाले विनयविजय और लक्ष्मीवल्लभ विक्रमकी अठारहवीं
शताब्दिमें हुए हैं।

भगवद्भावादिनी

विनयविजयजीके इस उल्लेखने बड़ा काम किया कि भगवत्प्रणीत व्याकरणका
नाम 'जैनेन्द्र' है। बहुत संभव है कि भगवत्प्रणीत व्याकरणको 'जैनेन्द्र'
लिखते समय उनका लक्ष्य इस देवनन्दि या पूज्यपादकृत 'जैनेन्द्र' पर ही
रहा हो; परन्तु जान पड़ता है कि वे इस विषयमें उक्त उल्लेखके सिवाय
और कुछ प्रयत्न नहीं कर सके। यह काम बाकी ही पड़ा रहा कि जैनेन्द्र
व्याकरण लोगोंके समक्ष उपस्थित कर दिया जाय और उसे उनके कुछ
समय बाद वि० सं० १७९७ में एक विद्वान्ने पूरा किया। उन्होंने साक्षात्

१ "तेन प्रणष्टमैन्द्रं तदस्माद्व्याकरणं भुवि"—कथासरित्सागर, तरंग ४

महावीर भगवानका बनाया हुआ व्याकरण तैयार कर दिया और उसका दूसरा नाम ' भगवद्वाग्वादिनी ' रखवा !

इस भगवद्वाग्वादिनीकी एक प्रति भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूटमें है, जो तक्षक नगरमें रत्नर्षि नामक लेखकद्वारा वि० सं० १७९७ में लिखी गई थी। इसकी पत्रसंख्या ३०, और श्लोकसंख्या ८०० है। प्रति बहुत शुद्ध है। जैनेन्द्रका सूत्रपाठ मात्र है और वह सूत्रपाठ है जिसपर शब्दार्णवचन्द्रिका टीका लिखी गई है। इस वाग्वादिनीके आविष्कारकरने शक्ति-भर इस बातको सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि इसके कर्त्ता साक्षात् महावीर भगवान् हैं, दिगम्बरी देवनन्दि नहीं। उनकी सब युक्तियाँ हमने इस ग्रन्थके अन्तमें उद्धृत कर दी हैं। उन सबपर विचार करनेकी यहाँ आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

हमारा अनुमान है कि डॉ० कीलहार्नके हाथमें यह ' भगवद्वाग्वादिनी ' की प्रति अवश्य पड़ी होगी और इसीकी कृपासे प्रेरित होकर उन्होंने अपना पूर्वोक्त लेख लिखा होगा। उनके लेखमें जो श्लोकादि प्रमाणस्वरूप दिये गये हैं वे भी सब इसी परसे लिये गये जान पड़ते हैं।

डॉ० कीलहार्नके इस भ्रमको सबसे पहले स्व० डॉ० के० बी० पाठकरने दूर किया और अब तो जैनेन्द्र व्याकरणकी काफी प्रसिद्ध हो चुकी है।

देवनन्दि और पूज्यपाद

श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० ४० (६४) में लिखा है कि उनका पहला नाम देवनन्दि था, बुद्धिकी महत्ताके कारण वे जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये और देवोंने उनके चरणोंकी पूजा की, इस कारण उनका नाम पूज्यपाद हुआ।

१ यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्धथा महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः ॥२॥

श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम् ॥३॥

जैनेन्द्रं निजशब्दभागमतुलं सर्वार्थसिद्धिः परा

सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्धकवितां जैनाभिषेकः स्वकः ।

छन्दः सूक्ष्मधियं समाधिशतकं स्वास्थ्यं यदीयं विदा-

माख्यातीह स पूज्यपादमुनिपः पूज्यो मुनीनां गणैः ॥४॥

श्रवणबेलगोलके नं० १०८ (२८५) के मंगराज कविकृत शिलालेखसे भी जो शकसंवत् १३६५ (वि० सं० १५००) का लिखा हुआ है, यही दो नाम प्रकट होते हैं ।

जिनेन्द्रबुद्धि नामके एक और वैयाकरण हो गये हैं जिनका बनाया हुआ पाणिनि व्याकरणकी काशिका वृत्तिपर एक न्यास है। वे बोधिसत्त्वदेशीयाचार्य या बौद्ध साधु थे ।

नन्दिसंघ-पट्टावलीसे भी देवनन्दिका दूसरा नाम पूज्यपाद प्रकट होता है^२ ।

इनका संक्षिप्त नाम ' देव ' भी था । आचार्य जिनसेन और वादिराजसूरिने इन्हें इसी संक्षिप्त नामसे स्मरण किया है ।

अनेक लेखकोंने उन्हें केवल देवनन्दि नामसे और केवल पूज्यपाद नामसे स्मरण किया है और दोनों नामोंसे उन्हें वैयाकरण माना है ।

महाकवि धनंजयकी नाममालामें एक श्लोक है जिसमें पूज्यपादको लक्षण-ग्रन्थ (व्याकरण) का कर्त्ता माना है^३ ।

१-श्रीपूज्यपादोद्धृतधर्मराज्यस्ततः सुराधीश्वरपूज्यपादः ।

यदीयवैदुष्यगुणानिदानीं वदन्ति शास्त्राणि तदुद्धृतानि ॥ १५ ॥

धृतविश्वबुद्धिरयमत्र योगिभिः कृतकृत्यभावमनुविभ्रदुच्चकैः ।

जिनवद्भूय यदनङ्गचापहृत्स जिनेन्द्रबुद्धिरिति साधुवर्णितः ॥ १६ ॥

श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमोषधर्द्धिर्जीयाद्विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः ।

यत्पादघौतजलसंस्पर्शनप्रभावात् कालायसं किल तदा कनकीचकार ॥ १७ ॥

२-यशःकीर्तिर्यशोनन्दी देवनन्दी महामतिः ।

श्रीपूज्यपादापराख्यो गुणनन्दी गुणाकरः ॥

३-कवीनां तीर्थकृद्देवः किं तरां तत्र वर्ण्यते ।

विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थे यस्य वचोमयम् ॥ ५२ ॥

—आदिपुराण प्र० पव

४-अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवंद्यो हितैषिणा ।

शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्बिताः ॥ १८ ॥

—पार्श्वनाथचरित प्र० सर्ग

५-प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम् ।

धनंजयकवेः कान्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ॥ २० ॥

मेघचन्द्रको पूज्यपादके समान व्याकरणका ज्ञाता बतलाया है। इससे पूज्य-पादका वैयाकरण होना सिद्ध है। ये मेघचन्द्र आचारसारके कर्ता वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्तिके गुरु थे और इनका स्वर्गवास शक संवत् १०३७ (वि० सं० ११७२) में हुआ था।

अनगारधर्माभूतटीकाकी प्रशस्तिमें (वि० सं० १३००) पण्डित आशाधरजीने लिखा है कि मैंने जैन न्याय और जैनेन्द्र व्याकरणशास्त्र पण्डित महावीरसे धारा नगरीमें पढ़े—“ धारायामपठजिनप्रमितिवाकशास्त्रे महावीरतः । ” और ‘ जिनप्रमितिवाकशास्त्रे ’ की टीकामें लिखा है—“ जैनेन्द्र प्रमाणशास्त्रं जैनेन्द्र-व्याकरणं च । ” सागार और अनगारधर्माभूतटीकामें उन्होंने कई जगह व्याकरणके सूत्र दिये हैं और वे देवनन्दिकृत इसी जैनेन्द्रव्याकरणके हैं।

वृत्तविलास (वि० सं० १२१७) ने अपने ‘ धर्मपरीक्षा ’ नामक कनड़ी काव्यकी प्रशस्तिमें पूज्यपाद आचार्यकी बड़ी प्रशंसा लिखी है और वे जैनेन्द्र-व्याकरणके रचयिता थे, इस बातका स्पष्ट उल्लेख किया है। साथ ही उनकी अन्यान्य रचनाओंका भी परिचय दिया है।

लिखा है कि व्रतीन्द्र पूज्यपादने—जिनके चरणकमलोंकी अनेक भव्य आराधना करते थे और जो विश्व-भरकी विद्याओंके शृंगार थे—प्रकाशमान जैनेन्द्र व्याकरणकी रचना की, पाणिनीकी टीका लिखी, टिप्पणद्वारा (सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थ-सूत्रटीका) तत्त्वार्थका अर्थवबोधन किया और पृथ्वीकी रक्षाके लिए यंत्र-मंत्रादि शास्त्रकी रचना की^३।

आचार्य शुभचन्द्रने ज्ञानार्णवके प्रारंभमें देवनन्दिकी प्रशंसा करते हुए लिखा है कि जिनकी वाणी देहधारियोंके शरीर वचन और मनसम्बन्धी मैलको मिटा

१-सिद्धान्ते जिनवीरसेनसदृशः शास्त्राब्जिनीमास्करः,

षट्त्रकैष्वकलंकदेवविबुधः साक्षादयं भूतले ।

सर्वव्याकरणे विपश्चिदधिपः श्रीपूज्यपादः स्वयं,

त्रैविद्योत्तममेघचन्द्रमुनिपो वादीभपञ्चाननः ॥

२-भरदि जैनेन्द्रमासुरं=एनल् ओरेदं पाणिनीयक्के टीकुं, बरेदं तत्त्वार्थंमं टिप्पणदिन् अरिपिदं यंत्रमंत्रादिशास्त्रोत्करमं भूरक्षणार्थं विरचिसि जसमुं ताळ्दिदिदं-विश्वविद्या-भरणं भव्यालियाराधितपदकमलं पूज्यपादं व्रतीन्द्रम् ॥ ”

देती है, उन देवनन्दीको मैं नमस्कार करता हूँ। उन्होंने देवनन्दीकी वाणीकी जो विशेषता बतलाई है, वह उनके तीन ग्रन्थोंको लक्ष्य करके है। शरीरके मेलको नाश करनेके लिए वैद्यकशास्त्र और वचनका मेल दूर करनेके लिए समाधितंत्र; तब वचन-दोषको दूर करनेवाली उनकी रचना जैनेन्द्र व्याकरण ही हो सकती है।

इनके सिवाय विक्रमकी आठवीं शताब्दिके बाद कनड़ी भाषामें जितने काव्य-ग्रन्थ लिखे गये हैं, प्रायः उन सभीके प्रारंभिक श्लोकोंमें पूज्यपादकी प्रशंसा की गई है^२।

जैनेन्द्रकी प्रत्येक हस्तलिखित प्रतिके प्रारंभमें जो श्लोक मिलता है, उसमें ग्रन्थकर्त्ताने 'देवनन्दितपूजेश' पदमें जो कि भगवानका विशेषण है अपना नाम भी प्रकट कर दिया है।^३ संस्कृत प्राकृत ग्रन्थोंके मंगलाचरणोंमें यह पद्धति अनेक विद्वानोंने स्वीकार की है^४। इससे स्वयं ग्रन्थकर्त्ताके वचनोंसे भी जैनेन्द्रके कर्ता 'देवनन्दि' ठहरते हैं।

गणरत्नमहोदधिके कर्ता श्वेताम्बर विद्वान् वर्धमान और हैम शब्दानुशासनके लघुन्यास बनानेवाले कनकप्रभ भी जैनेन्द्र व्याकरणके कर्त्ताका नाम देवनन्दि ही बतलाते हैं। अतः अब इस विषयमें किसी प्रकारका कोई सन्देह बाकी नहीं रह गया कि यह व्याकरण देवनन्दि या पूज्यपादका बनाया हुआ है।

१ अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायावाक्चित्तसंभवम् ।

कलङ्कमङ्गिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते ॥

२ देखो हिस्ट्री आफ दि कनड़ी लिटरेचर ।

३ लक्ष्मीरात्यन्तिकी यस्य निरवद्याऽवभासते ।

देवनन्दितपूजेशं नमस्तस्मै स्वयंभुवे ॥

४ क—नीतिवाक्यामृतके मंगलाचरणमें सोमदेव कहते हैं—

सोमं सोमसमाकारं सोमामं सोमसंभवम् ।

सोमदेवं मुनिं नत्वा नीतिवाक्यामृतं ब्रुवे ॥

ख—आचार्य अनन्तवीर्य लघीयस्त्रयकी वृत्तिके प्रारंभमें कहते हैं—

जिनाधीशं मुनिं चन्द्रकमलकं पुनः पुनः ।

अनन्तवीर्यमानौमि स्याद्वादन्यायनायकम् ॥

५ शालातुरीय-शकटाङ्गज-चन्द्रगोभि-दिग्वल्ल-भर्तृहरि-वामन-भोजमुख्याः ।

पहला जैन व्याकरण

जहाँ तक हम जानते हैं, जैनोका सबसे पहला संस्कृत व्याकरण यही है। अभी तक इसके पहलेका कोई भी व्याकरण-ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है। शाकटायन, सिद्धहेमशब्दानुशासन आदि सब इससे पीछेके हैं। इसके सूत्र बहुत ही संक्षिप्त हैं। संज्ञाकृत लाघवको भी इसमें स्वीकार किया है, जब कि पाणिनीयमें संज्ञाकृत लाघव ग्रहण नहीं किया है। यह अनेकशेष व्याकरण है।

दो तरहके सूत्र-पाठ

जैनेन्द्र व्याकरणके मूल सूत्र-पाठ दो प्रकारके उपलब्ध हैं—एक तो वह जिसपर आचार्य अभयनन्दिनी 'महावृत्ति' तथा श्रुतकीर्तिकृत 'पंचवस्तु' नामकी प्रक्रिया है; और दूसरा वह जिसपर सोमदेवसूक्तिकृत 'शब्दार्णव-चन्द्रिका' और गुणनन्दिनिकृत 'प्रक्रिया' है। पहले प्रकारके पाठमें लगभग ३००० और दूसरेमें लगभग ३७०० सूत्र हैं, अर्थात् एकसे दूसरेमें कोई ७०० सूत्र अधिक हैं, और जो ३००० सूत्र हैं वे भी दोनोंमें एकसे नहीं हैं। अर्थात् दूसरे सूत्र-पाठमें पहले सूत्र-पाठके सैकड़ों सूत्र परिवर्तित और परिवर्धित भी किये गये हैं।

पहले प्रकारका सूत्र-पाठ पाणिनीय सूत्र-पाठके ढंगका है, वर्तमानदृष्टिसे वह कुछ अपूर्ण-सा जान पड़ता है और इसी लिए महावृत्तिमें बहुतसे वार्तिक तथा उप-संख्यान आदि बनाकर उसकी पूर्णता की गई दिखलाई देती है, जब कि दूसरा पाठ प्रायः पूर्ण-सा जान पड़ता है और इसी कारण उसकी टीकाओंमें वार्तिक आदि नहीं दिखलाई देते। दोनों पाठोंमें बहुत-सी संज्ञायें भी भिन्न प्रकार की हैं।

इन भिन्नताओंके होते हुए भी दोनों पाठोंमें समानताकी भी कमी नहीं है। दोनोंके अधिकांश सूत्र समान हैं, दोनोंके प्रारंभका मंगलाचरण बिलकुल एक है और दोनोंके कर्ताओंका नाम भी देवनन्दि या पूज्यपाद लिखा हुआ मिलता है।

असली सूत्रपाठ

अब प्रश्न यह है कि इन दोनोंमेंसे स्वयं देवनन्दि या पूज्यपादका बनाया हुआ असली सूत्र-पाठ कौन-सा है ?

हमारे खयालमें आचार्य देवनन्दि या पूज्यपादका बनाया हुआ सूत्र-पाठ वही है जिसपर अभयनन्दिने अपनी महावृत्ति लिखी है। यह सूत्रपाठ उस समयतक तो ठीक समझा जाता रहा जब तक शाकटायन व्याकरण नहीं बना।

देवनन्दि और उनका जैनेन्द्र व्याकरण

शायद शाकटायनको भी जैनेन्द्रके होते हुए एक जुदा जैन व्याकरण बनानेकी आवश्यकता इसी लिए महसूस हुई कि जैनेन्द्र अपूर्ण है, और इसलिए बिना वार्तिकों और उपसंख्यानो आदिके उससे काम नहीं चल सकता परन्तु जब शाकटायन जैसा सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण बन चुका, तब जैनेन्द्र व्याकरणके भक्तोंको उसकी त्रुटियाँ खटकने लगीं और उनमेंसे आचार्य गुणनन्दिने उसे सर्वोत्तम बनानेका प्रयत्न किया। इस प्रयत्नका फल ही यह दूसरा सूत्र-पाठ है जिसपर सोमदेवकी शब्दार्णव-चन्द्रिका रची गई है। इस सूत्र-पाठको बारीकीके साथ देखनेसे मालूम पड़ता है कि गुणनन्दिने के समय तक व्याकरण-सिद्ध जितने प्रयोग होने लगे थे उन सबके सूत्र उसमें मौजूद हैं और इसलिए उसके टीकाकारोंको वार्तिक आदि बनानेके शंकाओंमें नहीं पड़ना पड़ा है। अभयनन्दिनी महावृत्तिके ऐसे बीसों वार्तिक हैं जिनके इस दूसरे पाठमें सूत्र ही बना दिये गये हैं।

१—शब्दार्णव-चन्द्रिकाके अन्तिम पद्यमें सुप्रसिद्ध गुणनन्दि आचार्यके शब्दार्णवमें प्रवेश करनेके लिए सोमदेवकृत वृत्तिको नौकाके समान बतलाया है।^१ इससे ज्ञान पड़ता है कि आचार्य गुणनन्दिने बनाये हुए व्याकरण ग्रन्थकी यह टीका है और उसका नाम शब्दार्णव है। इस टीकाका 'शब्दार्णव-चन्द्रिका' नाम भी तभी अन्वर्थक होता है, जब मूल सूत्र-ग्रन्थका नाम शब्दार्णव हो। हमारे इस अनुमानकी पुष्टि प्रक्रियाके अन्तिम श्लोकसे और भी अच्छी तरहसे हो जाती है^२ जिसका आशय यह है कि गुणनन्दिने जिसके शरीरको विस्तृत किया है, उस शब्दार्णवको जाननेकी इच्छा रखनेवालोंके लिए तथा आश्रय लेनेवालोंके लिए यह प्रक्रिया साक्षात् नावके समान काम देगी। इसमें 'शब्दार्णव' को जो 'गुणनन्दि-तानितवपुः' विशेषण दिया है, वह विशेष ध्यान देने योग्य है। उससे साफ समझमें आता है कि गुणनन्दिने जिस व्याकरणपर ये दोनों टीकायें—शब्दार्णव-चन्द्रिका और प्रक्रिया—लिखी गई हैं उसका नाम 'शब्दार्णव' है और वह

१—श्रीसोमदेवयतिनिर्मितिमादधाति या नौः प्रतीतगुणनन्दिशब्दवार्धौ ।

सेयं सताममलचेतसि विस्फुरन्ती वृत्तिः सदा नुतपदा परिवर्तिषीष्ट ॥

२—सत्संधिं दधते समासमभितः ख्यातार्थनामोन्नतं,

निर्ज्ञातं बहुतद्धितं कृतमिहाख्यातं यशःशालिनम् ।

सैषा श्रीगुणनन्दितानितवपुः शब्दार्णवं निर्णयं,

नावत्याश्रयतां विविक्षुमनसां साक्षात्स्वयं प्रक्रिया ॥

मूल (असली) जैनेन्द्र व्याकरणके संक्षिप्त शरीरको तानित या विस्तृत करके बनाया गया है ।

शब्दार्णवचन्द्रिकाके प्रारंभका मंगलाचरण भी इस विषयमें ध्यान देने योग्य है, जिसमें ग्रन्थकर्ताने भगवान् महावीरके विशेषणरूपमें क्रमसे पूज्यपादका, गुणनन्दिका और अपना (सोमामर या सोमदेवका) उल्लेख किया है और इससे वे निस्सन्देह यही ध्वनित करते हैं कि मुख्य व्याकरणके कर्ता पूज्यपाद हैं, उसको विस्तृत करनेवाले गुणनन्दि हैं और फिर उसकी टीका करनेवाले सोमदेव (स्वयं) हैं । यदि यह चन्द्रिका टीका पूज्यपादके व्याकरणकी ही होती, तो मंगलाचरणमें गुणनन्दिका नाम लानेकी कोई आवश्यकता नहीं थी । गुणनन्दि उनकी गुरु-परम्परामें भी नहीं हैं, जो उनका उल्लेख करना आवश्यक होता । अतः यह सिद्ध है कि चन्द्रिका और प्रक्रिया दोनोंके ही कर्ता यह समझते थे कि हमारी टीकायें असली जैनेन्द्रपर नहीं किन्तु उसके 'गुणनन्दि-तानितवपुः' शब्दार्णवपर बनी हैं ।

२—शब्दार्णव-चन्द्रिका और जैनेन्द्र-प्रक्रिया इन दोनों ही टीकाओंमें 'एकशेष' प्रकरण है; परन्तु अभयनन्दिकृत 'महावृत्ति' वाले सूत्रपाठमें एकशेषको अनावश्यक बतलाया है—“स्वामाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः ।” (१-१-९९) और इसी लिए देवनन्दि या पूज्यपादका व्याकरण 'अनेकशेष' कहलाता है । चन्द्रिका टीकाके कर्ता स्वयं ही “आदावुपशोपक्रमम्” (१-४-११४) ; सूत्रकी टीकामें उदाहरण देते हैं “देवोपज्ञमनेकशेषव्याकरणम् ।” यह उदाहरण अभयनन्दिकृत महावृत्तिमें भी दिया गया है । इससे सिद्ध है कि शब्दार्णव-चन्द्रिकाके कर्ता भी उसी व्याकरणको देवोपज्ञ या देवनन्दिकृत मानते हैं, जो अनेकशेष है, अर्थात् जिसमें 'एकशेष' प्रकरण नहीं है और ऐसा व्याकरण वही है जिसकी टीका अभयनन्दिने की है ।

३—आचार्य विद्यानन्दि अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृष्ठ २६५ में 'नैगमसंग्रह—' आदि सूत्रकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं, “नयश्च नयौ च नयाश्च नया

१—श्रीपूज्यपादममलं गुणनन्दिदेवं सोमामरव्रतिपपूजितपादयुग्मम् ।

सिद्धं समुन्नतपदं वृषभं जिनेन्द्रं सच्छब्दलक्षणमहं विनमामि वीरम् ॥

२ इस प्रक्रियाका भी नाम 'शब्दार्णव-प्रक्रिया' होगा, जैनेन्द्र-प्रक्रिया नहीं ।

इत्येकस्मिन् स्वभाविकस्याभिधाने दर्शनात् केषांचित्त्था वचनोपलम्भाच्च न विरुद्धयते । ” इसमें स्वाभाविकताके कारण, एकशेषकी अनावश्यकता प्रतिपादन की है और यह अनावश्यकता जैनन्द्रके वास्तविक सूत्र-पाठमें ही उपलब्ध होती है । “ स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषा नारम्भः ” (१-१-९९) यह सूत्र शब्दार्णव-वाले पाठमें नहीं है, अतः विद्यानन्द भी पूर्वोक्त सूत्रवाले जैनन्द्र-पाठके मानने-वाले थे । पाठकोंको यह स्मरण रखना चाहिए कि उपलब्ध व्याकरणोंमें ‘ अनेक-शेष ’ व्याकरण केवल देवनन्दिकृत ही है, दूसरा नहीं । X

४—तत्त्वार्थ-टीका ‘ सर्वार्थसिद्धि ’ के कर्ता स्वयं पूज्यपाद या देवनन्दि हैं । इस टीकामें अध्याय ५, सूत्र २४ की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं, “ ‘ अन्यतोऽपि ’ इति तसि कृते सर्वतः । ” और इसी सूत्रकी व्याख्या करते हुए राजवार्तिककार लिखते हैं, “ ‘ दृश्यतेऽन्यतोऽपीति ’ तसि कृते सर्वेषु भवेषु सर्वत इति भवति । ” जान पड़ता है कि या तो सर्वार्थसिद्धिकारने इस सूत्रको संक्षेप करके लिखा होगा, या लेखकों तथा छपानेवालोंने प्रारंभका ‘ दृश्यते ’ शब्द छोड़ दिया होगा । वास्तवमें यह पूरा सूत्र ‘ दृश्यतेऽन्यतोऽपि ’ ही है और यह अभयनन्दिवाले सूत्र-पाठके अ० ४ पा० ७ का ७५ वाँ सूत्र है । परन्तु शब्दार्णववाले पाठमें न तो यह सूत्र है और न इसके प्रतिपाद्यका विधानकर्ता कोई दूसरा सूत्र है । इससे सिद्ध है कि पूज्यपादका असली सूत्रपाठ वही है जिसमें उक्त सूत्र मौजूद है ।

५—महाकलंकदेवने तत्त्वार्थराजवार्तिकमें ‘ आद्ये परोक्षे ’ (अ० १, सू० ११) की व्याख्यामें “ सर्वदि सर्वनाम । ” (१-१-३५) सूत्रका उल्लेख किया है, इसी तरह पण्डित आशाधरने अनगारधर्माभूतटीका (अ० ७ श्लो० २४) में “ स्तोके प्रतिना ” (१-३-३७) और “ भार्ये ” (१-४-१४) इन दो सूत्रोंको उद्धृत किया है और ये तीनों ही सूत्र जैनन्द्रके अभयनन्दिवृत्तिवाले सूत्रपाठमें ही हैं । शब्दार्णववाले पाठमें इनका अस्तित्व ही नहीं है । अतः अकलंकदेव और पं० आशाधर इसी अभयनन्दिवाले पाठको ही माननेवाले थे । अकलंकदेव वि० की आठवीं नौवीं शताब्दिके और आशाधर १३ वीं शताब्दिके विद्वान् हैं ।

६—पं० श्रीलालजी शास्त्रीने शब्दार्णव-चन्द्रिकाकी भूमिकामें लिखा है कि “ आचार्य पूज्यपादने स्वनिर्मित ‘ सर्वार्थसिद्धि ’ में ‘ प्रमाणनयैरधिगमः ’ (अ० १ सू० ६) की टीकामें यह वाक्य दिया है—‘ नयशब्दस्याल्पाच्यतरत्वात्पूर्व-

निपातः प्राप्नोति नैष दोषः अभ्यर्हित्वात्प्रमाणस्य तत्पूर्वनिपातः।’ और अभयनन्दि-
वाले पाठमें इस विषयका प्रतिपादन करनेवाला कोई सूत्र नहीं है। केवल
अभयनन्दिका ‘अभ्यर्हितं पूर्वं निपतति’ वार्तिक है। यदि अभयनन्दिवाला
सूत्र-पाठ ठीक होता तो उसमें इस विषयका प्रतिपादक सूत्र अवश्य होता जो कि
नहीं है। पर शब्दार्णववाले पाठमें ‘अर्च्यं’ (१-३-११५) ऐसा सूत्र है जो
इसी विषयको प्रतिपादित करता है। इसलिए यही सूत्र-पाठ देवनान्दिकृत है।”
इसपर हमारा निवेदन यह है कि “अल्पाक्षरम्” (२-२-३४) यह सूत्र
पाणिनिका है और इसके ऊपर कात्यायनका “अभ्यर्हितं च” वार्तिक तथा
पतंजलिका “अभ्यर्हितं पूर्वं निपतति” भाष्य है। इससे मालूम होता है कि
पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धि-टीकाके इस स्थलमें पाणिनि और पतंजलिके ही सूत्र
तथा भाष्यको लक्ष्य करके उक्त विधान किया है। अब प्रश्न होगा कि जब
सर्वार्थसिद्धिकार स्वयं एक व्याकरणके कर्ता हैं, तब उन्होंने पाणिनिका और उसके
भाष्यका आश्रय क्यों लिया ? उत्तर यह है कि पूज्यपाद स्वामी सर्वार्थसिद्धिकी
रचनाके समय अपना व्याकरण भले ही बना चुके हों, परन्तु उसने विशेष प्रसिद्ध
लभ नहीं की थी और इस कारण स्वयं उनके ही हृदयमें उसकी इतनी प्रमाणता
नहीं थी कि वे अन्य प्रसिद्ध व्याकरणों, उनके वार्तिकों और भाष्योंको सर्वथा
भुला दें या उनका आश्रय न लें। यह निश्चय है कि उन्होंने अपनी सर्वार्थ-
सिद्धिमें अन्य वैयाकरणोंके भी मत दिये हैं और अनेक बार पतंजलिके
महाभाष्यके वाक्य।

सर्वार्थसिद्धि अ० ४ सूत्र २२ की व्याख्यामें लिखा है—“यथाहुः—द्वुर्तोयां
तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानमिति।” इसकी अन्य पुरुषकी ‘आहुः’
क्रिया ही कह रही है कि ग्रन्थकर्ता यहाँ किसी अन्य पुरुषका वचन दे रहे हैं।
अब पतंजलिका महाभाष्य देखिए। उसमें १-२-१ के ५ वें वार्तिकके भाष्यमें
बिलकुल यही वाक्य दिया हुआ है—एक अक्षरका भी हेरफेर नहीं है। इससे
स्पष्ट है कि सर्वार्थसिद्धिके कर्त्ताने अन्य व्याकरण-ग्रन्थोंके भी प्रमाण दिये हैं।

१ तत्त्वार्थराजवार्तिकमें इसी ‘प्रमाणनयैरधिगमः’ सूत्रकी व्याख्यामें पतंजलिका यह
भाष्य ज्योंका त्यों अक्षरशः दिया है। अभयनन्दिका भी यही वार्तिक है। परन्तु तब तक
अभयनन्दिका अस्तित्व ही न था।

२ राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकमें भी यह वाक्य उद्धृत किया गया है।

देवनन्दि और उनका जैनेन्द्र व्याकरण

सर्वार्थसिद्धि अ० ७ सूत्र १६ की व्याख्यामें लिखा है, “शास्त्रेऽपि ‘अश्व-वृषयोर्मैथुनेच्छायामि’ त्येवमादिषु तदेव गृह्यते ।” यह पाणिनिके ७-१-५१ सूत्रपर कात्यायनका पहला वार्तिक है। वहाँ “अश्ववृषयोर्मैथुनेच्छायाम्” इतने शब्द हैं और इन्हींको सर्वार्थसिद्धिकारने लिया है। यहाँ कात्यायनके वार्तिकको उन्होंने ‘शास्त्र’ शब्दसे व्यक्त किया है।

सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सूत्र ४ की व्याख्यामें ‘नित्य’ शब्दको सिद्ध करनेके लिए पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं, “नेः ध्रुवे त्यः इति निष्पादितत्वात् ।” परन्तु जैनेन्द्रमें ‘नित्य’ शब्दको सिद्ध करनेवाला कोई सूत्र ही नहीं है, इस लिए अभयनन्दिने अपनी वृत्तिमें “इयेस्तुद्” (३-२-८१) सूत्रकी व्याख्यामें “नेर्ध्रुवः इति वक्तव्यम्” यह वार्तिक बनाया है और ‘नियतं सर्वकालं भवं नित्यं’ इस तरह स्पष्ट किया है। जैनेन्द्रमें ‘त्य’ प्रत्यय ही नहीं है, इसके बदले ‘य’ प्रत्यय है। इससे मालूम होता है कि सर्वार्थसिद्धिकारने पूर्वोक्त बात स्वनिर्मित व्याकरणको लक्ष्यमें रखकर नहीं कही है। अन्य व्याकरणोंके प्रमाण भी वे देते थे और यह प्रमाण भी उसी तरहका है।

कुछ स्थानोंमें उन्होंने अपने निजके सूत्र भी दिये हैं। जैसे पाँचवें अध्यायके व्याख्यानमें लिखा है “‘विशेषणं विशेष्येण’ इति वृत्तिः।” यह जैनेन्द्रका १-३-५२ वाँ सूत्र है। यह सूत्र शब्दार्णव-चन्द्रिका (१-३-४८) वाले पाठमें भी है।

इन सब प्रमाणोंसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है कि जैनेन्द्रका असली सूत्र-पाठ वही है जिसपर अभयनन्दिनिकृत वृत्ति है। शब्दार्णव-चन्द्रिकावाला पाठ असली सूत्र-पाठको संशोधित और परिवर्धित करके बनाया गया है और उसका यह संस्करण संभवतः गुणनन्दि आचार्यकृत है।

अब प्रश्न यह है कि जब गुणनन्दिने मूल ग्रंथमें इतना परिवर्तन और संशोधन किया, तब उस परिवर्तित ग्रन्थका नाम जैनेन्द्र ही क्यों रक्खा? इसके उत्तरमें निवेदन है कि एक तो शब्दार्णव-चन्द्रिका और जैनेन्द्र-प्रक्रियाके पूर्वोल्लिखित श्लोकोंसे गुणनन्दिने व्याकरणका नाम ‘जैनेन्द्र’ नहीं किन्तु ‘शब्दार्णव’ मालूम

१ तत्त्वार्थराजवार्तिकमें भी है “शास्त्रेऽपि अश्ववृषयोर्मैथुनेच्छायामित्येवमादौ तदेव कर्माख्यायते ।”

होता है। सम्भव है कि अर्ध-दग्ध लेखकोंकी कृपासे इन टीका-ग्रंथोंमें 'जैनेन्द्र' नाम शामिल हो गया हो। दूसरे यदि 'जैनेन्द्र' नाम हो भी, तो ऐसा कुछ अनुचित नहीं है। क्यों कि गुणनन्दिका प्रयत्न कोई स्वतंत्र ग्रंथ बनानेकी इच्छासे नहीं किन्तु पूर्वनिर्मित 'जैनेन्द्र'को सर्वोत्तम बनानेकी सदिच्छासे है और इसीलिए उन्होंने जैनेन्द्रके आधेसे अधिक सूत्र ज्योंके त्यों रहने दिये हैं, तथा मंगलाचरण आदि भी उसका ज्योंका त्यों रक्खा है।

हमारा विश्वास है कि गुणनन्दि इस संशोधित और परिवर्तित सूत्र-पाठको ही तैयार करके न रहे गये होंगे, उन्होंने इसपर कोई वृत्ति या टीका-ग्रन्थ भी अवश्य लिखा होगा, जो उपलब्ध नहीं है। सनातन जैनग्रंथमालामें जो जैनेन्द्र-प्रक्रिया छपी है, वह जैसा कि हम आगे सिद्ध करेंगे गुणनन्दिकी बनाई हुई नहीं है।

जैनेन्द्रकी टीकायें

पूज्यपादस्वामीकृत असली जैनेन्द्रकी इस समय तक केवल चार ही टीकायें उपलब्ध हैं—१ अभयनन्दिकृत 'महावृत्ति,' २ प्रभाचन्द्रकृत 'शब्दांभोजभास्कर न्यास', ३ आर्यश्रुतकीर्तिकृत 'पंचवस्तु प्रक्रिया', और ४ पं० महाचन्द्रकृत 'लघु जैनेन्द्र'। परन्तु इनके सिवाय इसकी और भी कई टीकायें होनी चाहिए। पंचवस्तुके अन्तके श्लोकमें जैनेन्द्र शब्दागम या जैनेन्द्र व्याकरणको महलकी उपमा दी है। वह मूलसूत्ररूप स्तम्भोंपर खड़ा किया गया है, न्यासरूप उसकी भारी रत्नमय भूमि है, वृत्तिरूप उसके किवाड़ हैं, भाष्यरूप शय्यातल है, टीकारूप उसके माल या मंजिल हैं और यह पंचवस्तु टीका उसकी सोपानश्रेणी है। इसके द्वारा उक्त महलपर आरोहण किया जा सकता है। इससे मालूम होता है कि पंचवस्तुके कर्ताके समयमें इस व्याकरणपर १ न्यास, २ वृत्ति, ३ भाष्य और ४ कई टीकाएँ, इतने टीका-ग्रन्थ मौजूद थे।

न्यास—उक्त टीकाओंमेंसे 'न्यास' तो शायद स्वयं पूज्यपादका ही

-
- १ सूत्रस्तम्भसमुद्भूतं प्रविलसन्त्यासोरत्नश्रिति-
श्रीमद्वृत्तिकपाटसंपुटयुतं भाष्योऽथशय्यातलम् ।
टीकामालमिहारुरुक्षुरचितं जैनेन्द्रशब्दागमं
प्रासादं पृथुपंचवस्तुकमिदं सोपानमारोहतात् ॥

होगा जो अभी तक अनुपलब्ध है। शिमोगा जिलेकी नगर तहसीलके ४६ वें शिलालेखमें लिखा है कि पूज्यपादने एक तो (अपने व्याकरणपर) जैनेन्द्र-संशक-न्यास और दूसरा पाणिनि व्याकरणपर शब्दावतार नामक न्यास बनाया। इसके सिवाय वैद्यकशास्त्र और तत्त्वार्थ-टीका भी लिखी।

यह निश्चय है कि पूज्यपाद केवल सूत्र-ग्रन्थ बनाकर ही न रह गये होंगे। अपनी मानी हुई अतिशय सूक्ष्म संज्ञाओं और परिभाषाओंका स्पष्टीकरण करनेके लिए उन्हें कोई टीका या वृत्ति अवश्य बनानी पड़ी होगी जिस तरह कि शाक-टायनने अपने व्याकरणपर अमोघवृत्ति नामकी स्वोपज्ञटीका बनाई।

आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्री (पृष्ठ १३२) में 'प्यखे कर्मण्युपसंख्यानात् का' यह वचन उद्धृत किया है। यह किसी व्याकरण ग्रन्थका वार्तिक है; परन्तु पाणिनिके किसी भी वार्तिकमें यह नहीं मिलता। अभयनन्दिकी महावृत्तिमें अवश्य ही "प्यखे कर्मणि का वक्तव्या" (४-१-३८) इस प्रकारका वार्तिक है; परन्तु अभयनन्दिकी वृत्ति विद्यानन्दसे पीछेकी बनी हुई है, इसलिए विद्यानन्दने यह वार्तिक अभयनन्दिकी वृत्तिसे नहीं किन्तु अन्य ही किसी ग्रन्थसे लिया होगा और वह स्वयं पूज्यपादकृत न्यास होगा।

भाष्य—जैनेन्द्रके भाष्यका अभी तक पता नहीं लगा।

आगे हम उपलब्ध टीकाग्रन्थोंका परिचय देते हैं—

१-महावृत्ति। इसकी एक प्रति पूनेके भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूटमें मौजूद है और एक प्रति बम्बईके सरस्वती-भवनमें भी है। पूनेकी प्रतिमें इसकी श्लोक-संख्या १२००० के लगभग है। प्रारम्भके ३१४ पत्र एक लेखकके लिखे हुए और शेष ७४ पत्र, चैत्र सुदी २ सं० १९३३ को किसी दूसरे लेखकके लिखे हुए हैं। प्रतिके दोनों ही भाग जयपुरके लिखे हुए मालूम होते हैं। कई स्थानोंमें

१-न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकल बुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो

न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा।

यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिह तां मात्यसौ पूज्यपाद-

स्वामी भूपालवन्द्यः स्वपरहितवचः पूर्णद्वन्द्वोधवृत्तः ॥

२ नं० ५९० A और B सन् १८७५-७६ की रिपोर्ट।

कुछ पंक्तियाँ छूटी हुई हैं और अन्तमें कोई प्रशस्ति आदि नहीं है ।

इस महावृत्तिके कर्ता अभयनन्दि मुनि हैं । उन्होंने न तो अपनी गुरु-परम्पराका ही परिचय दिया है और न ग्रन्थ-रचनाका समय ही दिया है परन्तु सूत्र ३-२-५५ की टीकामें एक जगह उदाहरण दिया है—
“ तत्त्वार्थवार्तिकमधीयते । ” इससे मालूम होता है कि भट्टकलंकदेवके बाद अर्थात् वि० की आठवीं नवीं शताब्दिके बाद—और पंचवस्तुके पूर्वोल्लिखित श्लोकमें इसी वृत्तिका उल्लेख जान पड़ता है, इस लिए आर्य श्रुतकीर्तिके अर्थात् विक्रमकी बारहवीं शताब्दिके पहले किसी समयमें वे हुए हैं । जैनेन्द्रकी उपलब्ध टीकाओंमें यही टीका सबसे प्राचीन मालूम होती है ।

२ शब्दांभोजभास्कर न्यास । बम्बईके सरस्वती-भवनमें इसकी दो अपूर्ण प्रतियाँ मौजूद हैं । एक प्रतिमें १४ वें पत्रसे २९९ तक और फिर ६२० वें पत्रसे ७०३ तकके ही पत्र हैं । १४ वें पत्रपर पहले अध्यायके पहले पादका १९ वाँ सूत्र चालू है और ७०३ पेजपर चौथे अध्यायके तीसरे पादका २११ वाँ सूत्र है । यह प्रति बहुत प्राचीन और शुद्ध है परन्तु आगसे झुलसी हुई है । दूसरी प्रतिमें केवल तीन अध्याय हैं । इसकी श्लोक संख्या १२००० है । इससे जान पड़ता है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ १६००० के लगभग होगा ।

अभयनन्दिकी वृत्तिसे यह बड़ा है और उससे पीछे बना है । इसमें महा-वृत्तिके शब्द ज्योंके त्यों ले लिये गये हैं और तीसरे अध्यायके अन्तके एक श्लोकमें अभयनन्दिको नमस्कार भी किया है ।

१-ओं नमः । श्रीमत्सर्वज्ञवीतरागतद्वचनतदनुसारिगुरुभ्यो नमः ।

देवदेवं जिन् नत्वा सर्वसत्त्वाभयप्रदम् ।

शब्दशास्त्रस्य सूत्राणां महावृत्तिर्विरच्यते ॥ १ ॥

यच्छब्दलक्षणमसुब्रजपारमन्यैरव्यक्तमुक्तमभिधानविधौ दरिद्रैः ।

तत्सर्वलोकहृदयप्रियचारुवाक्यैर्व्यक्तीकरोत्यभयनन्दिमुनिः समस्तम् ॥ २ ॥

शिष्टाचारपरिपालनार्थमादाविष्टदेवतानमस्कारलक्षणं मंगलमिदमाहाचार्यः ।

इत्यभयनन्दिर्विरचितायां जैनन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ।

समाप्तश्चायं पञ्चमोऽध्यायः ।

२—नमः श्रीवर्धमानाय महते देवनन्दिने ।

प्रभाचन्द्राय गुरवे तस्मैचामयनन्दिने ॥

इसके कर्त्ता प्रभाचन्द्राचार्य हैं और वे प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्याय-कुमुदचन्द्रके ही कर्त्ता मालूम होते हैं। क्योंकि इसके प्रारंभमें ही यह कहा गया है कि अनेकान्तकी चर्चा उक्त दोनों ग्रन्थोंमें की गई है, इस लिए यहाँ नहीं करते। अवश्य ही इसमें उन्होंने अपने ही ग्रन्थोंको देखनेके लिए कहा है, “अथ कोऽयमनेकान्तो नामेत्याह—अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानित्यत्वसामान्यासामान्याधिकरण्यविशेषणविशेष्यादिकोऽनेकान्तः स्वभावो यस्यार्थस्यासावनेकान्तः अनेकान्तात्मक इत्यर्थः। तत्र च प्रतिष्ठितमिथ्याविकल्पकल्पिताशेषविप्रतिपत्तिः प्रत्यक्षादिप्रमाणमेव प्रत्यस्तमयतीति (?) तद्धिततया तदात्मकत्वं चार्थस्य अध्यक्षतोनुमानादेश्च यथा सिद्ध्यति तथा प्रपञ्चतः प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्रतिरूपितमिह दृष्टव्यम्।

इसके मंगलाचरणमें पूज्यपाद और अकलंकको नमस्कार किया गया है। अन्तकी प्रशस्ति देखनेको मिली नहीं। उससे शायद कुछ विशेष प्रकाश पड़े।

३—पंचवस्तु। भांडारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूटमें इसकी दो प्रतियाँ मौजूद हैं, जिनमें एक ३००-४०० वर्ष पहलेकी लिखी हुई है और बहुत शुद्ध है। पत्रसंख्या ९१ है। इसपर लेखकका नाम और प्रति लिखनेका समय आदि नहीं है। इसके अन्तमें केवल इतना लिखा हुआ है—“कृतिरियं देवनंदाचार्यस्य परवादिमथनस्य ॥ छा ॥ शुभं भवतु लेखकपाठकयोः ॥ श्रीसंघस्य ॥”

दूसरी प्रति रत्नकरण्डश्रावकाचारवचनिका आदि अनेक भाषाग्रन्थोंके रचयिता सुप्रसिद्ध पण्डित सदासुखजीके हाथकी संवत् १९१० की लिखी हुई है।

१ नं० १०५९ सन् १८८७-९१ की रिपोर्ट। २ नं० ५९० सन् १८७५-७६ की रिपोर्ट। इस ग्रन्थकी एक प्रति परताबगढ़ (मालवा) के पुराने दि० जैनमन्दिरके मंडा-रमें भी है। देखो जैनमित्र ता० २६ अगस्त १९१५।

३—अब्दे नमश्चन्द्रविधिस्थिरांके शुद्धेसहस्र्यम् (?) युक्चतुर्थ्याम्।

सत्प्रक्रियाबन्धनिबन्धनेयं सद्वस्तुवृत्तीरदनात्समाप्ता (?) ॥

श्रीमन्नराणामधिवेशराशि श्रीरामसिंहे विलसत्यल्लेखि।

श्रीमद्भुधेनेह सदासुखेन श्रीयुक्तेलालनिजात्मबुद्धयै ॥

शान्दीयशास्त्रं पठितं न यैस्तैः स्वदेहसंपालनभारवद्भिः।

किं दर्शनीयं कथनीयमेतद् वृथांगसंघावपलापवद्भिः ॥

यह प्रति भी प्रायः शुद्ध है।

यह टीका प्रक्रिया-बद्ध है और बड़े अच्छे ढंगसे लिखी गई है। इसकी श्लोक-संख्या ३३०० के लगभग है। प्रारंभके विद्यार्थियोंके लिए बड़ी उपयोगी है।

इस ग्रन्थके आदि-अन्तमें कहीं भी कर्त्ताका नाम नहीं है। केवल एक जगह पाँचवें पत्रमें नाम आया है, जिससे मालूम होता है कि पंचवस्तुके रचयिता आर्य श्रुतकीर्ति हैं। ✓

कनहीं भाषाके चन्द्रप्रभचरित नामक ग्रन्थके कर्त्ता अमगल कविने श्रुतकीर्तिको अपना गुरु बतलाया है—“इदु परमपुरुषाथकुलभूभृत्समुद्भूतप्रवचनसरित्सरि-
न्नाथ—श्रुतकीर्तित्रैविद्यचक्रवर्तिपदपद्मनिधानदीपवर्तिश्रीमदगलदेवविरचिते चन्द्र-
प्रभचरिते—” इत्यादि। और यह चरित शक संवत् १०११ (वि० सं० ११४६) में बनकर समाप्त हुआ है। अतएव यदि आर्य श्रुतकीर्ति और श्रुतकीर्ति त्रैविद्य चक्रवर्ति एक ही हों तो पंचवस्तुको भी अभयनन्दि महावृत्तिके पीछेकी—
विक्रमकी बारहवीं शताब्दिके प्रारंभकी—रचना समझना चाहिए। नन्दि-संघकी गुर्वावलीमें श्रुतकीर्तिको वैयाकरण-भास्कर लिखा है।

ये नन्दि-संघ, देशीयगण और पुस्तकगच्छके आचार्य थे। श्रुतकीर्ति नामके और भी कई आचार्य हो गये हैं।

४—लघु जैनन्द्र। इसकी एक प्रति अंकलेश्वर (भरौच) के दिगम्बर जैन-मन्दिरमें है और दूसरी अधूरी प्रति परतागढ़ (मालवा) के पुराने दि० जैनमन्दिरमें। यह अभयनन्दिकी वृत्तिके आधारसे लिखी गई है। पण्डित महा-चन्द्रजी विक्रमकी इसी बीसवीं शताब्दिके ग्रन्थकर्त्ता हैं^४। इन्होंने संस्कृत,

१—याम-वैर-वर्ण-कर-चरणादीनां संधीनां बहूनां संभवत्वात् संशयानः शिष्यः संपृच्छ-
तिस्मै । कस्त्विधिरिति ।

संज्ञास्वरप्रकृतिहल्जविसर्गजन्मा संधिस्तु पंचक इतीत्यमिहाहुरन्ये ।

तत्र स्वरप्रकृतिहल्जविकल्पतोऽस्मिन्संधिं त्रिधा कथयति श्रुतकीर्तिरार्यः ॥

२—त्रैविद्यः श्रुतकीर्त्याख्यो वैयाकरणभास्करः ।

३ देखो जैनमित्र ता० २४ अगस्त १९१५ ।

४—महावृत्तिं शुभत्सकलबुधपूज्यां सुखकर्त्री,

विलोक्योद्यद्ज्ञानप्रभुविभयनन्दीप्रवहिताम् ।

अनेकैः सच्छब्दैर्भ्रमविगतकैः संदृढभूतां (?)

प्रकुर्वेऽहं (टीकां) तनुमतिमहाचन्द्रविबुधः (?)

प्राकृत और भाषामें कई ग्रन्थ लिखे हैं ।

५—जैनेन्द्र-प्रक्रिया । यह न्यायतीर्थ न्यायशास्त्री पं० बंशीधरजीने हाल ही लिखी है । इसका केवल पूर्वार्ध ही छपकर प्रकाशित हुआ है ।

शब्दार्णवकी टीकायें

जैनेन्द्र-सूत्र-पाठके संशोधित परिवर्धित संस्करणका नाम—जैसा कि पहले लिखा जा चुका है—शब्दार्णव है । इसके कर्ता आचार्य गुणनन्दि हैं । यह बहुत संभव है कि सूत्र-पाठके सिवाय उन्होंने इसकी कोई टीका या वृत्ति भी बनाई हो जो कि अभीतक उपब्ध नहीं हुई है ।

गुणनन्दि नामके कई आचार्य हो गये हैं । एक गुणनन्दिका उल्लेख श्रवण-बेलगोलके ४२, ४३ और ४७ वें नम्बरके लिखालेखोंमें मिलता है । ये बलाक-पिच्छके शिष्य और गुध्रपिच्छके प्रशिष्य थे । तर्क, व्याकरण और साहित्य शास्त्रोंके बहुत बड़े विद्वान् थे । इनके ३०० शास्त्रपारंगत शिष्य थे और उनमें ७२ शिष्य सिद्धान्तशास्त्री थे । आदि पंपके गुरु देवेन्द्र भी इन्हींके शिष्य थे^१ । कर्नाटक-कवि-चरितके कर्ताने इनका समय वि० संवत् ९५७ निश्चय किया है । क्योंकि इनके शिष्य देवेन्द्रके शिष्य आदि पंपका जन्म वि० सं० ९५९ में हुआ था और उसने ३९ वर्षकी अवस्थामें अपने सुप्रसिद्ध कनड़ी काव्य भारतचम्पू और आदिपुराण निर्माण किये हैं । हमारा अनुमान है कि ये ही गुणनन्दि शब्दार्णवके कर्ता होंगे ।

चन्द्रप्रभचरित महाकाव्यके कर्ता वीरनन्दिका समय शक संवत् ९०० के लगभग निश्चित होता है । क्यों कि वादिराजसूत्रिने अपने पार्श्वनाथकाव्यमें उनका स्मरण किया है और वीरनन्दिकी गुरुपरम्परा इस प्रकार है—१ श्री गुणनन्दि, २ विबुध गुणनन्दि, ३ अभयनन्दि और ४ वीरनन्दि । यदि पहले गुणनन्दि और वीरनन्दिके बीचमें हम ७८ वर्षका अन्तर मान लें, तो पहले गुणनन्दिका समय वही शक संवत् ८२२ या वि० सं० ९५७ के लगभग आ जायगा । इससे यह निश्चय होता है कि वीरनन्दिकी गुरुपरम्पराके प्रथम गुणनन्दि और आदि पम्पके

- १—तच्छिष्यो गुणनन्दिपण्डितयतिश्चारित्रचक्रेश्वरः,
 तर्कव्याकरणादिशास्त्रनिपुणः साहित्यविद्यापतिः ।
 मिथ्यात्वादिमदान्धसिन्धुरघटासंघातकण्ठीरवो,
 भव्याम्भोजदिवाकरो विजयतां कन्दर्पदर्पापहः ॥

गुरु देवेन्द्रके गुरु गुणनन्दि एक ही होंगे और जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं बहुत संभव है कि ये ही शब्दार्णवके कर्त्ता हों ।

गुणनन्दि नामके एक और आचार्य शक संवत् १०३७ (वि० सं० ११७२) में हुए हैं जो मेघचन्द्र त्रैविद्यके गुरु थे ।

शब्दार्णवकी इस समय दो टीकायें उपलब्ध हैं और दोनों ही सनातन-जैनग्रन्थमालामें छप चुकी हैं—१ शब्दार्णवचन्द्रिका, और २ शब्दार्णव-प्रक्रिया ।

(शब्दार्णव-चन्द्रिका । इसकी एक बहुत ही प्राचीन और अतिशय जीर्ण प्रति भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूटमें है । यह ताड़पत्रपर नागरी लिपिमें है । इसके आदि-अन्तके पत्र प्रायः नष्ट हो गये हैं । छपी हुई प्रतिमें जो गद्य-प्रशस्ति है, वह इसमें नहीं है और अन्तमें एक श्लोक है जो पूरा नहीं पढ़ा जाता—

इन्द्रश्चंद्रःशकटतनयः पाणिनिः पूज्यपादो

यत्प्रोवाचापिशालिरमरः काशकृत्स्न.....शब्दपारायणस्येति ।

इसके कर्त्ता श्रीसोमदेव मुनि हैं । ये शिलाहार वंशके राजा भोजदेव (द्वितीय) के समयमें हुए हैं और अर्जुरिका नामक ग्रामके त्रिभुवनतिलक नामक जैन-मन्दिरमें—जो कि महामण्डलेश्वर गंडरादित्यदेवका बनवाया हुआ था—उन्होंने इसे शक संवत् ११२७ (वि० सं० १२६२) में बनाया है । यह ग्राम इस समय आजरें नामसे प्रसिद्ध है और कोल्हापुर राज्यमें है । वादीभवज्रांकुश श्रीविशालकीर्ति पण्डितदेवके वैयावृत्यसे इस ग्रन्थकी रचना हुई है ^३ ।

१ नं० २५ सन् १८८०-८८ की रिपोर्ट ।

२ ये विशालकीर्ति वे ही मालूम होते हैं जिनका उल्लेख पं० आशाधरने अपने अनगार-धर्माभूतकी प्रशस्तिकी टीकामें 'वादीन्द्र विशालकीर्ति' के नामसे किया है और जिनकी उन्होंने न्यायशास्त्रमें पारंगत किया था । पं० आशाधर वि० सं० १२४९ के लगभग धारामें आये थे और वि० सं० १३०० तक उनके अस्तित्वका पता लगता है । अतः वे सोमदेवका वैयावृत्य करनेवाले विशालकीर्ति हो सकते हैं । पं० आशाधरके पाससे पढ़कर ही वे दक्षिणकी ओर चले आये होंगे ।

३ स्वस्ति श्रीकोल्हापुरदेशांतवैत्यांजुरिकामहास्थानयुधिष्ठिरावतारमहामण्डलेश्वरगंडरादित्यदेव-निर्मापितत्रिभुवनतिलकजिनालये श्रीमत्परमपरमेष्ठिश्रीनेमिनाथश्रीपादपद्माराधनबलेन वादीभवज्रांकुशश्रीविशालकीर्तिपण्डितदेववैयावृत्यतः श्रीमच्छिलाहारकुलकमलमार्तण्डतेजःपुंजराराधिराजपर-

इस ग्रन्थके मंगलाचरणके पहले श्लोकमें पूज्यपाद, गुणनन्दि और सोमदेव ये विशेषण वीर भगवानको दिये हैं और दूसरे श्लोकमें कहा है कि यह टीका मूलसंघीय मेघचन्द्रके शिष्य नागचन्द्र (भुजंगसुधाकर) और उनके शिष्य हरिचन्द्र यतिके लिए बनाई जाती है ।

गुणनन्दिकी प्रशंसा चुरादि धातुपाठके अन्तमें भी एक पद्यमें की गई है, जिसका अन्तिम चरण यह है—“ शब्दब्रह्मा स जीयादुणनिधिगुणनंदिव्रती-
 शस्सुसौख्यः । ” इसमें शब्दब्रह्मा विशेषण देकर गुणनन्दिको शब्दार्णव-व्याकरणका कर्ता ही प्रकट किया गया है ।

ये मेघचन्द्र आचारसारके कर्ता वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्तीके गुरु ही मालूम होते हैं । इन्हें सिद्धान्तज्ञतामें जिमसेन और वीरसेनके सदृश, न्यायमें अकलंकके समान और व्याकरणमें साक्षात् पूज्यपादसदृश बतलाया है । श्रवण-बेलगोलके नं० ४७, ५० और ५२ नम्बरके शिलालेखोंसे मालूम होता है कि इनका स्वर्गवास शक संवत् १०३७ (वि० सं० ११७२) में और उनके शुभचन्द्रदेव नामक शिष्यका स्वर्गवास शक संवत् १०६८ (वि० सं० १२०३) में हुआ था । तथा उनके दूसरे शिष्य प्रभाचन्द्रदेवने शक सं० १०४१ (वि० सं० ११७६) में एक महापूजाप्रतिष्ठा कराई थी । जब सोमदेवने शब्दार्णव-चन्द्रिका मेघचन्द्रके प्रशिष्य हरिचन्द्रके लिए शक सं० ११२७ (वि० सं० १२६२) में बनाई थी, तब मेघचन्द्रका समय वि० सं० ११७२ के लगभग माना जा सकता है ।

मेश्वरपरमभट्टारकपश्चिमचक्रवर्तिश्रीवीरभोजदेवविजयराज्ये शकवर्षेकसहस्रैकशतसप्तविंशति ११२७ तमक्रोधनसंवत्सरे स्वस्ति समस्तानवद्यविद्याचक्रचक्रवर्तिश्रीपूज्यपादानुरक्तचेतसा श्रीमत्सोम-
 देवमुनीश्वरेण विरचितेयं शब्दार्णवचन्द्रिका नाम वृत्तिरिति । इति श्रीपूज्यपादकृतजैनेन्द्र-
 महाव्याकरणं सम्पूर्णम् । ”

१—श्रीपूज्यपादममलं गुणनन्दिदेवं सोमामरव्रतिपपूजितपादयुग्मम् ।

सिद्धं समुन्नतपदं वृषभं जिनेन्द्रं सच्छब्दलक्षणमहं विनमामि वीरम् ॥ १ ॥

श्रीमूलसंघजलजप्रतिबोधमानोर्मेधेन्दुदीक्षितभुजंगासुधाकरस्य ।

राद्धान्ततोयनिधिवृद्धिकरस्य वृत्तिं रेमे ह्रीन्दुयतये वरदीक्षिताय ॥ २ ॥

नागचन्द्र नामके दो विद्वान् हो गये हैं, एक पद्म रामायणके कर्ता नागचन्द्र जिनका दूसरा नाम अभिनव पद्म था, और दूसरे लब्धिसारटीकाके कर्ता नागचन्द्र। पहले गृहस्थ थे और दूसरे मुनि। अभिनव पद्मके गुरुका नाम बालचन्द्र था जो मेघचन्द्रके सहाध्यायी थे और दूसरे स्वयं बालचन्द्रके शिष्य थे। इन दूसरे नागचन्द्रके शिष्य हरिचन्द्रके लिए यह वृत्ति बनाई गई है। इन्हें जो 'सिद्धान्ततोय-निधिवृद्धिकर' विशेषण दिया है उससे मालूम होता है, कि ये सिद्धान्तचक्रवर्ती या सिद्धान्त शास्त्रोंके ज्ञाता या टीकाकार होंगे।

२—शब्दार्णव-प्रक्रिया। यह जैनेन्द्र-प्रक्रियाके नामसे छपी है; परन्तु वास्तवमें इसका नाम शब्दार्णव-प्रक्रिया ही होगा। हमें इसकी कोई हस्तलिखित प्रति नहीं मिल सकी। जिस तरह अभयनन्दिकी वृत्तिके बाद उसीके आधारसे प्रक्रियारूप पंचवस्तु टीका बनी है, उसी प्रकार सोमदेवकी शब्दार्णव-चन्द्रिकाके बाद उसीके आधारसे यह प्रक्रिया बनी है। प्रकाशकोंने इसके कर्ताका नाम गुणनन्दि प्रकट किया है; परन्तु जान पड़ता है कि इसके अन्तिम श्लोकमें गुणनन्दिका नाम देखकर ही उन्होंने भ्रमवश इसके कर्ताका नाम गुणनन्दि समझ लिया है^१।

१ छपी हुई प्रतिके अन्तमें “ इति प्रक्रियावतारे कृद्धिधिः समाप्तः। समाप्त्यं प्रक्रिया। ” इस तरह छपा है। इससे भी इसका नाम जैनेन्द्र-प्रक्रिया नहीं जान पड़ता।

२ सत्संधिं दधते समासमभितः ख्यातार्थनामोन्नतं
निर्शातं बहुतद्धितं कृतमिहाख्यातं यशःशालिनम् ।
सैषा श्रीगुणनन्दितानितवपुः शब्दार्णवं निर्णयं
नावत्याश्रयतां विविक्षुमनसां साक्षात्स्वयं प्रक्रिया ॥ १
दुरितमदेभनिशुंभकुम्भस्थलभेदनक्षमोग्रनखैः ।
राजन्मृगाधिराजो गुणनन्दी भुवि चिरं जीयात् ॥ २
सन्मार्गे सकलसुखप्रियकरे संज्ञापिते सद्गने
दिग्वासस्सुचरित्रवानमलकः कांतो विवेकी प्रियः ।
सोयं यः श्रुतकीर्तिदेवयतिपो भट्टारकोत्तंसको
रंम्यान्मम मानसे कविपतिः सद्वाजहंवाश्विरम् ॥ ३

इनमेंसे पहले पद्यसे यह स्पष्ट है कि गुणनन्दिके शब्दार्णवके लिए यह प्रक्रिया नावके समान है और दूसरे पद्यमें कहा है कि सिंहके समान गुणनन्दि पृथ्वीपर सदा जयवन्त रहें। यदि इसके कर्त्ता स्वयं गुणनन्दि होते तो वे स्वयं ही अपने लिए यह कैसे कहते कि वे गुणनन्दि सदा जयवन्त रहें ? इससे तो साफ़ प्रकट होता है कि गुणनन्दि ग्रन्थकर्त्तासे कोई पृथक् ही व्यक्ति है जिसे वह श्रद्धास्पद समझता है।

तीसरे पद्यमें भट्टारकशिरोमणि श्रुतकीर्ति देवकी प्रशंसा करता हुआ कवि कहता है कि वे मेरे मनरूप मानसरोवरमें राजहंसके समान चिरकालतक विराजमान रहें। इसमें भी ग्रन्थकर्त्ता अपना नाम प्रकट नहीं करते हैं; परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि वे श्रुतिकीर्तिदेवके कोई शिष्य होंगे और संभवतः उन श्रुतिकीर्तिके नहीं जो पंचवस्तुके कर्त्ता हैं। ये श्रुतिकीर्ति पंचवस्तुके कर्त्तासे पृथक् जान पड़ते हैं। क्योंकि इन्हें प्रक्रियाके कर्त्ताने 'कविपति' बतलाया है, व्याकरणज्ञ नहीं। ये वे ही श्रुतिकीर्ति मालूम होते हैं जिनका समय प्रो० पाठकने शक संवत् १०४५ या वि० सं० ११८० बतलाया है^१। श्रवणवेल्गोलके जैन गुरुओंने 'चारुकीर्ति पण्डिताचार्य' का पद शक संवत् १०३९ के बाद धारण किया है और पहले चारुकीर्ति इन्हीं श्रुतकीर्तिके पुत्र थे^२। श्रवणवेल्गोलके १०८ वें शिलालेखमें^३ इनका जिक्र है और इनकी बहुत ही प्रशंसा की गई है।

प्रक्रियाके कर्त्ताने इन्हें भट्टारकोत्तंस और श्रुतकीर्तिदेवयतिप लिखा है और इस लेखमें भी भट्टारकयति लिखा है। अतः ये दोनों एक मालूम होते हैं। आश्चर्य नहीं जो इनके पुत्र और शिष्य चारुकीर्ति पण्डिताचार्य ही इस प्रक्रियाके कर्त्ता हों।

देवनन्दिका समय

१—लिङ्गानुशासनके कर्त्ता पं० वामन राष्ट्रकूट राजा जगत्तुंग या गोविन्द

१ देखो 'सिल्लिम्स आफ् संस्कृत ग्रामर' पृष्ठ ६७

२ देखो 'कर्नाटक जैन कवि' पृष्ठ २०।

३ तत्र सर्वशरीररिक्षाकृतमतिर्विजितेन्द्रियः।

सिद्धशासनवर्द्धनप्रतिलब्धकीर्तिकालापकः ॥ २२ ॥

विश्रुतश्रुतकीर्तिभट्टारकयतिस्समजायत।

प्रस्फुटद्वचनामृतांशुविनाशिताखिलद्वत्तमाः ॥ २३ ॥

तृतीयके समयमें हुए हैं और इस राजाने शक ७१६ से ७३६ (वि० ८५१—८७१) तक राज्य किया है । यह ग्रन्थकर्ता जैनेन्द्रका उल्लेख करता है । अर्थात् वि० सं० ८५० के लगभग जैनेन्द्र प्रख्यात व्याकरणोंमें गिना जाने लगा था । अतएव वह इस समयसे भी पहलेका बना हुआ होना चाहिए ।

२ “ सर्वादिः सर्वनाम ” (१-१-३५) सूत्र जैनेन्द्रका है, और उसका उल्लेख राजवार्तिक अध्याय १ सूत्र ११ की व्याख्यामें किया गया है । अतएव जैनेन्द्र व्याकरण राजवार्तिकसे पहलेका बना हुआ है । राजवार्तिकके कर्ता अकलंक-देवका समय पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यने वि० सं० ७७७ से लेकर ८३७ तक सिद्ध किया है । तब जैनेन्द्र व्याकरण वि० सं० ८०० से पहले बन चुका था । अब यह देखना चाहिए कि कितने पहले ।

३—मर्करा (कुर्ग) में एक प्राचीन ताम्र-पत्र शक संवत् ३८८ (वि० सं० ५२३) का लिखा हुआ मिला है । उस समय गंगवंशीय राजा अविनीत राज्य करता था । अविनीत राजाका नाम भी उक्त दान-पत्रमें है । उसमें कुन्द-कुन्दान्वय और देशीयगणके मुनियोंकी परम्परा इस प्रकार दी हुई है—गुणचन्द्र-अभयनन्दि-शीलभद्र-जनानन्दि-गुणनन्दि और चन्द्रनन्दि । पूर्वोक्त अविनीत राजाके बाद उसका पुत्र दुर्विनीत राजा हुआ है । ‘हिस्ट्री आफ कनड़ी लिटरेचर’ और ‘कर्नाटक-कविचरित्र’ (कनड़ी) के अनुसार इस राजाका राज्यकाल ई० सन् ४८२ से ५१२ (वि० ५३९-६९) तक है । यह कनड़ी भाषाका कवि था । भारविके किरातार्जुनीय काव्यके १५ सर्गोंकी कनड़ी टीका इसने लिखी थी । कर्नाटक-कविचरित्रके कर्ता लिखते हैं कि यह राजा पूज्यपाद यतीन्द्रका शिष्य था । अतः पूज्यपादको हमें विक्रमकी छठी शताब्दिके प्रारम्भका ग्रन्थकर्ता मानना चाहिए । मर्कराके उक्त ताम्रपत्रसे भी यह बात पुष्ट होती है । वि० संवत् ५२३ में अविनीत राजा था । उसके १६ वर्ष बाद वि० सं० ५३९ में उसके पुत्र दुर्विनीतका राजा होना सर्वथा संभव है और जिन चन्द्रनन्दिके समय उक्त ताम्र-पट लिखा गया है, सम्भवतः

१ व्याडिप्रणीतमथ वाररुचं सचान्द्रं जैनेन्द्रलक्षणगतं विविधं तथान्यत् ।

लिङ्गस्य लक्ष्म ही समस्य विशेषयुक्तमुक्तं मया परिमितं त्रिदशा इहायाः ॥ ३१

२ इन्डियन एण्टिकवेरी जिल्द १, पृष्ठ ३६३-६५ और एषियाफिका कर्नाटिका, जिल्द १ का पहला लेख । ३. आर० नरसिंहाचार्य एम० ए० कृत ।

उन्हींकी शिष्य-परम्परामें बालिक उन्हींके शिष्य या प्रशिष्य जैनेन्द्रके कर्ता देवनन्दि या पूज्यपाद होंगे क्योंकि ताम्रपत्रकी मुनि-परम्परामें नन्द्यन्त नाम अधिक हैं, और इनका भी नाम नन्द्यन्त है; अतः जबतक कोई प्रमाण इसका विरोधी न मिले, तब तक हमें देवनन्दिको कुन्दकुन्दाम्नाय और देशीय गणके आचार्य चन्द्रनन्दिका शिष्य या प्रशिष्य माननेमें कोई दोष नहीं दिखता। उनका समय प्रायः विक्रमकी छठी शताब्दिका प्रारम्भ ही समझना चाहिए।

४—इस समयकी पुष्टिमें एक और भी प्रमाण मिलता है। वि० सं० ९९० में बने हुए ‘दर्शनसार’ नामक प्राकृत ग्रन्थमें लिखा है कि पूज्यपादके शिष्य वज्रनन्दिने वि०सं० ५२६में दक्षिण मथुरा या मथुरामें द्राविडसंघकी स्थापना की। ✓

इससे भी पूज्यपादका समय छठी शताब्दिका प्रारम्भ ठीक ज्ञात होता है।

प्रो० पाठकके प्रमाण

स्वर्गीय डा० काशीनाथ बापूजी पाठकने अपने शाकटायन व्याकरणसम्बन्धी लेखमें जो जो प्रमाण जैनेन्द्रका समय निर्णय करनेके लिए दिये हैं उन सबको भी हम यहाँ उपयोगी समझकर दे देना चाहते हैं, यद्यपि वे सब शब्दार्णव-चन्द्रिकाके सूत्र-पाठको असली जैनेन्द्र-सूत्रपाठ मानकर दिये हैं।

१—जैनेन्द्रकौ एक सूत्र है—‘हस्तादेयेनुद्यस्तेये चेः’ (२-३-३६)। इस सूत्रके अनुसार ‘चि’ का ‘चाय’ हो जाता है, उस अवस्थामें जब कि हाथसे ग्रहण करने योग्य हो, उत् उपसर्गके बाद न हो और चोरी करके न लिया गया हो। जैसे ‘पुष्पप्रचायः’। हस्तादेय न होनेसे पुष्पप्रचय, उत् उपसर्ग

१ सिरिपुजपादसीसो दाविडसंघस्स कारगो दुट्ठो ।

णाभेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्थो ॥

पंचसए छब्बीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।

दक्खिणमहुरा जादो दाविडसंघो महामोहो ॥

२ देखो इंडियन एण्टिक्वेरी जिल्द ४३, पृष्ठ २०५-१२ ।

३ इन प्रमाणोंमें जहाँ जहाँ जैनेन्द्रका उल्लेख हो वहाँ वहाँ शब्दार्णव-चन्द्रिकाका सूत्र-पाठ समझना चाहिए। सूत्रोंके नम्बर भी उसीके अनुसार दिये गये हैं।

0 नवविण्णद का नाम महाभारत में भी है यह पुष्पांजय का उगल पुत्र चीन

बनाया है। इस सूत्रमें द्वादशवर्षात्मक बार्हस्पत्य संवत्सरपद्धतिको उल्लेख किया गया है। यह पद्धति प्राचीन गुप्त और कदम्बवंशी राजाओंके समय तक प्रचलित थी, इसके कई प्रमाण पाये गये हैं। प्राचीन गुप्तोंके शक संवत् ३९७ से ४५० (वि० सं० ४५४ से ५८५) तकके पाँच ताम्रपत्र पाये गये हैं। उनमें चैत्रादि संवत्सरोंका उपयोग किया गया है और इन्हीं गुप्तोंके समकालीन कदम्ब-वंशी राजा मृगेशवर्माके ताम्रपत्रमें भी पौष संवत्सरका उल्लेख है। इससे मालूम होता है कि इस बृहस्पति संवत्सरका सबसे पहले उल्लेख करनेवाले जैनेन्द्रव्याकरणके कर्त्ता हैं और इसलिए जैनेन्द्रकी रचनाका समय ईसवी सन्की पाँचवीं शताब्दिके उत्तरार्ध (विक्रमकी छठी शताब्दीके पूर्वार्ध) के लगभग होना चाहिए। यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि जैनेन्द्रकी रचना ईश्वरकृष्णके पहले अर्थात् वि० सं० ५०७ के पहले नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें वार्षगण्यका उल्लेख है।

यदि जैनेन्द्रका स्वयं देवनन्दिकृत न्यास उपलब्ध हो जाय, जिसके कि होनेका हमने अनुमान किया है, और उसमें इन सूत्रोंके विषयको प्रतिपादन करनेवाले वार्तिक आदि मिल जायँ—मिल जानेकी संभावना भी बहुत है—तो अवश्य ही पाठक महाशयके प्रमाण बहुत ही उपयोगी सिद्ध होंगे और इसी लिए हमने इन्हें यहाँ दे दिया है।

१ इस संवत्सरकी उत्पत्ति बृहस्पतिकी गति परसे हुई है, इस कारण इसे बार्हस्पत्य संवत्सर कहते हैं। जिस समय यह मालूम हुआ कि नक्षत्रमण्डलमेंसे बृहस्पतिकी एक प्रदक्षिणा लगभग १२ वर्षमें होती है, उसी समय इस संवत्सरकी उत्पत्ति हुई होगी, ऐसा जान पड़ता है। जिस तरह सूर्यकी एक प्रदक्षिणाके कालको एक सौर वर्ष और उसके १२ वें भागकी मास कहते हैं, उसी तरह इस पद्धतिमें गुरुके प्रदक्षिणा-कालको एक गुरु-वर्ष और उसके लगभग १२ वें भागको गुरु-मास कहते थे। सूर्यसान्ध्यके कारण गुरु-वर्षमें कुछ दिन अस्त रहकर जिस नक्षत्रमें उदय होता है, उसी नक्षत्रके नाम गुरु-वर्षके मासोंके नाम रखे जाते थे। ये गुरुके मास वस्तुतः सौर वर्षोंके नाम हैं, इस कारण इन्हें चैत्र संवत्सर, वैशाख संवत्सर आदि कहते थे। इस पद्धतिको अच्छी तरह समझनेके लिए लिए स्वर्गीय पं० शंकर बालकृष्ण दीक्षितका ' भारतीय ज्योतिःशास्त्राचा इतिहास ' और डा० फ्लीट्को ' गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स 'में इन्हीं दीक्षित महाशयका अंगरेजी निबन्ध पढ़ना चाहिए। ✓

जैनेन्द्रोक्त अन्य आचार्य

पाणिनि आदि वैयाकरणोंने जिस तरह अपनेसे पहलेके वैयाकरणोंके नामोंका उल्लेख किया है, उसी तरह जैनेन्द्रसूत्रोंमें भी नीचे लिखे पूर्वाचार्योंका उल्लेख मिलता है—

१ राट् भूतबलेः । ३-४-८३, २-गुणे श्रीदत्तस्यास्त्रियाम् । १-४-३४

३-कृवृषिमृजां यशोभद्रस्य । २-१-९९, ४-रात्रैः कृतिप्रभाचन्द्रस्य । ४-३-१८०

५-वेत्तेः सिद्धसेनस्य । ५-१-७, ६-चतुष्टयं समन्तभद्रस्य । ५-४-१४० ।

जहाँतक हम जानते हैं इन छहों आचार्योंमेंसे किसीका भी कोई व्याकरण-ग्रन्थ नहीं है । परन्तु जान पड़ता है इनके अन्य ग्रन्थोंमें कुछ भिन्न तरहके शब्दप्रयोग किये गये होंगे और उन्हींको व्याकरण-सिद्ध करनेके लिए ये सब सूत्र रच गये हैं । शाकटायनने भी इसीका अनुकरण करके तीन आचार्योंके मत दिये हैं । पूर्वोक्त आचार्योंमेंसे सिद्धसेन और समन्तभद्रके ग्रन्थ उपलब्ध हैं । उनके शब्द-प्रयोगोंकी बारीकीके साथ जाँच करनेसे इनकी सत्यता प्रमाणित हो सकती है ।

१ भूतबलि । भूतबलिका ठीक ठीक समय निश्चित करना कठिन है । इतना ही कहा जा सकता है कि वे वीर नि० सं० ६८३ के बाद हुए हैं ।

२ स्वामी समन्तभद्र और ३ सिद्धसेनका समय भी अभी तक एक तरहसे अनिश्चित-सा ही है ।^२

४ श्रीदत्त । आचार्य विद्यानन्दने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें श्रीदत्तके 'जल्प-निर्णय' नामक ग्रन्थका उल्लेख किया है जिससे मालूम होता है कि ये ६३ वादि-योंके जीतनेवाले बड़े भारी तार्किक थे । आदिपुराणके कर्ता जिनसेनसूरिने भी इनका स्मरण किया है और इन्हें वादि-गजोंका प्रभेदन करनेके लिए सिंह बतलाया है । वीरनिर्वाण संवत् ६८३ के बाद जो चार आरातीय मुनि हुए हैं, उनमें भी एकका नाम श्रीदत्त है । उनका समय वीरनिर्वाण सं० ७०० (शक सं० ९५ वि० सं० २३०) के लगभग होता है । यह भी संभव है कि आरातीय

१-२ इसके लिए पं० जुगलकिशोरजी मुस्तारका 'स्वामी समन्तभद्र' और प्रो० हीरालालजीकी धवलाकी 'भूमिका' देखिए ।

३ द्विप्रकारं जगौ जल्पं तत्त्व-प्रातिभगोचरम् । त्रिषष्टेर्वादिनां जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये ॥
४ श्रीदत्ताय नमस्तस्मै तपः श्रीदीप्तमूर्तये । कण्ठीरवायितं येन प्रवादीभप्रभेदने ॥४५

श्रीदत्त दूसरे हों और जल्प-निर्णयके कर्त्ता दूसरे, तथा इन्हीं दूसरेका उल्लेख जैनन्द्रमें किया गया हो ।

५ यशोभद्र । आदिपुराणमें संभवतः इन्हीं यशोभद्रका स्मरण करते हुए कहा है कि विद्वानोंकी सभामें जिनका नाम कीर्तन सुननेसे ही वादियोंका गर्व खर्व हो जाता है ।^१ इनके विषयमें और कोई उल्लेख नहीं मिला और न यही मालूम हुआ कि इनके बनाये हुए कौन कौन ग्रन्थ हैं ।

६ प्रभाचन्द्र । आदिपुराणमें जिनसेन स्वामीने प्रभाचन्द्र कविकी स्तुति की है, जिन्होंने चन्द्रोदयकी रचना की थी परन्तु ये प्रभाचन्द्र न्यायकुमुदचन्द्रके कर्त्तासे भिन्न कोई दूसरे ही प्राचीन ग्रन्थकर्त्ता हैं । हरिवंशपुराणमें भी इनका स्मरण किया गया है । ये कुमारसेनके शिष्य थे ।^२

पूज्यपादके उपलब्ध ग्रन्थ

जैनन्द्रके सिवाय पूज्यपादस्वामीके बनाये हुए अब तक केवल चार ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं और ये चारों ही छप चुके हैं—

१—सर्वार्थसिद्धि । आचार्य उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्रपर दिगम्बर सम्प्रदायकी उपलब्ध टीकाओंमें सबसे पहली टीका । अन्य सब टीकायें इसके बादकी हैं और वे सब इसको आगे रखकर लिखी गई हैं ।

२—समाधितंत्र । इसमें लगभग १०० श्लोक हैं, इसलिए इसे समाधिशतक भी कहते हैं । यह अध्यात्मका बहुत ही गम्भीर और तात्त्विक ग्रन्थ है । इसपर कई संस्कृत टीकायें लिखी गई हैं ।

३—इष्टोपदेश । यह केवल ५१ श्लोकोंका छोटा-सा ग्रन्थ है और सुन्दर तथा उपदेशपूर्ण है । पं० आशाधरने इसपर एक संस्कृत टीका लिखी है ।

४—दशभक्ति (संस्कृत)—प्रभाचन्द्राचार्यने अपने क्रियाकलापमें इसका कर्त्ता पूज्यपाद या पादपूज्यको बतलाया है । सिद्धभक्ति आदिका अप्रतिहत प्रवाह और गंभीर शैली देखकर यह संभव भी मालूम होता है ।

१—विदुष्विणीषु संसत्सु यस्य नामापि कीर्तितम् ।

निखर्वयति तद्वर्गे यशोभद्रः स पातु नः ॥ ४६ ॥

२ देखो न्यायकुमुदचन्द्रकी भूमिका ।

अनुपलब्ध ग्रन्थ

शब्दावतार न्यास और जैनेन्द्र न्यास—पूज्यपादका पाणिनि व्याकरणपर 'शब्दावतार' नामका न्यास है और जैनेन्द्रपर स्वोपज्ञ न्यास भी है जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है और जो अभीतक अप्राप्य हैं।

वैद्यक ग्रन्थ—शुभचन्द्राचार्यकृत ज्ञानार्णवके पूर्वोद्धृत श्लोकके 'काय' शब्दसे यह बात ध्वनित होती है कि पूज्यपादस्वामीका कोई वैद्यक ग्रन्थ भी था।

पूनेके भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूटमें 'पूज्यपादकृत वैद्यक' नामका एक ग्रन्थ है। परन्तु वह आधुनिक कनड़ीमें लिखा हुआ कनड़ी भाषाका ग्रन्थ है। उसमें न तो कहीं पूज्यपादका उल्लेख है और न वह उनका बनाया हुआ मालूम होता है। 'वैद्य-सार' नामका एक और ग्रन्थ अभी जैनसिद्धान्तभास्करमें प्रकाशित हुआ है और पूज्यपादका बतलाया गया है परन्तु वह निश्चयसे उनका नहीं है।

विजयनगरके हरिहरराजाके समयमें एक मंगराज नामके कनड़ी कवि हुए हैं। वि० सं० १४१६ के लगभग उनका अस्तित्व-काल है। स्थावर विषोकी प्रक्रिया और चिकित्सापर उन्होंने खगेन्द्रमणिदर्पण नामका एक ग्रन्थ लिखा है। वे उसमें आपको पूज्यपादका शिष्य बतलाते हैं और यह भी लिखते हैं कि यह ग्रन्थ पूज्यपादके वैद्यक ग्रन्थसे संगृहीत है। अभी हाल ही शोलापुरसे उग्रदित्याचार्यका 'कल्याणकारक' नामका वैद्यक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। उसमें भी अनेक जगह 'पूज्यपादेन भाषितः' कहकर पूज्यपादके वैद्यक ग्रन्थका उल्लेख किया गया है। उग्रदित्य राष्ट्रकूट अमोघवर्षके समयके बतलाये गये हैं; परन्तु हमें इसमें सन्देह है। उसकी प्रशस्तिकी भी बहुत-सी बातें सन्देहास्पद हैं।

हमारी समझमें जब तक ये सब ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो जाते हैं तब तक इनके विषयमें यह कहना कठिन है कि ये उन्हींके बनाये हुए हैं, या उनका नाम धारण करनेवाले दूसरोंके है।

सार-संग्रह—धवला (वेदनाखंड) के एक उद्धरणके आधारसे 'सारसंग्रह' नामक एक और ग्रन्थके होनेका अनुमान होता है—“तथा सारसंग्रहेऽप्युक्तं

पूज्यपादैः अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमपर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्यहेत्वपेक्षो निरवद्यप्रयोगो नय इति । ” यह कोई न्याय या सिद्धान्तका ग्रन्थ जान पड़ता है ।

‘जैनाभिषेक’ नामके एक और ग्रन्थका जिकर “जैनेन्द्रं निजशब्दभाग-मतुलं” आदि श्लोकमें किया गया है । यह श्लोक ऊपर दिया जा चुका है ।

कनड़ी पूज्यपादचरितमें पूज्यपादके बनाये हुए ‘अर्हत्प्रतिष्ठालक्षण’ और ‘शान्त्यष्टक’ ये दो ग्रन्थ और भी बतलाये हैं ।

पूज्यपाद-चरित

कनड़ी भाषाके इस चरितको चन्द्रय्य नामक कविने दुःषम कालके परिधावी संवत्सरकी आश्विन शुक्ल ५, शुक्रवार, तुलालग्रमें समाप्त किया है । यह कवि कर्नाटक देशके मलयनगरकी ‘ब्राह्मणगली’ का रहनेवाला था ।

चरितका सारांश यह है—

कर्नाटक देशके ‘कोले’ नामक ग्रामके माधवभट्ट नामक ब्राह्मण और श्रीदेवी ब्राह्मणीसे पूज्यपादका जन्म हुआ । ज्योतिषियोंने बालकको त्रिलोकपूज्य बतलाया, इस कारण उसका नाम पूज्यपाद रक्खा गया । माधवभट्टने अपनी स्त्रीके कहनेसे जैनधर्म स्वीकार कर लिया । भट्टजीके सालेका नाम पाणिनि था, उसे भी उन्होंने जैनी बननेको कहा, परन्तु प्रतिष्ठाके खयालसे वह जैनी न होकर मुडीगुंडग्राममें वैष्णव संन्यासी हो गया । पूज्यपादकी कमलिनी नामक छोटी बहिन हुई, वह गुणभट्टको ब्याही गई, और गुणभट्टको उससे नागार्जुन नामक पुत्र हुआ ।

पूज्यपादने एक बगीचेमें एक साँपके मुँहमें फँसे हुए मेंढकको देखा । इससे उन्हें वैराग्य हो गया और वे जैन साधु बन गये ।

पाणिनि अपना व्याकरण रच रहे थे । वह पूरा न हो पाया था कि उन्होंने अपना मरण-काल निकट आया जान कर पूज्यपादसे कहा कि इसे तुम पूरा कर दो । उन्होंने पूरा करना स्वीकार कर लिया ।

पाणिनि दुर्ध्यानवश मरकर सर्प हुए । एक बार उसने पूज्यपादको देखकर फूटकार किया, इसपर पूज्यपादने कहा, विश्वास रखो, मैं तुम्हारे व्याकरणको

१ इसके लिए प्रो० हीरालालजी जैन लिखित धवला (पुस्तक १) की भूमिकाके पृष्ठ ६०-६१ देखिए ।

पूरा कर दूँगा । इसके बाद उन्होंने पाणिनि व्याकरणको पूरा कर दिया ।

इसके पहले वे जैनैन्द्र व्याकरण, अर्हत्प्रतिष्ठालक्षण और वैद्यक ज्योतिष आदिके कई ग्रन्थ रच चुके थे ।

गुणभट्टके मर जानेसे नागार्जुन अतिशय दरिद्री हो गया । पूज्यपादने उसे पद्मावतीका एक मन्त्र दिया और सिद्ध करनेकी विधि भी बतला दी । उसके प्रभावसे पद्मावतीने नागार्जुनके निकट प्रकट होकर उसे सिद्ध-रसकी वनस्पति बतला दी ।

इस सिद्ध-रससे नागार्जुन सोना बनाने लगा । उसके गर्वका परिहार करनेके लिए पूज्यपादने एक मामूली वनस्पतिसे कई घड़े सिद्ध-रस बना दिया । नागार्जुन जब पर्वतोंको सुवर्णमय बनाने लगा, तब धरणेन्द्र-पद्मावतीने उसे रोका और जिनालय बनानेको कहा । तदनुसार उसने एक जिनालय बनवाया और पार्श्व-नाथकी प्रतिमा स्थापित की ।

पूज्यपाद पैरोंमें गगनगामी लेप लगाकर विदेहक्षेत्रको जाया करते थे । उस समय उनके शिष्य वज्रनन्दिने अपने साथियोंसे झगड़ा करके द्राविड़ संघकी स्थापना की ।

नागार्जुन अनेक मंत्र तंत्र तथा रसादि सिद्ध करके बहुत ही प्रसिद्ध हो गया । एक बार दो सुन्दरी स्त्रियाँ आईं जो गाने नाचनेमें कुशल थीं । नागार्जुन उनपर मोहित हो गया । वे वहीं रहने लगीं और कुछ समय बाद ही उसकी रसगुटिका लेकर चलती बनीं ।

पूज्यपाद मुनि बहुत समयतक योगाभ्यास करते रहे । फिर एक देव-विमानमें बैठकर उन्होंने अनेक तीर्थोंकी यात्रा की । मार्गमें एक जगह उनकी दृष्टि नष्ट हो गई थी, सो उन्होंने एक शान्त्यष्टक बनाकर ज्योंकी त्यों कर ली । इसके बाद उन्होंने अपने ग्राममें आकर समाधिपूर्वक मरण किया ।

इस चरितपर कोई टीका-टिप्पणी करना व्यर्थ है । इस तरहके न जाने कितने मनगढ़न्त और ऊलजलूल किस्से हमारे यहाँ इतिहासके नामसे चल रहे हैं ।

इस लेखके लिखनेमें हमें श्रद्धेय मुनि जिनविजयजी और पं० बेहचरदास जीवराजजी न्याय-व्याकरण तीर्थसे बहुत अधिक सहायता मिली है । इस लिए हम उक्त दोनों सज्जनोंके अत्यन्त कृतज्ञ हैं । मुनिमहोदयकी कृपासे हमको जो साधन-सामग्री प्राप्त हुई है; वह यदि न मिलती तो यह लेख शायद ही इस रूपमें पाठकोंके सम्मुख उपस्थित हो सकता ।

परिशिष्ट

[भगवद्वाग्वादिनीका विशेष परिचय]

इसके प्रारंभमें पहले ' लक्ष्मीरात्यन्तिकी यस्य ' आदि प्रसिद्ध मंगलाचरणका श्लोक लिखा गया था । परन्तु पीछेसे उसपर हस्ताल फेर दी गई है और उसकी जगह यह श्लोक और उत्थानिका लिख दी गई है—

ओं नमः पार्श्वाय

त्वरितमहिमदूतामंत्रितेनाद्भुतात्मा, विषममपि मघोना पृच्छता शब्दशास्त्रम् ।

श्रुतमदरिपुरासीद् वादिवृन्दाग्रणीनां परमपदपदुर्यः स श्रिये वीरदेवः ॥

अष्टवार्षिकोऽपि तथाविधमक्ताभ्यर्थनाप्रणुन्नः स भगवानिदं प्राह—सिद्धिरनेकान्तात् । १-१-१ ।

इसके बाद सूत्रपाठ शुरू हो गया है । पहले पत्रके ऊपर मार्जिनमें एक टिप्पणी इस प्रकार दी है जिसमें पाणिनि आदि व्याकरणोंको अप्रामाणिक ठहराया है—

“ प्रमाणपदव्यामुपेक्षणीयानि पाणिन्यादिप्रणीतसूत्राणि स्यात्कारवादित्रदूरत्वात्पत्रिाजकादिभाषितवत् । अप्रमाणानि च कपोलकल्पनामलिनानि हीनमातृकत्वात्तद्वदेव । ”

इसके बाद प्रत्येक पादके अन्तमें और आदिमें इस प्रकार लिखा है जिससे इस सूत्र-पाठके भगवत्प्रणीत होनेमें कोई सन्देह बाकी न रह जाय—

“ इति भगवद्वाग्वादिन्यां प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः । ओंनमः पार्श्वाय । स भगवानिदं प्राह । ”

सर्वत्र ' नमः पार्श्वाय ' लिखना भी हेतुपूर्वक है । जब ग्रन्थकर्ता स्वयं महावीर भगवान् हैं तब उनके ग्रन्थमें उनसे पहलेके तीर्थंकर पार्श्वनाथको ही नमस्कार किया जा सकता है । देखिए, कितनी दूरतक विचार किया गया है !

आगे अध्याय २ पाद २ के ' सहवहचल्यापतेरिः (६४) सूत्रपर निम्न प्रकार टिप्पणी दी है और सिद्ध किया है कि यदि यह व्याकरण भगवत्कृत न हो तो फिर सिद्धहैमके असुख सूत्रकी उपपत्ति नहीं बैठ सकती !—

“ इदं शब्दानुशासनं भगवत्कर्तृकमेव भवति । ' सहवहचल्यपतेरिधजिक्कुसुजन्नमेः किलिट् चवत्-डौ सासहिवावाहचाचलिपापति, ससिचाकिदधिजशिनेमीति सिद्धहैमसूत्रस्याऽन्यथानुपपत्तेः । शर्ववर्मपाणिन्योस्तु ' आहवणोपधालोमिन किद्वेच १, आहगमहनजनः किकिनौ लिट् चेति २ । ”

इसके बाद ३-२-२२ सूत्रपर इस प्रकार टिप्पणी दी है—

“ कथं न ह्यचः प्राग्भरेतेष्वादि क्षेत्रादिनियमि शिक्षाविशेषाः ।

कुमारशब्दः प्राच्यानामाश्विनं मासमूचिवान् ।

मैथुनं तु भिषक्तंत्रे वाचकं मधुसर्पिषः ॥

इत्याद्यन्यथानुपपत्तेरिति बौटिकतिमिरोपलक्षणम् ।”

इसके बाद ३-४-४२ सूत्र (स्तेयार्हत्वं) पर फिर एक टिप्पणी दी है—

“ इदं शब्दानुशासनं भगवत्कर्तृकमेव भवति । अर्हत्स्तोत च १, सहाद्वा २, सखिवणिगूढाद्यः ३, स्तेनान्नलुक् चे ४, ति सिद्धहैमसूत्रान्यथानुपपत्तेः । पाणिन्यादौ त्वार्हत्त्यशब्दं प्रति सूत्राभावात् । कथं सरस्वतीकंठाभरणे तदासिः । ऐन्द्रानुसारादर्हत्तशब्दतश्चेति पश्य । ”

फिर ३-४-४० सूत्र (रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य) पर एक टिप्पणी है । इसमें बौटिकों या दिगम्बरियोंका सत्कार किया गया है—

“ इदं शब्दानुशासनं भगवत्कर्तृकमेव भवति । रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य सूत्रस्य प्रक्षेपता स्फुटत्वात् । अतो बौटिकतिमिरोपलक्षणे—

देवनन्दिमतां मोहः प्रक्षेपरजसोपि चेत् ।

चिराय भवता रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य जीव्यतां ॥

पंचोत्तरः कः स्वचानासीः प्रमेन्दोः नम्र यस्य यः (?) ।

विस्मयो रम्येः शिष्ट्या स तं चेद्देवनन्दिनम् ॥ इति ।

विक्रमादितुखयुगाब्दे ४०६ देवनन्दी, ततो गुणनंदि-कुमारनंदि-लोकचंद्रा-नंतरं मुनिरैयुगाब्दे प्रथमः प्रभाचन्द्र इति बौटिके । ”

इसी तरह ४-३-७ (वेत्तेः सिद्धसेनस्य) सूत्रपर लिखा है—

“ वेत्तेः सिद्धसेनस्य, चतुष्टयं समंतभद्रस्य प्रक्षेपेऽर्वाच्यता स्फुटत्वात्, रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य वदिति बौटिकतिमिरोपलक्षणे । ”

अन्तमें ५-४-६५ (शङ्खोमि) सूत्रपर एक टिप्पणी दी है जिसमें पाणिनि आदि वैयाकरणोंकी असर्वशता सिद्ध की गई है—

“ प्रयोगाद्यातना माभूदनादिसिद्धा हि प्रयोगाः । ज्ञानिना तु केवलं ते प्रका-
श्येते न तु क्रियंत इति । अत एव शङ्खोटीति पाणिनीयसूत्रं वर्गप्रथमेभ्यः शकारः

१ यह ‘ बौटिकमतिमिरोपलक्षण ’ नामका कोई ग्रंथ है और संभवतः वाग्वादिनीके कर्ताका ही बनाया हुआ है ।

देवनन्दि और उनका जेनेन्द्र व्याकरण

स्वरयवरपरः शकाश्चकारं नवेति शर्ववर्मकर्तृककालापकसूत्रानुसारि । अत एव पाणिन्यादयोऽसर्वज्ञा इति सिद्धम् । अत एव तेषां तत्त्वत आसत्त्वाभाव इति सिद्धिः । नबभ्यः प्रभृतीनिस्त्रै निर्जरसैर्मुख्या यदि युक्तिस्ते मस्करिणैव भवत्कृतमास्ते न तु सारस्वतवाग्देव्या । शब्दछोटिप्रमुखैः सूत्रैस्तच्छुप्रभृतिपदादर्शी कालापपद्युजीवी पाणिनिरजिनत्वं प्रति नाव्यक्तः । ”

जहाँ सूत्रपाठ समाप्त होता है, वहाँ लिखा है:—

इत्याख्यद्वगवानर्हश्चुत्वेन्द्रस्तु मुदं वहन् ।

वादिवक्त्राब्जचन्द्रः स्वमंदिराभिमुखोऽभवत् ॥

आगे ग्रन्थ-प्रशस्ति देखिए—

“ ओं नमः सकलकलाकौशलपेशलशीलशालिने पार्श्वाय पार्श्वपार्श्वाय । स्वस्ति तत्प्रवचनसुधासमुद्रलहरीस्नायिभ्यो महामुनिभ्यः । परिसमाप्तं च जेनेन्द्रं नाम महाव्याकरणम् । तदिदं यत्स्वयं श्रीवीरप्रभुर्महोने पृच्छते प्रकाशयांचकार । सपादलक्षव्याख्यानकपरमतमदांधकारापहारपरममिति । नमः श्रीमच्चरमपरमेश्वरपादप्रसादविशदस्याद्वादनयसमुपासनगुणकोटिमत्कौटिकगणाविर्भूतचिद्विभूतिविमलचंद्रचां—द्रकुलविपुलवृहत्तपोनिगमनिर्गतनागपुरीयस्वच्छगच्छसमुत्थमुत्पविपार्श्वचंद्रशाखासु—खाकृतसुकृतिवररामेदूपाध्यायचारुचरणारविंदरजोराजीमधुकरानुकरवाचकपदवीपवि—त्रिताक्षयचंद्रचरणेभ्यः समुधी रक्तचंद्रम् । श्रीवीरात् २२६७ विक्रमनृपात्तु सं० १७९७ फाल्गुनसितत्रयोदशी भौमे तक्षकाख्यपुरस्थेन रत्नर्षिणा दर्शनपावित्र्याय लिखितं चिरं नद्यात् । ”

ग्रन्थके पहले पत्रकी खाली पीठपर भी कुछ टिप्पणियाँ हैं और उनमें अधिकांश वे ही हैं जो ऊपर दी जा चुकी हैं । शेष इस प्रकार हैं—

ओं नमः पार्श्वाय

जेनेन्द्रमैन्द्रतः सिद्धहैमतो जयहेमवत् । प्रकृत्यंतरदूरत्वान्नान्यतामेतुमर्हति ॥ कथं । इन्द्रश्रंद्रः काशकुत्स्नापिशलीशाकटायनाः । पाणिन्यमरजेनेद्रा जयंत्यष्टौ हि शाब्दिकाः ॥

इति (?) चतुर्थी तद्धितानुपलक्षणात् ।

यदिद्राय जिनेंद्रेण कौमारेऽपि निरूपितं । ऐंद्रं जैमैद्रमिति तत्प्राहुः शब्दानुशासनं ॥

यदावश्यकनिर्युक्तिः—

अहं तं अम्मापिअरो जाणित्ता अहियअट्ठवासं तु ।

कयकोउअलंकारं लेहायरिअस्स उवर्णिति ॥

सक्को अ तस्समक्खं भयवंतं आसणे निवेसित्ता ।

सहस्स लक्खणं पुच्छे वागरणं अवयवा इदं ॥ इति ॥

तदवयवाः केचन उपाध्यायेन गृहीताः । ततश्चैन्द्रं व्याकरणं संजातमिति हरिभद्रः ॥

यत्तु देवनंदिबौटिकं पूज्यपाद

इतीच्छंतस्तद्गुरुकाः पूज्यपादस्य लक्षणं ।

द्विसंधानकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ।

इति धनंजयकोषात्तदयुक्तं । नेति चेत्कथं जैनेन्द्रमिति । द्वादशस्वरमध्यमिति चेन्न इतरोपपदस्याभावात् । जैनकुमारसम्भववद्वतिरिति चेन्न । कुमारवर्दिद्रं प्रति श्लेषाभावात् थारीतिकततद्धितभावाच्च । तर्हि

लक्ष्मीरात्यंतिकी यस्य निरवद्यावभासते । देवनंदितपूजेशे नमस्तस्मै स्वयंभुवे ॥

का गतिरिति चेत् ।

लक्ष्मीरात्यंतिकीपद्यनुपशेषस्य किंतरां । ऐंद्रत्वयकि तत्त्वार्थे मोक्षमार्गस्य पद्यवत् ॥

मिवादयश्चेत्प्रथमं यदि हैमेत्वपेक्ष्यते ।

कालापकादि न तथा पट्वैन्द्रं महत्ते कृतिः ॥

पूर्वत्र । सिप् वस् मस् १ सिप् थस् थ २ तिप् तस् शि ३ इड् वहि महि १ थस आथां ध्वं २ त आताम् झड् ३ इति ।

आख्यातरीतिं प्रति देवराज्जे मिब्बस्मसो यः पितः राद्धितोदाः ।

जीवं प्रपन्नाहममात्थ विश्वे तत्त्रादिमं स्वां मतिमात्मनार्थं ॥

तर्हि सिद्धसेनादिविशेषोपि दुर्निवार इति चेन्न

जातामात्रोपि चिद्दीर्यं प्रत्यात्मशरणो सि यः ।

जनताका वराकीयं परात्मन् वीर तत्पुर ॥

इति बौटिकमततिमिरोपलक्षणस्य तुयैऽवकाशे इन्द्रजिनेन्द्रौ प्रत्युत्तरिणौ यदतोङ्-टातद्धिततत्स्वमसिभिड्ढैरेयमद्रैद्रं जैनेन्द्रं व्याकरणानां । सिद्धिमनेकांतादिच्छो अःX कXपाहं त्यतथारीते हैमागीकृतवर्त्मन्प्रक्षेपार्थविज्यचिरंजीया इति प्रसन्न चन्द्रोत्पले(?)

१ इसके आगे ४-३-७ सूत्रकी टिप्पणी जैसा ही लिखा है और फिर ३-४-४० सूत्रकी टिप्पणीके 'देवनन्दिमतां' आदि दो श्लोक दिये हैं ।

२ इसके आगे ५-४-६५ सूत्रकी टिप्पणी दी है ।

पण्डितवर आशाधर

विशाल अध्ययन और प्रतिभा

इस ग्रन्थके कर्त्ता पण्डित आशाधर एक बहुत बड़े विद्वान् हो गये हैं। शायद दिगम्बर सम्प्रदायमें उनके बाद उन जैसा बहुश्रुत, प्रतिभाशाली, प्रौढ़ ग्रन्थकर्त्ता और जैनधर्मका उद्योतक दूसरा नहीं हुआ। न्याय, व्याकरण, काव्य, अलंकार, शब्दकोश, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र, वैद्यक आदि विविध विषयोंपर उनका अधिकार था। इन सभी विषयोंपर उनकी अस्खलित लेखनी चली है और अनेक विद्वानोंने चिरकाल तक उनके निकट अध्ययन किया है।

उनकी प्रतिभा और पाण्डित्य केवल जैन शास्त्रों तक ही सीमित नहीं था, इतर शास्त्रोंमें भी उनकी अबाध गति थी। इसीलिए उनकी रचनाओंमें यथास्थान सभी शास्त्रोंके प्रचुर उद्धरण दिखाई पड़ते हैं और इसी कारण अष्टांगहृदय, काव्यालंकार, अमरकोश जैसे ग्रंथोंपर टीका लिखनेके लिए वे प्रवृत्त हुए। यदि वे केवल जैनधर्मके ही विद्वान् होते तो मालवनेश अर्जुनवर्माके गुरु बाल-सरस्वती महाकवि मदन उनके निकट काव्यशास्त्रका अध्ययन न करते और विन्ध्यवर्माके सन्धिविग्रह-मन्त्री कवीश बिल्हण उनकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा न करते। इतना बड़ा सम्मान केवल साम्प्रदायिक विद्वानोंको नहीं मिला करता। वे केवल अपने अनुयायियोंमें ही चमकते हैं, दूसरों तक उनके ज्ञानका प्रकाश नहीं पहुँच पाता।

उनका जैनधर्मका अध्ययन भी बहुत विशाल था। उनके ग्रन्थोंसे पता चलता है कि अपने समयके तमाम उपलब्ध जैन-साहित्यका उन्होंने अवगाहन किया था। विविध आचार्यों और विद्वानोंके मत-भेदोंका सामंजस्य स्थापित करनेके लिए उन्होंने जो प्रयत्न किया है वह अपूर्व है। वे 'आर्य संदधीत न तु विघटयेत' के माननेवाले थे, इसलिए उन्होंने अपना कोई स्वतंत्र मत तो कहीं प्रतिपादित नहीं किया है; परन्तु तमाम मत-भेदोंको उपस्थित करके उनकी विशद

चर्चा की है और फिर उनके बीच किस तरह एकता स्थापित हो सकती है, सो बतलाया है।

पण्डित आशाधर गृहस्थ थे, मुनि नहीं। पिछले जीवनमें वे संसारसे उपरत अवश्य हो गये थे, परन्तु उसे छोड़ा नहीं था, फिर भी पीछेके ग्रन्थकर्त्ताओंने उन्हें सूरि और आचार्य-कल्प कहकर स्मरण किया है और तत्कालीन भट्टारकों और मुनियोंने तो उनके निकट विद्याध्ययन करनेमें भी कोई संकोच नहीं किया है। इतना ही नहीं, मुनि उदयसेनने उन्हें 'नय-विश्वचक्षु' तथा 'कलि-कालिदास', और मदनकीर्ति यतिपतिने 'प्रज्ञापुंज' कहकर अभिनन्दित किया था। वादीन्द्र विशालकीर्तिको उन्होंने न्यायशास्त्र और भट्टारकदेव विनयचन्द्रको धर्मशास्त्र पढ़ाया था। इन सब बातोंसे स्पष्ट होता है कि वे अपने समयके अद्वितीय विद्वान् थे।

धारानगरी और नालछा

उन्होंने ग्रन्थ-प्रशस्तियोंमें अपना परिचय देते हुए लिखा है कि 'जिनधर्मोदयार्थं यो नलकच्छपुरेऽवसत्' अर्थात् जो जैनधर्मके उदयके लिए धारानगरीको छोड़ कर नलकच्छपुर (नालछा) में आकर रहने लगा। उस समय धारानगरी विद्याका केंद्र बनी हुई थी। वहाँ भोजदेव, विन्ध्यवर्मा, अर्जुनवर्मा जैसे विद्वान् और विद्वानोंका सम्मान करनेवाले राजा एकके बाद एक हो रहे थे। महाकवि मदनकी 'पारिजात-मञ्जरी' के अनुसार उस समय विशाल धारानगरीमें चौरासी चौराहे थे और वहाँ नाना दिशाओंसे आये हुए विविध विद्याओंके पण्डितों और कला-कोविदोंकी भीड़ लगी रहती थी। वहाँ 'शारदा-सदन' नामका एक दूर दूर तक ख्याति पाया हुआ विद्यापीठ था। स्वयं आशाधरजीने भी धारामें ही व्याकरण और न्यायशास्त्रका अध्ययन किया था। ऐसी धाराको भी जिसपर हरएक विद्वानको मोह होना चाहिए पण्डित आशाधरने जैनधर्मके ज्ञानको लुप्त होते देखकर उसके उदयके लिए छोड़ दिया और अपना सारा जीवन इसी कार्यमें लगा दिया।

वे लगभग पैंतीस वर्षके लम्बे समयतक नालछामें ही रहे और वहाँके नेमि-चैत्यालयमें एकनिष्ठतासे जैनसाहित्यकी सेवा और ज्ञानकी उपासना करते रहे।

१ चतुरशीतिचतुष्पथसुरसदनप्रधाने ... सकलदिगन्तरोपगतानेकत्रैविधसहृदयकलाकोविद-रसिकसुकविसंकुले ...

—पारिजातमञ्जरी

उनके प्रायः सभी ग्रन्थोंकी रचना नालंछाके उक्त नेमिचैत्यालयमें ही हुई है और वहीं वे अध्ययन अध्यापनका कार्य करते रहे हैं। कोई आश्चर्य नहीं, जो उन्हें धाराके 'शारदा-सदन' के अनुकरण पर ही जैनधर्मके उदयकी कामनासे 'श्रावक-संकुल' नालंछेके उक्त चैत्यालयको अपना विद्यालय बनानेकी भावना उत्पन्न हुई हो। जैनधर्मके उद्धारकी भावना उनमें प्रबल थी।

ऐसा मालूम होता है कि गृहस्थ रहकर भी कमसे कम 'जिनसहस्रनाम' की रचनाके समय वे संसार-देहभोगोंसे उदासीन हो गये थे और उनका मोहावेश शिथिल हो गया था। हो सकता है कि उन्होंने कोई गृहस्थकी उच्च प्रतिमा धारण कर ली हो, परन्तु मुनि-वेश तो उन्होंने धारण नहीं किया था, यह निश्चय है। हमारी समझमें मुनि होकर वे इतना उपकार शायद ही कर सकते जितना कि गृहस्थ रहकर ही कर गये हैं।

अपने समयके तपोधन या मुनि नामधारी लोगोंके प्रति उनको कोई श्रद्धा नहीं थी, बल्कि एक तरहकी वितृष्णा थी और उन्हें वे जिनशासनको मलिन करनेवाला समझते थे जिसको कि उन्होंने अपने धर्माभूतमें एक पुरातन श्लोकको उद्धृत करके व्यक्त किया है।^१

पण्डितजी मूलमें मांडलगढ़ (मेवाड़) के रहनेवाले थे। शहाबुद्दीन गोरीके आक्रमणोंसे त्रस्त होकर चरित्रकी रक्षाके लिए वे मालवाकी राजधानी धारामें बहुत-से लोगोंके साथ आकर बस गये थे।

वंश-परिचय

वे व्याघ्रखाल या बघेरखाल जातिके थे जो राजपूतानेकी एक प्रसिद्ध वैश्यजाति है। उनके पिताका नाम सल्लक्षण, माताका श्रीरत्नी, पत्नीका सरस्वती और पुत्रका छाहड़ था। इन चारके सिवाय उनके परिवारमें और कौन कौन थे, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता।

१ प्रमो भवाङ्गभोगेषु निर्विण्णो दुःखभीरुकः,

एष विज्ञापयामि त्वां शरण्यं करुणार्णवम् ॥

अद्य मोहग्रहावेशशैथिल्यात्किञ्चिदुन्मुखः ।

—जिनसहस्रनाम

२—पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैः बठरैश्च तपोधनैः ।

शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम् ॥

मालव-नरेश अर्जुनवर्मदेवका भाद्रपद सुदी १५ बुधवार सं० १२७२ का एक दानपत्र मिला है, जिसके अन्तमें लिखा है—“रचितमिदं महासन्धि० राजा सल्लखणसंमतेन राजगुरुणा मदननेन ।” अर्थात् यह दानपत्र महासन्धि-विग्रहिक मंत्री राजा सल्लखणकी सम्मतिसे राजगुरु मदनने रचा । इन्हीं अर्जुनवर्मके राज्यमें पं० आशाधर नालछेमें जाकर रहे थे और ये राजगुरु मदन भी वही हैं जिन्हें पं० आशाधरजीने काव्य-शास्त्रकी शिक्षा दी थी । इससे अनुमान होता है कि उक्त राजा सल्लखण ही संभव है कि आशाधरजीके पिता सल्लखण हों ।

जिस समय यह परिवार धारामें आया था उस समय विन्ध्यवर्मके सन्धि-विग्रहिक मंत्री (परराष्ट्र-सचिव) बिल्हण कवीश थे । उनके बाद कोई आश्चर्य नहीं जो अपनी योग्यताके कारण सल्लखणने भी वह पद प्राप्त कर लिया हो और सम्मानसूचक राजाकी उपाधि भी उन्हें मिली हो । पण्डित आशाधरजीने ‘अध्यात्म-रहस्य’ नामका ग्रन्थ अपने पिताकी आज्ञासे निर्माण किया था । यह ग्रन्थ वि० सं० १२९६ के बाद किसी समय बना होगा । क्योंकि इसका उल्लेख सं० १३०० में बनी हुई अनगारधर्माभूतटीकाकी प्रशस्तिमें तो है, परन्तु १२९३ में बने हुए जिनयज्ञकल्पमें नहीं है । यदि यह सही है तो मानना होगा कि आशाधरजीके पिता १२९६ के बाद भी कुछ समय तक जीवित रहे और उस समय वे बहुत ही वृद्ध थे । संभव है कि उस समय उन्होंने राज-कार्य भी छोड़ दिया हो ।

पण्डित आशाधरजीने अपनी प्रशस्तिमें अपने पुत्र छाहड़को एक विशेषण दिया है, “रंजितार्जुनभूपतिम् ।” अर्थात् जिसने राजा अर्जुनवर्मको प्रसन्न किया । इससे हम अनुमान करते हैं कि राजा सल्लखणके समान उनके पोते छाहड़को भी अर्जुनवर्मदेवने कोई राज्य-पद दिया होगा । अक्सर राजकर्मचारियोंके वंशजोंको एकके बाद एक राज-कार्य मिलते रहते हैं । पं० आशाधरजी भी कोई राज्य-पद पा सकते थे परन्तु उन्होंने उसकी अपेक्षा जिनधर्मोदयके कार्यमें लग जाना ज्यादा कल्याणकारी समझा ।

उनके पिता और पुत्रके इस सम्मानसे स्पष्ट होता है कि एक सुसंस्कृत और

१ अमेरिकन ओरियंटल सोसाइटीका जर्नल. वा० ७ और प्राचीन लेखमाला भाग १ पृ० ६-७ ।

राजमान्य कुलमें उनका जन्म हुआ था और शायद इसीलिए बाल-सरस्वती मदनोपाध्याय जैसे लोगोंने उनका शिष्यत्व स्वीकार करनेमें संकोच न किया ।

वि० सं० १२४९ के लगभग जब शहाबुद्दीन गोरीने पृथ्वीराजको कैद करके दिल्लीको अपनी राजधानी बनाया था और अजमेरपर भी अधिकार कर लिया था, तभी पण्डित आशाधर मांडलागढ़ छोड़कर धारामें आये होंगे । उस समय वे किशोर ही होंगे, क्योंकि उन्होंने व्याकरण और न्याय-शास्त्र वहीं आकर पढ़ा था । यदि उस समय उनकी उम्र १५-१६ वर्षकी रही हो तो उनका जन्म वि० सं० १२३५ के आसपास हुआ होगा । उनका अन्तिम उपलब्ध ग्रंथ (अनंगारधर्ममृतटीका) वि० सं० १३०० का है । उसके बाद वे कबतक जीवित रहे, यह पता नहीं । फिर भी निदान ६५ वर्षकी उम्र तो उन्होंने अवश्य पाई और उनके पिता तो उनसे भी अधिक दीर्घजीवी रहे ।

अपने समयमें उन्होंने धाराके सिंहासनपर पाँच राजाओंको देखा—

समकालीन राजा

१ विन्ध्यवर्मा—जिस समयमें वे धारामें आये उस समय यही राजा थे । ये बड़े वीर और विद्यारसिक थे । कुछ विद्वानोंने इनका समय वि० सं० १२१७ से १२३७ तक माना है । परन्तु हमारी समझमें वे १२४९ तक अवश्य ही राज्यासीन रहे हैं जब कि शहाबुद्दीन गोरीके आक्रमणोंसे त्रस्त होकर पण्डित आशाधरका परिवार धारामें आया था । अपनी प्रशस्तिमें इसका उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया है ।

२ सुभटवर्मा—यह विन्ध्यवर्माका पुत्र था और बड़ा वीर था । इसे सोहड़ भी कहते हैं । इसका राज्यकाल वि० सं० १२३७ से १२६७ तक माना जाता है । परन्तु वह १२४९ के बाद १२६७ तक होना चाहिए । पण्डित आशाधरके उपलब्ध ग्रन्थोंमें इस राजाका कोई उल्लेख नहीं है ।

३ अर्जुनवर्मा—यह सुभटवर्माका पुत्र था और बड़ा विद्वान्, कवि और गान-विद्यामें निपुण था । 'अमरसूतक' पर इसकी 'रससंजीविनी' नामकी टीका बहुत प्रसिद्ध है जो कि इसके पांडित्य और काव्यमर्मज्ञताको प्रकट करती है । इसीके समयमें महाकवि मदनकी 'पारिजातमंजरी' नाटिका वसन्तोत्सवके मौकेपर खेली गई थी । इसीके राज्य-कालमें पं० आशाधर नालछामें जाकर रहे

थे। इसके समयके तीन दान-पत्र मिले हैं। एक मांडूमें वि० सं० १२६७ का, दूसरा भरोचमें १२७० का और तीसरा मान्धातमें १२७२ का। इसने गुजरात-नरेश जयसिंहको हराया था।

४ देवपाल—अर्जुनवर्माके निस्सन्तान मरने पर यह गद्दीपर बैठा। इसकी उपाधि साहसमल्ल थी। इसके समयके सं० १२७५, १२८६ और १२८९ के तीन शिलालेख और १२८२ का एक दान-पत्र मिला है। इसीके राज्य-कालमें वि० सं० १२८५ में जिनयज्ञ-कल्पकी रचना हुई थी।

५ जैतुगिदेव (जयसिंह द्वितीय)—यह देवपालका पुत्र था। इसके समयके १३१२ और १३१४ के दो शिलालेख मिले हैं। पं० आशाधरने इसीके राज्य-कालमें १२९२ में त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र, १२९६ में सागारधर्माभूत-टीका और १३०० में अनगारधर्माभूत-टीका लिखी।

ग्रन्थ-रचना

वि० सं० १३०० तक पं० आशाधरजीने जितने ग्रन्थोंकी रचना की, उनका विवरण नीचे दिया जाता है—

१ प्रमेयरत्नाकर—इसे स्याद्वाद विद्याका निर्मल प्रसाद बतलाया है। यह गद्य ग्रंथ है और बीच बीचमें इसमें सुन्दर पद्य भी प्रयुक्त हुए हैं। अभीतक यह कहीं प्राप्त नहीं हुआ है।

२ भरतेश्वराभ्युदय—यह सिद्धयुक्त है, अर्थात् इसके प्रत्येक सर्गके अन्तिम वृत्तमें 'सिद्धि' शब्द आया है। यह स्वोपज्ञटीकासहित है। इसमें प्रथम तीर्थंकरके पुत्र भरतके अभ्युदयका वर्णन होगा। संभवतः महाकाव्य है। यह भी अप्राप्य है।

३ ज्ञानदीपिका—यह धर्माभूत (सागार-अनगार) की स्वोपज्ञ पंजिका टीका है। कोल्हापुरके जैन मठमें इसकी एक कनड़ी प्रति थी, जिसका उपयोग स्व० पं० कल्लापा भरमाप्पा निटवेने सागारधर्माभूतकी मराठी टीकामें किया था और उसमें टिप्पणीके तौरपर उसका अधिकांश छपा दिया था। उसीके आधारसे माणिकचन्द-ग्रन्थमालाद्वारा प्रकाशित सागारधर्माभूत सटीकमें भी उसकी अधिकांश टिप्पणियाँ दे दी गई थीं। उसके बाद मालूम हुआ कि उक्त कनड़ी प्रति जलकर नष्ट हो गई! अन्यत्र किसी मण्डारमें अभीतक इस पंजिकाका पता नहीं लगा।

४ राजीमती-विप्रलंभ—यह एक खण्ड-काव्य है और स्वोपशटीकासहित है। इसमें राजीमतीके नेमिनाथ-वियोगका कथानक है। यह भी अप्राप्य है।

५ अध्यात्म-रहस्य—योगाभ्यासका आरम्भ करनेवालोंके लिए यह बहुत ही सुगम योगशास्त्रका ग्रन्थ है। इसे उन्होंने अपने पिताके आदेशसे लिखा था। अप्राप्य है।

६ मूलाराधना-टीका—यह शिवार्यकी प्राकृत आराधनाकी टीका है जो कुछ समय पहले शोलापुरसे अपराजितसूरि और अमितगतिकी टीकाओंके साथ प्रकाशित हो चुकी है। जिस प्रतिपरसे वह प्रकाशित हुई है उसके कुछ पृष्ठ खो गये हैं, जिनमें सम्पूर्ण प्रशस्ति रही होगी।

७ इष्टोपदेश-टीका—आचार्य पूज्यपादके सुप्रसिद्ध ग्रन्थकी यह टीका माणिकचन्द्र-जैन-ग्रन्थ-मालाके तत्त्वानुशासनादि-संग्रहमें प्रकाशित हो चुकी है।

८ भूपालचतुर्विंशतिका-टीका—भूपालकविके प्रसिद्ध स्तोत्रकी यह टीका भी अबतक नहीं मिली।

९ आराधनासार-टीका—यह आचार्य देवसेनके आराधनासार नामक प्राकृत ग्रन्थकी टीका है। अप्राप्य।

१० अमरकोष-टीका—सुप्रसिद्ध कोषकी टीका। अप्राप्य।

११ क्रियाकलाप—बम्बईके ऐ० पन्नालाल सरस्वती-भवनमें इस ग्रन्थकी एक नई लिखी हुई अशुद्ध प्रति है, जिसमें ५२ पत्र हैं और जो १९७६ श्लोक प्रमाण है। यह ग्रन्थ प्रभाचन्द्राचार्यके क्रियाकलापके ढंगका है। ग्रन्थमें अन्त-प्रशस्ति नहीं है।^२

१ विन्ध्यवर्मा जिसकी गद्दीपर बैठा था, उस अजयवर्माके भाई लक्ष्मीवर्माका यह पौत्र था।

२—प्रारम्भके दो पद्य ये हैं—

जिनेन्द्रमुन्मूलितकर्मबन्धं प्रणम्य सन्मार्गकृतस्वरूपं।

अनन्तबोधोदिभवं गुणौघं क्रियाकलापं प्रकटं प्रवक्ष्ये ॥ १ ॥

योगिध्यानैकगम्यः परमविशदहृदयस्वरूपः सतत्त्व।

स्वान्तस्थे मैव साध्यं तदमलमतयस्तत्पदध्यानबीजं,

चित्तस्थैर्यं विधातुं तदनवगुणग्रामगाढाभरागं,

तत्पूजाकर्म कर्मच्छिदुरमति यथासूत्रमासूत्रयन्तु ॥ २ ॥

१२ काव्यालंकार-टीका—अलंकारशास्त्रके सुप्रसिद्ध आचार्य रुद्रटके काव्यालंकारपर यह टीका लिखी गई है। अप्राप्य।

१३ सहस्रनामस्तवन सटीक—पण्डित आशाधरका सहस्रनाम स्तोत्र सर्वत्र सुलभ है। छप भी चुका है। परन्तु उसकी स्वोपज्ञ टीका अभी तक अप्राप्य है। बम्बईके सरस्वती-भवनमें इस सहस्रनामकी एक टीका है परन्तु वह श्रुतसागरसूक्तित है।

१४ जिनयज्ञकल्प सटीक—जिनयज्ञकल्पका दूसरा नाम प्रतिष्ठासारोद्धार है। यह मूल मात्र तो पण्डित मनोहरलालजी शास्त्रीद्वारा सं० १९७२ में प्रकाशित हो चुका है। परन्तु इसकी स्वोपज्ञ टीका अप्राप्य है। इस ग्रन्थको पण्डित-जीने अपने धर्माभूतशास्त्रका एक अंग बतलाया है।

१५ त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र सटीक—यह ग्रन्थ कुछ समय पूर्व माणिकचन्द्र-ग्रन्थमालामें मराठी अनुवादसहित प्रकाशित हो चुका है। संस्कृत-टीकाके अंश टिप्पणीके तौरपर नीचे दे दिये गये हैं।

१६ नित्यमहोद्योत—यह स्नान-शास्त्र या जिनाभिषेक अभी कुछ ही समय पहले पण्डित पन्नालालजी सोनीद्वारा संपादित 'अभिषेकपाठ-संग्रह' में श्रीश्रुत-सागरसूक्तिकी संस्कृतटीकासहित प्रकाशित हो चुका है।

१७ रत्नत्रय-विधान—यह छोटा-सा आठ पत्रोंका ग्रन्थ बम्बईके ए० प० सरस्वती-भवनमें है।

१८ अष्टांगहृदयोद्योतिनी टीका—यह आयुर्वेदाचार्य वाग्भटके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ वाग्भट या अष्टांगहृदयकी टीका है और अप्राप्य है।

१९-२० सागार और अनगार-धर्माभूतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका—यह टीका पृथक् पृथक् दो जिल्दोंमें प्रकाशित हो चुकी है।

१—इसका मंगलचरण यह है—

श्रीवर्धमानमानम्य गौतमादींश्च सद्गुरुन्

रत्नत्रयविधिं वक्ष्ये यथाम्नायां विमुक्तये ॥

२ 'आशाधरविरचित पूजापाठ' नामसे लगभग चारसौ पृष्ठका एक ग्रन्थ श्री नेमीशा आदप्पा उपाध्ये, उदगाँव (कोल्हापुर) ने कोई २० वर्ष पहले प्रकाशित किया था। परन्तु उसमें आशाधरकी मुक्किलसे दो चार छोटी छोटी रचनायें होंगी, शेष सब दूसरोंकी हैं। और जो हैं वे उनके प्रसिद्ध ग्रन्थोंमेंसे ली गई जान पड़ती हैं।

इन बीस ग्रन्थोंमेंसे मूलाराधना-टीका, इष्टोपदेश-टीका, सहस्रनाम मूल (टीका नहीं), जिनयज्ञकल्प मूल (टीका नहीं), त्रिषष्टिस्मृति, धर्माभृतके सागार अनगार भागोंकी भव्य-कुमुदचंद्रिका टीका और नित्यमहोद्योत मूल (टीका नहीं) ये ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं और क्रियाकलाप उपलब्ध है। भरताभ्युदय और प्रमेय-रत्नाकरके नाम सोनागिरके भट्टारकजीके भण्डारकी सूचीमें अबसे लगभग २८ वर्ष पहले मैंने देखे थे। संभव है वे वहाँके भण्डारमें हों। हमारे खयालमें आशाधरजीका साहित्य नष्ट नहीं हुआ है। प्रयत्न करनेसे वह मिल सकता है।

रचनाका समय

पहले लिखा जा चुका है कि पण्डित आशाधरजीकी एक ही प्रशस्ति है जो कुछ पद्योंकी न्यूनाधिकताके साथ उनके तीन मुख्य ग्रन्थोंमें मिलती है।

जिनयज्ञकल्प वि० सं० १२८५ में, सागारधर्माभृत-टीका १२९६ में और अनगारधर्माभृत टीका सं० १३०० में समाप्त हुई है। जिनयज्ञकल्पकी प्रशस्तिमें जिन दस ग्रन्थोंके नाम दिये हैं, वे १२८५ के पहलेके बने हुए होने चाहिए। उसके बाद सागारधर्माभृत-टीकाकी समाप्ति तक अर्थात् १२९६ तक काव्यालंकार-टीका, सटीक सहस्रनाम, सटीक जिनयज्ञकल्प, सटीक त्रिषष्टिस्मृति और नित्यमहोद्योत ये पाँच ग्रन्थ बने। अन्तमें १३०० तक राजीमती-विप्रलम्भ, अध्यात्मरहस्य, रत्नत्रयविधान और अनगारधर्म-टीकाकी रचना हुई। मोटे तौरपर यही ग्रन्थ-रचनाका समय है।

त्रिषष्टिस्मृतिकी प्रशस्तिसे मालूम होता है कि वह १३९२ में बना है। इष्टोपदेश टीकामें समय नहीं दिया।

सहयोगी विद्वान्

१ पण्डित महावीर—ये वादिराज पदवीसे विभूषित पं० घरसेनके शिष्य शिष्य थे। पं० आशाधरजीने धारामें आकर इनसे जैनेन्द्र व्याकरण और जैन न्यायशास्त्र पढ़ा था।

२ उदयसेन मुनि—जान पड़ता है, ये कोई वयोज्येष्ठ प्रतिष्ठित मुनि थे और कवियोंके सुहृद् थे। इन्होंने पं० आशाधरजीको ' कलि-कालिदास ' कहकर अभिनन्दित किया था।

३-४ वादीन्द्र विशालकीर्ति और मदनकीर्ति यतिपति— विशाल-कीर्तिको पं० आशाधरने न्यायशास्त्र पढ़ाया था और इस परम अस्त्रका अभ्यास करके उन्होंने विपक्षियोंको जीता था । मदनकीर्ति विशालकीर्तिके शिष्य थे । पण्डित मदनकीर्तिके विषयमें राजशेखरसूरिके 'चतुर्विंशति-प्रबन्ध' में जो वि० सं० १४०५ में निर्मित हुआ है और जिसमें प्रायः ऐतिहासिक कथायें ही दी हैं 'मदनकीर्ति-प्रबन्ध' नामका एक प्रबन्ध है । उसका सारांश यह है कि मदनकीर्ति वादीन्द्र विशालकीर्तिके शिष्य थे । वे बड़े भारी विद्वान् थे । चारों दिशाओंके वादियोंको जीतकर उन्होंने 'महाप्रामाणिक-चूडामणि' पदवी प्राप्त की थी । एक बार गुरुके निषेध करनेपर भी वे दक्षिणापथको प्रयाण करके कर्नाटकमें पहुँचे । वहाँ विद्वत्प्रिय विजयपुरनरेश कुन्तिभोज उनके पाण्डित्यपर मोहित हो गये और उन्होंने उनसे अपने पूर्वजोंके चरित्रपर एक ग्रन्थ निर्माण करनेको कहा । कुन्तिभोजकी कन्या मदन-मञ्जरी सुलेखिका थी । मदनकीर्ति पद्य-रचना करते जाते थे और मञ्जरी एक पर्देकी आड़में बैठकर उसे लिखती जाती थी ।

कुछ समयमें दोनोंके बीच प्रेमका आविर्भाव हुआ और वे एक दूसरेको चाहने लगे । जब राजाको इसका पता लगा तो उसने मदनकीर्तिको वध करनेकी आज्ञा दे दी । परन्तु जब उनके लिए कन्या भी अपनी सहेलियोंके साथ मरनेके लिए तैयार हो गई, तो राजा लाचार हो गया और उसने दोनोंको विवाह-सूत्रमें बाँध दिया । मदनकीर्ति अन्त तक गृहस्थ ही रहे और विशालकीर्तिद्वारा बार बार पत्रोंसे प्रबुद्ध किये जाने पर भी उससे मस नहीं हुए ।

श्रीसोमदेवमुनिकृत शब्दार्णवचन्द्रिकाकी प्रशस्तिसे मालूम होता है कि उन्होंने कोल्हापुर प्रान्तान्तर्गत अर्जुरिका नामक ग्राममें शक संवत् ११२७ (वि० सं० १६२) में वादीभवज्राकुश विशालकीर्ति पण्डितदेवके वैयावृत्यसे अपने इस ग्रन्थकी रचना की और उस समय वहाँ शिलाहारवंशीय वीर भोजदेवका राज्य था ।

१ " स्वस्ति श्रीकोल्हापुरदेशान्तवर्त्यार्जुरिकामहास्थानयुधिष्ठिरावतारमहामण्डलेश्वर-गंडरादित्यदेवनिर्मापितत्रिभुवनतिलकजिनालये श्रीत्परमपरमेश्वित्रीनेमिनाथश्रीपादपद्माराधनवलेन वादीभवज्राकुशश्रीविशालकीर्तिपण्डितदेववैयावृत्यतः श्रीमच्छिलाहारकुलकमलमार्तण्डतेजःपुञ्ज-राजाधिराजपरमेश्वरपरमभट्टारकपश्चिमचक्रवर्ति-श्रीवीरभोजदेवविजयराज्ये शकवर्षैकसहस्रैकशत-सप्तविंशति ११२७ तम क्रोधनसंवत्सरे स्वस्ति समस्तानवद्य-विद्याचक्रवर्तिश्रीपूज्यपादानुरक्त-चेतसा श्रीमत्सोमदेवमुनीश्वरेण विरचितेयं शब्दार्णवचन्द्रिका नामवृत्तिरिति । इति श्रीपूज्य-पादकृतजैनेन्द्रमहाव्याकरणं सम्पूर्णम् ।

यह समय पं० आशाधरके समयसे मेल खाता है और यह अनुमान करनेके लिए ललचाता है कि विशालकीर्ति अपने शिष्य मदनकीर्तिको समझानेके लिए शायद कोल्हापुरकी तरफ गये हों और तभी उन्होंने सोमदेवकी वैयावृत्ति की हो। प्रबन्धवर्णित विजयपुरनरेश कुन्तिभोज और सोमदेववर्णित वीर भोजदेव भी एक ही मालूम होते हैं।

यह प्रबन्ध मदनकीर्तिसे कोई सौ वर्ष बाद लिखा गया है। इससे सम्भव है कि इसमें कुछ अतिशयोक्ति हो, घटनाको कुछ गहरा रंग दे दिया गया हो या तोड़ा मरोड़ा गया हो, परन्तु इसमें कुछ तथ्य जरूर है।

मदनकीर्तिकी बनाई हुई 'शासनचतुस्त्रिंशतिका' नामक पाँच पत्रोंकी एक पोथी हमारे पास है जिसमें मंगलचरणके एक अनुष्टुप श्लोकके अतिरिक्त ३४ शार्दूलविक्रीडित वृत्त हैं और प्रत्येकके अन्तमें 'दिग्वाससां शासनं' पद है। यह एक प्रकारका तीर्थक्षेत्रोंका स्तवन है जिसमें पोदनपुर, बाहुबलि, श्रीपुर-पार्श्वनाथ, शंख-जिनेश्वर, दक्षिण गोम्मट, नागद्रह-जिन, मेदपाट (मेवाड़) के नागफणी ग्रामके पल्ली-जिनेश्वर, मालवाके मङ्गलपुरके अभिनन्दन जिन, आदिकी स्तुति हैं।

इसमें जो म्लेच्छोंके प्रतापका आगमन बतलाया है, उससे ये पं० आशाधरजीके ही समकालीन मालूम होते हैं। रचना इनकी प्रौढ़ है। पं० आशाधरजीकी प्रशंसा इन्हींने की होगी। अभीतक इनका और कोई ग्रन्थ नहीं मिला है।

५ बिल्हण कवीश—बिल्हण नामके अनेक कवि हो गये हैं। उनमें विद्यापति बिल्हण बहुत प्रसिद्ध हैं, जिनका बनाया हुआ विक्रमांकदेव-चरित है।

१ इस प्रतिमें लिखनेका समय नहीं दिया है परन्तु वह दोतीनसौ वर्षसे कम पुरानी नहीं मालूम होती। जगह जगह अक्षर उड़ गये हैं जिससे बहुतसे पद्य पूरे नहीं पढ़े जाते।

२ श्रीजिनप्रभसूरिके 'विविध तीर्थकल्प' में 'अवन्तिदेशस्थ अभिनन्दनदेवकल्प' नामका एक कल्प है, जिसमें अभिनन्दन जिनकी भग्न मूर्तिके जुड़ जाने और अतिशय प्रकट होनेकी कथा दी है। शासनचतुस्त्रिंशतिकाका मंगलपुरवाला पद्य यह है—

श्रीमन्मालवदेशमंगलपुरे म्लेच्छप्रतापागते

भग्ना मूर्तिरथोभियोजितशिराः सम्पूर्णतामाययौ।

यस्योपद्रवनाशिनः कलियुगेऽनेकप्रभावैर्युतः,

स श्रीमानभिनन्दनः स्थिरयतं दिग्वाससां शासनं ॥ ३४ ॥

यह कवि कांसीरनरेश कलशके राज्य-कालमें वि० सं० १११९ के लगभग कांसीरसे चला था और जिस समय धारामें पहुँचा उस समय भोजदेवकी मृत्यु हो चुकी थी। इससे वे आशाधरके प्रशंसक नहीं हो सकते। भोजकी पाँचवीं पीढ़ीके राजा विन्ध्यवर्माके मंत्री बिल्हण उनसे बहुत पीछे हुए हैं। चौर-पंचासिका या बिल्हण-चरितका कर्ता बिल्हण भी इनसे भिन्न था। क्योंकि उसमें जिस चैरसिंह राजाकी कन्या शशिकलाके साथ बिल्हणका प्रेम-सम्बन्ध वर्णित है वह वि० सं० ९०० के लगभग हुआ है। शार्ङ्गधर-पद्धति, सूक्तमुक्तावली आदि सुभाषित-संग्रहोंमें बिल्हण कविके नामसे ऐसे बहुतसे श्लोक मिलते हैं जो न विद्यापति बिल्हणके विक्रमांकदेवचरित और कर्णसुन्दरी नाटिकामें हैं और न चौर-पंचासिकामें। क्या आश्चर्य है जो वे इन्हीं मंत्रिवर बिल्हण कविके हों।

मांडूमें मिले हुए विन्ध्यवर्माके लेखमें इन बिल्हणका इन शब्दोंमें उल्लेख किया है—“विन्ध्यवर्म-नृपतेः प्रसादभूः। सान्धिविग्रहकबिल्हणः कविः।” अर्थात् बिल्हणकवि विन्ध्यवर्माके कृपापात्र और परराष्ट्र-सचिव थे।

६-पं० देवचन्द्र—इन्हें पण्डित आशाधरजीने व्याकरण-शास्त्रमें पारंगत किया था।

७-भट्टारक विनयचन्द्र—इष्टोपदेशकी टीकाके अनुसार ये सागरचन्द्र मुनीन्द्रके शिष्य थे और इन्हें पण्डितजीने धर्मशास्त्रका अध्ययन कराया था। इन्हींके कहनेसे उन्होंने इष्टोपदेशकी टीका बनाई थी।

८-महाकवि मदनोपाध्याय—हमारा अनुमान है कि ये विन्ध्यवर्माके संधिविग्रहिक मंत्री बिल्हण कवीशके ही पुत्र होंगे। ‘बाल-सरस्वती’ नामसे ये प्रख्यात थे और मालवनरेश अर्जुनवर्माके गुरु थे। अर्जुनवर्माने अपनी अमर-शतककी संजीविनी टीकामें जगह जगह ‘यदुक्तमुपाध्यायेन बाल-सरस्वत्यापर-नाम्ना मदनेन’ लिखकर इनके अनेक पद्य उद्धृत किये हैं। उनसे मालूम होता है कि मदनका कोई अलंकारविषयक ग्रन्थ था। महाकवि मदनकी पारिजातमंजरी नामकी एक नाटिका थी, जिसके दो अंक धारकी ‘कमाल मौला’ मसजिदमें पत्थरोंपर खुदे हुए मिले हैं। अनुमान किया जाता है कि शेष अंकोंके पत्थर भी उक्त मसजिदमें ही कहीं लगे होंगे। पहले यह नाटिका महाराजा भोज-

१ देखिए आगे प्रशस्तिके ६-७ वें पृष्ठ।

देवद्वारा स्थापित शारदा-सदन नामक पाठशालामें उत्कीर्ण करके रखी गई थी और वहीं खेली गई थी। अर्जुनवर्मदेवके जो तीन दान-पत्र मिले हैं वे इन्हीं मदनोपाध्यायके रचे हुए हैं। उनके अंतमें लिखा है—“ रचितभिदं राजगुरुणा मदनेन । ’ मदन गौड़ ब्राह्मण थे। पण्डित आशाधरजीने इन्हें काव्य-शास्त्र पढ़ाया था।

९-पंडित जाजाक—इनकी प्रेरणासे पण्डितजीने प्रतिदिनके स्वाध्यायके लिए त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रकी रचना की थी। इनके विषयमें और कुछ नहीं मालूम हुआ।

१० हरदेव—ये खण्डेलवाल श्रावक थे और अल्हण-सुत पापा साहुके दो पुत्रोंमेंसे (बहुदेव और पद्मसिंहमेंसे) बहुदेवके पुत्र थे। उदयदेव और स्तंभदेव इनके छोटे भाई थे। इन्हींकी विश्वाससे पण्डितजीने अनगारधर्मावृत्तकी भव्यकुमुद-चन्द्रिका टीका लिखी थी।

११ महीचन्द्र साहु—ये पौरपाट वंशके अर्थात् परवार जातिके समुद्रश्रेष्ठिके लड़के थे। इनकी प्रेरणासे सागारधर्मावृत्तकी टीकाकी रचना हुई थी और इन्हींने उसकी पहली प्रति लिखी थी।

१२ धनचन्द्र—इनका और कोई परिचय नहीं दिया है। सागारधर्म-टीकाकी रचनाके लिए इन्होंने भी उपरोध किया था।

१३ केलहण—ये खण्डेलवालवंशके थे और इन्होंने जिन भगवानकी अनेक प्रतिष्ठायें कराके प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। सूक्तियोंके अनुरागसे अर्थात् सुन्दर कवित्व-पूर्ण रचना होनेके कारण इन्होंने ‘ जिनयज्ञ-कल्प ’ का प्रचार किया था। यज्ञ-कल्पकी पहली प्रति भी इन्हींने लिखी थी।

१४ घीनाक—ये भी खण्डेलवाल थे। इनके पिताका नाम महण और माताका कमलश्री था। इन्होंने त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रकी सबसे पहली प्रति लिखी थी।

कवि अहर्ददास—ये मुनिमुव्रतकाव्य, पुरुदेवचम्पू और भव्यजनकंठारभरणके कर्ता हैं। पं० जिनदास शास्त्रीके खयालसे ये भी पण्डित आशाधरके शिष्य थे। परन्तु इसके प्रमाणमें उन्होंने जो उक्त ग्रन्थोंके पद्य उद्धृत किये हैं, उनसे तो इतना ही मालूम

* पौरपाट और परवार एक ही हैं, इसके लिए देखिए ‘ परवार जातिके इतिहासपर प्रकाश ’ शीर्षक लेख।

होता है कि आशाधरकी सूक्तियोंसे और ग्रन्थोंसे उनकी दृष्टि निर्मल हो गई थी। वे उनके साक्षात् शिष्य थे, या उनके सहवासमें रहे थे, यह प्रकट नहीं होता। पण्डित आशाधरजीने भी उनका कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। अब उन पद्योंपर विचार कीजिए।

मुनिमुव्रत काव्यके अन्तमें कहा है कि कुमार्गोंसे भरे हुए संसाररूपी वनमें जो एक श्रेष्ठ मार्ग था, उसे छोड़कर मैं बहुत काल तक भटकता रहा, अन्तमें बहुत थककर किसी तरह काललब्धिवश उसे फिर पाया। सो अब जिन-वचनरूप क्षीरसागरसे उद्धृत किये हुए धर्मामृत (आशाधरके धर्मामृतशास्त्र ?) को सन्तोषपूर्वक पी पीकर और विगतश्रम होकर मैं अर्हद्भगवानका दास होता हूँ।^१

मिथ्यात्व-कर्म-पटलसे बहुत काल तक ढँकी हुई मेरी दोनों आँखें जो कुमार्गमें ही जाती थीं, आशाधरकी उक्तियोंके विशिष्ट अंजनसे स्वच्छ हो गईं और इस लिए अब मैं सत्यका आश्रय लेता हूँ।^२

इसी तरह पुरुदेवचम्पूके अन्तमें आँखोंके बदले अपने मनके लिए कहा कि “मिथ्यात्वकी कीचड़से गँदले हुए मेरे इस मानसमें जो कि अब आशाधरकी सूक्तियोंकी निर्मलीके प्रयोगसे प्रसन्न या स्वच्छ हो गया है।”^३

भव्यकण्ठाभरणमें भी आशाधरसूरिकी इसी तरह प्रशंसा की है कि उनकी सूक्तियाँ भवभीरु ग्रहस्थों और मुनियोंके लिए सहायक हैं।

इन पद्योंमें स्पष्ट ही उनकी सूक्तियों या उनके सद्ग्रन्थोंका ही संकेत है जिनके द्वारा अर्हद्दासजीको सन्मार्गकी प्राप्ति हुई थी, गुरु-शिष्यत्वका नहीं।

हाँ, चतुर्विंशति-प्रबन्धकी पूर्वोक्त कथाको पढ़नेके बाद हमारा यह कल्पना करनेको जी अवश्य होता है कि कहीं मदनकीर्ति ही तो कुमार्गमें ठोकरें खाते खाते अन्तमें आशाधरकी सूक्तियोंसे अर्हद्दास न बन गये हों। पूर्वोक्त ग्रन्थोंमें जो भाव

१—धावन्कापथसंभृते भववने सन्मार्गमेकं परम्

त्यक्त्वा श्रान्तराश्रिराय कथमप्यासाद्य कालादमुम् ।

सद्धर्मामृतमुद्धृतं जिनवचःक्षीरोदधेरादरात्,

पायं पायमितः श्रमः सुखपथं दासो भवाम्यर्हतः ॥ ६४ ॥

२—मिथ्यात्वकर्मपटलैश्चिरमावृते मे युग्मे दृशेः कुपथयाननिदानभूते ।

आशाधरोक्तिरसदंजनसंप्रयोगैरच्छीकृते पृथुलसत्यमाश्रितोऽस्मि ॥ ६५ ॥

३—मिथ्यात्वपंककलुषे मम मानसेऽस्मिन्नाशाधरोक्तिकतकप्रसरैः प्रसन्ने ।

व्यक्त किये गये हैं, उनसे तो इस कल्पनाको बहुत पुष्टि मिलती है और फिर यह अर्हदास नाम भी विशेषण जैसा ही मालूम होता है। सम्भव है उनका वास्तविक नाम कुछ और ही रहा हो। यह नाम एक तरहकी भावुकता और विनयशीलता ही प्रकट करता है।

इस सम्बन्धमें एक बात और भी नोट करने लायक है कि अर्हदासजीके ग्रन्थोंका प्रचार प्रायः कर्णाटक प्रांतमें ही रहा है जहाँ कि वे चतुर्विंशतिप्रबन्धकी कथाके अनुसार सुमार्गसे पतित होकर रहने लगे थे और जैसा कि शब्दार्णवचन्द्रिकाकी प्रशस्तिसे मालूम होता है उनके गुरु विशालकीर्ति भी वहाँ पहुँच गये थे। खूब संभव है कि उन्हींके प्रयत्नसे वे सत्यथर फिर लौट आये हों और अर्हदास बनकर वहीं रहने लगे हों।

इतना सब लिख चुकनेके बाद हम पं० आशाधरजीके अन्तिम ग्रन्थ अनंगारधर्मामृत टीकाकी अन्त्य प्रशस्ति उद्धृत कर देते हैं जिसके आधारपर पूर्वोक्त सब बातें कही गई हैं। यह उनकी मुख्य प्रशस्ति है, अन्य ग्रन्थोंकी प्रशस्तियाँ इसीमें कुछ पद्य कम ज्यादा करके बनी हैं। उन न्यूनाधिक पद्योंको भी हमने टिप्पणीमें दे दिया है।

मुख्य प्रशस्ति

श्रीमानस्ति सपादलक्षविषयः शाकम्भरीभूषण—
स्तत्र श्रीरतिधाम मण्डलकरं नामास्ति दुर्ग महत् ।

१-२-सपादलक्षकी भाषामें सबालख कहते हैं। नागौर (जोधपुर) के आसपासका प्रदेश सबालख नामसे प्रसिद्ध है। वहाँ पहले चौहान राजाओंका राज्य था। फिर सॉमर और अजमेरके चौहान राजाओंका सारा देश सपादलक्ष कहलाने लगा, और उसके सम्बन्धसे चौहान राजाओंको 'सपादलक्षीय नृपति' विशेषण दिया जाने लगा। सॉमरकी ही शाकम्भरी कहते हैं। सॉमर झील जो नमकका आकर है, उस समय सबालख देशकी सिंगार थी, अर्थात् सॉमरका राज्य भी तब सबालखमें शामिल था। मण्डलकर दुर्ग अर्थात् मांडलगढ़का किला इस समय मेवाड़ राज्यमें है, परन्तु उस समय मेवाड़का सारा पूर्वी भाग चौहानोंके अधीन था। चौहान राजाओंके बहुतसे शिलालेख वहाँ मिले हैं। पृथ्वीराजके समय तक वहाँके अधिकारी चौहान रहे हैं। अजमेर जब मुसलमानोंके कब्जेमें आया तब मांडलगढ़ भी उनके हाथ चला गया।

श्रीरत्न्यामुदपादि तत्र विमलव्याघ्रेरवालान्वया-

च्छ्रीसल्लक्षणतो जिनेन्द्रसमयश्रद्धालुराशाधरः ॥ १ ॥

सरस्वत्यामिवात्मानं सरस्वत्यामजीजनद् । यः पुत्रं छाहडं गुण्यं रंजितार्जुनभूपतिम् ॥ २

“ व्याघ्रेरवालवरवंशसरोजहंसः काव्यामृतोघरसपानसुतृप्तगात्रः ।

सल्लक्षणस्य तनयो नयविश्वचक्षुराशाधरो विजयतां कलिकालिदासः ” ॥ ३ ॥

इत्युदयसेनमुनिना कविसुहृदा योऽभिनन्दितः प्रीत्या ।

“ प्रज्ञापुंजोऽसी ” ति च योऽभिहितो मदनकीर्तियतिपतिना ॥ ४ ३ ॥

रैल्लेच्छेशेन सपादलक्षविषये व्यासे सुवृत्तक्षति-

त्रासाद्विन्ध्यनरेन्द्रदोःपरिमलस्फूर्जत्त्रिवर्गौजसि ।

प्राप्तो मालवमण्डले बहुपरीवारः पुरीमावसन्

यो धारामपठज्जिनप्रमितिवाकशास्त्रे महावीरतः ॥ ५ ॥

१—अर्थात् अपने आपको जिस तरह सरस्वती (वाग्देवता) में प्रकट किया उसी तरह जिसने अपनी पत्नी सरस्वतीमें छाहड नामक गुणी पुत्रको जन्म दिया ।

२ मूलराधना-टीका (सोलापुर) जिस प्रतिपरसे प्रकाशित हुई है, उसमें प्रशस्तिके ये चार ही पद्य मिले हैं और संपादक पं० जिनदास शास्त्रीने प्रशस्तिको अपूर्ण लिखा है । शायद आगेका पद्य गायब है ।

३ त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रकी प्रशस्तिमें प्रारम्भके दो पद्योंके बाद ‘ व्याघ्रेरवाल ’ आदि पद्य न होकर ‘ रैल्लेच्छेशेन ’ आदि पाँचवाँ पद्य है । उसके बाद ‘ श्रीमदार्जुनभूपाल ’ आदि आठवाँ और फिर ‘ योद्वागव्याकरणाब्धि ’ आदि नवाँ पद्य दिया है ।

४ रैल्लेच्छेशेन साहिवुदिनतुरुष्कराजेन ।

—भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका ।

इस रैल्लेच्छराजाको ‘ साहिवुद्दीन तुरुष्क ’ बतलाया है । यह गजनीका बादशाह शहा-बुद्दीन गोरी ही है । इसने वि० सं० १२४९ (ई० सं० ११९२) में पृथ्वीराजको हराकर दिल्लीको अपनी राजधानी बनाया था । उसी वर्ष अजमेरको भी अपने अधीन करके और अपने एक सरदारको सारा कारोबार सौंपकर वह गजनी लौट गया था । शहाबुद्दीनने पृथ्वी-राज चौहानसे दिल्लीका सिंहासन छीनते ही अजमेरपर धावा किया होगा, क्योंकि अजमेर भी पृथ्वीराजके अधिकारमें था और उसी समय सपादलक्ष देश उसके अत्याचारोंसे व्याप्त हो रहा होगा । इसी समय अर्थात् विक्रम संवत् १२४९ के लगभग पं० आशाधर मांडलगड छोड़कर धारमें आये होंगे ।

“ आशाधर त्वं मयि विद्धि सिद्धं निसर्गसौंदर्यमजर्यमयं ।

सरस्वतीपुत्रतया यदेतदर्थे परं वाच्यमयं प्रपञ्चः ” ॥ ६ ॥

इत्युपश्लोक्तो विद्वद्विह्वलेन कवीशिना ।

श्रीविन्ध्यभूपतिमहासान्धिविग्रहिकेण यः ॥ ७ ॥

श्रीमदर्जुनभूपालराज्ये श्रावकसंकुले ।

जिनधर्मोदयार्थं यो नलकच्छपुरेऽवसत् ॥ ८ ॥

यो द्राग्व्याकरणाब्धिपारमनयच्छुश्रूषमाणान्न कान्,

षट्कर्त्तृपरमास्त्रमाप्य न यतः प्रत्यर्थिनः केऽक्षिपन् ।

चेरुः केऽस्त्रलितं न येन जिनवाग्दीपं पथि ग्राहिताः,

पीत्वा काव्यसुधां यतश्च रसिकेष्वापुः प्रतिष्ठां न के ॥ ९ ॥

१—अनगरधर्मांशुतकी मुद्रित टीका में विन्ध्यभूपतिका खुलसा ‘विजयवर्म-मालवाधिपतिः’ किया है; परन्तु हमारे अनुमानसे लिपिकारके दोषसे अथवा प्रूफ-संशोधक-की असावधानीसे ही ‘विन्ध्यवर्म’ की जगह ‘विजयवर्म’ हो गया है। परमारवंशकी वंशावलियों और शिलालेखों में विन्ध्यवर्माका ‘विजयवर्मा’ नामान्तर नहीं मिलता। श्रीयुत लेले और कर्नल लुअर्डने विन्ध्यवर्माका समय वि० सं० १२१७ से १२३७ तक निश्चित किया है; परन्तु पं० आशाधरजीके उक्त कथनसे कमसे कम १२४९ तक विन्ध्यवर्माका राज्य-काल माना जाना चाहिए। उक्त विद्वानोंने विन्ध्यवर्माके पुत्र और उत्तराधिकारी सुभटवर्मा (सोहड़) का समय १२३७ से १२६७ तक माना है, परन्तु सुभटवर्मा १२३७ में राजा था, इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है, वह १२४९ के बाद ही राजपदपर आया होगा।

२ नलकच्छपुरको इस समय नालछा कहते हैं। यह स्थान धार (मालवा) से १० कोसकी दूरीपर है। अब भी वहाँपर श्रावकोंके कुछ घर हैं, जैनमन्दिर भी है।

३—त्रिपष्टिस्मृतिकी प्रशस्तिमें इस पद्यका नंबर पाँच है। उसके आगे नीचे लिखे पद्य हैं—

धर्मांशुतादिशास्त्राणि कुशाग्रीयधियामिव ।

यः सिद्धयकं महाकाव्यं रसिकानां मुदेऽसृजत् ॥ ६ ॥

सोहमाशाधरः कण्ठमलंकर्तुं सधर्मिणाम् ।

पञ्जिकालंकृतं ग्रन्थमिमं पुण्यमरीरत्नम् ॥ ७ ॥

क्वार्षमब्धिः क मद्बीस्तैस्तथाप्येतच्छ्रुतं मया ।

पुण्यैः सद्ग्रथः कथारत्नान्युद्धृत्य ग्रथितान्यतः ॥ ८ ॥

स्याद्वादविद्याविशदप्रसादः प्रमेयरत्नाकरनामधेयः ।
 तर्कप्रबन्धो निरवद्यपद्यपीयूषपूरो वहति स्म यस्मात् ॥ १० ॥
 सिद्धयङ्कं भरतेश्वराम्युदयसत्काव्यं निबन्धोज्ज्वलं,
 यत्नैविद्यकवीन्द्रमोदनसहं स्वश्रेयसेऽरीरचत् ।
 योर्हद्वाक्यरसं निबन्धरुचिरं शास्त्रं च धर्माभूतं,
 निर्माय न्यदधान्मुमुक्षुविदुषामानन्दसान्द्रे हृदि ॥ ११ ॥
 राजीमतीविप्रलम्भं नाम नेमीश्वरानुगम् ।
 व्यधत्त खण्डकाव्यं यः स्वयंकृतनिबन्धनम् ॥ १२ ॥
 आदेशात्पितुरध्यात्मरहस्यं नाम यो व्यधात् ।
 शास्त्रं प्रसन्नगम्भीरं प्रियमारब्धयोगिनाम् ॥ १३ ॥
 यो मूलराधनेष्टोपदेशादिषु निबन्धनम् ।
 व्यधत्तामरकोषे च क्रियाकलापमुज्जगौ ॥ १४ ॥

संक्षिप्यतां पुराणानि नित्यस्वाध्यायसिद्धये ।
 इति पण्डितजाजाकाद्विज्ञप्तिः प्रेरिकात्र मे ॥ ९ ॥
 यच्छब्दस्थतया किञ्चिदत्रास्ति स्वलिप्तं मम ।
 तत्संशोध्य पठन्त्वेनं जिनशासनभाक्तिकाः ॥ १० ॥
 महापुराणान्तस्तत्त्वसंग्रहं पठतामिमं ।
 त्रिषष्टिस्मृतिनामानं दृष्टिदेवी प्रसीदतु ॥ ११ ॥
 प्रमारवंशवार्धोन्दुदेवपालनृपात्मजे ।
 श्रीमज्जैतुगिदेवेऽसि स्थाम्नावन्तमिवत्यलम् ॥ १२ ॥
 नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत् ।
 ग्रंथोऽयं द्विनवद्वयेकविक्रमार्कसमात्यये ॥ १३ ॥
 खाण्डिल्यवंशे महणकमलश्रीसुतः सुदृक् ।
 घीनाको वर्धतां येन लिखितास्याद्यपुस्तिका ॥ १४ ॥

१ इसके आगेके 'राजीमती' और 'आदेशात्' आदि दो पद्य सागारधर्माभूत और जिनयशकल्पकी प्रशस्तियोंमें नहीं हैं ।

[१] २ पहले अमरवंश यह समझ लिया था कि अमरकोशकी जो पं० आशाधरकी लिखी टीका है, उसका नाम 'क्रिया-कलाप' होगा । इस विषयमें मेरे 'विद्वद्रत्नमाला' के

रौद्रटस्य व्यधात्काव्यालंकारस्य निबन्धनम् ।
 सहस्रनामस्तवनं सनिबन्धं च योर्हताम् ॥ १५ ॥
 सनिबन्धं यश्च जिनयज्ञकल्पमरीरचत् ।
 त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रं यो निबन्धालङ्कृतं व्यधात् १६ ॥
 योर्हन्महाभिषेकार्चाविधिं मोहतमोरविम् ।
 चक्रे नित्यमहोद्योतं स्नानशास्त्रं जिनेशिनाम् ॥ १७ ॥
 रत्नत्रयविधानास्य पूजामाहात्म्यवर्णकम् ।
 रत्नत्रयविधानाख्यं शास्त्रं वितनुते स्म यैः ॥ १८ ॥

लेखका अनुसरण करके प्रायः सभी विद्वानोंने इस गुल्तीकी दुहराया, यहाँतक कि पं० पन्ना-
 लालजी सोनीने भी अपने अभिषेकसंग्रहकी भूमिकामें यही माना । साहित्याचार्य पं० विश्वेश्वर-
 नाथ रेड भी अपने पिछले ग्रन्थ 'राजा भोज' में 'अमरकोशकी क्रियाकलाप-टीका' लिख
 गये हैं । वास्तवमें क्रिया-कलाप पं० आशाधरका एक अलग ग्रन्थ है ।

१ इस पद्यके आगे जिनयज्ञकल्पमें नीचे लिखे पद्य दिये हैं—

प्राच्यानि संचर्च्य जिनप्रतिष्ठाशास्त्राणि दृष्ट्वा व्यवहारमैन्द्रं ।
 आम्रायविच्छेदतमश्चिच्छेदयं ग्रन्थः कृतस्तेन युगानुरूपः ॥ १८ ॥
 खाण्डिल्यान्वयभूषणालङ्करणसुतः सागारधर्मे रतो,
 वास्तव्यो नलकच्छचारुनगरे कर्ता परोपाक्रियाम् ।
 सर्वज्ञार्चनपात्रदानसमयोद्योतप्रतिष्ठाग्रणीः,
 पापासाधुरकारयत्पुनरिमं कृत्वोपरोधं मुहुः ॥ १९ ॥
 विक्रमवर्षसंपन्चाशीति द्वादशशतेवप्तीतेषु,
 आश्विनसितान्त्यदिवसे साहसमहोत्सवपराख्यस्य ।
 श्रीदेवपालनृपतेः प्रमारकुलशेखरस्य सौराज्ये,
 नलकच्छपुरे सिद्धो ग्रन्थोयं नेमिनाथचैत्यगृहे ॥ २० ॥
 अनेकार्हात्प्रतिष्ठाप्रतिष्ठैः केल्हणादिभिः ।
 सद्यः सूक्तानुरागेण पठित्वायं प्रचारितः ॥ २१ ॥
 नन्द्यात्खाण्डिल्यवंशोत्थः केल्हणो न्यासवित्तरः ।
 लिखतो येन पाठार्थमस्य प्रथमपुस्तकम् ॥ २२ ॥

आयुर्वेदविदामिष्टं व्यक्तुं वाग्मटसंहिताम् ।
 अष्टाङ्गहृदयोद्योतं निबन्धमसृजच्च येः ॥ १९ ॥
 सोहमाशाधरोऽकार्षे टीकामेतां मुनिप्रियाम् ।
 स्वोपज्ञधर्मांमृतोक्तयतिधर्मप्रकाशिनीम् ॥ २० ॥
 शब्दे चार्थे च यत्किञ्चिदत्रास्ति स्खलितं मम ।
 छद्मस्थभावात् संशोध्य सूरयस्तत्पठान्विमाम् ॥ २१ ॥
 नलकच्छपुरे पौरपौरस्त्यः परमार्हतः ।
 जिनयज्ञगुणौचित्यकृपादानपरायणः ॥ २२ ॥
 खंडिल्यान्वयकल्याणमाणिक्यं विनयादिमान् ।
 साधुः पापाभिधः श्रीमानासीत्पापपराङ्मुखः ॥ २३ ॥
 तत्पुत्रो बहुदेवोऽभूदाद्यः पितृभरक्षमः ।
 द्वितीयः पद्मसिंहश्च पद्मालिंगितविग्रहः ॥ २४ ॥
 बहुदेवात्मजाश्चासन् हरदेवः स्फुरद्गुणः ।
 उदयी स्तम्भदेवश्च त्रयस्त्रैवर्गिकादृताः ॥ २५ ॥
 मुग्धबुद्धिप्रबोधार्थं महीचन्द्रेण साधुना ।
 धर्मांमृतस्य सागारधर्मटीकास्ति कारिता ॥ २६ ॥
 तस्यैव यतिधर्मस्य कुशाग्रीयधियामपि ।
 सुदुर्बोधस्य टीकायै प्रसादः क्रियतामिति ॥ २७ ॥
 हरदेवेन विश्रुतो धनचन्द्रोपरोधतः ।
 पंडिताशाधारश्चक्रे टीकां क्षोदक्षमामिमाम् ॥ २८ ॥
 विद्वद्भिर्मन्यकुमुदचन्द्रिकेत्याख्ययोदिता ।
 द्विष्टान्याकल्पमेघास्तां चिन्त्यमाना मुमुक्षुभिः ॥ २९ ॥
 प्रमारवंशवार्धौन्दुदेवपालनृपात्मजे ।
 श्रीमज्जैतुगिदेवेसिस्थाम्नावन्तीनऽवत्यलम् ॥ ३० ॥

१ यह पद्य सागारधर्मांमृत-टीकामें और जिनयज्ञकल्पमें ११ नंबरके बाद दिया है ।

२ इसके बदले सागारधर्मांमृत-टीकामें नीचे लिखा हुआ पद्य है—

सोऽहमाशाधरो रम्यामेतां टीकां व्यरीरचम् ।
 धर्मांमृतोक्तसागारधर्माध्यायगोचराम् ॥ १८ ॥

नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत् ।
विक्रमान्दशतेष्वेषा त्रयोदशसु कार्तिके ॥ ३१ ॥

१ इसके स्थानपर सागारधर्माश्रुतमें निम्न श्लोक है—

नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत् ।
टीकेयं भव्यकुमुदचन्द्रिकेत्युदिता बुधैः ॥ २० ॥
षण्णवद्वयेकसंख्यानविक्रमांकसमात्यये ।
सप्तम्यामसिते पौषे सिद्धेयं नन्दताच्चिरम् ॥ २१ ॥
श्रीमान् श्रेष्ठिसमुद्धरस्य तनयः श्रीपौरपाटान्वय—
व्योमेन्दुः सुकृतेन नन्दतु महीचन्द्रो यदभ्यर्थनात् ।
चक्रे श्रावकधर्मदीपकमिमं ग्रन्थं बुधाशाधरो
ग्रन्थस्यास्य च लेखितोऽपि विदधे येनादिमः पुस्तकः ॥ २२ ॥

इष्टोपदेश—टीकाकी प्रशस्तिमें नीचे लिखे तीन पद्य मिलते हैं—
विनयेन्दुमुनेर्वान्याद्भव्यानुग्रहहेतुना । इष्टोपदेशटीकेयं कृताशाधरधीमता ॥ २ ॥
उपशम इव मूर्तः सागरेन्दुमुनीन्द्रादजनि विनयचन्द्रः सच्चकौरैकचन्द्रः ।
जगदमृतसगर्भा शास्त्रसन्दर्भगर्मः शुचिचरितवरिष्णोर्यस्य धिन्वंति वाचः ॥
जयन्ति जगतीवन्द्या श्रीमन्नेमिजिनांह्वयः । रेणवोऽपि शिरोराज्ञामारोहन्ति यदाश्रिता । ३ ॥

शाकटायन और उनका शब्दानुशासन

शाकटायन या पाल्यकीर्ति

शाकटायन नामके एक बहुत प्राचीन आचार्य हो गये हैं जिनके मतका उल्लेख पाणिनिने अपनी अष्टाध्यायीमें किया है। ऋग्वेद और शुक्ल यजुर्वेदके प्रातिशाख्यामें तथा यास्काचार्यके निरुक्तमें भी इनका जिक्र है। इनका समय इतिहासज्ञोंने ईस्वी सन्से लगभग एक हजार वर्ष पहले अनुमान किया है^१ और उनका उल्लेख करनेवाले पाणिनिका साढ़े छह सौ वर्ष पहले। इन शाकटायनका कोई व्याकरण-ग्रन्थ था जो अब मिलता नहीं है।

परन्तु शाकटायन नामका एक और व्याकरण ग्रन्थ है जिसके कर्त्ता जैन थे। वे भी शाकटायन नामसे प्रसिद्ध हैं। परन्तु यह बहुत कम लोग जानते हैं कि उनका वास्तविक नाम पाल्यकीर्ति था।

वादिराजसूरिने अपने 'पार्श्वनाथ-चरित' काव्यमें उनका स्मरण इस प्रकार किया है—

कुतस्त्या तस्य सा शक्तिः पाल्यकीर्तेर्महौजसः ।

श्रीपदश्रवणं यस्य शाब्दिकान्कुसुते जनान् ॥

अर्थात्, उस महातेजस्वी पाल्यकीर्तिकी शक्तिका क्या वर्णन किया जाय जिसका 'श्री' पद-श्रवण ही लोगोंको शाब्दिक या व्याकरणज्ञ कर देता है।

शाकटायनकी अमोघवृत्ति नामकी एक स्वोपज्ञ टीका है। उसका आरंभ 'श्रीवीरममृतं ज्योतिः' आदि मंगलाचरणसे होता है। वादिराजसूरिने इसी मंगलाचरणके 'श्री' पदको लक्ष्य करके यह बात कही है कि पाल्यकीर्ति (शाकटायन) के व्याकरणका आरम्भ करनेपर लोग वैयाकरण हो जाते हैं।

पूर्वोक्त श्लोककी टीका आचार्य शुभचन्द्र अपनी 'पार्श्वनाथचरित-पांजिका'में इस प्रकार करते हैं—“तस्य पाल्यकीर्तेः महौजसः श्रीपदश्रवणं। श्रिया उपल-

१-२ देखो डा० श्रीपाद कृष्ण बेलवलकरका 'सिस्टिम आफ संस्कृत ग्रामर ।'

क्षितानि पदानि शाकटायनसूत्राणि तेषां श्रवणं आकर्णनं ।” इससे यह स्पष्ट होता है कि पंजिकाकार शुभचन्द्र पाल्यकीर्तिको शाकटायन-सूत्रोंका कर्त्ता मानते थे ।

शाकटायन प्रक्रिया-संग्रहके मंगलाचरणमें जिनेश्वरको पाल्यकीर्ति और मुनीन्द्र विशेषण दिये हैं, जो श्लिष्ट हैं । उसके द्वारा एक अर्थमें जिनेश्वरको और दूसरे अर्थमें प्रसिद्ध वैयाकरण पाल्यकीर्तिको नमस्कार किया है । शाकटायनकी प्रक्रिया बनाते समय यह सम्भव नहीं कि अभयचन्द्र उसके मूल कर्त्ताको छोड़कर अन्य किसी वैयाकरणको नमस्कार करते । इससे भी शाकटायनका वास्तव नाम पाल्यकीर्ति निश्चित होता है ।

शाकटायन या शब्दानुशासन

स्वयं ग्रन्थकर्त्ताने और टीकाकारोंने भी इस व्याकरणका नाम ‘शब्दानुशासन’ बतलाया है । शाकटायन नाम तो पीछे प्रसिद्ध हुआ जान पड़ता है । जिस तरह कवियोंमें कालिदासकी अधिक प्रसिद्धि होनेके कारण पीछेके अनेक कवि कलिदास कहलाने लगे, उसी तरह बहुत बड़े वैयाकरण होनेके कारण लोग पाल्यकीर्तिको भी शाकटायनाचार्य कहने लगे और उनके व्याकरणको शाकटायन ।

वैदिक शाकटायन प्राचीन है

जब सन् १८९३ में मि० गुस्तव आपर्टने ‘शाकटायन-प्रक्रियासंग्रह’ प्रकाशित किया, तब उन्होंने उसकी भूमिकामें बतलाया कि ये वही शाकटायन हैं जिनका उल्लेख पाणिनिने किया है और इसके प्रमाणमें दो चार सूत्र ऐसे भी पेश कर दिये जो वैदिक शाकटायनके उन सूत्रोंसे मिलते जुलते थे जिनकी चर्चा पाणिनिने की है और अन्तमें यह भी कहा कि ये शाकटायन जैन थे । परन्तु जब उनके कथनपर गहराईसे विचार किया तब वह निस्तार साबित हुआ और अब तो उसपर कोई भी विश्वास नहीं करता है ।

शाकटाय यापनीय थे

शाकटायन या पाल्यकीर्ति किस सम्प्रदायके थे पहले इस विषयमें काफी मत-भेद रहा । दिगम्बर सम्प्रदायके लोग पहले उन्हें अपने सम्प्रदायका मानते रहे, क्योंकि उनके यहाँ उनके व्याकरणका काफी प्रचार था और मुनि दयापाल आदि

१ मुनीन्द्रमभिन्द्याहं पाल्यकीर्ति जिनेश्वरम् । मन्दबुद्धयनुरोधेन प्रक्रियासंग्रहं ब्रुवे ॥

दिगम्बर विद्वानोंने उसपर टीकाग्रन्थ भी लिखे थे। उसके बाद स्व० डाक्टर के० बी० पाठक आदिने श्वेताम्बर बतलाया क्योंकि शाकटायन-सूत्रोंमें आवश्यक-निर्युक्ति, छेद-सूत्र, कालिक-सूत्र आदि श्वेताम्बरमान्य ग्रन्थोंका आदरपूर्वक उल्लेख किया गया है। परन्तु अब यह बिल्कुल निश्चित हो चुका है कि वे इन दोनों सम्प्रदायोंसे पृथक् तीसरे यापनीय सम्प्रदायके थे, जो उक्त दोनों सम्प्रदायोंके बीचकी एक कड़ी था और अब नष्ट हो चुका है। क्यों कि—

१ विक्रमकी तेरहवीं शताब्दिके मलयगिरि नामक श्वेताम्बराचार्यने नन्दिसूत्रकी टीकामें उन्हें यापनीय यतियोंका अग्रणी लिखा है^१।

२ यापनीय सम्प्रदाय श्वेताम्बरोंके समान स्त्रियोंका उसी भवमें मोक्ष होना और केवलियोंका आहार करना मानता था जो दिगम्बर सम्प्रदायके सिद्धान्तोंसे विरुद्ध है। इन दोनों विषयोंपर शाकटायनका बनाया हुआ 'स्त्रीनिर्वाण-केवलि-भुक्ति प्रकरण' नामका एक छोटा-सा ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है और वह प्रकाशित भी हो चुका है^२। उसमें स्त्रीभुक्तिपर ५५ और केवलिभुक्तिपर ३४ कारिकायें हैं। इनमें वे सब युक्तियाँ दी गई हैं जो इन बातोंको माननेवालोंकी ओरसे दिगम्बरोंके प्रति उपस्थित की जाती हैं। इसका कुछ अंश इस प्रकार है—

प्रारम्भ—प्रणिपत्य भुक्तिभुक्तिप्रदममलं धर्ममर्हतो दिशतः ।

वक्ष्ये स्त्रीनिर्वाणं केवलिभुक्तिं च संक्षेपात् ॥ १ ॥

अस्ति स्त्रीनिर्वाणं पुंवद्यदविकलहेतुकं स्त्रीषु ।

न विरुद्धयते हि रत्नत्रयसम्पन्निर्बृतेर्हेतुः ॥ २ ॥

रत्नत्रयं विरुद्धं स्त्रीत्वेन यथामरादिभावेन ।

इति बाह्यात्रं नात्र प्रमाणमाप्तागमोऽन्यद्वा ॥ ३ ॥

अन्त—विग्रहगतिमापन्नाद्यागमवचनं सर्वमेतस्मिन् ।

भुक्तिं ब्रवीति तस्माद्दृष्टव्या केवलिनि भुक्तिः ॥ ३२ ॥

१ शाकटायनोऽपि यापनीययतिग्राह्याग्रणीः स्वोपशब्दानुशासनवृत्तावादौ भगवतः स्तुति-मेवमाह 'श्रीवीरममृतं ज्योतिर्नैतन्वादिं सर्ववैषसाम् ।' अत्र च न्यासकृतव्याख्या—सर्ववैषसामं सर्वज्ञानां सकलशास्त्रानुगतपरिज्ञानानां आदिं प्रभवं प्रथममुत्पत्तिकारणमिति ।—नन्दिसूत्र पृ० २३

२ देखो जैनसाहित्यसंशोधक भाग २, अंक ३ ।

नानाभोगाहारो निरन्तरः सो विशेषतो नाभूत (?)

युक्त्या भेदेनाङ्गस्थितिपुष्टिशुच्छमास्तेन ॥ ३३ ॥

तस्य विशिष्टस्य स्थितिरभविष्यत्तेन सविशिष्टेन ।

यद्यभविष्यदिदृष्टं सालीतरभोजनेनेव ॥ ३४ ॥

इति स्त्रीनिर्वाण-केवलिभुक्तिप्रकरणं भगवदाचार्यशाकटायनकृदन्तपादानामिति ।

पन्द्रहवीं शताब्दिमें एक विद्वान्ने अपने समयमें उपलब्ध जैनग्रन्थोंकी एक सूची बड़ी खोजके साथ संस्कृतमें लिखी थी । उसमें कौन ग्रन्थ, किस भाषामें, किसने, किस समय, किस विषयपर, कितने परिमाणका लिखा है इसका संक्षिप्त विवरण जहाँ तक उपलब्ध हो सका दिया है । इस सूचीका नाम बृहट्टिपणिका है । उसमें भी इस प्रकरणका विवरण इस प्रकार दिया है—“ केवलिभुक्ति-स्त्रीभुक्तिप्रकरणम् । शब्दानुशासनकृतशाकटायनाचार्यकृतं तत्संग्रहश्लोकाश्च १४ । ”

वादिवेताल शान्तिसूरिने उत्तराध्ययन टीकाके २६ वें अध्यायमें, रत्नप्रभने रत्नाकरावतारिकामें और यशोविजय उपाध्यायने अध्यात्ममतपरीक्षा तथा शास्त्रवार्ता-समुच्चयमें इस प्रकरणकी अनेक कारिकायें उद्धृत की हैं । इसी तरह आचार्य प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें स्त्री-भुक्ति और केवलि-भुक्तिका पूर्वपक्ष इसी प्रकरणसे लिया है और इसकी एक एक दलीलका खण्डन किया है ।

३ शाकटायनकी अमोघवृत्तिमें आवश्यक, छेदसूत्र, निर्युक्ति, कालिक सूत्र आदि ग्रन्थोंका जिस तरह उल्लेख किया है उससे ऐसा मालूम होता है कि उनके सम्प्रदायमें इन ग्रन्थोंके पठन-पाठनका प्रचार था और ये ग्रन्थ दिगम्बर-सम्प्रदायके नहीं हैं जब कि यापनीयसंघ इन ग्रन्थोंको मानता था ।

४ अमोघवृत्तिमें ‘ उपसर्वगुप्तं व्याख्यातारः ’ कहकर शाकटायनने सर्वगुप्त आचार्यको सबसे बड़ा व्याख्याता बतलाया है और ये सर्वगुप्त वही जान पड़ते हैं जिनके चरणोंके समीप बैठकर आराधनाके कर्ता शिवार्यने सूत्र और अर्थको अच्छी तरह समझा था । और चूँकि शिवार्य भी बहुत करके यापनीय साम्प्रदायके थे अतएव उनके गुरुको श्रेष्ठ व्याख्याता बतलानेवाले शाकटायन भी यापनीय होंगे ।

१ यह संख्या अनुष्टुप् श्लोकोंके हिसाबसे दी है । २ देखो पृ० ४४ में ‘ यापनीय साहित्यकी खोज ’ शीर्षक लेखकी टिप्पणियाँ ।

५ शाकटायनको 'श्रुतकेवलदेशीयाचार्य' लिखा है और चिन्तामणि-टीकाके कर्त्ता यक्षवर्माने तो उन्हें 'सकलज्ञानसाम्राज्यपदमाप्तवान्' माना है। परन्तु दिगम्बर-सम्प्रदायके अनुसार वीर-निर्वाण ६८३ वर्षके लगभग ही श्रुतकेवलियों या एकदेशश्रुतकेवलियोंका विच्छेद हो गया था। अतएव उनका श्रुतकेवलि-देशीय होना यापनीयसंघकी मानताके अनुसार ही ठीक बैठ सकता है।

शाकटायनकी रचनायें

शाकटायनकी इस समय तीन ही रचनायें उपलब्ध हैं, शब्दानुशासनका मूल सूत्रपाठ, उसकी अमोघवृत्ति और ऊपर जिसका जिक्र आ चुका है, वह 'स्त्रीमुक्ति-केवलिमुक्ति प्रकरण'। इनके सिवाय संस्कृतके सुप्रसिद्ध आचार्य राजशेखरने अपनी काव्य-मीमांसामें पात्यकीर्तिके मतका उल्लेख करते हुए लिखा है—“यथा तथा वास्तु वस्तुनो रूपं वक्तृप्रकृतिविशेषायत्तातु रसवत्ता। तथा च यमर्थे रक्तः स्तौति तं विरक्तो विनिन्दति मध्यस्थस्तु तत्रोदास्ते, इति पात्यकीर्तिः।” इससे मालूम होता है कि पात्यकीर्ति या शाकटायनका कोई साहित्य-विषयक ग्रन्थ भी था जो अभी तक कहीं मिला नहीं है। क्या आश्चर्य जो उनके और भी ग्रन्थ हों, जिन्हें हम नहीं जानते। 'स्त्रीमुक्ति-केवलिमुक्ति' प्रकरणसे मालूम होता है कि वे बड़े भारी तार्किक और सिद्धान्तज्ञ भी थे।

शब्दानुशासनकी टीकायें

शाकटायनके शब्दानुशासनपर अब तक नीचे लिखी सात टीकायें प्राप्त हुई हैं—

१ अमोघवृत्ति—स्वयं सूत्रकारकी ही लिखी हुई है और यही उसकी सबसे बड़ी टीका है। राष्ट्रकूटनरेश अमोघवर्षको लक्ष्य करके उसका यह नामकरण किया गया था। क्योंकि अमोघवर्षके समयमें ही शाकटायन हुए हैं जैसा कि आगे चलकर बतलाया जायगा।

२ शाकटायन-न्यास—यह अमोघवृत्तिपर प्रभाचन्द्राचार्यकृत न्यास है। इस ग्रन्थके सिर्फ दो अध्याय उपलब्ध हैं। परन्तु उनसे टीकाकारके सम्बन्धमें कुछ

१ शब्दानां शासनाख्यस्य शास्त्रस्यान्वर्थनामतः

प्रसिद्धस्य महामोघवृत्तेरपि विशेषतः।

सूत्राणां च विवृतिर्विख्याते च यथामतिः।

ग्रन्थस्यास्य च न्यासेति (?) क्रियते नामनामतः ॥

विशेष प्रकाश नहीं पड़ता । पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यके खयालमें ये प्रभाचन्द्र न्यायकुमुदचन्द्र आदिके कर्त्तासे भिन्न कोई दूसरे ही प्रभाचन्द्र हैं । संभव है कि वे यापनीय संघके ही हों ।

३ चिन्तामणि टीका (लघीयसी वृत्ति)—यह अमोघवृत्तिको ही संक्षिप्त करके रची गई है । इसके कर्त्ताका नाम यक्षवर्मा है । इनके विषयमें और कुछ मालूम नहीं है । ये कोई गृहस्थ विद्वान् थे ।

४ मणिप्रकाशिका—‘ मणि ’ अर्थात् ‘ चिन्तामणि ’ को प्रकाशित करनेवाली टीका । इसके कर्त्ता आजितसेनाचार्य हैं ।

५ प्रक्रिया-संग्रह—यह पाणिनिकी सिद्धान्तकौमुदीके ढंगकी प्रक्रिया-टीका है । इसके कर्त्ता अभयचन्द्राचार्य हैं । प्रकाशित हो चुकी है ।

६ शाकटायन टीका—भावसेन त्रैविद्यदेवकृत । कातन्त्रकी रूपमाला टीकाके कर्त्ता भी यही मालूम होते हैं । ये ‘ वादिपर्वतवज्र ’ कहलाते थे । इनका बनाया हुआ एक ‘ विश्वतत्त्वप्रकाश ’ नामका ग्रन्थ भी उपलब्ध है ।

७ रूपसिद्धि—यह लघुकौमुदीके समान छोटी टीका है । इसके कर्त्ता दयापाल मुनि हैं । ये द्रविडसंघके थे । इनके गुरुका नाम मतिसागर था । ये पार्श्वनाथ-चरित और न्याय-विनश्चय आदिके कर्त्ता वादिराजसूरिके सधर्मा थे । पार्श्वनाथचरितकी रचना श० सं० ९४७ (वि० सं० १०५२) में हुई थी, अतएव इनका भी यही समय समझना चाहिए । यह टीका प्रकाशित हो चुकी है ।

अमोघवृत्ति स्वोपज्ञ है

अमोघवृत्ति स्वयं शाकटायन या पाल्यकीर्तिकी है, इसे स्व० डा० के० बी० पाठकने बहुत अच्छी तरह प्रतिपादित किया है । वे कहते हैं—

श्रीवीरममृतं ज्योतिर्नन्वादिं सर्ववेधसां शब्दानुशासनस्येयममोघावृत्तिरुच्यते ।

अविघ्नेनष्टप्रसिद्धयर्थं मंगलमारभ्यते—

नमः श्रीवर्द्धमानाय प्रबुद्धाशेषवस्तवे । येन शब्दार्थसम्बन्धाः सार्वेण सुनिरूपिताः ॥ शब्दो वाचकः अर्थो वाच्यः तयोः सम्बन्धो योग्यता अथवा शब्दो आगमः

१ हितैषिणां यस्य नृणामुदात्तवाचा निबद्धा हित-रूपसिद्धिः ।

वन्द्यो दयापालमुनिः स वाचा सिद्धस्ततामूर्द्धनि यः प्रभावैः ॥ १५

—श्रवणबेलगोलका ५४ वाँ शिलालेख

अर्थः प्रयोजनं । अभ्युदयो निःश्रेयसं च । तयोः सम्बन्ध उपायोपेयभावः । ते येन सर्वसत्त्वहितेन सता तत्त्वतः प्रज्ञापिताः तस्मै परमार्हैत्यमहिम्ना विराजमानाय भगवते वर्द्धमानाय षडपि द्रव्याणि अशेषाणि अनन्तपर्यायरूपाणि साकल्येन साक्षात्कुर्वते नमः कुर्वे इत्युपस्कारः । एवं कृतमंगलरक्षाविधानः । परिपूर्णमल्पग्रन्थं लघूपायं शब्दानुशासनशास्त्रमिदं महाश्रमणसंघाधिपतिर्भगवानाचार्यः शाकटायनः प्रारभते । शब्दार्थज्ञानपूर्वकं च सन्मार्गानुष्ठानं । अ इ उ ण । ऋक् । ए ओ ङ् ।..... हल् ॥ १३ ॥ इति वर्णसामान्याः क्रमानुबन्धोपादानः प्रत्याहारयन् शास्त्रस्य लाघ-
वार्थः । सामान्याश्रयणादीर्घच्छुतानुनासिकानां ग्रहणं । —अमोघवृत्ति

श्रियं क्रियाद्वः सर्वज्ञानज्योतिरनीश्वरी ।
विश्वं प्रकाशयच्चिन्तामणिश्चिन्तार्थसाधनः ॥ १
नमस्तमः प्रभावामिभूतभूद्योतहेतवे ।
लोकोपकारिणे शब्दब्रह्मणे द्वादशात्मने ॥ २
स्वस्ति श्रीसकलज्ञानसाम्राज्यपदमाप्तवान् ।
महाश्रमणसंघाधिपतिर्यः शाकटायनः ॥ ३ ॥
एकः शब्दाम्बुधिं बुद्धिमन्दरेण प्रमथ्य यः ।
सयशश्रीः समुद्ग्रे विश्वं व्याकरणमृतम् ॥ ४ ॥
स्वल्पग्रन्थं सुलोपायं सम्पूर्णं यदुपक्रमं ।
शब्दानुशासनं सार्वमहच्छासनवत्परम् ॥ ५ ॥
इष्टिर्नेष्टा न वक्तव्यं वक्तव्यं सूत्रतः पृथक् ।
संख्यातं नोपसंख्यानं यस्य शब्दानुशासने ॥ ६ ॥
तस्यातिमहतीं वृत्तिं संहृत्येयं लघ्वीयसी ।
सम्पूर्णलक्षणा वृत्तिर्वक्ष्यते यक्षवर्मणा ॥ ७ ॥
ग्रन्थविस्तरभीरूणां सुकुमाराधियामयं ।
शुश्रूषादिगुणान्कर्तुं शास्त्रे संहरणोद्यमः ॥ ८ ॥
शब्दानुशासनस्यान्वर्थायाश्चिन्तामणेतिदं ।
वृत्तेर्ग्रन्थप्रमाणं (हि) षट्सहस्रं निरूपितं ॥ ९ ॥
इन्द्रचन्द्रादिभिः शान्दैर्यदुक्तं शब्दलक्षणं ।
तदिहास्ति समस्तं च यन्ने हास्ति न तत्कचित् ॥ १० ॥

गणधानुपाठयोगेण धातून् लिङ्गानुशासने लिङ्गगतं ।

औणादिकानुणादौ शेषं निःशेषमत्र वृत्तौ विद्यात् ॥ ११ ॥

बालाबलाजनोप्यस्या वृत्तरेभ्यासवृत्तितः ।

समस्तं वाङ्मयं वेत्तिवर्षेणैकेन निश्चयात् ॥ १२ ॥

तत्र सूत्रस्यादावयं मङ्गलश्लोकः । नमः श्रीवर्द्धमानयेत्यादि । शब्दार्थसम्बन्धार्थः वाचकवाच्ययोग्यता अथवा आगमप्रयोजनोपायोपेयभावाः ते येन सर्वसत्त्वहितेन तत्त्वतः प्रज्ञापिताः तस्मै श्रीमते महावीराय साक्षात्कृत्सकलद्रव्याय नमः करोमीत्यध्याहारः । विघ्नप्रशमनार्थमर्हद्देवतानमस्कारं परममङ्गलमारभ्य भगवानाचार्यः शाकटायनः शब्दानुशासनं शास्त्रमिदं प्रारभते ।

धर्मार्थ काममोक्षेषु तत्त्वार्थावगत्यतिर्यतः । शब्दार्थज्ञानपूर्वेति वेद्यं व्याकरणं बुधैः ॥

अ इ उ ण् ऋक् । ए औ ङ् ।...हल इति वर्णं समाम्नायः क्रमानुबाधोपादानः प्रत्याहारयन् शास्त्रस्य लाघवार्थः । सामान्यग्रहणादीर्घञ्छुतानुनासिकानां ग्रहणम् ।

—चिन्तामणि टीका

चिन्तामणिके कर्त्ता यक्षवर्मने उपरिलिखित सातवें श्लोकमें कहा है कि “ यह उसकी छोटी वृत्ति है जिसे मैंने उसकी (शाकटायनकी) बहुत बड़ी वृत्तिसे संक्षिप्त करके बनाया है । ” वे यह नहीं कहते कि यह मेरी स्वतन्त्र रचना है । अब यह देखना चाहिए कि वह अति महती या बहुत बड़ी वृत्ति कौन-सी है जिसको संक्षिप्त करके यह लिखी गई है । विचार करके देखा जाय तो मालूम होगा कि वह वृत्ति और कोई नहीं, अमोघवृत्ति ही है । क्यों कि एक तो उपलब्ध वृत्तियोंमें वही सबसे बड़ी है । दूसरे ऊपर लिखी हुई दोनों प्रशस्तियोंके कुछ भाग समान हैं, जो यह बतलाते हैं कि एक वृत्ति दूसरीको देखकर या उसीको संक्षेप करके बनाई गई है । ‘ इति वर्णसमाम्नायः ’ आदि पाठ दोनोंके मिलते जुलते हुए हैं । अन्तर केवल यह है कि जहाँ अमोघवृत्तिमें ‘ सामान्याश्रयणात् ’ लिखा गया है वहाँ चिन्तामणिमें ‘ सामान्यग्रहणात् ’ है । तीसरे यक्षवर्मने जिस मंगलश्लोककी ‘ नमः श्रीवर्द्धमानयेत्यादि ’ प्रतीक दी है वह अमोघवृत्तिमें ही मिलती है । मूलका या अन्य किसी वृत्तिका यह श्लोक नहीं है । इस श्लोकके उत्तरार्द्धकी व्याख्या भी अमोघवृत्तिसे थोड़ा बहुत इधर उधर करके नकल कर दी गई है । इन सब बातोंसे यह निश्चय हो जाता है कि चिन्तामणि टीका अमोघवृत्तिसे पीछे बनी है और वह अमोघवृत्तिका ही संक्षेप है ।

यक्षवर्मने अपनी टीका अमोघवृत्तिको ही कुछ फेर फार करके बनाई है, यह बात दोनों टीकाओंका मिलान करनेसे अच्छी तरह समझमें आ जाती है। कुछ उदाहरण लीजिए—

नामदुः १-१-१७

—मूल शाकटायनसूत्र

यन्नामधेयं संव्यवहाराय हटान्नियुज्यते देवदत्तादि तद्दुसंज्ञं वा भवति । देव-
दत्तीया दैवदत्ताः । षडनयानाहुः सिद्धसेनीया सैद्धसेनाः । —अमोघवृत्ति

यन्नामधेयं संव्यवहाराय हटान्नियुज्यते देवदत्तादि तद्दु संज्ञं वा भवति । देव-
दत्तीया दैवदत्तः । —चिन्तामणिटीका

कहीं कहींपर तो यक्षवर्मने अमोघवृत्ति ज्योकी त्यों नकलभर कर दी है ।
जैसे—ख्याते दृश्ये ४-३-२०७ । —मूल

भूतेऽनद्यतने ख्याते लोकविज्ञाते दृश्ये प्रयोक्तुः शक्यदर्शने वर्तमानाद्वातोर्ल-
ईप्रत्ययो भवति । लिङपवादः । अरुणदेवः पाण्डथम् । अदहदमोघवर्षोरातीन् ।
ख्यात इति किम् ? चकार कटं देवदत्तः । दृश्य इति किम् ? जघान कंसं किल
वासुदेवः । अनद्यतने इति किम् ? उदगादादित्यः । —अमोघवृत्तिः

उक्त सूत्रपर चिन्तामणिकी टीका भी इसी प्रकार है । अन्तर सिर्फ इतना ही है
कि अमोघमें जहाँ ‘लङ् प्रत्ययो’ लिखा है वहाँ चिन्तामणिमें केवल ‘लङ्’
लिखा है, ‘प्रत्यय’ छोड़ दिया है ।

उपर्युक्त बातोंसे यह तो सिद्ध हो गया कि चिन्तामणि अमोघवृत्तिसे पीछे
बनी है और उसीको संकोच करके बनाई गई है । अब यह देखना है कि
अमोघवृत्तिका कर्त्ता कौन है ? चिन्तामणि टीकाके पूर्व ३-४-५-६-७ श्लोकोंका
अर्थ अच्छी तरह लगानेसे इसका भी निश्चय हो जायगा ।

३-जिन्होंने सकलज्ञानरूपी साम्राज्य पदको प्राप्त किया है और जो बड़े भारी
साधुसमाजके अगुआ थे, वे शाकटायनाचार्य जयवंत हैं ।

४-जिन अकेलेने बुद्धिरूप मन्दराचलसे शब्द-समुद्रका मंथन करके, उसमेंसे
यशरूप लक्ष्मीके साथ साथ सम्पूर्ण व्याकरणोंका साररूप यह अमृत निकाला,

५-जिनका रचा हुआ शब्दानुशासन आर्हत धर्मकी तरह स्वल्प-ग्रन्थ (प्रमाणमें
थोड़ा), सुख-साध्य और सम्पूर्ण है,

६-जिन (शाकटायन मुनि) के शब्दानुशासनमें इष्टि, उपसंख्यान, वक्तव्य,
न वक्तव्य आदिका झगड़ा नहीं है,

७—उनकी (तस्य शाकटायनस्य) बड़ी भारी वृत्ति (अमोघवृत्ति) को संकोच करके यह छोटी-सी परन्तु सम्पूर्ण लक्षणोंवाली वृत्ति मैं (यक्षवर्मा) कहूँगा ।

ध्यान रखना चाहिए कि ये पाँचों श्लोक शाकटायनका वर्णन करनेवाले हैं । इनमेंके ' यः ' (श्लोक ३-४), यदुपक्रम शब्दका ' यत् ' (श्लोक ५) और ' यस्य ' (श्लोक ६) ये तीनों सम्बन्धद्योतक सर्वनाम सातवें श्लोकके ' तस्य ' शब्दसे सम्बन्ध रखते हैं । यह ' तस्य ' शब्द कर्तरि षष्ठिमें बनाया गया है और यह सातवें पद्यका मुख्य वाक्यांश है । अन्वय इस तरह होता है—' यदुपक्रमं शब्दानुशासनं सर्वं तस्य महतीं वृत्तिं संहृत्य इयं लघीयसी वृत्तिर्वक्ष्यते यक्षवर्मणा ' अर्थात् जिसका बनाया हुआ सर्वोपयोगी शब्दानुशासन नामक व्याकरण है, उसीकी बनाई हुई बहुत बड़ी टीकाको संकोचकर मैं यह छोटी-सी टीका बनाता हूँ । इससे निश्चय हो गया कि मूल शब्दानुशासन और उसकी अमोघवृत्ति टीका ये दोनों ग्रन्थ एक ही शाकटायनने बनाये हैं ।

मि० राइस साहबने इसके लिए चिदानन्द कविके ' मुनिवंशाभ्युदय ' नामक कनड़ी काव्यसे एक प्रमाण दिया है । यह कवि मैसूरके चिकदेवराजाके समयमें (ई० सन् १६७२-१७०४) हुआ है और ' चारुकीर्ति पांडितदेव ' इसकी उपाधि थी । कविके कनड़ी श्लोकोंका अर्थ यह है—

“ उस मुनिने अपने बुद्धिरूप मन्दराचलसे श्रुतरूप समुद्रका मन्थन कर यशके साथ व्याकरणरूप उत्तम अमृत निकाला । शाकटायनने उत्कृष्ट शब्दानुशासनको बना लेनेके बाद अमोघवृत्ति नामकी टीका—जिसे बड़ी शाकटायन कहते हैं—बनाई जिसका कि परिमाण १८००० है । जगत्प्रसिद्ध शाकटायन मुनिने व्याकरणके सूत्र और साथ ही पूरी वृत्ति भी बनाकर एक प्रकारका पुण्य सम्पादन किया । एक बार अविद्वर्कण सिद्धान्तचक्रवर्ती पद्मनन्दिने मुनियोंके मध्य पूजित शाकटायनको मन्दर पर्वतके समान धीर विशेषणसे विभूषित किया । ”

गणरत्नमहोदधिके कर्त्ता वर्धमान कवि—जो विक्रम सं० ११९७ में हुए हैं—अपने ग्रन्थमें शाकटायनके नामसे जिन जिन बातोंको उद्धृत करते हैं वे अमोघवृत्तिमें ही मिलती हैं, मूलसूत्रोंमें नहीं । इससे मालूम होता है कि वर्धमान जानते थे कि अमोघवृत्ति शाकटायनकी ही है और इसीलिए उन्होंने उसके उदाहरण शाकटायनके नामसे देना अनुचित न समझा ।

शाकटायनस्तु कर्णे टिरिटिरिः कर्णे चुरुचुरित्याह ।

—गणरत्न पृष्ठ ८२ और अमोघवृत्ति २।१।५७

शाकटायनस्तु अद्य पंचमी अद्य द्वितीयेत्याह ।

—गणरत्न पृ० ९०, अमोघवृत्ति २।१।७९

इसके सिवाय नन्दिसूत्रकी मलयगिरिकृत टीकाका उद्धरण ऊपर दिया जा चुका है जिसमें टीकाकर्त्ताने 'श्रीवीरममृतं ज्योतिः' आदि मंगलाचरणको शाकटायनकी स्वोपज्ञवृत्तिका बतलाया है। इससे सिद्ध है कि अमोघवृत्ति स्वयं शाकटायनकी बनाई हुई है।

रचना-काल

ऊपर 'ख्याते दृश्ये' सूत्रकी जो अमोघवृत्ति दी है, उसमें एक उदाहरण है—“अदहदमोघवर्षोऽरातीन् ।” अर्थात् अमोघवर्षने शत्रुओंको जला दिया। इस उदाहरणमें ग्रन्थकर्त्ताने अमोघवर्ष (प्रथम) की अपने शत्रुओंपर विजय पानेकी जिस घटनाका उल्लेख किया है, ठीक उसीका जिक्र शकसंवत् ८३२ (वि० सं० ९६७) के एक राष्ट्रकूट-शिलालेखमें इन शब्दोंमें किया है—“भूपालान् कण्टकामान् वेष्टयित्वा ददाह ।” और इसका भी अर्थ लगभग वही है; अमोघवर्षने उन राजाओंको घेरा और जला दिया जो उससे एकाएक विरुद्ध हो गये थे। उक्त शिलालेख अमोघवर्षके बहुत पीछे लिखा गया था, इसलिए उसमें परोक्षार्थवाली 'ददाह' क्रिया दी है। उसके लेखकके लिए उक्त घटनाका स्वयं देखना अशक्य था। परन्तु अमोघवृत्तिके कर्त्ताके लिए शक्य था, इसलिए उसने 'अदहत्' यह लङ् प्रत्ययकी क्रिया दी है। अर्थात् यह उसके समक्षकी घटना होगी।

बगसुराके दान^३-पत्रमें जो श० सं० ७८९ (वि० सं० ९२४) का लिखा हुआ है इस घटनाका उल्लेख है। उसका सारांश यह है कि गुजरातके माण्डलिक राजा एकाएक बिगाड़ खड़े हुए और उन्होंने अमोघवर्षके विरुद्ध हथियार उठाये,

१ इसी सूत्रकी वृत्तिमें एक उदाहरण और है—‘अरुणदेवः पाण्डथम्’ अर्थात् देवने पाण्डथनरेशको रोका। अमोघवर्षके शर्वदेव, तुंगदेव, आदि अनेक नाम हैं। इस देवसे भी उन्हींका मतलब जान पड़ता है। उन्होंने इसके अनुसार किसी पाण्डथ राजाकी रोका या कैद कर लिया होगा।

२ पप्पिमाफिळा इंडिका जिल्द १, पृ० ५४।३

तब उसने उनपर चढ़ाई कर दी और उन्हें तहस नहस कर डाला । इस युद्धमें ध्रुव घायल होकर मारा गया ।

अमोघवर्ष श० सं० ७३६ (वि० सं० ४७१) में सिंहासनपर बैठे थे और यह दानपत्र श० सं० ७८९ (वि० सं० ८२४) का है । अतः सिद्ध है कि अमोघवृत्ति ७३६ और ७८९ के बीच किसी समय लिखी गई है और यही पाल्यकीर्ति या शाकटायनका समय है ।

महाराजा अमोघवर्ष (प्रथम) जैन विद्वानोंके बड़े भारी आश्रयदाता थे । भगवाजिनसेनको वे अपना गुरु मानते थे और अन्तमें तो उन्होंने शायद जैन-धर्मके विवेकसे राज्यका त्याग भी कर दिया था । अतएव यदि वैयाकरण शाकटायनने उनके जैन धर्म और साहित्यके प्रेमी होनेके नाते अपनी वृत्तिका नाम अमोघवृत्ति रक्खा हो तो कोई आश्चर्य नहीं और फिर ' अदहदमोघवर्षोऽरातीन् ' उदाहरणसे तो अमोघवृत्तिके कर्त्ताकी समकालीनता स्पष्ट ही हो रही है ।

शाकटायनके पूर्ववर्ती आचार्य

शाकटायनने अपनी पूर्व गुरु-परम्पराका कोई उल्लेख नहीं किया है, यहाँ तक कि अपने गुरुका नाम भी नहीं दिया है । प्रकरण और सूत्र-ग्रन्थमें तो खैर इसके लिए स्थान नहीं था, पर अमोघवृत्तिमें गुंजाइश थी और संभव है उसमें प्रशस्ति रही भी हो; परन्तु जो प्रतियाँ उपलब्ध हैं उनमें शायद प्रति-लिपिकारोंकी कृपासे वह नहीं रही है ।

अमोघवर्ष (प्रथम) के पिता प्रभूतवर्ष या गोविन्दराज तृतीयका जो दान-पत्र कदंब (मैसूर-) में मिला है वह शक सं० ७७५ का अर्थात् ३ अमोघवर्षके राजा होनेसे एक वर्ष पहलेका है । उसमें अर्ककीर्ति मुनिको मान्यपुर ग्रामके शिलाग्राम जिनेन्द्र-भवनके लिए एक गाँव दान करनेका उल्लेख है । अर्ककीर्ति यापनीय-नन्दिसंघ-पुंनागवृक्षमूलगणके थे । अर्ककीर्तिके गुरुका नाम विजयकीर्ति और प्रगुरुका श्रीकीर्ति था । बहुत संभव है कि पाल्यकीर्ति (शाकटायन) इसी परम्पराके हों, और आश्चर्य नहीं जो अर्ककीर्तिके ही शिष्य या उनके सधर्मा हों ।

१ विवेकात्यक्तराजेन राशेयं रत्नमालिका ।

रचितामोघवर्षेण सुधियां सदलंकृतिः ॥—प्रश्नोत्तररत्नमाला

शाकटायन सूत्र-पाठमें इन्द्र, सिद्धनन्दि और आर्य वज्र इन तीन पूर्वाचार्योंका मत दिया है। ये तीनों दिगम्बर सम्प्रदायके नहीं मालूम होते। या तो ये यापनीय सम्प्रदायके ही होंगे या फिर श्वेताम्बर सम्प्रदायके।

इन्द्र—गोम्मटसार (जीवकाण्ड) में पाँच तरहके पाँच मिथ्यादृष्टियोंके उदाहरण देते हुए लिखा है—

एयंत बुद्धदरसी विवरीओ बम्ह तावसो विणओ ।

इंदो वि य संसइयो मक्कडिओ चेव अण्णाणी ॥ १६ ॥

अर्थात् बौद्ध एकान्ती, ब्रह्म (याज्ञिक) विपरीत, तापस वैनयिक, इन्द्र संशयी और मस्करि (आजीवक) अज्ञानी मिथ्यादृष्टियोंके उदाहरण हैं। इनमेंसे इन्द्रको टीकाकारने श्वेताम्बर गुरु बतलाया है। परन्तु इन्द्र नामके श्वेताम्बराचार्यका अभीतक कोई उल्लेख नहीं मिला है। बहुत सम्भव है कि वे यापनीय ही हों और श्वेताम्बरतुल्य होनेसे श्वेताम्बर कह दिये गये हों। द्विकोटिगत ज्ञानको संशय कहते हैं, जो श्वेताम्बर सम्प्रदायमें घटित नहीं हो सकता। परन्तु यापनीयोंको कुछ श्वेताम्बर और कुछ दिगम्बर होनेके कारण एक तरहसे संशय-मिथ्यादृष्टि कहा जा सकता है। बहुत सम्भव है कि शाकटायन-सूत्रकारने इन्हीं इन्द्र गुरुका उल्लेख किया हो और यापनीय सम्प्रदायके ये कोई प्रसिद्ध आचार्य रहे हों।

सिद्धनन्दि—इनके विषयमें हम कुछ नहीं जानते; परन्तु ये भी यापनीय ही मालूम होते हैं। नन्द्यन्त नामधारी आचार्य यापनीयोंमें भी बहुत हुए हैं—चन्द्रनन्दि, मित्रनन्दि, कीर्तिनन्दि, कुमारनन्दि आदि।

आर्य वज्र—श्वेताम्बर सम्प्रदायकी कल्पसूत्र-स्थविरावलीमें अज्र वहर (आर्य वज्र) नामके एक आचार्यका नाम मिलता है जो आर्य सिंहगिरिके शिष्य और गोतम गोत्रके थे। तपागच्छ-पट्टावलीके अनुसार दशपूर्वधारियोंमें उनकी गणना होती है और वीर नि० सं० ५८४ में उनका स्वर्गवास हुआ था। संभव है, शाकटायनने इन्हींका उल्लेख किया हो। सम्प्रदाय-भेद होनेके पहले होनेके कारण तीनों सम्प्रदायवाले इनका उल्लेख कर सकते हैं। तिलोयपण्णातिके वज्रयश नामक अन्तिम प्रज्ञाश्रमण भी शायद यही हों।

नयचक्र और देवसेनसूरि

नयचक्र

आचार्य विद्यानन्दने अपने श्लोकवार्तिकके 'नय-विवरण' नामक प्रकरणके अन्तमें लिखा है—

संक्षेपेण नयास्तावद्व्याख्याताः सूत्रसूचिताः ।

तद्विशेषः प्रपञ्चेन संचिन्त्या नयचक्रतः ॥

अर्थात् तत्त्वार्थसूत्रमें जिन नयोंका उल्लेख है, उनका हमने संक्षेपमें व्याख्यान कर दिया । यदि उनका विस्तारसे और विशेषतापूर्वक स्वरूप जाननेकी इच्छा हो तो 'नयचक्र' से जानना ।

इस उल्लेखसे मालूम होता है कि विद्यानन्द स्वामीसे पहले 'नयचक्र' नामका कोई ग्रन्थ था जिसमें नयोंका स्वरूप खूब विस्तारके साथ दिया गया है । परन्तु वह नयचक्र यही देवसेनसूरिका नयचक्र था, ऐसा नहीं जान पड़ता । क्योंकि यह बिलकुल ही छोटा है । इसमें कुल ८७ गाथायें हैं और माइल्ल धवलके बृहत् नयचक्रमें भी नयसम्बन्धी गाथाओंकी संख्या इससे अधिक नहीं है । इन दोनों ही ग्रन्थोंमें नयोंका स्वरूप संक्षेपमें लिखा गया है, भले ही वह स्वामी विद्यानन्दके नय-विवरणसे कुछ ज्यादा हो । नय-विवरणकी श्लोकसंख्या ११८ है और उसमें नयोंका स्वरूप बहुत ही उत्तम रीतिसे नयचक्रकी भी अपेक्षा स्पष्टतासे लिखा है । ऐसी दशामें यह संभव नहीं कि श्लोकवार्तिकके कर्ता अपने पाठकोंसे देवसेनसूरिके नयचक्रपरसे विस्तारपूर्वक नयोंका स्वरूप जाननेकी सिफारिश करते । इसके सिवाय जैसा कि आगे चलकर बतलाया जायगा, देवसेनसूरि विद्यानन्द स्वामीके पीछेके ग्रन्थकर्ता हैं । अतः श्लोकवार्तिकमें जिस नयचक्रका उल्लेख है, वह कोई दूसरा ही नयचक्र होगा ।

श्वेताम्बरसंप्रदायमें 'मल्लवादि' नामके एक बड़े भारी तार्किक हो गये हैं ।

आचार्य हरिभद्रने अपने 'अनेकांत-जयपताका' नामक ग्रंथमें वादिमुख्य मल्लवा-
दिकृत 'सन्मति-टीका' के कई अवतरण दिये हैं और श्रद्धेय मुनि जिनविजयजीने
अनेकानेक प्रमाणोंसे हरिभद्रसूरिका समय वि० स० ७५७ से ८२७ तक सिद्ध
किया है। अतः आचार्य मल्लवादि विक्रमकी आठवीं शताब्दिके पहलेके विद्वान्
हैं, यह निश्चय है और विद्यानन्दस्वामी विक्रमकी नवीं शताब्दिमें हुए हैं, यह भी
प्रायः निश्चित-सा है।

उक्त मल्लवादिका भी एक 'नयचक्र' नामका संस्कृत ग्रंथ है जिसका पूरा
नाम 'द्वादशार नयचक्र' है। जिसतरह चक्रमें आरे होते हैं, उसी तरह इसमें
बारह आरे अर्थात् अध्याय हैं। मूल ग्रंथ तो उपलब्ध नहीं है पर उसकी सिंह
क्षमाश्रमणकृत टीका मिलती है। आचार्य यशोविजयने नष्टभ्रष्ट और खंडित
प्रतियोंपरसे नयचक्रका उद्धार किया था परन्तु अब उसकी भी कोई शुद्ध प्रति उप-
लब्ध नहीं है। संभव है कि विद्यानन्दस्वामीने इसी नयचक्रको लक्ष्य करके पूर्वोक्त
सूचना की हो। जिस तरह हरिवंशपुराण और आदिपुराणके कर्त्ता दिगम्बर जैना-
चार्योंने सिद्धसेनसूरिकी प्रशंसा की है—जो कि श्वेताम्बराचार्य समझे जाते हैं—
उसी तरह विद्यानन्दस्वामीने भी श्वेताम्बराचार्य मल्लवादिके ग्रंथको पढ़नेकी
सिफारिश की हो, तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। जिस तरह सिद्धसेनसूरि
तार्किक थे उसी तरह मल्लवादि भी थे और जब दिगम्बर और श्वेताम्बर संप्रदायके
तार्किक सिद्धान्तोंमें विशेष महत्त्वका मत-भेद नहीं है, तब नयसंबंधी एक श्वेताम्बर
तर्क-ग्रन्थका उल्लेख एक दिगम्बराचार्यद्वारा किया जाना कुछ असम्भव नहीं मालूम
होता। अनेक श्वेताम्बर ग्रन्थकर्त्ताओंने भी इसी तरह दिगम्बर ग्रन्थकारोंकी प्रशंसा
की है और उनके ग्रन्थोंके हवाले दिये हैं।

यह भी सम्भव है कि देवसेनके अतिरिक्त अन्य किसी दिगम्बराचार्यका भी
कोई नयचक्र हो और विद्यानन्दस्वामीने उसका उल्लेख किया हो। माइल धवलके
बृहत् नयचक्रके अन्तकी गाथा (जो केवल बम्बईवाली प्रतिमें है, मोरेनाकी
प्रतिमें नहीं है) यदि ठीक हो तो उससे इस बातकी पुष्टि होती है। वह गाथा
इस प्रकार है—

१ देखो, जैनसाहित्यसंशोधकका पहला अंक। २ श्वेताम्बर-परम्पराके अनुसार वीर संवत्
८८४ में मल्लवादिने बौद्धोंको पराजित किया था।

दुसमीरणेण पोयं पेरियसंतं जहा ति (चि) रं नट्टं ।

सिरिदेवसेनमुणिणा तह णयचक्रं पुणो रइयं ॥

इसका अभिप्राय यह है कि दुःषमकालरूपी आँधीसे पोतके (जहाजके) समान जो नयचक्र चिरकालसे नष्ट हो गया था उसे देवसेन मुनिने फिरसे रचा । इससे मालूम होता है कि देवसेनके नयचक्रसे पहले भी कोई नयचक्र था जो नष्ट हो गया था और बहुत सम्भव है कि देवसेनने यह उसीका संक्षिप्त उद्धार किया हो ।

उपलब्ध ग्रन्थोंमें नयचक्र नामके तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—१ आलाप-पद्धति, २ लघु नयचक्र, और ३ बृहत् नयचक्र । इनमेंसे पहला ग्रन्थ आलापपद्धति संस्कृतमें है और शेष दो प्राकृतमें ।

१ आलापपद्धति—इसके कर्त्ता भी देवसेन ही हैं । भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट पुनामें इस ग्रन्थकी एक प्रति है, उसके अन्तमें प्रति-लेखकने लिखा है—“ इति सुखबोधार्थमालापपद्धतिः श्रीदेवसेनविरचिता समाप्ता । इति श्रीनयचक्र सम्पूर्णम् । ” उक्त पुस्तकालयकी सूचीमें भी यह नयचक्र नामसे ही दर्ज है । बासोदाके भंडारकी सूचीमें भी—जो बम्बईके दिगम्बरजैनमन्दिरके सरस्वतीभण्डारमें है—इसे ‘ नयचक्र संस्कृत गद्य ’ के नामसे दर्ज किया है । पं० शिवजीलालकृत दर्शनसार-वचनिकामें देवसेनके संस्कृत नयचक्रका जो उल्लेख है वह भी जान पड़ता है, इसी आलाप-पद्धतिको लक्ष्य करके किया गया है । यद्यपि आलाप-पद्धतिमें नयचक्रका ही गद्यरूप सारांश है और वह नयचक्रके ऊपर ही लिखी गई है, इस लिए कुछ लोगों द्वारा दिया गया उसका यह ‘ नयचक्र ’ नाम एक सीमातक क्षम्य भी हो सकता है; परन्तु वास्तवमें इसका नाम ‘ आलाप-पद्धति ’ ही है, नयचक्र नहीं ।

आलापपद्धतिके प्रारम्भमें ही लिखा है—“ आलापपद्धतिर्वचनरचनानुक्रमेण नयचक्रस्थोपरि उच्यते । ” इससे मालूम होता है कि आलापपद्धति प्राकृत नयचक्रपर संस्कृतमें प्रश्नोत्तररूपसे लिखी गई है । आलाप अर्थात् बोलचालकी

१ कारंजाकी प्रतिमें भी यह गाथा है ।

२ सन् १८८४-८६ की रिपोर्टके ५१९ वें नम्बरका ग्रन्थ ।

पद्धतिपर अथवा वचन-रचनाके ढंगपर यह 'सुख-बोधार्थ' या सरलतासे समझमें आनेके लिए बनाई गई है। इसकी प्रत्येक प्रतिमें इसे 'देवसेनकृता' लिखा भी मिलता है, जिससे यह निश्चय हो जाता है कि यह नयचक्रके कर्त्ता देवसेनकी ही रची हुई है—अन्य किसीकी नहीं।

२ लघु नयचक्र। श्रीदेवसेनसूरिका वास्तविक नयचक्र यही है। इसके साथ जो 'लघु' विशेषण लगाया गया है वह दूसरे बड़े ग्रन्थको देखकर लगा दिया गया है; परन्तु वास्तवमें उस दूसरे ग्रन्थका नाम 'द्रव्यस्वभावप्रकाश' है और उसके कर्त्ता 'माइल धवल' हैं जैसा कि आगे सिद्ध किया गया है। इसलिए इसका नयचक्रके ही नामसे उल्लेख किया जाना चाहिए।

श्वेतम्बराचार्य यशोविजयजी उपाध्यायने अपने 'द्रव्यगुणपर्यय रास' (गुजराती) में देवसेनके नयचक्रका कई जगह उल्लेख किया है और उक्त रासेके आधारसे ही लिखे गये 'द्रव्यानुयोगतर्कणा' नामक संस्कृत ग्रन्थमें भी उक्त उल्लेखोंका अनुवाद किया गया है। उसमें कहा है कि दिगम्बर देवसेनकृत नयचक्रमें ये नय, उपनय, और दोनों मूल नय भी, इसी प्रकार बतलाये गये हैं और यद्यपि ये दिगम्बरमतानुगत हैं, तथापि सभी सर्वज्ञप्रणीत सदागमोंके अनुकूल हैं, इनमें कोई विसंवाद नहीं है। इस विषयमें दिगम्बर श्वेताम्बर समान-तंत्र हैं।

नयाश्चोपनयाश्चैते तथा मूलनयावपि ।

इत्यमेव समादिष्टा नयचक्रेऽपि तत्कृता ॥ ८ ॥

एते नया उक्तलक्षणाश्च पुनरुपनयास्तथैव द्वौ मूलनयावपि निश्चयेनेत्थममुना प्रकारेणैव नयचक्रेऽपि दिगम्बरदेवसेनकृते शास्त्रे नयचक्रेपि तत्कृता तस्य नयचक्रस्य कृता उत्पादकेन समादिष्टं कथितं । एतावता दिगम्बरमतानुगतनयचक्रग्रन्थ-पाठपठितनयोपनयमूलनयादिकं सर्वमपि सर्वज्ञप्रणीतसदागमोक्तयुक्तियोजनासमानतन्त्रत्वमेवास्ते न किमपि विसंवादितयास्तीति^१ ।

उक्त 'तर्कणा' में जो नयोंका स्वरूप दिया है, वह बिल्कुल 'नयचक्र' का अनुवाद है और उसे स्वयं ग्रन्थकर्त्ता भोजसागरने स्वीकार किया है। इससे निश्चय हो जाता है कि उपाध्याय यशोविजयजी और तर्कणाके कर्त्ता भोजसागर इसी नयचक्रको देवसेनका रचा हुआ समझते थे।

१ 'द्रव्यानुयोगतर्कणा' अध्याय ८, श्लोक ८, पृष्ठ ११५ ।

दर्शनसारकी वचनिकाके कर्ता पं० शिवजीलालजीने देवसेनसूरीके बनाये जिन सब ग्रन्थोंके नाम दिये हैं उनमें प्राकृत नयचक्र भी है। अर्थात् उनके मतसे भी यह देवसेनकी ही कृति है।

यह नयचक्र (लघु) बृहत् नयचक्र (द्रव्यस्वभावप्रकाश) मेंसे छोटकर जुदा निकाला हुआ नहीं है। यह बात इस ग्रन्थको आदिसे अंततक अच्छी तरह पढ़ जानेसे ही ध्यानमें आ जाती है। इसकी रचना-पद्धतिसे ही मालूम हो जाता है कि यह सम्पूर्ण ग्रन्थ है और स्वतंत्र है। नयोंको छोड़कर इसमें अन्य विषयोंका विचार भी नहीं किया गया है। इसके अंतकी नं० ८६ और ८७ की गाथाओंके ' लवणं व एस भणियं नयचक्रं सयलसत्यसुद्धियरं ' और ' तो णाहुं कुणह मइं नयचक्रे दुणयतिमिरमत्तंडे ' पदोंसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इसका नाम नयचक्र ही है, उसके साथ कोई ' लघु ' आदि विशेषण नहीं है।

३ बृहत् नयचक्र। इसका वास्तविक नाम ' द्रव्यस्वभावप्रकाश ' (द्रव्य-स्वभाव-प्रकाश) या ' द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र ' है। ग्रन्थकर्ताने स्वयं इस नामको ग्रन्थके प्रारम्भमें और अन्तमें कई जगह व्यक्त किया है। नयचक्र नाम हो भी नहीं सकता, क्योंकि नयोंके अतिरिक्त द्रव्य, गुण, पर्याय, दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि अन्य अनेक विषयोंका भी इसमें वर्णन किया गया है। यह एक संग्रह-ग्रन्थ है। जिस तरह इसमें भगवत्कुंदकुंदाचार्यकृत पंचास्तिकाय, प्रवचनसार आदिकी गाथाओंको और उनके अभिप्रायोंको संग्रह किया गया है, उसी तरह लगभग पूरे नयचक्रको भी इसमें शामिल कर लिया गया है; यहाँ तक कि मंगल-चरणकी और अंतकी नयचक्रकी प्रशंसासूचक गाथायें भी नहीं छोड़ी हैं। जान पड़ता है कि नयचक्रकी उक्त प्रशंसासूचक गाथाओंके कारण ही लोगोंको भ्रम हो गया है और वे इसे ' बृहत् नयचक्र ' कहने लगे हैं।

इसके प्रारम्भकी उत्थानिकामें लिखा है, " श्रीकुंदकुंदाचार्यकृतशास्त्राणां सारार्थे परिगृह्य स्वपरोपकाराय द्रव्यस्वभावप्रकाशकं नयचक्रं मोक्षमार्गे कुर्वन् गाथाकर्ता... इष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह—। " इसमें ' द्रव्यस्वभावप्रकाशक ' यह नयचक्रका विशेषण है। संग्रहकर्ताका इससे यह अभिप्राय भी हो सकता है कि यह नयचक्र-युक्त द्रव्यस्वभावप्रकाशक ग्रन्थ है।

१ बम्बईवाली प्राचीन प्रतिमें यहाँ ' गाथाकर्ता ' ही पाठ है, जब कि मोरेनाकी ' ग्रन्थकर्ता ' है। वास्तवमें गाथाकर्ता ही होना चाहिए। यही पाठ छपना भी चाहिए था।

अब हमें यह देखना चाहिए कि इस 'द्रव्यस्वभावप्रकाश' के कर्ता कौन हैं।

दव्वसहावपयासं दोहयबंधेण आसि जं दिट्ठं ।

तं गाहाबंधेण य रइयं माइल्लधवल्लेण ॥

दुसमीर-पोयमि (नि) वाय पा (या) ता (णं) सिरिदेवसेणजोईणं ।

तेसिं पायपसाए उवल्लद्धं समणतच्चेण ॥

पहली गाथाका अर्थ यह है कि जो 'दव्वसहावपयास' नामका ग्रन्थ दोहाछंदोंमें था, उसीको माइल्ल धवल्लेने गाथाओंमें रचा ।

दूसरी गाथा बहुत कुछ अस्पष्ट है; फिर भी उसका अभिप्राय लगभग यह है कि श्रीदेवसेन योगीके चरणोंके प्रसादसे यह ग्रन्थ बनाया गया ।

यह गाथा बम्बईकी प्रतिमें नहीं है, मोरेनाकी प्रतिमें है । बम्बईकी प्रतिमें इसके बदले 'दुसमीरणेण पोयं पेरियसंतं' आदि गाथा है, जो ऊपर एक जगह उद्धृत की जा चुकी है और जिसमें यह बतलाया गया है कि देवसेनमुनिने पुराने नष्ट हुए नयचक्रको फिरसे बनाया ।

मोरेनावाली प्रतिकी गाथा यदि ठीक है तो उससे केवल यही मालूम होता है कि माइल्ल धवल्लका देवसेनसूरिसे कुछ निकटका गुरु-शिष्यसम्बन्ध था । बम्बईवाली प्रतिकी गाथा माइल्ल धवल्लसे कोई सम्बन्ध नहीं रखती है, वह नयचक्र और देवसेनसूरिकी प्रशंसावाचक अन्य तीन चार गाथाओंके समान एक जुदी ही प्रशस्ति-गाथा है ।

एक गाथामें कहा है कि दोहा छंदमें रचे हुए 'द्रव्य-स्वभाव-प्रकाश' को सुनकर सुहंकर या शुभंकर नामके कोई सज्जन—जो संभवतः माइल्ल धवल्लके मित्र होंगे—हँसकर बोले कि दोहोंमें यह अच्छा नहीं लगता; इसे गाथाबद्ध कर दो ।^१ इससे भी यही मालूम होता है कि 'दव्वसहावपयास' पहले दोहाबद्ध था और उसे माइल्ल धवल्लने गाथाबद्ध किया है । माइल्ल धवल्ल 'गाथाकर्ता' ही हैं,

१ कारंजाकी प्रतिमें 'माइल्लधवल्लेण' पर 'देवसेनशिष्येण' टिप्पण भी है जिससे और भी स्पष्ट हो जाता है कि वे देवसेनके शिष्य थे । देखो सी० पी० बरार गवर्नमेंटद्वारा प्रकाशित हस्तलिखित ग्रन्थोंका सूचीपत्र पृष्ठ, ७३५ ।

२ सुणिऊण दोहरत्थं सिग्घं हसिऊण सुहंकरो मणइ ।

एत्थ ण सोहइ अत्थो गाहाबंधेण तं मणइ ॥

इसका खुलासा इस ग्रन्थकी उत्थानिकासे भी हो जाता है, जहाँ लिखा है कि गाथाकर्ता (ग्रन्थकर्ता नहीं) इष्टदेवताको नमस्कार करते हुए कहते हैं।

नीचे लिखी गाथाओंसे भी यह प्रकट होता है कि इस ग्रन्थके कर्ता देवसेनसूरि नहीं किंतु माइल धवल हैं—

दारियदुण्ययदणुयं परअप्पपरिक्खतिक्खखरधारं ।

सव्वण्डुविण्डुचिण्हं सुदंसणं णमह णयचक्कं ॥

सुयकेवलीहिं कहियं सुअसमुद्धअमुदमयमाणं ।

बहुभंगमंगुरावि य विराइयं णमह णयचक्कं ॥

सियसहसुणयदुण्णयदणुदेहविदारणेक्कवरवीरं ।

तं देवसेणदेवं णयचक्कयरं गुरुं णमह ॥

इनमेंसे पहली दो गाथाओंमें नयचक्रकी प्रशंसा करके कहा है कि ऐसे विशेषणोंसे युक्त नयचक्रको नमस्कार करो और तीसरी गाथामें कहा है कि दुर्नयरूपी राक्षसको विदारण करनेवाले श्रेष्ठ वीर गुरु देवसेनको जो नयचक्रके कर्ता हैं—नमस्कार करो। यदि इस ग्रन्थके कर्ता स्वयं देवसेन होते तो वे अपने लिए गुरु आदि शब्दोंका प्रयोग न करते और न यही कहते कि तुम उन देवसेनको और उनके नयचक्रको नमस्कार करो।

इन सब बातोंसे सिद्ध है कि छोटे नयचक्रके कर्ता ही देवसेन हैं और माइल धवल उन्हींको लक्ष्य करके उक्त प्रशंसा करते हैं। माइल धवलने देवसेन-सूरिके पूरे नयचक्रको अपने इस ग्रन्थमें अन्तर्गर्भित कर लिया है, ऐसी दशामें उनका इतना गुणगान करना आवश्यक भी हो गया है।

माइल धवलने इसके सिवाय और भी कोई ग्रन्थ बनाये हैं या नहीं और ये कब कहाँ हुए हैं, इसका हम कोई पता नहीं लगा सके। संभवतः वे देवसेनके ही शिष्योंमें होंगे जैसा कि मोरेनाकी प्रतिकी अंतिम गाथासे और देवसेनके लिए श्रेष्ठ गुरु शब्दका प्रयोग देखनेसे जान पड़ता है। कारंजाकी प्रतिके टिप्पणसे भी यही मालूम होता है।

देवसेनसूरि

नयचक्रके संबंधमें इतनी चर्चा करके अब संक्षेपमें इसके कर्ता देवसेनसूरिका परिचय दिया जाता है। इनका बनाया हुआ एक 'भावसंग्रह' नामका ग्रन्थ है।

उससे मालूम होता है कि इनके गुरुका नाम श्रीविमलसेन गणधर (गणी) था । दर्शनसार नामक ग्रन्थके अंतमें वे अपना परिचय देते हुए कहते हैं कि पूर्वाचार्योंकी रची हुई गाथाओंको एक जगह संचित करके श्रीदेवसेन गणिने धारानगरीमें निवास करते हुए पार्श्वनाथके मंदिरमें माघ सुदी दशवीं विक्रम संवत् ९९० को यह दर्शनसार नामक ग्रन्थ रचो । इससे निश्चय हो जाता है कि उनका अस्तित्वकाल विक्रमकी दशवीं शताब्दिका अन्त है । अपने अन्य किसी ग्रन्थमें उन्होंने ग्रंथ-रचनाका समय नहीं दिया है ।

यद्यपि इनके किसी ग्रन्थमें इस विषयका उल्लेख नहीं है कि वे किस संघके आचार्य थे; परन्तु दर्शनसारके पढ़नेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे पद्म-नंदि या कुन्दकुन्दकी अन्वयके आचार्य थे । दर्शनसारमें उन्होंने काष्ठासंघ, द्रविडसंघ, माथुरसंघ और यापनीयसंघ आदि सभी जैन संघोंकी उत्पत्ति बतलाई है और उन्हें जैनाभास कहा है; अतएव वे इन संघोंमेंसे किसी संघके नहीं थे ।

दर्शनसारकी ४३ वीं गार्थोंमें लिखा है कि यदि आचार्य पद्मानन्दि (कुन्दकुन्द) सीमन्धर स्वामीद्वारा प्राप्त दिव्यज्ञानके द्वारा बोध न देते तो मुनिजन सच्चे मार्गको कैसे जानते ? इससे यह निश्चय हो जाता है कि वे श्रीकुन्दाचार्यकी आम्नायके थे । इसके सिवाय अपने किसी गणगच्छादिका उल्लेख उन्होंने नहीं किया है ।

१—सिरिविमलसेनगणहरसिस्सो णामेण देवसेणो ति ।

अबुहज्जणबोहणत्थं तेणेयं विरइयं सुत्तं ॥

२—पुब्बायरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ ।

सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसेतेण ॥ ४९ ॥

रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए नवए ।

सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए ॥ ५० ॥

३—दर्शनसारकी अन्य गाथाओंमें जहाँ जहाँ संवत्का उल्लेख किया है, वहाँ वहाँ ' विक्रमरायत्थ मरणपत्तस ' पद देकर विक्रम संवत् ही प्रकट किया है । इसके सिवाय धारा (मालवा) में विक्रम संवत् ही प्रचलित रहा है ।

४—जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण ।

ण विवोहइ तो समणा कइ सुमग्गं पयाणंति ॥

भावसंग्रह (प्राकृत) में जगह जगह दर्शनसारकी अनेक गाथायें उद्धृत की गई हैं और उनका उपयोग उन्होंने स्वनिर्मित गाथाओंकी भाँति किया है । इससे इस विषयमें कोई संदेह नहीं रहता कि दर्शनसार और भाव-संग्रह दोनोंके कर्त्ता एक ही देवसेन हैं ।

इनके सिवाय आराधनासार और तत्त्वसार नामके ग्रंथ भी इन्हीं देवसेनके बनाये हुए हैं और जो प्रकाशित हो चुके हैं ।

पं० शिवजीलालने इनके ' धर्मसंग्रह ' नामके एक और ग्रंथका उल्लेख किया है; परंतु वह अभीतक हमारे देखनेमें नहीं आया ।

आचार्य अमितगति

परमार राजाओंका जैन विद्वानोंके प्रति सद्भाव

मालवेम विद्याप्रेमी और विद्वान् परमार-वंशके राजाओंके कालमें जो अनेक जैन विद्वान् हो गये हैं, उनमें आचार्य अमितगतिका एक विशेष स्थान है। इस वंशके राजा जैनधर्मके प्रति आदर-भाव रखते थे। प्रद्युम्नचरित काव्यके कर्ता आचार्य महासेन मुंजराजाद्वारा पूजित थे^१। इसी तरह महासेन महाराजा सिन्धुलके महामहत्तम (महामात्य) श्रीपर्पटके गुरु थे। न्यायकुमदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्डके कर्ता प्रभाचन्द्र धाराधीश भोजदेवद्वारा सम्मानित थे^२। महाकवि धनपालने अपने प्रसिद्ध गद्य-काव्य 'तिलक-मंजरी' की रचना राजा भोजके कहनेसे की थी और राजा भोजने उन्हें अपनी सभामें 'सरस्वती' की पदवीसे सम्मानित किया था। दुबकुण्डके वि० सं० ११४५ के लेखके अनुसार जैनाचार्य शान्तिषेणने भोजदेवकी सभामें अम्बरसेन आदि जैन विद्वानोंका अपमान करनेवाले पण्डितोंको हराया था। इसी तरह भोजके वंशज अर्जुनदेवके सान्धिषिग्रहिक मंत्री सलखण सम्भवतः पण्डित आशाधरके पिता थे^३ और गुरु बालसरस्वती मदनोपाध्याय शिष्य थे। इससे पता लगता है कि उक्त सब राजाओंके कालमें जैन विद्वानोंकी काफी प्रतिष्ठा थी और उनका जैनधर्मके प्रति सद्भाव था।

साहित्याचार्य पं० विश्वेश्वरनाथ रेउके कथनानुसार अमितगति वाक्पतिराज मुंजकी सभाके एक रत्न थे^४। वे बहुश्रुत विद्वान् थे और उन्होंने विविध विषयोंपर ग्रन्थ लिखे थे। उनके तमाम उपलब्ध ग्रन्थ संस्कृतमें हैं, प्राकृत या अपभ्रंशका अब तक कोई ग्रन्थ नहीं मिला है।

१—आसीत् श्रीमहसेनसूरिनवः श्रीमुंजराजाचितः ।—प्रद्युम्नचरित

२ देखो जैनशिलालेखसंग्रहका लेख नं० ५५—श्रीधाराधिपभोजराजमुकुटप्रोताश्मरु-स्मिच्छटा ... श्रीमान्प्रभाचन्द्रमा ।

३ देखो, 'पण्डितवर आशाधर' लेख । पृ० १३२

४ देखो, श्रीविश्वेश्वरनाथ रेउजीका 'राजा भोज' ।

काष्ठासंघ और माथुर संघ

अमितगति माथुरसंघके आचार्य थे। देवसेनसूरिने अपने 'दर्शनसार' में जो पाँच जैनाभास बतलाये हैं, उनमें एक माथुरसंघ भी है। इसे निःपिच्छिक भी कहते हैं। क्योंकि इस संघके अनुयायी मुनि मोर-पिच्छि या गो-पिच्छि नहीं रखते थे।

जैसा कि मैंने लेखान्तरोंमें बतलाया है, प्रायः सभी संघों, गणों और गच्छोंके नाम स्थानों या देशोंके नामसे पड़े हैं, माथुरसंघ नाम भी स्थानके कारण पड़ा है—मथुरा नगर या प्रान्तका जो मुनिसंघ वह माथुर संघ।

दर्शनसारमें काष्ठासंघकी उत्पत्ति आचार्य जिनसेनके सतीर्थ वीरसेनके शिष्य कुमारसेन द्वारा वि० सं० ७५३ में हुई बतलाई गई है, जो नन्दी-तटमें रहते थे और कहा है कि उन्होंने कर्कश केश, अर्थात् गौकी पृच्छकी पिच्छि, ग्रहण करके सारे बागड़ देशमें उन्मार्ग चलाया। फिर इसके दो सौ वर्ष बाद, अर्थात् वि० सं० ९५३ के लगभग मथुरामें माथुरोंके गुरु, रामसेनने, निःपिच्छिक रहनेका उपदेश दिया;^१ कहा कि न मथूरपिच्छि रखनेकी जरूरत है और न गोपुच्छकी पिच्छि। इससे जान पड़ता है कि काष्ठासंघकी ही एक शाखा माथुरसंघ है।

इस बातकी पुष्टि सुरेन्द्रकीर्ति आचार्यकी बनाई हुई पट्टावलीसे भी होता है जिसमें कहा है कि काष्ठासंघमें नन्दितट, माथुर, बागड़ और लाड़-बागड़ ये चार प्रसिद्ध गच्छ हुए। यह स्पष्ट है कि ये चारों नाम स्थानों और प्रदेशोंके नामोंपर रखे गये

१ पं० बुलाकीचन्द्रकृत 'वचन-कोश'में जो वि० सं० १७३७ का बना हुआ है, लिखा है कि काष्ठासंघकी उत्पत्ति उमास्वामीके पट्टाधिकारी लोहाचार्य-द्वारा अगरोहा नगरमें हुई और काठकी प्रतिमा-पूजाका विधान करनेसे उसका काष्ठासंघ नाम पड़ा; परन्तु उक्त कथा सर्वथा अविश्वसनीय है। काठकी प्रतिमाकी बात तो विल्कुल बे-सिरपैरकी है। काठकी प्रतिमाका पूजना किसी भी सम्प्रदायमें निषिद्ध नहीं है, यद्यपि काठ-प्रतिमा टिकाऊ न होनेसे बनाई नहीं जाती।

२ देखो दर्शनसारकी ३१ से ४१ नम्बर तककी गाथायें।

३—काष्ठासंघो भुवि ख्यातो जानन्ति नृसुरासुराः।

तत्र गच्छाश्च चत्वारो राजन्ते विश्रुताः क्षितौ ॥

श्रीनन्दितटसंज्ञश्च माथुरो बागड़ामिधः।

लाड़-बागड़ इत्येते विख्याताः क्षितिमण्डले ॥

हैं। कुमारसेन नन्दितटके थे, उससे नन्दितटगच्छ; रामसेन मथुराके थे, उससे माथुर गच्छ और बागड़से (सागवाड़ेके आसपासके प्रदेशको अब भी बागड़ कहते हैं) बागड़गच्छ और लाट (गुजरात) और बागड़से लाड़-बागड़ गच्छ। लाट और बागड़ बहुत समय तक एक ही राजवंशके अधीन रह चुके हैं।

गण, गच्छ और संघ कहीं-कहीं पर्यायवाची रूपमें भी व्यवहृत हुए हैं।

माथुरसंघको जीव-रक्षाके लिए किसी तरहकी पिच्छि न रखनेके कारण ही जैनाभास कहा है, या और किसी कारणसे, यह समझमें नहीं आता। अन्यथा उस संघके आचार्य अमितगतिके ग्रन्थोंसे तो उनका कोई ऐसा सिद्धान्त-भेद नहीं मालूम होता, जिससे उन्हें जैनाभास कहा जाय। उनके ग्रन्थोंका पठन-पाठन भी दिगम्बर सम्प्रदायमें बराबर होता चला आया है।

बहुत सम्भव है कि मयूरपुच्छ और गोपुच्छकी पिच्छि रखनेका विवाद उस समय इतना बढ़ गया हो कि माथुरसंघके आचार्योंने चिढ़कर किसी भी तरहकी पिच्छि न रखना ज्यादा पसन्द किया हो। संघ-भेद अकसर ऐसे छोटे-छोटे कारणों और मतसहिष्णुताके अभावमें होते रहे हैं।

एक अनुमान यह भी होता है कि काष्ठासंघके मुनि चैत्यवासी या मठवासी हो गये थे, मन्दिरोंके लिए भूमि-ग्रामादि ग्रहण करने लगे थे। इसी कारण शायद उन्हें जैनाभास कहा गया हो।

दर्शनसारकी रचना वि० सं० ९९० में हुई है। उसमें जो काष्ठासंघकी उत्पत्तिका समय वि० सं० ७५३ बतलाया है, उसके बिल्कुल ठीक होनेमें हमें सन्देह है। इस विषयमें हमने दर्शनसार-विवेचनामें विस्तारके साथ लिखा है। सन्देह होनेका सबसे बड़ा कारण यह है कि दर्शनसारके अनुसार गुणभद्रकी मृत्युके पश्चात् विनयसेनके शिष्य कुमारसेनने काष्ठासंघकी स्थापना की थी और गुणभद्र स्वामीने अपना उत्तरपुराण श० सं० ८२०, अर्थात् वि० सं० ९५३ में समाप्त किया है। यदि इस ९५५ संवत्को ही उनका मृत्यु-काल मान लिया जाय तो काष्ठासंघकी उत्पत्ति ७५५ से लगभग दो सौ वर्ष पीछे चली जाती है।

१ इस विषयपर 'वनवासी और चैत्यवासी सम्प्रदाय' शीर्षक लेखमें अधिक विस्तारके साथ लिखा गया है। २ दर्शनसार गाथा ३०-३२।

इसी तरह अमृतगतिने अपना सुभाषितरत्नसंदोह वि० सं० १०५० में समाप्त किया है और उन्होंने अपनी गुरुपरम्पराके पाँच पूर्वजोंका उल्लेख किया है जिनमें सबसे पहले वीरसेन हैं। यदि प्रत्येक पूर्वजका समय २० वर्ष भी माना जाय, तो सौ वर्ष हो जाता है, अर्थात् वीरसेनका समय वि० सं० ९५० के लगभग होगा और उक्त वीरसेन ही माथुरसंघके स्थापक नहीं थे, रामसेन थे और यदि वे वीरसेनसे दो-तीन पीढ़ी ही पहले हुए हों, तो उनका समय भी दर्शनसारमें बतलाये हुए माथुरसंघकी स्थापनाके समयसे अर्थात् वि० सं० ९५३ से पहले चला जाता है।

लाङ्-बागड़ संघ भी जो काष्ठासंघकी एक शाखा है, काफी प्राचीन मालूम होता है। दुर्बकुण्डके जैनमन्दिरके प्रशस्ति-लेखके रचयिता, विजयकीर्ति मुनि, लाङ्-बागड़ संघके हैं। वे शान्तिषेणके शिष्य थे। इन शान्तिषेणके पहलेके देवसेन, कुलभूषण और दुर्लभसेन नामक गुरुओंका भी उसमें उल्लेख है। शान्तिषेण दुर्लभसेनके शिष्य थे। अर्थात् विजयकीर्तिसे कमसे कम सौ वर्ष पहले देवसेन गुरु होंगे। उक्त लेख भाद्र सुदी ३ वि० सं० ११४५ का लिखा हुआ है। अर्थात् वि० सं० १०४५ से भी पहले तक इस संघकी परम्परा जा पहुँचती है।

इसी तरह प्रद्युम्नचरित काव्यके कर्त्ता महासेन परमार-राजा मुंजके समयमें वि० सं० १०५० के लगभग हुए हैं। ये भी लाङ्-बागड़ संघके थे। इन्होंने अपने गुरु गुणाकरसेन और दादा गुरु जयसेनका उल्लेख किया है, जो वि० सं० १००० के लगभग हुए होंगे या उससे कुछ पहले।

१ दर्शनसार गाथा ४०।

२ ग्वालियरसे ७९ मील नैऋतमें कुनू नदीकी बाईं ओर 'दुबकुंड' नामक स्थानमें यह जैनमन्दिर है और पश्चिमदिशा इण्डिका जिल्द २, पृष्ठ ३७-४० में उक्त लेख छपा है।

३ प्रद्युम्नचरित माणिकचन्द्रजैन-ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो चुका है। जिस प्रतिके आधारसे वह छपा था, उसमें प्रशस्ति नहीं थी। परन्तु कारंजाके भंडारमें जो प्रति है, उसमें प्रशस्ति है, जो आगे 'महासेनाचार्य' शीर्षक लेखमें उद्धृत की गई है।

गुरु-शिष्य-परम्परा

अमितगतिकी गुरुपरम्परा इस प्रकार है—सिद्धान्तपारगामी वीरसेन, उनके शिष्य देवसेन, देवसेनके शिष्य अमितगति (प्रथम), उनके नेमिषेण, नेमिषेणके माघवसेन और उनके शिष्य अमितगति^१ ।

और अमितगतिकी शिष्य-परम्पराका पता अमरकीर्तिके छंक्कम्मोवएस (षट्कर्मोपदेश) से लगता है, जो इस प्रकार है—अमितगति, शान्तिषेण, अमरसेन, श्रीषेण, चन्द्रकीर्ति और चद्रकीर्तिके शिष्य अमरकीर्ति । अमरकीर्तिने अपना यह अपभ्रंश भाषाका ग्रन्थ भादों सुदी १४ वि० सं० १२४७ को समाप्त किया था ।

ग्रन्थोंका परिचय

अमितगतिसूरिके अबतक नीचे लिखे ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं —

१ सुभाषितरत्नसन्दोह—यह एक स्वोपज्ञ सुभाषित ग्रन्थ है । इसमें सांसारिक विषयनिराकरण, मायाहंकार-निराकरण, इन्द्रियनिग्रहोपदेश, स्त्रीगुणदोष-विचार, देवानिरूपण आदि बत्तीस प्रकरण हैं और प्रत्येकमें बीस-बीस पच्चीस पच्चीस पद्य हैं । सुगम संस्कृतमें प्रत्येक विषयका बड़ी सुन्दरतासे निरूपण किया गया है । सभी पद्य कण्ठ करने लायक हैं । ग्रन्थके उपान्तमें २१७ श्लोकोंमें श्रावक-धर्म-निरूपण है, जिसे एक छोटा-सा श्रावकाचार समझना चाहिए । पूरे ग्रन्थमें ९२२ पद्य हैं । निर्णयसागरकी कान्यमालामें यह बहुत समय पहले प्रकाशित हो चुका है । कलकत्तेकी सिद्धान्त-प्रचारिणी सभा इसे हिन्दी अनुवादसहित भी प्रकाशित कर चुकी है । यह विक्रम संवत् १०५० पौष सुदी पंचमीको समाप्त हुआ था, जब कि राजा मुंज पृथिवीका पालन करते थे ।

२ धर्मपरीक्षा—यह संस्कृत साहित्यमें अपने ढंगका एक निराला ही काव्य-ग्रन्थ है । इसमें हिन्दू पुराणोंकी ऊटपटांग कथाओं और मान्यताओंको बड़े ही मनोरंजक रूपमें मजाक करते हुए अविश्वसनीय ठहराया है । सारा ग्रन्थ एक सुन्दर कथाके रूपमें श्लोकबद्ध है । श्लोकोंकी संख्या १९४५ है । यह ग्रन्थ

१ आगे दी हुई प्रशस्तियाँ देखिए ।

२ इस ग्रन्थका विस्तृत परिचय प्रो० हीरालालजी जैनने जैन-सिद्धान्तभास्कर भाग २ अंक ३ में दिया है ।

हरिभद्रसूरिके धूर्ताख्यान नामक प्राकृत ग्रन्थके ढंगका है। कमसे कम धूर्ताख्यानकी छाया इसमें अवश्य है। यह बात ग्रन्थकर्त्ताका आशु-कवि होना प्रकट करती है कि केवल दो महीनेमें ही उन्होंने इस ग्रन्थको रच डाला था।

यह ग्रन्थ विक्रम संवत् १०७० में समाप्त हुआ था। अबसे लगभग ४० वर्ष पहले इसे स्व० गुरुजी पं० पन्नालालजीने हिन्दी-अनुवाद सहित बम्बईसे प्रकाशित किया था। साँगलीसे इसका एक संस्करण मराठी टीकासहित भी छप चुका है।

३ पंचसंग्रह—इसे संस्कृतश्लोकबद्ध पंचसंग्रह कहना चाहिए। अज्ञातनाम-कर्तृक प्राकृत पंचसंग्रहको ही सुगम संस्कृतमें श्लोकबद्ध करके यह रचा गया जान पड़ता है। यह विक्रम-संवत् १०७३ में मसूतिकापुर नामक स्थानमें बनकर समाप्त हुआ था। इसकी प्रशस्तिसे मालूम होता है कि इनके गुरु माधवसेनके समयमें सिन्धुपति या सिन्धुल पृथ्वीकी रक्षा करते थे। यह माणिकचन्द-जैनग्रन्थमालामें प्रकाशित हो चुका है।

४ उपासकाचार—अमितगतिश्रावकाचार नामसे इसकी प्रसिद्धि है। उपलब्ध श्रावकाचारोंमें यह बहुत विशद, सुगम और विस्तृत है। रचना बहुत ही सुन्दर और काव्यमयी है। इसकी श्लोकसंख्या १३५२ है। इस ग्रन्थके अन्तमें कर्त्ताने अपनी गुरु-परम्परा तो दी है, परन्तु रचनाका समय, स्थान आदि नहीं दिया है। संभव है, प्रशस्तिके एक दो पद्य लिपिकर्त्ताओंकी कृपासे छूट गये हों। यह अनन्तकीर्ति-ग्रन्थमालामें स्व० पं० भागचन्दजीकी भाषावचनिका-सहित प्रकाशित हो चुका है।

५ आराधना—यह शिवार्यकी प्राकृत आराधनाका पद्यबद्ध संस्कृत अनुवाद है, जो केवल चार महीनेमें पूर्ण किया गया था। इसमें ग्रन्थकर्त्ताने देवसेनसे

१-अमितगतिरिवेदं स्वस्थ मासद्वयेन । प्रथितविशदकीर्तिः काव्यमुद्भूतदोषम् ॥

अभी अभी हरिषेणकृत 'धम्मपरिक्खा' नामक अपभ्रंश भाषाका एक ग्रन्थ देखनेको मिला जो संस्कृत धर्मपरीक्षासे पहलेका—वि० सं० १०४० का—बना हुआ है और हरिषेणने लिखा है कि पहले धर्मपरीक्षा जयरामकृत गाथाबद्ध थी, उसे मैने पढ़ा दिया छन्दमें किया। जान पड़ता है, अमितगतिने अपना संस्कृत ग्रंथ उक्त दोषोंसे किसी एकके आधारसे बनाया है। शायद इसी लिए उसके बननेमें केवल दो ही महीने लगे। कथानक, पात्रोंके नाम आदि धम्मपरिक्खा और धर्मपरीक्षाके बिल्कुल एक हैं।

लेकर अपने तककी गुरुपरम्परा दी है; परन्तु समय और स्थान नहीं दिया है। शोलापुरसे प्रकाशित हो चुका है।

६ सामायिक पाठ—यह एक सौ बीस पद्योंका छोटा-सा प्रकरण है। इसके अन्तमें लिखा है—

“वृत्तवंशशतेनेति कुर्वता तत्त्वभावनां । सद्योऽभितगतेशिष्टा निवृत्तिः क्रियते करे ।
इति द्वितीय भावना समाप्ता ।”

इससे मालूम होता है कि इस ग्रन्थका नाम सामायिक पाठ नहीं है, या तो तत्त्वभावना होगा या कुछ और। ‘इति द्वितीय भावना’से यह भी अनुमान होता है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ बड़ा है और उसकी यह दूसरी भावना या दूसरा अध्याय है। माणिकचन्द्र-ग्रन्थमालाके सिद्धान्तसारादिसंग्रहमें यह एक ही कापी परसे प्रकाशित हुआ है जिसे ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी किसी पुस्तक-मंडारसे नकल करके लाये थे।

७ भावना-द्वात्रिंशतिका—३२ पद्योंका यह भी एक प्रकरण है, जो सामायिक पाठ नामसे कई स्थानोंसे प्रकाशित हो चुका है। पाठ करने योग्य सुन्दर रचना है। संभव है, यह भी पूर्वोक्त तत्त्वभावना या ऐसे ही किसी नाम-वाले ग्रन्थका एक अध्याय हो।

८ योगसार प्राभृत—इस ग्रन्थके कर्त्ताका नाम भी अमितगति है, परन्तु इसके कर्त्ता शायद इन अमितगतिके दादा गुरुके गुरु अमितगति हों। क्योंकि ये अमितगति अपने प्रत्येक ग्रन्थके प्रायः प्रत्येक प्रकरण या अध्यायके अन्तमें अपना अमितगति नाम शिष्ट रूपसे देते हैं। उनकी यह विशेषता योग-सारमें नहीं है। इस ग्रन्थके अन्तमें कोई गुरु-परम्परा भी नहीं दी है।

अपने नामके साथ दिया हुआ ‘वीतराग’ विशेषण भी इनके प्रथम अमित-

१-दृष्ट्वा सर्वे गगननगरस्वप्नमायोपमानं

निःसंगात्सामितगतिरिदं प्राभृतं योगसारं

ब्रह्मप्राप्त्या परममकृतं स्वेषु चात्मप्रतिष्ठम्

नित्यानन्दं गलितकलिलं सूक्ष्ममत्यक्षलक्ष्यम् ॥

योगसारमिदमेकमानसः प्राभृतं पठति योऽभिमानतः ॥

स्वस्वरूपमुपलक्ष्य सोऽवितः (चिरः) सम्प्रयाति भवदोषवंचितम् ॥

इति श्रीअमितगतिवीतरागविरचितायामध्यात्मतरंगिण्यां नवमोषिकारः ।

गति होनेके अनुमानको सहारा देता है । यह जैनसिद्धान्त-प्रकाशिनी-संस्था-द्वारा हिन्दी-अनुवाद-सहित प्रकाशित हो चुका है ।

कुछ ग्रन्थ-सूचियोंमें जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सार्द्धद्वयद्वीपप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति इन चार ग्रन्थोंको और भी अमितगति-कृत बतलाया है । परन्तु अभी तक ये कहीं उपलब्ध नहीं हुए हैं ।

उपलब्ध ग्रन्थोंमें सुभाषितरत्नसन्दोह वि० सं० १०५० की रचना है । इसके पहलेकी किसी रचनाका हमें पता नहीं । यह ग्रन्थ काफी प्रौढ़ है । अधिक नहीं तो उस समय ग्रन्थकर्त्ताकी अवस्था २५-३० वर्षकी अवश्य होगी । इस दृष्टिसे हम श्रीअमितगतिका जन्म-काल वि० सं० १०२० के लगभग मान सकते हैं । पंच-संग्रह वि० संवत् १०७३ में समाप्त हुआ है, अतएव उस समय वे ५० वर्षसे ऊपर होंगे ।

समकालीन राजा

अपने ग्रन्थोंमें उन्होंने मुंज और सिन्धुलका उल्लेख किया है । ये दोनों मालवेके परमार राजा थे और उनकी राजधानी धारा थी । ये मुंज वही हैं, जिनके विषयमें कहा गया है कि यशःपुंज मुंजराजाके चले जानेपर लक्ष्मी तो विष्णुके पास चली जायगी और वीरश्री वीरोंके घर, परन्तु सरस्वती बिल्कुल निरावलम्ब हो जायगी—उसका कोई आश्रयदाता न रहेगा । मुंज सरस्वती और सरस्वती-सेवकोंके ऐसे ही आश्रयदाता थे । उनका दूसरा नाम वाक्पतिराज था । वे स्वयं भी विद्वान् और कवि थे । उनका बनाया हुआ कोई स्वतंत्र ग्रन्थ तो अब तक नहीं मिला है, परन्तु कुछ ग्रन्थोंमें उनके कुछ पद्य मिले हैं^३ । उनकी

- १ लक्ष्मीर्यास्यति गोविन्दे वीरश्रीवीरवेश्मनि ।
गते मुंजे यशःपुंजे निरालम्बा सरस्वती ॥ —प्रबन्धचिन्तामणि
- २ प्रीत्या योग्य इति प्रतापवसतिः ख्यातेन मुंजाख्यया
यः स्वे वाक्पतिराजभूमिपतिना राज्येऽभिषिक्तः स्वयम् ॥ —तिलक-मंजरी

३ परमारनरेश अर्जुनवर्मदेवने अमरकशतकी रसिक-संजीविनी टीकामें २२ वें श्लोककी टीकामें यह कहकर एक पद्य उद्धृत किया है कि यह हमारे पूर्वज वाक्पतिराज अपरनाम मुंजका है ।

राजधानी उज्जयिनीमें थी^१। वे राजा सीयक, श्रीहर्ष या सिंहभट्टके पुत्र थे, बड़े ही पराक्रमी। कर्णाटक, लाट, केरल, चोलके राजाओंको उन्होंने जीता। कलचुरिनरेश युवराज देव (द्वितीय) को हराकर उसकी राजधानी त्रिपुरीको लूटा, मेवाड़पर चढ़ाई करके आहाड़को नष्ट किया और चित्तौरगढ़ और उसके पासके प्रदेशको अपने राज्यमें मिला लिया। उन्होंने सोलंकी राजा तैलप द्वितीयको छह बार हराया, पर सातवीं बार गोदावरीके पासके युद्धमें वे कैद कर लिये गये और वि० सं० १०५० और १०५४ के बीच मार डाले गये। सुभाषितरत्न-संदोहकी रचनाके समय वे जीते थे। तिलकमंजरीके कर्त्ता धनपाल, नवसाहसांक-चरित-कर्त्ता पद्मगुप्त या परिमल, दशरूपावलोक-टीकाके कर्त्ता धनिक, पिंगल-छन्दः-सूत्रके टीकाकार हल्युध और अमितगति इस राजाकी ही सभाके रत्न थे।

सिन्धुल, सिन्धुराज, कुमारनारायण या नवसाहसांक मुंजके छोटे भाई और प्रसिद्ध राजा भोजके पिता थे। पद्मगुप्तने इन्हींकी आज्ञासे 'नवसाहसांक-चरित' नामका ऐतिहासिक काव्य लिखा था। मुंजने अपने जीते जी ही भोजको गोद ले लिया था। परन्तु भोज नावालिगये, इसलिए मुंजकी मृत्युके समय सिन्धुल ही राजगद्दीपर बैठ गये थे। इन्होंने हूणोंको तथा दक्षिण कोशल, बागड़, लाट और मुरलवालोंको युद्धमें हराया था। ये गुजरात-नरेश सोलंकी चामुण्डराजके साथकी लड़ाईमें मारे गये। वि० सं० १०५४ और १०६६ के बीच किसी समय इनके मारे जानेका अनुमान किया गया है।

भक्तामर-चरित, प्रबन्धचिन्तामणि, भोजप्रबन्ध आदि ग्रन्थोंमें राजा मुंजके द्वारा सिन्धुलके अन्धे किये जाने और भोजको वध करनेके लिए भेजनेकी जो कथायें मिलती हैं, वे सभी कपोलकल्पित मालूम होती हैं। इतिहाससे उनकी कोई पुष्टि नहीं होती।

आगे अमितगतिके ग्रन्थोंकी प्रशस्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

१ वाक्पतिराजके एक दान-पत्रसे (इ० एण्टिक्वेरी, जिल्द ४, पृ० ५१-५२) और परिमलके नवसाहसांक-चरितसे मालूम होता है कि मुंजके समय राजधानी उज्जयिनी थी। उसके बाद धाराको भोजदेवने अपनी राजधानी बनाया था।

ग्रन्थ-प्रशस्तियाँ

सुभाषितरत्नसन्दोह—

आशीर्विध्वस्तकन्तोर्विपुलशमभृतः श्रीमतः कान्तकीर्तिः
 सुर्योत्तस्य पारं श्रुतसलिलनिधेर्देवसेनस्य शिष्यः ।
 विज्ञाताशेषशास्त्रो व्रतसमितिभृतामग्रणीरस्तकोपः
 श्रीमान्मान्यो मुनीनाममितगतियतिस्त्यक्तनिःशेषसंगः ॥ ९१५
 अलंघ्यमहिमालयो विमलसत्त्ववात्रजधि-
 र्वरस्थिरगभीरतो गुणमणिः पयोवारिधिः ।
 समस्तजनता सतां श्रियमनश्चर्यां देहिनां
 सदाऽमृतजलच्युतो विबुधसेवितो दत्तवान् ॥ ९१६ ॥
 तस्य शातसमस्तशास्त्रसमयः शिष्यः सतामग्रणीः
 श्रीमान्माथुरसंघसाधुतिलकः श्रीनेमिषेणोऽभवत् ।
 शिष्यस्तस्य महात्मनः शमयुतो निर्धूतमोहद्विषः
 श्रीमन्माधवसेनसूरिरस्रवत्क्षोणीतले पूजितः ॥ ९१७ ॥
 कोपारातिविघातकोऽपि सकृपः सोमोऽप्यदोषाकरो
 जैनोऽप्युग्रतरस्तपो गतभयो भीतोऽपि संसारतः ।
 निष्कामोऽपि समिष्टमुक्तिवनितायुक्तोऽपि यः संयतः
 सत्यारोपितमानसो धृतवृषोऽप्यर्च्यः प्रियोऽप्यप्रियः ॥ ९१८ ॥

दलितमदनशत्रोर्मव्यनिर्व्याजबन्धोः शमदमयममूर्तिश्चन्द्रशुभ्रोत्कीर्तिः ।

अमितगतिरभूद्यस्तस्य शिष्यो विपश्चिद् विरचितमिदमर्घ्यं तेन शास्त्रं पवित्रम् ९१९

×

×

×

समारुढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पञ्चाशदधिके ।

समाप्ते पञ्चम्यामवति धरणीं मुञ्जन्तुपतौ सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम् ९२२

धर्मपरीक्षा—

सिद्धान्तपाथोनिधिपारगामी श्रीवीरसेनोऽजनि सूरिवर्यः ।
 श्रीमाथुराणां यमिनां वरिष्ठः कषायविध्वंसविधौ पटिष्ठः ॥ १
 ध्वस्ताशेषध्वान्तवृत्तिर्मनस्वी तस्मात्सूरिर्देवसेनोऽजनिष्ठ ।
 लोकोद्योती पूर्वशैलादिवार्कः शिष्टामीष्टः स्थेयसोऽपास्तदोषः ॥ २

मासिताखिलपदार्थसमूहो निर्मलोऽमितगतिर्गणनाथः ।
 वासरो दिनमणेरिव तस्माज्जायते स्म कमलाकरबोधी ॥ ३
 नेमिषेणगणनायकस्ततः पावनं वृषमधिष्ठितो विभुः ।
 पार्वतीपतिरिवास्तमन्मथो योगगोपनपरो गणार्चितः ॥ ४
 कोपनिवारी शमदमधारी माधवसेनः प्रणतरसेनः ।
 सोऽभवदस्माद्भलितमदोस्मा यो यतिसारः प्रशमितसारः ॥
 धर्मपरीक्षामकृतवरेण्यां धर्मपरीक्षामखिलशरण्याम् ।
 शिष्यवरिष्ठोऽमितगतिनामा तस्य पटिष्ठोऽनघगतिधामा ।

पंचसंग्रह—

श्रीमाथुराणामनघद्युतीनां संघोऽभवद्बृत्तविभूषितानाम्
 हारो मणीनामिव तापहारी सूत्रानुसारी शशिरस्मिश्रुभ्रः ॥ १
 माधवसेनगणी गणनीयः शुद्धतमोऽजनि तल्ल जनीयः ।
 भूयसि सत्यवतीव शशांकः श्रीमति सिन्धुपतावकलंकः ॥ २
 शिष्यस्तस्य महात्मनोऽमितगतिर्मोक्षार्थिनामग्रणी-
 रेतच्छास्त्रमशेषकर्मसमितिप्रख्यापनायाकृत ।
 वीरस्येव जिनेश्वरस्य गणभृद्भव्योपकारोद्यतो
 दुर्वारस्मरदन्तिदारणहरिः श्रीगौतमोऽनुत्तमः ॥ ३

×

×

×

निसप्तत्यधिकेऽब्दानां सहस्रे शकविद्विषः मसूतिकापुरे जातमिदं शास्त्रं मनोरमम् ॥६
 उपासकाचार और भगवती आराधनाकी प्रशस्तियाँ कोई विशेषता न होनेसे
 नहीं दी गई ।

महासेनका प्रद्युम्न-चरित

ये लाट-वर्गट या लाङ्-वागड़ संघके आचार्य थे। इनका बनाया हुआ 'प्रद्युम्न-चरित' काव्य नामका एक ही ग्रन्थ उपलब्ध है जो माणिकचन्द्रजैन-ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो चुका है। जिस एक प्रतिके आधारसे उक्त ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था, उसमें कोई प्रशस्ति नहीं थी। परन्तु उसके बाद प्रो० हीरालालजी जैनको कारंजाके भंडारमें इसकी एक प्रति ऐसी मिली जिसमें नीचे लिखी प्रशस्ति दी हुई है—

श्रीलाटवर्गटनभस्तलपूर्णचन्द्रः शास्त्रार्णवान्तगसुधीस्तपसां निवासः ।
 कान्ताकलावपि न यस्य शरैर्विभिन्नं स्वान्तं बभूव स मुनिर्जयसेननामा ॥
 तीर्णागमांबुधिरजायत तस्य शिष्यः श्रीमद्गुणाकरगुणाकरसेनसूरिः ।
 यो वृत्तबोधतपसा यशसा च नूनं प्रापत्परामनुपमामुपमां मुनीनां ॥ २
 तच्छिष्यो विदिताखिलोरुसमयो वादी च वाग्मी कविः
 शब्दब्रह्मविचित्रधामयशसां मान्यां सतामग्रणीः ।
 आसीत् श्रीमहसेनसूरिरनघः श्रीमुंजरार्जितः
 सीमा दर्शनबोधवृत्ततपसां भव्याब्जिनीबांधवः ॥ ३
 श्रीसिन्धुराजस्य महत्तमेन श्रीपर्पटेनार्चितपादपद्मः ।
 चकार तेनाभिहितः प्रबंधं स पावनं निष्ठितमङ्गजस्य ॥ ४
 श्रीमत्काममहानरस्य चरितं संसारविच्छेदिनः
 श्रद्धाभक्तिपरा प्रबुद्धमनसा शृण्वंति ये सत्तमाः ।
 संवेगात्कथयन्ति ये प्रतिदिनं योऽधीयते संततं
 भूयासुः सकलास्त्रिलोकमहिताः श्रीवल्लभेन्दुश्रियः ॥ ५
 श्रीभूपतेरनुचरो मघनो विवेकी शृंगारभावघनसागररागसारं ।
 काव्यं विचित्रपरमाद्भुतवर्णगुम्फं संलेख्य कोविदजनाय ददौ सुवृत्तं ॥ ६
 भ्रे. माणिक्येन लिखितं । सं० १५६९ वर्षे फाल्गुन सुदि ६ गुरौ ।

इसका भावार्थ यह है कि लाट-वर्गट संघमें सिद्धान्तोंके पारगामी जयसेन मुनि हुए और उनके शिष्य गुणाकरसेन । इन गुणाकरसेनके शिष्य महासेन सूरि हुए जो राजा मुंजके द्वारा पूजित थे और सिन्धुराज या सिन्धुलके महत्तम (महामात्य) पर्यटने जिनके चरणकमलोंकी पूजा की थी । उन्होंने इस प्रद्युम्नचरित काव्यकी रचना की और राजाके अनुचर विवेकवान् मघनने इसे लिखकर कोविद-जनोंको दिया ।

इसके प्रत्येक सर्गके अन्तमें महासेनको सिन्धुराजके महामहत्तम पर्यटका गुरु लिखा है जो इस बातको सूचित करता है कि पर्यट जैनधर्मानुयायी थे और उन्हींके कहनेसे इस काव्यकी रचना हुई थी ।

इसमें यद्यपि ग्रन्थ-निर्माणका समय नहीं दिया है परन्तु वह एक तरहसे निश्चित-सा है । क्योंकि मुंज और सिन्धुलका काल शिलालेखों और दूसरे साधनोंसे निर्णीत हो चुका है । राजा मुंजके दो दानपत्र वि० सं० १०३१ और १०३६ के मिले हैं और १०५० और १०५४ के बीच किसी समय तैलिपदेवने उनका वध किया था । इन्हीं मुंजदेवके समयमें वि० सं० १०५० में अमितगतिने अपना सुभाषित-रत्न-सन्दोह समाप्त किया था । राजा सिन्धुल सुप्रसिद्ध राजा भोजके पिता थे । इनकी मृत्यु गुजरातनरेश चामुण्डराय सोलंकीके साथकी लड़ाईमें वि० सं० १०६६ के कुछ पूर्व हुई थी । अर्थात् प्रद्युम्न-चरितकी रचना वि० सं० १०३१ से १०६६ के बीच किसी समय हुई होगी ।

लाड-बागड संघ माथुरसंघके ही समान काष्ठासंघकी एक शाखा थी । इस संघमें अनेक प्रभावशाली आचार्य हुए हैं । जिनकी चर्चा अन्य लेखोंमें की गई है । महासेनकी और कोई रचना अभीतक देखने सुननेमें नहीं आई ।

प्रद्युम्नचरित चतुर्दर्शसर्गात्मक बहुत ही सुन्दर और सरस काव्य है । खेद है कि यह पठन-पाठनमें नहीं रहा, पुस्तक-भंडारोंकी ही शोभा बढ़ाता रहा, इस लिए इसकी प्रसिद्धि नहीं हुई ।

हमारे तीर्थक्षेत्र

इतिहासमें तीर्थोंका स्थान

प्रत्येक धर्म और सम्प्रदायके इतिहासमें उसके तीर्थ-स्थानोंका एक विशेष स्थान रहता है। जैन-सम्प्रदायके सैकड़ों तीर्थ-स्थान हैं परन्तु जहाँ तक हम जानते हैं उनके विषयमें इतिहासकी दृष्टिसे अभीतक विचार ही नहीं किया गया है और यदि किया गया है तो बहुत ही कम।

जैनधर्मके मुख्य सम्प्रदाय दिगम्बर और श्वेताम्बर हैं। इन दोनोंके ही तीर्थ-स्थान हैं। उनमें बहुत-से ऐसे हैं जिन्हें दोनों ही एक ही स्थानमें मानते पूजते हैं और बहुत-से ऐसे भी हैं जिन्हें या तो दिगम्बरी ही मानते पूजते हैं या केवल श्वेताम्बरी; अथवा एक सम्प्रदाय एक स्थानमें मानता है और दूसरा दूसरे स्थानमें। यह अभिन्नता और भिन्नता एक इतिहासज्ञके लिए दोनों सम्प्रदायोंकी अभिन्नता और भिन्नताके समयोंका निर्णय करनेमें बहुत सहायक हो सकती है। किसी प्रान्त या प्रदेशमें एक सम्प्रदायके तीर्थ अधिक हैं और किसीमें दूसरेके। इससे उन प्रान्तोंमें उन तीर्थोंकी स्थापनाके समयकी या उससे बादकी सम्प्रदाय-विशेषकी बहुलता या प्रबलताका अनुमान भी किया जा सकता है। प्राचीन तीर्थ कौन-कौन थे और पीछे कौन कौन कब कब स्थापित हुए और किस भावनाकी प्रबलताके कारण हुए, यह जानना भी इतिहासज्ञके लिए बहुत उपयोगी है।

बहुतसे तीर्थ-स्थान एक समय बहुत प्रसिद्ध थे परन्तु इस समय उनका पता भी नहीं है, कि वे कहाँ थे और क्या हुए। इसी तरह जहाँ कुछ भी न था या एकाध मन्दिर ही था वहाँ बहुतसे नये नये मन्दिर निर्माण हो गये हैं और पिछले सौ-दो-सौ बरसोंमें तो वे स्थान मन्दिरों और मूर्तियोंसे पाट दिये गये हैं। उनको प्राचीन तीर्थके रूपमें प्रसिद्ध करनेके भी प्रयत्न किये गये हैं। यह भी इतिहासकी एक महत्त्वकी सामग्री है।

चरण-चिह्नोंकी पूजा, आयाग-पटोंकी पूजा, स्तूप-पूजा, मूर्ति-पूजा और इन

सबका क्रम-विकास तथा मूर्ति-शिल्प और स्थापत्य-कलाके वृद्धि-हासकी जानकारीके लिए भी तीर्थ-क्षेत्र अत्यन्त उपयोगी हैं ।

जैन-समाजकी पिछली शताब्दियोंकी मनोवृत्ति और कला-प्रेमका उत्कर्षापकर्ष भी इन तीर्थोंके इतिहासमें छुपा हुआ है ।

तीर्थोंके भेद

इस समय दिगम्बर-सम्प्रदायमें तीर्थक्षेत्रोंके दो ही भेद किये जाते हैं । एक तो 'सिद्धक्षेत्र' जहाँसे तीर्थङ्कर या दूसरे महात्मा सिद्ध-पद या निर्वाणको प्राप्त हुए हैं और दूसरे 'अतिशय क्षेत्र', जो किसी मूर्ति या तत्रस्थ देवताके किसी अतिशयके कारण बन गये हैं या जहाँ मन्दिरोंकी बहुलताके कारण दर्शनार्थी अधिक जाने लगे हैं और इस कारण उनका अतिशय बढ़ गया है ।

प्राकृत निर्वाण-भक्तिके दो खण्ड हैं, एक निर्वाण-काण्ड और दूसरा अतिशय-क्षेत्रकाण्ड । इन दो खण्डोंके कारण ही शायद उक्त मान्यताका प्रचार हुआ है ।

निर्वाण-भक्ति (संस्कृत) के टीकाकार तीर्थङ्करोंकी निर्वाण-भूमि और अन्येषां (औरोंकी) निर्वाण-भूमि कहकर सिद्ध-क्षेत्रोंके भी एक प्रकारसे दो भेद करते हैं ।

तीर्थङ्करोंकी गर्भ-जन्म-तप-ज्ञान-भूमियाँ भी तीर्थक्षेत्रोंमें गिनी जाती हैं और गिनी जानी चाहिए; पर वे उक्त दो भेदोंमें अन्तर्भुक्त नहीं हो सकतीं ।

जहाँतक हम जानते हैं—श्वेताम्बर-सम्प्रदायमें सिद्धक्षेत्र और अतिशयक्षेत्र भेद नहीं माने जाते । श्रीजिनप्रभसूरिके विविध-तीर्थकल्पमें तथा अन्य ग्रन्थोंमें इस तरहका भेद-विधान नहीं मिलता ।

लेखका उद्देश्य

प्राचीन तीर्थस्थान वास्तवमें कहाँ थे या कहाँ होने चाहिए और अब वे किन स्थानोंमें माने जा रहे हैं, केवल इसी दृष्टिसे यह लेख लिखा गया है । गत जून महीनेमें (सन् १९३९) मैंने अपना अवकाशका समय सुदृढ़ प्रो० हीरालालजी जैनके साथ श्रीगजपन्थ-क्षेत्रपर व्यतीत किया था और वहींसे माँगीतुङ्गी क्षेत्रकी भी यात्रा की थी । उसी समय इस लेखको लिखनेकी प्रेरणा हुई और उनके सहयोगसे इसका कच्चा रूप वहीं तैयार किया गया । केवल इतिहास-दृष्टिसे ही यह लिखा गया है, भद्रालुओंकी भद्रा-भक्तिमें किसी प्रकारका अन्तराय डालनेके अभिप्रायसे नहीं ।

इस विषयमें छान-बीन करनेकी भी अभी काफी गुंजाइश है । ऐसी बहुत-सी

सामग्री होगी, जो अभी तक अप्रकाशित पड़ी है और जिसकी ओर हमारा ध्यान नहीं जा सका है।

तीर्थोंका साहित्य

दिगम्बर जैन-सम्प्रदायमें इस समय केवल दो ही छोटी-छोटी पुस्तकें उपलब्ध हैं जो तीर्थक्षेत्रोंके सम्बन्धमें यत्किंचित्, सो भी अस्पष्ट और अधूरी, सूचनायें देती हैं और उन्हींको मुख्य मानकर यह लेख लिखा गया है। पहली है 'प्राकृत निर्वाण-काण्ड' और दूसरी 'संस्कृत निर्वाण-भक्ति'। पहलीमें केवल १९ और दूसरीमें ३२ पद्य हैं।

दूसरी पुस्तक श्रीप्रभाचंद्राचार्यके क्रिया-कलापमें संगृहीत है और उसपर उनकी साधारण-सी टीका भी है। उनके कथनानुसार इसके कर्त्ता पूज्यपाद स्वामी हैं यद्यपि इसके लिए उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया है। कुन्दकुन्दकी जितनी रचनायें उपलब्ध हैं वे सब प्राकृतमें हैं तथा पूज्यपादकी संस्कृतमें और चूँकि दोनों बहुमान्य आचार्य हैं शायद इसीलिए तमाम भक्तियोंका दोनोंमें बँटवारा कर दिया गया है।

पं० आशाधरका भी एक क्रिया-कलाप नामका ग्रन्थ है और उसमें उन्होंने भी पूर्वोक्त क्रिया-कलापकी अधिकांश भक्तियाँ संगृहीत की हैं परन्तु उन्होंने उनके कर्त्ताओंके सम्बन्धमें इस तरहकी कोई बात नहीं लिखी है।

श्रीप्रभाचन्द्रने अपने क्रिया-कलापमें प्राकृत निर्वाण-काण्डका संग्रह नहीं किया है परन्तु पं० आशाधरने उसके (निर्वाणकाण्डके) प्रारम्भकी पाँच गाथायें ही दी हैं। शेष गाथायें क्यों छोड़ दी गईं, यह समझमें नहीं आया। बम्बईके 'ऐलक पन्नालाल-सरस्वती-भवन' की प्रति देखकर यह बात लिखी जा रही है जो बहुत अशुद्ध है। सम्भव है लेखकके प्रमादसे शेष गाथायें छूट गई हों।

निर्वाण-भक्ति और निर्वाण-काण्ड इन दोनोंके ही ठीक समय-निर्णयकी जरूरत है। अन्य ग्रन्थोंमें यदि कहीं इनके उद्धरण मिल जायें तो इसपर कुछ प्रकाश पड़ सकता है। फिर भी यह निश्चित है कि ये दोनों पुस्तकें पं० आशाधरजीके

१ सिद्धभक्तिकी टीकाके अन्तमें श्रीप्रभाचन्द्रने इस प्रकार लिखा है—“संस्कृतः सर्वा भक्तयः पादपूज्यस्वामिकृताः प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृताः।” अर्थात् संस्कृतकी सारी भक्तियाँ पूज्यपादस्वामिकृत हैं और प्राकृतकी कुन्दकुन्दाचार्यकृत।

पहलेकी हैं और वे विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीके अन्तमें हुए हैं। अर्थात् कमसे कम छः सौ वर्ष पहलेकी तो ये हैं ही—पर इन दोनोंमें कुछ अधिक समता नहीं है। दोनों ही जुदा-जुदा ढङ्गसे लिखी गई हैं। निर्वाण-काण्डमें तो तीर्थोंका उल्लेखमात्र करके और कहीं कहीं उनका स्थान-निर्देश करके, वहाँसे मुक्ति प्राप्त करनेवालोंको नमस्कार किया गया है और निर्वाण-भक्तिमें पहले बीस पद्योंमें केवल भगवान् महावीरके पाँचों कल्याणोंका वर्णन किया गया है और फिर आगेके बारह पद्योंमें कैलास, चंपापुर, गिरनार, पावापुर, सम्भेदाशिर, शत्रुञ्जय आदिका उल्लेख करके दूसरे निर्वाण-स्थानोंका नाममात्र दे दिया है। पहलेके २० पद्योंको पढ़कर तो मालूम होता है कि वे एक स्वतन्त्र स्तोत्रके पद्य हैं जिनके अन्तमें यह पद्य है—

“ इत्येवं भगवति वर्द्धमानचन्द्रे यः स्तोत्रं पठति सुसन्धयोद्भयोहिं ।

सोऽनन्तपरमसुखं नृदेवलोके भुक्त्वान्ते शिवपदमक्षयं प्रयाति । ”

इन दो पुस्तकोंके सिवाय तीर्थक्षेत्रोंकी खोजमें सहायता देनेवाली और कोई स्वतन्त्र रचना हमारे देखनेमें नहीं आई। हाँ, कथा-साहित्यसे कुछ बातें संगृहीत की जा सकती हैं। श्वेताम्बर-साहित्यमें अवश्य ही विविध तीर्थकल्प, तीर्थमाला, विविध-प्रबन्ध आदि अनेक साधन हैं।

सर्वमान्य तीर्थ

दोनों भक्तियोंके अष्टापद (कैलास) चम्पा, ऊर्जयन्त (गिरनार) और शत्रुञ्जय, ऐसे तीर्थ हैं जिनके विषयमें कोई मत-भेद नहीं है और दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदाय इन्हें मानते हैं। अतएव इनके विषयमें यह कहा जा सकता है कि ये सबसे प्राचीन हैं और शायद तबसे हैं जब जैनशासन अविभक्त था, उसमें भेद नहीं हुए थे।

पावापुर

पावापुर भी दोनों सम्प्रदायोंको मान्य है और एक ही स्थानमें माना जाता है। फिर भी कुछ इतिहासज्ञ उक्त स्थानके विषयमें सन्देह करते हैं। बौद्धधर्मके

१ श्रीयतिवृषभाचार्यकी ‘तिलोयपण्णत्ति’ में क्षेत्र-मंगलका उदाहरण देते हुए पावा-नगरी, उज्जयन्त और चम्पा तीन नामोंका उल्लेख करके आदि शब्द दे दिया है—

“ एदस्स उदाहरणं पावाणगरुज्जयन्तचम्पादी । ”

सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० राहुल सांकृत्यायनके मतानुसार गोरखपुर जिलेका पपउर (पापापुर) गाँव ही पावापुर है, जो पडरोनाके पास है और कसयासे १२ मील उत्तर-पूर्वको है। कसया गोरखपुरसे ३७ मील पूर्वमें है। मल्ल लोगोंके गण-तन्त्रका संस्थागार (सभा-भवन) इसी पावानगरमें था। एक बार बुद्ध भगवान् पावाके आम्रवनमें ठहरे थे। जब वे बीमार हो गये, तब वहाँसे कसया या कुसीनाराको चल पड़े और इसलिए उस बारह मीलके अन्तरको वे रास्तेमें २५ जगह बैठ-उठकर मध्याह्नसे सन्ध्याकालतक पार कर सके।

कल्पसूत्रमें लिखा है कि जिस रात्रिको महावीर भगवान्का निर्वाण हुआ उस रातको नव मल्ल और नव लिच्छवि इस तरह अट्टारह गण-राजाओंने प्रोषधोपवास किया और उनके धर्मोपदेशके अभावमें दीपक जलाकर प्रकाश किया। इससे भी अनुमान होता है कि मल्लोंके गण-तन्त्रके समीप ही भगवान्का निर्वाण हुआ होगा। डा० जैकोबी आदि पाश्चात्य विद्वानोंको भी वर्तमान पावापुरीके ठीक होनेमें सन्देह है।

डा० त्रिभुवनदास ल० शाहने अपने ' प्राचीन भारतवर्ष ' नामक गुजराती ग्रन्थमें भिलसाके पासके साँची-स्तूपको भगवान् महावीरका निर्वाण-स्थान सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है और उसीको अपापापुरी या पावापुरी बतलाया है।

मालूम नहीं वर्तमान पावापुरीमें उसकी प्राचीनताको प्रकट करनेवाले कोई चिह्न लेखादि हैं या नहीं और यदि हैं तो वे कितने प्राचीन हैं। यद्यपि इसकी सम्भावना बहुत कम है। क्योंकि प्राचीनताकी रक्षा करनेमें जैन-समाज उतना ही असावधान रहा है जितना नवीन निर्माण करनेमें कटिबद्ध। फिर भी इस सम्बन्धमें खोजकी जानी चाहिए। पपउरके आसपास भी खोजकी आवश्यकता है।

दिगम्बर और श्वेताम्बर तीर्थ

गजपन्थ, तुङ्गी, पावागिरि, द्रोणगिरि, मेढगिरि, कुन्थुगिरि, सिद्धवरकूट, बड़वानी आदि तीर्थ ऐसे हैं जिन्हें केवल दिगम्बर सम्प्रदाय ही मानता पूजता है और इसी तरह फलवार्द्धि (फलोधी), अर्बुदाद्रि (आबू), स्तम्भ आदि कुछ ऐसे तीर्थ हैं जिन्हें दिगम्बर-सम्प्रदाय नहीं मानता और न उसके साहित्यमें इनका कोई उल्लेख मिलता है।

निर्वाणकाण्डके तारउर, पावागढ़, पावागिरि, कुन्थुगिरि, बड़वानी आदि

तीर्थोंका नामोल्लेख संस्कृत निर्वाण-भक्तिमें भी नहीं है और निर्वाणभक्तिके सहाद्री, विंध्याद्री, हिमवत्, वृषदीपक निर्वाण-काण्डमें दिखलाई नहीं देते।

इससे अनुमान होता है कि ये दोनों भक्तियाँ पृथक् कालोंकी रचनायें हैं और सम्भव है कि इनके कर्ताओंके लिए एक दूसरेकी रचना अपरिचित रही हो।

अब हम प्रत्येक तीर्थके विषयमें खोजकी दृष्टिसे प्रकाश डालनेकी चेष्टा करेंगे—केवल कैलास, गिरनार आदि सर्वमान्य तीर्थोंको छोड़ देंगे।

अतिशय क्षेत्रोंके सम्बन्धमें किसी दूसरे लेखमें विचार किया जायगा।

तारउर

वरदत्तो य वरंगो सायरदत्तो य तारवरणयरे।

आहुट्टयकोडीओ णिव्वाण गया णमो तेस्सि ॥ ३ ॥

निर्वाणकाण्डकी इस तीसरी गाँथामें इस स्थानसे वरांग, सागरदत्त, वरदत्तादि साढ़े तीन करोड़ मुनियोंका निर्वाण लिखा है। मुद्रित पुस्तकोंमें 'तारवरणयरे' पाठ है परन्तु हमारी समझमें 'तारउरणियडे' (तारापुरनिकटे) होना चाहिए। 'तारउर' तारापुरका अपभ्रंश है। सोमप्रभाचार्यके 'कुमारपालप्रतिबोध' नामक ग्रन्थमें 'आर्यखपुटाचार्य-कथा' दी है। उक्त कथामें इसे तारौउर (तारापुर) ही लिखा है और कहा है कि बच्छराजने पहले पहाड़के निकट बौद्धोंकी तारादेवीका

१ निर्वाण-काण्डकी कुछ प्रतियोंमें १९ वीं गाथाके बाद नीचे लिखी गाथा अधिक मिलती है जिसमें विंध्याचलका उल्लेख है—

विंध्याचलमि रण्णे मेहणादो इंदजयसहियो।

मेघव(उ)रणाम तित्थे (?) णिव्वाण गया णमो तेस्सि ॥

२ निर्वाणकाण्डकी गाथाओंके नम्बर सब प्रतियोंमें एकसे नहीं हैं, कहीं कहीं गड़बड़ भी है। ३ गायकवाड़ ओरियंटल सीरीजमें प्रकाशित 'कुमारपाल-प्रतिबोध' पृष्ठ ४४३।

४--ताराइ बुद्धदेवीइ मंदिरं तेण कारियं पुव्वं।

आसन्नगिरम्मि तओ भन्नइ ताराउरं ति इमो ॥

तेणेव तत्थ पच्छा भवणं सिद्धाइयाइ कारवियं।

तं पुणकालवसेणं दिगंबरेहिं परिग्गहियं ॥

तत्थ ममाएसेणं अजियजिणिदस्स मंदिरं तुंगं।

दंडाहिव अमएणं जसदेवसुएण निम्मवियं ॥

मंदिर बनवाया था, इसीलिए उसे तारापुर कहते हैं। इसके बाद उसी बच्छराजने फिर सिद्धायिका देवीका मंदिर बनवाया जो कालवश दिगम्बरियोंने ले लिया। अब वहींपर मेरे (कुमारपालके) आदेशसे अजितनाथका ऊँचा मंदिर यशोदेवके पुत्र दण्डाधिप अमयदेवने निर्माण किया।

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि तारंगामें जो विशाल श्वेताम्बर मंदिर कुमारपाल महाराजका बनवाया हुआ मौजूद है, यह उसीका उल्लेख है।

तारापुरका तारउरसे तारंगा नाम कैसे बन गया, यह समझमें नहीं आता। सम्भव है यह तारागाँवसे अपभ्रष्ट हुआ हो। इस स्थानसे वरांगादिका मोक्ष जाना लिखा है। परन्तु वर्द्धमान भट्टारकके वरांग-चरितके अनुसार तो वरांग मुक्त नहीं हुए बल्कि सर्वार्थसिद्धिको गये हैं! इसके सिवाय उक्त चरितमें उनके देह-त्यागके स्थानका नाम तारंगा या तारपुर नहीं लिखा है। उन्होंने आनर्तपुर नगर बसाया था, वहाँ विशाल जिनालय बनवाकर प्रतिष्ठा कराई थी और फिर वहीं वरदत्त गणधरके समीप दीक्षा ले कर तपस्या की थी। श्रीजटा-सिंहनन्दिके वराङ्गचरितके अनुसार भी वराङ्ग वहींपर तपस्या करके सर्वार्थसिद्धिको गये हैं। भागवत पुराणके अनुसार द्वारका आनर्त्त देशमें ही थी और उसकी राजधानी आनर्त्त-पुरका वर्तमान तारंगासे कोई मेल नहीं बैठता।

संस्कृत निर्वाण-भक्तिमें भी तारापुर या तारङ्गाका नाम नहीं है।

यहाँ दो दिगम्बर-मंदिर हैं जिनमेंसे एक संवत् १६११ का है और दूसरा १९२३ का। इसके पहलेका कोई चिह्न वहाँ नहीं रह गया है।

पावागिरि

रामसुआ विणिण जणा लाडनरिदाण अट्टकोडीओ।

पावाए गिरिसिद्धरे णिव्वाण गया णमो तेसि ॥ ५ ॥

अर्थात् पावाके गिरिशिखरसे रामके दो पुत्र और लाट-नरेन्द्र आदि पाँच करोड़ मुनियोंको मोक्ष प्राप्त हुआ।

इस समय बड़ोदासे २८ मीलकी दूरीपर चोंपानेरके पासका पावागढ़ ही पावागिरि माना और पूजा जाता है।

यह पावागढ़ वास्तवमें एक बहुत विशाल पहाड़ी किला है जिसका प्राचीन

शिलालेखोंमें 'पावकगढ़' नामसे उल्लेख मिलता है। यह पहले तोमरवंशी राजाओंके अधिकारमें था। चारण कवि चंदने अपने पृथ्वीराजरासेमें इस पावकगढ़का अधिपति रामगोड़ तोमरको लिखा है। उसके पीछे यह सन् १४८३ में मुसलमानोंके अधिकारमें आया। उनके समयमें भी यह प्रसिद्ध किला गिना जाता था।

यहाँ पहाड़के ऊपर आठ दस मन्दिरोंके खण्डहर पड़े हुए हैं जिनमेंसे तीन-चारका कुछ समय पहले जीर्णोद्धार किया गया है। इन मन्दिरोंमें जो प्रतिमायें हैं उनमें सबसे प्राचीन प्रतिमा माघ सुदी ७ सोमवार वि० सं० १६४२ को भट्टारक वादिभूषणके उपदेशसे प्रतिष्ठित हुई है। १६४५, १६६५ और १६६९ की भी प्रतिमायें हैं परन्तु प्रतिमा-लेखोंसे अथवा और किसी प्राचीन लेखसे इस स्थानका सिद्धक्षेत्र होना प्रकट नहीं होता।

पावागढ़के नीचे चाँपानेर शहरके खण्डहर पड़े हुए हैं। किसी समय यह बड़ा भारी नगर था।

श्रीरविषेणाचार्यकृत पद्मचरितके अनुसार रामचन्द्रके पुत्र लव-कुशने अयोध्यामें ही दीक्षा ली थी; परन्तु इस बातका कोई उल्लेख नहीं है कि उनका निर्वाण पावागिरिसे हुआ था। अन्य किसी कथा-ग्रन्थमें भी इसका स्पष्ट निर्देश देखनेमें नहीं आया।

पावागिरि (द्वितीय)

पावागिरिवरसिंहेर सुवर्णभद्रा इ मुणिवरा चउरो ।

चलणाणईतडग्गे णिव्वाण गया णमो तेसि ॥ १३ ॥

इस गाथामें एक दूसरे पावागिरिका निर्देश है जो चलना नदीके तटपर था और जहाँसे सुवर्णभद्रादि चार मुनियोंको मोक्ष हुआ था। संस्कृत निर्वाणभक्तिमें न तो उक्त चलना नदीका नाम है और न पावागिरिका, सिर्फ लिखा है—

१ दिगम्बर-जैन डिरैक्ടरीके अनुसार पाँचवें फाटकके बाद छठके बाहर भीतपर एक पद्मासन-प्रतिमा डेढ़ फीट ऊँची उत्कीर्ण है, जिसपर संवत् ११३४ लिखा है।

२ श्रीगुणभद्राचार्यकृत उत्तरपुराणमें तो रामचन्द्रके पुत्रोंका ही जिक्र नहीं है। लव-कुश नामके पुत्र ही उनके नहीं हुए।

‘ नद्यास्तटे जितरिपुश्च सुवर्णभद्रः । ’ अर्थात् नदीके तटसे कर्मशत्रुको जीतनेवाले सुवर्णभद्रका मोक्ष हुआ ।

अभी तक इस दूसरे पावागिरिका कोई पता नहीं था; परन्तु अब कुछ धनिकों और पण्डितोंने मिलकर इन्दौरके पास ‘ ऊन ’ नामक स्थानको पावागिरि बना डाला है और वहाँ धर्मशाला, मन्दिर आदि निर्माण कराके बाकायदा तीर्थ स्थापित कर दिया है । पिछले समयमें तीर्थ किस तरह निर्माण होते रहे हैं, मानो उसका यह एक ताजा उदाहरण है ।

‘ महाराष्ट्रीय ज्ञान-कोष ’ के अनुसार ऊनमें एक जैन-मन्दिर बारहवीं सदीका है । उसमें धारके परमार राजाका शिलालेख है । परन्तु जब तक किसी प्राचीन लेखमें उक्त स्थानका नाम ‘ पावागिरि ’ लिखा हुआ नहीं मिलता, तब तक ऊनके विषयमें इतना ही कहा जा सकता है कि वह एक प्राचीन स्थान है और वहाँ किसी समय जैनोंने बड़े बड़े मन्दिर बनवा कर अपना वैभव और धर्म-प्रेम प्रकट किया था ।

एक बात और है । निर्वाण-काण्डकी बहुत-सी प्रतियोंमें यह गाथा ही नहीं है । पं० पन्नालालजी सोनीने अपने सम्पादित किये हुए ‘ क्रिया-कलाप ’ में इस गाथा-पर टिप्पण दिया है कि ‘ गाथेयं पुस्तकान्तरे नास्ति । ’ यहाँके ‘ ऐलक पन्नालाल-सरस्वती-भवन ’ के गुटका (३३५६ ज) में जो निर्वाण-काण्ड है, उसमें भी यह नहीं है । यह गुटका कमसे कम दो सौ वर्षका पुराना जरूर होगा । इसलिए संभव है कि यह गाथा प्रक्षिप्त ही हो । किसी लेखकने यह पाठ टिप्पणमें लिख लिया हो और पीछे वह मूलमें शामिल हो गया हो ।

इन दो पावाओंके विषयमें विचार करते समय हमारा ध्यान बुन्देलखण्डके दो अतिशय क्षेत्रोंकी तरफ भी जाता है, जिनमेंसे एक टीकमगढ़ (ओरछा स्टेट) से तीन मील दूर है और जिसे ‘ पपौरा ’ कहते हैं । वहाँ बारहवीं शताब्दीसे लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तकके बने हुए ८२ विशाल मन्दिर हैं । विक्रम संवत् १२०२ की चंदेल राजा मदनवर्मदेवके समयकी दो प्रतिमायें भी वहाँ हैं । इस स्थानसे दो मील पर ‘ उर ’ नामकी एक नदी है और रमन्ना (रमण्यारण्यक) नामका बहुत घना जङ्गल मन्दिरोंके परकोटेसे ही लगा हुआ है । इस पपौरा या पपौरका पापापुर या पपउरसे मेल बैठता है । दूसरा अतिशयक्षेत्र ‘ पवाजी ’ कहलाता है, जो तालबहेट (ललितपुर और झाँसीके बीच) से मील उत्तरकी ओर है । वहाँ

भी एक भौहिरमें बारहवीं शताब्दीकी प्रतिमायें हैं। यह भौहिरा एक पहाड़ीके मूलमें है और आसपास पहाड़ियाँ हैं। क्षेत्रसे आध मीलके फासिलपर 'पवा' नामक गाँव भी है और एक विशाल सरोवर। बेतवा (वेत्रवती) नदी भी कोई डेढ़ मीलपर है। यह 'पवा' नाम भी पावाके बहुत निकट है।

पं० आशाधरजीने अपने क्रिया-कलापमें निर्वाण-काण्डकी जो गाथायें दी हैं उनमें 'पावाए गिरिसिहरे' पाठ है। उससे भास होता है कि 'पावा' गाँवका नाम होगा और उसीके पासका कोई गिरि-शिखर मोक्ष-स्थान होगा।

पर यह तो एक कल्पना है। ढूँढ़-खोज करनेवालोंको दिशासूचन-भरके लिए लिख दी है।

गजपन्थ

संत्तेव य बलभद्रा जटुवणरिंदाण अट्टकोडीओ ।

गजपन्थे गिरिसिहरे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥ ७ ॥

इस गाथामें गजपन्थगिरिसे सात बलभद्र और यादव राजादि आठ करोड़ मुनियोंका मोक्ष-गमन बतलाया है। गाथाका एक और अधिक प्रचलित पाठ है 'संते जे बलभद्रा' जिससे सातकी संख्याका बोध नहीं होता। दो बलभद्र, अर्थात् रामचन्द्र और बलदेव (कृष्णके भ्राता) का तो यह निर्वाण-स्थल है नहीं। क्योंकि जैसा कि आगे बतलाया है, उत्तरपुराणके अनुसार रामचन्द्रका निर्वाण समेदशिखरसे हुआ है और बलदेवका मोक्ष हुआ ही नहीं है, वे महेन्द्रस्वर्गको गये हैं। अन्य सात बलभद्र कहाँसे मुक्त हुए हैं, उत्तरपुराणसे इसका कोई पता नहीं चलता। उसमें बलभद्रोंके वैराग्य और दीक्षाके वर्णन तो दिये हैं, परन्तु मोक्ष-स्थानोंके निर्देशका अभाव है। ग्रन्थान्तरोंसे भी इसका कुछ पता नहीं चलता। और यह निर्वाणकाण्डमें भी नहीं बतलाया कि गजपन्थ कहाँ था।

वर्तमान गजपन्थ नासिकके निकट मसरूल गाँवके पासकी एक छोटी-सी पहाड़ीपर माना और पूजा जाता है; परन्तु इस क्षेत्रका इतिहास तो विक्रम संवत् १९३९ से

१ पवाजीकी कल्पना टीकमगढ़ (झाँसी) के पं० ठाकुरदासजी जैन बी० ए० से पूछताछ करते समय अचानक ही ध्यानमें आ गई। २ पं० पन्नालालजी सोनीद्वारा सम्पादित 'क्रियाकलाप'में यह गाथा तीसरे नम्बरपर दी हुई है।

ही प्रारंभ होता है जब कि इसे नागौर (मारवाड़) के भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्तिने स्थापित किया था । उन्होंने मसरूल गाँवमें आकर वहाँके पाटीलसे (मालगुजारेसे) कहा कि मैं इस पासकी पहाड़ीपर जैन-तीर्थ बनाऊँगा और तुम्हारे इस गाँवमें धर्मशाला । इसके लिए मुझे जगह चाहिए । गाँवका पाटील उस समय उपस्थित नहीं था, उसके लड़के थे । उनसे जगहका सौदा तय नहीं हुआ तब भट्टारकजी अपने परिकरके साथ दूसरे गाँव चले गये जो म्हरूलसे पास ही है और उसके निकट भी एक दूसरी पहाड़ी है । उस पहाड़ीमें भी कुछ गुफायें और मूर्तियाँ हैं, इसलिए उन्हें अगत्या वहीं तीर्थ स्थापन करनेका विचार करना पड़ा । इधर जब वृद्ध पाटील अपने घर आया और उसने सब वृत्तान्त सुना तब लड़कोंसे अप्रसन्न हुआ और बोला, “तुमने गलती की । जैनी लोग बड़े मालदार हैं, यहाँ धर्मशाला और मंदिर बन जानेसे हम लोगोंको और बस्तीवालोंको बहुत लाभ होगा ।” आखिर वह तत्काल ही अपनी गाड़ी जोत कर उस गाँवको चल दिया और भट्टारकजीसे मिला । उसने मनामुनू कर सौदा पक्का कर लिया और उन्हें वापस लौटा लाया ।

इसके बाद भट्टारकजीने धर्मशाला बनवाई और संवत् १९४२ में शोलापुरके सेठ नानचंद फतेहचंदजीने उनकी प्रेरणासे मंदिर-निर्माण कराया जिसकी प्रतिष्ठा १९४३ में की गई ।

गजपंथकी पहाड़ीपर जो गुफायें और प्रतिमायें थीं उनका तो अब भक्तोंद्वारा इतना रूपान्तर हो गया है कि प्राचीनताका कोई चिह्न भी वहाँ बाकी नहीं रहा है । परन्तु उस समय भी यहाँ कोई ऐसा लेख या चिह्न नहीं था जिससे यह विश्वास किया जा सके कि १९३९ के पहले कभी इसका नाम गजपंथ रहा होगा ।

दिगम्बर जैन डिरेक्टरीमें जो सन् १९१३ में प्रकाशित हुई थी, इस क्षेत्रका कुछ वर्णन दिया है । उसमें यहाँकी प्राचीनताका कोई उल्लेख नहीं है, अन्तमें सिर्फ इतना लिखा है कि “ यहाँ एक खंडित शिलालेख मिला है । जिसका सारांश यह है— ‘ संवत् ११४१ में हंसराज-माता गोदी बाईने माणिक स्वामीके दर्शन करके अपना जन्म सफल किया ’ । ”

यह शिला-लेख कहाँ है और इसका मूलरूप क्या है, यह जाननेका अब कोई

१ लेखक लगभग २५ वर्ष पहले म्हरूलमें लगभग दो महीने लगातार रहा था और उक्त वृद्ध पाटीलसे प्रायः हररोज ही मिलता था । पाटीलने स्वयं अपने मुँहसे यह इतिहास कहा था ।

उपाय नहीं है। परन्तु यह एक बड़ा अद्भुत उल्लेख है, क्योंकि निजाम स्टेटमें (अलेर स्टेशन से ४ मील) जो कुल्पाक नामका तीर्थ है, वहाँके मूल नायककी प्रतिमा ही माणिक्य स्वामीके नामसे प्रख्यात है। श्रीजिनप्रभसूरिके (वि० सं० १३६४—८९) विविधतीर्थकल्पमें 'कोल्हपाक-माणिक्यदेवतीर्थकल्प' नामका जो कल्प है, उसमें इस तीर्थका और माणिक्यस्वामीकी आश्चर्यजनक मूर्तिका विस्तृत वर्णन दिया है।

इसी तरह ऐलक पन्नालाल सरस्वती-भवन बम्बईके एक गुटकेमें (३३१६ ख) एक विना शीर्षककी रचना है जिसमें १७ पद्य हैं और जो भट्टारक धर्मभूषणके विविध शिष्योंके बनाये हुए हैं तथा जिनके अन्तमें प्रायः बनानेवाले शिष्यका नाम दिया हुआ है। उसमें भी कुल्पाक क्षेत्रके माणिक्य स्वामीका वर्णन किया है:—

देस तिलंगमहार, सार कुलुपाक्ष सुजानो ।

मानिकस्वामी देव, आदि-जिन-धिब बखानो ॥

चक्रपती भरतेस, तासकर मुद्रिक प्रतिमा ।

पूजी रावणराय, काज (ल ?) दुस्सम युग-महिमा ॥

जलनिधि माशाति (?) तदा, संकरराय सपनज लहा ।

निज भुवने जिन आनि ने, तीनिकाल पूजे तहा ॥

इन प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि माणिक्य स्वामीकी मूर्ति उक्त कुल्पाक तीर्थकी ही मूर्ति है। इसलिए उक्त लेखके सम्बन्धमें यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि गजपंथमें ही माणिक्य स्वामीके दर्शन करके गोदीबाईने जन्म सफल किया था; तब यही कल्पना की जा सकती है कि उक्त शिलालेख किसी तरह किसीके द्वारा कुल्पाकसे यहाँ लाया गया होगा जिसका अब पता नहीं है। माणिक्यस्वामीका तीर्थ अब भी है और वहाँके अनेक पुराने शिलालेखोंमें उसका उल्लेख भी है।

म्हसरूलके मंदिरमें 'गजपंथाचल-मण्डलपूजा' नामकी एक हस्तलिखित पुस्तक है। उसे पढ़कर तो यह करीब करीब निश्चित हो जाता है कि भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति ही इस तीर्थके सृष्टा और विधाता हैं। उक्त पुस्तकके अन्तकी नीचे लिखी हुई प्रशस्ति पढ़िए—

“ हेमकीर्तिमुनेः पट्टे क्षेमेन्द्रादियशः प्रभुः ।

तस्याज्ञया विरचितं गजपंथसुपूजनं ॥ २१ ॥

विदुषा शिवजिंद्रक्तनामधेयेन मोहन—

प्रेम्णा यात्राप्रसिद्धयर्थं चैकाहिरचितं चिरं ॥ २२ ॥

जीयादिदं पूजनं च विश्वभूषणवद्भुवं ।

तस्यानुसारतो ज्ञेयं न च बुद्धिकृतं त्विदं ॥ २३ ॥ इत्याशीर्वादः

इति नागोरपट्टविराजमानश्रीभट्टारकक्षेमेन्द्रकीर्तिविरचितं गजपंथमंडलपूजनविधानं समाप्तम् । संवत् १९३९ माघशुक्लपंचमी सोमवासरे कोपरग्रामप्रतिष्ठायां समाप्तमिदम् ।”

अर्थात् हेमकीर्तिके पट्टके उत्तराधिकारी भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्तिकी आज्ञासे यह गजपंथ मंडल पूजन रचा गया । इसे पं० शिवजीलालने, मोहनके प्रेमसे, यात्राकी प्रसिद्धिके लिए—अर्थात् लोग इस तीर्थको जान जायँ और यात्राको आने लगे—केवल एक दिनमें बनाया । यह पूजन विश्व-भूषणके समान चिरंजीवी हो । यह उसीके अनुसार है, अपनी बुद्धिकृत नहीं है ।

इस तरह इसके कर्ता पं० शिवजीलाल हैं; परंतु चूँकि वे तो आज्ञाकारी मात्र थे, इसीलिए अन्तमें यह भी लिख गये कि यह भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति-विरचित है !

कोपरगाँव (जिला अहमदनगर) की प्रतिष्ठाके अवसरपर सं० १९३९ में भट्टारकजीने पण्डितजीको बुलवाया होगा और उसी समय उनसे यह काम करा लिया होगा । पं० शिवजीलाल जयपुरके भट्टारकानुयायी पण्डित थे । उनका स्वर्गवास हुए बहुत अधिक वर्ष नहीं हुए हैं । उन्होंने संस्कृत और भाषामें अनेक ग्रन्थोंकी रचना की थी । चर्चासंग्रह, तेरहपंथ-खण्डन, रत्नकरण्डकी वचनिका आदि उनके

१-उक्त प्रशस्तिका ‘विश्वभूषणवत्’ पद द्रिष्ट मालूम होता है । शायद इसमें सोनारिकी गद्दीके भट्टारक विश्वभूषणका संकेत हो जो जगदभूषणके शिष्य थे और संवत् १७२२ के लगभग मौजूद थे । ग्रन्थ-सूचियोंमें उनके ‘मांगीतुङ्गी-पूजन-विधान’का नाम मिलता है । शायद यह मण्डल-विधान उसीके ढङ्गपर उसीके अनुसार बनाया गया हो । पूरा निश्चय तो मांगीतुङ्गी-पूजनके मिलनेपर ही हो सकता है ।

जैनसिद्धान्तमास्कर वर्ष २, किरण १ के प्रतिमालेख-संग्रहमें एक ‘सम्यग्दर्शनयंत्र’का उल्लेख है जो संवत् १७२२ का विश्वभूषणकी आज्ञायके एक गृहस्थका दिया हुआ है और सैनपुरीके मन्दिरकी अजितनाथकी प्रतिमा सं० १६८८ में जगदभूषण भट्टारकद्वारा प्रतिष्ठित है ।

मुख्य ग्रन्थ हैं, जिनमें तेरहपंथकी खूब खबर ली गई है। भगवती-आराधनाकी एक संस्कृत टीका भी उनकी उपलब्ध है।

उक्त 'गजपंथ-मण्डल-विधान' में दस कटनी बनानेकी विधि है जिनके अनुसार आठ करोड़ मुनि दस हिस्सोंमें लाखों-हजारोंकी संख्यामें बाँट दिये गये हैं और इस तरह उक्त प्रत्येक विभक्त संख्याके पहले एक एक मुनिका नाम देकर सबको अर्घ्य दिया गया है। जैसे—

ॐ ह्रीं बारहलक्ष तेतीस हजार मुनिसहित कनककीर्तिमुनि मोक्षपदं प्राप्तायार्घ्यम् ।
 ओं ह्रीं द्वादशलक्ष गुणतीसहजार मुनिसहित धर्मकीर्तिमुनि मोक्षपदप्राप्तायार्घ्यम् ॥

परंतु प्रत्येक अर्घ्यके साथ दिये हुए इन महासेन, हेमसेन, देवसेन, धर्मकीर्ति, कनककीर्ति, मेरुकीर्ति आदि नामोंसे साफ मालूम होता है कि ये सब कल्पित या मनगढ़न्त हैं। इस तरहके सेन-कीर्त्यन्त नाम पिछली भट्टारक-परम्परामें ही अधिक रहे हैं, ये प्राचीन नहीं हैं। इसके सिवाय इस मण्डल-विधानके अतिरिक्त और किसी भी प्राचीन ग्रन्थमें गजपन्थसे मुक्ति पानेवाले उक्त मुनियोंके नाम प्राप्त नहीं होते हैं।

भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्तिके पहलेकी किसी भी पुस्तकमें वर्तमान गजपंथका उल्लेख अभी तक देखनेमें नहीं आया। इसके पहलेका गजपंथका कोई पूजन-पाठ भी उपलब्ध नहीं है।

वि० सं० १७४६ में श्रीशिवविजयके शिष्य शीलविजय नामके श्वेताम्बर साधुने दक्षिण देशकी तीर्थयात्रा की थी जिसका वर्णन उन्होंने अपनी 'तीर्थ-माला' में किया है। दक्षिण देशके प्रायः सभी श्वेताम्बर-दिगम्बर तीर्थोंकी यात्राको वे गये थे और उनका स्वयं आँखों देखा वर्णन उक्त पुस्तकमें है। श्रवण-बेलगोल, मूडबिद्री आदिसे लौटते हुए वे कचनेर, दौलताबाद, देवगिरि,

१—अनन्तकीर्ति-ग्रन्थमालामें प्रकाशित 'भगवती-आराधना' की विस्तृत भूमिकामें इस टीकाकी प्रशस्ति दी गई है।

२ देखो श्रीविजयधर्मसंस्तरिस्पादित 'प्राचीन तीर्थमालासंग्रह' प्रथम भाग पृष्ठ ११३ १२१ और आगेके पृष्ठोंमें हमारा 'दक्षिणके तीर्थक्षेत्र' शीर्षक लेख।

एलोरा, अहमदनगर और फिर नासिक, त्र्यम्बर, तुङ्गीगिरिका वर्णन करते हैं और जो तीर्थ दिगम्बर हैं उन्हें दिगम्बर ही लिखते हैं। वे नासिक और तुङ्गीगिरिका वर्णन करके भी गजपंथकी कोई चर्चा नहीं करते, तब यही अनुमान करना पड़ता है कि कमसे कम सं० १७४६ तक तो इस तीर्थका अस्तित्व यहाँ नहीं था।

तुङ्गीगिरि

रामो सुग्गीव हणुउ गवयगवक्खो य णीलमहाणिलो ।

णवणवदीकोडीओ तुङ्गीगिरिणिब्बुदे वंदे ॥ ८ ॥

अर्थात् राम, हनुमान, सुग्रीव, गवय, गवाक्ष, नील, महानील आदि नित्या-नवे कोटि मुनि तुङ्गीगिरिसे मोक्ष गये। संस्कृत निर्वाण-भक्तिमें लिखा है 'तुंग्यां तु संगरहितो बलभद्रनामा'। इसमें तुङ्गीगिरिसे केवल बलभद्रके मुक्त होनेका उल्लेख किया है।

वर्तमान क्षेत्र माङ्गीतुङ्गी गजपंथ (नासिक) से लगभग अस्सी मीलपर है। वहाँ पास ही पास दो पर्वत-शिखर हैं। उनमेंसे एकका नाम माङ्गी और दूसरेका तुङ्गी संभवतः इस कारण पड़ा है कि तुङ्गी अधिक ऊँचा (तुङ्ग) है और दूसरा माङ्गी उसके पीछे है। मराठीमें 'माँगे' का अर्थ पीछे होता है।

माङ्गी-शिखरकी गुफाओंमें कोई साढ़े तीन सौ प्रतिमायें तथा चरण हैं और तुङ्गीमें लगभग तीस। यहाँ एक विशेषता यह देखी गई कि अनेक प्रतिमायें साधुओंकी हैं जिनके साथ पीछी और कमण्डलु भी हैं और पास ही शिलाओंपर उन साधुओंके नाम भी लिखे हुए हैं। माङ्गीके एक शिलालेखमें वि० सं० १४४३ स्पष्ट पढ़ा जाता है। अन्य सब लेख इसके पीछेके हैं। पर माङ्गी या तुङ्गी नाम किसी भी पुराने लेखमें नहीं पढ़ा गया।

माङ्गीगिरि अपेक्षाकृत अधिक विस्तीर्ण है और उसमें मूर्तियाँ और शिलालेख भी बहुत हैं; परन्तु उसका नाम निर्वाण-काण्ड या अतिशयक्षेत्र काण्ड आदिमें कहीं नहीं मिला। राम-हनुमानकी तपस्याका सूचक कोई चिह्न या लेखादि भी उसपर नहीं पाया जाता। हाँ, दोनों पर्वतोंके मध्यमें एक स्थान बतलाया जाता है कि वहाँ बलभद्रने कृष्णका दाह-संस्कार किया था। पर यह कथन निर्वाणकाण्डसे

विरुद्ध जाता है। उसके अनुसार तो यहाँ राम (बलभद्र) का मोक्ष-स्थान सिद्ध होता है जब कि यादव बलभद्र तो गजपंथसे निर्वाण प्राप्त हुए हैं।

यद्यपि यह स्थान पाँच सौ वर्षसे भी अधिक पुराना है परन्तु ' तुङ्गीगिरि ' नामसे और फिर ' माँगीतुङ्गी ' के नामसे इसकी प्रसिद्धि कबसे हुई, यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है शीलविजयके समयमें संवत् १७४६ में यह तुङ्गीगिरि नामसे प्रसिद्ध था। भट्टारक विश्वभूषणकी पूजाका नाम यदि माँगीतुङ्गी-पूजन हो, तो कहना होगा कि संवत् १७२२ के लगभग इसे माँगीतुङ्गी भी कहने लगे थे।

एक अद्भुत बात यह है कि पं० आशाधर अपने त्रिषष्टिस्मृति-शास्त्रमें राम, हनुमान आदिका मोक्ष-स्थान सम्मेदशिखर मानते हैं^१। इसी तरह रविषेणाचार्य अपने पद्मचरितमें भी हनुमानका मोक्ष या निर्वाण सम्मेदशिखरसे मानते हैं^२।

उत्तरपुराणके अनुसार भी सुग्रीव, हनुमान आदि पाँच सौ राजाओंके साथ रामचन्द्रने सम्मेदशिखरसे मोक्ष प्राप्त किया है।

बम्बईके ' ऐलक पन्नालाल सरस्वती-भवन ' में एक गुटका है उसमें द्विज विश्वनाथकी एक रचना है जिसमें १३ छप्पय छन्द हैं, पर उसका नाम कुछ नहीं लिखा। उसमें गिरनार, शत्रुञ्जय, मगसी-मंडन पार्श्वनाथ, अन्तरीक्ष, चम्पापुरी, पावापुरी, हस्तिनापुर, पैठन-मुनिसुव्रत, कुण्डलगिरि, पाली-शांतिजिन, गोपाचल (ग्वालियर) का वर्णन करके अन्तिम तेरहवें छप्पयमें इस प्रकार लिखा है—

तुङ्गीगिरिके माँहि सकल असुरासुर जाणे,

शास्त्र सकल सिद्धांत नाम बलभद्र बखाने।

सिद्धा बहु मुणिराज जाइ सिववनिता पाम्या,

रोग-सोग-संताप-कष्ट आपद सहु वाम्या ॥

बलभद्रदेवने पूजवा, सकल संघ वंदो बली।

द्विज विश्वनाथ इम उच्चरे, भजो भाव-मन-वच कली ॥ १३ ॥

१—सकैतमेतत्सिद्धार्थवने श्रित्वा बलस्तपः।

शिवगुप्तजिनासिद्धः सम्मेदेऽणुमदादियुक् ॥ ८० ॥

२—निर्दग्धमोहनिचयो जैनेन्द्रं प्राप्य पुष्कलं ज्ञाननिधिम्।

निर्वाणगिरावसिधच्छ्रीशैलः भ्रमणसत्तमः पुरुषरविः ॥ ४५—पर्व १३।

इसमें भी माँगी-तुङ्गी नहीं केवल तुङ्गीगिरि नाम है । द्विज विश्वनाथका ठीक समय मालूम नहीं हो सका, पर वे किसी अर्वाचीन मठारकके ही शिष्य थे ।

श्रमणगिरि या ऋष्यद्रि

अंगानंगकुमारा विषखापंचद्वकोडिरिसिसहिया ।

सुवर्णगिरिमत्थयत्थे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥ ९ ॥

अर्थात् श्रमणगिरिके मस्तकसे अंग-अनंगकुमार आदि साढ़े पाँच करोड़ विख्यात मुनियोंका निर्वाण हुआ ।

श्रमणगिरिके अपभ्रंश क्रमशः श्रवन, सवन, सोन, सोनागिरि हो जाते हैं, इसलिए साधारण समझ यह हो गई है कि दतिया स्टेटका वर्तमान सोनागिरि ही श्रमणगिरि सिद्धक्षेत्र है । परन्तु इस विषयमें सन्देह करनेकी काफी गुंजाइश है ।

निर्वाण-भक्तिका नवाँ पद्य इस प्रकार है—

द्रोणीमति प्रवरकुण्डलमेढ्रके च वैभारपर्वततले वरसिद्धकूटे ।

ऋष्यद्रिके च विपुलाद्रिबलाहके च विन्ध्ये च पोदनपुरे वृषदीपके च ॥

इसके 'ऋष्यद्रिके'का अर्थ टीकाकार श्रीप्रभाचन्द्रने 'श्रमणगिरौ' किया है । अर्थात् इसके अनुसार भी श्रमणगिरि सिद्धक्षेत्र है । परन्तु वैभार, बलाहक, विपुलाचलके साथ उल्लेख होनेसे यह खयाल आता है कि कहीं यह श्रमणगिरि भी वैभार आदि पाँच पर्वतोंमेंसे एक न हो । पाठक जानते हैं कि राजगृहके पास पाँच पर्वत हैं जिनके नाम क्रमशः वैभार, विपुल, उदय, रत्न और श्रमणगिरि हैं ।

दिगम्बरजैनडिरेक्टरीमें यही पाँच नाम दिये हुए हैं परन्तु कहीं कहीं श्रमणगिरिको सुवर्णगिरि या सोनागिरि भी लिख दिया है और इसका कारण श्रमणके अपभ्रंश-रूपकी और सुवर्णके अपभ्रंशकी प्रायः समानता है ।

श्रीविजयसागर साधुकी संवत् १६६४ में लिखी हुई तीर्थमालामें सुवर्णगिरि

१ 'सवणागिरिवरसिहरे' भी पाठ मिलता है ।

२ पृ० ५० स० भवनके एक गुटकेमें 'ऋष्यद्रिके'के स्थानपर 'रूप्याद्रिके' पाठ दिया है, जो बिल्कुल अद्भुत है । श्रमण सोना बनते-बनते चाँदी बन गया !

३ देखो पं० पन्नालालजी सोनी-द्वारा सम्पादित 'त्रिया-कलाप' पृष्ठ २२६ ।

और संवत् १५६५ की पं० हंससोम-रचित 'पूर्वदेशीय चैत्य-परिपाटी' में सोवनगिरि लिखा हुआ है^१।

श्रीयतिवृषभकी 'तिलोय-पण्णात्ति' में विपुल, वैभार आदिके साथ ऋषिशैलका उल्लेख है—

सुरखेयरमणहरणे गुणणामे पंचसेलणयरम्मि (णियडम्मि ?)

विउलम्मि पव्वदवेरे वीरजिणो अट्ठकत्तारे ॥ ६४ ॥

चउरस्सो पुव्वाए रिसिसेलो दाहिणाए वैभारो ।

णइरिदिदिसाए विउओ दोण्णि तिकोणट्ठिदायारा ॥ ६५ ॥

षट्खंडागमकी वीरसेनस्वामिकृत धवलाटीकामें भी पंच-पहाड़ियोंका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

पंचसेलपुरे रम्मे विउले पव्वदुत्तमे

णाणादुमसमाइण्णे देव-दाणव-वंदिदे ।

महावीरेण अत्थो कहियो भवियल्लोयस्स ॥

उक्त उल्लेखके पश्चात् उक्त ग्रन्थमें 'अत्रोपयोगिनौ श्लोकौ' कहकर निम्न लिखित दो प्राचीन श्लोक और भी उद्धृत किये हैं जो इन पहाड़ियोंके नामों (ऋषिगिरि, वैभार, विपुल, चन्द्र और पाण्डु) के सिवाय उनकी दिशाओं और आकारके सम्बन्धमें भी कुछ प्रकाश डालते हैं। ये ही श्लोक जयधवलामें भी आये हैं—

ऋषिगिरिरैन्द्राशायां चतुरस्रो याम्यदिशि च वैभारः ।

विपुलगिरिरिणैऋत्यामुभौ त्रिकोणौ स्थितौ तत्र ॥

धनुराकारश्चंद्रो वारुण-वायव्य-सामदिक्षु ततः ।

वृत्ताकृतिरैशान्यां पाण्डुः सर्वे कुशाग्रवृत्ताः ॥

श्रीजिनसेनकृत हरिवंशपुराणके तृतीय सर्गमें इन पहाड़ियोंका उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

ऋषिपूर्वो गिरिस्तत्र चतुरस्रः सनिर्झरः ।

दिग्गजेन्द्र हवेन्द्रस्य ककुमं भूषयत्यलम् ॥ ५३ ॥

१ देखो श्रीविजयधर्मसूरी-सम्पादित 'प्राचीनतीर्थमाला-संग्रह' (प्रथम भाग) पृष्ठ ९ और १७।

वैमारो दक्षिणामाशां त्रिकोणाकृतिराश्रितः ।

दक्षिणापरदिग्मध्यं विपुलश्च तदाकृतिः ॥ ५४ ॥

सज्यचापाकृतिस्तिष्ठो दिशो व्याप्य बलाहकः ।

शोभते पांडुको वृत्तः पूर्वोत्तरदिगन्तरे ॥ ५५ ॥

इस उल्लेखमें चन्द्रके स्थानमें बलाहक लिखा है ।

व्यासकृत महाभारतमें भी इन पाँच पर्वतोंका उल्लेख है । परन्तु नामोंमें कुछ अन्तर पड़ गया है—वैहार (वैभार), बराह, वृषभ, ऋषिगिरि और चैत्यक ।

इनमेंका बराह और निर्वाणभक्ति तथा हरिवंशका बलाहक (बराहक) एक ही हैं और ऋषिगिरि तो श्रवणगिरि है ही ।

बौद्धोंके ' चूलदुक्खक्खन्धसुत्त ' में राजगृहके समीपकी ऋषिगिरिकी काल-शिलाका वर्णन आया है जहाँ बहुतसे निगण्ठ साधु तपस्याकी तीव्र वेदना सह रहे थे । अतएव बौद्धोंके अनुसार भी राजगृहके समीप ऋषिगिरि था जहाँ निर्ग्रन्थ मुनि तपस्या करते थे और उसीका अपर नाम श्रमणगिरि है ।

इन सब उल्लेखोंको देखते हुए ऐसा मालूम होता है कि राजगृहके समीपके पाँच पर्वतोंमेंसे ही एक श्रमणगिरि होना चाहिए, वर्तमान सोनागिरि नहीं ।

वर्तमान सोनागिरि तीर्थ बहुत प्राचीन नहीं जान पड़ता । सिद्धक्षेत्रके रूपमें तो इसकी प्रसिद्धि बहुत आधुनिक मालूम होती है । इस समय वहाँ ७० ८० मन्दिरोंका समूह है जिनसे सारा पर्वत ढँक गया है । परन्तु दो-चारको छोड़कर शेष सब सौ-सवा सौ वर्षके भीतरके ही बने हुए हैं । वहाँ प्राचीन मूर्तियोंका प्रायः अभाव है और शिल्पकलाकी दृष्टिसे तो शायद एक भी मूर्ति ऐसी नहीं है जो कुछ महत्त्व रखती हो ।

वहाँका मुख्य मन्दिर श्रीचन्द्रप्रभ भगवानका है (अनंगकुमारका नहीं) । उसका जीर्णोद्धार वि० सं० १८८३ में मथुराके सेठ लखमीचन्दजी द्वारा हुआ था । उसमें एक शिलालेख भी लगा दिया गया है जो किसी जीर्ण मन्दिरके शिलालेखका सारांश बतलाया गया है । उसकी नकल हम यहाँ देते हैं—

मन्दिरसह राजत भये, चंद्रनाथ जिनईस ।

पोषसुदी पूनम दिना, तीन-सतक-पैतीस ॥

१ देखो त्रिपटकाचार्य श्रीराहुल सांकृत्यायनद्वारा अनुवादित ' बुद्धचर्या ' पृष्ठ २३० ।

मूलसंघ अर गण करो (ह्यो), बलात्कार समुझाय ।

श्रवणसेन अर दूसरे, कनकसेन दुइ भाय ॥

बीजक अक्षर बाँचके, कियो सु निश्चय राय ।

और लिख्यो तो बहुत सौ सो नहिं परयो लखाय ॥

द्वादश सतक वरुतरा, पुन्यी जीवनसार ।

पारसनाथ-चरण तरैं तासैं विदी (धी) विचार ॥

इसमें बतलाया गया है कि संवत् ३३५ पौष सुदी १५ का उक्त जीर्ण शिलालेख था और उसमें मूलसंघ बलात्काराणके श्रवणसेन-कनकसेन, दो भाइयोंका उल्लेख था । परन्तु जब तक उक्त मूललेखकी प्राप्ति न हो तब तक उसके विषयमें निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता और यह बात तो बिल्कुल ही समझमें नहीं आती कि जीर्णोद्धार करनेवालोंने इतनी महत्त्वपूर्ण वस्तुको सुरक्षित क्यों नहीं रक्खा और आखिर वह शिलालेख गया कहाँ ? नये लेखके साथ वह भी तो सुरक्षित रह सकता था ।

मूल लेखमें जो मूलसंघ और बलात्काराणका उल्लेख बतलाया जाता है उससे उसके संवत् ३३५ के होनेमें पूरा सन्देह है । क्योंकि विक्रमकी चौथी शताब्दीमें बलात्काराणका अस्तित्व ही नहीं था । इसके सिवाय चौथी शताब्दीकी लिपि इतनी दुष्पाठ्य होती है कि जीर्णोद्धार करनेवालोंके द्वारा वह पढ़ी ही नहीं जा सकती थी ।

हमारा अनुमान है कि मूल लेखमें संवत् सं० १३३५ होगा जो अस्पष्टताके कारण या टूटा होनेके कारण सं० ३३५ पढ़ लिया गया है । और वह लेख पूरा नहीं पढ़ा गया, इसे तो उक्त सारांश लिखनेवालोंने स्वीकार भी किया है ।

तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दीकी मूर्तियाँ और मन्दिर सोनागिरिके आसपासके प्रान्तमें और भी अनेक मिले हैं । उक्त सारांशमें ही पार्श्वनाथके पद-तलके एक लेखका समय सं० १२१२ दिया है । भ्रमणसेन और कनकसेन नाम प्रतिष्ठाकारक मुनियोंके मालूम होते हैं ।

यह जाननेका कोई साधन नहीं है कि तेरहवीं शताब्दीमें इस स्थानको भ्रमणगिरि कहते थे या नहीं और जब तक ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिल जाता तब तक इस क्षेत्रका भ्रमणगिरि होना और निर्वाण-क्षेत्र होना संशयास्पद ही है ।

यह बात भी नोट करने लायक है कि सोनागिरिके आसपास देवगढ़, खजुराहा, आदि स्थान बहुत प्राचीन हैं और देवगढ़में तो गुप्तकाल तकके लेख मौजूद हैं ।

शिल्पकला भी वहाँकी अपूर्व है जब कि सोनागिरिमें यह कुछ भी नहीं है ।
प्राचीनताका एक भी निदर्शन वहाँ प्राप्य नहीं ।

सोनागिरि गोपाचल (ग्वालियरके) के भट्टारकका एक शाखा-पीठ है जो
गोपाचल-पीठकी स्थापनाके बादका है । अतः इस शाखा-पीठकी स्थापनाके
लगभग ही इस तीर्थकी नींव डाली गई होगी ।

रेवा-तटके तीर्थ

दहमुहरायस्स सुआ कोडी पंचद्धमुणिवरें सहिया ।

रेवाउहयस्मिं तीरे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥ १० ॥

रेवाणइय तीरे^१ पच्छिमभायस्मिं सिद्धवरकूटे

दो चक्की दह कप्पे आहुट्टयकोडिणिव्वुदे वंदे ॥ ११ ॥

रेवांतडस्मि तीरे संभवनाथस्स केवलुप्पत्ती ।

आहुट्टयकोडीओ निव्वाण गया णमो तेसिं ॥

रेवा या नर्मदा नदी अमरकंटकसे लेकर खंभातकी खाड़ी तक १७७० मील
लम्बी है । जब तक स्थानोंका ठीक ठीक निर्देश न मिले तब तक उसके तटके
तीर्थ कहाँ कहाँ थे इसका निश्चय नहीं किया जा सकता । पहली गाथामें रेवाके
दोनों किनारोंसे साढ़े पाँच कोटि मुनियोंका निर्वाण होना लिखा है जिसमें दशमुख
राजा (रावण) के पुत्र प्रधान थे और दूसरी गाथामें रेवाके पश्चिम (या
दक्षिण) भागके सिद्धवरकूटसे दो चक्रवर्ती और दश कन्दर्प या कामदेवोंका सिद्ध

१ किसी किसी प्रतिमें ' रेवाउहयतडग्गे ' पाठ है । २ ' रेवांतडस्मि तीरे ' भी
पाठ मिलता है ।

३ श्रीपन्नालाल सरस्वती-भवनके गुटकेमें ' दक्खिणभायस्मि ' पाठ है ।

४ यह गाथा उक्त सरस्वतीभवनके गुटकेमें है । क्रियाकलापके सम्पादकने भी इसको
टिप्पणमें दिया है ।

५ स्वर्गीय रायबहादुर डा० हीरालालजीने सिद्ध किया था कि रावण जिस लंकाका
राजा था वह सुदूर दक्षिणमें नहीं किन्तु अमरकंटक (नर्मदाके उद्गमस्थान) के पास थी ।
इसके लिए उन्होंने अपने लेखोंमें अनेक प्रमाण दिये हैं । नर्मदाके तटसे रावणके पुत्रोंका
मोक्ष जाना इस संभावनाका पोषक है ।

होना बतलाया है। इसमें भी स्थानका निर्देश नहीं है कि वह कहाँ था, सिर्फ स्थानका नाम भर दिया है।

किसी किसी प्रतिमें (सबमें नहीं) रेवातटपर सम्भवनाथ तीर्थङ्करको केवल ज्ञानकी उत्पत्ति बतलाई है और उसके साथ भी साढ़े तीन कोटि मुनियोंका निर्वाण बतलाया है।

संस्कृत निर्वाण-भक्तिमें इन निर्वाण-स्थलोंका जिक्र नहीं है परन्तु चूँकि विन्ध्या-चल रेवाके किनारे किनारे बहुत दूरतक चला गया है और उसमें 'विन्धे' पद दिया है, इसलिए इनका अन्तर्भाव अवश्य हो सकता है।

प्रारम्भिक गाथामें दशमुख राजाके पुत्रोंके नाम नहीं हैं कि वे कौन कौन थे। इन्द्रजीत और कुम्भकर्णका निर्वाण तो आगेकी एक गाथामें 'चूलगिरि' से बतलाया गया है।

दूसरी गाथामें निर्दिष्ट किया हुआ 'सिद्धवरकूट' इस समय बड़वाह (इन्दौर) से ६ मीलकी दूरीपर माना-पूजा जा रहा है और गजपन्थके समान इसकी स्थापनाका इतिहास भी बहुत पुराना नहीं है। इसके स्रष्टा और विधाता भी एक भट्टारकजी थे जिनका नाम महेंद्रकीर्ति था और जो इन्दौरकी गद्दीके अधिकारी थे। उन्होंने ओंकारेश्वरके राजाको प्रसन्न करके उससे जमीन प्राप्त की और संवत् १९५० के लगभग इस क्षेत्रकी नींव डाली। उस समय अजमेरसे निकलनेवाले 'जैनप्रभाकर' पत्रमें, जिसके सम्पादक शायद छोगालालजी बिलाला थे, यह प्रकाशित हुआ था कि नर्मदाकी धाराके हट जानेसे ओंकारेश्वरके पास पुराने मन्दिरोंके कुछ अवशेष निकल आये हैं और यह अनुमान किया गया है कि यहीं निर्वाण-काण्डका सिद्धवरकूट था। सबसे पहले इन्दौरके सेठ भूरजी सूरजमल मोदीने माघ सुदी १५ सं० १९५१ में एक मन्दिरका जीर्णोद्धार कराके उसकी प्रतिष्ठा कराई। उसके बाद अन्य दो मंदिरोंका भी जीर्णोद्धार हुआ और धर्मशालायें आदि बनाई गईं।

मंदिर अवश्य जीर्ण-शीर्ण थे परन्तु जिस स्थानपर थे वह सिद्धवरकूट ही है, इसका और कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है।

संवत् १७४६ में तीर्थयात्राको निकलनेवाले श्रीशीलविजयजीने अपनी

१ यह राजा बिलाला जातिका है और इस वंशका अधिकार सन् ११३५ से अवतक ओंकारेश्वरपर चला आ रहा है।

‘तीर्थमाला’ में नर्मदाके पासके तमाम जैन-अजैन तीर्थोंका वर्णन लिखा है। पहले शैवोंके मान्धाताका वर्णन करके, जो वर्तमान सिद्धवरकूटसे बहुत ही पास है, वे खंडवा और बुरहानपुरकी तरफ चले जाते हैं, खंडवाके दिगम्बर जैनोंका वर्णन भी करते हैं परन्तु इस क्षेत्रका जिक्र तक नहीं करते। इससे मालूम होता है कि उस समय इस तीर्थका अस्तित्व न था।

संस्कृत निर्वाण-भक्तिमें भी इस तीर्थका नाम नहीं है।

चूलगिरि

वडवाणीवरणयरे दक्खिणभायम्मि चूलगिरिसिद्धरे ।

इंदजियकुंभयण्णो णिव्वाण गया णमो तेसि ॥ १२

अर्थात् बड़वानी नगरसे दक्षिणकी ओर चूलगिरि-शिखरसे इन्द्रजीत-कुंभकर्णादि मुनि मोक्ष गये।

वर्तमानमें बड़वानी नगर मऊ स्टेशनसे लगभग ९० मील है और एक छोटी-सी रियासतकी राजधानी है। दि० जैन डिरेक्टरीके अनुसार चूलगिरिमें २२ मन्दिर हैं। मन्दिरोंके जीर्णोद्धारका समय वि० सं० १२३३, १३८० और १५८० है। प्रतिष्ठाचार्योंके नाम नन्दकीर्ति और रामचन्द्र हैं। एक अत्यन्त विशाल प्रतिमाके कारण इस तीर्थको ‘बावन-गजा’ कहने लगे हैं।

दि० जैन डिरेक्टरीमें लिखा है कि ‘बड़वानी’ नाम पुराना नहीं है। लगभग ४०० वर्ष पहले इसका नाम सिद्धनगर था; पीछे किसी समय बड़वानी हुआ होगा। वहाँकी रंगाराकी बावड़ीके एक लेखसे ऐसा ही मालूम होता है। परन्तु हमारी समझमें बड़वानी नाम चार सौ वर्षसे तो अधिक पुराना है, क्योंकि निर्वाण-क्राण्डकी रचनाका ठीक समय निश्चित न होनेपर भी वह छह-सात सौ वर्षसे कम पुराना तो हो ही नहीं सकता है। हाँ, सम्भव है कि सिद्धनगर बड़वानीके ही आसपास कहीं हो और वहीं सिद्धवरकूट भी रहा हो।

श्रीरविषेणाचार्यके पद्मचरितके ७८ वें पर्वमें यह तो लिखा है कि इन्द्रजीत-मेघनाद आदिने लंकामें ही दीक्षा ली थी परन्तु उसमें निर्वाण-स्थानका उल्लेख नहीं है। उत्तरपुराणमें भी इन्द्रजीत आदिका मोक्ष-स्थान नहीं बतलाया है परन्तु सुग्रीव, हनुमान, विभीषण आदिके साथ रामचन्द्रका निर्वाण-स्थल सम्मेदशिखर लिखा है। यदि ‘आदि’ शब्दसे इन्द्रजीत आदिका भी ग्रहण किया जाय तो फिर उनका मुक्ति-स्थान सम्मेदशिखर होना चाहिए।

द्रोणगिरि

फलहोडीवरगामे पच्छिमभायम्मि द्रोणगिरिसिद्धरे ।

गुरुदत्ताइमुणिंदा णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥ १४

अर्थात् फलहोडी ग्रामके पश्चिम भागमें जो द्रोणगिरि-शिखर है उसपरसे गुरुदत्तादि मुनि मोक्षको गये ।

इस समय बुन्देलखण्डकी बिजावर रियासतके सेंदपा गाँवके समीपका पर्वत द्रोणगिरि सिद्धक्षेत्र माना जाता है । सेंदपा ग्राममें एक मन्दिर और द्रोणगिरिपर २४ मन्दिर हैं । मूलनायक आदिनाथकी प्रतिमा संवत् १५४९ की प्रतिष्ठा की हुई है । शेष मन्दिर और प्रतिमायें आधुनिक हैं । पासमें कोई फलहोडी नामका ग्राम नहीं है और न कोई ऐसा प्राचीन लेख ही है जिसमें द्रोणगिरिका उल्लेख हो ।

श्वेताम्बर-सम्प्रदायका एक प्रसिद्ध तीर्थ जोधपुर रियासतमें मेड़ताके पास फलहोडी या फलोधी नामका है जिसका वर्णन श्रीजिनप्रभसूरिके विविध तीर्थ-कल्पमें (वि० १३६४-८९) इस प्रकार किया गया है—“ अत्थि सवालङ्क-देसे मेडतयनगरसमीवठिओ वीरभवणाइनाणाविहदेवाल्याहिरामो फलवद्धीनामगामे तत्थ फलवद्धिनामाधिजाए देवीए भवणमुत्तुंगसिहरं चिह्नइ । ” सन्देह होता है कि कहीं उक्त फलोधी ही किसी समय दिगम्बर-तीर्थ न रहा हो ।

मेढगिरि

अच्चलपुरवरणयरे ईसाणे भाए मेढगिरिसिद्धरे ।

आहुट्टयकोडीओ णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥ १६

अर्थात् अचलपुर नगरके ईशान भागमें मेढगिरि-शिखरसे साढ़े तीन करोड़ मुनियोंका मोक्ष हुआ । मेढगिरि मेध्यगिरिका अपभ्रंश मालूम होता है । मेध्य शब्दका अर्थ पवित्र है । बौद्धधर्मके ‘ उपाल्लुत्त ’ (बुद्धचर्या पृष्ठ ४४९) में दण्डकारण्य, कलिंगारण्य, मेघ्यारण्य और मातंगारण्यका उल्लेख आया है । आश्चर्य नहीं जो मेघ्यारण्य और मेढगिरि एक ही हों ।

१ श्रीपन्नालाल-सरस्वती-भवनके गुटकेमें यह गाथा नहीं है ।

संस्कृत निर्वाण-भक्तिमें 'प्रवरकुण्डलमेदूके च' पाठ है और उसकी टीकामें श्रीप्रभाचन्द्राचार्यने खुलासा किया है 'प्रवरकुण्डले प्रवरमेदूके च ।'

इस समय बराड़के एलचपुरसे १२ मीलपर जो 'मुक्तागिरि' है, वही सिद्धक्षेत्र मेढगिरि बतलाया जाता है। परन्तु यह समझमें नहीं आता कि मेढगिरिका मुक्तागिरि नाम कैसे हो गया। न तो इन दोनों नामोंमें कोई उच्चारण-साम्य है और न अर्थ-साम्य।

रा० ब० डाक्टर हीरालालके 'लिस्ट आफ इन्स्क्रिप्शन्स इन सी० पी० एण्ड बरार'में मुक्तागिरिके लेखोंका उल्लेख करते हुए लिखा है कि वहाँ ४८ मन्दिर हैं जिनमें कोई ८५ मूर्तियाँ हैं। उनमेंसे अनेकोंपर संवत् हैं जिनसे वे सन् १४८८ (सं० १५४५) से लगाकर १८९३ (सं० १९५०) तककी सिद्ध होती हैं।

अमरावतीसे खरपी नामक गाँव तक पक्की सड़क गई है और वहाँसे लगभग तीन मील मुक्तागिरि है। इस खरपी गाँवमें कारंजाके भट्टारक पद्मनन्दिकी समाधि है जिनका समय वि० सं० १८७६ है। दि० जैन डिरेक्टरीके अनुसार कारंजाकी गद्दीपर, जो मान्यखेटकी गद्दीकी शाखा थी, ३६ भट्टारक हो चुके हैं। संवत् १५०० के लगभग यह गद्दी स्थापित हुई थी। मुक्तागिरिके प्राप्त लेखोंमें कोई भी वि० सं० १५४० के पहलेका नहीं है। सम्भव है, कारंजामें पट्ट स्थापित होनेके बाद ही इस क्षेत्रकी प्रसिद्धि की गई हो और अचलपुर (एलचपुर) के ईशानकोणमें इस स्थानकी स्थिति होनेसे ही निर्वाणकाण्डके अनुसार इसे मेढगिरि समझ लिया गया हो।

अचलपुर या अचलपुर एलचपुर ही है, इसका सबसे पुष्ट प्रमाण यह है कि आचार्य हेमचन्द्रको अपने प्राकृत-व्याकरणमें इस वर्ण-व्यत्ययके लिए एक सूत्रकी ही रचना करना पड़ी है—'अचलपुरे चलोः' अचलपुरे चकार-लकारयोर्न्यत्ययो भवति अलचपुरं ॥ २, ११८। हेमचन्द्रके समयमें जो अलचपुर कहा जाता था, वही अब एलचपुर कहा जाने लगा है।

डा० हीरालालके कथनानुसार तीवरखेडमें एक ताम्र-पट मिला है जो अचलपुरमें लिखा गया था। उसमें राष्ट्रकूट राजाओंका उल्लेख है और वह शक संवत् ५५३ (वि० सं० ६८८) का है। इससे मालूम होता है कि बहुत प्राचीन-कालसे एलचपुर अचलपुर नामसे विख्यात है।

कुन्धु-गिरि

वंसत्थलवरणयरे पच्छिम भायम्मि कुन्धुगिरिसिद्धरे ।

कुलदेसभूषणमुणी णिव्वाण गया णमो तेस्सि ॥ १७ ॥

अर्थात् वंशस्थलपुरके पास पश्चिमकी ओरके कुन्धुगिरिके शिखरसे कुलभूषण और देशभूषण मुनिका निर्वाण हुआ ।

निर्वाण-भक्तिमें इसका नाम नहीं आया है । 'वंसत्थलम्मि णयरे' और 'वंसत्थलवर-नियडे' दो पाठ मिलते हैं परन्तु हमारी समझमें 'वंसत्थलउरणियडे' (वंशस्थलपुरनिकटे) पाठ होना चाहिए । श्रीरविषेणार्चार्यके पद्मचरित (पर्व ४०) में वहाँके राजाको वंशस्थलपुरेश कहा है और उस स्थानको 'वंशस्थल' । वंशस्थलके पास बाँसोंका घना जंगल था जिसका नाम वंशधर था । इसी वंश-गिरिपर रामचन्द्रने जिनेन्द्रके सहस्रों चैत्य बनवाये^३ । इससे मालूम होता है कि वंशस्थलपुरके समीप वंशगिरिपर चैत्य और चैत्यालय बने थे और वहाँपर कुलभूषण-देशभूषणका मोक्ष हुआ था । ऐसी दशामें वंशगिरि ही कुन्धुगिरि होगा । यद्यपि पद्मपुराणमें उसे कुन्धुगिरि कहीं नहीं कहा है ।

पद्मचरितमें आगे चलकर चालीसवें पर्वमें लिखा है कि रामके द्वारा चैत्य

१—वंशस्थलपुरेशश्च महाचित्तः सुरप्रभः ।

सलक्ष्मणं सपत्नीकं पद्मनाभमपूजयत् ॥ २ ॥

२—नानाजनोपभोग्येषु देशेषु निहितेक्षणौ ।

घारौ क्रमेण सम्प्राप्तौ पुरं वंशस्थलद्युतिं ॥ ९ ॥

३—अपश्यतां च तस्यान्ते वंशजालातिसंकटं ।

नगं वंशधराभिख्यं भित्तेयं भुवमुद्गतं ॥ ११ ॥

छायया तुङ्गशृङ्गाणां यः सन्ध्यामिव संततं ।

दधाति निर्दराणां च हसतीव च शीकरैः ॥ १२ ॥

तत्र वंशगिरौ राजं (शा ?) रामेण जगदिन्दुना

निर्मापितानि चैत्यानि जिनेशाना सहस्रशः ॥ २७ ॥

बननेसे इस तुङ्ग पर्वतका नाम रामगिरि प्रसिद्ध हुआ है^१। वंशस्थलपुरमें रहते रहते ऊब जानेसे रामचन्द्र लक्ष्मणसे आगे कहीं स्थान बनाकर रहनेको कहते हैं। इस प्रसंगमें कहा है कि कर्णरवा नदीके आगे सुनते हैं कि रोमांचित करनेवाला दण्डकारण्य है जो भूमिगोचरियोंके लिए दुर्गम है^२। रामगिरिसे चल कर दक्षिणांमोधि देखा और जानकीके कारण कोस-कोस चलकर दोनों भाई कर्णरवा नदीपर पहुँचे।

इस सब वर्णनसे कुन्थुगिरि इस समय जहाँ माना जाता है वहाँ नहीं होना चाहिए। क्योंकि वर्तमान कुन्थुगिरिके आगे दण्डकारण्य नहीं हो सकता।

पद्मपुराणके उक्त रामगिरिका वर्णन हरिवंशपुराणमें भी है कि वहाँ कुछ दिन आरामसे रहकर वे पुरुषश्रेष्ठ (पांडव) कौशल देशमें पहुँचे और वहाँ भी कुछ महीने रह कर रामगिरि गये जो पूर्वकालमें रामलक्ष्मण-द्वारा सेवित था और जहाँ पर्वतपर रामचन्द्रने सैकड़ों चैत्यालय बनवाये थे^३।

यह कौशल दक्षिण कौशल या महाकौशल होगा जो गोदावरी और महानदीके बीच पूर्वकी ओर है। आधुनिक छत्तीसगढ़ महाकौशलमें ही है। रामचन्द्र भी चित्रकूटसे चल कर इसी महाकौशलमें आये होंगे। इसके आगे ही दंडकारण्य शुरू होता है।

चीनी यात्री हुएनत्सांग कलिंगकी राजधानीसे तीन सौ मील चल कर कौशल राजमें पहुँचा था। उसने इस राज्यका घेरा एक हजार मील बताया है।

१—रामेण यस्मात्परमाणि तस्मिन् जैनानि वेदमानि विधापितानि।

निर्नष्टवंशाद्रिवचः स तस्माद्रविप्रभो रामगिरिः प्रसिद्धः ॥ ४५ ॥

२—नद्याः कर्णरवायास्तु परतो रोमहर्षणं।

श्रूयते दण्डकारण्यं दुर्गमं क्षितिचारिभिः ॥ ४० ॥

३—विश्रम्य तत्र ते सौम्या दिनानि कतिचित्सुखं।

याताः क्रमेण पुत्रागविषयं कौशलाभिषं ॥ १७ ॥

स्थित्वा तत्रापि सौख्येन मासान्कतिपयानपि।

प्राप्ता रामगिरिं प्राग्यो रामलक्ष्मणसेवितः ॥ १८ ॥

चैत्यालया जिनेन्द्राणां यत्र चन्द्रार्कमासुराः।

कारिता रामदेवेन संभाति शतशो गिरौ ॥ १९ ॥—सर्ग ४६ ॥

इसके उत्तरमें उज्जैन, पश्चिममें महाराष्ट्र, दक्षिणमें आन्ध्र और कलिंग और पूर्वमें उड़ीसा था। अर्थात् तापी नदी-तटके बुरहानपुर, गोदावरीके नांदेड, छत्तीसगढ़के रतनपुर और महानदीके उद्गमस्थान नवगढ़ तक इस देशकी सीमा रही होगी।

हमारे अनुमानसे कालिदासके मेघदूतका रामगिरि ही यह रामगिरि होगा। इसके आगे दण्डकारण्यका होना ठीक जान पड़ता है। कर्णरवा नदी शायद महानदी हो।

छत्तीसगढ़के सरगुजा स्टेटका रामगढ़ ही कालिदासका रामगिरि माना जाता है। यह लक्ष्मणपुर गाँवसे १२ मील है। इस टेकरीपर कई गुफायें हैं और बड़े बड़े पत्थरोंसे बनाये हुए मन्दिरोंके अवशेष हैं। एक गुफामें दोहजार वर्ष पहलेके प्राचीन चित्र भी हैं।

श्री उग्रादित्याचार्यने अपना 'कल्याणकारक' नामक वैद्यक-ग्रन्थ भी शायद इसी रामगिरिपर रचा था—

वैगीशात्रिकलिंगदेशजननप्रस्तुत्यसानूत्कटः

प्रोद्यद्बृक्षलताविताननिरतैः सिद्धैश्च विद्याधरैः।

सर्वे मंदिरकंदरोपमगुहाचैत्यालयालंकृते

रम्ये रामगिराविदं विरचितं शास्त्रं हितं प्राणिनाम् ॥

इसमें रामगिरिके लिए जो विशेषण दिये हैं, गुहा-मन्दिरों और चैत्यालयोंकी जो बात कही है, वह भी इस रामगिरिके विषयमें ठीक जान पड़ती है। उग्रादित्यके समय भी वह सिद्ध और विद्याधरोंसे सेवित एक तीर्थ जैसा ही गिना जाता था।

इस सब बातोंके प्रकाशमें हम इस निर्णयपर पहुँचते हैं कि कुलभूषण-देशभूषण मुनिका मोक्षस्थान या तो यही रामगढ़ है या उसके आसपास कहीं महाकौशलमें ही होगा।

इस समय कुंथलगिरि निजाम-स्टेटमें है और बासीं टाउन रेल्वे स्टेशनसे लगभग २१ मील दूर है। वहाँपर मुनियोंके चरण-मन्दिरके सहित दस मन्दिर हैं। दिगम्बर जैन-डिरेक्टरीके अनुसार ये दसों मंदिर वि० सं० १९३१ के बादके बने हुए हैं। देशभूषण-कुलभूषणके मंदिरके विषयमें लिखा है कि इस प्राचीन मंदिरका जीर्णोद्धार ईडरके भट्टारक कनककीर्तिने सं० १९३२ में कराया था। प्राचीन मंदिरके या मूल नायककी प्रतिमाके लेखादिका कोई उल्लेख नहीं है।

कोटि-शिला

जसहररायस्स सुआ पंचसयाइं कलिंगदेसम्मि ।

कोडिसिलाए कोडिमुणी णिव्वाण गया णमो तेसि ॥

अर्थात् यशोधर राजाके पाँच सौ पुत्र और दूसरे एक करोड़ मुनि कोटिशिला-परसे मुक्त हुए । यह कोटि-शिला-तीर्थ कलिंग देशमें है । परंतु जिनप्रभवरिने अपने विविधतीर्थकल्पमें उसे मगध देशमें बतलाया है और पूर्वाचार्योंकी कुछ गाथायें भी उद्धृत की है जिनमेंसे एकमें कहा है कि एक योजन विस्तारवाली कोटिशिला है और वह दशार्ण पर्वतके समीप है । वहाँ छह तीर्थकरोंके तीर्थोंमें अनेक करोड़ मुनि सिद्ध हुए हैं । एक और उद्धृत गाथामें कहा है कि उक्त शिलाको वासुदेव (कृष्ण) ने किसी तरह जानु तक उठाई । इसके पहलेके नारायणोंने उसे छत्रके समान बिस्कुल ऊपर तक, सिर तक, छाती तक, गर्दन तक, हृदय तक, कटि तक, ऊरु तक और जानु तक उठाई थी ।^३

हरिवंशपुराणके ५३ वें सर्गमें भी कोटि-शिलाके उठानेका वर्णन है और उसका विस्तार एक योजन लम्बा और एक योजन चौड़ा बतलाया है । पहले त्रिष्टुभ नारायणने बाँहोंसे उठाकर ऊपर फेंक दी थी, द्विष्टुभने मूर्द्धा तक, स्वयंमुवने कण्ठ तक, पुरुषोत्तमने छाती तक, पुरुषसिंहने हृदय तक, पुण्डरीकने कटि तक, दत्तकने जंघा तक, लक्ष्मणने घुटनों तक और अब अन्तिम नारायण कृष्णने चार अंगुल उठाई । पद्मपुराणके अड़तालीसवें पर्वमें भी कोटि-शिलाका और उसका लक्ष्मणद्वारा उठाये जानेका वर्णन है । परन्तु इन दोनों ही ग्रन्थोंमें वह कहाँ थी इसका कोई स्पष्ट निर्देश नहीं है ।

तीर्थकल्पके कर्त्ता उसे मगधमें बतलाते हैं परन्तु पूर्वाचार्योंकी जिन गाथाओंको

१—इह भरतस्वित्तमज्जे तित्थं मगहासु अत्थि कोडिसिला ।

अज्ज वि जं पूइज्जइ चारण-सुर-असुर-जक्खैहिं ॥ २ ॥

—कोटिशिलाकल्प

२—जोअणपिहुलायामा दसन्नपव्वयसमीवि कोडिसिला ।

जिणच्छकतित्थसिद्धा तत्थ अणोगाउ मुणिकोडी ॥ १५ ॥

३—छत्ते सिरम्मि गीवावच्छे उअरे कडीइ ऊरुसु ।

जाणू कहमवि जाणू णीया स वासुदेवेण ॥ १८ ॥

वे उद्धृत करते हैं उनमें दशार्ण पर्वतके समीप बतलाया है। दशार्ण मालवेका ही एक भाग था जिसमेंसे दशार्ण या धसान नदी बहती है और जिसकी राजधानी विदिशा या मिलसा थी। कालिदासने मेघदूतमें मेघको उत्तरकी ओर जानेका मार्ग बतलाते हुए कहा है कि नर्मदा और विन्ध्यके उस ओर दशार्ण देश मिलेगा जिसकी राजधानी वेत्रवती (बेतवा) के किनारे विदिशा है। अभी तक दशार्ण देश और दशार्ण नदीके उल्लेख बहुत मिले हैं परन्तु दशार्ण पर्वतका नहीं मिला। सम्भव है, दशार्ण नदी जिस पर्वतसे निकलती है उसीका नाम दशार्ण पर्वत हो।

निर्वाण-काण्डमें कोटि-शिला कलिंग देशमें बतलाई है। कलिंग और मगधका सामंजस्य इस तरहसे हो सकता है कि उस समय (अशोकके बाद) कलिंग मगधके अधिकारमें होनेके कारण मगधमें ही गिना जाता होगा।

महानदी, गोदावरी और पूर्वीघाट तथा समुद्रके बीचके प्रदेशका नाम कलिंग था। यह उड़ीसाके दक्षिणमें था।

बौद्धोंके 'चूल-दुक्खक्खन्ध सुत्त'में राजगृहके समीप ऋषिगिरिकी काल-शिलाका वर्णन आता है जहाँ बहुतसे निर्ग्रन्थ साधु तपस्याकी तीव्र कटु-वेदना सहन कर रहे थे। सम्भव है, तीव्र वेदनाके कारण बौद्धोंने कोटि-शिलाको ही काल-शिला कह दिया हो और यदि यह ठीक हो तो जिनप्रभसूरिका मगधमें कोटि-शिला तीर्थका बतलाना ठीक हो सकता है। ब्रह्मचारी शीतल प्रसादजी गंजाम जिलेके माल्ती पर्वतको कोटिशिला बतलाते हैं^१, परन्तु इसके लिए कोई विशेष आधार उनके पास नहीं है। गंजाम (मद्रास) कलिंगमें नहीं माना जा सकता।

यह आश्चर्य है कि दिगम्बर और श्वेतम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंद्वारा इस समय किसी भी स्थानमें यह सिद्धक्षेत्र नहीं माना जाता और बिल्कुल ही भुला दिया गया है।

रोसिन्दी-गिरि

पासस्स समवसरणे सहिया वरदत्त मुणिवरा पंच ।

रिस्सिदे गिरिसिहरे णिव्वाण गया णमो तेस्सि ॥

१ देखो 'बुद्धचर्या' पृ० २३० ।

२ 'मद्रास व मैसूर प्रान्तके प्राचीन जैन-स्मारक' पृष्ठ १०-१३ ।

अर्थात् पार्श्वनाथके समवसरणमें वरदत्तादि पाँच मुनियोंका मोक्ष हुआ। परन्तु रेसिन्दीगिरि कहाँ था, इसका कोई निर्देश नहीं है।

उत्तरपुराण, पार्श्वनाथ-चरित आदि दिगम्बर कथा-ग्रन्थोंमें तो पार्श्वनाथके समवसरणका रेसिन्दीगिरिमें होनेका कोई उल्लेख नहीं है और न वरदत्तादि मुनियोंके मोक्ष जानेका। पं० पन्नालालजी सोनीद्वारा सम्पादित क्रियाकलापमें इस गाथाकी पहली पंक्ति 'पासस्त समवसरणे गुरुदत्तवरदत्तपंचरिसिपमुहा' इस प्रकार दी है—परन्तु यह पाठ संशयास्पद है। क्योंकि इसके पहले गुरुदत्तादिका मोक्षस्थल द्रोणगिरि बतलाया जा चुका है। साथ ही यह प्रश्न भी उठता है कि यों तो वरदत्तका मोक्षस्थान भी 'तारउर'में कह दिया गया है। संभव है एक ही नामके दो मुनिराज रहे हों।

उक्त गाथाकी दूसरी पंक्ति क्रिया-कलापके पाठमें 'गिरिसिंदे गिरिसिंदे गिन्वाण गया णमो तेसि' इस तरह है—अर्थात् गिरीशेन्द्रके शिखरसे। बम्बईके गुटकेमें भी यही पाठ दिया है। यद्यपि अत्यन्त प्रचलित पाठ 'रिस्सिंदे' ही है। फिर भी यदि यह ठीक हो तो यह हिमालयका पर्यायवाची हो सकता है। संस्कृत निर्वाण-भक्तिमें 'सह्याचले च हिमवत्पि सुप्रतिष्ठे' कहकर हिमवत् पर्वतको मोक्षस्थान माना है।

अब 'रिस्सिन्दे' पाठ पर विचार करना चाहिए। संभवतः शुद्ध पाठ 'रिस्सिदि' होगा जो 'ऋष्यद्वि'का प्राकृत-रूप है। परन्तु इसे श्रमणगिरिका पर्यायवाची कहना कठिन है।

इस समय नैनागिर क्षेत्रको रेसिन्दीगिरि बतलाया जाता है। यह स्थान मध्य-प्रदेशके सागर जिलेकी ईशान-सीमाके पास पन्ना रियासतमें है।

नैनागिरि रेसिन्दीगिरि कैसे बन गया, यह समझमें नहीं आता।

दिगम्बर जैन डिरेक्टरीके अनुसार पर्वतपर २६ और तलेटीमें ६ मन्दिर हैं। पर्वतपर मुख्य मन्दिर श्रेयान्सनाथका है, जो संवत् १७०८ का बना बतलाया गया है और उसका जीर्णोद्धार संवत् १९२१ में हुआ है। शेष सब मन्दिर १८४२ के बादके बने हुए हैं। इन मन्दिरोंमें या बाहर कोई ऐसा पुराना लेख नहीं है जिससे इसके रेसिन्दीगिरि होनेकी पुष्टि होती हो—वहाँकी सभी रचना—सभी सृष्टि पिछले सौ डेढ़ सौ वर्षोंकी है।

भैया भगवतीदासजीने निर्वाणकाण्डका संवत् १७४१ में भाषानुवाद किया

था। उसमें उन्नीसवीं गाथाका अनुवाद इस प्रकार है—“समवसरन श्रीपास जिनंद, रेसन्दीगिरि नैनानंद।” सो कहीं इस रेसन्दीगिरिके विशेषण ‘नैनानन्द’के कारण ही तो नैनागिर रेसन्दीगिरि नहीं बना दिया गया है।

पहले लिखा जा चुका है कि निर्वाण-भक्तिकी टीकामें ‘ऋष्यद्रि’ का अर्थ ‘श्रमणगिरि’ किया है और श्रमणगिरि पञ्च-पर्वतोंमेंसे एक है, तब फिर यह ऋष्यद्रि और कौन-सा है ?

इसका उत्तर चाहे जो हो, परन्तु नैनागिर तो वह नहीं है, यह प्रायः निश्चित है।

इस लेखमें पाठकोंने देखा होगा कि निर्वाणकाण्डमें जिन स्थानोंसे जिन जिन मुनियोंका मोक्ष जाना लिखा है, दूसरे ग्रन्थोंमें कहीं-कहीं वह नहीं लिखा या विरुद्ध लिखा है। इस विषयमें यह सूचित कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि बहुत पहलेसे ही ग्रन्थकर्त्ता आचार्योंमें कथा-सम्बन्धी मत-भेद रहा है। उदाहरणके तौरपर पद्मपुराणका रामचरित और उत्तरपुराणका रामचरित उपस्थित किया जा सकता है। हरिवंशके नेमिचरित और उत्तरपुराणके नेमिचरितमें भी अन्तर है। ऐसी दशामें निर्वाण-काण्डके विषयमें यही कहा जा सकता है कि उसके कर्त्ता उक्त दो परम्पराओंमेंसे किसी एकके माननेवाले होंगे और यह भी संभव है कि उक्त दोके सिवाय और भी कोई परम्परा रही हो जिसका अनुसरण उन्होंने किया हो।

परिशिष्ट

(१)

इस लेखको समाप्त कर चुकनेके बाद बम्बईके ऐलक पन्नालाल सरस्वती-भवनमें हमें ‘तीर्थार्चन-चन्द्रिका’ नामका ग्रन्थ प्राप्त हुआ। यह ‘श्रीवादिमत्तमातंग-मर्दन-जिनवाणीविलासिनी-भुजंगम-नायक-कविकुल-तिलक गुणभद्राचार्य’ का बनाया हुआ है और संस्कृत वृत्तोंमें है। इसमें तीन उच्छ्वास और १७३ पद्य हैं। पहले उच्छ्वासमें विपुलाचलपर उपस्थित होकर राजा श्रेणिकका तीर्थोंके सम्बन्धमें प्रश्न करनेका वर्णन है, दूसरेमें तीर्थोंका और तीसरेमें तीर्थार्चकोंके माहात्म्यका। दूसरे उच्छ्वासमें तीर्थकर्त्तोंके गर्भ-जन्म, दीक्षा, तप और निर्वाण-कल्याणके स्थानोंके नाम-निर्देश-भर हैं और कोई बात ऐसी नहीं है जिससे वे स्थान कहाँ थे, इसका कोई पता लगा सके।

दूसरे उच्छ्वासमें निर्वाण-भक्तिका अनुसरण करते हुए निर्वाण-क्षेत्र इस प्रकार बतलाये हैं—

सम्मेदशिखरं शत्रुंजयो गजपथस्तथा ।
तुंगीगिरिद्रोणगिरिर्हिमवत्सह्यपर्वतौ ॥ ५२ ॥
ऋष्यद्रिको बिन्ध्यागिरिपाना (?) पोदनपत्तने ।
विपुलाद्रिश्चूलगिरिः गिरिसिद्धाद्रिकूटकम् ॥ ५३ ॥
पृथुसारो मेढ्रकाख्यो गिरिः स्वर्णगिरिस्तथा ।
ऊर्जयन्तस्तारवरं कैलासो वृषदीपकम् ॥ ५४ ॥
वैभारपर्वतश्चम्पापुरी दण्डात्मकस्तथा ।
मोक्षतीर्थान्यमून्यत्र जिनानामात्मयोगिनाम् ॥ ५५ ॥

ग्रन्थकर्त्ताने न तो कोई रचना-समय दिया है और न अपनी गुरुपरम्परादिका ही उल्लेख किया है । ग्रन्थकी प्रतिलिपि पं० शंकरलाल चौबेने वि० सं० १९८५ में की है, परन्तु जिस प्रतिसे की है वह कबकी लिखी हुई है इसका कोई निर्देश नहीं किया है । इसलिए ग्रंथकर्त्ताका समय अज्ञात ही रह जाता है । इसमें एक बड़े मजेकी बात देखी । दूसरे उच्छ्वासमें भगवान् राजा श्रेणिकको लक्ष्य कर उनके तीर्थसम्बन्धी प्रश्नका उत्तर देते-देते एक जगह कह बैठते हैं—

इत्यादीनि च कैवल्य-ज्ञानकल्याणसंश्रयाः ।
अथोत्तरपुराणेऽन्यन्मदुक्ते पक्ष्य विस्तरं ॥ ५० ॥
अंतः परं नराधीश विद्धि निर्वाण-संश्रयान् ।
यानधिष्ठाय जिनपाः मुक्तिलक्ष्मीस्वयंवृताः ॥ ५१ ॥

अर्थात् हे राजन्, इत्यादि (ऊपर कहे हुए) तीर्थ ज्ञानकल्याणके हैं । इनके सिवाय अन्य जो हैं उन्हें मेरे कहे हुए उत्तरपुराणमें विस्तारसे देख लेना ! भगवान् शायद यह भूल जाते हैं कि उत्तरपुराण मुझसे लगभग डेढ़ हजार वर्ष बाद रचा जानेवाला है ! ग्रंथकर्त्ता भी शायद इस धुनमें रचना-प्रसंग भूल बैठे हैं कि उन्हें श्रद्धालु पाठकोंपर यह प्रभाव डालना है कि मैं वही गुणभद्र हूँ जो उत्तरपुराणके कर्त्ता हूँ । परन्तु ग्रन्थकी बिल्कुल तीसरे दर्जेकी रचना स्पष्ट बतला रही है कि भगवान्जिनसेनके शिष्य गुणभद्राचार्यकी रचनाके गुणोंकी उसमें गन्ध भी नहीं है । और यह ' अष्टादशभाषावाराविलासिनी-मुजंगा ' के अनुकरणपर अपने आप पसन्द कर लिया गया और अपने नामके साथ जोड़ा हुआ टाइटल

‘ जिनवाणीविलासिनीमुजंगम ’ तो बहुत ही भद्दा है। जिनवाणीको विलासिनी बतलाकर उसका जार बनना बड़ी भारी धृष्टता है।

(२)

इस लेखके प्रकाशित होनेपर श्रीयुत अगरचन्दजी नाहटाका जैनासिद्धान्त-भास्कर (भाग ६ किरण ३) में एक लेख प्रकाशित हुआ कि ‘ क्या पावागढ़ दिगम्बर तीर्थ है ? ’ उस लेखमें उन्होंने जो कुछ लिखा उसका सारांश यह है—

१ धोलकाके महाराजा वीरधवलकी आज्ञासे तेजपाल मंत्रीने गोधराके राजा घुघुलपर आक्रमण किया। विजय-प्राप्तिके बाद धोलका लौटते हुए उन्होंने पावक-गिरिकी नैसर्गिक शोभा देखकर विचार किया कि इस पर्वतको जैनमन्दिरसे अलंकृत कर तीर्थरूप बना दूँ और तब उन्होंने वहाँ आश्चर्यकारी ‘ सर्वतोभद्र ’ नामक अर्हत्प्रासाद बनवा दिया। इन मंत्रीजीके अस्तित्वका अभीतक पता नहीं लगा है।

पं० लालचन्दजीने ‘ गुजरातना वीरमन्त्री तेजपालनो विजय ’ नामक पुस्तकमें लिखा है कि उक्त मन्दिरकी मूर्तियोंको कुछ श्वेताम्बर जैन कारणवश कुछ वर्ष पहले वहाँसे उठा लाये और वे बड़ोदाके ‘ दादा पार्श्वनाथ ’ के मन्दिरमें स्थापित कर दी गई। इसके बाद पावागढ़के उक्त श्वेताम्बर मन्दिरको दिगम्बरियोंने अपने अधिकारमें ले लिया।

३ तेरहवीं, पन्द्रहवीं, सोलहवीं और अठारहवीं सदीके कई उल्लेख ऐसे हैं जिनसे मालूम होता है कि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें पावकगढ़की बहुत महिमा रही है और वह शत्रुंजयके जोड़का तीर्थ समझा जाता था।

४ ‘ हमारे तांर्थक्षेत्र ’ शीर्षक लेखके अनुसार यहाँ सबसे प्राचीन दिगम्बर प्रतिमा सं० १६४२ की है। किसी प्रमाणसे इसका सिद्धक्षेत्र होना प्रकट नहीं होता। अतः इसकी दिगम्बर तीर्थरूपमें स्थापना अर्वाचीन ही प्रतीत होती है।

अब नाहटाजीके उक्त लेखपर ‘ मेरा निवेदन ’ यह है—

भाई नाहटाजीके हम कृतज्ञ हैं। उन्होंने अपना उपर्युक्त लेख पं० लालचन्द गौधीकी लिखी हुई ‘ गुजरातना वीरमन्त्री तेजपालनो विजय ’ नामक जिस गुजराती पुस्तकके आधारसे लिखी है उसको भी मँगाकर हमने पढ़ा। उसमें इस प्रकारके बीसों पुष्ट प्रमाण दिये गये हैं, जिनसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है कि कमसे कम विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीके बादसे पन्द्रहवीं शताब्दीतक

श्वेताम्बर-सम्प्रदायमें पावकगढ़ बहुत ही प्रख्यात रहा है और उसपर समय-समयपर अनेक जैनमन्दिर बनते रहे हैं। उस समयके बहुतसे लोगोंकी दृष्टिमें तो वह पालीताना या शत्रुंजयकी जोड़का तीर्थ रहा है। सुप्रसिद्ध जैन मंत्री तेजपालका समय वि० सं० १२७६ से १३०४ तक माना जाता है। शायद उन्होंने सबसे पहले पावकगढ़पर 'सर्वतोभद्र' नामक विशाल जैन मन्दिर बनवाया और तभीसे श्वेताम्बर-सम्प्रदायमें वह तीर्थरूपसे प्रख्यात हुआ। इसके पहले भी वह श्वेताम्बर तीर्थ था, इस प्रकारका कोई प्रामाणिक उल्लेख अभी तक हमारे देखनेमें नहीं आया।

हमने अपने लेखमें यही लिखा है कि वहाँके प्रतिमा-लेखोंसे अथवा और किसी प्राचीन लेखसे पावागढ़का सिद्धक्षेत्र होना प्रकट नहीं होता। परन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि श्वेताम्बर-सम्प्रदायके समान दिगम्बर-सम्प्रदायवाले इसे पहले पूज्य स्थान नहीं मानते थे या उनके प्राचीन मन्दिर वहाँ न थे।

वहाँके दिगम्बर-मन्दिरोंमें वि० सं० १६४२ से १६६९ तककी प्रतिष्ठित प्रतिमायें तो हैं ही, साथ ही दि० जैन डिरेक्टरीके अनुसार पाँचवें फाटकके बादकी एक भीतपर जो प्रतिमा उत्कीर्ण है वह वि० सं० ११३४ की है। इससे क्या यह नहीं कहा जा सकता है कि वहाँपर बहुत पहलेसे दिगम्बर जैन मन्दिर थे? पं० लालचन्दजी बड़ौदेमें रहते हैं। पावागढ़ वहाँसे समीप है। परन्तु जान पड़ता है उन्होंने स्वयं वहाँ जाकर कोई जाँच-पड़ताल नहीं की और अनुमानसे ही उन्होंने अपना निर्णय दे दिया है।

ऐसे अनेक स्थान और तीर्थ हैं जहाँ दोनों सम्प्रदायोंके मन्दिर सैकड़ों-हजारों वर्षोंसे चले आये हैं। तब यह क्यों न माना जाय कि पावागढ़में दिगम्बर मन्दिर भी पहले थे? मंत्रिवर तेजपालका समय ऐसा नहीं था कि दिगम्बर-श्वेताम्बर एक स्थानपर प्रेम-भावसे न रह सकते हों। उसके पहले और बादमें भी गुजरातमें दिगम्बर सम्प्रदाय रहा है और उनके धर्मस्थान रहे हैं, इसके सैकड़ों प्रमाण दिये जा सकते हैं।

पावागढ़से लगभग ४२ मील उत्तरकी ओर गोधरा नामका नगर है। पूर्व कालमें यह स्थान विशाल और समृद्ध था। वहाँ चालुक्यनरेश कृष्णके राज्य-कालमें माथुरसंघके आचार्य अमरकीर्तिने वि० सं० १२७४ में 'छक्कम्मोवएस' (षट्कर्मोपदेश) नामक अपभ्रंश ग्रन्थकी रचना की थी। इस ग्रन्थमें वहाँके ऋषभ-जिनेशके विशाल जैनमन्दिरका उल्लेख है—

रिसहो जिणेशहो तहि चेईहर, तुंगु सहासोहिउ णं ससहर ।
दंसणेण जसु दुरिउ विलिजइ, पुण्णहेउ जं जणि मण्णिजइ ॥

अर्थात् वहाँ ऋषभ-जिनेशका ऊँचा, सभासे शोभित और चन्द्रमा जैसा 'चैत्यग्रह' था जिसके दर्शनसे पाप विलीयमान हो जाते हैं और जिसे लोग पुण्यका हेतु मानते हैं ।

गोधराके जिस राजा घूघुलको तेजपाल मंत्रीने पराजित किया था वह सम्भवतः अमरकीर्तिलिखित चालुक्य कृष्णराजका ही उत्तराधिकारी था । इस विजयके बाद ही तेजपालने गोधरामें अजितनाथका मन्दिर निर्माण कराया था और फिर उसके बाद पावागढ़ जाकर सर्वतोभद्र । जिस समय मंत्री तेजपालने गोधरामें श्वेताम्बर-मन्दिर निर्माण कराया उस समय जिस तरह वहाँ ऋषभ जिनेशका दिगम्बर-मन्दिर मौजूद था उसी तरह क्या यह असम्भव है कि पावागढ़में भी सर्वतोभद्र जिनालय-के पहले कोई दिगम्बर-मन्दिर रहा हो ? खासकरके पाँचवें फाटकके बादकी उस भीतमें उत्कीर्ण सं० ११३४ की प्रतिमाका खयाल रखते हुए ।

जब पावागढ़की तलैटीका विशाल नगर चाँपानेर बरबाद हो गया, अनेक राजनीतिक उथल-पुथल होनेके कारण जब वहाँ कोई न रहा, तब यह स्वाभाविक है कि वहाँके मन्दिर खण्डहरोंमें परिणत हो जायँ और कुछ लोग प्रतिमा-ओंको भी अपने साथ ले जायँ । श्वेताम्बरोंके समान दिगम्बरोंने भी यही किया होगा । गरज यह कि पावागढ़को उस समय दोनोंने ही छोड़ दिया होगा और मन्दिर दोनोंके पड़े रहे होंगे ।

इसके बाद ऐसा जान पड़ता है कि श्वेताम्बर भाइयोंने तो उक्त स्थानको बिल्कुल भुला दिया, परन्तु दिगम्बर नहीं भूले और वि० सं० १९३७ में भट्टारक कनककीर्तिकी दृष्टि इस ओर गई और उनके उपदेशसे दिगम्बर मन्दिरोंके उद्धारका प्रारम्भ हो गया । बहुत करके कनककीर्तिजी ईडरकी गद्दीके भट्टारक थे ।

अबसे लगभग २७ वर्ष पहले सन् १९१२ के मार्च महीनेके अन्तमें मैंने पावागढ़की यात्रा की थी और अपनी उस यात्राका विवरण जैनहितैषी (भाग ९, अं० १२) में प्रकाशित किया था । उसके नीचे लिखे अंशको पढ़कर पाठक देख सकते हैं कि उस समय भी मुझे यह भास हुआ था कि उक्त स्थानपर पहले श्वेताम्बर मन्दिर रहे होंगे और इस बातको मैंने छुपाया नहीं था ।

“ छासिया तालाबके मार्गमें दाहिनी ओर एक जैन मन्दिर है । इसकी नये

सिरेसे मरम्मत की गई है। इसमें जो मुख्य प्रतिमा है वह जीर्णोद्धार करानेवाले-ने सं० १९६७ में स्थापित की है। शेष दो प्रतिमायें पुरानी है। एक तो सं० १६४२ माघ सुदी ७ सोमवारको वादिभूषण गुरुके उपदेशसे प्रतिष्ठित हुई है, और दूसरी प्रसिद्ध प्रतिमाप्रचारक जीवराज पापड़ीवालद्वारा सं० १५४८ में प्रतिष्ठा कराई हुई है। दूसरा एक मन्दिर और भी पासमें है। उसकी मरम्मत की गई है। उसमें एक काले पाषाणकी प्रतिमा है। वह सं० १६६२ की है। वादिभूषण भट्टारकने उसकी भी प्रतिष्ठा कराई थी। प्रतिष्ठा करानेवाले अहमदाबादके एक हूमड श्रावक थे। पर्वतपर सब मिलाकर १० जीर्ण मन्दिर हैं, इनमेंसे तीनका तो जीर्णोद्धार हो गया है और एककी मरम्मत की गई है। शिखर बाकी है। तीसरा-चौथा मन्दिर दाहिनी तरफ धराशायी हो रहा है। इसे हमने भीतर घुसकर देखा तो मालूम हुआ कि गर्भालयकी दो चौखटोंपर तो गणेशकी मूर्तियाँ हैं और उत्तर तरफकी बाहरी दीवालपर जो तीन मूर्तियाँ हैं वे श्वेताम्बर सम्प्रदायकी हैं। उनकी भुजाओंमें बाजू-बन्द और हाथोंमें कंकण हैं। आसनमें हाथीका चित्र है। इसके आगे एक विराट् मन्दिर धराशायी हो रहा है। इसमें नन्दीश्वरद्वीपके समान चारों ओर ५२ जिनालय थे। इसी जगह सेठ चुन्नीलाल हेमचन्द्र जरीवालेने मन्दिर बनाकर वीर नि० सं० २४३७ में प्रतिष्ठा कराई है। आगे बड़े मन्दिरके सामने एक छोटी-सी देहरी है। यह अभी हाल ही बनी है। इसमें जो चरण हैं उनकी स्थापना सं० १९६७ में हुई है। इस देहरीकी पीठपर कहींका एक पुराना पड़ा हुआ पत्थर जड़ दिया गया है जिसमें ऋद्धि-सिद्धि-युक्त गणेशजीकी मूर्ति है। बड़े मन्दिरमें बड़ी प्रतिमा और छोटी-छोटी प्रतिमाएँ परंढा (सोला-पुर) निवासी श्रेष्ठ गणेश गिरिधरकी हैं और तीन जो पुरानी हैं वे क्रमसे १६४५, १६६५, और १९६९ की हैं। यह मंदिर बहुत विस्तारमें था और प्राचीन मालूम होता है। मरम्मत केवल बीचके भागकी कर ली गई है। इसके पास ही दो मन्दिर और थे जिनमेंसे एकका तो मकान-सा बना लिया गया है। इस समय उसमें पर्वतके मन्दिरोंकी पूजा करनेवाले पुजारी रहते हैं। और एक बिल्कुल नामशेष है—दालान यों ही पड़ी है। मन्दिरके पास ही तालाब है।

“यहाँसे कालिकाकी टोंकपर चढ़ना होता है। इसकी सीढ़ियोंमें जो पत्थर लगाया गया है वह पहाड़ परसे ही संग्रह किया गया है। यह देखकर हमें खेद हुआ कि इन सीढ़ियोंमें मामूली पत्थर समझकर छह-सात जैन मूर्तियाँ लगा दी

गई हैं। ये मूर्तियाँ बहुत करके श्वेताम्बर-सम्प्रदायकी हैं, क्योंकि उनमें लंगोटका चिह्न दिखाई देता है।

“यद्यपि इस समय पर्वतपर कोई श्वेताम्बर मन्दिर नहीं है और श्वेताम्बर-सम्प्रदायके यात्री भी यहाँ नहीं आते हैं, तो भी मालूम होता है कि यहाँपर पहले श्वेताम्बर-मन्दिर अवश्य रहे होंगे और ये प्रतिमायें उन्हीं मन्दिरोंकी होंगी। पावागिरिको श्वेताम्बर-सम्प्रदायमें मालूम नहीं कि सिद्धक्षेत्र माना है या नहीं।”

इतने समयके बाद नाहटाजी और पं० लालचन्दजी गौधीकी कृपासे यह मालूम हुआ कि पावागढ़ सिद्धक्षेत्र न होनेपर भी श्वेताम्बर-सम्प्रदायका बहुत विख्यात तीर्थ रहा है और अब काल-माहात्म्यसे बिल्कुल शेष हो चुका है। खण्डहरोंकी दुर्दशाका पार नहीं रहता। वहाँके कीमतीसे कीमती शिल्प-कला पूर्ण पाषाणोंका उपयोग लोग ऐसी बेददोंके साथ करते हैं कि देखकर जी रो उठता है। पावागढ़के मन्दिरोंके अवशेषका जिस तरह सीढ़ियोंमें उपयोग हुआ है उसी तरह और न जाने किन किन कामोंमें हुआ होगा। उपयोग करनेवालोंकी नजरमें तो वे एक-सामूली पत्थरसे ज्यादा महत्त्व नहीं रखते।

ऐसा मालूम होता है कि दिगम्बर-श्वेताम्बर मन्दिरोंके साथ-साथ पावागढ़पर हिन्दू मन्दिर भी रहे होंगे और उनकी गणेशकी मूर्तियोंका उपयोग जैन मन्दिरोंका जीर्णोद्धार करानेवालोंने भी किया है।

यह सम्भव है कि दिगम्बर जैन-मन्दिरोंका जीर्णोद्धार करानेवालोंने श्वेताम्बर मन्दिरके पत्थरोंका भी उपयोग किया हो। परन्तु यह निश्चय है कि श्वेताम्बर-प्रतिमाओंका उपयोग न किया होगा, क्योंकि श्वेताम्बर-प्रतिमाएँ सहजमें ही दिगम्बर नहीं बनाई जा सकतीं।

दक्षिणके तीर्थक्षेत्र

[वि० सं० १७४० के लगभगके एक यात्रीकी दृष्टिमें]

हमारे ग्रन्थ-भण्डारों और घरोंमें न जाने कितनी ऐतिहासिक सामग्री पड़ी हुई है जिसकी ओर बहुत ही कम ध्यान दिया गया है। बहुत-से ग्रन्थ-भण्डारोंकी नाममात्रकी सूचियाँ भी बन गई हैं, परन्तु सूचियाँ बनानेवालोंको शायद वह दृष्टि ही प्राप्त नहीं है जिससे वे ऐसी सामग्रीकी खोज कर सकें और उसको महत्त्व दे सकें। इसके लिए ज़रूरत है कि अब कोई व्यवस्थित प्रयत्न किया जाय।

लगभग २७-२८ वर्ष पहले मैं सोनागिर गया था और वहाँके भट्टारकजीसे मिला था। वहाँके ग्रन्थ-भण्डारको देखनेकी मेरी प्रबल इच्छा थी। भण्डार दिखलानेसे उन्होंने इंकार तो नहीं किया, परन्तु दिखलाया भी नहीं—आज-कल आज-कल करके टाल दिया। उसी समय मैंने उनके पास एक पुरानी बही देखी और एक बस्तेमें बँधे हुए कुछ कागज़-पत्र। वही सौ-सवासौ वर्षकी पुरानी थी। उन दिनों भट्टारक और उनके शिष्य पंडित या पाण्डे अपनी गद्दीके अनुशासनमें रहनेवाले स्थानोंका सालमें कमसे कम एक बार दौरा करते थे और अपना बँधा हुआ टैक्स वसूल किया करते थे। उक्त बहीमें उन स्थानोंकी सिलसिलेवार सूची थी और प्रत्येक स्थानके दो दो चार चार मुखियोंके नाम भी लिखे थे। किस शिष्यके अधिकारमें कहाँसे कहाँ तकका क्षेत्र है, यह भी उससे मालूम हो जाता था। मैंने अपने गाँवका और उसके आसपासके परिचित स्थानों तथा मुखियोंका नाम भी उसमें देखा। मुखिया वे ही थे जिनके नाम मैंने अपनी दादीके मुँहसे सुन रखे थे। कहीं कहीं टैक्सकी रकम भी लिखी हुई थी।

बस्तेमें कुछ सुन्दर सचित्र चिट्ठियाँ भी थीं जो जन्मकुण्डलियोंके समान काफी लम्बी और गद्यपद्यमय थीं। वे गजरथ-प्रतिष्ठाएँ करनेवालोंकी तरफसे लिखी हुई थीं। उनमें प्रतिष्ठा करानेवालेके वंशका, स्थानका, वहाँके मुखियोंका, राज्यके शौर्य-वीर्यका और दूसरी आनुवंशिक बातोंका आतिशय-युक्त वर्णन था। कुछ

चिट्ठियाँ शिष्योंद्वारा उनके गुरु भट्टारकोंके नामकी भी थीं, जिनकी भाषा कुछ संस्कृत और कुछ देशी थी। मैंने चाहा कि उन कागज-पत्रोंको अच्छी तरह देखकर कुछ नोट्स ले लूँ, परन्तु भट्टारकजीने दूसरे समयके लिए टाल दिया और फिर मैं कुछ न कर सका।

इसके बाद मैंने सन् १९१६ में मुनि श्रीजिनविजयजी-द्वारा सम्पादित 'विज्ञप्ति-त्रिवेणी' देखी, जिसमें तीन जैन साधुओं द्वारा अपने गुरुओंके नाम लिखी हुई बहुत विस्तृत कवित्वपूर्ण तीन संस्कृत चिट्ठियाँ छपी हैं, जिनसे उस समयकी (वि० सं० १४८४ की) अनेक धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक बातोंपर प्रकाश पड़ता है। उस समय जैन साधु जब किसी स्थानमें चातुर्मास करते थे तब अपने आचार्य या गुरुको खूब विस्तृत पत्र लिखकर भेजते थे और वह 'विज्ञप्ति' कहलाती थी।

विज्ञप्ति-त्रिवेणीको और भट्टारकजीके बस्तेकी उक्त चिट्ठियोंको देखकर मुझे विश्वास-सा हो गया है कि इस तरहकी अनेक चिट्ठियाँ हमारे भण्डारोंमें—विशेष करके वहाँ, जहाँ भट्टारकोंकी गादियाँ रही हैं—पड़ी होंगी और प्रयत्न करनेसे वे संग्रह की जा सकती हैं। उनसे मध्यकालीन इतिहासपर बहुत कुछ प्रकाश पड़ सकता है।

स्वर्गीय 'गुरुजी' पं० पन्नालालजी वाकलीवालने आरासे पं० जयचन्दजी, दीवान अमरचन्दजी और कविवर वृन्दावनजीकी जो चिट्ठियाँ प्राप्त की थीं वे प्रकाशित हो चुकी हैं^१। सभी जानते हैं कि वे कितने महत्त्वकी हैं।

हमारा अनुमान है कि अधिकांश तीर्थक्षेत्रोंके सम्बन्धमें भी हमारे भण्डारों और निजी अथवा घर कागज-पत्रोंमें बहुत-सी सामग्री मिल सकती है। उस समय लोग बड़ी बड़ी लम्बी तीर्थ-यात्रायें करते थे और चार चार छह छह महीनोंमें घर लौटते थे। उनके साथ विद्वान् और त्यागी-व्रती भी रहते थे। उनमेंसे कोई कोई अपनी यात्राओंका विवरण भी लिखते थे। प्राचीन गुटकों और पोथियोंमें ऐसे कुछ विवरण मिले भी हैं। श्वेताम्बर-सम्प्रदायके सुरक्षित और सुव्यवस्थित पुस्तक-भण्डारोंसे जब ऐसे अनेक यात्रा-वर्णन उपलब्ध हुए हैं, तब दिगम्बर भण्डारोंमें भी इनके मिलनेकी काफी संभावना है।

१ आत्मानन्द-जैनसभा, भावनगरद्वारा प्रकाशित।

२ देखो, जैनग्रन्थरत्नाकर-कार्यालयद्वारा प्रकाशित 'वृन्दावन-विलास'।

इस लेखमें मैं ऐसे ही एक यात्रा-वर्णनका परिचय दिया जाता है। 'हमारे तीर्थक्षेत्र' नामक लेखमें एक दो जगह 'तीर्थमाला' नामकी एक पुस्तकसे कुछ प्रमाण दिये गये हैं। उसके कर्ता श्रीशीलविजयजी श्वेताम्बर सम्प्रदायके तपागच्छीय संवेगी साधु थे और उनके गुरुका नाम पं० शिवविजयजी था। उन्होंने पश्चिम, पूर्व, दक्षिण और उत्तर चारों दिशाओंके तीर्थोंकी पैदल यात्रा की थी और जो कुछ उन्होंने देखा सुना था उसे अपनी गुजराती भाषामें पद्यबद्ध कर दिया था। इसके पहले भागमें ८५, दूसरेमें ५५, तीसरेमें १७३ और चौथेमें ५५ पद्य हैं। प्रत्येक भागके प्रारम्भमें मंगलाचरणके रूपमें दो दो तीन तीन दोहे और अन्तमें चार चार लाइनोंका एक एक 'कलस' है। शेष सब चौपाइयाँ हैं।

पूर्वके तीर्थोंकी यात्रा उन्होंने वि० सं० १७११-१२ में, दक्षिणकी १७३१-३२ में, पश्चिमकी १७४६ में और उत्तरकी शायद १७४८ में की थी। 'शायद' इस लिए कि पुस्तकके पद्य-भागमें संवत् नहीं दिया है, परन्तु अन्तकी पुष्पिकामें लिखा है— "संवत् १७४८ वरषे मागसरमासे शुक्लपक्षे त्रयोदशी तिथौ सोमवासेर लिखितम्"।

स्व० श्रीधर्मविजयसूरिने वि० सं० १९७८ में 'प्राचीन तीर्थमाला-संग्रह' नामका एक संग्रह प्रकाशित किया था।^१ उसमें भिन्न-भिन्न यात्रियोंकी लिखी हुई छोटी-बड़ी पच्चीस तीर्थमालायें हैं। शीलविजयजीकी तीर्थमाला भी उसीमें संग्रहीत है।

यों तो यह समस्त पुस्तक ही बड़े महत्त्वकी है, परन्तु हम इसकी दक्षिण-यात्राके अंशका ही विवरण पाठकोंके सामने उपस्थित करेंगे। क्योंकि यह अंश दिगम्बर सम्प्रदायके पाठकोंके लिए अधिक उपयोगी है। अबसे लगभग ढाईसौ वर्ष पहलेके दक्षिणके तीर्थों और दूसरे धर्म-स्थानोंके सम्बन्धमें इससे बहुत-सी बातें मालूम होंगी।

स्वयं श्वेताम्बर होने पर भी लेखकने दक्षिणके समस्त दिगम्बर-सम्प्रदायके तीर्थोंका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक वर्णन किया है और उनकी वन्दना की है।

१ यह लेखककी लिखी या लिखाई हुई पहली ही प्रति मालूम होती है और उक्त प्रति ही प्रकाशनके समय सम्पादकके सामने आदर्श प्रति थी।

२ श्रीयशोविजय-जैनग्रंथमाला, भावनगर-द्वारा प्रकाशित। मूल्य २॥)

पृथ्वी-भ्रमणकी उपयोगिता दिखलानेके लिए उन्होंने एक गाथा उद्धृत की है—

दिसह विविहचरियं जाणिज्जइ दुज्जणसज्जणविसेसो ।

अप्पाणं च किलज्जइ हिंजज्जइ तेण पुहवीए ॥

अर्थात्—विविध प्रकारके चरित देखना चाहिए, दुर्जनों और सज्जनोंकी विशेषता जाननी चाहिए । इसके लिए पृथ्वी-भ्रमण आवश्यक है ।

इस पुस्तकमें जो कुछ लिखा है लेखकने स्वयं पैदल-यात्रा करके लिखा है; फिर भी बहुत-सी बातें सुनी-सुनाई भी लिखी हैं, जैसा कि उन्होंने स्वयं एक जगह कहा है—

जगमां तीरथ सुंदरु, ज्योतिवंतं ज्माल ।

पमणीस दीठां सांभल्यां, सुणतां अमी-रसाल ॥ ३ ॥

अथवा—

दध्णिण दिसिनी बोली कथा, निसुणी दीठी जे भियथा ॥ १०८ ॥

अपनी दक्षिण-यात्राका प्रारम्भ वे नर्मदा नदीके परले पारसे करते हैं और वहींसे दक्षिण देशमें प्रवेश करते हैं ।

नदी निर्बंदा पेलि पार, आव्या दध्णिणदेसमञ्चारि ।

मानघाता तीरथ तिहां सुण्युं, शिवधर्मीं ते मानि घणुं ॥

मानघाताके विषयमें इतना ही कहकर कि इसे शिवधर्मी बहुत मानते हैं वे आगे खंडवा जाकर खानदेशके बुरहानपुरका वर्णन करने लगते हैं । यहाँ यह नोट करने लायक बात है कि मानघाताका उल्लेख करके भी लेखक 'सिद्धवरकूट' का कोई जिक्र नहीं करते हैं और इसका कारण यही जान पड़ता है कि उस समय तक वहाँ सिद्धवरकूट नहीं माना जाता था ।

बुरहानपुरमें चिन्तामणि पार्श्वनाथ, महावीर, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, सुपार्श्वनाथके मन्दिर हैं और बड़े-बड़े पुण्यात्मा महाजन बसते हैं । उनमें एक ओसवालवंशके भूषण 'छीतू जगजीवन' नामके संघवी (संघपति) हैं, जिनकी ग्रहिणीका नाम 'जीवादे' है । उन्होंने माणिक्यस्वामी, अन्तरीक्ष, आबू, गोडी

१ 'सिद्धवरकूट' तीर्थकी स्थापनापर 'हमारे तीर्थक्षेत्र' नामक लेखमें विचार किया गया है । देखो पृ० ३०६

(पार्वनाथ) और शत्रुंजयकी यात्रा की है । प्रतिष्ठाये की हैं । वे संघके भक्त और सुपात्र-दानी हैं । दूसरे धनी पोरबाड़ वंशके सारंगधर ' संघवी हैं, जिन्होंने संवत् १७३२ में बड़ी भारी ऋद्धिके साथ चैत्यबन्दना और मालवा, मेवाड़, आबू, गुजरात तथा विमलाचल (शत्रुंजय) की यात्रा करके अपनी लक्ष्मीको सफल किया है । तीसरे हैं दिगम्बर-धर्मके अनुयायी ' जैसल जगजीवनदास ' नामके बड़े भारी धनी, जिनकी शुभमति है और जो प्रतिदिन जिन-पूजा करते हैं । उनकी तरफसे सदाव्रत जारी है, जिसमें आठ रुपया रोज खर्च किया जाता है ।

इसके आगे मलकापुर (जिला बुलढाना) है । वहाँके शान्तिनाथ भगवान्को प्रणाम करता हूँ । वहाँसे देवलघाट चढ़कर बरारमें प्रवेश किया जाता है । देवलगाँवमें पहुँचकर मैंने नेमीश्वर भगवान्को प्रणाम किया । इसके आगे समुद्र तक सर्वत्र दिगम्बर ही दिगम्बर बसते हैं—

हवि सधलि दीगम्बर वसिं, समुद्रसुधी ते घणू उल्हसिं ॥ १३ ॥

फिर ' अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ ' का वर्णन करते हैं—

शिरपुरनयर अन्तरीक्ष पास, अमीझरो वासिम सुविलास ।

आगे इस तीर्थके विषयमें एक दन्तकथा लिखी है कि रावणका भगिनीपति खरदूषण राजा बिना पूजा किये भोजन नहीं करता था । एक बार वह वनविहारको निकला और मन्दिर भूल गया । तब उसने बालू और गोबरकी एक प्रतिमा बनाई और नमोकार मन्त्र पढ़कर उसकी प्रतिष्ठा करके आनन्दसे पूजा की । वह प्रतिमा यद्यपि वज्र-सदृश हो गई परन्तु कहीं पीछे कोई इसका अविनय न करे, इसलिए उसने उसे एक जल-कूपमें विराजमान कर दिया और वह अपने नगरको चला आया ।

इसके बाद उस कुएँके जलसे जब ' एलगराय ' का रोग दूर हो गया, तब अन्तरीक्ष प्रभु प्रकट हुए और उनकी महिमा बढ़ने लगी । पहले तो यह प्रतिमा इतनी अधर थी कि उसके नीचेसे एक सवार निकल जाता था, परन्तु अब तो केवल एक धागा ही निकल सकता है !

१ वासिम सिरपुरसे १० मील दूर है ।

२ जिसे राजा ' एल ' कहा जाता है शायद वही यह ' एलगराय ' है । आकोलके गेजेटियरमें लिखा है कि एल राजाको कोढ़ हो गया था, जो एक सरोवरमें नहानेसे अच्छा हो गया । उस सरोवरमें ही अन्तरीक्षकी प्रतिमा थी और उसीके प्रभावसे ऐसा हुआ था ।

इसके आगे लूणोर गाँव और एलजपुरी अर्थात् एलिचपुरका उल्लेखमात्र करके कारंजा नगरका बहुत विस्तृत वर्णन किया है, जो यहाँ सबका सब उद्धृत कर दिया जाता है—

एलजपुर कारंजानगर, धनवंतलोक वसि तिहां सभर ।
 जिनमन्दिर ज्योती जागता, देव दिगंबरकरि राजता ॥ २१ ॥
 तिहां गच्छनायक दीगंबरा, छत्र-सुखासन-चामरधरा ।
 श्रावक ते सुद्धधरमी वसिइ, बहुधन अगणित तेहनि अच्छइ ॥ २२ ॥
 बधेरवालवंश-सिणगार, नाभि संघवी भोज उदार ।
 समकितधारी जिनने नमइ, अवर धरमस्युं मन नवि रमइ ॥ २३ ॥
 तेहने कुले उत्तमआचार, रात्री भोजननो परिहार ।
 नित्यई पूजामहोच्छव करइ, मोती-चोक जिनआगलि भरइ ॥ २४ ॥
 पंचामृत अभिषेक धणी, नयणे दीठी ते भिइ भणी ।
 गुरु सामी पुस्तकभण्डार, तेहनी पूजा करि उदार ॥ २५ ॥
 संघ प्रतिष्ठा ने प्रासाद, बहुतीरथ ते करि आल्हाद ।
 करनाटक कुंकण गुजराति, पूरब मालव ने मेवात ॥ २६ ॥
 द्रव्यतणा मोटा व्यापार, सदावर्त पूजा विवहार ।
 तप जप क्रिया महोच्छव घणा, करि जिनसासन सोहामणा ॥ २७ ॥
 संवत सात सतरि सही, गढ़ गिरनारी जात्रा करी ।
 लाख एक तिहां धन वावरी, नेमिनाथनी पूजा करी ॥ २८ ॥
 हेममुद्रा संघवच्छल कीओ, लच्छितणो लाहो तिहां लीओ ।
 परविं पाई सीआलिं दूध, ईशुरम उंनालि सुद्ध ॥ २९ ॥
 अलाफूलिं वास्यां नीर, पंथीजननि पाई धीर ।
 पंचामृत पकवाने भरी, पोषि पात्रज भगति करी ॥ ३० ॥
 भोजसंघवीसुत सोहामणा, दाता विनयी ज्ञानी घणा ।
 अर्जुन संघवी पदारथ (?) नाम, शीतल संघवी करि शुभ काम ॥ ३१ ॥
 इसका सारांश यह है कि कारंजामें बड़े बड़े धनी लोग रहते हैं और

१—लूणोर बुलढाना जिल्लेमें, मेहकरके दक्षिणमें १२ मीलपर है । बरारमें यह गाँव सबसे प्राचीन है । इसका पुराना नाम विरजक्षेत्र है ।

प्रकाशमान जैन-मन्दिर हैं जिनमें दिगम्बरदेव विराजमान हैं। वहाँ गच्छनायक (भट्टारक) दिगम्बर हैं, जो छत्र, सुखासन (पालकी) और चँवर धारण करते हैं। शुद्धधर्मी श्रावक हैं, जिनके यहाँ अगणित धन है। बघेरवाल वंशके शृंगार-रूप भोज-संघवी (सिंघई) बड़े ही उदार और सम्यक्त्वधारी हैं। वे जिन भगवान्को ही नमस्कार करते हैं। उनके कुलका आचार उत्तम है। रात्रि-भोजन-का त्याग है। नित्य ही पूजा-महोत्सव करते रहते हैं। भगवान्के आगे मोतियोंका चौक पूरते हैं और पंचामृतसे अभिषेक करते हैं। यह मैंने आँखों देखकर कहा है। गुरु स्वामी (भट्टारक) और उनके पुस्तक-भंडारका पूजन करते हैं। उन्होंने संघ निकाला, प्रतिष्ठा की, प्रासाद (मन्दिर) बनवाये और आह्लादपूर्वक बहुतसे तीर्थोंकी यात्रा की। कर्नाटक, कोंकण, गुजरात, पूर्व, मालवा और मेवाड़से उनका बड़ा भारी व्यापार चलता है। जिनशासनको शोभा देनेवाले सदावर्त, पूजा, जप, तप, क्रिया, महोत्सव आदि उनके द्वारा होते रहते हैं। संवत् १७०७ में उन्होंने गढ़ गिरनारकी यात्रा करके नेमि भगवान्की पूजा की, सोनेकी मोहरोंसे संघ-वास्तव्य किया और एक लाख रुपया खर्च करके धनका ' लाहा ' लिया। प्रपाओं (प्याऊ) पर शीतकालमें दूध, गर्मियोंमें गन्नेका रस और इलायची-वासित जल पत्थियोंको पिलाया और पात्रोंको भक्तिपूर्वक पंचामृत पक्वान्न खिलाया। ' भोज संघवी ' के पुत्र अर्जुन संघवी और ' शीतल संघवी ' भी बड़े दाता, विनयी, शानी और शुभ काम करनेवाले हैं।

इसके आगे मुक्तागिरिके विषयमें लिखा है कि वह शत्रुंजयके तुल्य है और वहाँ चौबीस तीर्थकरोंके ऊँचे ऊँचे प्रासाद हैं—

हवि मुगतागिरि जात्रा कहुं, शत्रुंजतोलि ते पण लहुं ।

ते ऊपरि प्रासाद उतंग, जिन चौबीसतणा अति चंग ॥

इसके आगे सिंधुषेडि, पातूर, ओसाबुदगिरि, कल्याण, और बिदर शहरका उल्लेख मात्र किया है, सिर्फ पातूरमें चन्द्रप्रभ और शान्तिनाथ जिनके मन्दिरोंको बतलाया है—

१ इस ' स्वामी ' शब्दका व्यवहार कारंजाके भट्टारकोंके नामोंके साथ अब तक होता है; जैसे वीरसेन स्वामी ।

सिंधवेडि आंबो पातूरै, चन्द्रप्रभ जिन शांति सनूर ।

ओसाबुदगिरि गढ़ कल्याण, सहिर बिर्धर प्रसीदुं ठाण ॥

इसके आगे तैलंगदेशके भागनगर गलकुंडू (गोलकुंडा) का वर्णन है । लिखा है कि उसका विस्तार चार योजनका है और कुतुबशाहका राज्य है । उसकी सेनामें एक लाख घुड़सवार और नौ लाख सिपाही हैं । गोलकुंडामें छत्तीसहजार वेश्यायें हैं और रातदिन नाच गान हुआ करता है^१ । यहाँके श्रावक धनी, दानी, ज्ञानी, और धर्मात्मा हैं । मणि, माणिक्य, मूंगेके जानकार (जौहरी) और देव-गुरुकी सेवा करनेवाले हैं ।

वहाँ ओसवाल वंशके एक 'देवकरणशाह' नामके बड़े भारी धनी हैं, जो

१ महाराष्ट्रीय ज्ञानकोशके अनुसार जब जानोजी भोंसलेने निजामअलीको परास्त करके सन्धि करनेके लिए लाचार किया था, तब पेशवा स्वयं तो शिन्दखेडमें रह गया था और विश्वासराव तथा सिन्धियाको उसने औरंगाबाद भेज दिया था । इसके बाद साखरखेडमें बड़ी भारी लड़ाई हुई और निजामअली परास्त हुआ (इ० सन् १७५६) । इसी शिन्दखेडका शीलविजयजीने उल्लेख किया है । यह बरारमें ही है । २ आंबा बरारका ही कोई गाँव होगा ।

३ आंकोला जिलेकी बालपुर तहसीलका एक कस्बा । इसके पासके जंगलमें कई गुफायें और एक जैनमन्दिर भी है । संभव है, वह चन्द्रप्रभ भगवान्का ही हो ।

४ यह शायद 'ऊखलद' अतिशय क्षेत्र हो, जो निजाम स्टेट रेलवेके मीरखेल स्टेशनसे तीन चार मील है । यह स्थान पहाड़पर है, इसलिए 'गिरि' कहा जा सकता है ।

५ कल्याणको आज कल 'कल्याणी' कहते हैं । यह निजाम राज्यके बेदर जिलेकी एक जागीरका मुख्य स्थान है । चालुक्य-नरेश सोमेश्वर (प्रथम) ने यहाँ अपनी राजधानी स्थापित की थी । सन् १६५६ में यहाँके गढ़ या किलेको औरङ्गजेबने फतह किया था ।

६ यह निजाम राज्यका जिला 'बेदर' है । ७ हैदराबादसे पश्चिम पाँच मीलपर बसा हुआ पुराना शहर । इसीका पुराना नाम भागनगर था ।

८ यह कुतुबशाहीका अन्तिम बादशाह अबूहसन-कुतुबशाह होगा, जो सन् १६७२ में गोलकुंडेकी गद्दीपर बैठा था । सितम्बर १६८७ में औरङ्गजेबने गोलकुंडा फतह किया और अबूहसनको गिरिफ्तार किया । ९ इन संख्याओंमें कुछ अतिशयोक्ति हो सकती है । प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति-लिखित 'मुगल-साम्राज्यका क्षय और उसके कारण' नामक ग्रन्थके अनुसार इस शहरमें बीस हजार वेश्यायें और अगणित शराबख थे ।

चिन्तामणि चैत्यमें प्रतिदिन जिनपूजा और संघ-वात्सल्य करते हैं। उनकी ओरसे सदावर्त है। वे दीन-दुखियोंके लिए कल्पवृक्ष हैं। राजा उन्हें मानते हैं। 'उदयकरण' और 'आसकरण' सहित वे तीन भाई हैं—सम्यक्वी, निर्मल-बुद्धि, गर्वरहित और गुरुभक्त। उनके गुरु अंचल गच्छेके हैं। वहाँ आदिनाथ और पार्श्वनाथके दो मन्दिर हैं। एक दिगम्बर मन्दिर बहुत बड़ा है।

इसके आगे लिखा है कि कुल्लपाकपुर-मंडन माणिक-स्वामीकी सेवा करनी चाहिए। वहाँकी प्रतिमा भरतरायकी स्थापित की हुई है। इस तीर्थका उद्धार राजा शंकररायकी रानीने किया है। इस मिथ्याती राजाने ३६० शिवमन्दिर बनवाये और इसकी रानीने इतने ही जिनमन्दिर। इन मन्दिरोंका विस्तार एक कोसका है, जहाँ पूजन-महोत्सव हुआ करते हैं।

इसके आगे द्रविड़ देशका प्रारम्भ हुआ है जिसके गंजीकोट, सिकाकोलि और और चंजी चंजौडर स्थानोंके नाम दिये हैं जिनमें सोने, चाँदी और रत्नोंकी अनेक प्रतिमायें हैं।

आगे जिनकांची, शिवकांची और विष्णुकांचीका उल्लेख है जिनमेंसे जिनकांचीके विषयमें बतलाया है कि वहाँ स्वर्गोपम जैनमन्दिर हैं और शिवकांचीमें बहुतसे शिवालय तथा विष्णुकांचीमें विष्णुमन्दिर हैं जहाँ पूजा, रथयात्रायें होती रहती हैं।

इसके बाद कर्नाटक देशका वर्णन है जहाँ चोरोका संचरण नहीं है। कावेरी नदीके मध्य श्रीरंगपट्टण बसा हुआ है। वहाँ नाभिमल्हार (ऋषभदेव);

१ कुल्लपाक या माणिकस्वामी तीर्थ निजाम स्टेटमें सिकन्दराबादके पास है। वहाँ बहुतसे शिलालेख मिले हैं। दिगम्बर जैन डिरेक्टरीके अनुसार गजपन्थमें संवत् १४४१ का एक शिलालेख था जिसमें 'हंसराजकी माता गोदूबाईने माणिकस्वामीका दर्शन करके अपना जन्म सफल किया' लिखा है। पर अब इस लेखका पता नहीं है।

२ गंजीकोटि शायद मद्रास इलाकेके कडाप्पा जिलेका गंडिकोट है जिसे वोमनपल्लेके राजा कम्पने बसाया था और एक किला बनवाया था। फरिश्ताके अनुसार यह किला सन् १५८९ में बना था। विजयनगरके राजा हरिहरने यहाँ एक मन्दिर बनवाया था।

३ सिकाकोलि गंजाम जिलेकी तिकाकोल तहसील है। ४ चंजी कुछ समयमें नहीं आया। ५ चंजावरि तंजौर है।

चिन्तामणि (पार्ष्व) और वीर भगवान्‌के विहारों (मन्दिर) की भेंट की। वहाँ देवराय नामक राजा है जो मिथ्यामती होने पर भी शुभमति है। भोज सरीखा दानी है और मद्य-मांससे दूर रहने वाला है। उसकी सेनामें पाँच लाख सिपाही हैं। वहाँ हाथी और चन्दन होते हैं। उसकी आमदनी ६५ लाखकी है जिसमेंसे १८ लाख धर्म-कार्यमें खर्च होता है। आठ लाख ठाकुर (कृष्ण) के लिए, चार लाख जिनदेवके लिए और छह लाख महादेवके लिए। रंगनाथकी मूर्ति सुवर्णकी है। हरि (कृष्ण) शयन मुद्रामें हैं और गंगाधर (शिव) वृषभारूढ़ हैं। इनकी पूजा बड़े ठाठसे होती है। इसी तरह सिद्धचक्र और आदिदेव (ऋषभदेव) की भी राजाकी ओरसे अच्छी तरह सेवा होती है। देवको चार गाँव लगे हुए हैं, जिनसे अढलक (अपरिमत) घन आता है। यहाँके श्रावक बहुत धनी, दानी और दयापालक हैं। राजाके ब्राह्मण मन्त्री विशालाक्ष जिन्हें बेलान्दुर पण्डित भी कहते हैं विद्या, विनय और विवेकयुक्त हैं। जैनधर्मका उन्हें पूरा अभ्यास है। जिनौगमोंकी तीन बार पूजा करते हैं, नित्य एकासन करते हैं और भोजनमें केवल बारह वस्तुएँ लेते हैं। जैन शासनको दीप्त करते हैं। राज-धुरधर हैं। उन्होंने ' वीर-प्रासाद ' नामका विशाल मन्दिर बनवाया है, जिसमें पुरुषप्रमाण पीतलकी प्रतिमा है। सप्तधातु, चन्दन और रत्नोंकी भी प्रतिमाएँ

१ दोड्ड देवराजका समय ई० स० १६५९-७२ है और चिक्क देवराजका १६७२-१७०४ है। शीलविजयजीके समयमें अर्थात् १७८३ के लगभग चिक्कदेवराज ही होना चाहिए। इसने लिंगायत शैवधर्म छोड़कर वैष्णवधर्म स्वीकार किया था। श्रीरंगनाथकी सुवर्ण मूर्ति शायद इसीकी बनवाई हुई है।

२ मैसूरसे दक्षिण-पूर्व ४२ मीलपर येलान्दुर नामका एक गाँव है। विशालाक्ष उसी गाँवके रहनेवाले थे, इसलिए उन्हें येलान्दुर पंडित भी कहते थे। चिक्कदेवराज जब नजर-बन्द थे तब विशालाक्षने उनपर अत्यन्त प्रेम दिखलाया था। इस लिए जब सन् १६७२ में वे गद्दीपर बैठे तब उन्होंने इन्हें अपना प्रधान मन्त्री बनाया। सन् १६७७ में उन्होंने गोम्मटस्वामीका मस्तकामिषेक कराया।

३ संभव है उस समय श्रीरंगपट्टणमें भी ध्वलादि सिद्धान्त रहे हों और मूडविद्रीमें ही पीछे किसी समय वे ले जाये गये हों। हाल ही मालूम हुआ है कि वहाँ उनकी एक नहीं तीन ताडपत्रोय प्रतियाँ हैं।

हैं। इस कार्यमें उन्होंने बीस हजार द्रव्य उत्साहसे खर्च किया है। ये पुण्यवन्त सात क्षेत्रोंका पोषण करते हैं। पण्डितप्रिय, बहुमानी और सज्जन हैं। प्रति वर्ष माघकी पूर्णोंको गोम्मटस्वामीका एकसौ आठ कलशोंसे पंचामृत अभिषेक करते हैं। बड़ी भारी रथयात्रा होती है। गोम्मटस्वामी श्रीरंगपट्टणसे बारह कोसपर हैं, जो बाहुबलिका लोकप्रसिद्ध नाम है। जैनमतके अनुयायी चामुण्डरायने यह तीर्थ स्थापित किया था। पर्वतके ऊपर अनुमान ६० हाथकी कायोत्सर्ग मुद्रावाली यह मूर्ति है। पास ही बिलगोल (श्रवणबेलगोल) गाँव है। पर्वतपर दो और शेष ग्राममें इक्कीस मिलाकर सब २३ मन्दिर हैं। चन्द्रगुप्तराय (चन्द्रगुप्त बस्ति) नामक मन्दिर भद्रबाहु गुरुके अनशन (समाधिमरण) का स्थान है। गच्छके स्वामीका नाम चारुकीर्ति (भट्टारक पट्टाचार्य) है। उनके अनुयायी श्रावक बहुत धनी और गुणी हैं। देवको सात गाँव लगे हुए हैं, जिनसे सात हजारकी आमदनी है। दक्षिणका यह तीर्थराज कलियुगमें उत्पन्न हुआ है।

इसके आगे कनकगिरि है जिसका विस्तार पाव कोस है और जिसमें चन्द्रप्रभ-स्वामीकी देवी ज्वालामालिनी है।

१ कनकगिरि मलैयूरका प्राचीन नाम है। यह ग्राम मैसूर राज्यके चामराजनगर तालुकमें है। प्राचीन कालमें यह जैन-तीर्थके रूपमें प्रसिद्ध था और एक महत्त्वपूर्ण स्थान गिना जाता था। कलगिरि ग्राममें सरोवरके तटपर शक संवत् ८३१ का एक शिलालेख मिला है जिसमें लिखा है कि परमानदी कोंगुणि वर्माके राज्यमें कनकगिरि तीर्थपर जैन-मन्दिरके लिए श्री कनकसेन भट्टारककी सेवामें दान दिया गया। (देखो मद्रास और मैसूरके प्राचीन जैन-स्मारक।) यहाँ पहले एक जैन मठ भी था, जो अब श्रवणबेलगोलके अन्तर्गत है। कनकगिरिपर वीसों शिलालेख मिले हैं। शक १५९६ के एक लेखमें इसे 'हेमाद्रि' लिखा है जो कनकगिरिका ही पर्यायवाची है। शक सं० १७३५ में यहाँ देशीय गणके अग्रणी और सिद्धसिंहासनेश भट्टकलंकने समाधिपूर्वक स्वर्ग-लाम किया।

१-सन् १४०० (वि० सं० १४५७) के एक शिलालेखसे मालूम होता है कि शुभ-चन्द्रदेवने इस पर्वतपर चन्द्रप्रभस्वामीकी प्रतिमा स्थापित की थी। शीलविजयजीने शायद इन्हीं चन्द्रप्रभस्वामीका उल्लेख किया है। दशभक्त्यादि महाशास्त्रके कर्त्ता मुनि वर्द्धमानने कनका-चल या कनकगिरिके श्रीपादर्वनाथ देवकी स्तुति की है। इससे शायद वहाँके मूल नायक पादर्वनाथ रहे हों।

कनकगिरी ज्वालामालिनी, देवी चन्द्रप्रभस्वामिनी ।

आगे शीलविजय कावेरी नदीको पार करके मलयाचलमें संचार करते हैं और और अंजनगिरि स्थानमें विश्राम लेकर शान्तिनाथको प्रणाम करते हैं। वहाँ चन्दनके वन हैं, हाथी बहुत होते हैं और भारी-भारी सुन्दर वृक्ष हैं। फिर घाट उतरकर कालिकट बन्दर पहुँचते हैं जहाँ श्वेताम्बर मन्दिर हैं और गुज्जर (गुजराती) व्यापारी रहते हैं।

वहाँसे सौ कोसपर सुभरमणी नामका ग्राम है। वहाँके संभवनाथको प्रणाम करता हूँ। फिर गोम्मटस्वामीपुर है, जहाँ सात धनुषकी प्रतिमा है। यहाँसे आगे जैनोका राज्य है। पाँच स्थानोंमें अब भी है। तुल्ल (तुल्लव) देशका बड़ा विस्तार है, लोग जिनाज्ञाके अनुसार आचार पालते हैं।

आगे बदरी नगरी या मूडबिद्रीका वर्णन है। यह नगरी अनुपम है, इसमें उन्नीस मन्दिर हैं। उनमें बड़े-बड़े मंडप हैं, पुरुष-प्रमाण प्रतिमायें हैं। वे सोनेकी हैं और बहुत सुन्दर हैं। चन्द्रप्रभ, आदीश्वर, शान्तीश्वर, पार्श्वके मन्दिर हैं जिनकी श्रावकजन सेवा करते हैं। जिनमती स्त्री राज्य करती है। दिगम्बर साधु हैं।

१-यह अंजनगिरि कुगं (कोडगु) राज्यमें है। इस समय भी वहाँ शान्तिनाथका एक कनडीमिश्रित संस्कृत शिलालेख मिला है, जिसमें लिखा है कि अमिनव चारुकीर्ति पंडितने अंजनगिरिकी शान्तिनाथवस्तीके दर्शन किये और सुवर्णनदीमें पाई हुई शान्तिनाथ और अनन्तनाथकी मूर्तियोंको विराजमान किया।

२-सुभरमणी शायद 'सुब्रह्मण्य' का अपभ्रंश है। यह हिन्दुओंका तीर्थ है। यह तुलुदेशके किनारे पश्चिम घाटके नीचे विद्यमान है।

३-गोम्मटस्वामीपुर शायद वही है जो मैसूरसे पश्चिमकी ओर १६ मीलकी दूरीपर जंगलमें है और जहाँ गोम्मटस्वामीकी १५ हाथ ऊँची प्रतिमा है।

४-यात्रीके कथनानुसार उस समय तुलुदेशमें कई छोटे छोटे राज्य थे। जैसे अजिल, चौट, बंग, मुल आदि।

५-दक्षिण कनाडा जिला तुलुदेश कहलाता है। अब सिर्फ वहाँपर तुलु भाषा बोली जाती है। पहले उत्तर कनाडाका भी कुछ हिस्सा तुलु देशमें गमित था। शीलविजयजीके समय तक भी तुलु देशमें कई जैन राजा थे। कारकलके राजा मैरस ओडियरने जो गोम्पटदेवीके पुत्र थे ई० स० १५८८ से १५९८ तक राज्य किया है। ये जैन थे।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णके आवक हैं। जातियोंका यही व्यवहार है।^१ मिथ्यादेवोंको कोई नहीं मानता। ताड़पत्रोंकी पुस्तकोंका भंडार है, जो ताँबेकी पेटियोंमें रहता है। सात धातुकी, चन्दनकी, माणिक, नीलम, वैडूर्य, हारा और विद्रुम (मूँगा) रत्नोंकी प्रतिमायें हैं। बड़े पुण्यसे इनके दर्शन किये।

आगे कारकल ग्राममें नौपुरुष ऊँची गोम्मटस्वामीकी प्रतिमा है। नेमिनाथके चैत्यमें बहुत-सी रत्न प्रतिमायें हैं। नाभिमल्हार (ऋषभदेव) की चौमुखी मूर्ति है।^२

आगे वरांग ग्राममें नेमिकुमारका मन्दिर है और पर्वतपर साठ मन्दिर हैं^३। इस तरह तुलुव देशका वर्णन आह्लादपूर्वक किया।

आगे लिखा है कि सागर और मलयाचलके बीचमें जैन-राज्य है। वहाँ जिनवरकी झाँकीका प्रसार है। और कितना वर्णन करूँ ? वहाँसे पीछे लौटकर फिर कर्नाटकमें^४ आया, घाट चढ़कर विनुरि^५ आया, जहाँ रानी राज्य करती है जिसके नौ लाख सिपाही हैं। विनुरिमें दो सुन्दर मन्दिरोंकी बन्दना की।

१-नातिगतो अेहज विवहार, मिथ्यादेवतणो परिहार। ८३। 'अेहज' का अर्थ 'यह ही' होता है; परन्तु 'यही व्यवहार' क्या ? सो कुछ स्पष्ट नहीं होता।

२-मद्रास मैसूरके जैन स्मारकके अनुसार कारकलमें चौमुखा मन्दिर छोटी पहाड़ीपर है जिसे शक संवत् १५०८ में बेंगीनगरके राजा इम्मदि भैरवने बनवाया था।

३-कारकलसे तीर्थली जाते हुए वरांग ग्राम पड़ता है। वहाँ विशाल मन्दिर है। इसके पास जंगल और बड़े बड़े पहाड़ हैं। इन पहाड़ोंमेंसे ही किसीपर उस समय साठ मन्दिर रहें होंगे। दशभक्त्यादि महाशास्त्रके कर्त्ता वर्द्धमान मुनिने भी यहाँके नेमिनाथ जिनका उल्लेख किया है।

४-वेणूरके पास कोई घाट नहीं है। संभव है, गंगवाड़ीके पास यात्रीने घाट चढ़ा हो।

५-विनुरि अर्थात् वेणूर। यह मूडविद्रीसे १२ और कारकलसे २४ मील दूर है। यहाँ गोम्मटस्वामीकी २५ हाथ ऊँची मूर्ति है जिसका निर्माण वि० सं० १६६० में हुआ था। यह स्थान गुरुयुर नदीके किनारेपर है।

६ वेणूरमें सन् १६८३ से १७२१ तक अजिलवंशकी रानी पदुमलदेवीका राज्य था, जो जैन थी। नौ लाख सेना अतिशयोक्ति जान पड़ती है।

विनुरिसे फिर हुंरसि आये, जहाँ पार्श्वनाथ और पद्मावती देवी है। वहाँ आसपास अनेक सर्प फिरते रहते हैं पर किसीका परामभव नहीं करते। ऐसे महिमा-धाम और वांछित-काम स्थानकी पूजा की।

फिर लिखा है कि चित्रगढ़, बनोसीगाँव और पवित्र स्थान बंकापुर देखा, जो मनोहर और विस्मयवन्त तीर्थ है—

चित्रगढ़ बनोसी गाम, बंकापुर दीठुं सुमधाम ।

तीरथ मनोहर विस्मयवन्त,.....

आगे यात्रीजीने लक्ष्मेश्वरपुर तीर्थकी एक अपूर्व बात इस तरह लिखी है—

१ हूमच पद्मावती तीर्थ शिमोगा जिलेमें है और तीर्थलीसे १८ मील दूर है। यहाँ भट्टारककी गंधी है। यह जैनमठ आठवीं शताब्दीके लगभग स्थापित हुआ बताया जाता है। इस मठके अधिकारी बड़े बड़े विद्वान् हो गये हैं। पद्मावतीदेवीकी बहुत महिमा बतलाई जाती है।

२—मैसूर राज्यके उत्तरमें चित्तलदुर्ग नामका एक जिला है। चित्रगढ़ शायद यही होगा। यहाँ होयसाल राजवंशकी राजधानी रही है। गढ़ और दुर्ग पर्यायवाची हैं, इसलिए चित्तलदुर्गको चित्तलगढ़ या चित्रगढ़ कहा जा सकता है।

३—बनोसी शायद वनवासीका अपभ्रंश हो। उत्तर कनाड़ा जिलेकी पूर्व सीमापर वनवासी नामका एक गाँव है। इस समय इसकी जनसंख्या दो हजारके लगभग है। परन्तु पूर्वकालमें बहुत बड़ा नगर था और वनवास देशकी राजधानी था। १३ वीं शताब्दी तक यहाँ कदम्ब-वंशकी राजधानी रही है। यहाँके एक जैनमन्दिरमें दूसरीसे बारहवीं शताब्दी तकके शिलालेख हैं।

४ धारवाड़ जिलेका एक कस्बा है। भगवद्गुणभद्राचार्यने अपना उत्तरपुराण इसी बंकापुरमें समाप्त किया था। उस समय यह वनवास देशकी राजधानी था और राष्ट्रकूट नरेश अकालवर्षका सामन्त लोकदित्य यहाँ राज्य करता था। राष्ट्रकूट महाराज अमोघवर्ष (८५१-६९) के सामन्त 'बंकेयरस' ने इसे अपने नामसे बसाया था।

५ लक्ष्मेश्वर धारवाड़ जिलेमें मिरजके पटवर्धनकी जागीरका एक गाँव है। इसका प्राचीन नाम 'पुलिगेरे' है। यहाँ 'शंख-वस्ति' नामका एक विशाल जैनमन्दिर है जिसकी छत ३६ खम्भोंपर थमी हुई है। यात्रीने इसीको 'शंख परमेश्वर' कहा जान पड़ता है। इस शंखवस्तिमें छह शिलालेख प्राप्त हुए हैं। शक संवत् ६५६ के लेखके अनुसार चालुक्य-नरेश विक्रमादित्य (द्वितीय) ने पुलिगेरेकी शंखतीर्थ वस्तीका जीर्णोद्धार कराया

स्वामीके सेवकने अर्थात् किसी यक्षने श्रावकोंसे कहा कि नौ दिन तक एक शङ्खको फूलोंमें रखो और फिर दसवें दिन दर्शन करो। इस पर श्रावकोंने नौ दिन ऐसा ही किया और नवें दिन ही उसे देख लिया और तब उन्होंने शङ्खको प्रतिमारूपमें परिवर्तित पाया परन्तु प्रतिमाके पैर शंखरूप ही रह गये, अर्थात् यह दशवें दिनकी निशानी रह गई। शंखमेंसे नेमिनाथ प्रभु प्रकट हुए और इस प्रकार वे 'शंख परमेश्वर' कहलाये।

इसके बाद शीलविजयजी गदकि^१ रायहुवेली^२, और रामरायके^३ लोकप्रसिद्ध बीजानगरमें^४ होते हुए ही बीजापुर आते हैं। बीजापुरमें शान्ति जिनेन्द्र और पद्मावतीके दर्शन किये। यहाँके श्रावक बहुत धनी गुणी और मणियोंके व्यापारी हैं। इंदलशाहका बलवान् राज्य है, जो बड़ा प्रजा-पालक है और जिसकी सेनामें दो लाख सिपाही हैं।

और जिनपूजाके लिए भूमि दान की। इससे मालूम होता है कि उक्त वस्ति इससे भी प्राचीन है। हमारा अनुमान है कि अतिशय क्षेत्रकाण्डमें कहे हुए शंखदेवका स्थान यही है—

पासं सिरपुरि बंदमि होलगिरी संखदेवमिमि।

जान पड़ता है कि लेखकोंकी अज्ञानतासे 'पुल्लिगेरि' ही किसी तरह 'होलगिरि' हो गया है। उक्त पंक्तिके पूर्वार्धका सिरपुर (श्रीपुर) भी इसी धारवाड़ जिलेका शिरूर गाँव है जहाँका शक संवत् ७८७ का एक शिलालेख (इंडियन ए० भाग १२, पृ० २१६) प्रकाशित हुआ है। स्वामी विद्यानन्दका श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र संभवतः इसी श्रीपुरके पार्श्वनाथको लक्ष्य करके रचा गया होगा।

१—धारवाड़ जिलेकी गदग तहसील। २—हुबली जिला वेलगाँव।

३—४ विजयनगरका साम्राज्य तालीकोटकी लड़ाईमें सन् १५६५ में मुसलमानों द्वारा नष्ट हो गया और रामरायका वध किया गया। यह वहाँका अन्तिम हिन्दू राजा था। इसके समयमें यह साम्राज्य उन्नतिके शिखरपर था। यात्रीके समयके कुछ बरसों बाद पेद्दा विजय रामरायने पोतनूरसे राजधानी हटाकर विजयनगरमें स्थापित की थी।

५—सन् १६८३ के लगभग जब शीलविजयजीने यह यात्रा की थी, बीजापुरकी आदिल-शाही दुर्दशाग्रस्त थी। उस समय अली आदिलशाह (दि०) का बेटा सिकन्दर आदिलशाह बादशाह था। औरङ्गजेबकी चढ़ाईयाँ हो रही थीं। १६८४ में शाहजादा आजमशाहको उसने बीजापुरकी चढ़ाईपर भेजा था। १६८६ में सिकन्दर कैद हो गया और १६८९ में उसकी मृत्यु हो गई।

आगे करहिडा और कलिकुंड पार्श्वनाथके विषयमें लिखा है कि उनकी महिमा आज भी अखंड है। दिवालीके दिन ब्रह्मादिक सारे देव आकर प्रणाम करते हैं !

इसके बाद कुछ स्थानोंके नाम-मात्र दिये हैं—चारणगिरि, नवनिधि^१, रायबाग, हुकेरी^२। इस तरफ पंचम, वणिक, छीपी^३, कंसार, वणकर और चतुर्थ जातिके श्रावक हैं। ये सभी दिगम्बरी हैं, पर एक साथ भोजन नहीं करते। शिवाजीके मराठा राज्यके अधीन हैं। तुलजा देवीकी^४ सेवा करनेवाले लोग बहुत हैं।

फिर स्याहगढ़, मूरी पईठाणके^५ नाम-मात्र हैं। पईठाणमें वाण गंगाके किनारे जीवित स्वामी मुनिसुव्रतकी प्रतिमा प्रकट हुई। यहाँ सिद्धसेन दिवाकर और हरिभद्रसूरि हुए। कविजनोंकी माता भारती भद्रकाली देवी दीपती हैं।

आगे किसनेर,^६ दौलताबाद, देवगिरि, औरङ्गाबादके नाम-मात्र देकर इलेरिके^७ विषयमें लिखा है कि देखकर हृदय उल्लसित हो गया। इसे विश्व-कर्मने बनाया है। फिर इमदानगरि,^८ नासिक, त्र्यंबक, और तुङ्गगिरिका उल्लेखमात्र करके दक्षिण यात्रा समाप्त कर दी है^९—

‘दक्षिण दिसिनी बोली कथा, निसुणी दीठी जे मि यथा।’

१—जान षड्ता है ‘नवनिधि’ पाठ भूलसे छप गया है। ‘तवनिधि’ होगा। यह तवनिधि तीर्थ है जो बेलगाँवसे ३८ और निपाणीसे ३ मील है। ६० म० जैनसभाके जलसे अक्सर यहीं होते हैं। २—कोल्हापुर राज्यके एक जिलेका सदर मुकाम। ३—बेलगाँव जिलेकी चिकोडी तहसीलका एक कस्बा। ४—शिंपी या दर्जी। ५ बुननेवाले।

६ शोलापुरसे २८ मीलकी दूरीपर तुलजापुर नामका कस्बा है, उसके पास पहाड़की तलैटीमें तुलजादेवीका मन्दिर है। वहाँ हर साल बड़ा भारी मेला लगता है।

७ प्राचीन प्रतिष्ठानपुर और वर्तमान पैठण निजाम राज्यके औरङ्गाबाद जिलेकी एक तहसील है। विविध तीर्थकल्पके अनुसार यहाँ ‘जीवंतसामि मुणिसुब्बय’ की प्रतिमा थी। ८ औरङ्गाबादके पासका ‘कचनेर’ नामका अतिशय क्षेत्र। ९ एलोर या एलोरके गुफा-मन्दिर। १० अहमदनगर।

११ पं० के० मुजवलि शास्त्रीने इस लेखके कई स्थानोंका पता लगानेमें सहायता देनेकी कृपा की है।

तीर्थोंके झगड़ोंपर ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार

१—पूर्व कालके तीर्थक्षेत्रों और वर्तमानके तीर्थोंमें जमीन आसमानका अन्तर पड़ गया है। साधारण लोग तो उस अन्तरकी कल्पना भी नहीं कर सकते। शत्रुजय और सोनागिरि पर्वत इस समय जिस तरह नीचेसे ऊपर तक मन्दिरोंसे ढँक गये हैं, पहले इनकी यह दशा नहीं थी। ये सब मन्दिर बहुत ही अर्वाचीन हैं। जिस तरह अनेक तीर्थोंपर इस समय भी एक एक दो दो मन्दिर ही देखे जाते हैं, उसी तरह पहले सभी तीर्थोंपर थे। पहले इन पर्वतोंपर बहुत करके चरणचिह्नोंकी ही स्थापना थी। उन्हींकी सब लोग भक्तिभावसे पूजा वन्दना करते थे; और इस कारण जुदा जुदा सम्प्रदायोंके बीच झगड़का कोई कारण ही उपस्थित न होता था। दिगम्बर-श्वेताम्बर ही क्यों, दूसरे भावुक अजैनोंको भी अपनी श्रद्धा भक्ति चरितार्थ करनेके लिए वहाँ कोई रुकावट नहीं थी।

२—प्रायः जितने जैन तीर्थ हैं, वे सब विपुलजनाकीर्ण नगरों और सब प्रकारके कोलाहलोंसे दूर, ऊँचे पर्वतों और वनोंके बीच स्थापित हैं। जैन धर्मकी प्रकृति ही ऐसी है कि वह संसारके कोलाहलोंसे दूर, निर्जन और शान्त स्थानोंमें रहनेकी प्रेरणा करती है। मुनि और साधुजन ऐसे ही स्थानोंको पसन्द करते थे और उन्हींकी स्मृतिकी रक्षाके लिए स्मारकस्वरूप ये सब तीर्थ स्थापित हुए थे।

३—इन स्मारकोंके दर्शन करनेके लिए और अपने भक्तिभावोंको चरितार्थ करनेके लिए बहुत दूर दूरके भक्तजन आया करते थे; परन्तु फिर भी किसीके द्वारा इन स्थानोंकी एकान्त शान्तता नष्ट करनेका प्रयत्न नहीं किया जाता था; क्योंकि इन एकान्त स्थानोंमें संसार-त्यागी और शान्ति-प्रयासी साधुजन ही रहते थे। गृहस्थजन इन बातोंको जानते थे और इस कारण वे भक्तिपूरित होनेपर भी तीर्थोंकी इस शान्तिमें बाधा डालना उचित नहीं समझते थे।

४—परन्तु आगे यह बात न रही। साधुजन स्वयं ही वनोंको छोड़कर गाँवोंके समीप आकर रहने लगे और गृहस्थोंके साथ उनका सम्पर्क बढ़ने लगा। धीरे

धीरे चैत्यवासकी जड़ जमी और अन्तमें मुनिमार्ग शिथिल होकर चैत्यवासी या मठवासी भट्टारकों और महन्तोंके रूपमें परिणत हो गया। साधुओंकी इस शिथिलताने चैत्यों और मन्दिरोंका प्रभाव बहुत बढ़ा दिया और जैनधर्मकी प्रभावनाका सबसे बड़ा द्वार यही बन गया। भगवान समन्तभद्रके प्रभावनाङ्गके इस श्रेष्ठ लक्षणको लोग एक तरहसे भूल ही गये कि “अज्ञानांधकारको जैसे बने, वैसे हटाकर जैनशासनके माहात्म्यको प्रकट करना ही सच्ची प्रभावना है।” इसके बदलेमें यह उपदेश दिया जाने लगा कि “बिम्बाफलके बराबर मन्दिर बनाकर उसमें जौके दानेके बराबर भी प्रतिमा स्थापन करनेवाले गृहस्थके पुण्यका वर्णन नहीं हो सकता।” इसका फल यह हुआ कि मन्दिरों और प्रतिमाओंके बनवाने और स्थापन करानेका लोगोंपर एक प्रकारका खन्त सवार हो गया। लोग आँख बन्द करके इसी कामकी ओर झुक पड़े। इतिहास साक्षी है कि पिछले ५००-६०० वर्षोंमें जैनसम्प्रदायके अनुयायियोंने अपने धर्मके नामसे यदि कुछ किया है तो वह मन्दिरों और प्रतिमाओंका निर्माण ही किया है।

५—ये चैत्यवासी और मठवासी साधु दोनों ही सम्प्रदायोंमें हो गये थे; बल्कि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें तो यह शिथिलता शायद और भी पहले प्रविष्ट हो गई थी। इन साधुजनोंके उपदेशसे तीर्थोंमें भी मन्दिर बनाये जाने लगे और नये नये तीर्थ अतिशयक्षेत्र आदि नामोंसे स्थापित होने लगे। इन मन्दिरों और तीर्थोंके व्यय-निर्वाहके लिए धन-संग्रह किया जाने लगा, धन-संग्रह करनेकी नई नई तरकीबें निकाली गईं और प्रबन्धके लिए कोठियाँ खोल दी गईं। बहुत-सी कोठियोंकी मालिकी भी धीरे धीरे भट्टारकों और महन्तोंके अधिकारमें आ गई और अन्तमें उसने एक प्रकारसे धार्मिक दूकानदारीका रूप धारण कर लिया। यदि इस बीचमें दिगम्बर सम्प्रदायमें तेरह पंथका और श्वेताम्बर सम्प्रदायमें विधिमार्ग या संवेगी

१—अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम् ।

जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥

२—बिम्बाफलोन्नतियवोन्नतिमेव भक्त्या

ये कारयन्ति जिनसद्भाजिनाकृतिं वा ।

पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्ता

स्तोतुं परस्य किमु कारयितुर्द्वयस्य ॥

साधुओंका उदय न होता तो यह दूकानदारी कौन-सा रूप धारण कर लेती, इसकी कल्पना करना भी कठिन है ।

६—यह सब हो गया था, तो भी तीर्थोंके लिए दिगम्बरी और श्वेताम्बरी झगड़ोंका सूत्रपात नहीं हुआ था । क्योंकि एक तो पहले तीर्थोंपर तीर्थकरों या सिद्धोंके चरणोंकी पूजा होती थी और वे चरण दोनोंको समान रूपसे पूज्य थे । दूसरे इस बातके भी प्रमाण मिलते हैं कि प्राचीन कालमें दिगम्बरी और श्वेताम्बरी प्रतिमाओंमें कोई भेद न था । दोनों ही नम्र प्रतिमाओंको पूजते थे । श्रद्धेय मुनि जिनविजयजीने (जैनहितैषी भाग १३, अंक ६) में लिखा है कि मथुराके कंकाली टीलमें जो लगभग दो हजार वर्षकी प्राचीन प्रतिमाएँ मिली हैं, वे नम्र हैं और उनपर जो लेख हैं, वे श्वेताम्बर कल्पसूत्रकी स्थविरावलीके अनुसार हैं । इसके सिवा १७ वीं शताब्दीमें श्वेताम्बर विद्वान्, पं० धर्मसागर उपाध्यायने अपने ' प्रवचन-परीक्षा ' नामक ग्रन्थमें लिखा है कि " गिरनार और शत्रुंजयपर एक समय दोनों सम्प्रदायोंमें झगड़ा हुआ, और उसमें शासन-देवताकी कृपासे दिगम्बरोंका पराजय हुआ । जब इन दोनों तीर्थोंपर श्वेताम्बर सम्प्रदायका अधिकार सिद्ध हो गया, तब आगे किसी प्रकारका झगड़ा न हो सके, इसके लिए श्वेताम्बर संघने यह निश्चय किया कि अबसे जो नई प्रतिमाएँ बनवाई जायँ, उनके पाद-मूलमें वस्त्रका चिह्न बना दिया जाय । यह सुनकर दिगम्बरियोंको क्रोध आ गया और उन्होंने अपनी प्रतिमाओंको स्पष्ट नम्र बनाना शुरू कर दिया । यही कारण है कि संप्रति राजा (अशोकके पौत्र) आदिकी बनवाई हुई प्रतिमाओंपर वस्त्र-लांछन नहीं है और आधुनिक प्रतिमाओंपर है । पूर्वकी प्रतिमाओंपर वस्त्र-लांछन भी नहीं है और स्पष्ट नम्रत्व भी नहीं है । " इससे कमसे कम यह बात अच्छी तरह सिद्ध होती है कि पूर्वोक्त विवादके पहले दोनोंकी प्रतिमाओंमें भेद नहीं था और इस कारण दोनों एकत्र होकर अपनी उपासना-वृत्तिको चरितार्थ करते थे । उस समय तक लड़ने-झगड़नेका कोई कारण ही नहीं था । परन्तु अब तो दोनोंकी प्रतिमाओं और उपासना-विधिमें इतना अन्तर पड़ गया है कि उसपर विचार करनेसे आश्चर्य होता है । पाठक यह जानकर आश्चर्य करेंगे कि गुजरातके कई प्रसिद्ध शहरोंमें जिनेन्द्र भगवानके विम्ब आज-कलकी फेशनके वस्त्राभूषण पहनते हैं । वीतराग भगवानकी उनके भक्तोंद्वारा इससे अधिक विडम्बना और क्या हो सकती है ?

७—श्वेताम्बराचार्य रत्नमण्डनगणिकृत सुकृतसागर नामक ग्रन्थके—‘पेथड़-तीर्थयात्राद्वय-प्रबन्ध’ में जो कुछ लिखा है उसका सारांश यह है कि “सुप्रसिद्ध दानी पेथड़शाह शत्रुंजयकी यात्रा करके संघसहित गिरिनारमें पहुँचे। उनके पहले वहाँ दिगम्बर संघ आया हुआ था। उस संघका स्वामी पूर्ण (चन्द्र) नामका अग्रवालवंशी धनिक था। वह देहलीका रहनेवाला था। उसे ‘अलाउद्दीन-शाखीनमान्य’ विशेषण दिया है जिससे मालूम होता है कि वह कोई राजमान्य पुरुष था। उसने कहा कि पर्वतपर पहले हमारा संघ चढ़ेगा; क्योंकि एक तो हम लोग पहले आये हैं और दूसरे यह तीर्थ भी हमारा है। यदि यह तीर्थ तुम्हारा है, तो इसका सुबूत पेश करो। यदि भगवान् नेमिनाथकी प्रतिमापर अंचलिका और कटि-सूत्र प्रकट हो जाय, तो हम इसे तुम्हारा तीर्थ मान लेंगे। भगवान् भव्य जनोके दिथे हुए आभरण सहन नहीं कर सकते, इसलिए इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह तीर्थ हमारा है। इसपर श्वेताम्बरीय पेथड़शाह बोले कि भगवान् आभरणादि सहन नहीं कर सकते, इसका कारण यह है कि उनकी कीर्ति बारह योजन तक फैली हुई है। आमके वृक्षपर तोरणकी और लंकामें लहरोंकी चाह नहीं होती। जिस तरह फलोधी (मारवाड़) में प्रतिमाधिष्ठित देव आभूषणापहारक हैं, उसी तरह यहाँ भी हैं। यदि यह तीर्थ तुम्हारा है, तो शैवोंका भी हो सकता है, क्योंकि यह पर्वत लिंगाकार है और गिरि-चरि-धारक है। इस तरह वादविवाद हो रहा था कि कुछ वृद्धजनोंने आकर कहा, अभी तो इस झगड़ेको छोड़ दो और यात्राको चलो। वहाँ इन्द्रमाला (फूलमाल) लेते समय इसका निर्णय हो जायगा। उस मालाको जो सबसे ज्यादा धन देकर ले सकेगा, यह तीर्थ उसीका सिद्ध हो जायगा। निदान दोनों संघ पर्वतपर गये और दोनोंने अभिषेक, पूजन, ध्वजारोपण, नृत्य, स्तुत्यादि कृत्य किये। इसके बाद जब इन्द्रमालाका समय आया तब श्वेताम्बर भगवानके दाहिने ओर और दिगम्बर बाईं ओर बैठ गये। इसीसे निश्चय हो गया कि कौन हारेगा और कौन जीतेगा! इन्द्रमालाकी बोली होने लगी। एक दूसरेसे अधिक बढ़ते बढ़ते अन्तमें श्वेताम्बरोंने ५६ घड़ी (पंसेरी) सोना देकर माला लेनेका प्रस्ताव किया। दिगम्बरी अभीतक तो बराबर बढ़ जाते थे; परन्तु अब वे घबराये और सलाह करने लगे। उन्होंने अपने संघपतिसे कहा—

छुण्टितैरिव भूत्वा च फलं किं तीर्थवालेन ।

इमं न हि समादाय शैलेशं यास्यते गृहे ॥

अर्थात् इस तरह लुटकर तीर्थ लेनेसे क्या लाभ होगा ? क्या इस पर्वतराजको उठाकर घर ले चलना है ? अन्तमें पूर्णचन्द्रजीने कह दिया कि आप ही माला पहन लीजिए । इससे दिगम्बरी मुरझा गये और अपना-सा मुँह लिये यात्रा करके नीचे उतर गये । ”

यह कथा यद्यपि श्वेताम्बरियोंकी धनाढ्यता, उदारता और गिरिनारपर श्वेताम्बराधिकार सिद्ध करनेके मुख्य अभिप्रायसे लिखी गई है, तो भी इसमें बहुत कुछ ऐतिहासिक सत्य जान पड़ता है; और यह बात अनायास ही सिद्ध हो जाती है कि उस समय दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों एक ही मन्दिरमें उपासना करते थे और इन्द्रमालाकी बोली दोनोंके समूहके बीच बोली जाती थी । इसके सिवा यह भी मालूम होता है कि उस समय गिरिनारकी मूलनायक नेमिनाथकी प्रतिमा आभूषणोंसे सुसज्जित और कटि-सूत्र तथा अंचलिकासे भी लांछित नहीं थी । इसी तरह उदाहरणके तौर पर जो फलोधी तीर्थकी प्रतिमाओंके विषयमें कहा है कि वहाँका प्रतिमाधिष्ठित देव भूषणापहारक है, सो जान पड़ता है कि वहाँ भी उस समय (कमसे कम रत्नमंडन गणिके समयमें) प्रतिमाओंको आभूषणादि नहीं पहनाये जाते थे । वीतराग प्रतिमाओंकी ये सब विडम्बनाएँ बहुत पीछे की गई हैं ।

८—श्रीरत्नमन्दिरगणिकृत उपदेश-तरंगिणी (पृ० १४८) में लिखा है—

“ सुराष्ट्र देशके गोमण्डल (गोंडल) नामक गाँवके निवासी धाराक नामके संघपति थे । उनके ७ पुत्र, ७०० योद्धा, १३०० गाड़ियाँ और १३ करोड़ अश्वरियाँ थीं । वे शत्रुंजयकी यात्रा करके जब गिरिनार तीर्थकी यात्राको गये जो कि ५० वर्षसे दिगम्बरोंके अधिकारमें था, तब वहाँ उन्हें खज्जार नामक किलेदारसे लड़ना पड़ा और उसमें उनके सातों पुत्र और सारे योद्धा मारे गये । उसी समय जब उन्होंने सुना कि गोपगिरि अर्थात् ग्वालियरके राजा आम हैं और उन्हें वप्पभट्टि नामक श्वेताम्बराचार्यने प्रतिबोधित कर रक्खा है, तब वे ग्वालियर आये । उस समय वप्पभट्टिका व्याख्यान हो रहा था । स्वयं राजा और आठ श्रावक बैठे सुन रहे थे । धाराकने दिगम्बराधिकृत गिरिनार तीर्थकी हालत सुनाई । गुरुने भी तीर्थकी महिमाका वर्णन किया । इसपर आम राजा प्रतिज्ञा कर बैठे कि गिरिनारके नेमिनाथकी वन्दना किये बिना मैं भोजन ग्रहण नहीं करूँगा ।

एक हजार श्रावकोंने भी यही प्रतिज्ञा की। तब राजा एक बड़े भारी संघके साथ चल पड़े। बत्तीस उपवास करके स्तंभ-तीर्थ अर्थात् खंभातमें पहुँचे। राजाका शरीर बहुत खिन्न हो गया था। यह देखकर गुरुने अम्बिकाको बुलाया और उसके द्वारा अपापमठ (?) से एक प्रतिमा मँगवा ली। उसके दर्शन करके राजा प्रतिज्ञामुक्त हो गये! इसके बाद एक महीने तक दिगम्बरियोंसे विवाद हुआ और अन्तमें अम्बिकाने 'उज्जितसेलसिहरे' आदि गाथाएँ कहकर विवादकी समाप्ति कर दी। (इन गाथाओंमें यह कहा गया है कि जो स्त्रियोंकी मुक्ति मानता है, वही सच्चा जैन मार्ग है और उसीका यह तीर्थ है।) इस तरह तीर्थ लेकर, दिगम्बर-श्वेताम्बरोंकी प्रतिमाओंमें नशावस्था और अञ्चलिकाका भेद कर दिया।”

उक्त अवतरणसे दो बातें मालूम होती हैं। एक तो यह कि पहले दोनोंकी प्रतिमाओंमें कोई भेद नहीं था; और दूसरी यह कि इस घटनाके पहले गिरनार-पर ५० वर्षसे दिगम्बरियोंका अधिकार था।

९—इसी उपदेशतरङ्गिणी (पृष्ठ २४७) में वस्तुपाल मंत्रीके संघका वर्णन है जो उन्होंने सं० १२८५ में निकाला था। उसमें २४ दन्तमय देवालय, १२० काष्ठ देवालय, ४५०० गाड़ियाँ, १८०० डोलियाँ, ७०० सुखासन, ५०० पालकियाँ, ७०० आचार्य, २००० श्वेताम्बर साधु, ११०० दिगम्बर, १९०० श्रीकरी, (?) ४००० घोड़े, २००० ऊँट और ७ लाख मनुष्य थे। यद्यपि यह वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण है, तो भी इससे यह मालूम होता है कि उस समय

१ “सुराध्याया गोमण्डलग्रामवास्तव्यः सप्तपुत्रः सप्तशतसुभटः १३ शतशकटसंघः १३ कोटिस्वर्णपतिः सं० धाराकः श्रीशत्रुंजययात्रां कृत्वा ५० वर्षावधि दिगम्बराधिष्ठितरैवत-यात्रावसरे खङ्गारदुर्गपसैन्यैः सह युद्धे ७ पुत्र ७ सुभटक्षये श्रीवप्पमट्टिप्रतिबोधितं गोपगिरौ श्रीआमभूपतिं ज्ञात्वा तस्यामनृपस्य सूरिपार्श्वे व्याख्यानोपविष्टाष्टश्राद्धैः समं सं० धाराकः समागतः। तेन दिगम्बरगृहीततीर्थस्वरूपं कथितम्। गुरुभिस्तन्महिमोक्तौ आमनृपेण गिरिनारनेमिवन्दनं विना भोजनाभिग्रहो गृहीतस्ततः संघश्चाल। १ लक्षं पोष्टिकानाम् लक्षं तुरंगमाणाम्, ७ शतानि गजानान्, विंशतिसहस्राणि श्रावककुलानाम्, ३२ उपवासैः स्तम्भतीर्थे प्राप्तः। राज्ञः शरीरं खिन्नम्। गुरुभिरम्बिकां प्रत्यक्षीकृत्य अपापमठात् प्रतिभैका आनीता। नृपाभिग्रहो मुक्कलोजातः। मासमेकं दिगम्बरैः सह वादः, पश्चादम्बिकया 'उज्जित सैलसिहरे' ति गाथया विवादो भग्नः तीर्थं लत्वा दिगम्बरश्वेताम्बरजिनाचीनां नशावस्थाञ्चलिकाकरणेन विभेदः कृतः। इति यात्रोपदेशः।”

तीर्थ-यात्रा, पूजनाचा आदि कार्य्योंमें दिगम्बरोँ और श्वेताम्बरोँमें इतनी विभिन्नता नहीं थी, जितनी कि अब है और इसी कारण इस संघमें श्वेताम्बरियोंके साथ ११०० दिगम्बर भी गये थे । दोनोंमें आजकलके समान वैर-भाव नहीं था और दिगम्बर-श्वेताम्बरोँकी मूर्तियोंमें भी कोई अन्तर नहीं था । यदि अन्तर होता तो वस्तुपालने दिगम्बरियोंके लिए दिगम्बर देवाल्योंकी भी व्यवस्था की होती और उनकी भी संख्या दी होती । जब कि दोनोंके तीर्थ एक थे, एक ही तरहकी मूर्तियोंको पूजते थे, तब यह स्वाभाविक है कि तीर्थ-यात्राके संघ निकालनेवाले दोनोंको साथ लेकर चलें ।

१० — जान पड़ता है, गिरिनार पर्वतपर दिगम्बरोँ और श्वेताम्बरोँके वह विवाद कभी न कभी अवश्य हुआ है जिसका उल्लेख धर्मसागर उपाध्यायने किया है । यह कोई ऐतिहासिक घटना अवश्य है; क्योंकि इसका उल्लेख दिगम्बर साहित्यमें भी एक दूसरे ही रूपमें मिलता है । नन्दिसंघकी गुर्वावलीमें लिखा है—

पद्मनन्दी गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी ।

पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती ॥ ३६ ॥

उज्जयन्तगिरौ तेन गच्छः सारस्वतो भवेत् ।

अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्रीपद्मनन्दिने ॥ ३७ ॥

और भी कई जगह इस घटनाका जिक्र है कि गिरिनारपर दिगम्बरोँ और श्वेताम्बरोँका शास्त्रार्थ हुआ था और उसमें सरस्वतीकी मूर्तिमेंसे ये शब्द निकलनेसे कि सत्य मार्ग दिगम्बरोँका है, श्वेताम्बर पराजित हो गये थे । इस सरस्वतीकी मूर्तिको वाचाल करनेवाले पद्मनन्दि भट्टारक थे जिनका समय उक्त गुर्वावलीमें विक्रम संवत् १३८५ से १४५० लिखा है । इनके शिष्य शुभचन्द्र और

१—आचार्य कुन्दकुन्दका भी एक नाम पद्मनन्दि है; अतएव पीछेके लेखकोंने इस शास्त्रार्थ और विजयका मुकुट कुन्दकुन्दको भी पहना दिया है; परन्तु यह बड़ा भारी भ्रम है । ये पद्मनन्दि १४ वीं शताब्दिके एक भट्टारक हैं ।

२—कविवर वृन्दावनजीने लिखा है—

सघसहित श्रीकुन्दकुन्द गुरु, बन्दन हेत गए गिरिनार,
वाद पर्यौ तहँ संशयमतिषों, साखी बदी अंबिकाकार ।
'सत्यपन्थ निर्ग्रथ दिगम्बर' कही सुरी तहँ प्रगट पुकार,
सो गुरुदेव बसौ उर मेरे, विघन-हरन मंगल-करतार ॥

प्रशिष्य जिनचन्द्र थे। श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें यही घटना इस रूपमें वर्णित है कि अम्बिकादेवीने श्वेताम्बरोंकी विजय यह कहकर कराई थी कि जिस मार्गमें स्त्रीको मोक्ष माना है, वही सच्चा है। जीत चाहे किसीकी हुई हो,—क्योंकि शास्त्रार्थोंमें तो हम आजकल भी यही देखते हैं कि दोनों ही पक्षवाले अपनी अपनी जीतका ढिंढोरा पीटा करते हैं—परन्तु ऐसा मालूम होता है कि उक्त विवाद हुआ था और उसी समयसे दिगम्बरों और श्वेताम्बरोंमें विद्वेषका वह बीज विशेष रूपसे बोया गया जिससे आगे चलकर बड़े बड़े विषयमय फल उत्पन्न हुए। पिछले दिगम्बर-श्वेताम्बर साहित्यका परिश्रमपूर्वक परिशीलन करनेसे इस घटनाका निश्चित समय भी मालूम हो सकता है; और हमारा अनुमान है कि दोनों ओरके प्रमाणोंसे वह समय एक ही ठहरेगा।

११—मुग़ल बादशाह अकबरके समयमें हीरविजय सूरि नामके एक सुप्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य हुए हैं। अकबर उन्हें गुरुवत् मानता था। संस्कृत और गुजरातीमें उनके सम्बन्धमें बीसों ग्रन्थ लिखे गये हैं। इन ग्रन्थोंमें लिखा है कि “हीर-विजयजीने मथुरासे लौटते हुए गोपाचल (ग्वालियर) की बावन-गंजी भग्न्यकृति मूर्तिके दर्शन किये।” और यह मूर्ति दिगम्बर सम्प्रदायकी है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इससे मालूम होता है कि बादशाह अकबरके समय तक भी दोनों सम्प्रदायोंमें मूर्ति-सम्बन्धी विरोध तीव्र नहीं था। उस समय श्वेताम्बर सम्प्रदायके आचार्य तक नम्र मूर्तियोंके दर्शन किया करते थे।

१२—तपागच्छके श्वेताम्बर मुनि शीलविजयजीने वि० सं० १७३१-३२ में दक्षिणके तमाम जैन तीर्थोंकी वन्दना की थी जिसका वर्णन उन्होंने अपनी तीर्थ माला (गुजराती) में किया है^२। उससे मालूम होता है कि उन्होंने जैनबद्री, मूडबिद्री, कारकल, हूमच-पद्मावती आदि तमाम दिगम्बर तीर्थों और दूसरे मन्दिरोंकी भक्तिभावसे वन्दना की थी। बड़े उत्साहसे वे प्रत्येक स्थानकी ओर मूर्तियोंकी प्रशंसा करते देखे जाते हैं। इससे भी मालूम होता है कि उस समय भी

१ पूर्वोक्त पद्मनन्दिनी ही शिष्यपरम्परामें एक पद्मनन्दि भट्टारक और हुए हैं जिन्होंने शत्रुंजय पर्वतके दिगम्बर मन्दिरकी प्रतिष्ठा संवत् १६८६ में कराई थी।—देखो जैनमित्र भाग २२, अंक १५।

२ देखो, ‘दक्षिणके तीर्थक्षेत्र’ शीर्षक लेख पृ० २२३-२८

श्वेताम्बर साधु नग्नमूर्तियोंको बुरी दृष्टिसे नहीं देखते थे और उनका अपने सम्प्रदायकी मूर्तियोंके ही समान आदर करते थे ।

१३—ऐसा मालूम होता है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर प्रतिमाओंमें भेद हो जानेके बाद भी बहुत समय तक दिगम्बरों और श्वेताम्बरोंमें मित्रता बनी रही है । बहुत समय तक इस खयालके लोग भी दोनों सम्प्रदायोंमें बने रहे हैं कि एक दूसरेके धर्म-कार्योंमें बाधा नहीं डालनी चाहिए और दोनोंको अपने अपने विश्वासके अनुसार पूजा अर्चा करने देना ही सज्जनता है । अनुसन्धान करनेसे इसके भी अनेक प्रमाण मिल सकते हैं ।

क—शत्रुंजय और आवूके पर्वतोंपर श्वेताम्बर मन्दिरोंके बीचों बीच दिगम्बर मन्दिरोंका आस्तित्व अब भी इस बातकी साक्षी दे रहा है कि उस समयके वैभव-सम्पन्न और समर्थ श्वेताम्बरी भी यह नहीं चाहते थे कि इन तीर्थोंपर हम ही हम रहें, दिगम्बरी नहीं आने पावें ।

ख—गन्धार (भरौच) एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था । वहाँ एक पुराना दिगम्बर मन्दिर था । जब वह गिर गया और उसकी जगह नया श्वेताम्बर मन्दिर बनवाया गया, तब वहाँके श्वेताम्बर भाइयोंने दिगम्बर प्रतिमाओंको एक जुदा देवकुलिका (देवली) में स्थापित कर दिया । यह देवकुलिका अब भी मौजूद है ।

ग—बिहार शरीफमें अबसे कोई ३० वर्ष पहले एक जैन मन्दिर हमने स्वयं देखा है जिसके अधिकारी श्वेताम्बर हैं । उसमें एक ओर दिगम्बरी वेदिका भी है और उसमें जो मूर्तियाँ हैं, उनका दर्शन पूजन दिगम्बरी भाई किया करते हैं ।

घ—ओरिएण्टल कालेज लाहौरके प्रो० बनारसीदास जी एम० ए० से कुछ समय पहले मालूम हुआ था कि लाहौरके एक जैनमन्दिरमें दोनों सम्प्रदायोंकी मूर्तियाँ दो पृथक् पृथक् वेदिकाओंमें थीं और कुछ ही वर्ष हुए अब दोनोंके बीचमें दीवार चिनवा दी गई है ।

ङ—पूना शहरमें एक ही अहातेके भीतर दिगम्बर और श्वेताम्बर मन्दिर अब तक हैं ।

च—ग्वालियर राज्यके शिवपुरकलौ नामक स्थानमें एक दिगम्बर मन्दिर ऐसा है जिसमें ७-८ श्वेताम्बर मूर्तियाँ हैं और एक श्वेताम्बर मन्दिर ऐसा है जिसमें ७-८ दिगम्बरी मूर्तियाँ हैं । पहले दोनों मन्दिरोंमें दोनों सम्प्रदायके लोग जाते थे; परन्तु अब केवल भादों सुदी १० को धूप खेनेके लिए जाया करते हैं ।

छ—यापनीयसंघ दिगम्बर श्वेताम्बरोंके अतिरिक्त एक तीसरा ही जैन-सम्प्रदाय था। सिद्धान्त-दृष्टिसे यह श्वेताम्बर सम्प्रदायसे अधिक मिलता जुलता था, परन्तु इस संघके अनुयायी नग्न मूर्तियोंकी ही स्थापना—पूजा किया करते थे। यह संघ अब लुप्त हो गया है परन्तु दक्षिणमें अनेक स्थानोंमें अब भी इस संघकी नग्न मूर्तियाँ मिलती हैं। बेलगाँवके 'दोड्डुवस्ति' नामक जैन-मन्दिरमें नेमिनाथ तीर्थंकरकी एक मूर्ति है, जिसे यापनीय संघके एक श्रावकने श० सं० ९३५ में प्रतिष्ठित कराई थी। यह मूर्ति नग्न है और इसे अब दिगम्बर श्रावक ही पूजते हैं। इससे भी यही अनुमान होता है कि पहले श्वेताम्बर सम्प्रदायकी प्रतिमायें भी नग्न बनाई जाती होंगी। जैन साधुओंके लिए वस्त्र-धारणका सर्वथा निषेध यापनीय सम्प्रदायमें भी नहीं था और श्वेताम्बर सम्प्रदायके समान स्त्री मुक्ति और केवलि-भुक्तिको भी वह मानता था।

१४—अकसर दिगम्बरी भाइयोंकी ओरसे यह अक्षेप किया जाता है कि श्वेताम्बरी भाई दिगम्बरी मन्दिरों और प्रतिमाओंपर अधिकार कर लिया करते हैं; और यही आक्षेप श्वेताम्बरियोंकी ओरसे दिगम्बरियोंपर किया जाता है। यह आक्षेप बहुत अंशोंमें सच्चा है; परन्तु इस आक्षेपके पात्र दोनों ही सम्प्रदायवाले हैं। इस विषयमें कोई भी सम्प्रदाय निर्दोष नहीं है। सम्प्रदाय-मोह चीज ही ऐसी है कि वह भिन्न सम्प्रदायवालोंके साथ उदारताका व्यवहार करनेमें संकुचित हुए बिना नहीं रह सकता। इसके सम्बन्धमें भी अनेक उदाहरण मिल सकते हैं—

क—श्रद्धेय मुनि जिनविजयजीसे मालूम हुआ कि सुप्रसिद्ध तीर्थ रिखबदेवका मुख्य मन्दिर दिगम्बर सम्प्रदायका है; परन्तु उसपर अधिकार श्वेताम्बरी भाइयोंका है।

ख—रोशन मुहल्ला आगरेके सुप्रसिद्ध श्वेताम्बर मन्दिर (चिन्तामणि पार्श्वनाथ) की मूलनायककी मूर्ति दिगम्बर सम्प्रदायकी है। (देखो जैनशासन वर्ष १)।

१५—जब कोई पूछता है कि अमुक तीर्थपर वास्तविक अधिकार किसका है, तो मैं कह दिया करता हूँ कि दोनोंका। दोनोंमेंसे चाहे जो पीछेका हो पर उसका अधिकार पहलेवालेसे कम नहीं ठहराया जा सकता। बल्कि उसपर तो ऐसे जैनतर लोगोंका भी अधिकार है जो जिनदेवपर श्रद्धा-भक्ति रखते हैं और उनका भक्तिभावसे-पूजन वन्दन करते हैं। जब दोनों ही सम्प्रदायवाले जिनदेवों

और सिद्धोंके उपासक हैं और उपासना करना किसीकी जमींदारीका कोई खेत जोतना या फसल काट लेना नहीं है, तब उनका अधिकार कम या ज्यादा ठहराया ही कैसे जा सकता है ? कुछ लोग पुराने दस्तावेज और तमसुक पेश करके अपना अधिकार सिद्ध करनेका प्रयत्न किया करते हैं; और सम्भव है उनसे उनका अधिकार सिद्ध भी होता हो, परन्तु क्या उनसे यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि उन दस्तावेजोंसे पहले भी तो ये दोनों सम्प्रदाय थे और तब क्या इनसे पहलेके प्रमाण-पत्रोंका तुम्हारे प्रतिपक्षीके पास होना सम्भव नहीं है ? और यह सिद्ध करना तो बाकी ही रह जायगा कि उन दस्तावेजोंके लिखनेवाले शासकोंको वैसे किसी सार्वजनिक धर्मस्थानके सम्बन्धमें दस्तावेज लिख देनेका अधिकार था या नहीं । यह सम्भव और स्वाभाविक है कि किसी समयपर किसी सम्प्रदायवालोंका ऐहिक वैभव और प्रभाव बढ़ गया हो और उस समय उनके समीपके तीर्थका प्रबन्ध उनके हाथमें आ गया हो और किसी समय उनके बदले दूसरोंके पास चला गया हो । परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि उस तीर्थका वास्तविक अधिकारी अमुक सम्प्रदाय ही था । ऊपर उपदेश-तरंगिणी ग्रन्थका जो अवतरण दिया गया है, उससे मालूम होता है कि संघवी धाराके समयमें गिरनार तीर्थपर ५० वर्षसे दिगम्बरियोंका अधिकार था और पीछे आम राजाकी कृपासे शायद वही अधिकार श्वेताम्बरियोंके हाथमें चला गया । इसी तरहका एक उल्लेख तारंगा सिद्धक्षेत्रके सम्बन्धमें 'कुमारपाल-प्रतिबोध' नामक श्वेताम्बर ग्रन्थमें भी मिलता है । यह ग्रन्थ सोमप्रभसूरिका बनाया हुआ है और 'गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज'में प्रकाशित हुआ है । इसकी रचनाका समय विक्रम संवत् १२४१ है । इसमें आर्य खपुटाचार्यकी कथामें लिखा है कि—

“ पहले उसने पर्वतके समीप तारा नामकी बौद्ध देवीका मन्दिर बनवाया; इस कारण इस तीर्थको तारापुर कहते हैं । इसके बाद उसीने फिर वहींपर सिद्धायिका (जैनदेवी) का मन्दिर बनवाया । परन्तु कालवशसे उसे दिगम्बरियोंने ले लिया । अब वहींपर (कुमारपाल राजा कहते हैं) मेरे आदेशसे जसदेवके पुत्र दंडाधिप

१ तारंगा पर्वतकी तलैटीसे उत्तरकी ओर लगभग डेढ़ मीलकी दूरीपर तारादेवीकी मूर्ति अब भी मौजूद है और उसपर बौद्धोंकी एक प्रसिद्ध गाथा लिखी हुई है ।

अमयकी देखरेखमें अर्जित जिनेन्द्रका ऊँचा मन्दिर बनवाया गया है^१। ” इससे मालूम होता है कि कुमारपाल राजाके समय तक समूचे तारंगा तीर्थपर या कमसे कम सिद्धाधिका देवीके मन्दिरपर दिगम्बरियोंका अधिकार था ।

तारंगा पर्वतकी कोटि-शिलापर एक वेदी है । उसकी एक प्रतिमापर अब भी संवत् ११९० की वैशाख सुदी ९ का सिद्धराज जयसिंहके समयका लेख है^३ जिससे मालूम होता है कि उस समय, अर्थात् कुमारपाल महाराजके मन्दिर-निर्माणके पहले, वहाँपर दिगम्बरियोंके मन्दिर और प्रतिमाएँ थीं और कुमारपाल-प्रतिबोधके कथनानुसार सम्भव है कि पर्वतपर दिगम्बरियोंका ही अधिकार हो । इसी तरह पावागढ़पर इस समय सम्पूर्ण अधिकार दिगम्बरियोंका है; परन्तु पर्वतके ऊपर कई ऐसे मन्दिरोंके खण्डहर पड़े हुए हैं जो श्वेताम्बर सम्प्रदायके हैं और किसी समय उक्त पावागढ़ श्वेताम्बर सम्प्रदायका भी प्रसिद्ध तीर्थ था । वहाँ सुप्रसिद्ध मंत्री तेजपालका बनवाया हुआ ‘सर्वतोभद्र’ नामका एक विशाल मन्दिर था ।

कदम्बवंशी राजाओंके जो ताम्रपत्रें प्रकाशित हुए हैं, उनमेंसे दूसरे ताम्रपत्रमें श्वेताम्बर महाश्रमणसंघ और दिगम्बर महाश्रमणसंघके उपभोगके लिए कालवङ्ग नामक ग्रामके देनेका उल्लेख है । यह स्थान कर्नाटक प्रदेशमें धारवाड़ जिलेके आसपास कहींपर है । अवश्य ही उस समय वहाँपर कोई श्वेताम्बर संघका भी स्थान तीर्थादि होगा । परन्तु बहुत समयसे उस ओर श्वेताम्बरी भाइयोंका एक तरहसे अभाव ही है, इस कारण उक्त स्थान या तो नष्ट-भ्रष्ट हो गया होगा या दिगम्बरियोंके अधिकारमें होगा ।

१-कुमारपाल महाराजका यह विशाल मन्दिर अब भी वर्तमान है ।

२-ताराइ बुद्धदेवीइ मंदिरं, तेण कारियं पुच्चं ।
आसन्नगिरिम्म तओ, भन्नइ ताराउरं ति इमो ॥
तेणेव तत्थ पच्छा, भवणं सिद्धाइयाइ कारवियं ।
तं पुण कालवसेण, दियंवेरहिं परिग्गहियं ॥
तत्थ ममाएसेण, अजियजिणिंदस्स मंदिरं तुंगं ।
दंडाहिवअभएणं जसदेवसुएण निम्मवियं ॥

३-देखो जैनमित्र भाग २२, अंक १२ ।

४-इन ताम्रपत्रोंका विवरण देखो जैनहितैषी भाग १४, अंक ७-८ ।

जंबुदीव-पण्णति

जैनसाहित्यमें करणानुयोगके ग्रन्थोंकी एक समय बहुत प्रधानता रही है । जिन ग्रंथोंमें ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, और मध्यलोकका; चारों गतियोंका, और युगोंके परिवर्तन आदिका वर्णन रहता है, वे सब ग्रन्थ करणानुयोगके 'अन्तर्गत' समझे जाते हैं । आजकलकी भाषामें हम जैनधर्मके करणानुयोगको एक तरहसे भूगोल और खगोल-शास्त्रकी समष्टि कह सकते हैं । दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंमें इस विषयके सैकड़ों ग्रन्थ हैं और उनमें अधिकांश बहुत प्राचीन हैं । इस विषयपर जैन लेखकोंने जितना अधिक लिखा है उतना शायद ही संसारके किसी सम्प्रदायके लेखकोंने लिखा हो । परम्परासे यह विश्वास चला आता है कि इन सब परोक्ष और दूरवर्ती क्षेत्रों या पदार्थोंका वर्णन साक्षात् सर्वज्ञ भगवानने अपनी दिव्य-ध्वनिमें किया था । जान पड़ता है कि इसी अटल श्रद्धाके कारण इस प्रकारके साहित्यकी इतनी अधिक वृद्धि हुई और हजारों वर्ष तक यह जैन-धर्मके सर्वज्ञप्रणीत होनेका अकाट्य प्रमाण समझा जाता रहा ।

हिंदुओंके पौराणिक भू-वर्णनको पढ़नेसे ऐसा मालूम होता है कि दो ढाई हजार बरस पहले भारतके प्रायः सभी संप्रदायवालोंका पृथ्वीके आकार-प्रकार और द्वीप-समुद्र-पर्वतादिके सम्बन्धमें करीब करीब इसी प्रकारकी धारणायें थीं, जिस प्रकारकी जैनधर्मके करणानुयोगमें पाई जाती हैं । पृथ्वी थालीके समान गोल और चपटी है, उसमें अनेक द्वीप और समुद्र हैं, द्वीपके बाद समुद्र और समुद्रके बाद द्वीप, इस प्रकार क्रम चला गया है; जम्बूद्वीपके बीचमें नाभिके तुल्य सुमेरु पर्वत है, इत्यादि । परन्तु पीछेके आर्यभट्ट, भास्कराचार्य आदि महान् ज्योतिषियोंने पूर्वोक्त विचारोंको बिलकुल ही बदल डाला । इसका फल यह हुआ कि इस

१ लोकालोकविभक्त्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च ।

आदर्शमिव यथामतिरवैति करणानुयोगं च ॥

—रत्नकरण्ड आ०

विषयका जो प्रारंभिक हिन्दू साहित्य था उसका बढ़ना तो दूर रहा, वह धीरे धीरे क्षीण होता गया और इधर चूँकि जैन विद्वानोंका विश्वास था कि यह साक्षात् सर्वज्ञ-प्रणीत है, अतएव वे इसे बढ़ाते ही चले गये।

यह करणानुयोगका वर्णन केवल इस विषयके स्वतंत्र ग्रन्थोंमें ही नहीं है, इसने प्रथमानुयोग या कथानुयोगादिके ग्रन्थोंका भी बहुत अधिक स्थान रोका है। दिगम्बर संप्रदायके महापुराण, हरिवंशपुराण, पद्मपुराणादि प्रधान प्रधान पुराणोंमें तथा अन्य चरित्र-ग्रन्थोंमें भी यह खूब विस्तारके साथ लिखा गया है। श्वेताम्बर सम्प्रदायके कथा-ग्रन्थोंका भी यही हाल है। बल्कि उसके तो आगम-ग्रन्थोंमें भी इसकी विपुलता है। भगवती सूत्र (व्याख्याप्रज्ञप्ति) आदि अंग और जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि उपांग ग्रन्थ करणानुयोगके ही वर्णनसे लबालब भरे हुए हैं।

दिगम्बर संप्रदायमें इस विषयका सबसे प्राचीन ग्रन्थ लोक-विभाग है और उस के बादका 'तिलोपपण्णत्ति' (त्रिलोकप्रज्ञप्ति)। इन दोनों ग्रन्थोंका परिचय हम अन्यत्र दे चुके हैं। इस लेखमें हम जंबुदीवपण्णत्तिका परिचय देना चाहते हैं। इसी नामका और एक ग्रन्थ माधुरसंधान्वयी अमितगति आचार्यका भी कहा जाता है। अमितगतियोंने चन्द्रप्रज्ञप्ति और सार्द्धद्वयद्वीपप्रज्ञप्ति नामक ग्रन्थ भी इसी विषयपर लिखे थे। परन्तु ये तीनों ही अभीतक उपलब्ध नहीं हैं। जंबुदीवपण्णत्ति नामका एक ग्रन्थ श्वेताम्बर संप्रदायका भी है। इसका संकलन करनेवाले गणधर सुधर्मास्वामी कहे जाते हैं। यह छठा उपांग है और आगम-शैलीसे लिखा हुआ है।

दिगम्बरसम्प्रदायकी जंबुदीवपण्णत्तिकी दो प्रतियाँ हमने देखी हैं; एक स्वर्गीय दानवीर शेट माणिकचन्द्रजीके चौपाटीके ग्रन्थ-भाण्डारमें है और दूसरी पूनेके भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूटमें। पहली प्रति सावन वदि १२ सं० १९६० की लिखी हुई है और यह सेठजीने अजमेरसे लिखवाकर मँगवाई थी। दूसरी प्रतिपर उसके लिखे जानेका समय नहीं दिया है; परन्तु वह कुछ प्राचीन मालूम होती है।

१ इसकी श्लोकसंख्या ४१४६ है। मुर्शिदाबादके राय धनपतिसिंह बहादुरके द्वारा यह वाचनाचार्य रामचन्द्रगणिकृत संस्कृतटीका और ऋषि चद्रभाणजीकृत भाषाटीकासहित छप चुका है।

डॉ० ए० एन० उपाध्येके अनुसार इसकी भाषा सौरसेनी प्राकृत है। यह ग्रन्थ गाथाबद्ध है। इसमें १३ उद्देश या अध्याय, २४२७ गाथायें और भरत, ऐरावत, पूर्व विदेह, उत्तर विदेह, देवकुरु, उत्तरकुरु, लवणसमुद्र, ज्योतिषपटल आदिका वर्णन है। वर्णन तिलोकप्रज्ञसिक्ती अपेक्षा कुछ संक्षिप्त है।

इसके कर्ताका नाम सिरिपउमण्णदि या श्रीपद्मनन्दि है। वे अपनी गुरुपरम्परा इस प्रकार बतलाते हैं—वीरनन्दि, बलनन्दि, और पद्मनन्दि। अपने लिए उन्होंने गुणगणकलित, त्रिदण्डरहित, त्रिशत्यपरिशुद्ध, त्रिगारवरहित, सिद्धान्तपारगामी, तप-नियम-योग-युक्त, ज्ञानदर्शनचारित्रीशुक्त और आरम्भकरणरहित विशेषण दिये हैं। उन्होंने अपने गुरुओंके भी ज्ञान और तप आदिकी प्रशंसा की है। उन्होंने श्रीविजय गुरुके निकट जिनवदनविनिर्गत सुपरिशुद्ध आगमको श्रवण करके, उनके ही कृपामाहात्म्यसे इस ग्रन्थकी रचना की है। वे विजयगुरुका विशेष परिचय नहीं देते, इससे उनकी गुरुपरम्परापर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

माघनन्दी नामके एक और विख्यात आचार्य थे जो राग-द्वेष-मोहसे रहित, श्रुतसागरके पारगामी, प्रगल्भ मतिमान, और तपःसंयमसंपन्न थे। उनके शिष्य सकलचन्द्र गुरु हुए, जो नियमों और शीलका पालन करते थे, गुणी थे और सिद्धान्त महोदधिमें जिन्होंने अपने पापोंको धो डाला था। इन्हींके शिष्य नैन्दिगुरुके लिए—जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यसम्पन्न थे—यह ग्रन्थ बनाया गया।

आचार्य पद्मनन्दि जिस समय बरानगरमें थे, उस समय यह ग्रन्थ रचा गया है। इस नगरकी प्रशंसामें लिखा है कि उसमें वापिकायें, तालाब, और भुवन बहुत थे, भिन्न भिन्न प्रकारके लोगोंसे वह भरा हुआ था, बहुत ही रम्य था, धनधान्यसे परिपूर्ण था, सम्यग्दृष्टिजनोंसे, मुनियोंके समूहसे, और जैन मंदिरोंसे विभूषित था। यह नगर पारियत्त (पारियात्र) नामक देशके अन्तर्गत था। बारा नगरके प्रभु या राजाका नाम शक्ति या शान्ति था। वह सम्यग्दर्शनशुद्ध, व्रती, शीलसम्पन्न, दानी, जिनशासनवत्सल, वीर, गुणी, कलाकुशल और नरपतिसंपूजित था।

आचार्य हेमचन्द्रने अपने कोषमें लिखा है—“ उत्तरो विन्ध्यात्पारियात्रः ”। अर्थात् विन्ध्याचलके उत्तरमें पारियात्र है। यह पारियात्र शब्द पर्वतवाची और प्रदेशवाची भी है। विन्ध्याचलकी पर्वतमालाका पश्चिम भाग जो नर्मदा तटसे शुरू

१ पूनेकी प्रतिमें सन्ति (शान्ति) और बम्बईकी प्रतिमें सत्ति (शक्ति) पाठ है।

होकर खंभाततक जाता है और उत्तर भाग जो अर्बलीकी पर्वतश्रेणीतक गया है पारियात्र कहलाता है। अतः पूर्वोक्त बारानगर इसी भूभागके अन्तर्गत होना चाहिए। राजपूतानेके कोटा राज्यमें एक बारा नामका कसबा है। जान पड़ता है कि वही बारानगर होगा। क्योंकि वह पारियात्र देशकी सीमाके भीतर ही आता है। नान्दिसंघकी पट्टावलीके अनुसार बारामें एक भट्टारकोंकी गद्दी भी रही है और उसमें वि० सं० ११४४ से १२०६ तकके १२ आचार्योंके नाम दिये हैं। इससे भी जान पड़ता है कि सम्भवतः ये सब आचार्य पद्मनन्दि या माघनन्दिकी ही शिष्य-परम्परामें हुए होंगे और यही बारा (कोटा) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिके निर्मित होनेका स्थान होगा।

ज्ञानप्रबोध नामक पद्यबद्ध भाषाग्रन्थमें कुन्दकुन्दाचार्यकी एक कथा दी है। उसमें कुन्दकुन्दको इसी बारापुर या बाराके धनी कुन्दश्रेष्ठी और कुन्दलताका पुत्र बतलाया है। पाठकोंसे यह बात अज्ञात न होगी कि कुन्दकुन्दका एक नाम पद्मनन्दि भी है। जान पड़ता है कि जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिके कर्ता पद्मनन्दिको ही भ्रमवश कुन्दकुन्दाचार्य समझकर ज्ञानप्रबोधके कर्ता कर्नाटक देशके कुन्दकुन्दका जन्म-स्थान बारा बतला बैठे हैं। पर इससे यह बात बहुत कुछ निश्चित हो जाती है कि कोटा राज्यके इसी बारामें यह ग्रन्थ निर्मित हुआ है।

शान्ति या शक्ति राजाको नरपतिसंपूजित लिखा है, और साथ ही 'बारानगरस्य प्रभुः' कहा है। परन्तु उसका वंश आदि नहीं बतलाया है, जिससे राजपूतानेके इतिहासमें कुछ पता लगाया जा सके और उससे पद्मनन्दि आचार्यका निश्चित समय मालूम किया जा सके।

पद्मनन्दिने अपने संघ, गण, अन्वय आदिका कोई उल्लेख नहीं किया, इससे भी उनका समय निर्णय करना कठिन हो गया है। इस विषयमें उनकी गुरुपरम्परा और श्रीनन्दिकी गुरुपरम्परा भी—जिनके निमित्त यह ग्रन्थ बनाया गया—हमें कोई सहायता नहीं देती। पद्मनन्दि नामके अनेक आचार्य हो गये हैं परन्तु उनमें ऐसा कोई नहीं जान पड़ता जिसके गुरु बलनन्दि और प्रगुरु वीरनन्दि हों। इसी तरह श्रीनन्दि भी ऐसे कोई नहीं मिले जिनके गुरु सकलचन्द्र और

१ देखो जैनसिद्धान्तभास्कर किरण ४ और इंडियन एण्टिक्वेरीकी २० वीं जिल्द।

२ सुना है कि बारामें पद्मनन्दिकी कोई निषिधा भी है।

प्रगुरु माघनन्दि हों। फिर भी यह ग्रन्थ हमारे अनुमानसे काफी प्राचीन है और उस समयका है जब प्राकृतमें ही ग्रन्थ-रचना करनेकी प्रणाली अधिक थी, और जब संघ, गण आदि भेद अधिक रूढ़ नहीं हुए थे।

ग्रन्थके अन्तरंगकी अच्छी तरहसे जाँच करनेसे संभव है, इस विषयमें कुछ अधिक प्रकाश पड़ सके।

इस ग्रन्थमें भगवान् महावीरके बादकी आचार्य-परम्परा इस प्रकार दी है—

विपुलाचलके ऊँचे शिखरपर विराजमान वर्द्धमान् जिनेन्द्रने गौतममुनिको प्रमाण-नयसंयुक्त अर्थ कहा। उन्होंने लोहार्यको और लोहार्यने, जिनका नाम सुधर्मा भी है, जम्बूस्वामीको कहा। ये तीनों गणधर, गुणसमग्र और निर्मल चार ज्ञानके धारी थे। ये केवलज्ञानको प्राप्त करके मोक्षको प्राप्त हुए। इनके बाद नन्दि, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँच पुरुषश्रेष्ठ चौदह पूर्व और बारह अंगके धारक हुए। इनके बाद क्रमसे विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और धर्मसेन, ये दस पूर्वधारी हुए। फिर नक्षत्र, यशःपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन, और कंस ये पाँच ग्यारह अंगके धारक हुए। इनके बाद सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और अन्तिम लोह (लोहाचार्य) ये आचारांगके धारक हुए।

इस परम्परासे यह एक विशेष बात मालूम हुई कि सुधर्मास्वामीका दूसरा नाम लोहार्य भी था। लोहार्य नामके एक और भी आचार्य हुए हैं जो आचारांगधारी थे। उन्हें दूसरे लोहाचार्य समझना चाहिए। श्रवणबेलगोलकी चन्द्रगुप्तवस्तिके शिलालेखके—‘महावीरसवितरि परिनिर्वृते भगवत्परमर्षि-गौतमगणधरसाक्षाच्छिष्य-लोहार्य-जम्बु—XX’ आदि वाक्यमें जो लोहार्यको गौतमगणधरका साक्षात् शिष्य लिखा है, उसका भी इससे खुलासा हो जाता है। अभीतक इस बातका स्पष्ट उल्लेख कहीं भी नहीं मिला था कि सुधर्मास्वामीका दूसरा नाम लोहार्य था।

इस परम्परामें और त्रिलोकप्रज्ञतिकी परम्परामें कोई अन्तर नहीं है। आचार्य गुणभद्रकृत उत्तर-पुराण, ब्रह्म हेमचन्द्रकृत श्रुतस्कन्ध, और इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतारमें भी बिलकुल यही परम्परा दी हुई है। परन्तु हरिवंशपुराण, नन्दिसंघ-बलात्कारगण-सरस्वतीगच्छकी प्राकृत पट्टावली, सेनगणकी पट्टावली और काष्ठा-संघकी पट्टावलीमें नन्दिकी जगह विष्णु नाम मिलता है। इसके सिवाय नन्दिसंघकी

१ देखो, जैनसिद्धान्तभास्कर किरण १

पूर्वोक्त पट्टावलीमें और काष्ठासंघकी पट्टावलीमें यशोबाहुके स्थानमें भद्रबाहु नाम है। जान पड़ता है नन्दिका पूरा नाम विष्णुनन्दि होगा और वही कहीं नन्दि और कहीं विष्णुरूपमें लिख दिया गया है। इसी तरह यशोबाहुका नामान्तर भद्रबाहु होगा।

लोहाचार्य तककी यह गुरुपरम्परा दिगम्बर संप्रदायमें एक-सी मानी जाती है। इसमें कोई मतभेद नहीं है। परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदायमें जम्बूस्वामीके बाद जो परम्परा मानी जाती है, वह इससे सर्वथा भिन्न है।

जंबुदीवपण्णात्तिका आदि और अंतका कुछ भाग नीचे दिया जाता है—

देवासुरिदमहिदे दसद्धरून्ण कम्मपरिहीणे ।

केवलणाणालोए सद्धम्मुवएसदे अरुहे ॥ १ ॥

अट्टविहकम्मरहिए अट्टगुणसमणिदे महावीरे ।

लोयग्गतिलयभूदे सासयसुहसंझिदे सिद्धे ॥ २ ॥

पंचाचारसमग्गे पंचैदियणिज्जिदे विगहमोहे ।

पंचमहव्वयणिलए पंचमगइणायणायरिए ॥ ३ ॥

परसमयतिमिरदलणे परमागमदेसए उवज्झाए ।

परमगुणरयणणिवहे परमागमभाविदे वीरे ॥ ४ ॥

णाणागुणतवणिरए ससमयसब्भावगहियपरमत्थे ।

बहुविहजोगज्जुत्ते जे लोए सव्वसाहुगणे ॥ ५ ॥

ते वंदिऊण सिरसा वोच्छामि जहाकमेण जिणदिट्ठं ।

आयरियपरंपरया पण्णात्ति दीवजलधीणं ॥ ६ ॥

*

*

*

विउलगिरितुंगसिहरे जिणिदइंदेण वड्ढमाणेण ।

गोदममुणिस्स कहिदं पमाणणयसंजुदं अत्थं ॥ ९ ॥

तेण वि लोहजस्स य लोहजेण य सुधम्ममाणेण ।

गणधरसुधम्मणा खलु जंबूणामस्स णिदिट्ठं ॥ १० ॥

चदुरमलबुद्धिसहिदे तिजेदे गणधेर गुणसमग्गे ।

केवलणाणपईवे सिद्धिं पत्ते णमंसामि ॥ ११ ॥

णंदी य णंदिमित्तो अवराजिदमुणिवरो महतेओ ।

गोवड्ढणो महप्पा महागुणो मद्दबाहु य ॥ १२ ॥

पंचेदे पुरिसवरा चउदसपुव्वी हवन्ति णायव्वा ।
 बारस अंगधरा खलु वीरजिणिदस्स णायव्वा ॥ १३ ॥
 तह य विसाखायरिओ पोडिह्लो खत्तिओ य जयणामो ।
 णागो सिद्धत्थो वि य धिदिसेणो विजयणामो य ॥ १४ ॥
 बुद्धिल्ल-गंगदेवो धम्मसेणो य होइ पच्छिमओ ।
 पारंपरेण एदे दसपुव्वधरा समक्खादा ॥ १५ ॥
 णक्खत्तो जसपालो पंडू-धुवसेण-कंस-आयरिओ ।
 एयारसअंगधरा पंचजणा ह्वेति णिदिह्वा ॥ १६ ॥
 णामेण सुमद्दमुणी जसमद्दो तह य होइ जसग्गहू ।
 आयारधरा णेया अपच्छिमो लोहणामो य ॥ १७ ॥
 आयरियपरंपरया सायरदीवाण तह य पण्णत्ती ।
 संखेवेण समत्थं वोच्छामि जहाणुपुव्वीए ॥ १८ ॥

* * * *

परमेट्ठिमासिदत्थं उद्धाधोतिरियल्लोयसंबंधं ।
 जंबूदीवणिबद्धं पुव्वावरदोसपरिहीणं ॥ १४० ॥
 गणधरदेवेण पुणो अत्थं लद्धूण गंथिदं गंथं ।
 अक्खरपदसंखेज्जं अणंतसत्थेहिं संजुत्तं ॥ १४१ ॥
 आयरियपरंपरेण य गंथत्थं चेव आगयं सम्मं ।
 उवसंहरीय लिहियं समासदो इह य णायव्वं ॥ १४२ ॥
 णाणाणरव्वमहिदो विगयभओ संगमंगउम्मुक्को ।
 सम्महंसणमुद्धो संजम-तव-सील-संपुण्णो ॥ १४३ ॥
 जिणवर-वयण-विणिग्गयपरमागमदेसओ महासत्तो ।
 सिरिणिअओ गुणसहिओ सिरिविजयगुरु त्ति विक्खाओ ॥ १४४ ॥
 सोऊण तस्स पासे जिणवयणविणिग्गयं अमदभूदं ।
 रइदं किंचुद्देसे अत्थपदं तह व लद्धूणं ॥ १४५ ॥

* * * *

अह तिरिय-उड्ढलोएसु तेसु जे ह्वेति बहुवियप्पा दु ।
 सिरिविजयस्स महप्पा ते सव्वे वणिणदा किंचि ॥ १५३ ॥

१ 'एयारसंगधारी' भी पाठ है । २ 'किंचिद्देसं' भी है ।

गयरायदोसमोहो सुदसायरपारओ मइ-पगन्मो ।
 तवसंजमसंपण्णो विक्खाओ माघणंदिगुरु ॥ १५४ ॥
 तस्सेव य वरसिस्सो सिद्धंतमहोदहिम्मि धुयकल्लो ।
 णवणियमसीलकलिदो गुणउत्तो सयलचंदगुरु ॥ १५५ ॥
 तस्सेव य वरसिस्सो णिम्मलवरणाणचरणसंजुत्तो ।
 सम्महंसणसुद्धो सिरिणंदिगुरु त्ति विक्खाओ ॥ १५६ ॥
 तस्स णिमित्तं लिहियं^४ जंबूदीवस्स तहय पण्णत्ती ।
 जो पढइ सुणइ एदं सो गच्छइ उत्तमं ठाणं ॥ १५७ ॥
 पंचमहव्वयसुद्धो दंसणसुद्धो य णाणसंजुत्तो ।
 संजमतवगुणसहिदो रागादिविवज्जिदो धीरो ॥ १५८ ॥
 पंचाचारसमग्गो छज्जीवदयावरो विगदमोहो ।
 हरिस-विसाय-विहूणो णामेण य वीरणंदि त्ति ॥ १५९ ॥
 तस्सेव य वरसिस्सो सुत्तत्थवियक्खणो मइपगन्मो ।
 परपरिवादणियत्तो णिस्संगो सव्वसंगेसु ॥ १६० ॥
 सम्मत्तअभिगदमणो णाणे तह दंसणे चरित्ते य ।
 परतंतिणियत्तमणो बलणंदि गुरु त्ति विक्खाओ ॥ १६१ ॥
 तस्स य गुणगणकलिदो तिदंडरहिदो तिसल्लपरिसुद्धो ।
 तिण्णि वि गारवरहिदो सिस्सो सिद्धंतगयपारो ॥ १६२ ॥
 तवणियमजोगजुत्तो उज्जुत्तो णाणदंसणचरित्ते ।
 आरंभकरणरहिदो णामेण य पउमणंदि त्ति ॥ १६३ ॥
 सिरिगुरुविजयसयासे सोऊणं आगमं सुपरिसुद्धं ।
 मुणि-पउमणंदिणा खलु लिहियं एयं समासेण ॥ १६४ ॥
 सम्महंसणसुद्धो कदवदकम्मो सुसीलसंपण्णो ।
 अणवरयदाणसीलो जिणसासणवच्छलो धीरो ॥ १६५ ॥
 णाणागुणगणकलिओ णरवइसंपूजिओ कलाकुसलो ॥
 वाराणयरस्स पहू णरुत्तमो सत्तिभूपालो ॥ १६६ ॥

४ 'रइयं' पाठ पूनेकी प्रतिमें है ।

पोक्खराणिवावि-पउरे बहुभवणविहूसिए परमरम्मे ।
 णाणाजणसंक्रिण्णे धणधणसमाउले दिव्वे ॥ १६७ ॥
 सम्मादिट्ठिज्जणोघे मुणिगणणिवहेहि मंडिए रम्मे ।
 देसम्मि पारियत्ते जिणभवणविहूसिए दिव्वे ॥ १६८ ॥
 जंबूदीवस्स तहा पण्णात्ती बहुपयत्थसंजुत्तं (ता) ।
 लिहियं (या) संखेवेणं वाराए अच्छमाणेण ॥ १६९ ॥
 छट्ठुमत्थेण विरइयं जं किंपि हवेज पवयणविरुद्धं ।
 सोधंतु सुगीदत्था तं पवयणवच्छलत्ताए ॥ १७० ॥

* * * *

विउध-वइ-मउड-मणिगण-कर-सलिलमुधोयचारुपयकमलं ।
 वरपउमणंदिणमियं वीरजिणिंदं णमंसामि ॥ १७६ ॥
 इय जंबुदीवपण्णात्तिसंगहे पमाणपरिच्छेदो णाम तेरसो उहेसो सम्मत्तो ॥ १३ ॥

नाट्यकार हस्तिमल्ल

दिगम्बर-जैन-साहित्यमें हस्तिमल्लका एक विशेष स्थान है। क्योंकि जहाँतक हम जानते हैं रूपक या नाटक उनके सिवाय और किसी दि० जैनकविके नहीं मिले हैं। श्रव्य काव्य तो बहुत लिखे गये परन्तु दृश्य काव्योंकी ओर किसीका ध्यान ही नहीं गया। हस्तिमल्लने साहित्यके इस अंगको खूब पुष्ट किया। उनके लिखे हुए अनेक सुन्दर नाटक उपलब्ध हैं।

वंश-परिचय

हस्तिमल्लके पिताका नाम गोविन्द भट्ट था। वे वत्सगोत्री ब्राह्मण थे और दाक्षिणात्य थे। स्वामी समन्तभद्रके देवागम-स्तोत्रको सुनकर उन्होंने मिथ्यात्व छोड़ दिया था और सम्यग्दृष्टि हो गये थे। उन्हें स्वर्णयक्षी नामक देवीके प्रसादसे छह पुत्र उत्पन्न हुए—१ श्रीकुमार कवि, २ सत्यवाक्य, ३ देवरवल्लभ, ४ उदयभूषण, ५ हस्तिमल्ल और ६ वर्धमान। अर्थात् वे अपने पिताके पाँचवें पुत्र थे। ये छहोंके छहों पुत्र कवीश्वर थे। इस तरह गोविन्द भट्टका कुटुम्ब अतिशय सुशिक्षित और गुणी था।

सरस्वतीस्वयंवरवल्लभ, महाकवितल्लज और सूक्ति-रत्नाकर उनके विरुद्ध थे^१। उनके बड़े भाई सत्यवाक्यने उन्हें 'कवितासाम्राज्यलक्ष्मीपति' कहकर उनकी

१—गोविन्दभट्ट इत्यासीद्विद्वान्मिथ्यात्ववर्जितः, देवागमनसूत्रस्य श्रुत्या सहर्शानान्वितः। अनेकान्त्यमतं तत्त्वं बहुमेने विदांवरः, नन्दनातस्य संजाता वर्धिताखिलकोविदाः॥ दाक्षिणात्या जयन्तत्र स्वर्णयक्षीप्रसादतः, श्रीकुमारकविः सत्यवाक्यो देवरवल्लभः। उद्यद्भूषणनामा च हस्तिमल्लमभिधानकाः, वर्धमानकविश्चेति षड्भूवन्कवीश्वराः॥

—वि० कौ०

२ अस्ति किल सरस्वतीस्वयंवरवल्लभेन भट्टारगोविन्दसूनुना हस्तिमल्लनाम्ना महाकवितल्ल-
जेन विरचितं विक्रान्तकौरवं नाम रूपकमिति।

—वि० कौ०

सूक्तियोंकी बहुत ही प्रशंसा की है। राजावली कथाके कर्त्ताने उन्हें उभयभाषा-कवि-चक्रवर्ती लिखा है^२।

हस्तिमल्लने विक्रान्तकौरवके अन्तमें जो प्रशस्ति दी है, उसमें उन्होंने समन्तभद्र, शिवकोटि, शिवायन, वीरसेन, जिनसेन और गुणभद्रका उल्लेख करके कहा है कि उनकी शिष्य-परम्परामें असंख्य विद्वान् हुए और फिर गोविन्द भट्ट हुए जो देवागमको सुनकर सम्यग्दृष्टि हुए। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे उक्त मुनिपरम्पराके कोई साधु या मुनि थे। जैसी कि जैनग्रन्थकर्त्ताओंकी साधारण पद्धति है, उन्होंने गुरुपरम्पराका उल्लेख करके अपने पिताका परिचय दिया है।

हस्तिमल्ल स्वयं भी गृहस्थ थे^३। उनके पुत्र-पौत्रादिका वर्णन ब्रह्मसूत्रिने अपने प्रतिष्ठासारोद्धारमें किया है। स्वयं ब्रह्मसूत्रि भी उनके वंशमें हुए हैं। वे लिखते हैं कि पाण्ड्य देशमें गुडिपत्तनके शासक पाण्ड्य नरेन्द्र थे, जो बड़े ही धर्मात्मा, वीर, कलाकुशल और पण्डितोंका सम्मान करनेवाले थे। वहाँ वृषभ तीर्थंकरका रत्न-सुवर्णजटित सुन्दर मन्दिर था, जिसमें विशाखनन्दि आदि विद्वान् मुनिगण रहते थे। गोविन्द भट्ट यहींके रहनेवाले थे। उनके श्रीकुमार आदि छह पुत्र थे। हस्तिमल्लके पुत्रका नाम पार्श्व पण्डित था जो अपने पिताके ही समान यशस्वी, धर्मात्मा और शास्त्रज्ञ थे। ये अपने वशिष्ठ काश्यपादि गोत्रज बान्धवोंके साथ होयसल देशमें जाकर रहने लगे, जिसकी राजधानी छत्रत्रयपुरी थी। पार्श्व पण्डितके चन्द्रप, चन्द्रनाथ और वैजय्य नामक तीन पुत्र थे। इनमें चन्द्रनाथ अपने

१ किं वीणागुणशङ्कतैः किमथवा सांद्रैर्मधुस्यन्दिभि-

र्विभ्राम्यत्सहकारकोरकशिखाकर्णावतंसैरपि।

पर्याप्ताः श्रवणोत्सवाय कवितासाम्राज्यलक्ष्मीपते

सत्यं नस्तव हस्तिमल्लसुभगास्तास्ताः सदासूक्तयः ॥ —मै० क०

२ कनड़ी आदिपुराणकी पुष्पिकामें कविने स्वयं भी उभय-भाषाकविचक्रवर्ती लिखा है—“इत्युभयभाषाकविचक्रवर्तिहस्तिमल्लविरचितपूर्वपुराणमहाकथायां दशमपर्वम्।”

३ परवादिहस्तिनां सिंहो हस्तिमल्लस्तदुद्भवः।

गृहाश्रमी बभूवाहच्छासनादिप्रभावकः ॥ १३ ॥

४ के० भुजबलि शास्त्रीका यह अनुमान है कि छत्रत्रयपुरी शायद द्वारसमुद्र (हलेबीड) हो। यह होयसल राजाओंकी राजधानी रही है।

परिवारके साथ हेमाचल (होनूर) में अपने परिवारसहित जा बसे और दो भाई अन्य स्थानोंको चले गये । चन्द्रपके पुत्र विजयेन्द्र हुए और विजयेन्द्रके ब्रह्मसूत्र, जिनके बनाये हुए त्रिवर्णाचार और प्रतिष्ठा-तिलक ग्रन्थ उपलब्ध हैं ।

कविके भाई

कविके जो पाँच भाई थे, उनसे हम प्रायः अपरिचित हैं । सत्यवाक्यको हस्तिमल्लने ' श्रीमती-कल्याण ' आदि कृतियोंका कर्त्ता बतलाया है, परन्तु उनका न तो यह ग्रन्थ ही अभीतक प्राप्त हुआ है और न अन्य कोई ग्रन्थ । नामसे ऐसा मालूम होता है कि श्रीमती-कल्याण भी बहुत करके नाटक होगा ।

श्रीकुमार कविका ' आत्म-प्रबोध ' नामका एक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है, परन्तु वे हस्तिमल्लके ही बड़े भाई हैं या कोई और, इसका निर्णय नहीं हो सका ।

वर्द्धमान कविको कुछ लोगोंने गणरत्नमहोदधिका ही कर्त्ता समझ लिया है परन्तु यह भ्रम है । गणरत्नके कर्त्ता श्वेताम्बर सम्प्रदायके हैं और उन्होंने सिद्ध-राज जयसिंह (वि० सं० ११५१-१२००) की प्रशंसामें कोई काव्य बनाया था । दिगम्बर सम्प्रदायपर उन्होंने कटाक्ष भी किये हैं, और वे हस्तिमल्लसे बहुत पहले हुए हैं ।

कविका नाम

हस्तिमल्लका असली नाम क्या था, इसका पता नहीं चलता । यह नाम तो उन्हें एक मत्त हाथीको वशमें करनेके उपलक्ष्यमें पाण्ड्य राजाके द्वारा प्राप्त हुआ था ।^१ उस समय उनका राजसभामें सैकड़ों प्रशंसा-वाक्योंसे सत्कार किया गया था ।

१ एवं खल्वसौ श्रीमतीकल्याणप्रश्रुतीनां कृतीनां कर्त्ता सत्यवाक्येन सूक्तिरसावर्जितचेतसा जायसा क्लीयानप्युपश्लोकिताः ।—मै० कल्याण ।

२ गणरत्नमहोदधिका रचनाकाल वि० सं० ११९७ है ।

३ अकल्पितप्राणसमासमागमा मलीमसांगा धृतमैक्ष्यवृत्तयः ।

निर्ग्रन्थतां त्वत्परिपंथिनो गता जगत्पते किंत्वजिनावलम्बिनः ॥

—ग० २० म० पृ० १६४

४ श्रीवत्सगोत्रजनभूषणगोपभट्टप्रेमैकधामतनुजो भुवि हस्तियुद्धात् ।

नानाकलाम्बुनिधिपाण्ड्यमहेश्वरेण श्लोकैः शतैस्सदसि सत्कृतवान् बभूव ॥

—विक्रान्तकौरव

इस हस्ति-युद्धका उल्लेख कविने अपने सुभद्राहरण नाटकमें भी किया है और साथ ही यह भी बतलाया है कि कोई धूर्त जैन मुनिका रूप धारण करके आया था और उसको भी हस्तिमल्लने परास्त कर दिया था ।

पाण्ड्यमहीश्वर

हस्तिमल्लने पाण्ड्यराजाका अनेक जगह उल्लेख किया है । वे उनके कृपापात्र थे और उनकी राजधानीमें अपने विद्वान् आसजनोंके साथ जा बसे थे । राजाने अपनी सभामें उन्हें खूब ही सम्मानित किया था । ये पाण्ड्यमहीश्वर अपने मुजबलसे कर्नाटक प्रदेशपर शासन करते थे^१ ।

कविने इन पाण्ड्यमहीश्वरका कोई नाम नहीं दिया है । सिर्फ इतना ही मालूम होता है कि वे थे तो पाण्ड्यदेशके राजवंशके, परन्तु कर्नाटकमें आकर राज्य करने लगे थे ।

दक्षिण कर्नाटकके कार्कल स्थानपर उन दिनों पाण्ड्यवंशका ही शासन था । यह राजवंश जैनधर्मका अनुयायी था और इसमें अनेक विद्वान् तथा कलाकुशल राजा हुए हैं । 'भव्यानन्द' नामक सुभाषित ग्रन्थके कर्त्ता भी अपनेको

१ सम्यक्त्वं सुपरीक्षितं मदगजे मुक्ते सरण्यापुरे
चास्मिन्पाण्ड्यमहेश्वरेण कपटादन्तुं स्वमभ्यागते (तं) ।
शैलध्वं जिनमुद्रधारिणमपास्यासौ मदध्वंसिना
श्लोकेनापि मदेभमल्ल इति यः प्रख्यातवान्सूरिभिः ॥

—सुभद्राहरण

२ श्रीमत्पाण्ड्यमहीश्वरे निजमुजादण्डावलम्बीकृतं
कर्नाटावनिमंडलं पदनतानेकावनीशेऽवति ।
तत्प्रीत्यानुसरन्स्वबन्धुनिवहैर्विद्वाद्भिरासैस्समं
जैनागारसमेतसंतरनभे (?) श्रीहस्तिमल्लोऽवसत् ॥

—अंजनापवनंजय

३ भव्यानन्द शास्त्रीकी एक प्रति 'ऐ० पन्नालाल सरस्वतीभवन' में है । यह आत्मा-नुशासन, भर्तृहरिशतकके ढंगकी सुन्दर प्रसादगुणयुक्त रचना है । इसमें नागचन्द्रका स्मरण किया गया है और इसके आधारपर पं० के० मुजबलिशास्त्रीने शक सं० १३५० के लगभग उसका निर्माण-काल निश्चित किया है ।

‘पाण्ड्यक्षमापति’ लिखते हैं, कोई विशेष नाम नहीं देते। हमारी समझमें ये हस्तिमल्लके आश्रयदाता राजाके ही वंशके अनन्तरवर्ती कोई जैन राजा थे और इन्होंने ही शायद श० सं० १३५३ (वि० सं० १४८८) में कार्कलकी विशाल बाहुबलि प्रतिमाकी प्रतिष्ठा कराई थी^१।

पाण्ड्य महीश्वरकी राजधानी मालूम नहीं कहाँ थी। अंजनापवनजंयके ‘श्रीमत्पाण्ड्यमहीश्वरेण’ आदि पद्यसे तो ऐसा मालूम होता है कि संतरनम या संततगम नामक स्थानमें हस्तिमल्ल अपने कुटुम्बके सहित जा बसे थे, इस लिए यही उनकी राजधानी होगी, यद्यपि यह पता नहीं कि यह स्थान कहाँपर था।

हाथीका मद उतारनेकी घटना ‘सरण्यापुर’ नामक स्थानमें घटित हुई थी और वहाँकी राजसभामें ही उन्हें सत्कृत किया था। इस स्थानका भी कोई पता नहीं है। या तो यह संततगमका ही दूसरा नाम होगा या फिर किसी कारणसे पाण्ड्य राजा हस्तिमल्लके साथ कहीं गये होंगे और वहाँ यह घटना घटी होगी।

कविका मूल निवासस्थान

ब्रह्मसूरिने गोविन्द भट्टका निवासस्थान गुडिपत्तन बतलाया है और पं० के० मुजबलि शास्त्रीके अनुसार यह स्थान तंजौरका दीपंगुडि नामका स्थान है, जो पाण्ड्यदेशमें है। कर्नाटकका राज्य प्राप्त होने पर या तो वे स्वयं ही या उनका कोई वंशज कर्नाटकमें आकर रहने लगा होगा और उसीकी प्रीतिसे हस्तिमल्ल कर्नाटककी राजधानीमें आ बसे होंगे।

ब्रह्मसूरिके बतलाये हुए गुडिपत्तनका ही उल्लेख हस्तिमल्लने विक्रान्त कौरवकी प्रशस्तिमें दीपंगुडि नामसे किया है। उसमें भी वहाँके वृषभ जिनके मन्दिरका उल्लेख है जिनके पादपीठ या सिंहासनपर पाण्ड्य राजाके मुकुटकी प्रभा पड़ती थी। वृषभजिनके उक्त मन्दिरको ‘कुश-लवरचित’ अर्थात् रामचन्द्रके पुत्र कुश और लवके द्वारा निर्मित बतलाया है।

१ देखो के० मुजबलिशास्त्रीद्वारा सम्पादित प्रशस्तिसंग्रह पृ० १९।

२ डा० ए० एन० उपाध्येने अंजनापवनजंयकी दो प्रतियाँ देखकर सूचना दी है कि एक प्रतिमें ‘सतगमे’ और दूसरी प्रतिमें ‘संततगमे’ पाठ है। पहले पाठसे छन्दोभंग होता है, इस लिए दूसरा पाठ ठीक मालूम होता है।

हस्तिमल्लका समय

अय्यपार्य नामक विद्वाने अपने जिनन्द्रकल्याणाभ्युदय नामक प्रतिष्ठापाठमें लिखा है कि मैंने यह ग्रन्थ वसुनन्दि, इन्द्रनन्दि, आशाधर और हस्तिमल्ल आदि-की रचनाओंका सार लेकर लिखा है और उक्त ग्रन्थ श० सं० १२४१ (वि० सं० १३९६) में समाप्त हुआ था। अतएव हस्तिमल्ल १३९६ से पहले हो चुके थे।

ब्रह्मसूत्रिने अपनी जो वंशपरम्परा दी है, उसके अनुसार हस्तिमल्ल उनके पितामहके पितामह थे। यदि एक एक पीढ़ीके पचीस पचीस वर्ष गिन लिये जायें, तो हस्तिमल्ल उनसे लगभग सौ वर्ष पहलेके हैं और पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ब्रह्मसूत्रको विक्रमकी पन्द्रहवीं शताब्दिका विद्वान् मानते हैं, अतएव हस्तिमल्लको विक्रमकी चौदहवीं शताब्दिका विद्वान् मानना चाहिए।

कर्नाटक-कवि-चरित्रके कर्त्ता और० नरसिंहाचार्यने हस्तिमल्लका समय ई० सन् १२९० अर्थात् वि० सं० १३४७ निश्चित किया है, और यह ठीक मालूम होता है।

ग्रन्थ-रचना

हस्तिमल्लके अभी तक चार नाटक प्राप्त हुए हैं—विक्रान्त-कौरव, २ मैथिली-

१ श्रीमद्दीपंगुडीशः कुश-लवरीचितस्थानपूज्यो वृषेशः

स्याद्वादन्यायचक्रेश्वरगजवशकृद्धस्तिमल्लह्वयेन ।

गद्यैः पद्यैः प्रबन्धैर्नवरसभरितैराहतोऽयं जिनेशः

पायान्नः पादपीठस्थलविकटलसत्पाण्ड्यमौलिप्रभौघः ॥ १४ ॥

२ यश्चाशाधरहस्तिमल्लकथितो यश्चैकसन्धीरितः

तेभ्यस्स्वाहृतसारआर्यरचितः स्याज्जैनपूजाक्रमः ॥ १९ ॥

३ शाकान्देविधुवेदनेत्रहिमगे (?) सिद्धार्थसंवत्सरे

माघे मासि विशुद्धपक्षदशमीपुष्यार्कचोरेऽहनि ।

ग्रन्थो रुद्रकुमारराज्यविषये जैनन्द्रकल्याणभाक्

सम्पूर्णोऽभवदेकशैलनगरे श्रीपालबन्धूर्जितः ॥—कारंजाकी प्रति

४ देखो ग्रन्थ-परीक्षा तृतीय भाग, पृष्ठ ८।

कल्याण, ३ अंजनापवनंजय और ४ सुभद्राहरण । इनमेंसे पहले दो प्रकाशित हो चुके हैं और शेष दो शीघ्र ही प्रकाशित होंगे ।

इनके सिवाय १ उदयनराज, २ भरतराज, ३ अर्जुनराज, और ४ मेघेश्वर इन चार नाटकोंका उल्लेख और मिलता है^१ । इनमेंसे अर्जुनराज सुभद्राहरणका ही दूसरा नाम मालूम होता है । शेष तीन नाटक दक्षिणके मण्डारोंमें खोज करनेसे मिल सकेंगे^२ ।

‘प्रतिष्ठा-तिलक’ नामका एक और ग्रन्थ आराके जैनसिद्धान्तभवनमें है । यद्यपि इस ग्रन्थमें कहीं हस्तिमल्लका नाम नहीं दिया है परन्तु अस्यपार्यने अपने जिनेन्द्रकल्याणाम्युदयमें जिन जिनके प्रतिष्ठापाठोंका सार लेकर अपना ग्रन्थ रचनेका उल्लेख किया है, उनमें हस्तिमल्ल भी हैं । अतएव निश्चयसे हस्तिमल्लका एक प्रतिष्ठापाठ है और वह यही है ।

आदिपुराण (पुरुचरित) और श्रीपुराण नामके दो ग्रन्थ कनड़ी भाषामें भी हस्तिमल्लके बनाये हुए उपलब्ध हैं । संस्कृतके समान कनड़ी भाषापर भी उनका अधिकार था और शायद इसी कारण वे उभयभाषाचक्रवर्ती कहलाते थे^३ । यदि उनका जन्मस्थान दीपंगुडि है, जैसा कि ब्रह्मपूरिने लिखा है तो उनकी मातृभाषा तामिल होगी और ऐसी दशामें कनड़ीपर भी उन्होंने संस्कृतके समान प्रयत्नपूर्वक अधिकार प्राप्त किया होगा ।

१ मि० आफ्रेखेके ‘केटेलगस केटलॉगोरम’ (सन् १८९१ लिपजिग) में इन सब नाटकोंका उल्लेख आपर्ट साहबकी ‘लिस्ट आफ संस्कृत मेनु० इन सदरन इंडिया’ (जिल्द १-२ सन् १८८०-८५) के आधारसे किया गया है । यह लिस्ट दक्षिण भारतकी प्रायवेट लायब्रेरियोंको देखकर तैयार की गई थी और इस लिए आपर्ट साहबने उस समय गृहपुस्तकालयोंमें इन ग्रन्थोंको स्वयं देखा होगा ।

२ इस ग्रन्थके शुरूके ४१ पत्र सौंगलीके श्री गुंडप्पा तवनापा आरवाड़ेके पास हैं और उन्हें देखकर डा० उपाध्येने अभी हाल ही ‘हस्तिमल्ल एण्ड हिज आदिपुराण’ नामक अंग्रेजी लेख लिखा है । यह ग्रन्थ गद्यमें है और इसके प्रत्येक पर्वमें जो मंगलाचरण है वह जिनसेनके आदिपुराणका है ।

३ मूडबिंद्री और बरांगके जैनमठोंमें इस ग्रन्थकी हस्तलिखित प्रतियाँ सुरक्षित हैं ।

वादिचन्द्रसूरि

वादिचन्द्रसूरि अपने ज्ञानसूर्योदय नामक नाटकके कारण बहुत प्रसिद्ध हैं। कृष्णमिश्र यति नामक एक दण्डी परिव्राजकने बुन्देलखंडके चन्देलराजा कीर्तिवर्माके समयमें 'प्रबोधचन्द्रोदय' नामक नाटककी रचना की थी। कहा जाता है कि वि० सं० ११२२ में उक्त राजाके समक्ष यह नाटक खेला भी गया था। इसके तीसरे अंकमें क्षपणक (दिगम्बर जैन मुनि) नामक पात्रको बहुत ही निन्दित और घृणित रूपमें चित्रित किया है। वह देखनेमें राक्षस जैसा मालूम होता है, और श्रावकोंको उपदेश देता है कि तुम दूरसे चरण-चन्दना करो और यदि हम तुम्हारी स्त्रियोंके साथ अति प्रसंग करें, तो तुम्हें ईर्ष्या न करनी चाहिए। फिर एक कापालिनी उससे चिपट जाती है, जिसके आलिंगनको वह मोक्ष-सुख समझता है और महाभैरवके धर्ममें दीक्षित होकर कापालिनीकी जूटी शराब पीकर नाच करता है, आदि। शायद इसीका बदला चुकानेके लिए वादिचन्द्रने प्रबोधचन्द्रोदयके ही अनुकरणपर अपने नाटककी रचना की है। दोनोंकी एक ही भित्ति है और ढँग भी एक ही है। कहीं कहीं तो थोड़ेसे शब्दोंके हेरफेरसे वीसों श्लोक और गद्य वाक्य एक ही आशयके मिलते हैं। दोनोंके पात्र भी प्रायः एकसे ही नाम धारण करनेवाले हैं। ज्ञानसूर्योदयकी 'अष्टशती' प्रबोधचन्द्रोदयकी 'उपनिषत्' है, काम, क्रोध, लोभ, दंभ, अहंकार, मन, विवेक आदि एक-से हैं। सूर्योदयकी 'दया' चन्द्रोदयकी 'भ्रद्धा' है। वहाँ दया खोई गई है, यहाँ भ्रद्धा लापता है। वहाँ अष्टशतीका पति 'प्रबोध' है और यहाँ उपनिषत्का पति 'पुरुष' है।

ज्ञानसूर्योदयके कर्ताने प्रबोधचन्द्रोदयके समान बौद्धोंका मजाक तो उड़ाया ही है, साथ ही श्वेताम्बर सम्प्रदायकी भी खबर ली है और क्षपणककी जगह सितपट यतिको खड़ा कर दिया है! गुजरातमें शायद उस समय दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदायोंमें काफी विरोध था और उसीकी यह प्रतिध्वनि है।

इस ग्रन्थके अन्तमें कविने अपना जो परिचय दिया है उससे मालूम होता है कि वे 'मूलसंघी ज्ञानभूषणभट्टारकके प्रशिष्य और प्रभाचन्द्रके शिष्य थे। माघसुदी अष्टमी वि० सं० १६४८ के दिन मधूक नगरमें यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ।

मधूक नगर बहुत करके भावनगरका महुआ बन्दर होगा। महुआ नामका एक स्थान गुजरातमें भी है।

इस नाटककी उत्थानिकामें कमलसागर और कीर्तिसागर नामके दो ब्रह्म-चारियोंका उल्लेख है जिनकी आज्ञासे सूत्रधार इस नाटकको खेलनेकी इच्छा प्रकट करता है। ये दोनों वादिचन्द्रके शिष्य जान पड़ते हैं।

इस ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद मैंने सन् १९०९ में जैन-ग्रन्थरत्नाकरकार्यालय-द्वारा प्रकाशित किया था, जो बहुत समयसे अप्राप्य है।

वादिचन्द्रसूरिका दूसरा ग्रन्थ 'पवनदूत' नामका एक खण्डकाव्य है जिसकी पद्यसंख्या १०१ है। यह निर्णयसागर प्रेसकी काव्यमालाके तेरहवें गुच्छकमें प्रकाशित हो चुका है। मेरे स्वर्गीय मित्र पं० उदयलालजी काशलीवालने इसे सन् १९१४ में हिन्दी अनुवादसहित जैन-साहित्यप्रसारक कार्यालयद्वारा प्रकाशित किया था।

यह काव्य मेघदूतके ढँगका है। जिस प्रकार कालिदासके विरही यक्षने मेघके द्वारा अपनी पत्नीके पास सन्देश भेजा है उसी प्रकार इसमें उज्जयिनीके राजा विजयने अपनी प्राणप्रिया ताराके पास जिसे अशनिवेग नामका विद्याधर हर ले

१—मूलसंघे समासाद्य ज्ञानभूषं बुधोत्तमः ।

दुस्तरं हि भवाम्भोधिं सुतरं मन्वते हृदि ॥ १ ॥

तत्पट्टामलभूषणं समभवद्गैगम्बरीये मते

चञ्चद्बर्हकरः समातिचतुरः श्रीमत्प्रभाचन्द्रमाः ।

तत्पट्टेऽजनि वादिवृन्दतिलकः श्रीवादिचन्द्रो यति—

स्तेनायं व्यरचि प्रबोधतरणिर्भव्याब्जसम्बोधनः ॥ २ ॥

वसु-वेद-रसाब्जांके वर्षे माघे सिताष्टमीदिवसे

श्रीमन्मधूकनगरे सिद्धोऽयं बोधसंरम्भः ॥ ३ ॥

२ वि० सं० १५०० का महुवा बन्दर ग्रामके लक्ष्मीनारायणके मन्दिरमें एक लेख है। उसमें महुवाका संस्कृत नाम 'मधुमती' लिखा है।—भावनगर प्राचीन-शोध-संग्रह १-५६-५८

गया था, पवनको दूत बनाकर विरह-सन्देश भेजा है। सुन्दर और सरस रचना है। इसके अन्तर्गत पद्यमें कविके नामके सिवाय और कोई परिचय नहीं दिया गया है परन्तु हमारी समझमें ज्ञानसूत्रादिके कर्त्ता वादिचन्द्रकी ही यह रचना होनी चाहिए जो कि प्रभाचन्द्रके शिष्य थे। इसके उपान्त्य पद्य (१००) में ' श्रीविजयनृपते: ' को जो ' श्रीप्रभाचन्द्रकीर्ति: ' विशेषण दिया गया है उससे कविके गुरुका नाम भी ध्वनित होता है।

इटावेके सरस्वतीभंडारमें स्व० गुरुजीने (पं० पन्नालालजी वाकलीवालने) वादिचन्द्रसूरिके पार्श्वपुराण नामके ग्रन्थको देखा था और उसकी प्रशस्ति मेरे पास भेज दी थी। उसमें प्रभाचन्द्रको बौद्ध आदि तमाम दर्शनिकोंसे बड़ा बतला कर कहा है कि उन प्रभाचन्द्र आचार्यके पट्टको सुशोभित करनेवाले वादिचन्द्र-सूरिने कार्तिक सुदी पंचमी सं० १६४० में बाल्मीकी नगरमें १५०० श्लोकप्रमाण इस पार्श्वपुराणको रचा।

बम्बईके पन्नालाल सरस्वती-भवनमें श्रीपाल आख्यान ३१४८^२ ज ख नामक एक

१-पादौ नत्वा जगदुपकृतावर्ध[र्थ ?]सामर्थ्यवन्तौ

विघ्नध्वान्तप्रसरतरणे: शान्तिनाथस्य भक्त्या।

श्रोतुं चैतत्सदसि गुणिना वायुदूताभिधानं

काव्यं चक्रे विगतवसन: स्वल्पवीर्वादिचन्द्र: ॥

२-बौद्धो मूढति बौद्धगर्भितमति: काणादको मूकति

भट्टो भृत्यति भावनाप्रतिभटो मीमांसको मन्दति।

सांख्य: शिष्यति सर्वथैव क...नं वैशेषिको रंकति

यस्य ज्ञानकृपाणतो विजयतां सोऽयं प्रभाचन्द्रमा: ॥ १

तत्पट्टमण्डनं सूरिर्वादिचन्द्रो व्यरीरचत्

पुराणमेतत्पार्श्वस्य वादिवृन्दशिरोमणि: ॥ २

शून्याब्दे रसाब्जाङ्के वर्षे पक्षे समुज्ज्वले।

कार्तिके मासि पंचम्यां बाल्मीके नगरे मुदा ॥ ३

पार्श्वनाथपुराणस्य नानाभेदार्यवाचिन:।

पंचदशशतान्यत्र ज्ञेया श्लोका: सुलेखकै: ॥ ४

ग्रन्थ है जिसकी भाषा गुजरातीमिश्रित हिन्दी है। उसके अन्तिम अंशसे मालूम होता है कि विद्यानन्दिके पट्टपर मल्लिभूषण, उनके पट्टपर लक्ष्मीचन्द्रसूरि, फिर वीरचन्द्र, ज्ञानभूषण, प्रभाचन्द्र और उनके शिष्य वादिचन्द्र हुए। यह प्रबन्ध संवत् १६५१ में संघपति धनजी सवाके कहनेसे बना।

उक्त प्रशस्तिमें जो लक्ष्मीचन्द्र और वीरचन्द्र हैं, वे वही हैं जिनका उल्लेख ज्ञानभूषणने अपने सिद्धान्तसारें भाष्यके मंगलाचरण 'लक्ष्मीवीरेन्दुसेवितं' पदसे किया है। ज्ञानभूषण शायद सागवाड़ेकी गद्दीके भट्टारक थे।

वादिचन्द्रसूरिके पाण्डवपुराण, होलिकाचरित्र और सुभगसुलोचनाचरित नामक

१—मूलसंघमांहां उदयो दिवाकर विद्यानंदि विशाल जी ।

तास पाटे गुरु मल्लिभूषण वाणी अमिय रसाल जी ॥ ५ ॥

तसपद लक्ष्मीचंद्र सूरि सोहे मोहे भवियण मन जी ।

वीरचंद्र नाम जे जेपे तस जीव्युं धन धन्य जी ॥ ६ ॥

प्रगत पाट त अनुक्रमे मानुं ज्ञानभूषण ज्ञानवंत जी ।

तस पद-कमल-भ्रमर अविचलजस प्रभाचंद जयवंत जी ॥ ७ ॥

जगमोहन पाटे उदयो वादीचंद्र गुणाल जी ।

नवरस गीतें जेणें गायो चक्रवर्ति श्रीपाल जी ॥ ८ ॥

संवत सोल एकावना वर्षे कीधो य परबंध जी ।

भवियन थिरमन करीनैं सुणज्यो नित्य संबंध जी ॥ ९ ॥

दान दीजे जिनपूजा कीजे समकित मनैं राखिजे जी ।

सुत्रज भनिए णवकार गणिए असत्य न विभाषिजे जी ॥ १० ॥

लोभ तजीजे ब्रह्म धरीजे साँभल्यानुं फल एह जी ।

ए गीत जे नरनारी सुणसे अनेक मंगलतरु गेह जी ॥ ११ ॥

संघपति धनजी सवा बचनैं कीधो ए परबंध जी ।

केवली श्रीपाल पुत्रसाहित तुम्ह नित्य नित्य करो जयकारजी ॥ १२ ॥

इति श्री-श्रीपालाख्याने भट्टारकवादिचंद्रविरचिते चतुर्थोऽध्यायः समाप्त ॥छ॥श्री॥

२ माणिकचन्द्र-जैनग्रन्थमालाका २१ वाँ ग्रन्थ ।

दो ग्रन्थोंका उल्लेख और मिलता है जिनमेंसे पिछला ईडरके पुस्तक-भंडारमें है । गुजरातीमें भी इनके अनेक ग्रन्थ होनेका अनुमान किया जाता है । बहुत करके वे गुजरातके ही रहनेवाले थे ।

वादिचन्द्रसूरिका एक और ग्रन्थ 'यशोधरचरित' भी है, जिसे उन्होंने अंकलेश्वर (भरोच) के चिन्तामणि-मन्दिरमें रहकर वि० सं० १६५७ में पूर्ण किया था ।

पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारको इस ग्रन्थकी जो प्रति मिली थी वह वि० सं० १६७३ की अर्थात् ग्रन्थ-रचनाके ३६ वर्ष बादकी ही लिखी हुई थी । उक्त प्रति वादिचन्द्रके पट्टपर ही विराजमान होनेवाले महीचन्द्र भट्टारकको एक धर्मात्मा स्त्रीके द्वारा भेंट की गई थी ।

१-तत्पट्टविशदख्यातिर्वादिचन्द्रमतल्लिका

कथामेनां दयासिद्धयै वादिचन्द्रो व्यरीरचत् ॥ ८० ॥

अंकलेश्वरसुग्रासे श्रीचिन्तामणिमन्दिरे

सप्तपंचरसान्जांके वर्षेऽकारि सुशास्त्रकम् ॥ ८१ ॥

पद्मचरित और पउमचरिय

परिचय

आचार्य रविषेणका पद्मचरित (पद्मपुराण) संस्कृतका बहुत ही प्रसिद्ध ग्रन्थ है और उसका हिन्दी अनुवाद तो उत्तर भारतके जैनोंमें घर घर पढ़ा जाता है, परन्तु विमलसूरिके पउमचरियको बहुत ही कम लोग जानते हैं, क्योंकि एक तो वह प्राकृतमें है और दूसरे उसका कोई अनुवाद नहीं हुआ ।

रविषेणने पद्मचरितकी रचना महावीर भगवान्के निर्वाणके १२०३ वर्ष बाद अर्थात् वि० सं० ६३४ के लगभग और विमलसूरिने वीर नि० सं० ५३० या वि० सं० ६० के लगभग की थी । इस हिसाबसे पउमचरिय पद्मचरितसे ४७० वर्ष पहलेकी रचना है । जिस तरह पउमचरिय प्राकृत जैन-कथा-साहित्यका सबसे प्राचीन ग्रन्थ है, उसी तरह पद्मपुराण संस्कृत जैन-कथा-साहित्यका सबसे पहला ग्रन्थ है ।

विमलसूरि राहू नामक आचार्यके प्रशिष्य और विजयाचार्यके शिष्य थे^१ । विजय नाइलकुलके थे । इसी तरह रविषेण अर्हन्मुनिके प्रशिष्य और लक्ष्मणसेनके शिष्य

१-माणिकचन्द्र-जैन-ग्रन्थमाला, बम्बईद्वारा प्रकाशित ।

२-जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर द्वारा प्रकाशित ।

३-द्विशताभ्यधिके समासहस्रे समतीतेऽर्धचतुर्थवर्षयुक्ते ।

जिनमास्करवर्द्धमानसिद्धे चरितं पद्ममुनेरिदं निबद्धम् ॥ १८५ ॥

४-पंचेव वाससया दुसमाए तीसवरससंजुता ।

वीरे सिद्धिमुवगाए तओ निबद्धं इमं चरियं ॥ १०३ ॥

५-राहू नामायरिओ स-समय-परसमयगहियसग्भाओ ।

विजओ य तस्स सीसो नाइलकुलवंसनंदियरो ॥ ११७ ॥

सीसेण तस्स रइयं राहवचरियं तु सूरिविमलेण ।

सोऊणं पुव्वगए नांरायण-सीरि-चरियाइं ॥ ११८ ॥

थे। अर्हन्मुनिके गुरु दिवाकर यति और उनके गुरु इन्द्र थे।

नाइलकुलका उल्लेख नन्दिसूत्र-पट्टावलीमें मिलता है। भूतदिन आचार्यको भी जो आर्य नागार्जुनके शिष्य थे 'नाइलकुलवंशनंदिकर' विशेषण दिया गया है। जैनागमोंकी नागार्जुनी वाचनाके कर्त्ता यही माने जाते हैं। मुनि श्रीकल्याणविजयजी आर्य स्कन्दिल और नागार्जुनको लगभग समकालीन मानते हैं^२ और आर्य स्कन्दिलका समय वि० सं० ३५६ के लगभग है। पुष्पिकामें विमल-सूरिको पूर्वधर कहा है।

रविषेणने न तो अपने किसी संघ या गण-गच्छका कोई उल्लेख किया है और न स्थानादिकी ही कोई चर्चा की है। परन्तु सेनान्त नामसे अनुमान होता है कि शायद वे सेनसंघके हों यद्यपि नामोंसे संघका निर्णय सदैव ठीक नहीं होता। इनकी गुरुपरम्पराके पूरे नाम इन्द्रसेन, दिवाकरसेन, अर्हत्सेन और लक्ष्मणसेन होंगे, ऐसा जान पड़ता है।

उद्योतनसूरिने अपनी कुवलयमालामें जो वि० सं० ८३५ के लगभगकी रचना है विमलसूरिके विमैलोक (पउमचरिय) की और रविषेणके पद्मचरितकी (तथा जटिलमुनिके वरांगचरितकी भी) प्रशंसा की है^५। इससे मालूम होता है कि उनके सामने ये दोनों ही ग्रन्थ मौजूद थे।

१ आसीदिन्द्रगुरोर्दिवाकरयतिः शिष्योऽस्य चार्हन्मुनिः ।

तस्मैल्लक्ष्मणसेनसन्मुनिरदः शिष्यो रविस्तत्स्मृतः ॥ ६९ ॥

२ देखो, 'बीर-निर्वाण-संवत् और जैन-कालगणना', नागरी-प्रचारिणी पत्रिका भाग १०-११

३-जारसियं विमलंको विमलंको तारिसं लहइ अत्थं ।

अमयमइयं च सरसं सरसंचिय पाइअं जस्स ॥

४-जेहि कए रमणिजे वरांग-पउमाणचरियविस्थारे ।

कइव ण सलाहणिजे ते कइणो जडिय-रविसेणो ॥

५-पुत्राटसंधीय जिनसेनने और अपभ्रंश भाषाके कवि धवलने रविषेणके बाद जटिल-मुनिका उल्लेख किया है, इससे अनुमान होता है कि जटा-सिंहनन्दिका वरांगचरित शायद रविषेणके पद्मचरितके बादका हो ।

६-पउमचरियकी जयसिंहदेवके राज्य-कालमें एक ताडपत्रपर लिखी गई वि० सं० ११९८ की प्रति भडोचमें उपलब्ध हुई है। (देखो जैसलमेरके ग्रन्थ-मंडारकी सूची पृ० १७)

आचार्य जिनसेन (पुत्राटसंघीय) ने भी अपने हरिवंशपुराण (वि० सं० ८४०) में, उद्योतनसरिके पाँच वर्ष बाद ही, रविषेणके पद्मचरितकी प्रशंसा की है।

प्राकृतका पल्लवित छायानुवाद

दोनों ग्रन्थकर्ताओंने अपने अपने ग्रन्थमें रचना-काल दिया है, उससे यह स्पष्ट है कि पउमचरिय पद्मपुराणसे पुराना है और दोनों ग्रन्थोंका अच्छी तरह मिलान करनेसे मालूम होता है कि पद्मपुराणके कर्त्ताके सामने पउमचरिय अवश्य मौजूद था। पद्मपुराण एक तरहसे प्राकृत पउमचरियका ही पल्लवित किया हुआ संस्कृत छायानुवाद है। पउमचरिय अनुष्टुप् श्लोकोंके प्रमाणसे दस हजार है और पद्मचरित अठारह हजार। अर्थात् प्राकृतसे संस्कृत लगभग पौने दो गुना है। प्राकृत ग्रन्थकी रचना आर्या छन्दमें की गई है और संस्कृतकी अनुष्टुप् छन्दमें, इसलिए पद्मपुराणमें पद्य तो शायद दो गुनेसे भी अधिक होंगे। छायानुवाद कहनेके कुछ कारण—

- १ दोनोंका कथानक बिल्कुल एक है और नाम भी एक है।
- २ पवों या उद्देश्यों तकके नाम दोनोंके प्रायः एकसे हैं।
- ३ हरएक पर्व या उद्देश्यके अन्तमें दोनोंने छन्द बदल दिये हैं।
- ४ पउमचरियके उद्देश्यके अन्तिम पद्यमें 'विमल' और पद्मचरितके अन्तिम पद्यमें 'रवि' शब्द अवश्य आता है। अर्थात् एक विमलाङ्क है और दूसरा रव्यङ्क।
- ५ पद्मचरितमें जगह जगह प्राकृत आर्योंका शब्दशः संस्कृत अनुवाद दिखलाई देता है। ऐसे कुछ पद्य इस लेखके परिशिष्टमें नमूनेके तौरपर दे दिये गये हैं और उसी तरहके सैकड़ों और भी दिये जा सकते हैं।

पल्लवित कहनेका कारण यह है कि मूलमें जहाँ स्त्री-रूपवर्णन, नगर-उद्यानवर्णन आदि प्रसंग दो चार पद्योंमें ही कह दिये गये हैं वहाँ अनुवादमें ज्योड़े दूने पद्य लिखे गये हैं। इसके भी कुछ नमूने अन्तमें दे दिये गये हैं।

पउमचरियके कर्त्ताने चौथे उद्देश्यमें ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति बतलाते हुए कहा है कि जब भरत चक्रवर्तीको मालूम हुआ कि वीर भगवानके अवसानके बाद ये लोग कुतरीयों पाषण्डी हो जायेंगे और शूढ़े शास्त्र बनाकर यज्ञोंमें पशुओंकी हिंसा करेंगे, तब उन्होंने उन्हें शीघ्र ही नगरसे निकाल देनेकी आशा दे दी, और इस

१-कृतपद्मोदयोद्योता प्रत्यहं परिवर्तिता।

मूर्तिः काव्यप्रयी लोके खेरिव खेः प्रिया ॥ ३४ ॥

कारण जब लोग उन्हें मारने लगे, तब ऋषभदेव भगवानने भरतको यह कहकर रोका कि हे पुत्र, इन्हें 'मा हण, मा हण' मत मारो, मत मारो, तबसे उन्हें 'माहण' कहने लगे।

संस्कृत 'ब्राह्मण' शब्द प्राकृतमें 'माहण' (ब्राह्मण) हो जाता है। इसलिए प्राकृतमें तो उसकी ठीक उपपत्ति उक्त रूपसे बतलाई जा सकती है। परन्तु संस्कृतमें वह ठीक नहीं बैठती। क्योंकि संस्कृत 'ब्राह्मण' शब्दमेंसे 'मत मारो' जैसी कोई बात खींच-तानकर भी नहीं निकाली जा सकती। संस्कृत 'पद्मपुराण' के कर्त्ताके सामने यह कठिनाई अवश्य आई होगी, परन्तु वे लाचार थे। क्योंकि मूल कथा तो बदली नहीं जा सकती, और संस्कृतके अनुसार उपपत्ति बिठानेकी स्वतंत्रता कैसे ली जाय ? इस लिए अनुवाद करके ही उनको सन्तुष्ट होना पड़ा।—

यस्मान्मा हननं पुत्र कार्षीरिति निवारितः ।

ऋषभेण ततो याता 'माहना' इति ते श्रुतिम् ॥ ४-१२२

इस प्रसंगसे यही जान पड़ता है कि प्राकृत ग्रन्थसे ही संस्कृत ग्रन्थकी रचना हुई है।

परन्तु इसके विरुद्ध कुछ लोगोंने तो यह कहने तर्कका साहस किया है कि संस्कृतसे प्राकृतमें अनुवाद किया गया है। परन्तु मेरी समझमें वह कोरा साहस ही है। प्राकृतसे तो संस्कृतमें बीसों ग्रन्थोंके अनुवाद हुए हैं^२ बल्कि साराका सारा प्राचीन जैनसाहित्य ही प्राकृतमें लिखा गया था। भगवान् महावीरकी दिव्यध्वनि भी अर्धमागधी प्राकृतमें ही हुई थी। संस्कृतमें ग्रन्थ-रचना करनेकी ओर तो जैनाचार्योंका ध्यान बहुत पीछे गया है और संस्कृतसे प्राकृतमें अनुवाद किये जानेका तो शायद एक भी उदाहरण नहीं है।

१—मा हणसु पुत्त एए जं उसमजिणेण वारिओ भरहो ।

तेण इमे सयल चिय बुच्चंति य 'माहणा' लोए ॥ ४-८४

२ उदाहरणार्थ भगवती आराधना और पंच-संग्रहके अमितगतिसंस्कृत संस्कृत अनुवाद, देवसेनके भावसंग्रहका वामदेवकृत संस्कृत अनुवाद, अमरकीर्तिके 'छक्कीमवपस' का संस्कृत 'पट्कर्मापदेश-माला' नामक अनुवाद, सर्वनाम्निके लोकविभागका सिंहसरिद्ध संस्कृत अनुवाद आदि।

इसके सिवाय प्राकृत पउमचरियकी रचना जितनी सुन्दर, स्वभाविक और आडम्बररहित है, उतनी पद्मचरितकी नहीं है। जहाँ जहाँ वह शुद्ध अनुवाद है, वहाँ तो खैर ठीक है, परन्तु जहाँ पल्लवित किया गया है वहाँ अनावश्यक रूपसे बोझिल हो गया है। उदाहरणके लिए अंजना और पवनंजयके समागमको ले लीजिए। प्राकृतमें केवल चार पाँच आर्या छन्दोंमें ही इस प्रसंगको सुन्दर ढंगसे कह दिया गया है, परन्तु संस्कृतमें बाईस पद्य लिखे गये हैं और बड़े विस्तारसे आलिंगन-पीडन, चुम्बन, दशनच्छद, नीवी-विमोचन, सीत्कार, आदि काम-कलायें चित्रित की गई हैं जो अश्लीलताकी सीमा तक पहुँच गई हैं।

पउमचरियके रचना-कालमें सन्देह

विमलसूरिने स्वयं पउमचरियकी रचनाका समय वीर नि० सं० ५३० (वि० ६०) दिया है; परन्तु कुछ विद्वानोंने इसमें सन्देह किया है। डा० हर्मन जैकोबी उसकी भाषा और रचना-शैलीपरसे अनुमान करते हैं कि वह ईसाकी चौथी पाँचवीं शताब्दिसे पहलेका नहीं हो सकता। डा० कीथें, डा० बुलनैर आदि भी उसे ईसाकी तीसरी शताब्दिके लगभगकी या उसके बादकी रचना मानते हैं। क्योंकि उसमें 'दीनार' शब्दका और ज्योतिषशास्त्रसम्बन्धी कुछ ग्रीक शब्दोंका उपयोग किया गया है। दी० ब० केशवराव ध्रुव तो उसे और भी अर्वाचीन कहते हैं। वे छन्दोंके क्रम-विकासके इतिहासके विशेषज्ञ माने जाते थे। इस ग्रन्थके प्रत्येक उद्देशके अन्तमें जो गाहिणी, शरभ आदि छन्दोंका उपयोग किया गया है, वह उनकी समझमें अर्वाचीन है। गीतिमें यमक और सर्गान्तमें 'विमल' शब्दका आना भी उनकी दृष्टिमें अर्वाचीनताका द्योतक है। परन्तु हमें इन दलीलोंमें कुछ अधिक सार नहीं दिखता। ये अधिकतर ऐसे अनुमान हैं जिनपर बहुत भरोसा नहीं रक्खा जा सकता, ये गलत भी हो सकते हैं और जब स्वयं ग्रन्थकर्त्ता अपना समय दे रहा है, तब अविश्वास करनेका कोई कारण भी तो नहीं दीखता। इसके सिवाय डा० विंटरनीज़, डा० लायमन, आदि विद्वान् वीर नि० ५३० को ही पउमचरियकी रचनाका काल मानते हैं। न माननेका उनकी समझमें कोई कारण भी नहीं है।

१ एन्साइक्लोपेडिया आफ रिलीजन एण्ड पथिक्स भाग-७, पृ० ४३७ और माडर्न रिब्यू दिसम्बर सन् १९१४। २ कीथका संस्कृत साहित्यका इतिहास। ३ इन्ट्रोडक्शन टू प्राकृत।

राम-कथाकी विभिन्न धारायें

राम-कथा भारतवर्षकी सबसे अधिक लोकप्रिय कथा है और इसपर विपुल साहित्य निर्माण किया गया है। हिन्दू, बौद्ध और जैन इन तीनों ही प्राचीन सम्प्रदायोंमें यह कथा अपने अपने ढँगसे लिखी गई है और तीनों ही सम्प्रदायवाले रामको अपना अपना महापुरुष मानते हैं।

अभी तक अधिकांश विद्वानोंका मत यह है कि इस कथाको सबसे पहले वाल्मीकि मुनिने लिखा और संस्कृतका सबसे पहला महा काव्य (आदि काव्य) वाल्मीकि-रामायण है। उसके बाद यह कथा महाभारत, ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, अग्निपुराण, वायुपुराण आदि सभी पुराणोंमें थोड़े थोड़े हेर फेरके साथ संक्षेपमें लिपिबद्ध की गई है। इसके सिवाय अध्यात्म रामायण, आनन्द रामायण, अद्भुत रामायण नामसे भी कई रामायण ग्रन्थ लिखे गये। बृहत्तर भारतके जावा, सुमात्रा आदि देशोंके साहित्यमें भी इसका अनेक रूपान्तरोंके साथ विस्तार हुआ।

अद्भुत रामायणमें सीताकी उत्पत्तिकी कथा सबसे निराली है। उसमें लिखा है कि दण्डकारण्यमें गृत्समद नामके एक ऋषि थे। उनकी स्त्रीने प्रार्थना की कि मेरे गर्भसे साक्षात् लक्ष्मी उत्पन्न हो। इसपर उसके लिए वे प्रतिदिन एक घड़ेमें दूधको अभिमंत्रित करके रखने लगे कि इतनेमें एक दिन वहाँ रावण आया और उसने ऋषिपर विजय प्राप्त करनेके लिए अपने वाणोंकी नोकें चुभा चुभाकर उनके शरीरका बूँद बूँद रक्त निकाला और उसी घड़ेमें भर दिया। फिर वह घड़ा उसने मन्दोदरीको जाकर दिया और चेता दिया कि यह रक्त विषसे भी तीव्र है। परन्तु मन्दोदरी यह सोचकर उस रक्तको पी गई कि पतिका मुझपर सच्चा प्रेम नहीं है और वह नित्य ही परस्त्रियोंमें रमण किया करता है, इस लिए अब मेरा मर जाना ही ठीक है। परन्तु उसके योगसे वह मरी तो नहीं, गर्भवती हो गई। पतिकी अनुपस्थितिमें गर्भ धारण हो जानेसे अब वह उसे छुपानेका प्रयत्न करने लगी और आखिर एक दिन विमानमें बैठकर कुक्षेत्र गई और उस गर्भको जमीनमें गाड़कर वापस चली आई। उसके बाद हल जोतते समय वह गर्भजात कन्या जनकजीको मिली और उन्होंने उसे पाल लिया। वही सीता है।

विष्णुपुराण (४-५) में भी लिखा है कि जिस समय जनकवंशीय राजा

सीरध्वज पुत्र-लामके लिए यज्ञ-भूमि जोत रहे थे, उसी समय लाङ्गलके अग्रभागसे सीता नामक दुहिता उत्पन्न हुई ।

बौद्धोंके जातक ग्रन्थ बहुत प्राचीन हैं जिनमें बुद्धदेवके पूर्व-जन्मकी कथायें लिखी गई हैं । दशरथ जातकके अनुसार काशीनरेश दशरथकी सोलह हजार रानीयों थीं । उनमेंसे मुख्य रानीसे राम लक्ष्मण ये दो पुत्र और सीता नामकी एक कन्या हुई । फिर मुख्य रानीके मरनेपर दूसरी जो पट्टरानी हुई उससे भरत नामका पुत्र हुआ । यह रानी बड़े पुत्रोंका हक मारकर अपने पुत्रको राज्य देना चाहती थी । तब इस भयसे कि कहीं यह बड़े पुत्रोंको मार न डाले, राजाने उन्हें बारह वर्षतक अरण्यवास करनेकी आज्ञा दे दी और वे अपनी बहिनके साथ हिमालय चले गये और वहाँ एक आश्रम बनाकर रहने लगे । नौ वर्षके बाद दशरथकी मृत्यु हो गई और तब मंत्रियोंके कहनेसे भरतादि उन्हें लेने गये, परन्तु वे अवधिके भीतर किसी तरह लौटनेको राजी नहीं हुए, इस लिए भरत रामकी पादुकाओंको ही सिंहासनपर रखकर उनकी ओरसे राज्य चलाने लगे । आखिर बारह वर्ष पूरे होनेपर वे लौटे, उनका राज्याभिषेक हुआ और फिर सीताके साथ ब्याह करके उन्होंने १६ हजार वर्ष तक राज्य किया ! पूर्वजन्ममें शुद्धोदन राजा दशरथ, उनकी रानी महामाया रामकी माता, राहुल-माता सीता, बुद्धदेव रामचन्द्र, उनके प्रधान शिष्य आनन्द भरत, और सारिपुत्र लक्ष्मण थे ।

इस कथामें सबसे अधिक खटकनेवाली बात रामका अपनी बहिन सीताके साथ ब्याह करना है । परन्तु इतिहास बतलाता है कि उस कालमें शाक्योंके राज-घरानोंमें राजवंशकी शुद्धता सुरक्षित रखनेके लिए भाईके साथ भी बहिनका विवाह कर दिया जाता था । यह एक रिवाज था ।

इस तरह हम हिन्दू और बौद्ध साहित्यमें राम-कथाके तीन रूप देखते हैं, एक वाल्मीकि रामायणका, दूसरा अद्भुत रामायणका और तीसरा बौद्ध जातकका ।

जैन रामायणके दो रूप

इसी तरह जैन-साहित्यमें भी राम-कथाके दो रूप मिलते हैं, एक तो पउमचरिय और पद्मचरितका और दूसरा गुणभद्राचार्यके उत्तरपुराणका । पद्मचरित या पउमचरियकी कथा तो प्रायः सभी जानते हैं, क्योंकि जैनरामायणके रूपमें उसीकी सबसे अधिक प्रसिद्धि है, परन्तु उत्तरपुराणकी कथाका उतना प्रचार नहीं है जो उसके ६८ वें पर्वमें वर्णित है । उसका बहुत संक्षिप्त सार यह है—

राजा दशरथ काशी देशमें वाराणसीके राजा थे। रामकी माताका नाम सुवाला और लक्ष्मणकी माताका नाम केकेयी था। भरत-शत्रुघ्न किसके गर्भमें आये थे, यह स्पष्ट नहीं लिखा। केवल 'कस्यांचित् देव्यां' लिख दिया है। सीता मन्दोदरीके गर्भसे उत्पन्न हुई थी; परन्तु भविष्यद्वक्ताओंके यह कहनेसे कि वह नाशकारिणी है, रावणने उसे मंजुषामें रखवाकर मरीचिके द्वारा मिथिलामें भेजकर जमीनमें गड़वा दिया। दैवयोगसे हलकी नोकमें उलझ जानेसे वह राजा जनकको मिल गई और उन्होंने उसे अपनी पुत्रीके रूपमें पाल ली। इसके बाद जब वह ब्याहके योग्य हुई, तब जनकको चिन्ता हुई। उन्होंने एक वैदिक 'यज्ञ' किया और उसकी रक्षाके लिए राम-लक्ष्मणको आग्रहपूर्वक बुलवाया। फिर रामके साथ सीताको ब्याह दिया। यज्ञके समय रावणको आमंत्रण नहीं भेजा गया, इससे वह अत्यन्त क्रुद्ध हो गया और इसके बाद जब नारदके द्वारा उसने सीताके रूपकी अतिशय प्रशंसा सुनी तब वह उसको हर लानेकी सोचने लगा।

केकेयीके हठ करने, रामको वनवास देने, आदिका इस कथामें कोई जिक्र नहीं है। पंचवटी, दण्डकवन, जटायु, सूर्पनखा, खरदूषण आदिके प्रसंगोंका भी अभाव है। बनारसके पासके ही चित्रकूट नामक वनसे रावण सीताको हर ले जाता है और फिर उसके उद्धारके लिए लंकामें राम-रावण युद्ध होता है। रावणको मारकर राम दिग्विजय करते हुए लौटते हैं और फिर दोनों भाई बनारसमें राज करने लगते हैं। सीताके अपवादकी और उसके कारण उसे निर्वासित करनेकी भी चर्चा इसमें नहीं है। लक्ष्मण एक असाध्य रोगमें ग्रसित होकर मर जाते हैं और इससे रामको उद्वेग होता है। वे लक्ष्मणके पुत्र पृथ्वीसुन्दरको राजपदपर और सीताके पुत्र अजितजयको युवराजपदपर अभिषिक्त करके अनेक राजाओं, और अपनी सीता आदि रानियोंके साथ जिन-दीक्षां ले लेते हैं।

इसमें सीताके आठ पुत्र बतलाये हैं, पर उनमें लव-कुशका नाम नहीं है। दशानन विनमि विद्याधरके वंशके पुलस्त्यका पुत्र था। शत्रुओंको रूलाता था, इस कारण वह रावण कहलाया। आदि।

जहाँ तक मैं जानता हूँ, यह उत्तरपुराणकी राम-कथा श्वेताम्बर सम्प्रदायमें प्रचलित नहीं है। आचार्य हेमचन्द्रके त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितमें जो राम-कथा है, उसे मैंने पढ़ा है। वह बिल्कुल 'पउमचरिय' की कथाके अनुरूप है। ऐसा मालूम होता है कि पउमचरिय और पद्मचरित दोनों ही हेमचन्द्राचार्यके सामने मौजूद थे।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, दिगम्बर सम्प्रदायमें भी इसी कथाका अधिक प्रचार है और पीछेके कवियोंने तो प्रायः इसी कथाको संक्षिप्त या पल्लवित करके अपने अपने ग्रन्थ लिखे हैं। फिर भी उत्तरपुराणकी कथा बिल्कुल उपेक्षित नहीं हुई है। अनेक कवियोंने उसको भी आदर्श मानकर काव्य-रचना की है। उदाहरणके लिए महाकवि पुष्पदन्तको ही ले लीजिए। उन्होंने अपने उत्तर-पुराणके अन्तर्गत जो रामायण लिखी है, वह गुणभद्रकी कथाकी ही अनुकृति है। चामुण्डराय-पुराणमें भी यही कथा है।

पद्मचरिय और पद्मचरितकी कथाका अधिकांश वाल्मीकि रामायणके दंगका है और उत्तरपुराणकी कथाका जानकी-जन्म अद्भुत रामायणके दंगका। दशरथ बनारसके राजा थे, यह बात बौद्ध जातकसे मिलती जुलती है। उत्तरपुराणके समान उसमें भी सीता-निर्वासन, लव-कुश-जन्म आदि नहीं हैं।

अर्थात् भारतवर्षमें राम-कथाकी जो दो तीन परम्परायें हैं, वे जैन सम्प्रदायमें भी प्राचीन कालसे चली आ रही हैं। पद्मचरियके कर्त्ताने कहा है कि उस पद्मचरितको मैं कहता हूँ जो आचार्योंकी परम्परासे चला आ रहा था और नामावली-निबद्ध था। इसका अर्थ मैं यह समझता हूँ कि रामचन्द्रका चरित्र उस समय तक केवल नामावलीके रूपमें था, अर्थात्, उसमें कथाके प्रधान-प्रधान पात्रोंके, उनके माता-पिताओं, स्थानों और भवान्तरों आदिके नाम ही होंगे, वह पल्लवित कथाके रूपमें न होगा और उसीकी विमलसूरिने विस्तृत चरितके रूपमें रचना की होगी।

श्रीधर्मसेन गणिने वसुदेव-हिंडिके दूसरे खंडमें जो कुछ कहा है उससे भी यही मालूम होता है कि उनका वसुदेवचरित भी गणितानुयोगके क्रमसे निर्दिष्ट था।

१-नामावल्यनिबद्धं आयरियपरंपरागयं सत्त्वं ।

वोच्छामि पद्मचरियं अहाणुपुर्व्वि समासेण ॥ ८ ॥

२ जैनआचार्योंके अनेक कथा-ग्रन्थोंमें परस्पर जो असमानता है, भिन्नता है, उसका कारण भी यही मालूम होता है। उनके सामने कुछ तो 'नामावलीनिबद्ध' साहित्य था और कुछ आचार्यपरम्परासे चली आई हुई स्मृतियाँ थीं। इन दोनोंके आधारसे अपनी अपनी रुचिके अनुसार कथाको पल्लवित करनेमें भिन्नता हो जाना स्वाभाविक है। एक ही संक्षिप्त प्लॉटकी यदि आप दो लेखकोंको देंगे तो उन दोनोंकी पल्लवित रचनायें निस्सन्देह भिन्न ही जायेंगीं। तिलोत्पण्णत्तिमें जो करणानुयोगका ग्रन्थ है, उक्त नामावलीनिबद्ध कथा-सूत्र दिये हुए है।

उसमें कुछ श्रुत-निबद्ध था और कुछ आचार्यपरम्परागत था ।

जब विमलसूरी पूर्वोक्त नामावलीके अनुसार अपने ग्रन्थकी रचनामें प्रवृत्त हुए होंगे, तब ऐसा मालूम होता है कि उनके सामने अवश्य ही कोई लोक-प्रचलित रामायण ऐसी रही होगी जिसमें रावणादिको राक्षस, वसा-रक्त-मांसका खाने-पीनेवाला और कुम्भकर्णको छह छह महीने तक इस तरह सोनेवाला कहा है कि पर्वततुल्य हाथियोंके द्वारा अंग कुचले जाने, कानोंमें घड़ों तेल डाले जाने और नगाड़े बजाये जाने पर भी वह नहीं उठता था और जब उठता था तो हाथी भैंसे आदि जो कुछ सामने पाता था, सब निगल जाता था । उनकी यह भूमिका इस बातका संकेत करती है कि उस समय वैष्णवी रामायण या उसी जैसी कोई राम-कथा प्रचलित थी और उसमें अनेक अलंकार, उपपत्तिविरुद्ध और अविश्वसीय बातें थीं, जिन्हें सत्य, सोपपत्तिक और विश्वासयोग्य बनानेका विमलसूरीने प्रयत्न किया है । जैनधर्मका नामावलीनिबद्ध ढाँचा उनके समक्ष था ही और श्रुतिपरम्परा या आचार्यपरम्परासे आया हुआ कुछ कथासूत्र भी था । उसीके आधारपर उन्होंने पउमचरियकी रचना की होगी ।

उत्तरपुराणके कर्त्ता उनसे और रविषेणसे भी बहुत पीछे हुए हैं, फिर उन्होंने इस कथानकका अनुसरण क्यों नहीं किया, यह एक प्रश्न है । यह तो बहुत कम संभव है कि इन दोनों ग्रन्थोंका उन्हें पता न हो और इसकी भी संभावना कम है कि उन्होंने स्वयं ही विमलसूरीके समान किसी लोकप्रचलित कथाको ही स्वतंत्र रूपसे जैनधर्मके सँचिमें ढाला हो क्योंकि उनका समय वि० सं० १५५ है,

१ “ अरहंत-चक्रि-वासुदेव-गणितानुयोग-क्रमणिद्विष्टं वसुदेवचरितं ति । तथ्य य किंचि सुयानिबद्धं किंचि आयरइ-परपरागण आगतं । ततो अवधारितं मे । ”

२ देखो आगे परिशिष्टमें पउमचरियकी नं० १०७ से ११६ तककी गाथायें ।

३ महाकवि पुष्पदन्तने तो अपने उत्तरपुराणमें राम-कथाका प्रारंभ करते हुए वाल्मीकि और व्यासका स्पष्ट उल्लेख भी किया है—

वम्मीयवासवयणिहिं णडिउ, अण्णाणु कुमग्गकूवि पडिउ ।—६९ वीं सन्धि

४ अलियं पि सत्त्वमेयं उववत्तिविरुद्धपच्चयगुणेहिं,
नय सद्दंति पुरिसा हवंति जे पंडिया लोए ॥

जो बहुत प्राचीन नहीं है। हमारा अनुमान है कि गुणभद्रसे बहुत पहले विमल-सूरिके ही समान किसी अन्य आचार्यने भी जैनधर्मके अनुकूल सोपपत्तिक और विश्वसनीय स्वतंत्र रूपसे राम-कथा लिखी होगी और वह गुणभद्राचार्यको गुरु-परम्पराद्वारा मिली होगी। गुणभद्रके गुरु जिनसेनस्वामीने अपना आदिपुराण कविपरमेश्वरकी गद्य-कथाके आधारसे लिखा था—“कविपरमेश्वरनिगदितगद्यक-थामातृकं पुरोश्चरितम्।” और उसके पिछले कुछ अंशकी पूर्ति स्वयं गुणभद्रने भी की है। जिनसेनस्वामीने कविपरमेश्वर या कविपरमेश्वरीको ‘वागर्थसंग्रह’ नामक समग्र पुराणका कर्त्ता बतलाया है^२। अतएव मुनि सुव्रत तीर्थकरका चरित्र भी गुणभद्रने उसीके आधारसे लिखा होगा जिसके अन्तर्गत राम-कथा भी है। चामुण्डरायने भी कवि परमेश्वरका स्मरण किया है।

गरज यह कि पउमचरिय और उत्तरपुराणकी राम-कथाकी दो धारायें अलग अलग स्वतंत्ररूपसे निर्मित हुई और वे ही आगे प्रवाहित होती हुई हम तक आई हैं।

इन दो धाराओंमें गुरुपरम्परा-भेद भी हो सकता है। एक परम्पराने एकधाराको अपनाया और दूसरीने दूसरीको। ऐसी दशामें गुणभद्र स्वामीने पउमचरियकी धारासे परिचित होनेपर भी इस खयालसे उसका अनुसरण न किया होगा कि वह हमारी गुरुपरम्पराकी नहीं है। यह भी संभव हो सकता है कि उन्हें पउमचरियके कथानककी अपेक्षा यह कथानक ज्यादा अच्छा मालूम हुआ हो।

पउमचरियकी रचना वि० सं० ६० में हुई है और यदि जैनधर्म दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेदोंमें वि० सं० १३६ के लगभग ही विभक्त हुआ है जैसा कि दोनों

१—देखो उत्तरपुराणकी प्रशस्ति।

२—स पूज्यः कविभिल्लोके कवीनां परमेश्वरः।

वागर्थसंग्रहं कृत्स्नपुराणं यः समग्रहीत् ॥ ६० ॥—आदिपुराण

३ महामात्य चामुण्डरायका बनाया हुआ त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण (चामुण्डराय-पुराण) कन्नड़ीभाषामें है। उसके प्रारम्भमें लिखा है कि इस चरित्रको पहले कूचि भट्टारक, तदनन्तर नन्दिमुनीश्वर, फिर कविपरमेश्वर और तदनन्तर जिनसेन-गुणभद्र आचार्य, एकके बाद एक, परम्परासे कहते आये हैं। इससे भी मालूम होता है कि कविपरमेश्वरका चौबीसों तीर्थ-करोंका चरित्र था। चामुण्डरायके समान गुणभद्रने भी उसीके आधारसे उत्तरपुराण लिखा होगा और कविपरमेश्वरसे भी पहले नन्दिमुनि और कूचिभट्टारकके इस विषयके ग्रन्थ होंगे।

सम्प्रदायवाले मानते हैं, तो फिर कहना होगा कि यह उस समयका है जब जैन-धर्म अविभक्त था। हमें इस ग्रन्थमें कोई ऐसी बात भी नहीं मिली जिसपर दोमेंसे किसी एक सम्प्रदायकी कोई गहरी छाप लगी हो और जिससे हम यह निर्णय कर सकें कि विमलसूरि अमुक सम्प्रदायके ही थे। बल्कि कुछ बातें ऐसी हैं जो श्वेताम्बर-परम्पराके विरुद्ध जाती हैं और कुछ दिगम्बरपरम्पराके विरुद्ध। इससे ऐसा मालूम होता है कि यह एक तीसरी ही, दोनोंके बीचकी, विचार-धारा थी।

पद्मचरियके कुछ विशिष्ट कथन

१—इस ग्रन्थके प्रारम्भमें कहा गया है कि भगवान् महावीरका समवसरण विपुलाचलपर आया, तब उसकी खबर पाकर मगध-नरेश श्रेणिक वहाँ पहुँचे और उनके पूछनेपर गोतम गणधरने रामकथा कही। दिगम्बर सम्प्रदायके प्रायः सभी कथा-ग्रन्थोंका प्रारम्भ इसी तरह होता है। कहीं कहीं गोतम स्वामीके बदले सुधर्मा स्वामीका नाम भी रहता है^२। परन्तु जहाँ तक हम जानते हैं श्वेताम्बर सम्प्रदायमें कथा-ग्रन्थोंको प्रारम्भ करनेकी यह पद्धति नहीं है। उनमें आम तौरसे सुधर्मा स्वामीने जम्बूसे कहा, इस तरह कहनेकी पद्धति है। जैसे कि संघदासवाचकने वसुदेव-हिंडिके प्रथमांशमें कहा है कि सुधर्म स्वामीने जम्बूसे प्रथमानुयोगत तीर्थकर-चक्रवर्ति-यादववंशप्ररूपणागत वसुदेवचरित कहा। अन्य ग्रन्थोंमें भी यही पद्धति है^३।

२—जिन भगवानकी माताको जो स्वप्न आते हैं, उनकी संख्या दिगम्बर सम्प्रदायमें १६ बतलाई है, जब कि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें १४ स्वप्न माने जाते हैं। परन्तु पद्मचरियमें १५ स्वप्न हैं^४। आवश्यककी हारिमद्रीय वृत्तिमें (पृ० १७८)

१—वीरस्स पवरठाणं विउलगिरीमत्थये मणभिरामे ।

तह इंदभूयिकहियं सेणियरणस्स णीसेसं ॥ ३४ ॥

२—श्रेणिकप्रश्नमुद्दिश्य सुधर्मो गणनायकः ।

यथोवाच मयाप्येतदुच्यते मोक्षलिप्सया ॥—क्षत्रचूडामणि

३ तत्थ ताव 'सुहम्मसाणिना जंजुनामस्स पढमानुओगे तिथयर-चक्रवट्टि-दसार-वंसपरु-वणागयं वसुदेवचरियं कहियं' ति तस्सेव पमवो कहेयव्वो, तप्पमवस्सयं पमवस्स त्ति ।

४ वसेह गयं सीहै वंसिरि दांमं सैसि रैवि झयं च कल्लेसं च ।

५ सैरि सौरं विमोणं वरभैवणं रयणकूडेग्गी ॥ ६२ ॥—तृ० उद्देस ।

लिखा है कि विमान और भवन ये दो स्वप्न ऐसे हैं कि इनमेंसे जिन-माताओंको एक ही आता है। जो तीर्थंकर देवत्वसे च्युत होकर आते हैं उनकी माता विमान देखती है और जो अधो लोकसे आते हैं उनकी माता भवन देखती है। परन्तु पउमचरियमें विमान और भवन दोनों ही स्वप्न मरुदेवीने एक साथ देखे हैं^१।

३—दूसरे उद्देशकी ३० वीं गाथामें भगवानको जब केवल-ज्ञान उत्पन्न हुआ, तब उन्हें 'अष्टकर्मरहित' विशेषण दिया गया है^२ और यह विशेषण शायद दोनों सम्प्रदायोंकी दृष्टिसे चिन्तनीय है। क्योंकि केवल-ज्ञान होते समय केवल चार घातिया कर्मोंका ही नाश होता है, आठोंका नहीं।

४—दूसरे उद्देशकी ६५ वीं गाथामें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति-को स्थावर और द्वीन्द्रियादि जीवोंको त्रस कहा है।^३ यह दिगम्बर मान्यता है। श्वेताम्बर सम्प्रदायके अनुसार पृथ्वी, जल और वनस्पति ही स्थावर हैं, अग्नि, वायु और द्वीन्द्रियादि त्रस हैं।

५—चौथे उद्देशकी ५८ वीं गाथामें भरत चक्रवर्तीकी ६४ हजार रानियाँ बतलाई हैं^४। यह संख्या श्वेताम्बर-परम्पराके अनुसार है, दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार चक्रवर्तीकी ९६ हजार रानियाँ होती हैं^५।

६—पउमचरियके दूसरे उद्देशमें भगवान् महावीर बाल-भावसे उन्मुक्त होकर तीस बरसके हो गये और फिर एक दिन संवेग होनेसे उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण कर

१ पञ्चचरितमें दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार स्वप्नोंकी संख्या १६ कर दी गई है—
“अद्रक्षीत्योऽश्वस्त्रानिति श्रेयोविधायिनः ॥”

२ अह अष्टकम्मरहियस्स तस्स ज्ञाणोवओगजुत्तस्स ।

सयलजगुज्जोयगारं केवलणाणं समुप्पण्णं ॥ ३०

३ पुढवि-जल-जलण-मांरुय-वणस्सई चेव थावरा भणिया ।

वेइंदियाइ जावउ, दुविहतसा सण्णि इयरे वा ॥ ६५

४ चउसट्टिसहस्साइं जुवईणं परमरूवघारीणं ।

वत्तीसं च सहस्सा राईणं बद्धमउड्डाणं ॥ ५८

५—पञ्चचरितमें रविषेणने यह संख्या अपने सम्प्रदायके अनुसार संशोधित करके ९६ हजार कर दी है—“पुरन्ध्रीणां सहस्राणि नवतिः षड्भिरन्विताः ।”

ली । इसमें उनके विवाहित होनेकी कोई चर्चा नहीं है और कुमारवस्थामें ही दीक्षित होना प्रकट किया है' । बीसवें उद्देशकी गाथा ९७-९८ से भी यही ध्वनित होता है कि मल्लिनाथ, अरिष्टनेमि, पार्श्व, महावीर और वासुपूज्य ये पाँच तीर्थंकर कुमार-कालमें ही घरसे निकल गये और शेष तीर्थंकर पृथ्वीका राज्य भोगकर निष्क्रान्त हुए । कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यह उल्लेख दिगम्बर-परम्पराके अनुकूल है । यद्यपि अभी अभी एक विद्वान्से मालूम हुआ है कि श्वेताम्बर सम्प्रदायके एक प्राचीन ग्रन्थमें भी महावीरको अविवाहित बतलाया है ।

परिश्रम करनेसे इस तरहकी और भी अनेक बातोंका पता लग सकेगा जिनमेंसे कुछ दिगम्बर सम्प्रदायके अधिक अनुकूल होंगी और कुछ श्वेताम्बर सम्प्रदायके ।

इन सब बातोंसे हमारा झुकाव इस तीसरी विचार-धाराके विषयमें इस ओर होता है कि वह उस समयकी है जब दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायोंके मत-भेद व्यवस्थित और दृढ़ नहीं हुए थे । उन्होंने आगे चल कर ही धीरे धीरे स्थायित्व और दृढत्व प्राप्त किया है । पहले वे किसी ग्रन्थके पाठ-भेदोंके समान साधारण मत-भेद थे, परन्तु पीछे समयने और सम्प्रदाय-मोहने उन्हें मजबूत बना दिया ।

हमारा अनुमान है कि शायद यह तीसरी विचार-धारा वह है जिसका प्रति-निधित्व यापनीय संघ करता था और जो अब लुप्त हो गया है और पउमचरिय शायद उसीके द्वारा बहुत समय तक सुरक्षित रहा है । इस बातकी पुष्टि महाकवि स्वयंभूके 'पउमचरिय' से होती है जो यापनीय संघके थे और जिन्होंने अपने समक्ष उत्तरपुराणानुमोदित रामायण-कथाके रहते हुए भी पउमचरियका ही अनुसरण किया है ।

१—सुरवइदिन्नाहारो अंगुडयअमयलेवलेहेणं,
उम्मुक्कबालभावो तीसइ वरिसो जिणो जाओ ।
अह अन्नया कयाई संवेगपरो जिणो मुणियदोसो,
लोगंतियपरिकिण्णो पव्वज्जमुवागओ वीरो ॥ ३०

२—निद्धंतकणयवण्णा सेसा तित्थंकरा समक्खाया,
मल्ली अरिद्धनेमी पासो वीरो य वासपुज्जो य ॥ ९७
एए कुमारसीहां गेहाओ णिग्गया जिणवरिदा,
सेसा वि हु रायाणो पुहई भोत्तूण णिक्खंता ॥ ९८

परिशिष्ट

[पउमचरिय और पद्मचरितके कुछ छायानुवादरूप उद्धरण]

सुव्वन्ति लोयसत्थे रावणपमुद्दा य रक्खसा सव्वे ।
 वस-लोहिय-मंसाई-भक्खणपाणे कयाहारा ॥ १०७ ॥
 किर रावणस्स भाया महावलो नाम कुंभयण्णो त्ति ।
 छम्मासं विगयभओ सेज्जासु निरंतरं सुयइ ॥ १०८ ॥
 जइ वि य गणसु अंगं पेलिज्जइ गरुयपव्वयसमेसु ।
 तेल्लघडेसु य कण्णा पूरिज्जंते सुयंतस्स ॥ १०९ ॥
 पड्डपड्डहत्तूरसहं ण सुणइ सो सम्मुहं पि वज्जंतं ।
 नय उट्ठेइ महप्पा सेज्जाप अपुण्णकालम्मि ॥ ११० ॥
 अह उट्ठिओ वि संतो असणमंद्वा(णामह)घोरपरिगयसरीसो ।
 पुरओ हवेज्ज जो सो कुंजर महिसाइणो गिलइ ॥ १११ ॥
 काळुण उदरभरणं सुरमाणुसकुंजराइबहुपसु ।
 पुणरवि सेज्जारूढो भयरहिओ सुयइ छम्मासं ॥ ११२ ॥
 अन्नं पि एव सुव्वइ जइ इंदो रावणेण संगामे ।
 जिणिऊण नियलवद्धो लंकानयरी समाणीओ ॥ ११३ ॥
 को जिणऊण समत्थो इदं ससुरासुरे वि तेलोक्के ।
 जो सागरपेरंतं जंबुद्दीवं समुद्धरइ ॥ ११४ ॥
 परावणो गइंदो जस्स यि वज्जं अमोहपहरत्थं ।
 तस्स किर चित्तिण्ण वि अन्नो वि भवेज्ज मसिरासी ॥ ११५ ॥
 सीहो मपण निहओ साणेण य कुंजरो जहा भग्गो ।
 तह विवरीयपयत्थं कईहि रामायणं रइयं ॥ ११६ ॥
 अलियं पि सव्वमेयं उववत्तिविरुद्धपच्चयगुणेहिं ।
 न य सइहंति पुरिसा हवन्ति जे पांडिया लोप ॥ ११७ ॥
 एवं चितंतो च्चिय संसयपरिहारकारणं राया ।
 जिणदरिसणुस्सुयमणो गमणुच्छाहो तओ जाओ ॥ ११८ ॥

—पउमचरिय दूसरा उ०

श्रूयन्ते लौकिके ग्रन्थे राक्षसा रावणादयः ।
 वसाशोणितमांसादिपानभक्षणकारिणः ॥ २३० ॥
 रावणस्य किल भ्राता कुम्भकर्णो महाबलः ।
 घोरनिद्रापरीतः घण्टासान् शेते निरन्तरम् ॥ २३१ ॥
 मत्तैरपि गजैस्तस्य क्रियते मर्दनं यदि ।
 तप्ततैलकटाहैश्च पूर्येते श्रवणौ यदि ॥ २३२ ॥
 भेरीशंखनिनादेपि सुमहानपि जन्यते ।
 तथापि किल नायाति कालेऽपूर्णे विबुद्धताम् ॥ २३३ ॥
 क्षुत्तृष्णा व्याकुलश्चासौ विबुद्धः सन्महोदरः ।
 मक्षयत्यग्रतो दृष्ट्वा हस्त्यादीनपि दुर्द्धरः ॥ २३४ ॥
 तिर्यग्भिर्मर्मानुषैर्देवैः कृत्वा तृप्तिं ततः पुनः ।
 स्वपित्येव विमुक्तान्यनिःशेषपुरुषस्थितिः ॥ २३५ ॥
 अमराणां किलाधीशो रावणेन पराजितः ।
 आकर्णाकृष्टनिर्मुक्तैर्वाणैर्मर्मविदारिभिः ॥ २४१ ॥
 देवानामधिपः कासौ वराकः क्वेष मानुषः ।
 तस्य चितितमात्रेण यायाद्यो भस्मराशिताम् ॥ २४२ ॥
 ऐरावतो गजो यस्य यस्य वज्रं महायुधम् ।
 समेरुवारिधिं क्षोणीं योऽनायासात्समुद्धरेत् ॥
 मृगैः सिंहवधः सोऽयं शिलानां पेषणं तिलैः
 वधो गङ्गपदेनाहेर्गजेन्द्रशासनं शुना ॥ २४६ ॥
 अश्रद्धेयमिदं सर्वं वियुक्तमुपपत्तिभिः ।
 भगवन्तं गणाधीशं सोऽहं पृष्ठास्मि गौतमम् ॥ २४८ ॥
 एवं चिन्तयतस्तस्य महाराजस्य धीमतः ।

—पद्मपुराण द्वि० प०

आपुच्छिऊण सव्वं मायापियपुत्तसयणपरिवग्गं ।
 तो मुयइ भूसणाइं कडिसुत्तयकडयवत्थाइं ॥ १३५ ॥

सिद्धाण णमुक्कारं काऊण य पंचमुट्ठियं लोयं ।

चउहि सहस्सेहि समं पत्तो जइणं (य जिणो) परमदिक्खं ॥ १३६ ॥

—पउमचरिय तृ० उ०

आपृच्छन् ततः कृत्वा पित्रोर्बन्धुजनस्य च

नमः सिद्धम्य इत्युक्त्वा श्रीमण्यं प्रतिपद्यत ॥ १८३ ॥

अलंकारैः समं त्यक्त्वा वसनानि महामुनिः ।

चकारासौ परित्यागं केशानां पंचमुष्टिभिः ॥ १८३ ॥

—पद्मचरित तृ० प०

अह एवं परिकहिए पुणरवि मगहाहिवो पणामिऊणं ।

पुच्छइ गणहरवसहं मणहरमहुरेहि वयणेहिं ॥ ६४ ॥

वण्णाण समुप्पत्ती तिण्हं पि सुया मए अपरिसेसा ।

एत्तो कहेह भयवं उप्पत्ती सुत्तकंठाणं ॥ ६५ ॥

तो भणइ जिणवरिंदो भरह न कप्पइ इमो उ आहारो ।

समणाण संजयाणं कीयगदुहेसनिप्फणो ॥ ७१ ॥

—पउमच० च० उद्देश

अथैवं कथितं तेन गौतमेन महात्मना ।

श्रेणिकः पुनरप्याह वाक्यमेतत्कुतूहली ॥ ८५ ॥

वर्णत्रयस्य भगवन्संभवो मे त्वयोदितः ।

उत्पत्तिं सूत्रकण्ठानां ज्ञातुमिच्छामि साम्प्रतम् ॥ ८६ ॥

इत्युक्ते भगवानाह भरतेयं न कल्पते ।

साधूनामीदृशी भिक्षा या तदुद्देशंस्कृता ॥ ९५ ॥

—पद्मचरित च० प०

जे वि य ते पढमयरं पव्वज्जं गेल्लिऊण परिवडिया ।

ते वक्कलपरिहीणा तावसपासंडिणो जाया ॥ ८५ ॥

ताण य सीसपसीसा मोहंता जणवयं कुसत्थेसु ।

भिग्गांगिरमादीया जाया बीजं वसुमईय ॥ ८६ ॥

—पउमचरिय च० उद्देश

ये च ते प्रथमं भग्ना नृपा नाथानुगामिनः ।

व्रतारंभममी चक्रुः स्वबुद्धिपरिकल्पितम् ॥ १२४ ॥

तेषां शिष्याः प्रशिष्याश्च मोहयंतः कुहेतुभिः ।

जगद्रवंपरायत्ताः कुशास्त्राणि प्रचक्रिरे ॥ १२५ ॥

भृगुरंगौगिरा बह्विः कपिलोत्रिविदस्तथा ।

अन्ये च बहवोऽज्ञानाज्जाता बल्कलतापसाः ॥ १२६ ॥

—पद्मचरित च० पर्व

एवं भवन्तरक्षण तपोबलेण

पावन्ति देवमणुपसु महन्त सोक्खं ।

को एत्थ दंडुनीसेसकसायमोहा

सिद्धा भवन्ति विमला मलपंकमुक्ता ॥ २७१ ॥

—प० चरिय प० उ०

एवं भवान्तरकृतेन तपोबलेण संप्राप्तुर्वन्ति पुरुषा मनुजेषु भोगान् ।

देवेषु चोत्तम गुणागुणभूषितांगः निर्दाघकर्मपटलाश्च भवन्ति सिद्धाः ॥ ४०५ ॥

—पद्मचरित प० प०

एयं हलहरचरियं निययं जो पढइ सुद्धभावेणं ।

सो लहइ बोहिलाभं बुद्धिबलाजं च अइपरमं ॥ ९३ ॥

उज्जयसत्थो वि रिबू खिप्पं उवसमइ तस्स उवसग्गो ।

अज्जिणइ चेव पुण्णं जसेण सरिसं न संदेहो ॥ ९४ ॥

रज्जरहिओ वि रज्जं लहइ धणत्थी महाधणं विउलं ।

उवसमइ तक्खणं चिय वाही सोमा य हौंति गहा ॥ ९५ ॥

महिलत्थी वरमहिलं पुत्तत्थी गोत्तनंदणं पुत्तं ।

लहइ परदेसगमणे समागमं चेव बंधूणं ॥ ९६—प० च० ११८ उ०

वाचयति शृणोति जनस्तस्यायुर्वृद्धिमीयते पुण्यम् ।

चाकृष्टखड्गहस्तो रिपुरपि न करोति वैरमुपशममेति ॥ १५७

किं चान्यद्दर्शनीं लभते धर्मे यशः परं यशसोऽर्थी ।

राज्यभ्रष्टो राज्यं प्राप्नोति न संशयोऽत्र कश्चित्कृत्यः ॥ १५८

इष्टसमायोगार्थी लभते तं क्षिप्रतो धनं धनार्थी ।

जायार्थी वरपत्नी पुत्रार्थी गोत्रनन्दनं प्रवरपुत्रम् ॥ १५९—प० १२३ वॉ प०

१९

एवं वीरजिणेण रामचरियं सिद्धं महत्थं पुरा
पच्छाखंडलभूइणा उ कहियं सीसाण घम्मासयं ।
भूओ साहुपरंपराए सयलं लोए ठियं पायडं
एत्ताहे विमलेण सुत्तसहियं गाहानिबद्धं कयं ॥ १०२

—पउम० ११८ वाँ उ०

निर्दिष्टं सकलैर्नतेन भुवनैः श्रीवर्द्धमानेन यत्,
तत्त्वं वासवभूतिना निगदितं जम्बोः प्रशिष्यस्य च ।
शिष्येणोत्तरवाग्मिना प्रकटितं पद्मस्य वृत्तं मुनेः
श्रेयः साधुसमाधिवृद्धिकरणं सर्वोत्तमं मंगलम् ॥ १६६

—पद्मचरित १२३ वाँ पर्व

[कुछ ऐसे उद्धरण जिनमें विषयको अनावश्यक रूपसे बढ़ाया गया है]

जं एव पुच्छिओ सो भणइ तओ नारओ पसंसंतो ।
अत्थि महिलाए राया जणओ सो इंदुकेउसुओ ॥ १५ ॥
तस्स महिला विदेहा तीए दुहिया इमा पवरकन्ना ।
जोव्वणगुणाणुरूवा सीया णामेण विक्खाया ॥ १६ ॥
अहवा किं परितुट्ठो पडिरूवं पेच्छिऊण आलेक्खे ।
जे तीए विब्भमगुणा ते च्चिय को वणिणउं तरइ ॥ १७ ॥

—पउमचरिय २९ वाँ उद्देश

अस्त्यत्र मिथिला नाम पुरी परमसुन्दरी ।
इन्द्रकेतोस्सुतस्तत्र जनको नाम पार्थिवः ॥ ३३ ॥
विदेहेतिप्रिया तस्य मनोबन्धनकारिणी ।
गोत्रसर्वस्वभूतेयं सीतेति दुहिता तयोः ॥ ३४ ॥
निवेद्यैवमसौ तेभ्यः कुमारं पुनरुक्तवान् ।
बाल मा याः विषादं त्वं तवेयं सुलभैव हि ॥ ३५ ॥
रूपमात्रेण यातोसि किमस्या भावमीदृशं ।
ये तस्या विभ्रमा भद्र कस्तां वर्णयितुं क्षमः ॥ ३६ ॥
तया चित्तं समाकृष्टं तवेति किमिहाद्भुतं ।
धर्मध्याने हृदं बद्धं मुनीनामपि सा हरेत् ॥ ३७ ॥

आकारमात्रमत्रैतत्तस्या न्यस्तं मया पटे ।
 लावण्यं यत्तु तत्तस्या तस्यामेवैतदीदृशम् ॥ ३८ ॥
 नवयौवनसंभूतकान्तिसागरवीचिषु ।
 सा तिष्ठति तरंतीव संसक्तास्तनकुम्भयोः ॥ ३९ ॥
 तस्या श्रोणी वरारोहा कान्तिसंफ्लावितांशुका ।
 वीक्षितोन्मूलयत्स्वान्तं समूलमपि योगिनाम् ॥ ४० ॥

—पञ्चचरित २८ वाँ पर्व

इह जंबुदीवदीवे दक्षिणभरहे महंतगुणकलिओ ।
 मगहा णाम जणवओ नगरागरमंडिओ रम्मो ॥ १ ॥
 गाम-पुर-खेडकब्बट-मडम्बदोणीमुहेषु परिकिण्णो ।
 गोमहिसिबलवपुण्णो धणणिवहणिरुद्धसीमपहो ॥ २ ॥
 सत्थाहसेट्टिगणवइ-कोडुम्बियपमुहसुद्धजणणिवहो ।
 मणिकणगरयणमोत्तियवहुधन्नमहंतकोट्टारो ॥ ३ ॥
 देसम्मि तम्मि लोगो विण्णणवियक्खणो अइसुरूवो ।
 बलविहवकंतिजुत्तो अहियं धम्मज्जयमईओ ॥ ४ ॥
 नडनट्टुत्तलंखयणिच्चं णच्चंतगीयसहालो ।
 णाणाहारपसाहिय-मुंजाविज्जंतपहियजणो ॥ ५ ॥
 अहियं वीवाहसव-वियावडो गंधकुसुमतत्तिल्लो ।
 बहुपाणखाणभोयण अणवरयं वड्डिउच्छाहो ॥ ६ ॥
 पुक्खरणीसु सरेसु य उज्जाणेषु य समंतओ रम्मो ।
 परचक्कमारितकर-दुब्भिक्खविज्जिओ मुइओ ॥ ७-द्वि० उ०

अथ जंबूमति द्वीपे क्षेत्रे भरतनामनि ।
 मगधाभिख्यया ख्यातो विषयोऽस्ति समुज्ज्वलः ॥ १ ॥
 निवासः पूर्णपुण्यानां वासवावाससन्निभः ।
 व्यवहारैरसंकीर्णैः कृतलोकव्यवस्थितिः ॥ २ ॥
 क्षेत्राणि दधते यस्मिन्नुत्खातान् लांगलाननैः ।
 स्थलाब्जमूलसंघातात्महीसारगुणानिव ॥ ३ ॥
 श्रीरसेकादिवोद्धतैर्मन्दानिलचलदलैः ।
 पुण्ड्रेक्षुवाटसंतानैर्व्याप्तानंतरभूतलः ॥ ४ ॥

अपूर्वपर्वताकारैर्विभक्तैः खलधामभिः ।
 सत्यकूटैः सुविन्यस्तैः सीमांता यस्य संकटाः ॥ ५ ॥
 उद्धाटकघटीसितैर्यत्र जीरकजूटकैः ।
 नितांतहरितैरुर्वी जटालेव विराजते ॥ ६ ॥
 उर्वरायां वरीयोभिः यः शालेयैरलंकृतः ।
 मुद्गकोशीपुटैर्यस्मिन्नुद्देशान्कपिलत्विषा ॥ ७ ॥
 तापस्फुटितकोशीकैराजमाषैर्निरन्तराः ।
 उद्देशा यत्र किर्मिरानिक्षेत्रिय-तृणोद्गमाः (?) ॥ ८ ॥
 अधिष्ठितेस्थलीपृष्ठे श्रेष्ठगोधूमधामभिः ।
 प्रशस्यैरन्यशस्यैश्च युक्तप्रत्यूहवर्जितैः ॥ ९ ॥
 महामहिषपृष्ठस्थगायद्रोपालपालितैः ।
 कीटातिलंपटोद्ग्रीववलाकानुगतध्वनिः ॥ १० ॥
 विवर्णसूत्रसंबंधघण्टारटतिहारिभिः ।
 क्षरद्भिरजरत्रासत्पीतक्षीरोदवत्पयः ॥ ११ ॥
 सुस्वादुरससंपन्नैर्वाष्पच्छेद्यैरनंतरैः ।
 तृणैस्तृप्तिं परिप्राप्तैर्गोधनैः सितकक्षपूः ॥ १२ ॥
 सारीकृतसमुद्देशः कृष्णसारैर्विसारिभिः ।
 सहस्रसंख्यैर्गोविणस्वामिनो लोचनैरिव ॥ १३ ॥
 केतकीघूलिधवलाः यस्य देशाः समुन्नताः ।
 गंगापुलिनसंकाशो विभांति जिनसेविताः ॥ १४ ॥
 शाककंदलवाटेन श्यामलः श्रीधरः क्वचित् ।
 वनपालकृतास्वादैर्नालिकैरैर्विराजितः ॥ १५ ॥
 कोटिभिः शुक्रचंचूनां तथा शाखामृगाननैः ।
 संदिग्धकुसुमैर्युक्तः पृथुभिः दाडिमीवनैः ॥ १६ ॥
 वत्सपालीकराघृष्टमातुलिगीफलांभसा ।
 लिप्ताः कुंकुमपुष्पाणां प्रकरैरुपशोभिताः ॥ १७ ॥
 फलस्वादपयःपानमुखसंसुप्तमार्गागाः ।
 वनदेवीप्रपाकाराः द्राक्षाणां यत्र मंडपाः ॥ १८ ॥ इत्यादि
 ॥ ४ ॥ —पद्मचरित दृ० पर्व

चामुण्डराय और उनके समकालीन आचार्य

वीर-मार्तण्ड चामुण्डराय

जिस प्रकार श्वेताम्बर सम्प्रदायमें वस्तुपाल और तेजपाल मंत्रीकी प्रसिद्धि है उसी तरह दिगम्बर सम्प्रदायमें चामुण्डराय या चाबुंडरायकी । उनका घरू नाम गोम्मट था और 'राय' राजा राचमल्लद्वारा मिली हुई पदवी थी, इसलिए गोम्मटराय नामसे भी उनका उल्लेख मिलता है । डा० आदिनाथ उपाध्येने अपने एक लेखमें सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि बाहुबलि स्वामीकी मूर्तिका नाम गोम्मट-जिन या गोम्मटेश्वर इसी कारण प्रसिद्ध हुआ है कि वह चामुण्डरायद्वारा निर्मापित हुई थी और आचार्य नेमिचन्द्रका पंच-संग्रह भी गोम्मट-सार, गोम्मट-संग्रह, या गोम्मट-संग्रह-सूत्र इसीलिए कहलाया कि वह चामुण्डरायके लिए उनके प्रश्नके अनुरूप ध्वलादि सिद्धान्तोंपरसे संग्रह किया गया था । अण्ण भी उनका एक बोलचालका नाम था । केवल 'राय' या 'देव' नामसे भी उनका उल्लेख किया गया है । चामुण्डराय ब्रह्म-क्षत्रिय कुलके थे । इस कुलके विषयमें हमें कुछ पता नहीं । संभव है, उनके पूर्वज पहले ब्राह्मण रहे हों और पीछे क्षात्र-वृत्ति करने लगे हों ।

वे गंगवंशी राजा राचमल्लके अमात्य (मंत्री) और सेनापति थे । राचमल्ल

१ देखो अनेकान्त वर्ष, ४ अंक ३-४ ।

२ बाहुबलिचरितमें चामुण्डरायको ' ब्रह्म-क्षत्रिय-वैश्यसुक्ति-सुमणिः ' कहा है ।

३ यह वंश मैसूर प्रान्तमें ईसाकी चौथीसे लेकर ग्यारहवीं सदीतक रहा है । आधुनिक मैसूरका अधिकांश भाग गंगराजाओंके ही अधिकारमें था । इनकी राजधानी पहले कोलार (पालार नदीके किनारे) थी, जो पीछे कावेरीके तटपर तलकाड चली गई थी । इस राज-वंशका जैनधर्मसे घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है । गोम्मटसारके टीकाकर्त्ता अमयचन्द्रने इसे ' सिंह-नन्दिमुनीन्द्राभिनन्दित ' राजवंश कहा है । कई जगह सिंहनन्दिको इस राजवंशकी जड़ बमानेवाला भी बतलाया है ।

(चतुर्थ) का राज्य-काल श० सं० ८९६ से ९०६ (वि० सं० १०३१-४१) तक निश्चित है। ये गंग-वज्र मारसिंहके उत्तराधिकारी थे। मारसिंह आचार्य अजितसेनके शिष्य थे और उन्हींके समीप बंकापुर (धारवाड़) में उन्होंने समाधिपूर्वक देहत्याग किया था। वे बड़े भारी योद्धा थे और उन्होंने अनेक जैनमन्दिर निर्माण कराये थे। जगदेकवीर राचमल्ल भी उन्हींके समान जैनधर्म-पर श्रद्धा रखते थे।

चामुण्डराय केवल महामात्य ही नहीं, वीर सेनापति भी थे। उन्होंने अपने स्वामीके लिए अनेक युद्ध जीते थे, गोविन्दराज, वेकौंडुराज आदि अनेक राजाओंको परास्त किया था और इसके उपलक्ष्यमें उन्हें समर-धुरंधर, वीर-मार्तण्ड, रणरंगसिंह, वैरिकुल-कालदण्ड, असहायपराक्रम, प्रतिपक्षराक्षस, भुजविक्रम, समर-परशुराम आदि विरुद्ध प्राप्त हुए थे और कौन-सी उपाधि किस युद्धके जीतनेपर मिली, इसका भी उल्लेख मिलता है। अपनी सत्यप्रियताके कारण वे सत्ययुधिष्ठिर भी कहे जाते थे।

जैनधर्मेनिष्ठ होनेके कारण जैन-ग्रन्थकारोंने उन्हें सम्यक्त्वरत्नाकर, शौचाभरण, गुणरत्नभूषण, देवराज आदि विशेषण भी दिये हैं।

गोम्मटराय या चामुण्डराय तीन कामोंके लिए विख्यात हैं—गोम्मट-संग्रहसूत्र (गोम्मटसार), गोम्मट-शिखर या चन्द्रगिरिके ऊपरके गोम्मट-जिन और दक्षिण-कुक्कुट-जिन। गोम्मटसारमें आचार्य नेमिचन्द्रने इन तीनोंकी जय मनाई है। इनमेंसे गोम्मट-जिन नेमिनाथकी इन्द्रनीलमणिकी उस प्रतिमाके लिए कहा गया है जो

१. देखो जैनशिलालेखसंग्रहका ३८ वाँ लेख।

२. आचार्य नेमिचन्द्रने स्तिष्ठरूपमें तीर्थंकर भगवानको भी ऊपर लिखे विशेषण देकर चामुण्डरायका संकेत किया है—

क—असहायजिणवरिदे असहायपरक्कमे महावीरे । क० का० ३९८

ख—णमिऊण णेमिचंदं असहायपरक्कमं महावीरं ।—कर्मकाण्ड ८७

ग—णमिऊण णेमिणाहं सच्चजुहिद्विणमंसियंभिजुगं । क० का० ४५१

घ—णमह गुणरयणभूसण-सिद्धंतामियमहद्धिभवभावं । क० का० ८९६

गुणरयणभूसणंभुहिमइवेला भरउ भुवणयलं ॥ , ९६७

ङ—णमिऊण वड्डमाणं कणयणिहं देवरायपरिपुजं । , ३५८

पहले चामुण्डराय बस्तिमें थी परन्तु अब उसका पंती नहीं कि कहाँ गई और अब उसके बदलेमें एचणके बनवाये हुए मन्दिरमेंसे नेमिनाथकी दूसरी प्रतिमा लाकर स्थापित कर दी गई है जो पाँच फीट ऊँची है और दक्षिण-कुक्कुट-जिन बाहु-बलिस्वामीकी उस विशाल मूर्तिके लिए कहा गया है जो जगत्प्रसिद्ध है। एक प्रवाद था कि भरतचक्रवर्तीने उत्तरमें बाहुबलिकी प्रतिमा निर्माण कराई थी, जो कुक्कुट सपौसे व्याप्त हो गई थी। इसे वही न समझ लिया जाय, यह उससे पृथक् है, इसे बतलानेके लिए दक्षिण विशेषण दिया गया है।

उक्त बाहुबलि स्वामीकी विशाल प्रतिमाके सुन्दर और आकर्षक मुखके विषयमें कहा गया है कि उसे सर्वार्थसिद्धिके देवोंने और सर्वाधि-परमावधिज्ञानके धारी योगियोंने दूरसे देखो।

उनके बनवाये हुए जिनमन्दिरका नाम 'ईसिपभार' या 'ईषत्प्राग्भार' था जो कि शायद इस समय चामुण्डरायबस्तिके नामसे प्रसिद्ध है। कहा गया है कि उसका तलभाग वज्र जैसा है, और उसपर सोनेका कलश है^१।

चामुण्डरायने एक स्तंभ भी बनवाया था जिसके ऊपर यक्षोंकी मूर्तियाँ थीं और जिनके मुकुटोंके किरण-जलसे सिद्धोंके चरण धुलते रहते थे^२। डा० उपाध्येका खयाल है कि यह स्तंभ 'त्यागद ब्रह्मदेव' स्तंभ है, जो विन्ध्यगिरिपर है।

ये गंगवज्र मारसिंहके गुरु अजितसेनाचार्यके ही शिष्य थे। अजितसेन अपने समयके बहुत बड़े प्रभावशाली आचार्य थे और वे आर्यसेनके शिष्य थे। गोम्मट-सारके कर्त्ताने उन्हें ऋद्धिप्राप्त गणधरदेवादि सहस्र गुणी और भुवन-गुरु कहा

१ गोम्मटसंगहसुत्तं गोम्मटसिंहस्वरि गोम्मटजिणो य ।

गोम्मटरायविणिग्मियदक्खिणकुक्कुडजिणो जयउ ॥ ९६८

२ जेण विणिग्मियपडिमावयणं सव्वहसिद्धिदेवेहिं ।

सव्वपरमोहिजोगिहिं दिट्ठं सो गोम्मटो जयउ ॥ ९६९

३ वज्रयलं जिणभवणं ईसिपभारं सुवण्णकलसं तु ।

तिहुवणपडिमाणिकं जेण कयं जयउ सो राओ ॥ ९७०

सिद्धलोक या आठवीं पृथ्वीका नाम 'ईषत्प्राग्भार' है। उसीके अनुकरणमें यह नाम रक्खा गया है। देखो, त्रिलोकसारकी ५५६ वीं गाथा ।

४ जेणुग्मियथंभुवरिमज्जक्खतिरीटकिरणजलघोया ।

सिद्धाण सुद्धपाया सो राओ गोम्मटो जयउ ॥ ९७१ —क० का०

है। चामुण्डरायके पुत्र जिनदेवन भी इन्हींके शिष्य थे।

चामुण्डराय जैनधर्मके उपासक तो थे ही, मर्मज्ञ विद्वान् भी थे। उनका कनड़ी भाषाका त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण (चामुण्डराय-पुराण) प्रसिद्ध है। उपलब्ध गद्य-ग्रन्थोंमें यह सबसे प्राचीन गिना जाता है। इसके प्रारम्भमें लिखा है कि यह चरित्र पहले कूचि (?) भट्टारक, तदनन्तर नन्दिमुनीश्वर, तत्पश्चात् कविपरमेश्वर और फिर जिनसेन-गुणभद्र इस प्रकार परम्परा-क्रमसे चला आया है और उन्हींके अनुसार मैं भी लिखता हूँ।

गोम्मटसारके अन्तमें एक गाथा है जिससे ऐसा भास होता है कि गोम्मट-सारकी कोई देसी टीका (कनड़ी टीका) भी उन्होंने लिखी थी जिसका नाम वीरमत्तण्डी था।

चारित्रसार नामका एक संस्कृत ग्रन्थ भी चामुण्डरायका बनाया हुआ कहा जाता है परन्तु वह एक तरहसे संग्रह ग्रन्थ है और बहुत करके तत्त्वार्थकी सर्वार्थसिद्धि-टीकापरसे संग्रह किया गया है।

समसामयिक आचार्य

चामुण्डरायके समयमें अनेक बड़े बड़े विद्वान् आचार्य हो गये हैं। उनमेंसे एक तो उनके गुरु अजितसेन थे जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है और जो बहुत करके सेनसंघके थे। उन्हें 'भुवनगुरु' कहा गया है। दूसरे हैं अभयनन्दि—जिनके वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि, कनकनन्दि और नेमिचंद्र नामके शिष्य

१—गोम्मटसुत्तल्लिहिणे गोम्मटरायेण जा कया देसी।

सो (सा) राओ (अइ) चिरकालं णामेण य वीरमत्तण्डी ॥

इस गाथाका ठीक अन्वय नहीं बैठता। पाठ भी शायद कुछ अशुद्ध है। परन्तु यदि सचमुच ही चामुण्डरायकी कोई देसी या कनड़ी टीका हो, जिसका कि नाम 'वीर-मत्तण्डी' था, तो वह केशववर्णिकी कर्नाटकी वृत्तिसे जुदा ही होगी, यह निश्चित है। एक कल्पना यह भी होती है कि उन्होंने गोम्मटसारकी कोई देसी (कनड़ी) प्रतिलिपि की हो। केशववर्णिकी कनड़ी-वृत्तिके लिए देखिए डा० उपाध्यायका 'जीवतत्त्वप्रदीपिका' और गोम्मट-सारः इत्सु आथर एण्ड डेट 'शीर्षक लेख।—इंडियन कल्चर जिल्द ७, नं० १।

२ अज्जसेणगुणगणसमूहसंधारिअजियसेणगुरु।

भुवणगुरु जस्सगुरु सो राओ गोम्मटो जयउ ॥ ७३३ ॥—जी० का।

ये । इनमेंसे नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती प्रसिद्ध गोमटसार और त्रिलोकसारके कर्त्ता हैं । वे स्वयं अपनेको अभयनन्दिका ही शिष्य लिखते हैं ।

वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि उनके ज्येष्ठ गुरुमाई ये और इस लिए उन्होंने एक दो जगह उनको भी गुरुतुल्य मानकर नमस्कार किया है और अपनेको उनका वच्छ (वत्स) या शिष्य भी कहा है ।

ये वीरनन्दि ही चन्द्रप्रभ महाकाव्यके कर्त्ता हैं । इन्होंने इस काव्यकी प्रशस्तिमें लिखा है कि मेरे गुरुका नाम अभयनन्दि था जो देशीयगणके आचार्य थे । अभयनन्दिके गुरु विबुध गुणनन्दि और प्रगुरु (दादागुरु) गुणनन्दि थे ।

१—इदि नेमिचंदमुणिणाणप्पसुदेणभयणंदिवच्छेण ।

स्वयो तिलोयसारो खमंतु तं बहुसुदाइरिया ॥ - त्रि० सा०

२—णमिज्जण अभयणंदिं सुदसागरपारगिंदणंदिगुरुं ।

वरवीरणंदिणाहं पयडीणं पच्चयं वोच्छं ॥ ७८५—क० का०

णमह गुणरयणभूसणसिद्धतामियमहद्धिभवभावं ।

वरवीरणंदिचंदं णिम्मलगुणमिंदणंदिगुरुं ॥ ८९६—क० का०

वीरिंदणंदिवच्छेणप्पसुदेणभयणंदिसिस्सेण ।

दंसणचरित्तलद्धी सुसूयिया नेमिचंदेण ॥ ६४८—ल० सा०

३—बभूव भव्याम्बुजपद्मबन्धुः पतिर्मुनीनां गणभृत्समानः ।

सदग्रणीर्देशिगणाग्रगण्यो गुणाकरः श्रीगुणनन्दिनामा ॥ १ ॥

गुणग्रामाम्मोधेः सुकृतवसतेर्मित्रमहसा-

मसाध्यं यस्यासीन्न किमपि महीशासितुमिव ।

स तच्छिष्यो ज्येष्ठः शिशिरकरसौम्यः समभवत्

प्रविख्यातो नाम्ना विबुधगुणनन्दीति भुवने ॥ २ ॥

मुनिजननुतपादः प्रास्तभिध्याप्रवादः सकलगुणसमृद्धस्तस्य शिष्यः प्रसिद्धः ।

अभवदभयनन्दी जैनधर्माभिनन्दी स्वमहिमजितसिन्धुर्भव्यलोकैकबन्धुः ॥ २ ॥

भव्याम्भोजविबोधनोद्यतमतेर्भास्वत्समानत्विवः

शिष्यस्तस्य गुणाकरस्य सुधियः श्रीवीरनन्दीत्यभूत् ।

स्वाधीनाखिलवाङ्मयस्य भुवनप्रख्यातकीर्तेः सतां

संसत्सु व्यजयन्त यस्य जयिनो वाचाः कुतर्काङ्कुशाः ॥ चन्द्रप्रभचरित

आचार्य नेमिचन्द्रने लिखा है कि जिनके चरणोंके प्रसादसे वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि शिष्य संसार-समुद्रसे पार हो गये उन अभयनन्दि गुरुको नमस्कार हो^१। इससे भी मालूम होता है कि ये वीरनन्दि चन्द्रप्रभ काव्यके कर्त्ता ही हैं जो अपनेको अभयनन्दिका शिष्य बतलाते हैं। आगे इन सबके अस्तित्व-कालपर जो विचार किया गया है, उससे भी यही निश्चय होता है।

इन्द्रनन्दि नामके अनेक आचार्य हो गये हैं। हमारा खयाल है कि श्रुतावतार या श्रुतपंचमी कथाके कर्त्ता इन्द्रनन्दि यही होंगे, क्योंकि श्रुतावतारसे मालूम होता है कि वे सिद्धान्त शास्त्रोंसे खूब अच्छी तरह परिचित थे और गोम्मटसार (कर्म-काण्ड) में उन्हें श्रुतसागरपारगामी लिखा भी है।

कनकनन्दिके विषयमें इतना ही मालूम होता है कि गोम्मटसारकी रचनामें उनका भी हाथ था और वे शायद इन्द्रनन्दिसे छोटे थे। कर्मकाण्डकी एक गाथाके अनुसार उन्हें इन्द्रनन्दि गुरुके पास सब सिद्धान्त सुनकर सत्त्व-स्थानकी रचना की थी^२। पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारके अनुसार आराके जैनसिद्धान्त-भवनमें कनकनन्दि आचार्यका रचा हुआ 'त्रिमंगी' नामका एक ग्रन्थ है, जो १४०० श्लोक प्रमाण है और वे यही कनकनन्दि होंगे^३।

त्रिलोकसारकी व्याख्याके कर्त्ता माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव आचार्य नेमिचन्द्रके शिष्य मालूम होते हैं। मूलग्रन्थमें भी इनकी कई गाथायें सम्मिलित हैं और वे मूलमें शामिल की गई हैं। गोम्मटसारमें भी इनकी कई गाथायें संग्रह की गई हैं जो संस्कृत टीकाकी उत्पत्तिकालसे मालूम होती हैं। संस्कृत गद्यमय क्षपणासार भी जो कि लब्धिसारमें शामिल है, इन्हीं माधवचन्द्रका है।

श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीकी गोम्मटसार और त्रिलोकसार नामकी दो रचनायें प्रसिद्ध हैं और ये दोनों ही संग्रह ग्रन्थ हैं। इन दोनोंकी ही अधिकांश गाथायें धवल सिद्धान्त और तिलोयपण्णत्तिसे सार रूपमें संग्रह की गई हैं। इनमेंसे

१ जस्स य पायपसाएणणंतसंसारजलहिमुत्तिण्णो ।

वीरिंदणंदिवच्छो णमामि तं इंदणंदिगुरुं ॥ ४३६ ॥ क० का०

२ वरइंदणंदिगुरुणो पासे सोऊण सयलसिद्धंतं ।

सिरिकणयणंदिगुरुणा सत्तट्ठाणं समुद्धिं ॥ ३९६ ॥”

३. जैनहितैषी भाग १४, अंक ६, पृ० १६५-६६।

गोम्मतसार तो चामुण्डरायकी ही प्रेरणासे उन्होंने बनाया है और जैसा कि पहले कहा जा चुका है उन्हींके गोम्मतसार नामपर इसका नामकरण किया गया है। गोम्मतसारका परिशिष्टरूप लब्धिसार भी यतिवृषभके कषाय-प्राभृतपरसे इन्हींने संग्रह किया है। आचार्य नेमिचन्द्रकी अन्य किसी रचनाका हमें पता नहीं है।

जिस तरह चक्रवर्ती अपने शासन-चक्रसे भारतवर्षके छह खण्डोंको साधता है, या अपने अधीन करता है, उसी तरह आचार्य नेमिचन्द्रने अपने बुद्धिरूप चक्रसे षट्खंडागमको साधा। इसीलिए वे सिद्धान्तचक्रवर्ती कहलेंगे।

समय-विचार

प्रारम्भमें ही कहा जा चुका है कि चामुण्डराय गंगनरेश राचमल्लके मंत्री थे और उनका राज्यकाल वि० सं० १०३१ से १०४१ तक है।

चामुण्डरायने अपना चामुण्डरायपुराण श० सं० ९०० अर्थात् वि० सं० १०३५ में समाप्त किया था।

कनड़ी भाषाके सुप्रसिद्ध कवि रत्नने अपना 'पुराण-तिलक' (अजितपुराण) नामक ग्रन्थ श० सं० ९१५ अर्थात् वि० सं० १०५० में समाप्त किया था। उसने अपने ऊपर चामुण्डरायकी विशेष कृपा होनेका उल्लेख किया है।

इससे चामुण्डरायका समय विक्रमकी ग्यारहवीं सदीका पूर्वार्ध निश्चित होता है।

माधवचन्द्र त्रैविद्यदेवने तिलोयसार-टीकामें लिखा है कि चामुण्डरायको प्रतिबुद्ध करनेके लिए नेमिचन्द्र सि० च० ने इस ग्रन्थकी रचना की^१ और इसी तरह गोम्मतसारकी मन्दप्रबोधिका टीकाके कर्त्ता अभयचन्द्र कहते हैं^२ कि गंगनरेश:

१ जह चक्रेण य चर्की छक्खंडं साहियं अविधेण ।

तह मइचक्रेण मया छक्खंडं साहियं समं ॥ ३९७-क० का०

२ श्रीमदप्रतिहताप्रतिमनिःप्रतिपक्षनिष्करणभगवन्नेमिचन्द्रसिद्धान्तदेवश्चतुरनुयोगचतुर्दधि-पारगश्चामुण्डरायप्रतिबोधनव्याजेन अशेषविनेयजनप्रतिबोधनार्थं त्रिलोकसारनामानं ग्रन्थमा-रचयन्—

३ सिंहनन्दिमुनीन्द्रामिनन्दितागंगवंशललाम... श्रीमद्राचमल्लदेवमहीवल्लभमहामात्यपदवि-राजमान रणरंगमल्लासहायपरक्रमगुणरत्नभूषण—सम्यक्त्वरत्ननिलयादिविविधगुणग्रामनामसमा-सादितकीर्ति... श्रीचामुण्डरायभव्यपुण्डरीक-द्रव्यानुरोपप्रश्नानुरूपम्... ..

राचमल्लके महामात्य चासुण्डरायके प्रश्नके अनुरूप यह ग्रन्थ बनाया गया । इससे उक्त दोनों ग्रन्थोंके कर्त्ता नेमिचन्द्र सि० च० और उनके सहयोगियों—वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि, कनकनन्दि, माधवचन्द्र—का समय भी विक्रमकी ग्यारहवीं सदीका पूर्वार्ध ठहरता है ।

श्रीवादि राजसूरिने अपना पार्श्वनाथचरित काव्य श० सं० ९४७ (वि० सं० १०८२) में समाप्त किया है^१ और उन्होंने उसके प्रारम्भमें पूर्व कवियोंकी स्तुति करते हुए वीरनन्दिके चन्द्रप्रभकाव्यका स्पष्ट उल्लेख किया है^२ । अर्थात् वि० सं० १०८२ तक उक्त काव्यकी ख्याति हो चुकी थी और इससे भी पूर्वोक्त समयकी पुष्टि होती है ।

-
- १ शाकाब्दे नगवार्धिरन्ध्रगणने संवत्सरे क्रोधने
मासे कार्तिकनाम्नि बुद्धमहिंते शुद्धे तृतीया दिने ।
सिंहे पाति जयादिके वसुमतीं जैनी कथेयं मया
निष्पत्तिं गमिता सती भवतु वः कल्याणनिष्पत्तये ॥—पा० च०
- २ चन्द्रप्रभाभिसम्बद्धा रसपुष्टा मनःप्रिया ।
कुमद्वतीव नो धत्ते भारती वीरनन्दिनः ॥ ३०—पा० च०

महाकवि पुष्पदन्त

अपभ्रंश-साहित्य

महाकवि पुष्पदन्त अपभ्रंश भाषाके कवि थे। इस भाषाका साहित्य जैन-पुस्तक-भंडारोंमें भरा पड़ा है। अपभ्रंश बहुत समय तक यहाँकी लोक-भाषा रही है और इसका साहित्य भी बहुत ही लोकप्रिय रहा है। राजदरबारोंमें भी इसकी काफी प्रतिष्ठा थी। राजशेखरकी काव्य-मीमांसासे पता चलता है कि राजसभाओंमें राजासनके उत्तरकी ओर संस्कृत कवि, पूर्वकी ओर प्राकृत कवि और पश्चिमकी ओर अपभ्रंश कवियोंको स्थान मिलता था। पिछले २५-३० वर्षोंसे ही इस भाषाकी ओर विद्वानोंका ध्यान आकर्षित हुआ है और अब तो वर्तमान प्रान्तीय भाषाओंकी जननी होनेके कारण भाषाशास्त्रियों और भिन्न भिन्न भाषाओंका इतिहास लिखने-वालोंके लिए इस भाषाके साहित्यका अध्ययन बहुत ही आवश्यक हो गया है। इधर इस साहित्यके बहुत-से ग्रन्थ भी प्रकाशित हो गये हैं और हो रहे हैं। कई यूनीवर्सिटियोंने अपने पाठ्य-क्रममें भी अपभ्रंश ग्रन्थोंको स्थान देना प्रारंभ कर दिया है।

पुष्पदन्त इस भाषाके एक महान् कवि थे। उनकी रचनाओंमें जो ओज, जो प्रवाह, जो रस और जो सौन्दर्य है वह अन्यत्र दुर्लभ है। भाषापर उनका असाधारण अधिकार है। उनके शब्दोंका भंडार विशाल है और शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनोंसे ही उनकी कविता समृद्ध है। उनकी सरस और सालंकार रचनायें न केवल पढ़ी ही जाती थीं, वे गाई भी जाती थीं और लोग उन्हें पढ़-सुनकर मुग्ध हो जाते थे। स्थानाभावके कारण रचनाओंके उदाहरण देकर उनकी कला और सुन्दरताकी चर्चा करनेसे विरत होना पड़ा।

कुल-परिचय और धर्म

पुष्पदन्त काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण थे। उनके पिताका नाम केशवभट्ट और

माताका मुग्धा देवी था ।

उनके माता पिता पहले शैव थे, परन्तु पीछे किसी दिगम्बर जैन गुरुके उपदेशामृतको पाकर जैन हो गये थे और अन्तमें उन्होंने जिन-संन्यास लेकर शरीर त्यागा था । नागकुमारचरितके अन्तमें कविने और और लोगोंके साथ अपने माता पिताकी भी कल्याण-कामना की है और वहाँ इस बातको स्पष्ट किया है^१ । इसे अनुमान होता है कि कवि स्वयं भी पहले शैव थे ।

कविके आश्रयदाता महामात्य भरतने जब उनसे महापुराणके रचनेका आग्रह किया, तब कहा कि तुमने पहले भैरव नरेन्द्रको माना है और उसको पर्वतके समान धीर वीर और अपनी श्रीविशेषसे सुरेन्द्रको जीतनेवाला वर्णन किया है । इससे जो मिथ्यात्वभाव उत्पन्न हुआ है, उसका यदि तुम इस समय प्रायश्चित्त कर डालो, तो बुद्धारा परलोक सुधर जाय^२ । इससे भी मालूम होता है कि पहले पुष्पदन्त शैव होंगे और शायद उसी अवस्थामें उन्होंने भैरवनरेन्द्रकी कोई यशोगाथा^३ लिखी होगी ।

स्तोत्र-साहित्यमें 'शिवमहिम्न स्तोत्र' बहुत प्रसिद्ध है और उसके कर्त्ताका नाम 'पुष्पदन्त' है । असम्भव नहीं जो वह इन्हीं पुष्पदन्तकी उस समयकी रचना

१ मूल पंक्तियाँ कठिन होनेके कारण यहाँ उन्हें संस्कृतच्छायासहित दिया जाता है ।

शिवभक्ताइं मि जिणसण्णासैं वे वि मयाइं दुरियणिण्णासैं ।

बंभणाइं कासवरिसिगोत्तइं गुरुवयणामियपूरियसोत्तइं ॥

मुद्धापवीकेसवणामइं महु पियराइं होंतु सुहधामइं ।

[शिवभक्तौ आप जिनसंन्यासेन द्वौ अपि मृतौ दुरितनिर्वाशेन ।

ब्राह्मणौ काश्यपऋषिगोत्रौ गुरुवचनामृतपूरितश्रोत्रौ ।

मुग्धादेविकेशवनामानौ मम पितरौ भवतां सुखधामनी ॥]

'गुरु' शब्दपर मूल प्रतिमें 'दिगम्बर' टिप्पण दिया हुआ है ।

२ गियसिरिविसेसणिज्जियसुरिंद, गिरिधीरवीरभइरवणरिंदु ।

पइं मण्णिउ वण्णिउ वीरराउ, उप्पण्णउ जो मिच्छत्तभाउ ।

पच्छित्तुं तासु जइ करइ अज्जु, ता घडइ तुज्जु परलोयकज्जु ।

३ आगे बतलाया है कि यह यशोगाथा शायद 'कथामकरन्द' नामकी होगी और उसका नायक भैरव-नरेन्द्र । भैरव कहाँकि राजा थे, इसका अभी तक पता नहीं लगा ।

हो जब ये शैव थे। जयन्तभट्टने इस स्तोत्रका एक पद्य अपनी न्याय-मेंजरीमें 'उक्तं च' रूपसे उद्धृत किया है। यद्यपि अभी तक जयन्तभट्टका ठीक समय निश्चित नहीं हुआ है, इस लिए जोर देकर नहीं कहा जा सकता। फिर भी सम्भावना है कि जयन्त पुष्पदन्तके बादके होंगे और तब शिवमहिम्न इन्हीं पुष्पदन्तका होगा।

उनकी रचनाओंसे मालूम होता है कि जैनेतर साहित्यसे उनका प्रगाढ़ परिचय था। उनकी उपमायें और उत्प्रेक्षायें भी इसी बातका संकेत करती हैं।

अपने ग्रन्थोंमें उन्होंने इस बातका कोई उल्लेख नहीं किया कि वे कब जैन हुए और कैसे हुए, अपने किसी जैनगुरु और सम्प्रदाय आदिकी भी कोई चर्चा उन्होंने नहीं की, परन्तु खयाल यही होता है कि पहले वे भी अपने माता पिताके ही समान शैव होंगे। यह तो नहीं कहा जा सकता कि वे माता-पिताके जैन होनेके बाद जैन हुए या पहले। परन्तु इस बातमें सन्देहकी गुंजाइश नहीं है कि वे दृढ़ श्रद्धानी जैन थे।

उन्होंने जगह जगह अपनेको 'जिणपयमस्ति धम्मासत्ति वयसंजुत्ति उत्तमसत्ति वियल्लियसंकि' अर्थात् जिनपदभक्त, व्रतसंयुक्त, विगलितशंक आदि विशेषण दिये हैं और 'मग्गियपण्डितपंडितमरणे' अर्थात् 'पंडित-पण्डितमरण पानेकी तथा बोधिसमाधिकी आकांक्षा प्रकट की है।

'सिद्धान्तशेखर' नामक ज्योतिष ग्रंथके कर्त्ता श्रीपति भट्ट नागदेवके पुत्र और केशवभट्टके पौत्र थे। ज्योतिषरत्नमाला, दैवशवल्लभ, जातकपद्धति, गणिततिलक, बीजगणित, श्रीपति-निबंध, श्रीपतिसमुच्चय, श्रीकोटिदकरण, ध्रुवमानसकरण आदि ग्रंथोंके कर्त्ता भी श्रीपति हैं। वे बड़े भारी ज्योतिषी थे। हमारा अनुमान है कि पुष्पदन्तके पिता केशवभट्ट और श्रीपतिके पितामह केशवभट्ट एक

१ बलिजीमूतदधीचिषु सर्वेषु स्वर्गतामुपगतेषु ।

सम्प्रत्यनन्यगतिकस्त्यागगुणो भरतमावसति ॥ आदि ।

२ यह ग्रन्थ कलकत्तायूनीवर्सिटीने अभी हाल ही प्रकाशित किया है।

३ गणिततिलक श्रीसिंहतिलकसुरिद्धत टीकासहित गायकवाड ओरियण्टल सीरीजमें प्रकाशित हुआ है।

ही थे'। क्यों कि एक तो दोनों ही काश्यप' गोत्रीय हैं और दूसरे दोनोंके समयमें भी अधिक अन्तर नहीं है ।

केशवभट्टके एक पुत्र पुष्पदन्त होंगे और दूसरे नागदेव । पुष्पदन्त निष्पुत्र-कलत्र थे, परन्तु नागदेवको श्रीपति जैसे महान् ज्योतिषी पुत्र हुए । यदि यह अनुमान ठीक हो, तो श्रीपतिको पुष्पदन्तका भतीजा समझना चाहिए ।

पुष्पदन्त मूलमें कहाँके रहनेवाले थे, उनकी रचनाओंमें इस बातका कोई उल्लेख नहीं मिलता । परन्तु उनकी भाषा बतलाती है कि वे कर्नाटकके या उससे और दक्षिणके द्रविड़ प्रान्तोंके तो नहीं थे । क्योंकि एक तो उनकी सारी रचनाओंमें कनड़ी और द्रविड़ भाषाओंके शब्दोंका अभाव है, दूसरे अब तक अपभ्रंश भाषाका ऐसा एक भी ग्रंथ नहीं मिला है जो कर्नाटक या उसके नीचेके किसी प्रदेशका बना हुआ हो । अपभ्रंश साहित्यकी रचना प्रायः गुजरात, मालवा, बरार और उत्तरभारतमें ही होती रही है । अतएव अधिक संभव यही है कि वे इसी ओरके हों ।

श्रीपति ज्योतिषी रोहिणीखेडके रहनेवाले थे और रोहिणीखेड बरारके बुलढाना जिलेका रोहनखेड नामका गाँव जान पड़ता है ।^१ यदि श्रीपति सचमुच ही पुष्प-

१ भट्टकेशवपुत्रस्य नागदेवस्य नन्दनः, श्रीपती रोहिणीखं(खे)डे ज्योतिःशास्त्रमिदं व्यधात् ।

—ध्रुवमानसकरण ।

२ ज्योतिषरत्नमालाकी महादेवप्रणीत टीकामें श्रीपतिका काश्यप गोत्र बतलाया है—
“काश्यपवंशपुण्डरीकखण्डमार्तण्डः केशवस्य पौत्रः नागदेवस्य सन्तुः श्रीपतिः संहितार्थमभिधातुरिच्छुराह—”

३ महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदीने अपनी ‘गणिततरंगिणी’में श्रीपतिका समय श० सं० ९२१ बतलाया है और स्वयं श्रीपतिने अपने ‘धीकोटिदकरण’में अहंगणसाधनके लिए श० सं० ९६१ का उपयोग किया है जिससे अनुमान होता है कि वे उक्त समय तक जीवित थे । ध्रुवमानसकरणके सम्पादकने श्रीपतिका समय श० सं० ९५० के आसपास बतलाया है । पुष्पदन्त श० सं० ८९४ की मान्यखेटकी लूट तक बल्कि उसके भी बाद तक जीवित थे । अतएव दोनोंके बीच जो अन्तर है, वह इतना अधिक नहीं है कि चचा और भतीजेके बीच संभव न हो । श्रीपतिने उम्र भी शायद अधिक पाई हो ।

४ बुलढाना जिलेके गजैटियरसे पता चला है कि इस रोहनखेडमें ईसाकी १५-१६ वीं शताब्दिमें खानदेशके सूबेदारों और बहमनी खान्दानके नवाबोंके बीच अनेक लड़ाइयाँ हुई हैं ।

दन्तके भतीजे हैं तो पुष्पदन्तको भी बरारका ही रहनेवाला मानना चाहिए ।

बरारकी भाषा मराठी है । अभी ग० वा० तगारे एम० ए०, बी० टी० नामक विद्वानने पुष्पदन्तको प्राचीन मराठीका महाकवि बतलाया है और उनकी रचनाओंमेंसे बहुतसे ऐसे शब्द चुनकर बतलाये हैं, जो प्राचीन मराठीसे मिलते जुलते हैं । वैयाकरण मार्कण्डेयने अपने 'प्राकृत-सर्वस्व' में अपभ्रंश भाषाके नागर, उपनागर और ब्राचट ये तीन भेद किये हैं । इनमेंसे ब्राचटको लाट (गुजरात) और विदर्भ (बरार) की भाषा बतलाया है । सो पुष्पदन्तकी अपभ्रंश ब्राचट होनी चाहिए ।

श्रीपतिने अपनी ' ज्योतिषरत्नमाला ' पर स्वयं एक मराठी टीका लिखी थी, जो सुप्रसिद्ध इतिहासकार राजवाड़ेको मिली थी और उन्होंने उसे सन् १९१४ में प्रकाशित भी करा दिया था । मुझे उसकी प्रति अभी तक नहीं मिल सकी । उसके प्रारम्भका अंश इस प्रकार है—“ ते या ईश्वररूपा कालांतें मि । ग्रंथकर्त्ता श्रीपति नमस्कारी । मी श्रीपति रत्नाचि माला रचितो । ” इसकी भाषा गीताकी प्रसिद्ध टीका ज्ञानेश्वरीसे मिलती जुलती है । इससे भी अनुमान होता है कि श्रीपति बरारके ही होंगे और इस लिए पुष्पदन्तका भी वहींका होना सम्भव है ।

सबसे पहले पुष्पदन्तको हम मेलाड़ि या मेलपाटीके एक उद्यानमें पाते हैं और फिर उसके बाद मान्यखेटमें । मेलाड़ि उत्तर अर्काट जिलेमें है जहाँ कुछ कालतक राष्ट्रकूट महाराजा कृष्ण तृतीयका सेनासन्निवेश रहा था और वहीं उनका भरत मंत्रीसे साक्षात् होता है । निजाम-राज्यका वर्तमान मलखेड ही मान्यखेट है ।

यद्यपि इस समय मलखेड महाराष्ट्रकी सीमाके अन्तर्गत नहीं माना जाता, परन्तु बहुतसे विद्वानोंका मत है राष्ट्रकूटोंके समयमें वह महाराष्ट्रमें ही गिना जाता था । और इसलिए तब वहाँ तक वैदर्भी अपभ्रंशकी पहुँच अवश्य रही होगी ।

१ देखो सद्याद्रि (मासिकपत्र) का अप्रैल १९४१ का अंक, पृ० २५३-५६ ।

२ कुछ थोड़ेसे शब्द देखिए—उक्कुड=उकिरडा (घूरा), गंजोल्लिय=गँजलेले (दुखी), चिक्खिल=चिखल (कीचड़), तुप्प=तूप (घी), पंगुरण=पांघरुण (ओढ़ना), फेड=फेडणे (लौटाना), बोक्कड=बोक्कड़ (बकरा), आदि ।

राष्ट्रकूटोंकी राजधानी पहले नासिकके पास मयूरखंडीमें थी, जो महाराष्ट्रमें ही है। अतएव राष्ट्रकूट इसी तरफके थे। मान्यखेटको उन्होंने अपनी राजधानी सुदूर दक्षिणके अन्तरपीपर शासन करनेकी सुविधाके लिए बनाया था। क्योंकि मान्यखेटमें केन्द्र रख कर ही चोल, चेर, पाण्ड्य देशोंपर ठीक तरहसे शासन किया जा सकता था।

भरतको कविने कई जगह भरत भट्ट लिखा है। नाइल्लइ और सीलइय भी भट्ट विशेषणके साथ उल्लिखित हुए हैं। इससे अनुमान होता है कि पुष्प-दंतको इन भट्टोंके मान्यखेटमें रहनेका पता होगा और उसी सूत्रसे वे घूमते घामते उस तरफ पहुँचे होंगे। बहुत संभव है कि ये लोग भी पुष्पदन्तके ही प्रान्तके हों और महान् राष्ट्रकूटोंकी सम्पन्न राजधानीमें अपना भाग्य आजमानेके लिए आकर बस गये हों और कालान्तरमें राजमान्य हो गये हों। उस समय बरार भी राष्ट्रकूटोंके अधिकारमें था, अतएव वहाँके लोगोंका आवागमन मान्य-खेट तक होना स्वाभाविक है। कमसे कम विद्योपजीवी लोगोंके लिए तो 'पुरन्दरपुरी' मान्यखेटका आकर्षण बहुत ज्यादा रहा होगा।

भरत मंत्रीको कविने 'प्राकृतकविकाव्यरसावलुब्ध' कहा है और प्राकृतसे यहाँ उनका मतलब अपभ्रंशसे ही जान पड़ता है। इस भाषाको वे अच्छी तरह जानते होंगे और उसका आनंद ले सकते होंगे, तभी न उन्होंने कविको इतना उत्साहित और सम्मानित किया होगा ?

व्यक्तित्व और स्वभाव

पुष्पदन्तका एक नाम 'खंडे' था। शायद यह उनका घरू और बोलचालका नाम होगा। महाराष्ट्रमें खंडूजी, खंडोबा नाम अब भी कसरतसे रक्खा

१ (क) जो विहिणा णिम्मउ कव्वपिंडु, तं णिसुणे वि सो संचलित्थं खंडु ।

—म० पु० सन्धि १ क० ६

(ख) मुग्घे श्रीमदनिन्द्यखण्डसुकवेर्बन्धुर्गुणैरुन्नतः । —म० पु० सन्धि ३

(ग) वाञ्छन्त्रित्यमहं कुतूहलवती खण्डस्य कीर्तिः कृतेः ।

—म० पु० स० ३९

जाता है । अभिमानमेरु, अभिमान-चिह्न, काव्यरत्नोंकर, कविकुलतिलैक, सरस्वतीनिलय, कव्वपिसल्ल (काव्यपिशाच या काव्यराक्षस) ये उनकी पदवियाँ थीं । यह पिछली पदवी बड़ी अद्भुत-सी है; परन्तु इसका उन्होंने स्वयं ही प्रयोग किया है । शायद अपनी महती कवित्वशक्तिके कारण ही यह पद उन्होंने पसन्द किया हो । 'अभिमानमेरु' पद उनके स्वभावको भी व्यक्त करता है । वे बड़े ही स्वाभिमानी थे । महापुराणकी उँत्थानिकासे मालूम होता है कि जब वे खलजनों-

१ (क) तं सुणेवि भणइ अहिमाणमेरु । —म० पु० १-३-१२

(ख) कं यास्यस्यभिमानरत्ननिलयं श्रीपुष्पदन्तं विना ।—म० पु० सं० ४५

(ग) गण्णहं मंदिरि गिवसंतु संतु, अहिमाणमेरु गुणगणमहंतु ।

—ना० कु० १-२-२

२ वयसंजुत्तिं उत्तमसत्तिं वियलियसंकिं अहिमाणंकिं ।—य० च० ४-३१-३

३ भो भो केसवतणुरुह णवसररुहमुह कव्वरयणरयणायर । म० पु० १-४-१०

४-५ (क) तं णिसुणे वि भरहेँ बुत्तु ताव, भो कइकुलतिलय विमुक्कगाव ।

—म० पु० १-८-१

(ख) अग्गइ कइराउ पुप्फयंतु सरसइणिलउ ।

देवियहि सरूउ वण्णइ कइयणकुलतिलउ ।—य० च० १-८-१५

६ (क) जिणचरणकमलभात्तिल्लएण, ता जंपिउ कव्वपिसल्लएण ।

—म० पु० १-८-८

(ख) बोल्लाविउ कइकव्वपिसल्लउ, कि तुहुं सच्चउ वप्प गहिल्लउ ।

—म० पु० ३८-३-५

(ग) गण्णस्स पत्थणाए कव्वपिसल्लएण पहसियमुहेण ।—ना० अन्तिम पद्य

७महि परिभमंतु मेलाडिणयर ।

अवहेरियखलयणु गुणमहंतु, दियहेहिं पराइउ पुप्फयंतु ।

णंदणवीण किर वीसमइ जाम, तहिं विणिण पुरिस संपत्त ताम ।

पणवेप्पिणु तेहिं पवुत्तु एव, भो खंड गलियपावावलेव ।

परिभभिरभमररवगुमगुमंति, किं किर गिवसहिं णिज्जणवणंति ।

करिसरबहिरियदिच्चक्कवालि, पइसरहिं ण किं पुरवीर विसालि ।

तं सुणिवि भणइ अहिमाणमेरु, वर खज्जइ गिरिकंदरि कसेरु ।

द्वारों अवहेलित और दुर्दिनोंसे पराजित होकर घूमते घामते मेलपाटीके बाहर एक बगीचेमें विश्राम कर रहे थे, तब 'अम्मइय' और 'इन्द्र' नामक दो पुरुषोंने आकर उनसे कहा, "आप इस निर्जन वनमें क्यों पड़े हुए हैं, पासके नगरमें क्यों नहीं चलते ?" इसके उत्तरमें उन्होंने कहा, "गिरिकन्दराओंमें घास खाकर रह-जाना अच्छा परन्तु दुर्जनोकी टेढ़ी भौहें देखना अच्छा नहीं। माताकी कूँखसे जन्मते ही मर जाना अच्छा परन्तु किसी राजाके झूकुंचित नेत्र देखना और उसके कुवचन सुनना अच्छा नहीं। क्योंकि राजलक्ष्मी दुरते हुए चँवरोंकी हवासे सारे गुणोंको उड़ा देती है, अभिषेकके जलसे सुजनताको धो डालती है, विवेकहीन बना देती है, दर्पसे फूली रहती है, मोहसे अंधी रहती है, मारणशील होती है, सत्तांग राज्यके बोझसे लदी रहती है, पिता-पुत्र दोनोंमें रमण करती है, विषकी सहोदरा और जड-रक्त है। लोग इस समय ऐसे नीरस, और निर्विशेष (गुणाव-गुणविचाररहित) हो गये हैं कि बृहस्पतिके समान गुणियोंका भी द्वेष करते हैं। इस लिए मैंने इस वनकी शरण ली है और यहींपर अभिमानके साथ मर जाना ठीक समझा है।" पाठक देखेंगे कि इन पंक्तियोंमें कितना स्वाभिमान और राजाओं तथा दूसरे हृदयहीन लोगोंके प्रति कितने ज्वालामय उद्गार भरे हैं !

ऐसा मालूम होता है कि किसी राजाके द्वारा अवहेलित या उपेक्षित होकर ही वे घरसे चल दिये थे और भ्रमण करते हुए और बड़ा लम्बा दुर्गम रास्ता तय करके

णउ दुज्जमउँहावंकियाइं, दीसंतु कलुसभावंकियाइं ।

वर णरवर धवलच्छिहे होहु म कुच्छिहे मरउ सोणिमुहणिग्गमे ।

खलकुच्छियपहुवयणइं भिउडियणयणइं म णिहालउ सूरुग्गमे ॥

चमराणिउड्ढावियगुणाइ, अहिसेयधोयसुयणत्तणाइ ।

अविवेयइ दप्पुत्तालियाइ, मोहंधइ मारणसीलियाइ ।

सत्तंगरज्जमरमारियाइ, पिउपुत्तरमणरसयारियाइ ।

विससहजम्मइ जडरत्तियाइ, किं लच्छिइ विउसविरत्तियाइ ।

संपइ जणु नीरसु णिव्विसेसु, गुणवंतउ जहिं सुरगुक्खि देसु ।

तहिं अम्हइ लइ काणणु जि सरणु, अहिमाणे सहुं वरि होउ मरणु ।

मेलपाटी पहुँचे थे। उनका स्वभाव स्वाभिमानी और कुछ उग्र तो था ही, अतएव कोई आश्चर्य नहीं जो राजाकी जरा-सी भी टेढ़ी भौंहको वे न सह सके हों और इसीलिए नगरमें चलनेके आग्रह करनेपर उन दो पुरुषोंके सामने ही राजाओंपर बरस पड़े हों। अपने उग्र स्वभावके कारण ही वे इतने चिढ़ गये और उन्हें इतनी वितृष्णा हो गई कि सर्वत्र दुर्जन ही दुर्जन दिखाई देने लगे, और सारा संसार निष्फल, नीरस, शुष्क प्रतीत होने लगा।

जान पड़ता है महामात्य भरत मनुष्य-स्वभावके बड़े पारखी थे। उन्होंने कवि-वरकी प्रकृतिको समझ लिया और अपने सद्व्यवहार, समादर और विनयशीलतासे सन्तुष्ट करके उनसे वह महान् कार्य करा लिया जो दूसरा शायद ही करा सकता।

राजाके द्वारा अवहेलित और उपेक्षित होनेके कारण दूसरे लोगोंने भी शायद उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया होगा, इसलिए राजाओंके साथ साथ औरोंसे भी वे प्रसन्न नहीं दिखलाई देते, उनको भी बुरा-भला कहते हैं; परन्तु भरत और नन्नकी लगातार प्रशंसा करते हुए भी वे नहीं थकते।

उत्तरपुराणके अन्तमें उन्होंने अपना परिचय इस रूपमें दिया है, “सिद्धि-विलासिनीके मनोहर दूत, मुग्धा देवीके शरीरसे संभूत, निर्धनों और धनियोंको एक दृष्टिसे देखनेवाले, सारे जीवोंके अकारण मित्र, शब्दसलिलसे बढ़ा हुआ है काव्य-स्रोत जिनका, केशवके पुत्र, काश्यपगोत्री, सरस्वतीविलासी, सूने पड़े हुए घरों और देवकुलिकाओंमें रहनेवाले, कलिके प्रबल पाप-पटलोंसे रहित, बेघरबार, पुत्रकलत्रहीन, नदियों वापिकाओं और सरोवरोंमें स्नान करनेवाले, पुराने वस्त्र और बल्कल पहिननेवाले, धूलधूसरित अंग, दुर्जनोंके संगसे दूर रहनेवाले, जमीनपर सोनेवाले और अपने ही हाथोंको ओढ़नेवाले, पंडित-पंडित-मरणकी प्रतीक्षा करनेवाले, मान्यखेट नगरमें रहनेवाले, मनमें अरहंतदेवका ध्यान करनेवाले, भरतमंत्रीद्वारा सम्मानित, अपने काव्यप्रबंधसे लोगोंको पुलकित करनेवाले और पापरूप कीचड़को जिन्होंने धो डाला है, ऐसे अभिमानमेरु पुष्पदन्तने, यह काव्य जिन-पदकमलोंमें हाथ जोड़े हुए भक्तिपूर्वक क्रोधनसंव-

१ देखो पिछले उद्धरण।

२ जो जो दीसइ सो सो दुज्जणु, णिप्फलु णीरसु जं सुक्कउवणु।

सत्की असाढ़ सुदी दसवींको बनाया^१ ।

इस परिचयसे कविकी प्रकृति और उनकी निस्संगताका हमारे सामने एक चित्र-सा खिंच जाता है। एक बड़े भारी साम्राज्यके महामंत्रीद्वारा अतिशय सम्मानित होते हुए भी वे सर्वथा अकिंचन और निर्लिप्त ही रहे जान पड़ते हैं। नाममात्रके गृहस्थ होकर एक तरहसे वे मुनि ही थे।

एक जगह वे भरत महामात्यसे कहते हैं कि “मैं धनको तिनकेके समान गिनता हूँ। उसे मैं नहीं लेता। मैं तो केवल अकारण प्रेमका भूखा हूँ और इसीसे तुम्हारे महलमें हूँ^२। मेरी कविता तो जिन-चरणोंकी भक्तिसे ही स्फुरायमान होती है, जीविका-निर्वाहके खयालसे नहीं^३।”

इस तरहकी निष्पृहतामें ही स्वाभिमान टिक सकता है और ऐसे ही पुरुषको ‘अभिमानमेरु’ पद शोभा देता है। कविने एक दो जगह अपने रूपका भी वर्णन कर दिया है, जिससे मालूम होता है कि उनका शरीर बहुत ही दुबला

१ सिद्धिविलासिणिमणहरदूएं, मुद्रापवीतणुसंभूएं ।

णिद्धणसधणलेयसमचित्ते, सव्वजीवणिक्कारणमित्ते ॥ २१

सदसल्लिपपरिवाद्धियसोत्ते, केसवपुत्ते कासवगोत्ते ।

विमलसरासइजणियविलासे, सुण्णभवणदेवउलणिवासै ॥ २२

कल्लिमलपवलपडलपरिचित्ते, णिग्घरेण णिप्पुत्तकलत्ते ।

णइ-वावी-तलाय-सरह्माणे, जर-चीवर-वक्कल-परिहाणे ॥ २३

धीरे धूली-धूसरियंगे, दूरयरुज्झिय-दुजणसंगे ।

महिंसयणयल्ले करपंगुरणे, मगियपंडियपंडियमरणे ॥ २४

मण्णखेडपुरवरे णिवसंते, मणे अरहंतु देउ ज्ञायंते ।

भरहमण्णणिजे णयणिलए, कव्वपबंघजणियजणपुलए ॥ २५

पुप्फयंतकइणा धुयपंके, जइ अहिमाणमेरुणामंके ।

कयउ कव्वु भत्तिए परमत्थे, जिणपयपंकयमउलियहत्थे ॥ २६

कोहणसंवच्छरे आसाढए, दहमए दियहे चंदरुहरूढए ।

२ धणु तणुसमु मज्झु ण तं गहणु, णेहु णिकारिमु इच्छमि ।

देवीसुअ सुदणिहि तेण हउं, णिलए तुहारए अच्छमि ॥—२० उत्तर पु०

३ मज्झु कहत्तणु जिणपयभत्तिहे, पसरइ णउ णियजीवियवित्तिहे।—उ० पु०

पतला और सौवला था । वे बिल्कुल कुरूप थे^१ परन्तु सदा हँसते रहते थे^२ । जब बोलते थे तो उनकी सफेद दन्तपंक्तिसे दिशाएँ धवल हो जाती थीं^३ । यह उनकी स्पष्टवादिता और निरहंकारताका ही निदर्शन है, जो उन्होंने अपनेको शुद्ध कुरूप कहनेमें भी संकोच न किया ।

पुष्पदन्तमें स्वाभिमान और विनयशीलताका एक विचित्र सम्मेलन दीख पड़ता है । एक ओर तो वे अपनेको ऐसा महान् कवि बतलाते हैं जिसकी बड़े बड़े विशाल ग्रंथोंके ज्ञाता और मुद्दतसे कविता करनेवाले भी बराबरी नहीं कर सकते^४ और सरस्वतीसे कहते हैं कि हे देवी, अभिमानरत्ननिलय पुष्पदन्तके बिना तुम कहाँ जाओगी—तुम्हारी क्या दशा होगी^५ ? और दूसरी ओर कहते हैं कि मैं दर्शन, व्याकरण, सिद्धान्त, काव्य, अलंकार कुछ भी नहीं जानता, गर्भमूर्ख हूँ । न मुझमें बुद्धि है, न श्रुतसंग है, न किसीका बल है^६ ।

भावुक तो सभी कवि होते हैं परन्तु पुष्पदन्तमें यह भावुकता और भी बढ़ी चढ़ी थी । इस भावुकताके कारण वे स्वप्न भी देखा करते थे । आदिपुराणके समाप्त हो जाने पर किसी कारण उन्हें कुछ अच्छा नहीं लग रहा था, वे

१ कसणसरिरे सुद्धकुरूवें मुद्धाएविगम्भसंभूवें । ११—उ० पु०

२ गण्णस्स पत्थणाए कव्वपिसल्लेन पहासियमुहेण,
गायकुमारचरित्तं रइयं सिरिपुप्फयत्तेण ॥—गायकुमार च०
पहासियतुडिं कइणा खंडें । —यशोधर चरित

३ सियदंतपंतिधवलीकयासु ता जंफइ वरवायाविलासु ।

४ आजन्मं (?) कवितारसैकधिषणा सौभाग्यमाजो गिरां,
हस्यन्ते कवयो विशालसकलग्न्यानुगा बोधतः ।
किन्तु प्रौढनिरूढगूढमतिना श्रीपुष्पदंतेन भोः,
साम्यं विभ्रति (?) नैव जातु कविता शीघ्रं त्वतः प्राकृतेः ॥—६६ वीं संधि

५ लोके दुर्जनसंकुले हतकुले तृष्णावसे नीरसे,
सालंकारवचोविचारचतुरे लालित्यलीलाधरे ।

भद्रे देवि सरस्वति प्रियतमे काले कलौ साम्प्रतं,
कं यास्यस्यभिमानरत्ननिलयं श्रीपुष्पदन्तं विना ॥ —८० वीं संधि

६ णहु महु बुद्धिपरिगहु णहु सुयसंगहु णउ कासुवि केरउ बलु ।—उ० पु०

निर्विण्णसे हो रहे थे कि एक दिन उन्हें स्वप्नमें सरस्वती देवीने दर्शन दिया और कहा कि जन्ममरण-रोगके नाश करनेवाले अरहंत भगवानको, जो पुण्य-वृक्षको सर्चनेके लिए मेघतुल्य हैं, नमस्कार करो ।' यह सुनते ही कविराज जाग उठे और यहाँ वहाँ देखते हैं तो कहीं कोई नहीं है, वे अपने घरमें ही हैं । उन्हें बड़ा विस्मय हुआ ।' इसके बाद भरतमंत्रीने आकर उन्हें समझाया और तब वे उत्तरपुराणकी रचनामें प्रवृत्त हुए ।

कविके ग्रंथोंसे मालूम होता है कि वे महान् विद्वान् थे । उनका तमाम दर्शन-शास्त्रोंपर तो अधिकार था ही, जैनसिद्धान्तकी जानकारी भी उनकी असाधारण थी । उस समयके ग्रन्थकर्ता चाहे वे किसी भी भाषाके हों, संस्कृतज्ञ तो होते ही थे । यद्यपि अभी तक पुष्पदन्तका कोई स्वतंत्र संस्कृत ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है, फिर भी वे संस्कृतमें अच्छी रचना कर सकते थे । इसके प्रमाणस्वरूप उनके वे संस्कृत पद्य पेश किये जा सकते हैं जो उन्होंने महापुराण और यशोधरचरितमें भरत और नन्नकी प्रशंसामें लिखे हैं । व्याकरणकी दृष्टिसे यद्यपि उनमें कहीं कहीं कुछ खलनायें पाई जाती हैं, परन्तु वे कवियोंकी निरंकुशताकी ही द्योतक हैं, अज्ञानताकी नहीं ।

कविकी ग्रन्थ-रचना

महाकवि पुष्पदन्तके अब तक तीन ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं और सौभाग्यकी बात है कि वे तीनों ही आधुनिक पद्धतिसे सुसम्पादित होकर प्रकाशित हो चुके हैं ।

१ तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकार (त्रिषष्टिमहापुरुषगुणालंकार) या महापुराण । यह आदिपुराण और उत्तरपुराण इन दो खंडोंमें विभक्त है । ये दोनों अलग अलग भी मिलते हैं । इनमें त्रेसठ शलाका पुरुषोंके चरित हैं ।

१ मणि जाएण किं पि अमणोज्जे, कइवयदियहें केण वि कज्जे ।

णिव्विण्णउ थिउ जाम महाकइ, ता सिवणंतारि पत्त सरासइ ।

मणइ भडारी सुहयरुओहं, पणमइ अरुहं सुहयरुमेहं ।

इय णिसुणेवि विउद्धउ कइवरु, सयलकलायरु णं छणससहरु ।

दिसउ णिहालइ किं पि ण पेच्छइ, जा विग्गियमइ णियवरि अच्छइ ।

—महापुराण ३८—२

पहलेमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवका और दूसरेमें शेष तेईस तीर्थंकरोंका और उनके समयके अन्य महापुरुषोंका । उत्तरपुराणमें पद्मपुराण (रामायण) और हरिवंश-पुराण (महाभारत) भी शामिल हैं और ये भी कहीं कहीं पृथक् रूपमें मिलते हैं ।

अपभ्रंश ग्रंथोंमें सर्गकी जगह सन्धियाँ होती हैं । आदिपुराणमें ८० और उत्तरपुराणमें ४२ सन्धियाँ हैं । दोनोंका श्लोकपरिमाण लगभग बीस हजार है । इसकी रचनामें कविको लगभग छह वर्ष लगे थे ।

यह एक महान् ग्रन्थ है और जैसा कि कविने स्वयं कहा है, इसमें सब कुछ है और जो इसमें नहीं है वह कहीं नहीं है^२ ।

महामात्य भरतकी प्रेरणा और प्रार्थनासे यह बनाया गया, इसलिए कविने इसकी प्रत्येक सन्धिके अंतमें इसे ' महाभव्यभरतानुमणिए ' (महाभव्यभरतानुमानिते) विशेषण दिया है और इसकी अधिकांश सन्धियोंमें प्रारम्भमें भरतका विविध-गुणकीर्तन किया है^३ ।

जैनपुस्तकभण्डारोंमें इस ग्रन्थकी अनेकानेक प्रतियाँ मिलती हैं । इसपर अनेक टिप्पण-ग्रन्थ भी लिखे गये हैं, जिनमेंसे आचार्य प्रभाचंद्र और श्रीचंद्र मुनिके दो टिप्पण उपलब्ध भी हैं^४ । श्रीचंद्रने अपने टिप्पणमें लिखा है—' मूलटिप्पणिकां चालोक्यकृतमिदं समुच्चयटिप्पणं । ' इससे मालूम होता है कि इस ग्रन्थपर स्वयं ग्रन्थकर्ताकी लिखी हुई मूल टिप्पणिका भी थी, जिसका उपयोग श्रीचंद्रने किया है । जान पड़ता है कि यह ग्रन्थ बहुत लोकप्रिय और प्रसिद्ध रहा है ।

१ केवल हरिवंशपुराणको जर्मनीके एक विद्वान् ' आल्स डर्फ ' ने जर्मनभाषामें सम्पादित करके प्रकाशित किया है ।

२—अत्र प्राकृतलक्षणानि सकला नीतिः स्थितिच्छन्दसा-

मर्थालंकृतयो रसाश्च विविधास्तत्त्वार्थनिर्णीतयः ।

किञ्चान्यद्यदिहास्ति जैनचरिते नान्यत्र तद्विश्रुते ।

द्वावेतौ भरतेशपुष्पदशनौ सिद्धं ययोरीदृशम् ।

३ ये गुणकीर्तनके सम्पूर्ण पद्य महापुराणके प्रथम खंडकी प्रस्तावनामें और जैनसाहित्य-संशोधक खंड २ अंक १ के मेरे लेखमें प्रकाशित हो चुके हैं ।

४ प्रभाचन्द्रकृत टिप्पण परमार राजा जयसिंहदेवके राज्यकालमें और श्रीचन्द्रका भोजदेवके राज्यकालमें लिखा गया है । देखो, आगेके पृष्ठोंमें ' श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र ' शीर्षक लेख ।

महापुराणकी प्रथम सन्धिके छठे कड़वकमें जो 'वीरभरवणरिंदु' शब्द आया है, उसपर प्रभाचंद्रकृत टिप्पण है—“ वीरभैरवः अन्यः कश्चिद्दुष्टः महाराजो वर्तते, कथा-मकरन्दनायको वा कश्चिद्राजास्ति । ” इससे अनुमान होता है कि 'कथा-मकरन्द' नामका भी कोई ग्रन्थ पुष्पदंतने बनाया होगा जिसमें इस राजाको अपनी श्रीविशेषसे सुरेन्द्रको जीतनेवाला और पर्वतके समान धीर बतलाया है। भरत-मंत्रिनि इसीको लक्ष्य करके कहा था कि तुमने इस राजाकी प्रशंसा करके जो मिथ्यात्वभाव उत्पन्न किया है, उसका प्रायश्चित्त करनेके लिए महापुराणकी रचना करो। यह बहुत करके अपभ्रंश भाषाका ही काव्य-ग्रंथ होगा और महापुराणसे पहलेका होगा।

२ नागकुमारचरित (नागकुमारचरित) । यह एक खंडकाव्य है। इसमें ९ सन्धियाँ हैं और यह गण्णणामंकि (नन्ननामांकि) है। इसमें पंचमीके उपवासका फल बतलानेवाला नागकुमारका चरित है। इसकी रचना बहुत ही सुन्दर और प्रौढ़ है।

यह मान्यखेटमें नन्नके मन्दिर (महल) में रहते हुए बनाया गया है। प्रारंभमें कहा गया है कि महोदधिके गुणवर्म और शोभन नामक दो शिष्योंने प्रार्थना की कि आप पंचमी-फलकी रचना कीजिए, महामात्य नन्नने भी उसे सुननेकी इच्छा प्रकट की और फिर नाइल और शीलभट्टने भी आग्रह किया।

३ जसहरचरित (यशोधरचरित) । यह भी एक सुन्दर खंडकाव्य है और इसमें 'यशोधर' नामक पुराण-पुरुषका चरित वर्णित है। इसमें चार सन्धियाँ हैं। यह कथानक जैनसम्प्रदायमें इतना प्रिय रहा है कि सोमदेव, वादिराज, वासवसेन, सोमकीर्ति, हरिभद्र, क्षमाकल्याण आदि अनेक दिगम्बर-श्वेताम्बर लेखकोंने इसे अपने अपने ढंगसे प्राकृत और संस्कृतमें लिखा है।

यह ग्रन्थ भी भरतके पुत्र और वहलभनेन्द्रके गृहमंत्रीके लिए उन्हींके महलमें रहते हुए लिखा गया था, इसलिए कविने इसके लिए प्रत्येक सन्धिके अन्तमें 'गण्णकण्णाभरण (नन्नके कानोंका गहना) विशेषण दिया है। इसकी

१ कौण्डिणगोत्तणहदिणयरासु, वहल्लहणरिंदघरमहयरासु ।

गण्णहो मंदिरि णिवसंतु संतु, अहिमाणमेरु कइ पुप्फयतु ।

—नागकुमारचरित १-२-२

दूसरी, तीसरी और चौथी सन्धिके प्रारम्भमें नन्नके गुणकीर्तन करनेवाले तीन संस्कृत पद्य हैं। इस ग्रंथकी कुछ प्रतियोंमें गन्धर्व कविके बनाये हुए कुछ क्षेपक भी शामिल हो गये हैं जिनकी चर्चा आगे की गई है। इसकी कई सटिप्पण प्रतियाँ भी मिलती हैं। बम्बईके ऐलक पन्नालाल सरस्वती-भवनमें (८०४ क) एक प्रति ऐसी है जिसमें ग्रंथकी प्रत्येक पंक्तिकी संस्कृतच्छाया दी हुई है जो बहुत ही उपयोगी है।

उपलब्ध ग्रंथोंमें महापुराण उनकी पहली रचना है और यशोधरचरित सबसे पिछली रचना। इसकी अन्तिम प्रशस्ति उस समय लिखी गई है जब युद्ध और लूटके कारण मान्यखेटकी दुर्दशा हो गई थी, वहाँ दुष्काल पड़ा हुआ था, लोग भूखों मर रहे थे, जगह जगह नर-कंकाल पड़े हुए थे। नागकुमारचरित इससे पहले बन चुका होगा। क्योंकि उसमें स्पष्ट रूपसे मान्यखेटको ' श्रीकृष्णराजकी तलवारसे दुर्गम ' बतलाया है। अर्थात् उस समय कृष्ण तृतीय जीवित थे। परन्तु यशोधरचरितमें नन्नको केवल ' वल्लभनरेन्द्रगृहमहत्तर ' विशेषण दिया है और वल्लभनरेन्द्र राष्ट्रकूटोंकी सामान्य पदवी थी। वह खोड्दिगदेवके लिए भी प्रयुक्त हो सकती है और उनके उत्तराधिकारी कर्कके लिए भी। महापुराण श०सं० ८८७ में पूर्ण हुआ था और मान्यखेटकी लूट ८९४ के लगभग हुई। इस लिए इन सात बरसोंके बीच कविके द्वारा इन दो छोटे छोटे उपलब्ध ग्रंथोंके सिवाय और भी ग्रंथोंके रचे जानेकी सम्भावना है।

कोश-ग्रन्थ। आचार्य हेमचन्द्रने अपनी ' देसीनाममाला ' की स्वोपज्ञ वृत्तिमें किसी ' अभिमानचिह्न ' नामक ग्रन्थकर्ताके सूत्र और स्वविवृत्तिके पद्य उद्धृत किये हैं^२। क्या आश्चर्य है जो अभिमानमेरु और अभिमानचिह्न एक ही हों। यद्यपि पुष्पदन्तने प्रायः सर्वत्र ही अपने ' अभिमानमेरु ' उपनामका ही उपयोग किया है, फिर भी यशोधरचरितके अन्तमें एक जगह अहिमाणिकं (अभिमानांक) या अभिमानचिह्न भी लिखा है^३। इससे बहुत सम्भव है कि उनका कोई देसी शब्दोंका कोश ग्रन्थ भी स्वोपज्ञटीकासहित हो जो आचार्य हेमचन्द्रके समक्ष था।

२ देखो कारंजा-सीरीजका यशोधरचरित पृ० २४, ४७, और ७५।

१ देखो, देसीनाममाला १-१४४, ६-९३, ७-१, ८-१२, १७।

२ देखो यशोधरचरित, पृ० १००, पंक्ति ३।

कविके आश्रयदाता

महामात्य भरत । पुष्पदन्तने दो आश्रयदाताओंका उल्लेख किया है, एक भरतका और दूसरे नन्नका । ये दोनों पिता-पुत्र थे और महाराजाधिराज कृष्णराज (तृतीय) के महामात्य । कृष्ण राष्ट्रकूट वंशका अपने समयका सबसे पराक्रमी, दिग्विजयी और अन्तिम सम्राट् था । इससे उसके महामात्योंकी योग्यता और प्रतिष्ठाकी कल्पना सहज ही की जा सकती है । नन्न शायद अपने पिताकी मृत्युके बाद महामात्य हुए होंगे । यद्यपि उस कालमें योग्यतापर कम ध्यान नहीं दिया जाता था, फिर भी बड़े बड़े राजपद प्रायः वंशानुगत होते थे ।

भरतके पितामहका नाम अण्णय्या, पिताका एयण और माताका श्रीदेवी था । वे कोण्डिन्य गोत्रके ब्राह्मण थे । कहीं कहीं इन्हें भरत भट्ट भी लिखा है । भरतकी पत्नीका नाम कुन्दव्वा था जिसके गर्भसे नन्न उत्पन्न हुए थे ।

भरत महामात्य-वंशमें ही उत्पन्न हुए थे परन्तु सन्तानक्रमसे चली आई हुई यह लक्ष्मी (महामात्यपद) कुछ समयसे उनके कुलसे चली गई थी जिसे उन्होंने बड़ी भारी आपत्तिके दिनोंमें अपनी तेजस्विता और प्रभुकी सेवासे फिर प्राप्त कर लिया था ।

भरत जैनधर्मके अनुयायी थे । उन्हें अनवरत-रचित-जिननाथ-भक्ति और जिन-वर-समय-प्रासादस्तम्भ अर्थात् निरन्तर जिनभगवानकी भक्ति करनेवाले और जैन-शासनरूप महलके स्तम्भ लिखा है ।

कृष्ण तृतीयके ही समयमें और उन्हींके सामन्त अरिकेसरीकी छत्रछायामें बने हुए नीतिवाक्यामृतमें अमात्यके अधिकार बतलाये गये हैं—आय, व्यय, स्वामिरक्षा और राजतंत्रकी पुष्टि । “ आयो व्ययः स्वामिरक्षा तंत्रपोषणं चामात्यानामधिकारः । ” उस समय साधारणतः रेवेन्यू-मिनिस्टरको अमात्य कहते थे । परन्तु भरत महामात्य थे । इससे मालूम होता है कि वे रेवेन्यूमिनिस्टरके सिवाय राज्यके अन्य विभागोंका भी काम करते थे । राष्ट्रकूट-कालमें मन्त्रीके लिए शास्त्रज्ञके सिवाय शास्त्रज्ञ भी होना आवश्यक था, अर्थात् जरूरत होनेपर उसे युद्धक्षेत्रमें भी जाना पड़ता था ।

१ महामत्तवंसधयवडु गहीर (महामात्यवंशध्वजपटगमीर) ।

२ तीव्रापद्विसेषु बन्धुरहितेनैकेन तेजस्विना,

सन्तानक्रमतो गताऽपि हि रमाऽकृष्टा प्रभोः सेवया ।

यस्याचारपदं वदन्ति कवयः सौजन्यसत्यास्पदं,

सोऽयं श्रीभरतो जयत्यनुपमः काले कलौ साम्प्रतम् ॥—म० पु० १५ वीं सन्धि

एक जगह पुष्पदन्तने लिखा भी है कि वे बल्लभराजके कटकके नायक अर्थात् सेनापति हुए थे^१। इसके सिवाय वे राजाके दानमंत्री भी थे^२। इतिहासमें कृष्ण तृतीयके एक मंत्री नारायणका नाम तो मिलता है^३, जो कि बहुत ही विद्वान् और राजनीतिज्ञ था परन्तु भरत महामात्यका अब तक किसीको पता नहीं। क्योंकि पुष्पदन्तका साहित्य इतिहासज्ञोंके पास तक पहुँचा ही नहीं।

पुष्पदन्तने अपने महापुराणमें भरतका बहुत कुछ परिचय दिया है। उसके सिवाय उन्होंने उसकी अधिकांश सन्धियोंके प्रारम्भमें कुछ प्रशस्तिपद्य पीछेसे भी जोड़े हैं जिनकी संख्या ४८ है^४। उनमेंसे छह (५, ६, १६, ३०, ३५, ४८) तो शुद्ध प्राकृतके हैं और शेष संस्कृतके। इनमेंसे ४२ पद्योंमें भरतका जो गुण-कीर्तन किया गया है, उससे भी उनके जीवनपर विस्तृत प्रकाश पड़ता है। उक्त सारा गुणानुवाद हो सकता है कि कवित्वपूर्ण होनेके कारण अतिशयोक्तिमय हो, परन्तु कविके स्वभावको देखते हुए उसमें सचाई भी कम नहीं जान पड़ती।

व सारी कलाओं और विद्याओंमें कुशल थे, प्राकृत कवियोंकी रचनाओंपर मुग्ध थे, उन्होंने सरस्वती सुरभिका दूध पिया था। लक्ष्मी उन्हें चाहती थी। वे सत्यप्रतिज्ञ और निर्मत्सर थे। युद्धोंका बोझ ढोते ढोते उनके कन्धे घिस गये।

१ सोयं श्रीभरतः कलङ्करहितः कान्तः सुवृत्तः शुचिः,
 सज्ज्योतिर्मणिराकरो प्लुत इवानघ्यो गुणैर्भासते ।
 वंशो येन पवित्रतामिह महामात्याह्वयः प्राप्तवान्,
 श्रीमद्बल्लभराजशक्तिकटके यश्चाभवन्नायकः ।

२ हं हो भद्र प्रचण्डावनिपतिभवने त्यागसंख्यानकर्त्ता,
 कोऽयं श्यामः प्रधानः प्रवरकरिकराकारबाहुः प्रसन्नः ।
 धन्यः प्रालेयपिण्डोपमधवल्यशो धौतधात्रीतलान्तः,
 ख्यातो बन्धुः कवीनां भरत इति कथं पान्थ जानासि नो त्वम् ॥

३ देखो सालौटगीका शिलालेख, इ० ५० जिल्द ४, पृ० ६० ।

४ बम्बईके सरस्वती-भवनमें महापुराणकी जो बहुत ही अशुद्ध प्रति है उसकी ४२ वीं सन्धिके बाद एक 'हरति मनसो मोहं' आदि अशुद्ध पद्य अधिक दिया हुआ है। जान पड़ता है अन्य प्रतियोंमें शायद इस तरहके और भी कुछ पद्य होंगे।

थे, अर्थात् उन्होंने अनेक लड़ाइयाँ लड़ी थीं ।

बहुत ही मनोहर, कवियोंके लिए कामधेनु, दीनदुखियोंकी आशा पूरी करने-वाले, चारों ओर प्रसिद्ध, परस्त्रीपराङ्मुख, सच्चरित्र, उन्नतमति और सुजनोंके उद्धारक थे^१ ।

उनका रंग सौंवाला था, हाथीकी सूंडके समान उनकी भुजायें थीं, अङ्ग सुडौल थे, नेत्र सुन्दर थे और वे सदा प्रसन्नमुख रहते थे^३ ।

भरत बहुत ही उदार और दानी थे । कविके शब्दोंमें बलि, जीमूत, दधीचि आदिके स्वर्गागत हो जानेसे त्याग गुण अगत्या भरत मंत्रीमें ही आकर बस गया था^४ ।

एक सूक्तिमें कहा है कि भरतके न तो गुणोंकी गिनती थी और न उनके शत्रुओंकी^५ । यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि इतने बड़े पदपर रहनेवालेके, चाहे वह कितना ही गुणी और भला हो, शत्रु तो हो ही जाते हैं ।

इस समयके विचारशील लोग जिस तरह मन्दिर आदि बनवाना छोड़कर विद्योपासनाकी आवश्यकता बतलाते हैं उसी तरह भव्यात्मा भरतने भी वापी, कूप, तड़ाग और जैनमन्दिर बनवाना छोड़कर वह महापुराण बनवाया जो संसार-समुद्रको आरामसे तरनेके लिए नावतुल्य हुआ । भला उसकी वन्दना करनेको

१ णोंसेसकला विष्णाणकुसलु ।

पाययकइकन्वरसावलुद्धु, संपीयसरासइसुरहिदुद्धु ॥

कमलच्छु अमच्छरु सच्चसंधु, रणभरधुरधरणुधुद्धुसंधु ।

२ सविलासविलासिणिहियहयेणु, सुपसिद्धमहाकइकामधेणु ।

काणीणदीणपरिपूरियासु, जसपसरपसाहियदसदिसासु ॥

परमणिपरमुहु सुद्धसीलु, उण्णयमइ सुयणुद्धरणलीलु ।

३ श्यामरुचिनयनसुमगं लावण्यप्रायमङ्गमादाय ।

भरतच्छलेन सम्प्रति कामः कामाकृतिमुपेतः ॥

४ देखो, पृष्ठ ३०३ के टिप्पणका पद्य ।

५ धनधवलताश्रयाणामचलस्थितिकारिणां मुहुर्भ्रमताम् ।

गणनैव नास्ति लोके भरतगुणानामरीणां च ॥

किसका हृदय नहीं चाहता ।

इस महाकविको आश्रय देकर और प्रेमपूर्ण आग्रहसे महापुराणकी रचना कराके सचमुच ही भरतने वह काम किया, जिससे कविके साथ उनकी भी कीर्ति चिरस्थायी हो गई । जैनमन्दिर और वापी, कूप, तड़ागादि तो न जाने कब नाम-शेष हो जाते ।

पुष्पदन्त जैसे फक्कड़, निर्लोभ, निरासक्त और संसारसे उद्धिग्न कविसे महा-पुराण जैसा महान् काव्य बनवा लेना भरतका ही काम था । इतना बड़ा आदमी एक अकिंचनका इतना सत्कार, इतनी खुशामद करे और उसके साथ इतनी सहृदयताका व्यवहार करे, यह एक बड़ी भारी बात है ।

पुष्पदन्तकी मित्रता होनेसे भरतका महल विद्याविनोदका स्थान बन गया । वहाँ पाठक निरन्तर पढ़ते थे, गायक गाते थे और लेखक सुन्दर काव्य लिखते थे^२ ।

गृह-मन्त्री नन्न

ये भरतके पुत्र थे । नन्नको महामात्य नहीं किन्तु वल्लभनरेन्द्रका गृहमन्त्री लिखा है । उनके विषयमें कविने थोड़ा ही लिखा है परन्तु जो कुछ लिखा है, उससे मालूम होता है कि वे भी अपने पिताके सुयोग्य उत्तराधिकारी थे और कविका अपने पिताके ही समान आदर करते थे, तथा अपने ही महलमें रखते थे ।

नागकुमारचरितकी प्रशस्ति^३के अनुसार वे प्रकृतिसे सौम्य थे, उनकी कीर्ति

१ वापीकूपतडागजैनवसतीस्त्यक्त्वेह यत्कारितं,

भग्यश्रीभरतेन सुन्दरधिया जैनं पुराणं महत् ।

तत्कृत्वां प्लवमुत्तमं रविकृतिः (१) संसारवार्धेः सुखं

कोऽन्यत् स्वसहसो (?) स्ति कस्य हृदयं तं वन्दितुं नेहते ॥

२ इह पठितमुदारं वाचकैर्गीयमानं इह लिखितमजस्रं लेखकैश्चास्वकाव्यं ।

गतिवति कविमित्रे मित्रतां पुष्पदन्ते भरत तव गृहेस्मिन्माति विद्याविनोदः ।

३ सुहृदुंगमवणवावारभारणिब्वहणवीरधवलस्स ।

कौडिल्लगोत्तणहससहरस्स पयईए सोमस्स ॥ १

कुंदन्वागम्भसमुम्भवस्स सिरिभरहमट्टतणयस्स ।

जसपसरभरियभुवणोयरस्स जिणचरणकमलभसलस्स ॥ २

अणवरयरइयवरजिणहरस्स जिणभवणपूयणिरयस्स ॥

सारे लोकमें फैली हुई थी, उन्होंने जिनमन्दिर बनवाये थे, वे जिनचरणोंके भ्रमर थे और जिनपूजामें निरत रहते थे, जिनशासनके उद्धारक थे, मुनियोंको दान देते थे, पापरहित थे, बाहरी और भीतरी शत्रुओंको जीतनेवाले थे, दयावान्, दीनोंके शरण, राजलक्ष्मीके क्रीड़ासरोवर, सरस्वतीके निवास, तमाम विद्वानोंके साथ विद्या-विनोदमें निरत और शुद्धहृदय थे ।

एक प्रशस्तिपद्यमें पुष्पदन्तने नन्नको उनके पुत्रों सहित प्रसन्न रहनेका आशीर्वाद दिया है । ' इससे मालूम होता है कि उनके अनेक पुत्र थे । पर उनके नामोंका कहीं उल्लेख नहीं है ।

कृष्णराज (तृतीय) के तो वे गृहमंत्री थे ही, परन्तु उनकी मृत्युके बाद खोट्टिगदेवके और शायद उनके उत्तराधिकारी कर्क (द्वितीय) के भी वे मंत्री रहे होंगे । क्योंकि यशोधरचरितके अन्तमें कविने लिखा है कि जिस नन्नने बड़े भारी दुष्कालके समय—जब कि सारा जनपद नीरस हो गया था, दुस्सह दुःख व्याप्त हो रहा था, जगह-जगह मनुष्योंकी खोपड़ियाँ और कंकाल फैले पड़े थे, सर्वत्र रंक ही रंक दिखलाई पड़ते थे,—सरस भोजन, सुन्दर वस्त्र और ताम्बूलादिसे मेरी खातिर की, वह चिरायु हो^१ । निश्चय ही मान्यखेटकी लूट और बरवादीके बादकी दुर्दशाका यह चित्र है और तब खोट्टिगदेवकी मृत्यु-हां चुकी थी ।

कविके कुछ परिचित जन

पुष्पदन्तने अपने ग्रन्थोंमें भरत और नन्नके सिवाय कुछ और लोगोंका भी

जिणसासणायमुद्धारणस्स मुणिदिण्णदाणस्स ॥ ३

कलिमलकलंकपरिवज्जियस्स जियदुविहवइरिणियरस्स ॥

कारुण्णकंदणवज्जलहरस्स, दीणजणसरणस्स ॥ ४ ॥

णिवलच्छीकीलासरवरस्स, वाएसरिणिवासस्स ।

णित्सेसविउसविज्जाविणोयणिरयस्स सुद्धिहियस्स ॥ ५ ॥

१ स श्रीमान्निह भूतले सह सुतैर्नन्नाभिधो नन्दतात् ।

२ जणवयनीरसि, दुरियमलीमसि, कइणिदायरि, दुसहे दुइयरि
पडियकवालइ, णरकंकालइ, बहुरंकालइ अहदुक्कालइ ।

पवरागारि सरसाहारि सण्हि चेलिं, वरतंबोलिं,

महु उवयारिउ पुण्णि पेरिउ गुणमत्तिहउ, णण्णु महल्लउ । होउ चिराउसु...

उल्लेख किया है। मेलपाटीमें पहुँचनेपर सबसे पहले उन्हें दो पुरुष मिले जिनके नाम अम्मइय और इन्द्रराय थे। ये वहाँके नागरिक थे और इन्होंने भरतमन्त्रीकी प्रशंसा करके उनके यहाँ नगरमें चलनेका आग्रह किया था। उत्तरपुराणके अन्तमें सबकी शान्ति-कामना करते हुए उन्होंने संत, देवल्ल, भोगल्ल, सोहण, गुणवर्म, दंगइय और संतइयका उल्लेख किया है। इनमेंसे संतको बहुगुणी, दयावान् और भाग्यवान् बतलाया है। देवल्ल संतका पुत्र था जिसने महापुराणका सारी पृथिवीमें प्रसार किया। भोगल्लको चतुर्विधदानदाता, भरतका परममित्र, अनुपमचरित्र और विस्तृतयशवाला बतलाया है। शोभन और गुणवर्मको निरन्तर जिनधर्मका पालनेवाला कहा है। नागकुमारचरितके अनुसार ये महोदधिके शिष्य थे। इन्होंने नागकुमारचरितकी रचना करनेकी प्रेरणा की थी। दंगइय और संतइयकी भी शान्ति-कामना की है। नागकुमारचरितमें दंगइयको आशीर्वाद दिया है कि उसका रत्नत्रय विशुद्ध हो। नाइल्ल और सीलइयका भी उल्लेख है। इन्होंने भी नागकुमारचरित रचनेका आग्रह किया था।

कविके समकालीन राजा

महापुराणकी उत्थानिकामें कहा है कि इस समय 'तुडिगु महानुभाव' राज्य कर रहे हैं। इस 'तुडिगु' शब्दपर टिप्पण-ग्रन्थमें 'कृष्णराजः' टिप्पण दिया हुआ है। कृष्णराज दक्षिणके सुप्रसिद्ध राष्ट्रकूटवंशमें हुए हैं और अपने समयके महान् सम्राट् थे। 'तुडिगु' उनका घरू प्राकृत नाम था। इस तरहके घरू नाम राष्ट्रकूट और चालुक्य वंशके प्रायः सभी राजाओंके मिलते हैं।

वल्लभनरेन्द्र, वल्लभराय, शुभतुंगदेव और कण्हराय नामसे भी कविने उनका उल्लेख किया है।

शिलालेखों और दानपत्रोंमें अकालवर्ष, महाराजधिगज, परमेश्वर, परम-माहेश्वर, परमभट्टारक, पृथिवीवल्लभ, समस्तभुवनाश्रय आदि उपाधियाँ उनके लिए प्रयुक्त की गई हैं।

वल्लभराय पदवी पहले दक्षिणके चौलुक्य राजाओंकी थी, पीछे जब उनका राज्य राष्ट्रकूटोंने जीत लिया तब इस वंशके राजा भी इसका उपयोग करने लगे।

१ जैसे गोज्जिग, बर्दिग, तुडिग, पुट्टिग, खोट्टिग आदि।

२ घरव लेखकोंने मानकिके बल्लहरा नामक बलाढ्य राजाओंका जो उल्लेख किया है, वह मान्यखेटके 'वल्लभराज' पद धारण करनेवाले राजाओंको ही लक्ष्य करके किया है।

भारतके प्राचीन राजवंश (तृ० भा० पृ० ५६) में इनकी एक पदवी 'कन्धार-पुरवराधीश्वर' लिखी है। परन्तु हमारी समझमें वह भ्रमवश लिखी गई है। वास्तवमें 'कालिंजरपुरवराधीश्वर' होनी चाहिए। क्योंकि उन्होंने चेदिके कलचुरि-नरेश सहस्रार्जुनको जीता था और कालिंजरपुर चेदिका मुख्य नगर था। दक्षिणका कलचुरि राजा बिज्जल भी अपने नामके साथ 'कालिंजरपुरवराधीश्वर' पद लगाता था।

अमोघवर्ष तृतीय या बदिगके तीन पुत्र थे—तुडिगु या कृष्ण तृतीय, जगजुंग और खोट्टिगदेव। कृष्ण सबसे बड़े थे जो अपने पिताके बाद गद्दीपर बैठे और चूँकि दूसरे जगजुंग उनसे छोटे थे तथा उनके राज्यकालमें ही स्वर्गगत हो गये थे, इस लिए तीसरे पुत्र खोट्टिगदेव गद्दीपर बैठे। कृष्णके पुत्रका इस बीच देहान्त हो गया था और पौत्र भी छोटा था, इसलिए खोट्टिगदेवको अधिकार मिला।

कृष्ण तृतीय राष्ट्रकूट वंशके सबसे अधिक प्रतापी और सार्वभौम राजा थे। इनके पूर्वजोंका साम्राज्य उत्तरमें नर्मदा नदीसे लेकर दक्षिणमें मैसूर तक फैला हुआ था जिसमें सारा गुजरात, मराठी सी० पी०, और निज़ाम राज्य शामिल था। मालवा और बुन्देलखण्ड भी उनके प्रभावक्षेत्रमें थे। इस विस्तृत साम्राज्यको कृष्ण तृतीयने और भी बढ़ाया और दक्षिणका सारा अन्तरीप भी अपने अधिकारमें कर लिया। कहाइके ताम्रपत्रोंके अनुसार उन्होंने पाण्ड्य और केरलको हराया, सिंहलसे कर वसूल किया और रामेश्वरमें अपनी कीर्तिबल्लीकी लगाया। ये ताम्रपत्र मई सन् ९५९ (श० सं० ८८१) के हैं और उस समय लिखे गये हैं जब कृष्णराज अपने मेलपाटीके सेना-शिविरमें ठहरे हुए थे और अपना जीता हुआ राज्य और धन-रत्न अपने सामन्तों और अनुगतोंको उदारतापूर्वक बाँट रहे थे^१। इनके दो ही महीने बाद लिखी हुई श्रीसोमदेवसूरिकी यशस्तिलक-प्रशस्तिसे भी इसकी पुष्टि होती है^२। इस प्रशस्तिमें उन्हें पाण्ड्य, सिंहल, चोल, चेर आदि देशोंको जीतनेवाला लिखा है।

देवलीके^३ शिलालेखसे मालूम होता है कि उसने कांचीके राजा दन्तिगको

१ एप्पिग्राफिया इंडिका जिल्द ४ पृ० २७८।

२ वंदीणदिण्णधण-कणयपयर महिपरिममंतु मेलाडिणयर।

३ “पाण्ड्यसिंहल-चोल-चेरमप्रभृतीन्महीपतीन्प्रसाध्य...”।

४ जर्नेल बाम्बे ग्रांच रा० पृ० सो० जिल्द १८, पृ० २३९ और लिस्ट आफ इन्स्क्रिप्शन्स सी० पी० एण्ड नरार, पृ० ८१।

और वपुष्को मारा, पल्लव-नरेश अन्तिगको हराया, गुर्जरोँके आक्रमणसे मध्य भारतके कलचुरियोंकी रक्षा की और अन्य शत्रुओंपर विजय प्राप्त की। हिमालयसे लेकर लंका और पूर्वसे लेकर पश्चिम समुद्र तकके राजा उसकी आज्ञा मानते थे। उसका साम्राज्य गंगाकी सीमाको भी पार कर गया था।

चोलदेशका राजा परान्तक बहुत महत्वाकांक्षी था। उसके कन्याकुमारीमें मिले हुए शिलालेखमें^१ लिखा है कि उसने कृष्ण तृतीयको हराकर वीर चोलकी पदवी धारण की। किस जगह हराया और कहाँ हराया, यह कुछ नहीं लिखा। बल्कि इसके विरुद्ध ऐसे अनेक प्रमाण मिले हैं जिनसे सिद्ध होता है कि ई० स० ९४४ (श० ८६६) से लेकर कृष्णके राज्य-कालके अन्त तक चोलमण्डल कृष्णके ही अधिकारमें रहा। तब उक्त लेखमें इतनी ही सचाई हो सकती है कि सन् ९४४ के आसपास वीरचोलको राष्ट्रकूटोंके साथकी लड़ाईमें थोड़ी-सी अल्पकालिक सफलता मिल गई होगी।

दक्षिण अर्काट जिलेके सिद्धलिङ्गमादम स्थानके शिलालेखमें^२ जो कृष्ण तृतीयके पाँचवें राज्य-वर्षका है उसके द्वारा कांची और तंजोरके जीतनेका उल्लेख है और उत्तरी अर्काटके शोलापुरम स्थानके ई० सं० ९४९-५० (श० सं० ८७१) के शिलालेखमें^३ लिखा है कि उस साल उसने राजादित्यको मारकर तोडयि-मंडल या चोलमण्डलमें प्रवेश किया। यह राजादित्य परान्तक या वीरचोलका पुत्र था और चोल-सेनाका सेनापति था। कृष्ण तृतीयके बहनोई और सेनापति भूतगने इसे इसके हाथीके हौदेपर आक्रमण करके मारा था और इसके उपलक्ष्यमें उसे वनवासी प्रदेश उपहार मिला था।

ई० सन् ९१५ (शक सं० ८१७) में राष्ट्रकूट इन्द्र (तृतीय) ने परमार-राजा उपेन्द्र (कृष्ण) को जीता था और तबसे कृष्ण तृतीय तक परमार राजे राष्ट्रकूटोंके मांडलिक थे। उस समय गुजरात भी परमारोंके अधीन था।

परमारोंमें सीयक या श्रीहर्ष राजा बहुत पराक्रमी था। जान पड़ता है इसने कृष्ण तृतीयके आधिपत्यके विरुद्ध सिर उठाया होगा और इसी कारण कृष्णको उस

१ त्रावणकोर आर्कि० सीरीज जि० ३, पृ० १४३, श्लोक ४८। २ मद्रास एपिग्राफिकल कोलेक्शन १९०९ नं० ३७५। ३ ए० ई० जि० ५, पृ० १९५। ४ ए० ई० जि० १९, पृ० ८३। ५ आर्किलाजिकल सर्वे आफ साउथ इंडिया जि० ४, पृ० २०१।

पर चढ़ाई करनी पड़ी होगी और उसे जीता होगा। इस अनुमानकी पुष्टि श्रवण-बेलगोलके मारसिंहके शिलालेखसे होती है जिसमें लिखा है कि उसने कृष्ण तृतीयके लिए उत्तरीय प्रान्त जीते और बदलेमें उसे 'गुर्जर-राज' का खिताब मिला। इसी तरह होलकेरीके ई० स० ९६५ और ९६८ के शिलालेखोंमें मारसिंहके दो सेना-पतियोंको 'उज्जयिनी-भुजंग' पदको धारण करनेवाला बतलाया है। ये गुर्जर-राज और उज्जयिनी-भुजंग पद स्पष्ट ही कृष्णद्वारा सीयकके गुजरात और मालवेके जीते जानेका संकेत करते हैं।

सीयक उस समय तो दब गया, परन्तु ज्यों ही पराक्रमी कृष्णकी मृत्यु हुई कि उसने पूरी तैयारीके साथ मान्यखेटपर धावा बोल दिया और खोट्टिगदेवको परास्त करके मान्यखेटको बुरी तरह लूटा और बरबाद किया।

पाइय-लच्छी नाममालाके कर्त्ता धनपालके कथनानुसार यह लूट वि० स० १०२९ (श० सं० ८९४) में हुई और शायद इसी लड़ाईमें खोट्टिगदेव मारा गया। क्योंकि इसी साल उत्कीर्ण किया हुआ खरडाका शिलालेख खोट्टिगदेवके उत्तराधिकारी कर्क (द्वितीय) का है।

कृष्ण तृतीय ई० स० ९३९ (श० सं० ८६१) के दिसम्बरके आसपास गद्दीपर बैठे होंगे। क्यों कि इस वर्षके दिसम्बरमें इनके पिता बहिंग जीवित थे और कोल्लगलुर्का शिलालेख फाल्गुन सुदी ६ शक स० ८८९ का है जिसमें लिखा है कि कृष्णकी मृत्यु हो गई और खोट्टिगदेव गद्दीपर बैठा। इससे उनका २८ वर्ष तक राज्य करना सिद्ध होता है, परन्तु किलूर (द० अर्काट) के वीरत्तनेश्वर मन्दिरका शिलालेख उनके राज्यके ३० वें वर्षका लिखा हुआ है। विद्वानोंका खयाल है कि ये राजकुमारावस्थामें, अपने पिताके जीते जी ही राज्यका कार्य सँभालने लगे थे, इसीसे शायद उस समयके दो वर्ष उक्त तीस वर्षके राज्य-कालमें जोड़ लिये गये हैं।

राष्ट्रकूटों और कृष्ण तृतीयका यह परिचय कुछ विस्तृत इस लिए देना पड़ा जिससे पुष्पदन्तके ग्रंथोंमें जिन जिन बातोंका जिक्र है, वे ठीक तौरसे समझमें आ

१ ए० इ० जि० ५, पृ० १७९। २ ए० इ० जि० ११, नं० २३-३३। ३ ए० इ० जि० १२, पृ० २६३। ४ मद्रास ए० क० १९१३ नं० २३६। ५ मद्रास एपिग्राफिक कलेक्शन सन् १९०२, नं० २३२।

जायँ और समय निर्णय करनेमें भी सहायता मिले ।

समय-विचार

महापुराणकी उत्थानिकामें कविने जिन सब ग्रंथों और ग्रन्थकर्ताओंका उल्लेख किया है^१, उनमें सबसे पिछले ग्रन्थ धवल और जयधवल हैं^२ । पाठक जानते हैं कि वीरसेन स्वामीके शिष्य जिनसेनने अपने गुरुकी अधूरी छोड़ी हुई टीका जयधवलाको श० सं० ७५९ में राष्ट्रकूटनरेश अमोघवर्ष (प्रथम) के समयमें समाप्त की थी । अतएव यह मिश्रित है कि पुष्पदन्त उक्त संवत्के बाद ही किसी समय हुए हैं, पहले नहीं ।

रुद्रटका समय श्रीयुत काणे और दे के अनुसार ई० सन् ८००—८५० के अर्थात् श० सं० ७२२ और ७७२ के बीच है । इससे भी लगभग उपर्युक्त परिणाम ही निकलता है ।

अभी हाल ही डा० ए० एन० उपाध्येको अपभ्रंश भाषाका ‘ धम्मपरिक्खा ’ नामका ग्रंथ मिला है जिसके कर्त्ता बुध (पंडित) हरिषेण हैं, जो धक्कड़वंशीय गोवर्द्धनके पुत्र और सिद्धसेनके शिष्य थे । वे मेवाड़ देशके चित्तौड़के रहनेवाले

१—अकलंक, कपिल (सांख्यकार), कणचर या कणाद (वैशेषिकदर्शनकर्त्ता), द्विज (वेदपाठक), सुगत (बुद्ध), पुरंदर (चार्वाक), दन्तिल, विशाख (संगीतशास्त्रकर्त्ता), भरत (नाट्यशास्त्रकार), पतंजलि, भारवि, व्यास, कोहल (कुष्माण्ड कवि), चतुर्मुख, स्वयंभु, श्रीहर्ष (हर्षवर्द्धन), द्रोण, ईशान, वाण, धवल-जयधवल-सिद्धान्त, रुद्रट, और यशश्चिह्न, इतनोंका उल्लेख किया गया है । इनमेंसे अकलंक, चतुर्मुख और स्वयंभु जैन हैं । अकलंक देव, जयधवल-कार जिनसेनसे पहले हुए हैं । चतुर्मुख और स्वयंभुका ठीक समय अभी तक निश्चित नहीं हुआ है परन्तु स्वयंभु अपने पञ्चमचरियमें आचार्य रविषेणका उल्लेख करते हैं जिन्होंने वि० सं० ७३३ में पद्मपुराण लिखा था । इससे उनसे पीछेके हैं । उन्होंने चतुर्मुखका भी स्मरण किया है । स्वयंभु भी अपभ्रंश भाषाके महाकवि थे । इनके पञ्चमचरि (पञ्चचरित) और अरिट्टनेमिचरि (हरिवंशपुराण) उपलब्ध हैं । उनका स्वयंभु छन्द नामका एक छन्द-शास्त्र भी है । ‘ पंचमिचरिय ’ नामका ग्रन्थ भी उनका बनाया हुआ है, जो अभी तक कहीं प्राप्त नहीं हुआ है । उनका कोई अपभ्रंश भाषाका व्याकरण भी था । ये स्वयंभु यापनीय संघके अनुयायी थे, ऐसा महापुराण-टिप्पणसे मालूम होता है ।

२ गण्ड बुद्धिउ आयमसद्दधामु, सिद्धंत धवल्लु जयधवल्लु णाम ।

थे और उसे छोड़कर कार्यवश अचलपुर गये थे । वहाँपर उन्होंने वि० सं० १०४४ में अपना यह ग्रंथ समाप्त किया था । इस ग्रंथके प्रारम्भमें अपभ्रंशके चतुर्मुख, स्वयंभु और पुष्पदन्त इन तीन महाकवियोंका स्मरण किया गया है^३ । इससे सिद्ध है कि वि० सं० १०४४ या श० सं० ९०९ से पहले ही पुष्पदन्त एक महाकविके रूपमें प्रसिद्ध हो चुके थे । अर्थात् पुष्पदन्तका समय ७५९ और ९०९ के बीच होना चाहिए । न तो उनका समय श० सं० ७५९ के पहले जा सकता है और न ९०९ के बाद ।

अब यह देखना चाहिए कि वे श० सं० ७५९ (वि० सं० ८९४) से कितने बाद हुए हैं ।

कविने अपने ग्रंथोंमें तुडिगुं, शुभतुंगं, वल्लभनरेन्द्र और कण्हरायका उल्लेख किया है और इन सब नामोंपर ग्रंथोंकी प्रतियों और टिप्पण ग्रंथोंमें 'कृष्णराजः' टिप्पणी दी है । इसका अर्थ यह हुआ कि ये सभी नाम एक ही राजाके हैं । वल्लभराय या वल्लभनरेन्द्र राष्ट्रकूट राजाओंकी सामान्य पदवी थी, इसलिए यह भी मालूम हो गया कि कृष्ण राष्ट्रकूटवंशके राजा थे ।

राष्ट्रकूटोंकी राजधानी पहले मयूरखंडी (नासिक) में थी, पीछे अमोघवर्ष

१ इह मेवाडदेसे जणसंकुले, सिरिउजपुरिणगायधकडकुले ।...

गोवद्धणु णामे उप्पण्णओ, जो सम्मत्तरयणसंपुण्णओ ॥

तहो गोवद्धणासुपियगुणवइ, जा जिणवरपय णिच्चवि पणवइ ।

ताए जणिउ हरिसेणणाम सुओ, जो संजाउ विबुहकइविस्सुओ ॥

सिरिचित्तउडुचएवि अचलउरेहो, गउ णियकज्जे जिणहरपउरहो ।

तहिं छंदालंकारपसाहिइ, धम्मपरिक्ख एह ते साहिय ॥

२ विक्कमणिवपरियत्तइ कालए, ववगए वरिस सहसचउतालए ।

३ चउमुहु कव्वविरयणे सयंसुवि, पुप्फयंतु अण्णाणणिसंभुवि ।

तिण्णवि जोगा जेण तं सासइ, चउमुहमुहे थिय ताम सरासइ ।

जो सयंसु सोहेउ पहाणउ, अहकह लोयालोय वि याणउ ।

पुप्फयंतु णवि माणुसु बुच्चइ, जो सरसइए कयावि ण मुच्चइ ।

४ सुवणेक्करामु रायाहिराउ, जहि अच्छइ 'तुडिगु' महाणुमाउ । म० पु० १-३-३

५ सुहत्तुंगदेवकमकमलभसल्लु, णीसेल्लकलाविण्णाणकुसल्लु । म० पु० १-५-२

६ वल्लभणरिंदधरमहत्तरासु ।—य० च० का प्रारंभ ।

(प्रथम) ने श० सं० ७३७ में उसे मान्यखेटमें प्रतिष्ठित की। पुष्पदन्तने नागकुमारचरितमें कहा है कि कण्हराय (कृष्णराज) की हाथकी तलवाररूपी जल-वाहिनीसे जो दुर्गम है और जिसके धवलगृहोंके शिखर मेघावलीसे टकराते हैं, ऐसी बहुत बड़ी मान्यखेट नगरी है।

राष्ट्रकूटवंशमें कृष्ण नामके तीन राजा हुए हैं, एक तो वे जिनकी उपाधि शुभतुंग थी। परन्तु उनके समय तक मान्यखेट राजधानी ही नहीं थी, इसलिए पुष्पदन्तका मतलब उनसे नहीं हो सकता।

द्वितीय कृष्ण अमोघवर्ष (प्रथम) के उत्तराधिकारी थे, जिनके समयमें गुणमद्राचार्यने श० सं० ८२० में उत्तरपुराणकी समाप्ति की थी और जिन्होंने श० सं० ८३३ तक राज्य किया है। परन्तु इनके साथ उन सब बातोंका मेल नहीं खाता जिनका पुष्पदन्तने उल्लेख किया है। इसलिए कृष्ण तृतीयको ही हम उनका समकालीन मान सकते हैं। क्योंकि—

१—जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है चोलराजाका सिर कृष्णराजने कटवाया था, इसके प्रमाण इतिहासमें मिलते हैं और चोल देशको जीत कर कृष्ण तृतीयने अपने अधिकारमें कर लिया था। २—यह चोलनेरश 'परान्तक' ही मालूम होता है जिसने वीरचोलकी पदवी धारण की थी।

३—धारानरेश-द्वारा मान्यखेटके लूटे जानेका जो उल्लेख पुष्पदन्तने किया है,^३ वह भी कृष्ण द्वितीयके साथ मेल नहीं खाता। यह घटना कृष्णराज तृतीयकी मृत्युके बाद खोड्गदेवके समय की है और इसकी पुष्टि अन्य प्रमाणोंसे भी होती है। धनपालने अपनी 'पाइयलच्छी (प्राकृतलक्ष्मी) नाममाला' में लिखा है कि वि० सं० १०२९ में मालव-नरेन्द्रने मान्यखेटको लूटा।

१ सिरिकण्हरायकरयलणिहिय असिजलवाहिणि दुगययि ।

धवलहरसिहरिहयमेहउलि पविउल मण्णखेडणययि ॥

२ उब्बद्धजूडु भूमंगभीसु, तोडेप्पिणु चोडहो तणउ सीसु ।

३ दीनानाथघनं सदाबहुजनं प्रोत्फुल्लवल्लीवनं,

मान्याखेटपुरं पुरंदरपुरीलीलहरं सुन्दरम् ।

धारानाथनरेन्द्रकोपशिखिना दग्धं विदग्धप्रियं,

क्वेदानीं वसतिं करिष्यति पुनः श्रीपुष्पदन्तः कविः ॥

४—विक्रमकालस्स गए अउणुत्तीसुत्तरे सहस्समि ।

मालवणरिंदघाडीए ल्खिडिए मण्णखेडमि ॥ २७६ ॥

मान्यखेटको किस मालव-राजाने लूटा, इसका पता परमार राजा उदयादित्यके समयके उदयपुर (ग्वालियर) के शिलालेखमें परमार राजाओंकी जो प्रशस्ति दी है उससे लगता है । उसके १२ वें पद्यमें लिखा है कि हर्षदेवने खोष्टिगदेवकी राजलक्ष्मीको युद्धमें छीन लिया ।

ये हर्षदेव ही धारानरेश थे, जो सीयक (द्वितीय) या सिंहभट भी कहलाते थे, और जैसा कि पहले बताया जा चुका है, जिनपर कृष्ण तृतीयने चढ़ाई की थी । खोष्टिगदेव कृष्ण तृतीयके भाई और उत्तराधिकारी थे ।

४—महापुराणकी रचना जिस सिद्धार्थ संवत्सरमें शुरू की गई थी, उसी संवत्सरमें सोमदेवसूरिने अपना यशस्तिलक चम्पू समाप्त किया था और उस समय कृष्ण तृतीयका पड़ाव मेलपाटीमें था । पुष्पदन्तने भी अपने ग्रंथ-प्रारंभके समय कृष्ण-राजका मेलपाटीमें रहनेका उल्लेख किया है । साथ ही यशस्तिलककी प्रशस्तिमें उनको चोल आदि देशोंका जीतनेवाला भी लिखा है^१ । ऐसी दशामें पुष्पदन्तका कृष्ण तृतीयके समयमें होना निःसंशयरूपसे सिद्ध हो जाता है ।

पहले उक्त मेलपाटीमें ही पुष्पदन्त पहुँचे थे, सिद्धार्थ संवत्सरमें ही उन्होंने अपना महापुराण प्रारंभ किया था और यह सिद्धार्थ श० सं० ८८१ ही था । मेलपाटी या मेलडिमें श० ८८१ में कृष्णराज थे, इसके और भी प्रमाण मिले हैं जो ऊपर दिये जा चुके हैं ।

इन सब प्रमाणोंसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि श० सं० ८८१ में पुष्पदन्त मेलपाटीमें भरत महामात्यसे मिले और उनके अतिथि हुए । इसी साल उन्होंने महापुराण शुरू करके उसे श० सं० ८८७ में समाप्त किया । इसके बाद उन्होंने नागकुमार-चरित और यशोधर-चरित बनाये । यशोधर-चरितकी समाप्ति उस समय हुई जब मान्यखेट लूटा जा चुका था । यह श० सं० ८९४ के लगभगकी

१ एपिग्राफिआ इंडिका जिल्द १, पृ० २२६ ।

२—श्रीहर्षदेव इति खोष्टिगदेवलक्ष्मी, जग्राह यो युधि नगादसमप्रतापः ।

३—“ शकनृपकालातीतसंवत्सरशतेष्वष्टत्वेकाशीत्यधिकेषु गतेषु अंकतः ८८१ सिद्धार्थ-संवत्सरान्तर्गतचैत्रमासमदनत्रयोदश्यां पाण्ड्य-सिंहल-चोल-चेरमप्रभृतीन्महीपतीन्प्रसाध्य मेल-पाटीप्रवर्द्धमानराज्यप्रभावे श्रीकृष्णराजदेवे सति तत्पादपक्षोपजीविनः समधिगतपंचमहाशब्द-महासामन्ताधिपतेश्चालुक्यकुलजन्मनः सामन्तचूडामणेः श्रीमदरिकेसरिणः प्रथमपुत्रस्य श्रीमद्र-क्षिगराजस्य लक्ष्मीप्रवर्धमानवसुंधरायां गंगधारायां विनिर्मापितमिदं काव्यमिति । ”

घटना है। इस तरह वे ८८१ से लेकर कमसे कम ८९४ तक, लगभग तेरह वर्ष, मान्यखेटमें महामात्य भरत और नन्नके सम्मानित अतिथि होकर रहे, यह निश्चित है। उसके बाद वे और कब तक जीवित रहे, यह नहीं कहा जा सकता।

बुध हरिषेणकी धर्मपरीक्षा मान्यखेटकी छूटके कोई पन्द्रह वर्ष बादकी रचना है। इतने थोड़े ही समयमें पुष्पदन्तकी प्रतिभाकी इतनी प्रसिद्धि हो चुकी थी। हरिषेण कहते हैं कि पुष्पदन्त मनुष्य थोड़े ही हैं, उन्हें सरस्वती देवी कभी नहीं छोड़ती, सदा साथ रहती है।

एक शंका

महापुराणकी ५० वीं सन्धिके प्रारंभमें जो 'दीनानाथघनं' आदि संस्कृत पद्य है और पृ० ३२७ के फुटनोटमें उद्धृत किया जा चुका है, और जिसमें मान्यखेटके नष्ट होनेका संकेत है, वह श० सं० ८९४ के बादका है और महापुराण ८८७ में ही समाप्त हो चुका था। तब शंका होती है कि वह उसमें कैसे आया ?

इसका समाधान यह है कि उक्त पद्य ग्रन्थका अविच्छेद्य अंग नहीं है। इस तरहके अनेक पद्य महापुराणकी भिन्न भिन्न संधियोंके प्रारंभमें दिये गये हैं। ये सभी मुक्तक हैं, भिन्न भिन्न समयमें रचे जाकर पीछेसे जोड़े गये हैं और अधिकांश महामात्य भरतकी प्रशंसाके हैं। ग्रन्थ-रचना-क्रमसे जिस तिथिको जो संधि प्रारंभ की गई, उसी तिथिको उसमें दिया हुआ पद्य निर्मित नहीं हुआ है। यही कारण है कि सभी प्रतियोंमें ये पद्य एक ही स्थानपर नहीं मिलते हैं। एक पद्य एक प्रतिमें जिस स्थानपर है, दूसरी प्रतिमें उस स्थानपर न होकर किसी और ही स्थानपर है। किसी किसी प्रतिमें उक्त पद्य न्यूनाधिक भी हैं। अभी बम्बईके सरस्वती-भवनकी प्रतिमें हमें एक पूरा पद्य और एक अधूरा पद्य अधिक भी मिला है जो अन्य प्रतियोंमें नहीं देखा गया।

यशोधरचरितकी दूसरी, तीसरी और चौथी सन्धियोंमें भी इसी तरहके तीन

१-हरति मनसो मोहं द्रोहं महाप्रियजंतुजं । भवतु भविनां दंभारंभः प्रशांतिकृतो ।
जिनवरकथा ग्रन्थप्रस्तागमितस्त्वया । कथय कमयं तोयस्तीति गुणान् भरतप्रभो ।
यह पद्य बहुत ही अशुद्ध है ।

—४२ वीं संधिके बाद

२ आकल्पं भरतेश्वरस्तु जयताद्येनादरात्कारिता ।

श्रेष्ठायं भुवि मुक्तये जिनकथा तत्त्वामृतस्यन्दिनी ।—४३ वीं सन्धिके बाद

संस्कृत पद्य नन्नकी प्रशंसाके हैं जो अनेक प्रतियोंमें हैं ही नहीं। इससे यही अनुमान करना पड़ता है कि ये सभी या अधिकांश पद्य भिन्न भिन्न समयोंमें रचे गये हैं और प्रतिलिपियाँ कराते समय पीछेसे जोड़े गये हैं। गुरुज यह कि 'दीनानाथधन' आदि पद्य मान्यखेटकी लूटके बाद ही लिखा गया है और उसके बाद जो प्रतियाँ लिखी गईं, उनमें जोड़ा गया है। निश्चय ही यह पद्य उसके पहले जो प्रतियाँ लिखी जा चुकी होंगी उनमें न होगा।

इस प्रकारकी एक प्रति महापुराणके सम्पादक डा० पी० एल० वैद्यको नौदणी (कोल्हापुर) के श्री तात्या साहब पाटीलसे मिली है जिसमें उक्त पद्य नहीं है। ८९४ के पहलेकी लिखी हुई इस तरहकी और भी प्रतियोंकी प्रतिलिपियाँ मिलनेकी संभावना है।

एक और शंका

'महाकवि पुष्पदन्त और उनका महापुराण' शीर्षक लेख मैंने 'माण्डारकर इन्स्टिट्यूट' पूनाकी वि० सं० १६३० की लिखी हुई जिस प्रतिके आधारसे लिखा था उसमें प्रशस्तिकी तीन पंक्तियाँ इस रूपमें हैं—

पुष्पयंतकइणा धुयपंके, जइ अहिमाणमेरुणामंके ।

कयउ कवु भत्तिए परमत्थे, छसयछडोत्तर कयसामत्थे ॥

कोहणसंवच्छरे आसाढए, दहमए दियहे चंदसरूढए ।

इसके 'छसयछडोत्तरकयसामत्थे' पदका अर्थ उस समय यह किया गया था कि यह ग्रन्थ शकसंवत् ६०६ में समाप्त हुआ। परन्तु पीछे जब गहराईसे विचार किया गया तब पता लगा कि ६०६ संवत्का नाम क्रोधन हो ही नहीं सकता, चाहे वह शक संवत् हो, विक्रम संवत् हो, गुप्त संवत् हो, या कलचुरि संवत् हो। इसलिए उक्त पाठके सही होनेमें सन्देह होने लगा। 'छसयछडोत्तर' तो खैर ठीक, पर 'कयसामत्थे' का अर्थ दुरूह हो गया। तृतीयान्त पद होनेके कारण उसे कविका विशेषण बनानेके सिवाय और कोई चारा नहीं था। यदि बिन्दी निकालकर उसे सप्तमी समझ लिया जाय, तो भी 'कृतसामत्थे' का कोई अर्थ नहीं बैठता। अतएव शुद्ध पाठकी खोज की जाने लगी।

सबसे पहले प्रो० हीरालालजी जैनने अपने 'महाकवि पुष्पदन्तके समयपर

१ देखो, महापुराण प्र० खं०, डा० पी० एल० वैद्य-लिखित भूमिका पृ० १७।

२ स्व० बाबा दुलीचन्दजीकी ग्रन्थ-सूचीमें भी पुष्पदन्तका समय ६०६ दिया हुआ है।

विचार' लेखमें बतलाया कि कारंजाकी प्रतिमें उक्त पाठ इस तरह दिया हुआ है—

पुष्पयंतकइणा धुयपंके, जइ अहिमाणमेरुणामके ।

कयउ कवु भत्तिए परमत्थे, जिणपयपंकयमउलियहत्थे ।

कोहणसंवच्छेरे आसाढए, दहमइ दिवहे चंदरुइरूढए ॥

अर्थात् क्रोधन संवत्सरकी असाढ सुदी १० को जिन भगवानके चरण-कमलोंके प्रति हाथ जोड़े हुए अभिमानमेरु, धृतपंक (धुल गये हैं पाप जिसके), और परमार्थी पुष्पदन्त कविने भक्तिपूर्वक यह काव्य बनाया ।

यहाँ बम्बईके सरस्वती-भवनमें जो प्रति (१९३ क) है, उसमें भी यही पाठ है और हमारा विश्वास है कि अन्य प्रतियोंमें भी यही पाठ मिलेगा ।

ऐसा मालूम होता है कि पूनेवाली प्रतिके अर्द्धदग्ध लेखकको उक्त स्थानमें सिर्फ़ मीती लिखी देखकर संवत्-संख्या देनेकी जरूरत महसूस हुई और उसकी पूर्ति उसने अपनी विलक्षण बुद्धिसे स्वयं कर डाली !

यहाँ यह बात नोट करने लायक है कि कविने सिद्धार्थ संवत्सरमें अपना ग्रन्थ प्रारम्भ किया और क्रोधन संवत्सरमें समाप्त । न वहाँ शक संवत् दिया और न यहाँ ।

तीसरी शंका

लगभग पन्द्रह वर्ष पहले पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारको शंका हुई थी कि पुष्पदन्त प्राचीन नहीं है । उन्होंने इस विषयमें एक लेख भी लिखा था और उसमें नीचे लिखी प्रशस्तिके आधारपर 'जसहरचरित' की रचनाका समय वि० सं० १३६५ बतलाया था ।

किउ उवरोहेँ जस्स कइयइ एउ भवंतर ।

तहो भवहु णामु पायडमि पयडउ घर ॥ २९ ॥

चिरु पढणे छंगेसाहु साहु, तहो सुउ खेला गुणवंतु साहु ।

तहो तणुसह वीसलु णाम साहु, वीरोसाहुणि यिहि सुलहु णाहु ॥

सोयारु सुणणगुणगणसणाहु, एककइया चितइ चित्ति लाहु ।

हो पंडियठक्कुर कण्हपुत्त, उवयारियवल्लहपरममित्त ॥

कइपुष्पयंति जसहरचरित्तु, किउ सुट्टु सदलक्खणविचित्तु ।

पेसहिं तहिं राउलु कउलु अज्जु (?), जसहरविवाहु तह जणियचोज्जु ।

१ जैनसाहित्य संशोधक भाग २, अंक ३-४ ।

२ देखो, जैनजगत् (१ अक्टूबर सन् १९२६) में 'महाकावि पुष्पदन्तका समय' ।

सयलहं भवभमणभवंतराहं, महु वंछिउ करहि गिरंतराहं ॥
 ता साहुसमीहिउ कियउ सव्वु, राउल्लुविवाहु भवभमणु भव्वु ।
 वक्खाणिउ पुरउ हवेइ जाम, संतुट्टउ वीसलु साहु ताम ।
 जोइणिपुरवरि गिवसंतु सिट्ठु, साहुहि घरे सुत्थियणहु घुट्ठु ॥
 पणसट्ठिसहिय तेरहसयाहं, गिवविक्रम संवच्छरगयाहं ।
 वइसाहपहिल्लइ पक्खि बीय, रविवारि समित्थउ मिस्सतीय ॥
 चिरु वत्थुबंधि कइ कियउ जंजि, पद्धडियबंधि मइं रइउ तं जि ।
 गंधर्व्वे कण्हडणंदणेण, आयहं भवाहं किय थिरमणेण ।
 महु दोसु ण दिज्जइ पुत्वि कइउ, कइवच्छराहं तं सुत्तु लइउ ॥

परन्तु जान पड़ता है कि उस समय इन पंक्तियोंका ठीक ठीक अर्थ नहीं समझा गया था। वास्तवमें इसका भावार्थ यह है—

“ जिसके उपरोध या आग्रहसे कविने यह पूर्वभवोंका वर्णन किया (अब मैं) उस भव्यका नाम प्रकट करता हूँ । पहले पट्टण या पानीपतमें छंगे साहु नामके एक साहु थे । उनके खेला साहु नामके गुणी पुत्र हुए । फिर खेला साहुके बीसल साहु हुए जिनकी पत्नीका नाम वीरो था । वे गुणी श्रोता थे । एक दिन उन्होंने अपने चित्तमें सोचा (और कहा) कि हे कण्हके पुत्र पंडित ठक्कुर (गन्धर्व), वल्लभराय (कृष्ण तृतीय) के परम मित्र और उपकारित कवि पुष्पदन्तने सुन्दर और शब्दलक्षणविचित्र जो जसहरचरित बनाया है उसमें यदि राजा और कौलका प्रसंग, यशोधरका आश्चर्यजनक विवाह और सबके भवांतर और प्रविष्ट कर दो, तो मेरा मन-चाहा हो जाय । तब मैंने वही सब कर दिया, जो साहुने चाहा था—राउल्लु (राजा) और कौलका प्रसंग, विवाह और भवांतर । फिर जब बीसल साहुके सामने व्याख्यान किया, सुनाया, तब वे संतुष्ट हुए । योगिनीपुर (दिल्ली) में साहुके घर अच्छी तरह सुस्थितिपूर्वक रहते हुए विक्रम राजाके १३६५ संवत्में पहले वैशाखके दूसरे पक्षकी तीज रविवारको यह कार्य पूरा हुआ । पहले कवि (वच्छराय) ने जिसे वस्तुछन्दमें बनाया था, वही मैंने पद्धडीवद्ध रचा । कण्हके पुत्र गन्धर्व्वने स्थिर मनसे भवांतरोंको कहा है । इसमें कोई सुक्षे दोष न दे । क्योंकि पूर्वमें वच्छरायने यह कहा था । उसीके

१ ‘ पट्टण ’ पर ‘ पानीपत ’ टिप्पणी दी हुई है ।

सूत्रको लेकर मैंने कहा । ”

इसके आगेका घत्ता और प्रशस्ति स्वयं पुष्पदन्तकृत है जिसमें उन्होंने अपना परिचय दिया है ।

पूर्वोक्त पद्योंसे बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि गन्धर्व कविने दिल्लीमें पानीपतके रहनेवाले बीसल साहु नामक धनीकी प्रेरणासे तीन प्रकरण स्वयं बना कर पुष्पदन्तके यशोधरचरितमें पीछेसे सं० १३६५ में शामिल किये हैं और कहाँ कहाँ शामिल किये हैं, सो भी यथास्थान ईमानदारीसे बतला दिया है । देखिए—

१ पहली सन्धिके चौथे कड़वककी ‘चाएण कण्णु विहवेण इंदु’ आदि पंक्तिके बाद आठवें कड़वकके अन्त तककी ८१ लाइनमें गन्धर्वरचित हैं जिनमें राजा मारिदत्त और भैरवकुलाचार्यका संलाप है । उनके अन्तमें कहा है—

गंधवु भणइ मइं कियउ एउ, णिव-जोईसहो संजोयभेउ ।

अग्गइ कइरायपुप्फयंतु सरसइणिलउ ।

देवियहि सरूउ वण्णइ कइयणकुलतिलउ ॥

अर्थात् गन्धर्व कहता है कि यह राजा और योगीश (कौलाचार्य) का संयोग-भेद मैंने कहा । अब आगे सरस्वतीनिलय कविकुलतिलक कविराज पुष्पदंत (मैं नहीं) देवीका स्वरूप वर्णन करते हैं ।

२ पहली ही सन्धिके २४ वें कड़वककी ‘पोढत्तणि पुट्ठि पलट्टियंगु’ आदि लाइनसे लेकर २७ वें कड़वक तककी ७९ लाइनमें भी गन्धर्वकी हैं । इसे उन्होंने ७९ वीं लाइनमें इस तरह स्पष्ट किया है—

जे वासवसेणि पुव्व रइउ, तं पेक्खवि गंधव्वेण कहिउ

अर्थात् वासवसेनने पूर्वमें (ग्रन्थ) रचा था, उसको देखकर ही यह गंधर्वने कहा ।

१ श्रीवासवसेनके इस यशोधरचरितकी प्रति बम्बईमें (नं० ६०४ क) मौजूद है । यह संस्कृतमें है । इसकी अन्तिम पुष्पिकामें ‘इति यशोधरचरिते मुनिवासवसेनकृते काव्ये... अष्टमः सर्गः समाप्तः’ वाक्य है । प्रारम्भमें लिखा है ‘प्रमंजनादिभिः पूर्वं हरिवेणसमन्वितैः, यदुक्तं तत्कथं शक्यं मया बालेन भाषितुम् ।’ इससे मालूम होता है कि उनसे पूर्व प्रमंजन और हरिवेणने यशोधरके चरित लिखे थे । इन कविवरने अपने समय और कुलादिका कोई परिचय नहीं दिया है । परन्तु इतना तो निश्चित है कि वे गन्धर्व कविसे पहले हुए हैं । इस ग्रन्थकी एक प्रति प्रो० हीरालालजीने जयपुरके बाबा दुलीचन्दजीके भंडारमें भी देखी थी और उसके नोट्स लिये थे । हरिवेण शायद वे ही हों, जिनकी धर्मपरीक्षा (अपभ्रंश) अमी डा० उपाध्येने खोज निकाली है ।

३ चौथी संधिके २२ वें कड़वककी 'जजरिउ जेण बहुमेयकम्म' आदि १५ वीं पंक्तिसे लेकर आगेकी १७२ लाइनें भी गंधर्वकी हैं। इसके आगे भी कुछ लाइनें प्रकरणके अनुसार कुछ परिवर्तित करके लिखी गई हैं। फिर एक घत्ता और १५ लाइनें गंधर्वकी हैं जो ऊपर भावार्थसहित दे दी गई हैं।

इस तरह इस ग्रंथमें सब मिलाकर ३३५ पंक्तियाँ प्रक्षिप्त हैं और वे ऐसी हैं कि जरा गहराईसे देखनेसे पुष्पदन्तकी प्रौढ़ और सुन्दर रचनाके बीच छुप भी नहीं सकती। अतएव गंधर्वके क्षेपकोंके सहारे पुष्पदन्तको विक्रमकी चौदहवीं शताब्दिमें नहीं घसीटा जा सकता।

इसके सिवाय बहुत थोड़ी ही प्रतियोंमें सो भी उत्तर भारतकी प्रतियोंमें ही यह प्रक्षिप्त अंश मिलता है। बम्बईके तेरहपंथी जैनमन्दिरकी जो वि० सं० १३९० की लिखी हुई अतिशय प्राचीन प्रति है, उसमें गन्धर्वरचित उक्त पंक्तियाँ नहीं हैं और ऐलक पन्नालाल सरस्वती-भवनकी दो प्रतियोंमें भी नहीं हैं।

१ अपरिवर्तित पाठ मुद्रित ग्रंथमें न होनेके कारण यहाँ दे दिया जाता है—

सो जसवइ सो कल्लाणमित्तु, सो अभयणाउ सो मारिदत्तु ।

वणिक्कुलपंकयबोहणदिणेषु, सो गोवड्डणु गुणगणविसेसु ॥

सा कुसुमावलि पालियति गुत्ति, सा अभयमइत्ति णरिदुत्ति ।

भव्वइं दुण्णयणिष्णासणेण, तउ चएवि चारु सण्णासणेण ।

कालें जंतें सव्वइ मयाइं, जिणघम्में सग्गग्गहो गहाइं ॥

२ बम्बईके सरस्वती-भवनमें जो (८०४ क) संस्कृतछायासहित प्रति है उसमें 'जिणघम्में सग्गग्गहो गहाइं'के आगे प्रक्षिप्त पाठकी 'गंधर्वं कण्डवदण्डेण' आदि केवल दो पंक्तियाँ न जाने कैसे आ पड़ी हैं। इस प्रतिमें इन दो पंक्तियोंको छोड़कर और कोई प्रक्षिप्त अंश नहीं है।

श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र

ये दो ग्रन्थकर्ता लगभग एक ही समयमें, एक ही स्थानपर, हुए हैं और दोनोंने ही महाकवि पुष्पदन्तके महापुराणपर टिप्पण लिखे हैं, इस लिए कुछ विद्वानोंने यह समझ लिया है कि प्रभाचन्द्र और श्रीचन्द्र एक ही हैं, लिपिकर्त्ताओंकी गस्तीसे कहीं कहीं जो 'श्रीचन्द्रकृत' लिखा मिलता है, सो वास्तवमें प्रभाचन्द्रकृत ही होना चाहिए। परन्तु वास्तवमें श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र दो स्वतंत्र ग्रन्थकर्त्ता हैं। नीचे लिखे प्रमाणोंसे यह बात सुस्पष्ट हो जायगी—

बम्बईके सरस्वती-भवनमें (नं० ४६३) में रविवेणाचार्यकृत पद्मचरितका श्रीचन्द्रकृत टिप्पण है^१। उसका प्रारम्भ और अन्तका अंश देखिए—

प्रारम्भ—शंकरं वरदातारं जिनं नत्वा स्तुतं सुरैः।

कुर्वे पद्मचरितस्य टिप्पणं गुरुदेशनात् ॥

सिद्धं जगत्प्रसिद्धं कृतकृत्यं वा समाप्तं निष्ठितमिति यावत्। सम्पूर्णभव्यार्थसिद्धि-
(द्वेः) कारणं, समग्रो धर्मार्थकाममोक्षः स चासौ भव्यार्थश्च भव्यप्रयोजनं तस्य
सिद्धिर्निष्पत्तिः स्वरूपलब्धिर्वा तस्याः कारणं हेतुः। किं विशिष्टं हेतुमुत्तमं दोषरहितं...

अन्त—लाङ् (ङ) बागङि (ङ) श्रीप्रवचनसेन (?) पंडितापद्मचरितस्सकण्ठ्यो
(तमाकर्ण्य ?) बलात्काराणश्रीश्रीनन्द्याचार्यसत्कविशिष्येण श्रीचन्द्रमुनिना श्रीमद्वि-
क्रमादित्यसंवत्सरे सप्तासीत्यधिकवर्षसहस्र (स्त्रे) श्रीमद्द्वारायां श्रीमतो राजे (ज्ये)
भोजदेवस्य.....

एवमिदं (दं) पद्मचरितटिप्पितं श्रीचन्द्रमुनिकृतसमाप्तमिति ।

स्व० सेठ माणिकचन्द्रजीके चौपाटीके मन्दिरमें इन्हीं श्रीचन्द्रमुनिका एक और ग्रंथ 'पुराणसार' (नं० १९७) है। उसका प्रारम्भ और अन्त इस प्रकार है—

१ देखो डा० पी० एल० वैद्य सम्पादित महापुराणकी अँगरेजी भूमिका ।

२ भवनके रजिस्टरमें इसका नाम, 'पद्मनन्दचरित्र' लिखा हुआ है। यह प्रति हालकी ही लिखाई हुई और बहुत ही अशुद्ध है ।

नत्वादितः सकल (तीर्थ) कृत (तां) कृतार्थान्, सर्वोपकारनिरतांस्त्रिविधेन त्रेरा-
वक्ष्ये तदीय गुणगर्भमहापुराणं, संक्षेपतोऽर्थनिकरं शृणुत प्रत्यप-

अन्त—धारायां पुरि भोजदेवनृपते राज्ये जयात्युच्चैः

श्रीमत्सागरसेनतो यतिपतेर्ज्ञात्वा पुराणं महत् ।

मुक्त्यर्थं भवभीतिभीतजगता श्रीनन्दिशिष्यो बुधः

कुर्वे चारु पुराणसारममलं श्रीचन्द्रनामामुनिः ॥

श्रीविक्रमादित्यसंवत्सरे यक्षपूत्य(अशीत्य?)धिकवर्षसहस्रे पुराणसारं ननु
समाप्तं । शुभं भवतु । लेखकपाठकयोः कल्याणम् ।

इन्हीं पञ्चचरितके टिप्पणकार और पुराणसारके कर्त्ता श्रीचन्द्रमुनिका
हुआ पुष्पदन्तकृत महापुराणका एक टिप्पण है, जिसका दूसरा भाग अ-
उत्तरपुराण-टिप्पण उपलब्ध है^१ । उसके अन्तमें लिखा है—

श्रीविक्रमादित्य-संवत्सरे वर्षाणामशीत्यधिकसहस्रे महापुराण-विषमपदविव-
सागरसेनसैद्धान्तात् परिज्ञाय मूलटिप्पणिकां चालोक्य कृतमिदं समुच्चयटिप्पणं ।
पातभीतेन श्रीमद्वला (त्का) रगणश्रीसंघा (नंघा) चार्यसत्कविशिष्येण श्रीच-
निजदौर्दंडाभिभूतरिपुराज्यविजयिनः श्रीभोजदेवस्य । १०२ ।

इति उत्तरपुराणटिप्पणकं प्रभाचंद्राचार्यविरचितं समाप्तम् ।

अथ संवत्सरेऽस्मिन् श्रीनृपविक्रमादित्यगताब्दः संवत् १५७५ वर्षे
सुदी ५ बुद्धदिने कुरुजंगलदेशे सुलतान सिकंदरपुत्र सुलतान इब्राहिम राज्य-
माने श्रीकाष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे भट्टारक श्रिगुणभद्रसूरिदेवाः तदाम-
जैसवाल चौ० टोडरमल्ल चौ० जगसीपुत्र इदं उत्तरपुराणटीका लिखापितं । ३

१ यह ग्रन्थ जयपुरके पाटोदीके मन्दिरके भंडारमें (गठरी नं० १३, ग्रन्थ तीसरा, पृ-
५७, श्लो० १७००) है । इसकी प्रशस्ति स्व० पं० पन्नालालजी बाकलीवालने आश्विन-सुदी
५ वीर सं० २४४७ के जैनमित्रमें प्रकाशित कराई थी और मेरे पास भी उन्होंने उसकी
नकल भेजी थी । इसी सम्बन्धमें उन्होंने अपने ता० १६-६-२३ के पत्रमें लिखा था कि
“उत्तरपुराणकी टिप्पणी मैंगाई सो वह गठरी नहीं मिली थी—आज ढूँढ़कर निकाली है ।
उसके आदि अंतके पाठकी भी नकल है । ‘श्रीचंद्रमुनिनाम’ ‘प्रभा’ शब्द छूट गया मालूम
होता है । परंतु श्लोकसंख्यामें फर्क होनेसे शायद श्रीचंद्रमुनि दूसरा भी हो सकता है ।”

२ यहाँ निश्चयसे श्रीचन्द्राचार्यकी जगह प्रभाचन्द्राचार्य लिखा गया है । लिपिकर्त्ता
स्पष्ट भूल है ।

दि। मांगल्यं दधति लेखकपाठकयोः ।

अंश की तीनों ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंसे यह बात स्पष्ट होती है कि इन तीनोंके कर्त्ता उ। नि हैं, जो बलात्कारगणके श्रीनन्दि नामक सत्कविके शिष्य थे और जिन्होंने रिमें वि० सं० १०८७ और १०८० में उक्त ग्रन्थोंकी रचना की है । नि। श्रीप्रभाचन्द्रचार्यके ग्रन्थोंको देखिए और उनमें सबसे पहले आदिपुराण-को लीजिए—

रंभ—प्रणम्य वीरं विबुधेन्द्रसंस्तुतं निरस्तदोषं वृषभं महोदयम् ।

पदार्थसंदिग्धजनप्रबोधकं महापुराणस्य करोमि टिप्पणम् ॥

अन्त—समस्तसन्देहहरं मनोहरं प्रकृष्टपुण्यप्रभवं जिनेश्वरम् ।

कृतं पुराणे प्रथमे सुटिप्पणं सुखावबोधं निखिलार्थदर्पणम् ॥

इति श्रीप्रभाचन्द्रविरचितमादिपुराणटिप्पणकं पंचासश्लोकहीनं सहस्रद्वयपरिमाणं समाप्ता (सं) । शुभं भवतु ।

ग। अन्तके महापुराणके दो भाग हैं एक आदिपुराण और दूसरा उत्तरपुराण ।

की प्रतियाँ अलग अलग भी मिलती हैं और समग्र ग्रंथोंकी एक प्रति

जि। जो है । श्रीचन्द्रने और प्रभाचन्द्रने दोनों भागोंपर टिप्पण लिखे हैं ।

ग्रन्थ। का आदिपुराणका टिप्पण तो अभी तक हमें नहीं मिला परन्तु प्रभाचन्द्रके

है। भागोंके टिप्पण उपलब्ध हैं । उनमेंसे आदिपुराण-टिप्पणका मंगलाचरण

त्र। भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट की प्रति नं० ४६३ (आफ १८७६-७७) ।

प्रशस्ति ऊपर दी जा चुकी है । अब उत्तरपुराणके टिप्पणको लीजिए—

म अंश—

इत्याचार्यप्रभाचन्द्रेदविरचितं उत्तरपुराणटिप्पणकं द्वाधिकशततमः सन्धिः ।

नित्यं तत्र तवप्रसन्नमनसा यत्पुण्यमत्यद्भुतं

यातस्तेन समस्तवस्तुविषयं चेतश्चमत्कारकः ।

व्याख्यातं हि तदा पुराणममलं स्व(सु)स्पष्टमिष्टाक्षरैः

भूयाच्चेतसि धीमतामतितरां चन्द्रार्कतारावधिः ॥ १ ॥

तत्त्वाधारमहापुराणगम(ग)नद्यो(ज्यो)ती जनानन्दनः

सर्वप्राणिमनःप्रभेदपटुता प्रस्पष्टवाक्यैः करैः ।

भव्याब्जप्रतिबोधकः समुदितो भूमुत्प्रभाचन्द्रतो

जीयाट्टिप्पणकः प्रचंडतरणिः सर्वार्थमग्रदुतिः ॥ २ ॥

श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुष्पा
कृताखिलमलकलंकेन श्रीप्रभाचंद्रपंडितेन महापुराणटिप्पणकं शतत्रयधिकसहस्रत्र
रिमाणं कृतमिति ।

इससे मालूम होता है कि यह टिप्पण धारानिवासी पं० प्रभाचन्द्रने जय
देवके (परमारनेरश भोजदेवके उत्तराधिकारीके) राज्यमें रचा है । आदिपुरा
णटिप्पणमें यद्यपि धाराका और जयसिंहदेवके राज्यका उल्लेख नहीं है और इस
कारण यह है कि आदिपुराण स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है, महापुराणका ही अंश है फ
वह है इन्हीं प्रभाचंद्रका ।

इसी उत्तरपुराण-टिप्पणकी एक प्रति आगरेके मोतीकटरेके मंदिरमें है जो कुछ
समय पहले साहित्यसन्देशके सम्पादक श्रीमहेन्द्रजीके द्वारा हमें देखनेको मिली थी ।
उसकी पत्रसंख्या ३३ है और उसका दूसरा और ३२ वाँ पत्र नष्ट हो गया है ।
उसमें ३३ वें पत्रका प्रारंभ इस तरह है—

मेषः ॥ ९ साइवइ स्वातिस्थाने ॥ १० अणिट्टउ अनुक्तस्वरूपः । वसुसम्
गुणसरीरु सम्यक्त्वाद्यष्टगुणस्वरूपः । ह्यत्तिउ हतार्तिः ॥ ११ पढिवि पाठं ग्रहण् ।
मामइएं कविवरस्य नामेदम् । सोत्तै प्रवाहेण ॥

इसके आगे वह श्लोक और प्रशस्ति है जो ऊपर दी जा चुकी है यह
उत्तरपुराण-टिप्पण श्रीचन्द्रके उत्तरपुराणसे भिन्न है । क्योंकि उसके अंतके किण
प्रभाचंद्रके टिप्पणोंसे नहीं मिलते । प्रभाचंद्रके टिप्पणका अंश ऊपर दिया ग
है । श्रीचंद्रके टिप्पणका अंतिम अंश यह है—

देसे सारए इतिसम्बन्धः । पढम ज्येष्ठा । निरंगु कामः । मुई मूकी । जलमंथणु
अन्तिमकल्किनो नामेदं । विरसेसइ गजिध्थति । पढेवि पाठग्रहणनामेदं ।

इसके आगे ही ' श्रीविक्रमादित्यसंवत्सरे ' आदि प्रशस्ति है !

श्रीचंद्रके उत्तरपुराण-टिप्पणकी श्लोकसंख्या १७०० है जब कि प्रभाचंद्रके
टिप्पणकी १३५० । क्योंकि प्रभाचंद्रके सम्पूर्ण महापुराण-टिप्पणकी श्लोकसंख्या
३३०० बतलाई गई है और आदिपुराणकी १९५० । ३३०० मेंसे आ०
पु० टि० की १९५० संख्या बाद देनेसे १३५० संख्या रह जाती है ।

जिस तरह श्रीचंद्रके बनाये हुए कई ग्रन्थ हैं जिनमेंसे तीनका परिचय ऊपर

१ यह ग्रंथ जयपुरके पाटोदीके मंदिरके मंडारका है (ग्रन्थ नं० २३३) । आगरेके
मोती कटरेके मन्दिरकी प्रतिमें भी प्रशस्तिका यही पाठ है ।

दिया जा चुका है उसी तरह प्रभाचन्द्रके भी अनेक स्वतंत्र ग्रंथ और टीका-टिप्पण ग्रंथ हैं और उनमेंसे कईमें उन्होंने धारा-निवासी और जयसिंहदेवके राज्यका उल्लेख किया है जैसे कि आराधनाकथाकोश (गद्य) में लिखा है—

श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्वारानिवासिना परापरपंचपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्य-निराकृतनिखिलमलकलंकेन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपंडितेन आराधनासत्कथाप्रबंधः कृतः ।

उन्होंने कई ग्रंथ जयसिंहदेवसे पहले भोजदेवके समयमें भी बनाये हैं^१ और उनमें अपने लिए लगभग यही विशेषण दिये हैं ।

इन सब बातोंसे स्पष्ट हो गया है कि ये दोनों ग्रन्थकर्त्ता भिन्न भिन्न हैं और दोनोंको एक समझना भ्रम है । ऐसा मालूम होता है कि जयपुरके लिपिकर्त्ताने पहले प्रभाचन्द्रके टिप्पणकी एक नकल की होगी और तब उसकी यह धारणा बन गई होगी कि टिप्पणके कर्त्ता प्रभाचन्द्र हैं और उसके बाद जब उससे श्रीचन्द्रके टिप्पणकी भी नकल कराई होगी तब उसने उसी धारणाके अनुसार 'श्रीचन्द्र' को गलत समझकर 'प्रभाचंद्राचार्यविरचितं' लिख दिया होगा ।

यहाँ यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि ये वही प्रभाचन्द्र हैं जिनके बनाये हुए प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र नामके प्रसिद्ध न्याय-ग्रन्थ हैं और जिन्होंने जैनेन्द्रव्याकरणपर शब्दाम्भोजभास्कर नामका भाष्य लिखा है । रत्नकरण्डटीका, क्रियाकलापटीका, समाधितंत्रटीका, आत्मानुशासनतिलक, द्रव्यसंग्रहपंजिका, प्रवचनसरोजभास्कर, सर्वार्थसिद्धिटिप्पण (तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण) आदि टीकायें और आराधनाकथाकोश (गद्य) भी उन्हींका है । इनके सिवाय अष्टपाहुड-पंजिका, स्वयंभूस्तोत्र-पंजिका, देवागम-पंजिका, समयसार-टीका, पंचास्तिकाय-टीका, मूलचार-टीका, आराधना-टीका आदि टीका-ग्रन्थ भी जिनके नाम ग्रन्थ-सूचियोंमें मिलते हैं शायद उन्हींके हों ।

१ जैसे प्रमेयकमलमार्तण्डके अन्तमें—“ श्रीभोजदेवराज्ये श्रीमद्वारानिवासिना परापर-परमेष्ठिपदप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलंकेन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपंडितेन निखिल-प्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योतपरीक्षासुखपदमिदं विवृतमिति ।

२ देखो न्यायकुमुदचन्द्र दि० खंडकी न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारलिखित भूमिका ।

साम्प्रदायिक द्वेषका एक उदाहरण

भट्टारक श्रीभूषण

संसारके सभी धर्मोंमें उनके प्रवर्तकोंके देहान्त होनेपर छोटेसे छोटे मतभेदोंके कारण समय समयपर अनेक पन्थ या सम्प्रदाय होते रहे हैं और धीरे धीरे उनमें परस्पर इतना द्वेष बढ़ गया है कि देख-सुनकर आश्चर्य होता है ।

हरएक सम्प्रदायके गुरु या आचार्य गृहस्थ न होकर प्रायः साधु संन्यासी हुआ करते हैं और सर्व साधारण लोगोंका यह विश्वास रहता है कि उनकी मनोभूमिका रागद्वेषमें फँसे हुए संसारी गृहस्थोंसे ऊँची होती है । आत्म-कल्याण और पर-कल्याणके लिए ही वे साधुवृत्ति धारण करते हैं, उनका निजी स्वार्थ कुछ नहीं होता । इस लिए वे जो कुछ कहते या लिखते हैं, वह कल्याणकारी ही होता है । परन्तु सम्प्रदाय-मोह एक ऐसी चीज है कि वह साधु और गृहस्थ दोनोंको ही अन्धा बना देती है और उनसे सभी कुछ अपकृत्य करा लेती है ।

इसके उदाहरणमें भट्टारक श्रीश्रीभूषण पेश किये जा सकते हैं जो सोजित्रा (भरोच) की काष्ठासंघकी गद्दीके पट्टधर थे । सोजित्रामें मूलसंघ और काष्ठासंघ इन दोनों सम्प्रदायोंकी गद्दियाँ थीं जिनमेंसे मूलसंघकी तो अब भी है, परन्तु काष्ठासंघकी गद्दी उठ गई है । उसके अन्तिम भट्टारक बम्बईके कमाठीपुरामें अपनी एक चेलीके साथ रहते थे और ज्योतिष-वैद्यकका घंघा करते थे । लेखकको एक बार उनके दर्शन करनेका भी सौभाग्य प्राप्त हुआ था । अवश्य ही दोनों सम्प्रदायोंके बीच श्रीभूषणके समयमें खूब द्वेष बढ़ रहा होगा, दोनों गद्दियोंमें खूब प्रतिस्पर्धा होगी और उसीके विस्फोटका पाठकोंका इस लेखमें परिचय मिलेगा ।

बम्बईके तेरहपंथी दि० जैन मन्दिरके मंडारमें ७०० पत्रोंका एक प्राचीन और जीर्ण शीर्ण गुटका है जो अनुमानसे चार पाँच सौ वर्ष पहलेका लिखा हुआ है । इसमें बीसों ग्रन्थोंका सार भाग, बीसों सम्पूर्ण ग्रन्थ और सैकड़ों छोटे मोठे पाठ संग्रहीत हैं, जिनसे संग्रह करनेवालेकी रुचि, योग्यता और बहुश्रुतताका पता लगता

है। उन्होंने निश्चयसे अपने स्वाध्यायके लिए इसे लिखा या लिखवाया होगा। लिखा भी बहुत शुद्ध है। पुस्तक बहुत जीर्ण हो गई है, जो पीछे जगह जगह बड़ी सावधानीसे मरम्मत करके ठीक की गई है।

इस गुटकेके लिखने लिखानेवाले कोई मूल संघके अनुयायी होंगे परन्तु पीछेसे वि० संवत् १६३६ में यह अहमदाबादके श्रीभूषण भट्टारकके हाथमें पहुँच गया जो काष्ठासंघके पट्टधर थे और जिन्होंने अपनेको षट्भाषाकविचक्रवर्ती तथा षट्दर्शनतर्कचक्रवर्ती लिखा है। जान पड़ता है कि आपको मूल संघसे अत्यन्त द्वेष था, ऐसा द्वेष कि जिसकी एक साधुमें हम कल्पना भी नहीं कर सकते। इस लिए आपने उक्त गुटकेमें जहाँ जहाँ उक्त मूलसंघी सज्जनका नामादि लिखा था वहाँ वहाँ हड़ताल फेरकर उसपर अपना नाम लिख दिया है। इसके सिवाय जहाँ थोड़ी-सी भी खाली जगह पाई है, वहाँ “श्रीकाष्ठासंघे नदीतटगच्छे भट्टारक-श्रीरामसेनान्वान्वये श्रीश्रीभूषणेन लिखापितं” लिख दिया है। गुटकेमें एक प्रतिक्रमण पाठ भी है; परन्तु भट्टारकजीकी दृष्टिमें वह शायद मूलसंघियोंके ही उपयोगका था, काष्ठासंघी उससे अपना आत्म-कल्याण नहीं कर सकते थे, इसलिए उसके नीचे आपने लिख दिया है—“मयूरसंघिनः प्रतिक्रमणं विनोदाय च विलोकनाय लिखापितं न तु पठनाय।” अर्थात् मूलसंघियोंका प्रतिक्रमण विनोदके लिए तथा देखनेके लिए लिखवाया है, पढ़नेके लिए नहीं!

षट्भाषाकविचक्रवर्ती महाशय इतनेसे ही सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने उक्त गुटकेमें लिखे हुए देवसेनाचार्यके सुप्रसिद्ध ‘दर्शनसार’की बड़ी ही दुर्दशा की है। पाठक जानते हैं कि इसमें बौद्ध, आजीवक, श्वेताम्बर, यापनीय, द्रविडसंघ, काष्ठासंघ आदिकी उत्पत्ति लिखी है। उसमेंसे काष्ठासंघकी उत्पत्तिका कथन चूँकि आपको पसन्द न था इसलिए उसपर भी आपने अपनी कलम-करामात दिखलाई है और उसमें जहाँ ‘काष्ठासंघ’ लिखा था वहाँ ‘मूलसंघ,’ जहाँ ‘कुमारसेन’ लिखा था वहाँ ‘पद्मनन्दि,’ जहाँ ‘गोपुच्छक’ लिखा था, वहाँ ‘मयूरसंघ’ या ‘मूलसंघ’ और जहाँ ‘नन्दीतट’ लिखा था वहाँ ‘गिरनार’ हड़ताल फेर फेर कर लिख दिया है। यह परिवर्तन करते समय उन्होंने इस बातका खयाल ही नहीं किया कि हम यह क्या कर रहे हैं और इससे कितना गोलमाल हो जायगा। और नीचे लिखी गाथाके अर्थपर तो शायद वे विचार ही नहीं कर सके, उन्होंने इसे ज्योंका त्यों रहने दिया जिसमें काष्ठासंघकी मानताओंको बतलाया है और जो

मूलसंघकी मानतायें किसी तरह हो ही नहीं सकतीं—

इत्थीणं पुणदिक्खा खुल्लयलेयस्स वीरचरिअत्तं ।

कक्कसकेसगाहणं छट्ठं च अण्णुव्वदं णाम ।

इसके सिवाय श्रीभूषणजीने पद्मनन्दि या कुन्दकुन्दको ही मूल संघका उत्पादक बना डाला है ! परन्तु इस ओर आपका ध्यान ही नहीं गया कि 'कट्टं संघ' की जगह 'मूलं संघ' कर कर देनेसे कुन्दकुन्दका समय वि० सं० ७५३ हो जाता है जो कि सर्वथा अविश्वसनीय है ।

श्रीभूषणजी दर्शनसारकी गाथाओंमें पूर्वोक्त उलट फेर करके ही सन्तुष्ट नहीं हुए हैं, उन्होंने मूल संघको अतिशय निन्द्य और आधुनिक सिद्ध करनेके लिए अपने 'प्रतिबोध-चिन्तामणि' नामक संस्कृत ग्रन्थके प्रारंभमें एक कथा भी गढ़कर लिख डाली है जिसका सार यहाँ दिया जाता है—

“एक बार अनन्तकीर्ति आचार्य गिरनारपर्वतपर बन्दनाके लिए गये, वहाँ उन्होंने पद्मनन्दि आदि बहुतसे निर्दय, पापी और क्रियाहीन कापालिकोंको देखा और उनकी भलाईके लिए उपदेश दिया जिससे वे हिंसाका त्याग करके ब्रह्मचारी हो गये । कापालिक लोग चूँकि हाथमें मयूरकी पिच्छि रखते और गलेमें लिंगा पहनते थे, इसलिए आचार्यने उनकी 'मयूरशृंगी' संज्ञा रख दी । आगे कालयोगसे यह मयूरशृंगी संघ बहुत फैल गया ।

“इसके पश्चात् पद्मनन्दिने अपना नाम प्रसिद्ध करनेके लिए नन्दिसंघ नामका संघ स्थापित किया और उज्जयिनीमें अपने गुरुके ही साथ विवाद करना शुरू कर दिया । कौलिक मतके ही समान वह अपने पक्षका प्रतिपादन करने लगा और गुरुसे बोला, 'मेरे इन वचनोंकी साक्षी स्वयं शारदा देवी हैं' और मन्त्र-बलसे

१ परिवर्तित गाथाओंने यह रूप धारण कर लिया है—

सो समणसंघवज्जो पउमनंदी हु समयमिच्छत्तो ।

चत्तोवसमो रुद्धो मूलं संघं परुवेदि ॥

सत्तसये तेवण्णे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।

गिरिनारे वरगामे मूलो संघो मुणोयव्वो ॥

२ यह ग्रन्थ सोजिन्ना गद्दीके अन्तिम भट्टारकके पास था और उन्हींके कृपासे मुझे सन् १९०८ में कुछ घण्टोंके लिए पढ़नेकी मिला था ।

उसने शारदाको वाचाल भी कर दिया। वह बोली, 'पद्मनन्दि जो कहते हैं वही सत्य है।' पद्मनन्दिने चूँकि सरस्वतीको बलात्कारसे बुलवाया, इसलिए उसका सरस्वती गच्छ और बलात्कार गण प्रसिद्ध हुआ।

“एक बार पापी पद्मनन्दिने मंत्र सिद्ध करते समय बलिदानके निमित्त एक मयूरको मार डाला और वह मयूर मरकर व्यन्तर देव हुआ। पूर्व वैरसे वह पद्मनन्दिनको नाना प्रकारके वात-पित्त-कफजन्य असाध्य रोगोंसे पीड़ित करने लगा और प्रत्यक्ष होकर बोला, 'रे पापी, तूने मुझे मारा था इसलिए अब मैं भी तुझे मारूँगा।' इसपर पद्मनन्दिनके शिष्यों—मुनियों और श्रावकोंने—उसके आगे बहुत ही आरजू मिन्नत की। जब वह प्रसन्न हुआ तो बोला, 'आगेसे तुम्हें गोपुच्छ छोड़कर मेरी पूँछ (मयूर-पुच्छ) धारण करके मेरे नामसे अपने संघको प्रसिद्ध करना होगा।' इसे पद्मनन्दिने स्वीकार कर लिया और उसी समयसे मयूरसंघकी स्थापना हुई।

“एक बार पद्मनन्दि अपने पैरोंमें एक ओषधिका लेप करके अन्तर्धान हो गया और कुछ समयके बाद लौट आया। श्रावकोंके पूछनेपर उसने कहा, मैं विदेह क्षेत्रमें सीमंधर स्वामीके समवसरणमें गया था और उनके मुखसे उपदेश सुनकर लौटा हूँ। मूर्ख श्रावकोंने उसकी बातोंपर विश्वास कर लिया। उन्होंने यह नहीं सोचा कि पंचमकालमें कोई मनुष्य विदेह-क्षेत्रको कैसे जा सकता है? शास्त्रमें इसका निषेध है।

“जब पद्मनन्दि मंत्र-तंत्रादिके बलपर बहुत अन्यायाचरण करने लगा तब उसके गुरुने और श्रावकोंने उसे अपने देशसे निकाल दिया और वह कर्नाटकमें जाकर चार गच्छोंकी कल्पना करके और चारों वर्णोंके लोगोंको संबोधित करके रहने लगा। वहाँ उसने स्वेच्छाचारिता छोड़ दी जिससे उसकी खूब प्रसिद्धि हुई।”

मूलसंघकी उत्पत्तिकी कथाका यही सार है। इसमें मयूरचूंगी, मयूरसंघ, नन्दिसंघ, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगण और चार गच्छोंकी सार्थकता सिद्ध करनेके लिए कथाकारकी कल्पनाको कितने चक्कर काटने पड़े हैं और वह कितनी बेडौल हो गई है, यह प्रत्येक बुद्धिमान् पाठक समझ सकता है।

यह कथा और पूर्वोक्त गुटकेके साथ किया गया अत्याचार, इस बातके प्रमाण हैं कि हमारे गुरु और आचार्य कहलानेवाले भी अपनी कलमका कहाँतक दुरुपयोग कर सकते हैं। भगवान् पद्मनन्दि या कुन्दकुन्दाचार्य जैसे महापुरुषों

और शुद्ध आध्यात्मिकोंको भी जो केवल संघ-भेदके कारण इतना नीच और निन्द्य चित्रित कर सकते हैं, वे और क्या नहीं कर सकते ?

काष्ठा संघ और मूल संघ दोनों ही दिगम्बर सम्प्रदायके संघ हैं, दोनों एक ही सिद्धान्तके माननेवाले हैं, दोनोंमें कोई बड़े मत-भेद भी नहीं हैं और दोनों ही एक दूसरेके आचार्योंके ग्रन्थोंका पठन-पाठन करते हैं। फिर भी श्रीभूषण भट्टारक अपने सधर्मी और पूज्य कुन्दकुन्दाचार्यको जिस रूपमें चित्रित करते हैं उसे देखकर किसे परिताप न होगा ?

अभी हाल ही हमें श्रीभूषण भट्टारकका शान्तिनाथपुराण नामका ग्रंथ यहाँके ऐलक पन्नालाल सरस्वती-भवनमें (३२ क) मिला है। उसकी प्रशस्तिसे जिसे हम आगे दे रहे हैं उनके स्थान और समय आदिका पूरा परिचय मिल जाता है। उसके अनुसार वे काष्ठासंघके नन्दीतट गच्छके विद्या गणमें हुए हैं। उन्होंने अपनी गुरुपरम्परा इस प्रकार दी है—रामसेनके अन्वयमें क्रमसे नेमिसेन, धर्मसेन, विमलसेन, विशालकीर्ति, विश्वसेन और विद्याभूषण हुए और इन विद्याभूषणके पट्ट-कमलको प्रफुल्लित करनेवाले सूर्यके समान श्रीभूषण हुए। उन्होंने वि० संवत् १६५९, अघन सुदी तेरस गुरुवारको यह पुराण लिखा।

गुर्जर देशमें सोजित्रा नामका नगर है, वहाँ नेमिनाथके मन्दिरके समीप इस ४०२५ श्लोक परिमित ग्रन्थकी रचना की गई।

पूर्वोक्त-सरस्वती भवनमें ही श्रीभूषणके शिष्य भट्टारक चन्द्रकीर्तिको बनाया हुआ 'पार्वपुराण' ग्रन्थ है। उससे भी श्रीभूषणकी उक्त गुरुपरम्परा तथा समयादिकी पुष्टि होती है। यह पार्वपुराण वैशाख सुदी ७, गुरुवार, सं० १६५४ को देवगिरि (दौलताबाद) के पार्वनाथ-चैत्यालयमें बनकर समाप्त हुआ था।

चन्द्रकीर्तिने अपने उक्त गुरुजीको सच्चारित्रतपोनिधि, विद्वानोंके अभिमान-शिखरको तोड़नेवाला वज्र, स्याद्वादविद्याचण बतलाया है और कहा है कि उनके

१ सोजित्राके पूर्वोक्त भट्टारकजीने मुझे बतलाया था कि वे मलखेड (निजाम) की गद्दीके भी अधिकारी हैं और वह गद्दी मूलसंघकी है। एक मजेकी बात उन्होंने यह भी बतलाई थी कि उस तरफके शिष्योंमें जब वे जाते हैं, तब गोपुच्छ छोड़कर मयूरपिच्छ ले लेते हैं! दौलताबाद मलखेडके ही इलाकेमें है, अतएव चन्द्रकीर्ति शायद मलखेडसे ही दौलताबाद गये होंगे।

आगे गुरु (बृहस्पति) का गुरुत्व नहीं रहा, उशना (शुक्राचार्य) की बुद्धिकी कोई प्रशंसा नहीं । सो ऐसे ही महान् आचार्यकी बुद्धिने समयसारादि ग्रन्थोंके कर्त्ता कुन्दकुन्द मुनिका पूर्वोक्त सत्कार किया है !

शान्तिनाथ-पुराणकी प्रशस्ति

काष्ठासंघावगच्छे विमलतरुणे सारनंदीतटांके
 ख्याते विद्यागणे वै सकलबुधजनैः सेवनीये वरेण्ये ।
 श्रीमच्छ्रीरामसेनान्वयतिलकसमा नेम(मि)सेनाः सुरेन्द्राः
 भूयासुस्ते मुनीन्द्रा व्रतनिकरयुता भूमिपैः पूज्यपादाः ॥ ४५६
 श्रीधर्मसेनो यतिवृंदसेव्यः विराजते भूवलये नितान्तं ।
 वैमल्यसेनो पि यथार्थनामा चारित्ररत्नाकर एव नित्यम् ॥ ४५७
 विशालकीर्तिश्च विशालकीर्तिः जम्बूदुमांके विमले सदैव ।
 विभाति विद्यार्णव एव नित्यं वैराग्यपाथोनिधि शुद्धचेताः ॥ ४५८
 श्रीविश्वसेनो यतिवृंदमुख्यः विराजते वीतभयः सलीलः ।
 स्वतर्कनिर्नाशितसर्वडिग्मः विख्यातकीर्तिर्जितमारमूर्तिः ॥ ५५९
 तत्पट्टविद्यार्णवपारंगता जीयात्पृथिव्यां पृथुवृत्तवृत्तः ।
 विद्याविभूषोऽपि यथार्थनामा विद्याविनोदेन च लब्धकीर्तिः ॥ ४६०
 विद्याभूषणपट्टकंजतरणिः श्रीभूषणो भूषणो
 जीयाजीवदयापरो गुणनिधिः संसेवितो सजनैः ।
 काष्ठासंघसरित्पतिः शशधरो वादी विशालोपमः
 सद्ब्रह्मोऽर्कधरोति सुंदरतरो श्रीजैनमार्गानुगः ॥ ४६१
 संवत्सरे षोडशनामधेये एकोनशतषष्ठियुते वरेण्ये ।
 श्रीमार्गशीर्षे रचितं मया हि शास्त्रं च वर्षे विमलं विशुद्धम् ॥ ४६२
 त्रयोदशीसहिवसे विशुद्धं वारे गुरौ शान्तिजिनस्य रम्यं ।
 पुराणमेतद्विमलं विशालं जीयाच्चिरं पुण्यकरं नराणाम् ॥ ४६३
 विशोध्यतां साधुजना समग्रं यदुक्तमेतन्नियतं पुराणं ।
 पठंत्विदं चापि च पाठयंतु निष्कास्य दोषां च विसंधिभूतान् ॥ ४६४
 विद्याभूषणसत्पदांबुजरविः श्रीभूषणो भूषणो ।
 सौभाग्यैकनिधिः चकार चतुरो शास्त्रं सतां सौख्यदम् ।

षड्भाषाकविचक्रवर्ति सुतरां श्रीशान्तिनाथस्य वै
 नानावर्णनसंयुतं अधहरं पुण्यप्रदं पावनम् ॥ ४६५
 श्रीगुर्जरप्यस्ति पुरं प्रसिद्धं सौजित्र नामाभिधमेव सारं ।
 श्रीनेमिनाथस्य समीपमाशुं चकार शास्त्रं जिनभूतिरम्यम् ॥ ४६६
 अस्य शास्त्रस्य विशेषाः श्लोकाः चतुःसहस्रकाः ।
 पञ्चविंशतिसंयुक्ता विशेषा लेखकैः सदा ॥ ४६७

इति श्रीशान्तिनाथपुराणे भट्टारकश्रीविद्याभूषणतत्पट्टाचलादीवाकरायमानभट्टारक-
 श्रीश्रीभूषणविरचिते शान्तिनाथसमवसरण-धर्मोपदेश-मोक्षगमनवर्णनो नाम षोडशः-
 सर्गः समाप्तः ।

लिखितं मुनि रामविजयेन यथा प्रति लेखकज दोषो न विद्यते ।

पार्श्वनाथपुराणकी प्रशस्ति

काष्ठासंधे गच्छन्न्दीतटीयः श्रीमद्विद्याभूषणाख्यश्चसूरिः ।
 आसीत्पट्टे तस्य कामान्तकारी विद्यापात्रं दिव्यचारित्रधारी ।
 तत्पट्टाम्बरभूषणैकतरणिः स्याद्वादविद्याचणो
 विद्वद्बृन्दकुलाभिमानशिखरप्रध्वंसतीव्राशनिः ।
 सच्चारित्रतपोनिधिर्मतिवरो विद्वत्सु शिष्यैर्युतः
 श्रीश्रीभूषणसूरिराट् विजयतेश्रीकाष्ठासंधाग्रणीः ॥
 यदग्रतो नैतिगुरुगुरुत्वं श्लाघ्यं न गच्छत्युशनोऽपि बुद्ध्या
 मारत्यपि (?) नैति माहात्म्यमुग्रं श्रीभूषणः सूरिवरः स पायात् ॥

× × × ×

श्रीमद्देवीगरौ मनोहरपुरे श्रीपार्श्वनाथालये
 वर्षेन्धीषुरेकमेव इह वै श्रीविक्रमांके सरे ।
 सप्तम्यां गुरुवासरे श्रवणभे वैशाखमासे सिते
 पार्श्वधीशपुराणमुत्तममिदं पर्याप्तमेवोत्तरम् ॥

इति त्रिजगदेकचूडामणिश्रीपार्श्वनाथपुराणे श्रीचन्द्रकीर्त्याचार्यप्रणीते भगवन्नि-
 वर्णकल्याणकव्यावर्णनो नाम पञ्चदशः सर्गः ।

१ पार्श्वपुराणकी विस्तृत प्रशस्ति पेलक पं० सरस्वती-भवनकी पाँचवें वर्षकी रिपोर्टमें
 (पृष्ठ २७, ३४) में प्रकाशित हुई है ।

वनवासी और चैत्यवासी सम्प्रदाय

पन्थोंकी उत्पत्ति और विकास

संसारमें जितने धर्म या सम्प्रदाय हैं, उन सबमें उनके स्थापित होनेके समयसे लेकर अब तक, अनेक पन्थ, शाखा, उपशाखास्वरूप भेद होते रहे हैं और नये नये होते जाते हैं। ऐसा एक भी धर्म नहीं है जिसमें एकाधिक भेद या पन्थ न हों।

ये भेद या पन्थ अनेक कारणोंसे होते हैं। उनमें बहुत बड़ा कारण देश-कालकी परिस्थितियाँ हैं। प्रत्येक धर्मके उपासकोंमें दो प्रकारकी प्रकृतियाँ पाई जाती हैं। एक प्रकृति तो ऐसी होती है जो अपने धर्मके विचारों या आचारोंके विषयमें जरा भी टससे मस नहीं होना चाहती, उन्हींको जोरके साथ पकड़े रहती है और दूसरी प्रकृति देश और कालकी बदली हुई परिस्थितियों और आवश्यकताओंके अनुसार मूल आचार-विचारोंमें थोड़ा बहुत परिवर्तन कर लेनेको तैयार हो जाती है, विशेष करके ऐसे परिवर्तन जो सुगम और आरामदेह होते हैं। बस, इन्हीं दोनों प्रकृतियोंकी खींच-तान और रगड़-झगड़से एक नया सम्प्रदाय या पन्थ खड़ा हो जाता है और उसके झण्डेके नीचे दूसरी प्रकृतिके हजारों मनुष्य आकर उसे विस्तृत और समृद्ध कर देते हैं।

पर आगे चलकर यह नया पन्थ भी अविभक्त नहीं रहने पाता। सौ दो सौ वर्षोंमें फिर नई परिस्थितियों और आवश्यकताओंके कारण उसमें भी और और भेद जन्म लेने लगते हैं। इस तरह बराबर नये नये सम्प्रदाय और पन्थ जन्म लेते रहते हैं और मूल धर्मको अनेक भागोंमें विभक्त करनेका श्रेय प्राप्त किया करते हैं।

इस भेद-वृद्धिके साथ साथ धर्मके मूल सिद्धान्तोंका भी क्रम क्रमसे रूपान्तर होता रहता है। पहली और दूसरी, दोनों ही प्रकृतिके लोग, आपसकी खींच-तानमें उनको अपने अपने पक्षके अनुसार बनानेमें लगे रहते हैं और इस कारण उनमें कुछ न कुछ विकृति आये बिना नहीं रहती। पुराना साहित्य जीर्ण शीर्ण दुर्लभ या अलभ्य होता रहता है, उसके स्थानमें नया साहित्य बनता रहता है

और नया, पुरानेका अनुधावन करनेवाला होनेपर भी, कुछ न कुछ नया अवश्य होता जाता है। इस तरह जब हजारों वर्ष बीत जाते हैं, तब कुछ विद्वान् ऐसे भी होते हैं, जो इस विकृत रूपको संशोधित करनेकी आवश्यकता अनुभव करते हैं और धर्मकी मूल प्रकृतिका अध्ययन करके तथा प्राचीन ग्रन्थोंको प्राप्त करके उनके सहारे धर्मके उसी प्राचीन स्वरूपको फिरसे प्रकट करनेका प्रयत्न करते हैं; परन्तु उसे सर्वसाधारण गतानुगतिक लोग नहीं मानते और इस कारण जो लोग उन्हें मानने लगते हैं उनका फिर एक जुदा ही सम्प्रदाय बन जाता है। इस तरहके प्रयत्न बार बार हुआ करते हैं और प्रत्येक बार वे सिवाय इसके कि एक और नये सम्प्रदायकी नींव डाल जावें, सबको अपना अनुयायी नहीं बना सकते।

इस प्रकारके प्रयत्नोंसे एक लाभ भी होता है और वह यह कि प्रायः प्रत्येक धर्मके अनुयायी अपने धर्मके मूल और प्राचीन सिद्धान्तोंसे बहुत दूर नहीं भटकने पाते—उनके करीब करीब ही बने रहते हैं। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रकारके प्रयत्नोंसे उत्पन्न हुआ कोई सम्प्रदाय अपने धर्मके मूल स्वरूपको जैसेके तैसे रूपमें पा जाता हो। बीचका हजारों वर्षोंका लम्बा समय, मूल धर्म-प्रवर्तकोंकी आज्ञाओं या उपदेशोंकी वास्तविक रूपमें और यथेष्ट संख्यामें अप्राप्ति, मूल उपदेशोंकी भाषापर पूरा अधिकार न होनेसे अर्थ-भेद होनेकी संभावना, और प्रयत्नकर्ताओंका भ्रान्तिप्रमादपूर्ण ज्ञान आदि अनेक कारण ऐसे हैं जो मूलस्वरूपको प्राप्त करनेमें बड़े भारी बाधक हैं।

बहुतसे पन्थों या भेदोंकी सृष्टि धर्मगुरुओंके आपसके राग-द्वेषसे और क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायोंसे भी हुआ करती है। बहुतसे पन्थोंका इतिहास देखनेसे मालूम होता है कि वे बिल्कुल जरा जरासे मत-भेदोंके कारण जुदा हो गये हैं। यदि उनके प्रवर्तक 'समझौते' की ओर जरा भी झुकते तो जुदा होनेकी आवश्यकता ही न पड़ती। पर बेचारे 'समझौते' की कषाय-क्षेत्रोंतक पहुँच ही कहाँ है ?

बहुतसे पन्थोंका जन्म अपने समयके किसी प्रभावशाली धर्मके आक्रमणसे अपने धर्मको डगमगाते देख, उसमें उस धर्मके अनुकूल परिवर्तन और संशोधन करने अथवा उनका अनुकरण करनेके कारण भी हुआ है। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जिन्हें अपने बुद्धि-वैभवसे अपने धर्ममें अनेक दोष मालूम होते

और वे उसे छोड़कर अन्य धर्म ग्रहण करनेकी अपेक्षा उसको ही संस्कृत या मार्जित करना अच्छा ससज्जते हैं और इस तरह उनका वह संस्कार किया हुआ धर्म एक नये पंथमें परिणत हो जाता है ।

इस तरह अनेक कारणोंसे विविध पन्थों और सम्प्रदायोंकी उत्पत्ति हुआ करती है और इस तरह यह धर्मोंकी 'बेल' निरन्तर बढ़ती और फलती फूलती रहती है ।

बहुतसे पन्थ क्षणजन्मा भी होते हैं । उत्पन्न हुए, कुछ बढ़े, और फूलने-फलनेके पहले ही मुरझाकर नष्ट हो गये । ऐसे पन्थोंके नाम तक लोग भूल जाते हैं । किसी किसी प्राचीन पुस्तकके पत्र अवश्य ही उनकी स्मृति बनाये रखते हैं । न जाने ऐसे कितने सम्प्रदाय अबतक इस पृथ्वीपर जन्म लेकर नामशेष हो चुके हैं ।

जैनधर्मके सम्प्रदाय और पन्थ

संसारमें साम्य, अहिंसा, मैत्रीभाव और अनेकान्त जैसे समन्वयकारी सिद्धान्तके परम प्रचारक जैनधर्ममें भी अब तक अनेक सम्प्रदाय और पन्थोंकी सृष्टि हो चुकी है, जिनमेंसे बहुत-से सम्प्रदायोंका अस्तित्व तो बना हुआ है और बहुत-से कालके गालमें विलीन हो चुके हैं ।

जैनधर्मके दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय दोनोंकी परम्परागत अनुश्रुतियोंके अनुसार विक्रमकी दूसरी शताब्दिके प्रारंभमें अलग हुए थे परन्तु हमारा अनुमान है कि श्रमण भगवान् महावीरके निर्वाणके बाद ही, उनके असाधारण व्यक्तित्वके गत होते ही, इनके अंकुरारोपण हो गये होंगे और आगे चलकर उन्हींनि पल्लवित पुष्पित होते होते अपने पृथक् अस्तित्वको घोषित किया होगा ।

इन सम्प्रदायोंमें भी अनेक शाखायें प्रशाखायें हुईं, परन्तु यहाँ उनके उल्लेखकी आवश्यकता नहीं मालूम होती । हम इस लेखमें केवल ऐसी दो शाखाओंकी चर्चा करना चाहते हैं जो दोनों ही सम्प्रदायोंमें बहुत समयसे चली आ रही हैं और जिनका हम 'वनवासी' और 'मठवासी' या 'चैत्यवासी' नामोंसे उल्लेख करेंगे ।

जती और भट्टारक, संवेगी और नग्न मुनि

श्वेताम्बरोंमें इस समय जो जती या श्रीपूज्य कहलते हैं वे मठवासी या चैत्यवासी शाखाके अवशेष हैं और जो 'संवेगी' मुनि कहलते हैं वे वनवासी शाखाके पुरस्कर्त्ता हैं । संवेगी अपनेको सुविहित मार्ग या विधि-मार्गके अनुयायी कहते हैं ।

इसी तरह दिगम्बर सम्प्रदायके भट्टारक 'मठवासी' शाखाके और नग्नमुनि जो विरलप्राय हैं वे 'वनवासी शाखाके' अवशेष हैं। भट्टारकोंके लिए 'जती' शब्द दिगम्बर सम्प्रदायमें भी प्रचलित रहा है।

भट्टारकों और जतियोंका आचरण लगभग एक-सा है। यद्यपि ये दोनों ही निर्ग्रन्थता और अपरिग्रहताका दावा करते हैं परन्तु वास्तवमें है ये परिग्रही और चैनसे जिन्दगी बसर करनेवाले।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही शाखाओंके साधु निर्ग्रन्थ कहलाते हैं और निर्ग्रन्थका अर्थ है सब प्रकारके परिग्रहोंसे रहित। यद्यपि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें साधुओंको लज्जा निवारणके लिए बहुत ही सादा, वस्त्र रखनेकी छुट्टी दी गई है^१ परन्तु जिन शतोंके साथ दी गई है वह न देनेके ही बराबर है। वास्तवमें अशक्ति या लाचारीमें ही वस्त्रका उपयोग करनेकी आज्ञा है। ऐसा मालूम होता है कि विक्रमकी सातवीं आठवीं शताब्दि तक तो श्वेताम्बर साधु भी कारण पड़नेपर ही वस्त्र धारण करते थे और सो भी कटि-वस्त्र। यदि कटि-वस्त्र भी निष्कारण धारण किया जाता था तो धारण करनेवाले साधुको कुसाधु माना जाता था। आचार्य हरिभद्रने अपने संबोध प्रकरणमें अपने समयके चैत्यवासी कुगुरुओंका वर्णन करते हुए लिखा है कि वे केश-लोच नहीं करते, प्रतिमा वहन करते शरमाते हैं, शरीरपरका मैल उतारते हैं, पादुकायें पहिन कर फिरते हैं और विना कारण कटिवस्त्र बाँधते हैं। उन्होंने उन्हें क्लीब कहा है^३।

कुछ परिचित श्वेताम्बर साधुओंसे मालूम हुआ कि अभी कुछ ही समय पहलेके श्वेताम्बर साधु अपने उपाश्रयोंमें जब बैठे होते थे, तब शरीरके अधोभागपर एक वस्त्र-खंड डाले रहते थे, उसे बाँधते तक न थे। बाहर निकलते समय ही वे कटिवस्त्र धारण करते थे।

१ इधर १५-२० वर्षसे दिगम्बर सम्प्रदायमें कुछ नग्न मुनि भी नजर आने लगे हैं परन्तु इसके पहले सैकड़ों वर्षोंसे इस सम्प्रदायमें मुनि-परम्परा विच्छिन्न रही है।

२ देखो आचारांगसूत्र प्र० शु०, अध्ययन ६, उद्देश्य ३ और द्वि० शु० अध्ययन १४ उ० १, २।

३ कीवो न कुणइ लोयं लज्जइ पडिमाइ जल्लमुवणेई।

सोवाहणो य हिंडइ बंधइ कटिपट्टयमकजे ॥ ३४ ॥

—संबोध प्रकरण पृ० १४.

वस्त्र-पात्रके सिवाय दिगम्बर-श्वेताम्बर साधुओंके आचारमें और कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनोंके आचार-ग्रन्थोंमें कहा है कि मुनियोंको बस्तीसे बाहर उद्यानों—या शून्य गृहोंमें रहना चाहिए, अनुद्दिष्ट भोजन करना चाहिए। धर्मोपकरणोंके अतिरिक्त अन्य सब प्रकारके परिग्रहोंसे दूर रहना चाहिए, जमीन-पर सोना चाहिए, पैदल घूमना चाहिए और शान्तिसे ध्यानाध्ययनमें अपना समय बिताना चाहिए।

यह कहना तो कठिन है कि किसी समय सबके सब साधु आगमोपदिष्ट आचारोंका पूर्ण रूपसे पालन करते होंगे; फिर भी शुरू शुरूमें दोनों ही शाखाओंके साधुओंमें आगमोक्त आचारोंके पालनका अधिकसे अधिक आग्रह था। परन्तु ज्यों ज्यों समय बीतता गया, साधु-संख्या बढ़ती गई और भिन्न भिन्न आचार-विचारवाले विभिन्न देशोंमें फैलती गई, धनियों और राजाओंद्वारा पूजा प्रतिष्ठा पाती गई त्यों त्यों उसमें शिथिलता आती गई और दोनों ही सम्प्रदायोंमें शिथिलचारी साधुओंकी संख्या बढ़ती गई।

पहले हमारा खयाल था कि बहुत पिछले समयमें शिथिलचारियोंका उदय हुआ होगा परन्तु अब अधिक विचार करनेसे ऐसा मालूम होता है बहुत प्राचीन कालमें ही इनकी जड़ जम गई थी।

जैन-आगम-साहित्यके विशिष्ट अभ्यासी पं० बेचरदासजीने लिखा है कि “दीर्घ तपस्वी भगवान् महावीर और उनके उत्तराधिकारी जम्बूस्वामी तक ही जैन मुनियोंका यथोपदिष्ट आचार रहा, उसके बाद ही जान पड़ता है कि बुद्ध देवके अतिशय लोकप्रिय मध्यम मार्गका उनपर प्रभाव पड़ने लगा। शुरू शुरूमें तो शायद जैनधर्मके प्रसारकी भावनासे ही वे बौद्ध साधुओं जैसी आचारकी छूट लेते होंगे; परन्तु पीछे उसका उन्हें अभ्यास हो गया। इस तरह एक सदाभिप्रायसे भी उक्त शिथिलता बढ़ती गई जो आगे चलकर चैत्यवासमें परिणत हो गई।”

श्वेताम्बर चैत्यवासी

अब पहले श्वेताम्बर चैत्यवासके इतिहासको देखिए। श्वेताम्बर साहित्यमें इसकी काफी सामग्री मिलती है।

आचार्य धर्मसागर अपनी पट्टावलीमें लिखते हैं कि वीरसंवत् ८८२ में चैत्य-वास शुरू हुआ—‘वीरात् ८८२ चैत्यस्थितिः’। परन्तु मुनि कल्याणविजयजी आदि विद्वानोंका खयाल है कि इससे भी पहले इसकी जड़ जम गई थी और

८८२ वी० नि० तक तो उसकी सार्वत्रिक प्रवृत्ति हो गई थी ।

सुप्रसिद्ध आचार्य हरिभद्र विक्रमकी आठवीं नवीं शताब्दिके विद्वान् हैं । उनके 'संघोष प्रकरण' नामक ग्रन्थके 'गुर्वधिकार' के पढ़नेसे मालूम होता है कि उस समय चैत्यवास खूब फैल रहा था और उसके शिथिलाचारने उन्हें क्षुब्ध कर दिया था । वे लिखते हैं—

“ये कुसाधु चैत्यों और मठोंमें रहते हैं, पूजा करनेका आरम्भ करते हैं, देव-द्रव्यका उपभोग करते हैं, जिनमन्दिर और शालायें चिनवाते हैं, रङ्ग-विरङ्गे सुगन्धित धूपवासित वस्त्र पहिनते हैं, विना नाथके बैलोंके सदृश स्त्रियोंके आगे गाते हैं, आर्थिकाओंद्वारा लाये गये पदार्थ खाते हैं और तरह तरहके उपकरण रखते हैं । जल, फल, फूल आदि सचित्त द्रव्योंका उपभोग करते हैं, दो तीन बार भोजन करते और ताम्बूल लवंगादि भी खाते हैं ।

“ये मुहूर्त निकालते हैं, निमित्त बतलाते हैं, भभूत भी देते हैं । ज्योनारोंमें मिष्ट आहार प्राप्त करते हैं, आहारके लिए खुशामद करते और पूछनेपर भी सत्य धर्म नहीं बतलाते ।

“स्वयं भ्रष्ट होते हुए भी दूसरोंसे आलोचना-प्रतिक्रमण कराते हैं । खान करते, तेल लगाते, शृंगार करते और इत्र फुल्लेका उपयोग करते हैं ।

“अपने हीनाचारी मृतक गुरुओंकी दाह-भूमिपर स्तूप बनवाते हैं । स्त्रियोंके समक्ष व्याख्यान देते हैं और स्त्रियाँ उनके गुणोंके गीत गाती हैं ।

“सारी रात सोते, क्रय-विक्रय करते और प्रवचनके बहाने विकथार्यें किया करते हैं ।”

“चेला बनानेके लिए छोटे छोटे बच्चोंको खरीदते, मोले लोगोंको ठगते, और जिन प्रतिमाओंको भी बेचते खरीदते हैं ।

“उच्चाटण करते और वैद्यक, यंत्र, मंत्र, गंडा, तावीज आदिमें कुशल होते हैं ।

“ये सुविहित साधुओंके पास जाते हुए श्रावकोंको रोकते हैं, शाप देनेका भय दिखाते हैं, परस्पर विरोध रखते हैं और चेलोंके लिए एक दूसरेसे लड़ मरते हैं ।”

१ यह ग्रन्थ अहमदाबादकी जैन-ग्रन्थ-प्रकाशक-सभाद्वारा वि० सं० १९७२ में प्रकाशित हुआ है ।

जो लोग इन भ्रष्ट-चरित्रोंको भी मुनि मानते थे, उनको लक्ष्य करके श्रीहरि-भद्रसूरि कहते हैं, “कुछ नासमझ लोग कहते हैं कि यह भी तीर्थंकरोंका वेष है, इसे नमस्कार करना चाहिए। अहो धिक्कार हो इन्हें। मैं अपने सिरके शूलकी पुकार किसके आगे जाकर करूँ ?”

यह गुर्वधिकार बहुत विस्तृत है। पाठकोंसे निवेदन है कि वे यहाँ इतनेसे ही सन्तोष करें और यदि सुभीता हो तो उसे पूरा पढ़ डालें।

जिनवल्लभसूरिकृत संघपट्टककी भूमिकामें श्वेताम्बर चैत्यवासका इतिहास इस प्रकार दिया है—

“वी० नि० ८५० के लगभग कुछ मुनियोंने उग्र विहार छोड़कर मन्दिरोंमें रहनेका प्रारंभ कर दिया। धीरे धीरे इनकी संख्या बढ़ती गई और समयान्तरमें ये बहुत प्रचल हो गये। इन्होंने ‘निगम’ नामके कुछ ग्रन्थ रचे और उन्हें ‘दृष्टिवाद’ नामक बारहवें अंगका एक अंश बतलाया। उनमें यह प्रतिपादन किया गया कि वर्तमान कालके मुनियोंको चैत्योंमें रहना उचित है और उन्हें पुस्तकादिके लिए यथायोग्य आवश्यक द्रव्य भी संग्रह करके रखना चाहिए। साथ ही ये वनवासियोंकी निन्दा करने लगे और अपना बल बढ़ाने लगे।

“वि० सं० ८०२ में अणहिलपुर पट्टणके राजा वनराज चावड़ासे उनके गुरु शीलगुणसूरिने—जो चैत्यवासी थे—यह आज्ञा जारी करा दी कि इस नगरमें चैत्यवासी साधुओंको छोड़कर दूसरे वनवासी साधु न आ सकेंगे।

“इस अनुचित आज्ञाको रद्द करानेके लिए वि० सं० १०५४ में अर्थात् २८२ वर्षके बाद जिनेश्वर सूरि और बुद्धिसागर सूरि नामके दो विधिमार्गी आचार्योंने राजा दुर्लभदेवकी सभामें चैत्यवासियोंके साथ शास्त्रार्थ करके उन्हें पराजित किया और तब कहीं पाटणमें विधिमार्गीयोंका प्रवेश हो सका।

“मारवाड़में भी चैत्यवासियोंका बहुत प्राबल्य था। उसके विरुद्ध सबसे अधिक प्रयत्न पूर्वोक्त जिनेश्वर सूरिके शिष्य जिनवल्लभने किया। अपने संघ-पट्टकमें उन्होंने चैत्यवासियोंके शिथिलाचारका और सूत्र-विरुद्ध प्रवृत्तिका अच्छा खाका खींचा है।”

१—बाला वयंति एवं वेसो तित्थंकराण एसो वि ।

गमणिज्जो धिद्धी अहो सिरसूलं कस्स पुक्करिमो ॥ ७६ ॥

“ चित्तौड़के श्रावकोंने महावीर भगवानका एक मन्दिर बनाकर उसके गर्भ-गृहके द्वारेके एक स्तंभपर उक्त संघपट्टकके चालीसों पद्य खुदवा दिये हैं जो आज तक उनकी कीर्तिको प्रकट कर रहे हैं। जिनवल्लभ सूरिका यह प्रयत्न बहुत ही अच्छा था, परन्तु चैत्यवासियोंको असह्य हुआ। कहा जाता है कि वे पाँच सौ लठैतोंके साथ उक्त मन्दिरपर चढ़ आये; परन्तु तत्कालीन महाराणाने उन्हें इस अपकृत्यसे रोक दिया।

“ जिनवल्लभके बाद जिनदत्त और जिनपति सूरिने भी अपना सुविहित मार्गका प्रचार-कार्य जारी रखा। जिनपति सूरिने संघपट्टकपर एक तीन हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखकर उसका खूब प्रचार किया और उनके गृहस्थ शिष्य नेमिचन्द्र भंडारीने षष्ठिशेताक नामक प्राकृत ग्रन्थ रचकर चैत्यवासियोंके शिथिलाचारका खंडन किया। इसी तरह गुजरातमें भी मुनिचन्द्र, मुनिसुन्दर आदि आचार्योंने अपनी रचनाओं और उपदेशोंसे चैत्यवासियोंको हतप्रभ कर दिया। ”

संक्षेपमें यही श्वेताम्बर सम्प्रदायके चैत्यवासियोंका इतिहास है।

दिगम्बर चैत्यवासी

दिगम्बर सम्प्रदायके साहित्यमें ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख तो नहीं मिलता जिसमें चैत्यवासके प्रारंभकी कोई तिथि बतलाई गई हो और न चैत्यवास नामके किसी पृथक् संगठन या सम्प्रदायका ही कोई उल्लेख मिलता है। फिर भी यह निश्चित है कि दिगम्बर सम्प्रदायमें भी वह था और बहुत पुराने समयसे था। इसमें भी धीरे धीरे शिथिलाचार बढ़ता रहा है और परिस्थितियाँ तथा मनुष्यकी स्वाभाविक दुर्बलतायें उसे बराबर सींचती रही हैं, जिसका परिपाक हमारे भट्टारकोंकी चर्चा और उनके रहन-सहनमें स्पष्ट दिखलाई देता है।

दिगम्बर-चर्चा इतनी उग्र और कठोर है कि हमारे खयालमें नग्न साधुओंकी संख्या श्वेताम्बर साधुओंके मुकाबिलेमें हमेशा कम रही है और पिछले कई सौ वर्षोंसे तो वे क्वचित् ही दिखलाई देते रहे हैं। शायद इसी कारण उनका

१ स्व० प० भागचन्द्रजीने इसी ग्रन्थकी दिगम्बर सम्प्रदायमें ‘उपदेशसिद्धान्तरत्नमाला’ नामसे भाषावचनिका लिखकर प्रचार किया है। मूल ग्रन्थमें जो बातें चैत्यवासियोंके लिए लिखी हैं वे प्रायः सबकी सब दिगम्बर भट्टारकोंपर भी घटित होती हैं।

श्वेताम्बर चैत्यवासियोंके समान कोई स्वतंत्र संगठन नहीं हो सका और न एक पृथक् दलके रूपमें प्राचीन साहित्यमें कही स्पष्ट उल्लेख ही हुआ। फिर भी उनके अस्तित्वसे इंकार नहीं किया जा सकता।

विक्रमकी सत्रहवीं सदीमें पं० बनारसीदासजीने जिस शुद्धाम्नायका प्रचार किया और जो आगे चलकर तेरह पन्थके नामसे विख्यात हुआ तथा जिसके विषयमें आगे चलकर अधिक प्रकाश डाला जायगा, वह इन भट्टारकों या चैत्यवासियोंके ही विरोधमें था और उसने दिगम्बर सम्प्रदायमें वही काम किया जो श्वेताम्बर सम्प्रदायमें विधि-मार्गने किया था। तेरह पन्थने भी चैत्यवासी भट्टारकोंकी प्रतिष्ठाको जड़से उखाड़कर फेंक दिया।

हमारा अनुमान है कि इस तरहके प्रयत्न बनारसीदासजीसे पहले भी कई बार हुए होंगे, जिनके कोई स्पष्ट उल्लेख तो नहीं मिलते परन्तु जो प्रयत्न करनेसे खोजे जा सकते हैं।

जैनाभास कौन थे ?

श्री देवसेनसूरीने दर्शनसार (वि० सं० १९०) में पाँच जैनाभासोंकी उत्पत्तिका कुछ इतिहास दिया है। उनमेंसे पहलेके दो—श्वेताम्बर और यापनीयों—को तो हमें छोड़ देना चाहिए। क्योंकि आचारके अतिरिक्त उनके साथ दिगम्बरोंका सिद्धान्त-भेद भी विशेष था। परन्तु शेष तीन द्राविड़, काष्ठा और माथुर संघके साथ कोई बहुत महत्त्वका सिद्धान्त-भेद नहीं मालूम होता। इन तीनों जैनाभासोंका बहुत-सा साहित्य उपलब्ध है और दिगम्बर सम्प्रदायमें उसका पठन-पाठन भी बिना किसी भेद-भावके होता है। परन्तु उसमें ऐसी कोई बात नहीं पाई जाती जिससे उन्हें जैनाभास कहा जाय। मोरके पंखोंकी पिच्छिके बदले गायके बालोंकी पिच्छि रखना, या पिच्छि बिल्कुल ही न रखना; खड़े होनेके बदले बैठकर भोजन करना, अथवा सूखे चनोंको प्रासुक मानना, या रात्रि भोजन-विरति नामका छठा अणुव्रत

१ शिवकोटि आचार्यके नामसे प्रसिद्ध की गई 'रत्नमाला'में लिखा है कि

कलौ काले वने वासो वर्ज्यते मुनिसत्तमैः।

स्थीयते च जिनागारे ग्रामादिषु विशेषतः ॥ २२ ॥

ये रत्नमालाके कर्त्ता इतने कट्टर चैत्यवासी थे कि जैनमन्दिरोंमें रहना विहित बतलानेमें ही इन्हें सन्तोष न हुआ, वनवासको वर्जित तक बतला दिया !

भी मानना, ये सब बातें इतनी संगीन नहीं हैं कि इनके कारण ये सब जैनाभास ठहरा दिये जायँ, और इनके प्रवर्तकोंको पापी मिथ्याती बतलाया जाय ।

इस लिए आश्चर्य नहीं जो ये तीनों चैत्यवासी ही हैं और इसी कारण देवसेन सूरिने—जो चैत्यवासी नहीं थे—इन्हें शिथिलाचारी समझकर जैनाभास बतला दिया है । द्राविड संघके उत्पादक वज्रनन्दिके विषयमें उन्होंने लिखा है कि “ उसने कछार, खेत, वसति (जैनमन्दिर) और वाणिज्यसे जीविका निर्वाह करते हुए और शीतल जलसे स्नान करते हुए प्रचुर पापका संग्रह किया । ”

इससे बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि द्राविड संघके साधु वसति या जैनमन्दिरोंमें रहते थे और उन मन्दिरोंके लिए दान मिली हुई जमीनमें खेती बारी आदि करते थे । इसके कुछ ऐतिहासिक प्रमाण भी मिले हैं—

१—न्यायविनिश्चय-विवरण, पार्श्वनाथचरित आदि प्रसिद्ध ग्रन्थोंके कर्त्ता वादिराजसूरि इसी संघके आचार्य थे । उनके गुरु मतिसागरकी आज्ञाके अनुसार जो दान-पत्र लिखा गया था, उससे मालूम होता है कि इस संघके मुनि भूमि आदिका प्रबन्ध करते थे । पार्श्वनाथचरितमें स्याद्वादविद्यापति वादिराजने अपने दादा गुरु श्रीपालदेवको ‘ सिंहपुरैकमुख्य ’ लिखा है और न्यायविनिश्चय-विवरणमें स्वयं अपनेको ‘ सिंहपुरेदेवर ’ अर्थात् सिंहपुरका स्वामी लिखा है । अभिप्राय यह कि सिंहपुर उन्हें जागीरमें मिला हुआ था, इसलिए यह स्वाभाविक है कि वे उसका सब प्रबन्ध भी करते थे ।

१—कच्छं खेत्तं वसहिं वाणिजं करिऊण जीवंतो ।

ण्हंतो सीयलणीरे पावं पउरं स संचेदि ॥ २७ ॥

२ देखो जैनसिद्धांतमात्सर भाग १, किरण २—३ पृ० ५, शिललेख नं० ६ । यह शिललेख सत्यवाक्य परमानदीके राज्यके चौथे वर्षमें मतिसागर गण्डित भट्टारककी आज्ञासे लिखा गया था ।

३ सूरिः स्वयं सिंहपुरैकमुख्यः श्रीपालदेवो नयवर्त्मशाली ।

३ श्रीमत्सिंहमहीपतेः परिषदि प्रख्यातवादोन्नति—
स्तर्कन्यायतमोपहोदयगिरिः सारस्वतः श्रीनिधिः ।

शिष्यः श्रीमतिसागरस्य विदुषां पत्युस्तपश्रीभृतां
भर्तुः सिंहपुरेश्वरो विजयते स्याद्वादविद्यापतिः ।

२—चल्लग्रामके बथिरेदेव मन्दिरमें श० सं० १०४७ का एक शिलालेख है जिसमें इन्हीं द्राविडसंघीय वादिराजसूरिके वंशज त्रैविद्य श्रीपाल योगीश्वरको होयसलवंशके विष्णुवर्द्धन पोयसलदेवने वसतियों या जैनमन्दिरोंके जीर्णोद्धार और ऋषियोंके आहार-दानके लिए शत्य नामक ग्राम दान दिया था। अर्थात् उन्होंने जैनमन्दिरोंका जीर्णोद्धार भी कराया होगा और आहार-दानका प्रबन्ध भी किया होगा।

३—लाट-वागड़ संघ काष्ठा संघकी ही एक शाखा है, जो देवसेनसूरिके मतसे जैनाभास था। दुन्नकुण्ड (ग्वालियर)के जैनमन्दिरमें वि० सं० ११४५ का एक शिलालेख मिला है^१। इस संघके विजयकीर्ति मुनिके उपदेशसे दाहड़ आदि धनियोंने उक्त मन्दिर बनवाया और कच्छपघात या कछवाहे वंशके राजा विक्रम-सिंहेने उसके निष्पादन, पूजन, संस्कार और कालान्तरमें टूटे फूटेकी मरम्मतके लिए कुछ जमीन, वापिकाके सहित एक बगीचा और मुनिजनोके शरीराम्यंजन (तैल-मर्दन) के लिए दो करघटिकायें (?) दीं। ये बातें भी स्पष्ट रूपसे चैत्यवासियोंके शिथिलचारको प्रकट करती हैं।

खोज करनेसे काष्ठासंघी और माधुरसंघी मुनियोंको भी दिये हुए इसी तरहके दान-पत्र मिल सकेंगे।

कुन्दकुन्दान्वय और मूलसंघ

पूर्वोक्त जैनाभासोंको छोड़कर शेष दिगम्बर सम्प्रदायको मूलसंघ कहा जाता है। परन्तु हमारा खयाल है कि यह नामकरण बहुत पुराना नहीं है। अपनेसे अतिरिक्त दूसरोंको अमूल—जिनका कोई मूल आधार नहीं—बतलानेके लिए ही यह नामकरण किया गया होगा और यह तो वह स्वयं ही उद्धोषित कर रहा है कि उस समय उसके प्रतिपक्षी दूसरे दलोंका अस्तित्व था।

हमें मूलसंघका सबसे पहला उल्लेख आल्लतम (कोल्हापुर) में मिले हुए श० सं० ४११ (वि० सं० ५४६) के दानपत्रमें मिलता है जिसमें मूलसंघ

१ देखो जैनशिलालेखसंग्रहका ४९३ नं० का शिलालेख।

२ पपिग्राफिका इंडिका जिल्द २, पृ० २३७-४०।

३ शतपदीकारने भी इस बातपर आक्षेप किया है कि दिगम्बर साधु तैल-मर्दन करते थे। देखो आगे शतपदीके उद्धरण।

काकोपल आम्रायके सिद्धनन्दि मुनिको अलक्तक नगरके जैनमन्दिरके लिए कुछ गाँव दान किये गये हैं। सिद्धनन्दिके शिष्यका नाम चिकाचार्य था जिनके कि नागदेव, जिननन्दि आदि ५०० शिष्य थे। दान देनेवाले पुलकेशी प्रथम (चालुक्य) के सामन्त सामियार थे।

कौण्डकुन्दान्वय मूलसंघसे पुराना जान पड़ता है। क्योंकि श० सं० ३८८ (वि० सं० ५३३) के मर्कटा (कुर्ग) के दानपत्रमें चन्द्रनन्दिको कौण्डकुन्दा-
न्वयी लिखा गया है^१ और उसमें मूल संघका उल्लेख नहीं है।

परन्तु यदि यह बात मान ली जाय कि द्राविड सघादिको चैत्यवासी होनेके कारण जैनाभास बतलाया गया होगा तो प्रश्न होता है कि देवसेनसूरिकी दर्शनसार वि० सं० ९९० की रचना है, इस लिए जिस शिथिलाचारके कारण उन्होंने द्राविडसंघ काष्ठासंघ आदिको जैनाभास बतलाया है, वही शिथिलाचार मूलसंघी और कुन्दकुन्दान्वयी मुनियोंने भी तो प्रविष्ट हो गया था। क्योंकि विक्रमकी छठी सदी तकके ऐसे अनेक लेख मिले हैं जिनसे मालूम होता है कि वे भी मन्दिरोंकी मरम्मत आदिके निमित्त गाँव-जमीन आदिका दान लेने लगे थे। तब उन्हें जैनाभास क्यों नहीं बतलाया ?

इसका समाधान इस तरह हो सकता है कि देवसेनसूरिने दर्शनसारमें जो गाथायें दी हैं वे स्वयं उनकी नहीं, पूर्वाचार्योंकी बनाई हुई थीं^२ और चूँकि पूर्वाचार्य स्वयं वनवासी थे, इसलिए उनकी दृष्टिमें द्राविड संघादिके साधु जैनाभास होने ही चाहिए। परन्तु जिस शिथिलाचारके कारण पूर्वाचार्योंने उन्हें जैनाभास कहा था, वह देवसेनकी दृष्टिके समक्ष स्पष्ट नहीं था। क्योंकि समय बहुत बीत चुका था, और स्वयं उनके संघमें भी उसका प्रवेश हो चुका था, इसलिए वह उन्हें उतना अधिक खटकता भी न होगा। परन्तु चूँकि उक्त सब संघ प्रतिपक्षियोंके रूपमें उनसे अलग मौजूद थे और उनके संघसे बाह्य थे इसलिए उनके लिए जैनाभास शब्दका प्रयोग करनेमें उन्हें कोई संकोच नहीं हुआ और अपने कुन्दकुन्दान्वयका शिथिलाचार आम्राय-मोहके कारण जैनाभासरूपमें प्रतीत न हुआ।

१ देखो, इंडियन एण्टिक्वेरी जिल्द ७, पृ० २०९-१७।

२ देखो एपीग्राफिका कर्नाटिकाकी पहली जिल्दका पहला लेख।

३—पुन्वाययिकयाइं गाहाइं संचिऊण एयरथ।

सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसेतेण ॥ रइओ दंसणसारो...

पुराने और नये चैत्यवासी

गरज यह कि द्राविड संघके स्थापक वज्रनन्दि आदि तो पुराने चैत्यवासी हैं जिन्हें पहले ही जैनाभास मान लिया गया था और कुन्दकुन्दान्वयी तथा मूलसंघी उनके बादके नये चैत्यवासी हैं जिन्हें देवसेनने तो नहीं परन्तु उनके बहुत पीछेके तेरहपंथके प्रवर्तकोंने जैनाभास बतलाया ।

स्वेताम्बर सम्प्रदायमें जिस अर्थमें सुविहित या विधि-मार्गका प्रयोग होता है लगभग उसी अर्थमें पहले दिगम्बर सम्प्रदायमें कुन्दकुन्दान्वय या मूलसंघका उपयोग किया जाता था, और कुन्दकुन्दान्वय शायद मूल संघसे भी पहले प्रचलित था । किन्तु आगे चलकर ये दोनों ही संज्ञायें रूढ़ हो गईं, अपने मूल अर्थ—आगमोक्त चर्या—को बतलानेवाली न रहीं और इस लिए जब मूल-संघी और कुन्दकुन्दान्वयी मुनि भी शिथिल होकर चैत्यवासी मठपति बन गये तब भी ये उनके पीछे लगी रहीं । यहाँ तक कि राजाओं जैसे ठाठवाटसे रहनेवाले भट्टारक भी इन्हें एक पदवीके रूपमें धारण किये रहे ।

जो जैनाभास नहीं थे, वे भी चैत्यवासी हुए

इस तरह जिन्होंने पहले द्राविड संघादिको जैनाभास कहा था, वे मूलसंघी कुन्दकुन्दान्वयी भी आगे चलकर जैनाभास बन गये । इसके एक नहीं, बीसों प्रमाण मिलते हैं जिनमेंसे थोड़ेसे ये हैं—

१ मर्कराके दान-पत्रका जिज्ञ ऊपर किया जा चुका है । उसमें श० सं० ३८८ (वि० ५२३) में महाराजा अविनीतद्वारा कुन्दकुन्दान्वयके चन्द्रनन्दि भट्टारकको जैनमन्दिरके लिए एक गाँव दान किये जानेका उल्लेख है ।

२ महाराजाधिराज विजयादित्यने पूज्यपादके शिष्य उदयदेवको 'शंख-जिनेन्द्र' मन्दिरके लिए श० सं० ६२२ में कर्दम नामका गाँव दान किया ।

३ राष्ट्रकूट महाराजाधिराज कृष्ण तृतीयके महासामन्त अरिकेसरिने श० सं० ८८८ में अपने पिता बह्मिगके बनवाये शुभधाम जिनालयकी मरम्मत और चूनेकी कलई कराने तथा पूजोपहार चढ़ानेके लिए श्रीसोमदेवसूरि (यशस्तिलकके कर्त्ता) को बनिक्कुपुलु नामका गाँव दानमें दिया । यह ताम्रपत्र परभणी (निजामस्टेट)

१ देखो म० म० ओझाकृत सोलंकियोंका इतिहास ।

में श्री शं० ना० जोशीको हाल ही प्राप्त हुआ है^१।

इसके बादके तो सैकड़ों शिलालेख हैं जिनमें मूलसंघी या कुन्दकुन्दान्वयके मुनियोंको गाँव और भूमियाँ दान की गई हैं। श्रवणबेलगोलका जैन-शिलालेख-संग्रह तो ऐसे दानोंसे भरा हुआ है। नं० ८० के श० सं० १०८० के शिलालेखमें लिखा है कि महाप्रधान हुल्लमय्यने होयसल-नरेशसे सवणेर गाँव इनाममें पाकर गोम्मट स्वामीकी अष्टविधपूजा और ऋषिमुनियोंके आहारके हेतु अर्पण कर दिया। नं० ९० के श० सं० ११०० के लेखमें भी पूजन और मुनियोंके आहारके लिए नयकीर्ति सिद्धान्तचक्रवर्तीको दान देनेका उल्लेख है। ४० नं० के लेखसे मालूम होता है कि हुल्लम मंत्रीने अपने गुरु उन देवेन्द्रकीर्ति पंडितदेवकी निषिद्या बनवाई जिन्होंने रूपनारायण मन्दिरका जीर्णोद्धार कराया था और एक दान-शाला भी निर्माण कराई थी।

इन सब लेखोंसे स्पष्ट हो जाता है कि हमारे इन बड़े बड़े मुनियोंके अधिकारमें भी गाँव बागीचे आदि थे। वे मन्दिरोंका जीर्णोद्धार कराते थे, दूसरे मुनियोंको आहार देते थे और दानशालायें भी बनाते थे। गरज यह कि उनका रूप पूरी तरहसे मठपतियों जैसा हो गया था और इसका प्रारम्भ संभवतः हिन्दूकी छठी

२ देखो भारत-इतिहास संशोधक मंडल पूनाका त्रैमासिक (भाग १३ अंक ३) और इस लेख-संग्रहके पृष्ठ ९०-९२। दोनों जगह उक्त दानपत्रकी पूरी नकल दी गई है।

२ इन्द्रनन्दिकृत नीतिसारसे भी जो केवल मुनियोंके लिए बनाया गया है (अनगारान्प्र-वक्ष्यामि नीतिसारसमुच्चयम्), इन बातोंकी पुष्टि होती है कि मुनि लोग मन्दिरोंका जीर्णोद्धार कराते थे, आहार-दान देते थे और थोड़ा बहुत धन भी रखते थे।—

तस्मै दानं प्रदातव्यं यः सन्मार्गे प्रवर्तते ।

पाखंडिभ्यो ददद्दानं दाता मिथ्यात्ववर्द्धकः ॥ ४८ ॥

मध्याह्ने दुःखितान् दीनान् भोजनादिभिरादरात्

अनुगृह्णन्तिः संघपूजनीयो भवेत्सदा ॥ ४९ ॥

जीर्णजिनगृहं विम्बं पुस्तकं च सुदर्शनम् ।

उद्धार्य स्थापनं पूर्वपुण्यतोऽधिकमुच्यते ॥ ४९ ॥

क्वचित्कालानुसारेण सूरिर्द्रव्यमुपाहरेत् ।

संघपुस्तकवृद्धयर्थमयाचितमथाल्पकम् ॥ ५० ॥

शताब्दिके लगभग हो गया था ।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि मठवासियोंके समयमें शुद्धाचारी और तपस्वी दिगम्बर मुनियोंका सर्वथा अभाव ही हो गया होगा, अथवा सारा जनसमुदाय उन्हींका अनुयायी बन गया होगा । शुद्ध शास्त्रोक्त आचारके पालनेवाले और उनकी उपासना करनेवाले भी रहे होंगे, फिर भी वे विरल ही होंगे । जैसा कि पं० आशाधरजीने कहा है—‘अफसोस है, सच्चे उपदेशक मुनि जुगनूके समान कहीं कहीं ही दिखलाई देते हैं’—‘खद्योतवत् सुदृष्टारो हा द्योतन्ते क्वचित् क्वचित् ।’

दिगम्बर चैत्यवासी नग्न रहते थे

ऐसा मालूम होता है कि चैत्यवासी या मठपति हो जाने पर भी प्राचीन कालके दिगम्बर सम्प्रदायके साधु नग्न ही रहते थे और श्वेताम्बर सवस्त्र साधुओंसे अपना पृथक्त्व प्रकट करनेके लिए शायद यह आवश्यक भी था ।

पण्डितप्रवर आशाधरने अपने अनगार धर्मामृतके दूसरे अध्यायमें इन चैत्यवासी परन्तु नग्न-साधुओंकी स्पष्ट चर्चा की है और कहा है कि सम्यक्त्वके आराधकको

१—मुद्रां सांव्यवहारिकीं त्रिजगतीवन्द्यामपोद्याहर्ती,
वामां केचिदहंयत्रो व्यवहरन्त्यन्ये बहिस्तां श्रिताः ।
लोकं भूतवदाविशन्त्यवशिनस्तच्छायया चापरे,
म्लेच्छन्तीह तकैस्त्रिधा परिचयं पुंदेवमोहैस्त्यज ॥ १६ ॥

टीका । इहक्षेत्रे सम्प्रति काले केचित्तापसादयो व्यवहरन्ति प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयां कुर्वन्ति । काम्, मुद्रां व्रतचिह्नम् । किं विशिष्टम्, वामां विपरीतां जटाधारणमस्मोद्धूलनादिरूपां । किं विशिष्टाः सन्तः, अहंयत्रोऽहंकारिणः । किं कृत्वा, अपोष अपवादविषयां कृत्वा निषिद्धेत्यर्थः । काम्, मुद्रान् । किं विशिष्टम्, आहर्ती जैनीमाचेलक्यादिलिङ्गलक्षणां । पुनः किं विशिष्टम्, त्रिजगतीवन्द्यां जगत्रयनमस्याम् । पुनरपि किं विशिष्टम्, सांव्यवहारिकीं समीचीनप्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनाम् । पक्षे, टंकादिनाणकाङ्कति समीचीनामपोष मिथ्यारूपां क्षुद्रां व्यवहरन्तीति व्याख्येयं । अन्ये पुनर्द्रव्यजिनलिङ्गधारिणो मुनिमानिनोऽवशिनोऽजितेन्द्रियः सन्तस्तां तथाभूतामाहर्ती मुद्रां बहिःशरीरे न मनसि श्रिताः प्रपन्ना आविशन्ति संक्रामन्ति विचेष्टयन्तीत्यर्थः । काम्, लोकं धर्मकामं जनम् । किं वत्, भूतवद् ग्रहैस्तुल्यम् । अपरे पुनर्द्रव्यजिनलिङ्गधारिणो मठपतयो म्लेच्छन्ति म्लेच्छा इवाचरन्ति । लोकशास्त्रविरुद्धमाचारं चरन्तीत्यर्थः । कया, तच्छायया आहृतगतप्रतिरूपेण । तथा च पठन्ति—

तीन प्रकारके मिथ्यातियोंके साथ मन, वचन, कायसे परिचय न रखनेका उपदेश दिया है। पहले प्रकारके मिथ्याती जैनधर्मसे विपरीत मुद्राके धारण करनेवाले तापस आदि हैं, दूसरे प्रकारके मिथ्याती वे द्रव्यजिनलिङ्गधारी हैं, जो अपनेको मुनि कहते हैं और बाहरेसे आर्हती मुद्रा अर्थात् दिगम्बर मुद्राको भी धारण करते हैं, परन्तु अन्तरंगमें अवशी हैं—इन्द्रियोंको नहीं जीतते हैं, और तीसरे प्रकारके मिथ्याती मठोंके स्वामी द्रव्यजिनलिंगधारी अर्थात् मठाधीश दिगम्बर मुनि हैं।

इनके विषयमें कहा है कि ये ग्लेच्छोंके समान लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरण करनेवाले हैं। 'तच्छायया आर्हतगतप्रतिरूपेण' पद देकर वे इस बातको भी स्पष्ट कर देते हैं कि वे वस्त्रधारी नहीं किन्तु अर्हन्त भगवानके समान दिगम्बर मुद्रा धारण करनेवाले ही थे।

पं० आशाधरसे भी पहलेके (वि० सं० १०९०) श्रीसोमदेवसूरिने अपने यशस्तिलकचम्पूमें कहा है कि कलिकालमें जब कि चित्त चंचल हो गये हैं और शरीर अन्नका कीड़ा बन गया है यही आश्चर्य है कि अब तक भी कुछ लोग जिनरूप धारण करनेवाले मौजूद हैं। और जैसे जिनेन्द्रोंके लेपादिसे बनाए हुए रूप (मूर्ति) पूज्य हैं उसी तरह पूर्वकालके मुनियोंकी छाया जैसे आजकलके मुनि

पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैर्वर्णैश्च तपोधनैः ।

शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम् ॥

भोः सम्यक्पाराधक त्यज मुञ्च त्वम् । कम्, त्रिधा परिचयं मनसानुमोदनं वाचा कीर्तनं कायेन संसर्गं च । कैः सह, तैः कुत्सितैस्तैस्त्रितयैः । किं विंशिष्ठैः, पुं देहमोहैः पुरुषा-
कारमिथ्यात्वैः । तदुक्तम्—

कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेप्यसम्भतिः ।

असम्पृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढादृष्टिरुच्यते ॥

वाङ्मा : (मनुस्मृति अ० ४ श्लोक ३०) अप्याहुः—

पाखण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकान् शठान् ।

हेतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥

१—काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके ।

एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः ॥

भी पूज्य हैं ।

इससे दो बातें ध्वनित होती हैं—एक तो यह कि उस समय मुनिजन जिन-रूप धारण करते थे अर्थात् नग्न रहते थे, यद्यपि उनका चरित्र शिथिल था, वे पूर्वमुनियोंकी छाया-भर थे और दूसरे यह कि उनकी विरलता थी ।

वस्त्र धारण करनेकी ओर प्रवृत्ति

दिगम्बर चैत्यवासियोंके अन्तिम विकसितरूप भट्टारकोंमें यह परम्परा अब तक रही है कि वे और समय तो वस्त्र पहिने रहते हैं परन्तु आहारके समय उतारकर अलग रख देते हैं । यह इस बातका सुवृत है कि पहले वे बिल्कुल नग्न रहते थे और निरन्तर वस्त्र धारण किये रहनेकी प्रवृत्ति उनमें पीछे शुरू हुई है ।

विक्रमकी सोलहवीं सदीके भट्टारक श्रुतसागरसूत्रिने लिखा है कि कलिकालमें म्लेच्छादि (मुसलमान वगैरह) यतियोंको नग्न देखकर उपद्रव करते हैं, इस कारण मण्डपदुर्ग (मांडू) में श्रीवसन्तकीर्ति स्वामीने उपदेश दिया कि मुनियोंको चर्या आदिके समय चटाई, टाट आदिसे शरीरको ढक लेना चाहिए और फिर चर्याके बाद उस चटाई आदिको छोड़ देना चाहिए । यह अपवाद वेष है^२ ।

मूल संघकी गुर्वावलीमें चित्तौरकी गद्दीके भट्टारकोंके जो नाम दिये हैं उनमें वसन्तकीर्तिका नाम आता है^३ जो वि० संवत् १२६४ के लगभग हुए हैं । उस समय उस तरफ मुसलमानोंका आतंक भी बढ़ रहा था । शायद इन्हींको श्रुतसागरने इस अपवाद वेषका प्रवर्तक बतलाया है । अर्थात् विक्रमकी तेरहवीं सदीके अन्तमें दिगम्बर साधु बाहर निकलते समय लज्जा-निवारणके लिए चटाई आदिका उपयोग करने लगे थे ।^४

१—यथा पूज्यं जिनेन्द्राणां रूपं लेपादिनिर्मितम् ।

तथा पूर्वमुनिच्छाया पूज्याः सम्प्रतिसंयताः ॥

२ कोऽपवादवेषः ? कलौ फिल म्लेच्छादयो नग्नं दृष्ट्वा उपद्रवं यतीनां कुर्वन्ति । तेन मण्डपदुर्गे श्रीवसन्तकीर्तिना स्वामिना चर्यादिवेलायां तट्टीसादरादिकेन शरीरमाच्छाद्य चर्यादिकं कृत्वा पुनस्तन्मुचति इत्युपदेशः कृतः संयमिनां, इत्यपवादवेषः ।—पट्टप्राभृत-टीका पृ० २१

३ देखो जैनहितैषी भाग ६, अंक ७-८

४ परमात्मप्रकाशकी संस्कृत टीकामें ब्रह्म देवर्जा भी शक्तिके अभावमें साधुको तृणमय आवरणादि रखने परन्तु उसपर ममत्वं न रखनेका विधान करते हैं—“ विशिष्टसंघननादिश-कृत्यभावे सति यद्यपि तपःपर्यायसहकारिभूतमन्न-पान-संयमशौचज्ञानोपकरणतृणमयप्रावरणादिक-किमपि गृह्णाति तथापि ममत्वं न करोति ।—गाथा २१६ की टीका पृ० २३२ ।

वि० सं० १२९४ में श्वेताम्बर आचार्य महेन्द्रसूरिने 'शतपदी' नामक संस्कृत ग्रंथकी रचना की है जो प्राकृत शतपदीका अनुवाद है। प्राकृत शतपदी सं० १२६३ में बनी थी और उसके कर्त्ता धर्मघोषसूरि थे। उसमें 'दिगम्बरमत-विचार' नामका एक अध्याय है जिसमें स्त्रीमुक्ति, प्रतिमा-श्रृंगार, मुनियोंका पाणिपात्रभोजन और वस्त्र ग्रहण आदि विषयोंको लेकर दिगम्बर सम्प्रदायकी आलोचना की गई है।

उसमें कहा है कि यदि तुम दिगम्बर हो तो फिर सादड़ी योगपट्ट क्यों ग्रहण करते हो ? यदि कहो कि पंचमकाल होनेसे और लज्जापरीषद सहन न होनेसे आवरण डाल लेते हैं, तो फिर उस पहिनेते क्यों नहीं ? क्योंकि ऐसा निषेध तो कहीं है नहीं कि प्रावरण तो रखना परन्तु पहिना नहीं। और वह प्रावरण भी जैसे तैसे मिले हुए प्रासुक वस्त्रसे क्यों नहीं बनाते हो, धोबी आदिके हाथसे जीवाकुल नदी तालाबमें क्यों धुलवाते हो और बिना सोधे ईधनमें जलाई हुई आगके जरिए उसको रंगाते भी क्यों हो ?' भी इससे मालूम होता है कि वसन्तकीर्तिके समयमें सादड़ी योगपट्ट आदिका उपयोग किया जाने लगा था। घास या ताड़, खजूर आदिके पत्तोंसे बनी हुई चटाईको सादड़ी कहते हैं। योगपट्ट शायद रेशमी कपड़ा रंगाकर बनाया जाता होगा।

आगे इन दिगम्बर मुनियोंके लिए वस्त्र धारण भी जायज-सा करार दिया गया। पूर्वोक्त श्रुतसागरसूरिने ही तत्त्वार्थसूत्र टीकामें स्वीकार किया है कि द्रव्यलिङ्गी मुनि शीतकालमें कम्बलादि ले लेते हैं और दूसरे समयमें उन्हें त्याग देते हैं^२। इसे उन्होंने

१ यदि च दिग्वासस्तत्कथं सादरिकापारियोगपट्टकान् गृह्णन्ति ? यदि तु पञ्चमकालत्वात् लज्जापरीषदसहिष्णुतया च आवरणमपि गृह्णन्ति ततः कथं न परिदधति ? नहि प्रावरण-मुत्कलं परिधानं च निषिद्धमित्यस्ति क्वापि। अन्यच्च प्रावरणमपि प्रासुकैर्नैव वस्त्रेण यथा लब्धेन किमिति न क्रियते ? किमिति रजकादिहस्तेन हृद्सरप्रभृतिषु सशैवालेन द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियजीवाकुलेन क्षालनमनेकसत्त्वसंघातविधातकेनाशोधितेन्यधन प्रज्वालितेन वह्निना रंजनादिकं विधाप्यते ?

२ लिङ्गं दिमेदं द्रव्यमावलङ्गमेदात्। तत्र भावलङ्गिनः पञ्चप्रकारा अपि निर्ग्रन्था भवन्ति। द्रव्यलिङ्गिनः असमर्था महर्षयः शीतकालादौ कम्बलादिकं गृहीत्वा न प्रक्षालयन्ते न सीव्यन्ति न प्रयत्नादिकं कुर्वन्ति अपरकाले परिहरन्तीति भगवत्पाराधनाप्रोक्तामिप्रायेण कुशीलापेक्षया वक्तव्यम्।

—संयमश्रुतप्रतिसेवनादिसूत्रकी टीका।

भगवती आराधनाके अभिप्रायके अनुकूल 'कुशील' मुनिकी अपेक्षासे ठीक माना है ।

इसके बाद तो वस्त्र धारणमें बाहर जानेके समयकी और शीतादिकी भी कोई शर्त नहीं रही, उनका खूब छूटसे उपयोग होने लगे, गद्दे तकिये भी आ गये और पालकी नालकी, छत्र-चँवर आदि राजसी ठाठ भी परम दिगम्बर मुनियोंने स्वीकार कर लिये !

दिगम्बर चैत्यवासियोंके अन्य आचरण

श्वेताम्बराचार्य हरिभद्रने चैत्यवासियोंके चरित्रका जो खाका अपने 'संबोध प्रकरण' में खींचा है और जिसे हम ऊपर दे चुके हैं, लगभग वही चरित्र, हम दिगम्बर साधुओंमें भी पाते हैं, दोनोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं जान पड़ता ।

पूर्वोक्त शतपदीके कथनानुसार उस समय दिगम्बर साधु मठोंमें रहते थे, अपने लिये पकाया हुआ (उद्दिष्ट) भोजन करते थे, एक स्थानमें महीनों रहते थे, चटाई योगपट्ट आदिका यदा कदा उपयोग करते थे, योगपट्टको धोबीसे धुलाते और रँगाते भी थे । शीतकालमें अँगीठीका सहारा लेते थे, पयालके बिछौनेपर सोते थे, तेलकी मालिश कराते थे,^१ सर्दिके मारे जिनमन्दिरके गूढ़ मंडप (गर्भालय) में रहते थे, और गृहस्थोंके बरते हुए पटी-द्विपटी (धोती दुपट्टा), बोरक (!) रल्लिक (!) आदि ओढ़ते थे । घासकी लँगोटी लगाते थे, पीतल, ताँबे, लोहेके कमण्डलु रखते थे, कपड़ेके जूते पहिनते थे, खदिर-बटी आदि तरह तरहकी ओषधियाँ रखते थे, स्त्रियोंसे चरण प्रक्षालन कराते थे, आर्यिकाओंके साथ एक ही निवासमें रहते थे, उनसे भोजन बनवाते थे, सुखासन पालकीपर चढ़ते थे, ज्योतिष,

१ वि० सं० १४७८ में वासुपूज्यकृपिने 'दान-शासन' नामका एक ग्रन्थ बनाया है । उसमें लिखा है कि श्रावकोंको चाहिए कि वे मुनियोंको दूध, दही, छाछ, घी, शाक, भोजन, आसन और नई बिना फटी टूटी चटाई और नये वस्त्र दें—

दुग्धश्रीघनतक्राज्यशाकभक्ष्यासनादिकं ।

नवीनमन्ययं दद्यात्पात्राय कटमम्बरम् ॥

२ वि० सं० ११४५ के दुवकुण्डके दान-पत्रमें मुनिजनोंके शरीराम्बंजन (तैल-मर्दन) के लिए दानकी व्यवस्था की गई है । इस दान-पत्रका उल्लेख पहले किया जा चुका है ।

निमित्त, चिकित्सा, मंत्रवाद, घातुवाद, आदि विद्याओंका उपयोग करते थे; सचित्त फूल पत्तोंसे पादार्चन, घिसे हुए चन्दनसे पादानुलेप, कुंकुमादिसे चरणांगराग, सोने चाँदीसे चरण-पूजा, सचित्त जलसे पाद-प्रक्षालन, दूध-घीसे चरण-स्नान कराते थे, समाओंमें व्याख्यान देते थे, सदैव एक ही स्थानमें रहते थे, आदि^१।

शायद इन्हीं आचरणोंको लक्ष्य करके पंडित आशाधरने अपने पूर्ववर्ती किसी विद्वानका कहा हुआ पूर्वोक्त श्लोक उद्धृत किया है जिसमें कहा है कि भ्रष्टचरित्र पंडितों और बठर मुनियोंने जिनचन्द्रका निर्मल शासन मलिन कर दिया।

इस तरह हमने देख लिया कि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंमें चैत्यवासकी उत्पत्ति, उसका विकास और हास लगभग एक ही ढंगसे हुआ। मनुष्य स्वभावने, देशकी परिस्थितियोंने और कालके प्रभावने भी दोनों सम्प्रदायोंमें लगभग एक-सा ही काम किया।

तेरहपन्थका उदय

हम ऊपर कह आये हैं कि विक्रमकी सत्रहवीं सदीमें पं० बनारसीदासजीने दिगम्बर सम्प्रदायके चैत्यवासियोंके विरोधमें एक विधि-मार्ग जैसे स्वतंत्र पन्थकी नींव डाली, जो आगे चलकर तेरह पन्थ कहलाया। इसीका थोड़ा-सा परिचय देकर अब हम अपने इस बहुविस्तृत लेखको समाप्त करेंगे।

तेरहपन्थ नाम जब प्रचलित हो गया, तब भट्टारकोंका पुराना मार्ग बीसपन्थ कहलाने लगा। परन्तु यह एक समस्या ही है कि ये नाम कैसे पड़े और इन नामोंका मूल क्या है। इनकी व्युत्पत्ति बतलानेवाले जो कई प्रवाद प्रचलित हैं, जैसे 'तेरह प्रकारके चारित्रको जो पाले वह तेरहपंथी' और 'हे भगवान् यह तेरा पन्थ है,' आदि, उनमें कोई तथ्य नहीं मालूम होता और न उनसे असलियतपर

१ आचार्य मल्लिषेणने भैरवपद्मावती कल्प, ज्वालामालिनी कल्प, विद्यानुवाद आदि कई मंत्रशास्त्र विषयक ग्रन्थ लिखे हैं। श्रवणवेलगोलके श० सं० १०३७ के लेख नं० ४७ में त्रैकाल्ययोगी नामक जैन मुनिके विषयमें लिखा है कि उनके प्रभावसे ब्रह्मराक्षस शिष्य हो गया था और उनके स्मरण मात्रसे ग्रह-बाधा नष्ट हो जाती थी। करंजका तेल उनके प्रभावसे भी बन गया था।

२ शतपदीके विस्तृत उद्धरण और अनुवाद जैनहितैषी भाग ७, अंक ९ में देखिए। स्थानाभावसे यहाँ नहीं दिये जा सके।

कुछ प्रकाश ही पड़ता है ।

बहुत संभव है कि ढूँढकों (स्थानकवासियों) मेंसे निकले हुए तेरह पंथियोंके जैसा निन्दित बतलानेके लिए वे लोग जो भट्टारकोंको अपना गुरु मानते थे तथा इनसे द्वेष रखते थे इसके अनुगामियोंको तेरापंथी कहने लगे हों और धीरे धीरे उनका दिया हुआ यह कच्चा 'टाइटल' पका हो गया हो; साथ ही वे स्वयं इनसे बड़े बीसपंथी कहलाने लगे हों । यह अनुमान इस लिए भी ठीक जान पड़ता है कि इधरके लगभग सौ डेढ़ सौ वर्षके ही साहित्यमें तेरह पन्थके उल्लेख मिलते हैं^१, पहलेके नहीं ।

अभी तक कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिला है जिससे एक जुदा दल या पन्थके रूपमें इस भट्टारकविरोधी मार्गका अस्तित्व विक्रमकी सत्रहवीं सदीके पहले माना जाय । इस लिए हमारा विश्वास है कि इस दलके मुख्य प्रवर्तक समयसार नाटक आदि ग्रन्थोंके सुप्रसिद्ध लेखक और कवि पं० बनारसीदासजी ही थे और इसे उस समय 'बानारसी मत' नाम दिया गया था ।

श्वेताम्बराचार्य महोपाध्याय मेघविजयने वि० सं० १७५७ के लगभग आगरेमें रहकर 'युक्तिप्रबोध' नामका एक प्राकृत ग्रन्थ स्वोपज्ञसंस्कृतटीकासहित बनाया था । यह ग्रन्थ पं० बनारसीदासजीके मतका खण्डन करनेके उद्देश्यसे ही रचा गया था—

पणमिय वीरजिणिंदं दुम्मयमयमयविमद्गणमयंदं ।

बुच्छं सुयणहितत्थं वाणारसियस्स मयमेयं ॥ १८ ॥

इसमें जगह जगह वाणारसीय या बनारसीदासका मत कहकर उल्लेख किया गया है । इससे भी मालूम होता है कि तब तक यह तेरहपंथ नहीं कहलाता था । दर्शनसारके ढँगपर मेघविजयजीने इसकी उत्पत्तिका समय भी बतलाया है—

१ लोकाशाहने विक्रम संवत् १५३० के लगभग ढूँढक सम्प्रदायकी और भीखमजीने सं० १८१८ के लगभग तेरह पन्थकी स्थापना की ।

२ मुनि श्रीविद्याविजयजीने अपने एक लेखमें बतलाया है कि भीखमजीके बारह साथी और भी थे जिनका उक्त पन्थकी स्थापनामें हाथ था, इसलिए वह तेरह आदमियोंका चलाया हुआ 'तेरहपंथ' कहलाया ।

३ श्री ऋषभदेव-कैसरीमल श्वेताम्बर-संस्था रत्नलामद्वारा प्रकाशित ।

सिरिविक्रमनरनाहा गएहिं सोलहसएहिं वासेहिं ।

असिउत्तरेहिं जायं बाणारसियस्स मयमेयं ॥ १८ ॥

अर्थात् वि० सं० १६८० में यह बनारसीदासका मत उत्पन्न हुआ ।

अह तम्मि हु कालगए कुँवरपालेण तम्मयं धरियं ।

जाओ तो बहुमण्णो गुरुव्व तेसिं स सव्वेसिं ॥ १९ ॥

अर्थात् उनके (बनारसीदासके) कालगत होने पर कुँवरपालने उस मत-प्रचारण किया और तब वह उन सबके गुरुके समान बहुमान्य हो गया ।

बनारसीविलासमें कुँवरपालकी कुछ रचनाओंका संग्रह है । पाठक जानते हैं जो सूक्तमुक्तावलीका पद्यानुवाद बनारसीदास और कुँवरपाल दोनोंका किया हुआ है और उसमें कुँवरपाल और बनारसी मित्र बतलाये गये हैं—

कुँवरपाल बानारसी, मित्र जुगल इकचित्त ।

तिनहिं ग्रंथ भाषा कियौ, बहुविध छंद कवित्त ॥

पं० बनारसीदासजीका देहान्त वि० सं० १६९८ के बाद किसी समय होना होगा । क्यों कि अपनी आत्म-कथा (अर्धकथानक) उन्होंने इसी समय की समाप्त की है । मेघविजयजीके आगरे पहुँचनेके समय जब कि उन्होंने युक्ति-प्रबोधकी रचना की है, बनारसीदासजी नहीं थे । उनके विचारोंका प्रचार करनेवाले मित्र कुँवरपाल भी उस समय न थे ।

मेघविजयजीने कुँवरपालके सिवाय बनारसीदासजीके अन्य चार साथियोंके नाम और भी बतलाये हैं— पं० रूपचन्द्र, चतुर्भुज, भगवतीदास और धर्मदास । इनका उल्लेख बनारसीदासजीने अपने नाटक समयसारमें भी किया है^३ । बहुत

१—मेघविजयजीने अपनी 'चन्द्रप्रभा' नामक व्याकरण-टीकाकी रचना वि० सं० १८ के में आगरेमें रहकर की थी । हमारा अनुमान है कि 'युक्तिप्रबोध' भी उन्होंने उसी में आगरेमें बनाया होगा और वहाँ रहते समय ही उन्हें 'बाणारसी मत' का परिचय होगा । यदि यह ठीक है तो कहना होगा कि कुँवरपाल भी उस समय जीवित न थे । और

२—इत्यंतरे य पुरिसा अबरेवि य पंच तस्स सम्मिलिया । (टीका)—कालान्तरे अपने पंच पुरुषा रूपचन्द्रपण्डितः, चतुर्भुजः, भगवतीदासः कुमारपालः धर्मदासश्चेति नामानो मिलिताः ।

३—रूपचन्द्र पण्डित प्रथम दुतिय चतुर्भुज नाम ।

तृतिय भगवतीदास नर, कौरपाल गुनधाम ॥ २६ ॥

है कि मेघविजयजीने ये नाम ' नाटक समयसार ' पढ़कर ही लिखे हों ।
 वाणारसी मतका स्वरूप प्रकट करते हुए मेघविजयजी कहते हैं—

तम्हा दिगंबरानं एए भट्टारगा वि णो पुज्जा ।

तिलतुसमेत्तो जेसिं परिग्गहो णेव ते गुरुणो ॥ १६ ॥

जिणपडिमाणं भूषणमल्लारुहणाइ अंगपरियरणं ।

वाणारसिओ वारइ दिगंबरस्सागमाणाए ॥ २० ॥

अर्थात् दिगम्बरोंके भट्टारक भी पूज्य नहीं है । जिनके तिलतुष-मात्र भी है, वे गुरु नहीं हैं । वाणारसीमतवालोंने जिनप्रतिमाओंको भूषणमालायें लाना, केसर लगाना आदि भी दिगम्बर आगमोंकी आज्ञासे रोका ।

भाजकल जो सम्प्रदाय तेरहपन्थके नामसे प्रसिद्ध है, वह भट्टारकोंको या परिग्रह-मुनियोंको अपना गुरु नहीं मानता है और प्रतिमाओंको पुष्पमालायें पहिनाये केसर चर्चित करनेका भी निषेध करता है । अतएव मेघविजयजीने जिस (सीमतकी चर्चा की है, वह तेरहपन्थ ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता ।
 १० बखतरायजीने अपने ' बुद्धिविलास ' नामक ग्रन्थमें तेरहपन्थकी उत्पत्ति सं० १६८३ में बतलाई है । यह समय भी मेघविजयजीके ' वाराणसी ' की उत्पत्ति-समयसे मिल जाता है, अतएव कहना होगा कि इस मतके वर्तक पं० बनारसीदासजी ही थे ।

उस समयकी भारतवर्षकी राजधानी आगरा नगरीमें इस पन्थका उदय हुआ और उसके समीपके जयपुर आदि नगरोंमें इसका शीघ्रतासे प्रचार हुआ । फिर वहीं नगरोंके विद्वानोंकी ग्रन्थ-रचनाओंसे जो अधिकांश देशभाषाओं की गई, यह धीरे धीरे देशव्यापी हो गया और इसके प्रभावसे मठपतियोंकी प्रतिष्ठाका तरहसे अन्त ही हो गया ।

धरमदास ये पाँच जन, मिलि बैठै इकठौर ।

परमारथ-चरचा करै, इनकें कथा न और ॥ २७ ॥

महाकवि स्वयंभु और त्रिभुवन स्वयंभु

जैन विद्वानोंने लोकरुचि और लोकसाहित्यकी कमी उपेक्षा नहीं की। जन-साधारणके निकटतक पहुँचने और उनमें अपने विचारोंका प्रचार करनेके लिए वे लोक-भाषाओंका आश्रय लेनेसे भी कमी नहीं चूके। यही कारण है जो उन्होंने सभी प्रान्तोंकी भाषाओंको अपनी रचनाओंसे समृद्ध किया है। अपभ्रंश भाषा किसी समय द्रविड़ प्रान्तों और कर्नाटकको छोड़कर प्रायः सारे भारतमें थोड़े बहुत हेर-फेरके साथ समझी जाती थी। अतएव इस भाषामें भी जैन कवि विशाल-साहित्य निर्माण कर गये हैं।

धक्कड़कुलके पं० हरिवेणने अपनी 'धम्मपरिक्खा'में अपभ्रंश भाषाके तीन महाकवियोंकी प्रशंसा की है, उनमें सबसे पहले चउमुहु या चतुर्मुख हैं जिनकी अभी तक कोई रचना उपलब्ध नहीं हुई है, दूसरे हैं स्वयंभु देव जिनकी चर्चा इस लेखमें की जायगी और तीसरे हैं पुष्पदन्त जिनके प्रायः सभी ग्रन्थ प्रकाशमें आ गये हैं और जिनसे हम परिचित भी हो चुके हैं।

पुष्पदन्तने चतुर्मुख और स्वयंभु दोनोंका स्मरण किया है, और स्वयंभुने चतुर्मुखकी स्तुति की है, अर्थात् चतुर्मुख स्वयंभुसे भी पहलेके कवि हैं।

चतुर्मुख और स्वयंभु

प्रो० मधुसूदन मोदीने चतुर्मुख और स्वयंभुको न जाने कैसे एक ही कवि समझ लिया है। वास्तवमें ये दोनों जुदा जुदा कवि हैं। इसमें सन्देहकी जरा भी गुंजाइश नहीं है। क्यों कि—

१ स्वयं स्वयंभूने अपने पउमचरिउ, रिठणेमिचरिउ (हरिवंशपुराण) और स्वयंभु-छन्द इन तीनों ग्रन्थोंमें कहीं भी 'चतुर्मुख स्वयंभु' नामसे अपना उल्लेख नहीं किया है। सर्वत्र ही स्वयंभु लिखा है और स्वयंभुकं पुत्र त्रिभुवनने भी अपने

१ देखो, भारतीय विद्या (अंक २ और ३, मार्च और अगस्त १९४०) में प्रो० मोदीका 'अपभ्रंश कविशो : चतुर्मुख स्वयंभु अने त्रिभुवन स्वयंभु' शीर्षक गुजराती लेख।

पिताका नाम स्वयंभु या स्वयंभुदेव ही लिखा है ।

२ महाकवि पुष्पदन्तने अपने महापुराणमें जहाँ अपने पूर्वके अनेक ग्रन्थ-कर्त्ताओं और कवियोंका उल्लेख किया है वहाँ वे 'चउमुहु' और 'सयंभु'का अलग अलग प्रथमा एकवचनान्त पद देकर ही स्मरण करते हैं—

चउमुहु सयंभु सिरिहरिसु दोणु, णालोइउ कइईसाणु बाणु । १-५

अर्थात् न मैंने चतुर्मुख, स्वयंभु, श्रीहर्ष और द्रोणका अवलोकन किया, और न कवि ईशान और बाणका । महापुराणका प्राचीन टिप्पणकार भी इन शब्दोंपर जुदा जुदा टिप्पण देकर उन्हें पृथक् कवि बतलाता है । “चउमुहु= कश्चित्कविः । स्वयंभु=पद्मडीवद्वरामायणकर्त्ता आपलीसंघीयः ।”

३ पुष्पदन्तने आगे ६९ वीं सन्धिमें भी रामायणका प्रारंभ करते हुए सयंभु और चउमुहुका अलग अलग विशेषण देकर अलग अलग उल्लेख किया है^२ ।

४ पं० हरिषेणोंने अपने 'धम्मपरिक्खा' नामक अपभ्रंश काव्यमें, जो वि० स० १०४० की रचना है, चतुर्मुख, स्वयंभु और पुष्पदन्त इन तीनों कवियोंकी स्तुति की है और तीनकी संख्या देकर तीनोंके लिए जुदा जुदा विशेषण दिये हैं^३ ।

५ हरिवंशपुराणमें स्वयंभु कवि स्वयं कहते हैं कि पिंगलने छन्दप्रस्तार, मामह और दंडीने अलंकार, बाणने अक्षराडम्बर, श्रीहर्षने निपुणत्व और चतुर्मुखने छंदानिका, द्विपदी और ध्रुवकोंसे जीटित पद्विधिया दिया—“छंदाणिय-ध्रुवइ-ध्रुवएहिं

१ महाकवि बाणने अपने हर्षचरितमें भाषा-कवि ईशान और प्राकृत-कवि वायुविकारका उल्लेख किया है । देखो, श्री राधाकुमुद मुकुजीका श्री हर्ष, पृ० १५८

२ कइराउ सयंभु महायरिउ, सो सयणसहासहिं परियरिउ ।

चउमुहु चयारि मुहाइं जहिं, सुकइत्तणु सीसउ काइं तहिं ॥

अर्थात् कविराज स्वयंभु महान् आचार्य हैं, उनके सहस्रों स्वजन हैं; और चतुर्मुखके तो चार मुख हैं, उनके आगे सुकवित्व क्या कहा जाय ?

३ पं० हरिषेण धक्कडकुलके थे । उनके गुरुका नाम सिद्धसेन था । चित्तोड (मेवाड़) को छोड़ जब वे किसी कामसे अंचलपुर गये थे, तब वहाँ उन्होंने धम्मपरिक्खा बनाई थी ।

४ चउमुहु कव्यविरयणे सयंभु वि, पुप्फयंतु अण्णाणु णिसुंभिवि ।

तिण्णि वि जोग्ग जेण तं सीसइ, चउमुहुमुहे थिय ताम सरासइ ॥

जो सयंभु सो देउ पहाणउ, अह कह लोयालोयविवाणउ ।

पुप्फयंतु ण वि माणुसु वुच्चइ, जो सरसइए कया वि ण मुच्चइ ॥

जडिय, चउमुहेण समप्पिय पढडिय । ” इससे चतुर्मुख निश्चय ही स्वयंभुसे जुदा हैं जिनके पढडिया काव्य (हरिवंश-पद्मपुराण) उन्हें प्राप्त थे ।

६ इसी तरह कवि स्वयंभु अपने पउमचरिउमें भी चतुर्मुखको जुदा बतलाते हैं । वे कहते हैं कि चतुर्मुखके शब्द और दंति और भद्रके अर्थ मनोहर होते हैं, परन्तु स्वयंभु काव्यमें शब्द और अर्थ दोनों सुन्दर हैं, तब शेष कविजन क्या करें ?

आगे चल कर फिर कहा है कि चतुर्मुखदेवके शब्दोंको, स्वयंभुदेवकी मनोहर जिह्वा (वाणी !) को और भद्रकविके^२ गोग्रहणको आज भी अन्य कवि नहीं पा सकते^३ । इसी तरह जलक्रीडा-वर्णनमें स्वयंभुको, गोग्रह-कथामें चतुर्मुखदेवको और मत्स्यवेधमें भद्रको आज भी कविजन नहीं पा सकते^४ ।

इन उद्धरणोंसे बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि चतुर्मुखदेव स्वयंभुसे पृथक् और उनके पूर्ववर्ती कवि हैं जिनकी रचनामें शब्द-सौन्दर्य विशेष है और जिन्होंने अपने हरिवंशमें गोग्रह-कथा बहुत ही बढ़िया लिखी है ।

७ अपने स्वयंभु-छन्दमें स्वयंभुने पहलेके अनेक कवियोंके पद्य उदाहरण स्वरूप दिये हैं और उनमें चतुर्मुखके ‘ जहा चउमुहस्स ’ कहकर ५-६ पद्य उद्धृत किये हैं । इससे भी चतुर्मुखका पृथक्त्व सिद्ध होता है ।

१ देखो ‘ पउमचरिउ ’ के प्रारंभिक अंशका दूसरा पद्य ।

२ भद्र अपभ्रंशके ही कवि मालूम होते हैं । उनका कोई महाभारत या हरिवंश होगा जिसके अन्तर्गत ‘ गोग्रह-कथा ’ और ‘ मत्स्य-वेध ’ नामके अध्याय या पर्व होंगे । चतुर्मुखका तो निश्चय ही हरिवंशपुराण था और उसमें ‘ गोग्रह-कथा ’ थी । क्यों कि अपभ्रंश-कवि धवलने भी अपने हरिवंशपुराणमें चतुर्मुखकी ‘ हरिपण्डवानां कथा ’ का उल्लेख किया है—

हरिपण्डुवाण कहा चउमुह्वासेहिं भासियं जग्गहा ।

तह विरयमि लोयपिया जेण ण णासेइ दंसणं पउरं ॥

इसमें चउमुह्वासेहिं (चतुर्मुखव्यासैः) पद स्थित है । स्वयंभु-छन्दमें चउमुहुके जो पद्य उदाहरणस्वरूप उद्धृत किये हैं, उनमेंसे ४-२, ६-८३, ८६, ११२ पद्योंसे मालूम होता है कि उनका पउमचरिउ भी अवश्य रहा होगा । क्योंकि उनमें राम-कथाके प्रसंग हैं ।

३-४ पउमचरिउके प्रारंभिक अंशके पद्य न० ३-४ ।

५ संभव है ‘ पउमचरिउ ’ के ये प्रारम्भिक पद्य स्वयं स्वयंभुके रचे हुए न हों, उनके पुत्र त्रिमुनके हों, फिर भी इनसे चतुर्मुख और स्वयंभुका पृथक्त्व सिद्ध होता है ।

७ 'करकंडुचरिउ' के कर्ता कनकामर (कनकदेव) ने स्वयंभु और पुष्प-दन्त दो अपभ्रंश कवियोंका उल्लेख किया है, परन्तु स्वयंभुको केवल 'स्वयंभु' लिखा है, 'चतुर्मुख स्वयंभु' नहीं।

८ पउमचरिउमें 'पंचमिचरिअ' के विषयमें लिखा है—

चउमुहसयंभुएवाण वाणियत्थं अचक्खमाणेण ।

तिहुअणसयंभु रइयं पंचमिचरिअं महच्छरिअं ॥

इसके 'चउमुहसयंभुएवाण' (चतुर्मुखस्वयंभुदेवानाम्) पदसे चतुर्मुख और स्वयंभु जुदा जुदा दो कवि ही प्रकट होते हैं। क्यों कि यह पद एकवचनान्त नहीं, बहुवचनान्त है। (द्विवचन अपभ्रंशमें होता नहीं।)

इन सब प्रमाणोंके होते हुए चतुर्मुख और स्वयंभुको एक नहीं माना जा सकता। प्रो० एच० डी० वेल्लणकैर और प्रो० हीरालाल जैनने भी चतुर्मुखको स्वयंभुसे पृथक् और उनका पूर्ववर्ती माना है।

स्वयंभुदेव अपभ्रंशभाषाके आचार्य भी थे। आगे बतलाया गया है कि अपभ्रंशका छन्दशास्त्र और व्याकरणशास्त्र भी उन्होंने निर्माण किया था। छन्द-चूडामणि, विजयशेषित या जयपरिशेष और कविराज-धवल उनके विरुद्ध थे।

उनके पिताका नाम मारुतदेव और माताका पद्मिनी था। मारुतदेव भी कवि थे। स्वयंभु-छन्दमें 'तहा य माउरदेवस्स' कहकर उनका एक दोहा उदाहरणस्वरूप

१ जयएव सयंभु विसालचित्तु, वाएसरिघरु सिरिपुण्यंतु ।

२ हरिवंशपुराण और पद्मपुराणके समान 'पंचमी-कहा' भी जैनोंकी बहुत ही लोक-प्रिय कथा है। संस्कृत और अपभ्रंशके प्रायः सभी प्रसिद्ध कवियोंने इन तीनों कथाओंको अपने अपने ढंगसे लिखा है। महापुराण (इसमें पद्मचरित और हरिवंश दोनों हैं) के अतिरिक्त पुष्पदन्तकी पंचमी-कथा (णायकुमारचरिउ) है ही, मल्लिषेणके भी महापुराण और नागकुमारचरित हैं। इसी तरह चतुर्मुख और स्वयंभुके भी उक्त तीनों कथानकोंपर ग्रन्थ होने चाहिए। स्वयंभुके दो तो उपलब्ध ही हैं, और पंचमीचरितका उक्त पद्यमें उल्लेख किया गया है। त्रिभुवन स्वयंभुने अपने पिताके तीनों ग्रन्थोंको सँभाला है। अर्थात् उनमें कुछ अंश अपनी तरफसे जोड़कर पूरा किया है। धनपालकी 'पंचमी कहा' प्रकाशित हो चुकी है।

३ स्वयंभु छन्दका इंट्रोडक्शन पेज ७१-७४, रायल एशियाटिक सोसाइटी बम्बईका जर्नल, जिल्द २, १९३५। ४ नागपुर यूनीवर्सिटीका जर्नल, दिसम्बर, १९३५।

दिया गया है'। स्वयंभु रहस्य थे, साधु या मुनि नहीं, जैसा कि उनके ग्रन्थोंकी कुछ प्रतियोंमें लिखा मिलता है। ऐसा जान पड़ता है कि उनकी कई पत्नियाँ थीं जिनमेंसे दोका नाम पउमचरिउमें मिलता है—एक तो आइच्चंवा (आदि-त्याम्बा) जिसने अयोध्याकाण्ड और दूसरी सामिअंबा, जिसने विद्याधरकाण्ड लिखाया था। संभवतः ये दोनों ही सुशिक्षिता थीं।

स्वयंभुदेवके अनेक पुत्र थे जिनमेंसे सबसे छोटे त्रिभुवन स्वयंभुको ही हम जानते हैं। उक्त दो पत्नियोंमेंसे ये किसके पुत्र थे, इसका कोई उल्लेख नहीं मिला। संभव है कि पूर्वोक्त दोके सिवाय कोई तीसरी ही उनकी माता हो। नीचे लिखे श्लिष्ट पद्यसे अनुमान होता है कि त्रिभुवन स्वयंभुकी माता और स्वयंभु-देवकी तृतीय पत्नीका नाम शायद 'सुअंबा' हो—

सव्वे वि सुआ पंजरसुअ व्व पढि अक्खराइं सिक्खंति ।

कइराअस्स सुओ सुअव्व-सुइ-गम्भसंभूओ ॥

अपभ्रंशमें सुअ शब्दसे सुत (पुत्र) और शुक्र (सुअ=तोता) दोनोंका ही बोध होता है। इस पद्यमें कहा है कि सारे ही सुत पीजरेके सुओंके समान पढ़े हुए ही अक्षर सीखते हैं; परन्तु कविराजका सुत (त्रिभुवन) श्रुत इव श्रुतिगर्मसंभूत है। अर्थात् जिस तरह श्रुति (वेद) से शास्त्र उत्पन्न हुए उसी तरह दूसरे पक्षमें त्रिभुवन सुअव्वसुइगम्भसंभूअ है, अर्थात् सुअंबाके शुचिगर्मसे उत्पन्न हुआ है।

कविराज स्वयंभु शरीरसे बहुत पतले और ऊँचे थे। उनकी नाक चपटी और दाँत विरल थे^१।

स्वयंभुदेवने अपने वंश गोत्र आदिका कोई उल्लेख नहीं किया। इसी तरह अन्य जैन ग्रन्थकर्त्ताओंके समान अपने गुरु या सम्प्रदायकी भी कोई चर्चा नहीं की। परन्तु पुष्पदन्तके महापुराणके टिप्पणमें उन्हें आपुलीसंघीय बतलाया है।^२ इस लिए वे यापनीय सम्प्रदायके अनुयायी जान पड़ते हैं। पर उन्होंने पउमचरिउके

१—लद्धउ मित्त भमंतेण रअणाअरचदेण ।

सो सिज्जंते सिज्जइ वि तह भरइ भरंतेण ॥ ४-९

२-३—देखो पउमचरिउ सन्धि ४२ और २० के पद्य ।

४—अइतणुएण पईहरगतें, छिन्वरणासैं पविरलदंतें ।

५ स्वयंभु पडढीवद्धकर्त्ता आपुलीसंघीयः ।—म० पु० पृ० ९ ।

प्रारंभमें लिखा है कि यह राम-कथा वर्द्धमान भगवानके मुख-कुहरसे विनिर्गत होकर इन्द्रभूति गणधर और सुधर्मास्वामी आदिके द्वारा चली आई है और रविषेणाचार्यके प्रसादसे मुझे प्राप्त हुई है ।^१ तब क्या रविषेण भी यापनीय संघके थे ?

स्वयंभुदेव पहले धनंजयके आश्रित रहे जब कि उन्होंने पउमचरिउकी रचना की और पीछे धवलइयाके जब कि रिट्टणेमिचरिउ बनाया । इसलिए उन्होंने पहले ग्रन्थमें धनंजयका और दूसरेमें धवलइयाका प्रत्येक सन्धिके अन्तमें उल्लेख किया है ।

त्रिभुवन स्वयंभु

स्वयंभुदेवके छोटे पुत्रका नाम त्रिभुवन स्वयंभु था । ये अपने पिताके सुयोग्य पुत्र थे और उन्हींके समान महाकवि भी । कविराज-चक्रवर्ती उनका विरुद्ध था । लिखा है कि उस त्रिभुवन स्वयंभुके गुणोंका वर्णन कौन कर सकता है जिसने बाल्यावस्थामें ही अपने पिताके काव्य-भारको उठा लिया ।^२ यदि वह न होता तो स्वयंभुदेवके काव्योंका, कुलका और कवित्वका समुद्धार कौन करता ? और सब लोग तो अपने पिताके धनका उत्तराधिकार ग्रहण करते हैं; परन्तु त्रिभुवन स्वयंभुने अपने पिताके सुकवित्वका उत्तराधिकार लिया ।^३ उसे छोड़कर स्वयंभुके समस्त शिष्योंमें ऐसा कौन था जो उनके काव्य-समुद्रको पार करता ? व्याकरणरूप हैं मजबूत कन्धे जिसके, आगमोंके अंगोंकी उपमावाले हैं विकट पद जिसके, ऐसे त्रिभुवन स्वयंभुरूप धवल (वृषभ) ने जिन-तीर्थमें काव्यका भार वहन किया । इससे मालूम होता है कि त्रिभुवन भी वैयाकरण और आगमादिके ज्ञाता थे ।

जिस तरह स्वयंभुदेव धनंजय और धवलइयाके आश्रित थे उसी तरह त्रिभुवन बंदइयाके । ऐसा मालूम होता है कि ये तीनों ही आश्रयदाता किसी एक ही राजमान्य या धनी कुलके थे—धनंजयके उत्तराधिकारी (संभवतः पुत्र) धवलइया और धवलइयाके उत्तराधिकारी बंदइया । एकके देहान्त होनेपर दूसरेके और दूसरेके बाद तीसरेके आश्रयमें ये आये होंगे ।

बंदइयाके प्रथम पुत्र गोविन्दका भी त्रिभुवन स्वयंभुने उल्लेख किया है जिसके वात्सल्य भावसे पउमचरिउके शेषके सात सर्ग रचे गये^४ ।

बंदइयाके साथ पउमचरिउके अन्तमें त्रिभुवन स्वयंभुने नाग और श्रीपाल

१ देखो संधि १, कड़वक २ । २-३-४-५ पउमचरिउके अन्तिम अंशके पद्य ३, ७, ९, १० ।

३ अन्तिम अंशका चौथा पद्य । ७ अन्तिम अंशका १५ वाँ पद्य ।

आदि भव्य जनोंको भी आशीर्वाद दिया है कि उन्हें आरोग्य, समृद्धि और शान्ति-सुख प्राप्त हो।

कवि कहाँके थे ?

अपने ग्रन्थोंमें इन दोनों कवियोंने न तो स्थानका नाम दिया है, न अपने समयके किसी राजा आदिका, जिससे यह पता लग सके कि वे कहाँके रहनेवाले थे। अनुमानसे इतना ही कहा जा सकता है कि वे दाक्षिणात्य थे और बहुत करके पुष्पदन्तके ही समान बरारकी तरफके होंगे: यद्यपि मास्तदेव, धवलइया, बंदइया, नाग, आइचंबा, सामिअब्बा, आदि नाम कर्नाटक जैसे हैं और ऐसे ही कुछ नाम अम्मइय, दंगइय, सीलइय, पुष्पदन्तके परिचित जनोंके भी हैं।

ग्रन्थ-रचना

महाकवि स्वयंमु और त्रिभुवन स्वयंमुके दो सम्पूर्ण और संयुक्त ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं, एक पउमचरिउ (पद्मचरित) या रामायण और दूसरा रिद्धणेमिचरिउ (अरिष्टनेमिचरित) या हरिवंशपुराण। तीसरा ग्रन्थ पंचमिचरिउ (नागकुमारचरित) है जिसका उल्लेख तो किया गया है परन्तु जो अभी तक कहीं उपलब्ध नहीं हुआ।

ये तीनों ही ग्रन्थ स्वयंमु देवके बनाये हुए हैं और तीनोंको ही उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयंमुने पूरा किया है। परन्तु उस तरह नहीं जिस तरह महाकवि बाणकी अधूरी कादम्बरीको उनके पुत्रने, वीरसेनकी अपूर्ण जयधवला टीकाको उनके शिष्य जिनसेनने और जिनसेनके आदिपुराणको उनके शिष्य गुणभद्रने पूरा किया था। पिता या गुरुकी अधूरी रचनाओंके पुत्र या शिष्यद्वारा पूरे किये जानेके अनेक उदाहरण हैं; परन्तु यह उदाहरण उन सबसे निराला है।

१ अन्तिम अंशका १६ वाँ पद्य।

२-३ ये दोनों ग्रन्थ माण्डारकर इंस्टिट्यूट पुनेमें हैं—नं० ११२० आफ १८९४-९७ और १११७ आफ १८९१-९५। पउमचरियकी एक प्रति कृपा करके प्रो० हीरालालजी जैनने भी मेरे पास भेज दी है जो सांगानेरके गोदीकाके मन्दिरकी है। यद्यपि उसके हासियेपर संवत् १७७५ लिखा हुआ है, परन्तु वह किसी दूसरेके हाथका है। प्रति उससे भी पुरानी है। हरिवंशकी एक प्रति बम्बईके प्रो० पन्नालाल सरस्वती-भवनमें भी है। इस लेखमें उक्त सब प्रतियोंका उपयोग किया गया है।

कविराज स्वयंभुदेवने तो अपनी समझसे ये ग्रन्थ पूरे ही रचे थे परन्तु उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयंभुको उनमें कुछ कमी महसूस हुई और उस कमीको उन्होंने अपनी तरफसे कई नये नये सर्ग जोड़कर पूरा किया।

जिस तरह महाकवि पुष्पदन्तके यशोधर चरितमें राजा और कौलका प्रसंग, यशोधरका विवाह और भवान्तरोंका वर्णन नहीं था और इस कमीको महसूस करके वसिलसाहु नामक धनीके कहनेसे गन्धर्व कविने उक्त तीन प्रकरण अपनी तरफसे बनाकर यशोधरचरितमें जोड़ दिये थे कविराज चक्रवर्तीने भी उक्त तीनों ग्रन्थोंकी पूर्ति लगभग उसी तरह की है। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि गन्धर्वने उक्त प्रयत्न पुष्पदन्तसे लगभग साढ़े तीन सौ वर्ष बाद किया था, परन्तु त्रिभुवन स्वयंभुने पिताके देहान्तके बाद तत्काल ही।

१-पञ्चमचरित्र

यह ग्रन्थ १२ हजार श्लोकप्रमाण है और इसमें सब मिलाकर ९० सन्धियाँ हैं—विद्याधरकाण्डमें २०, अयोध्या काण्डमें २२, सुन्दर काण्डमें १४, युद्धकाण्डमें २१ और उत्तरकाण्डमें १३^१। इनमेंसे ८३ सन्धियाँ स्वयंभुदेवकी और शेष ७ त्रिभुवन स्वयंभुकी हैं। ८३ वीं सन्धिके अन्तकी पुष्पिकामें भी यद्यपि त्रिभुवन स्वयंभुका नाम है, इस लिए स्वयंभुदेवकी रची हुई ८२ ही सन्धियाँ होनी चाहिए परन्तु ग्रन्थान्तमें त्रिभुवनने अपनी रामकथा-कन्याको सप्तमहासर्गोगी या सातसर्गावाली कहा है, इसलिए ८४ से ९० तक सात सन्धियाँ ही उनकी बनाई जान पड़ती हैं। संभव है ८३ वीं सन्धिका अपनी आगेकी ८४ वीं सन्धिसे ठीक सन्दर्भ बिठानेके लिए उसमें भी उन्हें कुछ कईवक जोड़ने पड़े हों और इसलिए उसकी पुष्पिकामें भी अपना नाम दे दिया हो।

१ देखो 'महाकवि पुष्पदन्त' शीर्षक लेख, पृ० ३३१-३२।

२ देखो पञ्चमचरित्रके अन्तके पद्य।

३-४ अपभ्रंश काव्योंमें सर्गकी जगह प्रायः 'सन्धि'का व्यवहार किया जाता है। प्रत्येक सन्धिमें अनेक कड़वक होते हैं और एक कड़वक आठ यमकोंका तथा एक यमक दो पदोंका होता है। एक पदमें यदि वह पद्धतियावद्ध हो तो १६ मात्राएँ होती हैं। आचार्य हेमचन्द्रके अनुसार चार पद्धतियों यानी आठ पंक्तियोंका कड़वक होता है। हर एक कड़वकके अन्तमें एक घत्ता या भ्रुवक होता है।

२-रिद्धणेमिचरिउ

यह हरिवंशपुराण नामसे प्रसिद्ध है। अठारह हजार श्लोकप्रमाण है और इसमें ११२ सन्धियाँ हैं। इसमें तीन काण्ड हैं—यादव, कुरु और युद्ध। यादवमें १३, कुरुमें १९ और युद्धमें ६० सन्धियाँ हैं। सन्धियोंकी यह गणना युद्ध-काण्डके अन्तमें दी हुई है और यह भी बतलाया है कि प्रत्येक काण्ड कब लिखा गया और उसकी रचनामें कितना समय लगा। इससे इन ९२ सन्धियोंके कर्तृत्वके विषयमें तो कोई शंका ही नहीं हो सकती, ये तो निश्चयपूर्वक स्वयंभु-देवकी बनाई हुई हैं।

आगे ९३ से ९९ तककी सन्धियोंकी पुष्पिकाओंमें भी स्वयंभुदेवका नाम है और फिर उसके बाद १०० वीं सन्धिके अन्तमें त्रिभुवन स्वयंभुका नाम है। इसका अर्थ यह हुआ कि ९३ से ९९ तककी सन्धियाँ भी स्वयंभुदेवकी हैं और इस तरह उनका रचा हुआ रिद्धणेमिचरिय ९९ वीं सन्धिपर समाप्त होता है। इस सन्धिके अन्तमें एक पद्य है जिसमें कहा है कि पउमचरिउ या सुब्बयचरिउ बनाकर अब मैं हरिवंशकी रचनामें प्रवृत्त होता हूँ, सरस्वतीदेवी मुझे सुस्थिरता देवें। निश्चय ही यह पद्य त्रिभुवन स्वयंभुका लिखा हुआ है और इसमें वे कहते हैं कि पउमचरिउकी अर्थात् उसके शेष भागकी रचना तो मैं कर चुका, उसके बाद अब मैं हरिवंशमें अर्थात् उसके भी शेषमें हाथ लगाता हूँ। यदि इस पद्यको हम त्रिभुवनका न मानें तो फिर इस स्थानमें इसकी कोई सार्थकता ही नहीं रह जाती। हरिवंशकी ९९ सन्धियाँ बना चुकनेपर स्वयंभुदेव यह कैसे कह सकते हैं कि पउमचरिउ बनाकर अब मैं हरिवंश बनाता हूँ? अतएव उक्त पद्यसे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वयंभुकी रचना इस ग्रन्थमें ९९ वीं सन्धिके अन्त तक है।

इसके आगेका भाग, १०० से ११२ तककी सन्धियाँ, त्रिभुवन स्वयंभुकी

१ स्वयंभुको ९२ सन्धियाँ समाप्त करनेमें छह वर्ष तीन महीने और ग्यारह दिन लगे। फाल्गुन नक्षत्र, तृतीया तिथि, बुधवार और शिव नामक योगमें युद्धकाण्ड समाप्त हुआ और माद्रपद, दशमी, रविवार और मूल नक्षत्रमें उत्तरकाण्ड प्रारंभ किया गया।

२ राम लक्ष्मण आदि बीसवें तीर्थंकर मुनिमुत्रतके तीर्थमें हुए हैं, अतएव पउमचरिउ मुनिमुत्रतचरितके ही अन्तर्गत माना जाता है। मुनिमुत्रतचरितकी ही संक्षेपमें 'सुब्बयचरिय' कहा है। सुब्बयचरियको सुद्धयचरिय गलत पढ़ा गया है।

बनाई हुई हैं और इसकी पुष्टि इस बातसे होती है कि अन्तिम सन्धि तककी पुष्पिकाओंमें त्रिभुवन स्वयंभुका नाम दिया हुआ है। परन्तु इन तेरह सन्धियोंमेंसे १०६, १०८, ११० और १११ वीं सन्धिके पद्योंमें मुनि जसकित्तिका भी नाम आता है और इससे एक बड़ी भारी उलझन खड़ी हो जाती है। इसमें तो सन्देह नहीं कि इस अन्तिम अंशमें मुनि जसकित्तिका भी कुछ हाथ है, परन्तु वह कितना है इसका ठीक ठीक निर्णय करना कठिन है।

बहुत कुछ सोच विचारके बाद हम इस निर्णयपर पहुँचे हैं कि मुनि जसकित्तिको इस ग्रन्थकी कोई ऐसी जीर्ण-शीर्ण प्रति मिली थी जिसके अन्तिम पत्र नष्ट भ्रष्ट थे और शायद अन्य प्रतियाँ दुर्लभ थीं, इसलिए उन्होंने गोपगिरि (ग्वालियर) के समीप कुमरनगरीके जैनमन्दिरमें व्याख्यान करनेके लिए इसे ठीक किया, अर्थात् जहाँ जहाँ जितना जितना अंश पड़ा नहीं गया, या नष्ट हो गया था, उसको स्वयं रचकर जोड़ दिया और जहाँ जहाँ जोड़ा वहाँ वहाँ अपने परिश्रमके एवजमें अपना नाम भी जोड़ दिया।

१०९ वीं सन्धिके अन्तमें वे लिखते हैं कि जिनके मनमें पूर्वोक्त उद्धार करनेका ही राग था, (पूर्वसमुद्धरणरागैकमनसा) ऐसे जसकित्ति जतिने कविराजके शेष भागका प्रकृत अर्थ कहा और फिर अपने इस कार्यका औचित्य बतलाते हुए वे कहते हैं कि संसारमें वे ही जीते हैं, उन्हींका जीवन सार्थक है, जो पराये बिहङ्गित (बिगड़े हुए या बिगड़खल हुए) काव्य, कुल और धनका उद्धार करते हैं।

पिछली दो सन्धियोंकी रचना और भाषा परसे ऐसा मालूम होता है कि उनमें जसकित्तिका कुछ अधिक हाथ है। जसकित्ति इस ग्रन्थके कर्त्तासे ६-७ सौ वर्ष बादके लेखक हैं, उनकी भाषा इस ग्रन्थकी भाषाके मुकाबिलमें अवश्य पहिचानी जा सकती है और हमारा विश्वास है कि अपभ्रंश भाषाके विशेषज्ञ परिश्रम करके इस बातका पता लगा सकते हैं कि इस ग्रन्थकी पिछली सन्धियोंमें जसकित्तिकी रचना कितनी है। हमें यह भी आशा है कि हरिवंशकी शायद ऐसी प्रति भी मिल जाय, जो स्वयंभु और त्रिभुवन स्वयंभुकी ही सम्पूर्ण रचना हो और उसमें जसकित्तिके लगाये हुए पेबन्द न हों।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि जसकित्तिका खुदका भी बनाया हुआ एक हरिवंशपुराण है और वह अपभ्रंशभाषाका ही है। इसलिए उनके लिए यह कार्य अत्यन्त सुगम था और क्या आश्चर्य जो उन उन अंशोंके स्थानपर जो

त्रिभुवन स्वयंभुके हरिवंशपुराणसे नष्ट हो गये थे अपने उक्त हरिवंशके ही अंश काट-छाँटकर जड़ दिये हों। इसका निर्णय जैसकित्तिका ग्रन्थ सामने रखनेसे हो सकता है।

३-पंचमीचरित

दुर्भाग्यसे अभी तक इस ग्रन्थकी कोई प्रति उपलब्ध नहीं हुई है; परन्तु पउमचरियमें लिखा है कि यदि स्वयंभुदेवके पुत्र त्रिभुवन न होते तो उनके पद्मडियावद्ध पंचमीचरितको कौन सँवारता? इससे मालूम होता है कि स्वयंभुदेवका पंचमीचरित नामका ग्रन्थ भी अवश्य था और उसे भी उनके पुत्रने शायद पूर्वोक्त दो ग्रन्थोंके ही समान सँवारा था—बढ़ाया था।

स्वयंभुके तीनों ग्रन्थ सम्पूर्ण थे

जैसा कि पहले कहा चुका है, स्वयंभुदेवने अपने तीनों ग्रन्थ अपनी समझ और रुचिके अनुसार सम्पूर्ण ही रचे थे, उन्हें अधूरा नहीं छोड़ा था। पीछे

१ मुनि जसकित्ति या यशःकीर्ति काष्ठासंघ-माथुरान्वय पुष्करगणके भट्टारक^५ थे और गोपाचल या खालियरकी गद्दीपर आसीन थे। उनके गुरुका नाम गुणकीर्ति था। उनके दो अपभ्रंश-ग्रन्थ मिलते हैं एक हरिवंशपुराण और दूसरा चंदम्पहचरित। पहला ग्रन्थ जैन-सिद्धान्तमवन आरामें है। भास्कर (भाग ८, किरण १) में उसके जो बहुत ही अशुद्ध अंश उद्धृत किये गये हैं उनसे मालूम होता है कि दिवदा साहुके लिए उसकी रचना की गई थी।—“इय हरिवंशपुराणे कुरुवंसाहिट्टिए विवुहचित्ताणुरंजणे सिरिगुणकित्तिसीसमुणि-जसकित्तिविरइए साहु-दिवदानामंकिए... तेरहमो सगो सम्मत्तो।” और पिछला ग्रन्थ फर्रुखनगरके जैनमन्दिरके भंडारमें है। उसके अन्तमें लिखा है—“इय सिरिचंदम्पहचरिए महाकज्जसकित्तिविरइए महामन्वसिद्धपालसवणभूसणे सिरिचंदम्पहसामिणिव्वाणगमणो णाम एयारइमो संधी सम्मत्तो।” यह प्रति श्रावण वदी १, शनि, संवत् १५६८ की लिखी हुई है। जसकित्ति तोमरवंशी राजा कीर्तिसिंहके समयमें विक्रमकी सोलहवीं शताब्दिके प्रारम्भमें हुए हैं। जैनसिद्धान्त मवन आरामें शानार्णवकी एक प्रति है जो संवत् १५२१ आषाढ़ सुदी १६ सोमवारको गोपाचलदुर्गमें तोमरवंशी राजा कीर्तिसिंहके राज्यमें लिखी गई थी। इसमें गुणकीर्ति और यशःकीर्तिके बाद उनके शिष्य मलयकीर्ति और प्रशिष्य गुणभद्र भट्टारकके भी नाम हैं।

उनके पुत्र त्रिभुवनने अधूरोंको पूरा नहीं किया है बल्कि उनमें इजाफा किया है । इसकी पुष्टिमें हम नीचे लिखी बातें कह सकते हैं—

१ यह बात कुछ जँचती नहीं कि कोई कवि एक साथ तीन तीन ग्रन्थोंका लिखना शुरू कर दे और तीनोंको ही अधूरा छोड़ जाय । अपना अन्तिम ग्रन्थ ही वह अधूरा छोड़ सकता है ।

२ पउमचरिउमें स्वयंभुदेव अपनेको धनंजयका आश्रित बतलाते हैं और रिट्ठणेमिचरिउमें धवलइयाका । इससे स्पष्ट होता है कि इन दोनों ग्रन्थोंकी रचना एक साथ नहीं हुई है । धनंजयके आश्रयमें रहते समय पहला ग्रन्थ समाप्त किया गया और उसके बाद धवलइयाके आश्रयमें जो कि शायद धनंजयका पुत्र था रिट्ठणेमिचरिउ लिखना शुरू हुआ । पंचमीचरित शायद धनंजयके आश्रयमें ही लिखा गया हो ।

३ दोनों ग्रन्थोंका शेष त्रिभुवन स्वयंभुने उस समय लिखा जब वे बन्दइयाके आश्रित थे और इस बातका उल्लेख भी रिट्ठणेमिचरियकी ९९ वीं सन्धिके अन्तमें कर दिया कि पउमचरिउको (शेष भागको) कर चुकनेके बाद अब मैं हरिवंश-पुराणकी (शेष भागकी) रचनामें प्रवृत्त होता हूँ । यह उल्लेख स्वयं स्वयंभुदेवका किया हुआ नहीं हो सकता ।

४ पउमचरिउका लगभग ६ अंश और हरिवंशका ६ अंश स्वयंभुदेवका है और शेष १ और ७ त्रिभुवनका । प्रश्न होता है कि पिता यदि दोनोंका अधूरा ही छोड़ता तो इतने थोड़े थोड़े ही अंश क्यों छोड़ता ?

५ त्रिभुवन स्वयंभु अपने ग्रन्थांशोंको 'सेस' 'सयंभुदेव-उव्वरिअ' और 'तिट्ठअणसयंभुसमाणिअ' विशेषण देते हैं । शेषका अर्थ स्पष्ट है । आचार्य हेमचन्द्रकी नाममालाके अनुसार 'उव्वरिअ'का अर्थ 'अधिक अनीप्सित' होता है । अर्थात्, स्वयंभुदेवको जो अंश अभीप्सित नहीं था, या जो अधिक था, वह अंश । इसी तरह 'समाणिअ' शब्दका अर्थ होता है, लाया गया । इन तीनों विशेषणोंसे यही ध्वनित होता है कि यह अधिक या अनीप्सित अंश ऊपरसे लाया गया है ।

६ रिट्ठणेमिचरिउको देखनेसे पता चलता है कि वास्तवमें समवसरणके उपरान्त नेमिनाथका निर्वाण होते ही यह ग्रन्थ समाप्त हो जाना चाहिए । इसके बाद कृष्णकी रानियोंके भवान्तर, गजकुमारनिर्वाण, दीपायन मुनि, द्वारावती-दाह, बलभद्रका शोक, नारायणका शोक, हलधरदीक्षा, जरत्कुमार-राज्यलाम, पाण्डव-गृहवास,

मोहपरित्याग, पाण्डव-भवान्तर आदि प्रकरण जो ९९ से आगेकी सन्धियोंमें हैं वे नेमिचरितके आवश्यक अंश नहीं हैं, अवान्तर हैं। इनके बिना भी वह अपूर्ण नहीं है। परन्तु त्रिमुवन स्वयंभुने इन विषयोंकी भी आवश्यकता समझी और इस तरह उन्होंने रिठणेमिचरितको हरिवंशपुराण बना दिया और शायद इसी कारण वह इस नामसे प्रसिद्ध हुआ। पउमचरियकी अन्तकी सात सन्धियोंके विषय भी—सीता, बालि, और सीता-पुत्रोंके भवान्तर, मास्त-निर्वाण, हरिमरण आदि—इसी तरह अवान्तर जान पड़ते हैं।

४—स्वयंभु-छन्द

स्वयंभुदेवके इस छन्दो ग्रन्थका पता अभी कुछ ही समय पहले लगा है। इसकी एक अपूर्ण प्रति जिसमें प्रारंभके २२ पत्र नहीं हैं प्रो० एच० डी० वेलणकरको प्राप्त हुई है और उन्होंने उसे बड़े परिश्रमसे सम्पादित करके प्रकाशित कर दिया है।^१

इसके पहलेके तीन अध्यायोंमें प्राकृतके वर्णवृत्तोंका और शेषके पाँच अध्यायोंमें अपभ्रंश छन्दोंका विवेचन है। साथ ही छन्दोंके उदाहरण भी पूर्व कवियोंके ग्रन्थोंमेंसे चुनकर दिये गये हैं।

इस ग्रन्थका प्रारंभिक अंश नहीं है और अन्तमें भी कर्त्ताका परिचय देनेवाली कोई प्रशस्ति आदि नहीं है। इस लिए सन्देह हो सकता है कि यह शायद किसी अन्य स्वयंभुकी रचना हो; परन्तु हमारी समझमें निश्चयसे इन्हींकी है। क्यों कि—

१ इसके अन्तिम अध्यायमें गाहा, अडिल्ला, पद्मडिया आदि छन्दोंके जो स्वोपश उदाहरण दिये हैं उनमें जिनदेवकी स्तुति है^२। इसलिये इसके कर्त्ताका जैन

१ यह प्रति बड़ोदाके ओरियण्टल इन्स्टिट्यूटकी है। आश्विन सुदी ५, गुरुवार संवत् १७२७ को इसे रामनगरमें किसी कृष्णदेवने लिखा था।

२ पहलेके तीन अध्याय रायल एशियाटिक सोसाइटी बाम्बेके जर्नल (सन् १९३५ पृ० १८-५८) में और शेष पाँच अध्याय बाम्बे यूनीवर्सिटीके जर्नल (जिल्द ५, नं० ३, नवम्बर १९३६) में प्रकाशित हुए हैं।

३ तुम्ह पअकमलमूले अम्हं जिण दुक्खभावतविआइं ।

दुरुदुल्लिआइं जिणवर जं जाणसु तं करेजासु ॥ ३८

जिणणामें छिंदेवि मोहजाछु, उप्पज्झइ देवह्जसामि साछु ।

जिणणामें कम्मइं णिहलेवि, मोक्खग्गे पइसिअ सुह लहेवि ॥ ४४

होना तो असन्दिग्ध है। साथ ही इसमें (अ० ५-९) छठे अवजार्ईके उदाहरण स्वरूप जो घत्ता उद्धृत की है वह पउमचरिउकी १४ वीं सन्धिमें बहुत ही थोड़े पाठान्तरके साथ मौजूद है, घत्ता छन्दका जो उदाहरण (अ० ७-२७) दिया है वह पउमचरिउकी पाँचवीं सन्धिका पहला पद्य है^२। 'वम्महतिलअ' का जो उदाहरण है (अ० ६-४२) वह ६५ वीं सन्धिका पहला पद्य है, 'रअणावली' का जो उदाहरण है (अ० ६-७४), वह ७७ वीं सन्धिके १३ वें कड़वकका अन्तिम पँद्य है और अ० ६ का जो ७१ वाँ पद्य है वह पउमचरियकी ७७ वीं सन्धिका प्रारंभिक पद्य है। चूँकि ये कविकी अपनी और अपने ही ग्रन्थकी घत्तायें थीं; इसलिए इन्हें विना कर्त्ताके नामके ही उदाहरणस्वरूप दे दिया गया। यदि अन्य कवियोंकी होती तो उनका नाम देनेकी अवश्यकता होती। इससे भी यही निश्चय होता है कि पउमचरिउके कर्त्ता स्वयंभुदेव ही स्वयंभु-छन्दके कर्त्ता हैं। इस छन्दोग्रन्थमें ६-४५, ५८, ९८, १०२, १५२, ८-२, ९ पद्य ऐसे हैं जो हरिवंशकी कथाके प्रसंगके हैं और ६, ६५, ६८, ९०, १५५, ८-२१, २५, ऐसे हैं जो रामकथाके प्रसंगके हैं और उदाहरणस्वरूप दिये गये हैं परन्तु कर्त्ताका नाम नहीं दिया गया है। हमारा

- १ कहवि सहरिइं दिट्ठइं णहरइं थणसिहरोवरि सुपहुत्तइं ।
वेग्गि वलग्गहो मयणतुरंगहो णं पइ छुड्डु छुड्डु खित्तइं ॥ ९
- २ अक्खइ गउतमसामि, तिहुअणलद्धपसंसहो ।
सुण सेणिय उप्पत्ति, रक्खसवाणरवंसहो ॥
- ३ हणुवंतु रणे परिवेढिज्जई णिसियेरेहिं ।
णं गयणयले बालदिवायरु जलहेरेहिं ।
- ४ सुरवर डामरु रावणु दट्ठु जासु जग कंपइ ।
अण्णु कहिं महु चुक्कइ एवणाइ सिहि जंपइ ॥
- ५ भाइविओएं जिह जिह करइ बिहीसणु सोउ ।
तिह तिह दुक्खेण रुवइ सहरिबलवाणरलेउ ॥

स्वयंभु-छन्दके मुद्रित पाठमें इस पद्यको 'चउमुह' का बतलाया है, परन्तु असलमें यह लेखककी कुछ असावधानी मालूम पड़ती है। 'चउमुह' का पद्य वहाँ लिखनेसे छूट गया है और उसके आगे यह स्वयं स्वयंभुका अपना उदाहरण आ गया है।

विश्वास है कि वे सब स्वयं स्वयंभुके हैं और खोज करनेसे रिद्धणेभिचरिउ और पउमचरिउमें उनमेंसे अनेक पद्य मिल जायेंगे ।

२ रिद्धणेभिचरिउके प्रारंभमें पूर्व कवियोंने उन्हें क्या क्या दिया, इसका वर्णन करते हुए कहा है कि श्रीहर्षने निपुणत्व दिया—“सिरिहारिसें गियणि-उणत्तणउ ।” और श्रीहर्षके इसी निपुणत्वके प्रकट करनेवाले संस्कृत पद्यके एक चरणको स्वयंभु-छन्दमें (१-१४४) उद्धृत किया गया है—“जह (यथा)—श्रीहर्षों निपुणः कविरित्यादि ।” चूँकि यह पद्य श्रीहर्षके नागानन्द नाटककी प्रस्तावनामें सूत्रधारद्वारा कहलाया गया है और बहुत प्रसिद्ध है, इसलिए कविने इसे पूरा देनेकी जरूरत नहीं समझी । परन्तु इससे यह सिद्ध हो जाता है कि स्वयंभुछन्दके कर्त्ता और पउमचरिउके कर्त्ता एक ही हैं, जो श्रीहर्षके निपुणत्वको अपने दोनों ग्रन्थोंमें प्रकट करते हैं ।

३ स्वयंभुदेवको उनके पुत्रने ‘ छन्दचूडामणि ’ कहा है । इससे भी अनुमान होता है कि वे छन्दशास्त्रके विशेषज्ञ थे और इसलिए उनका कोई छन्दो ग्रन्थ अवश्य होना चाहिए ।

स्वयंभु छन्दमें माउरदेवके कुछ पद्य उदाहरणस्वरूप दिये हैं और अधिक संभावना यही है कि ये माउरदेव या मारुतदेव कविके पिता ही होंगे । अपने पिताके पद्योंका पुत्रके द्वारा उद्धृत किया जाना सर्वथा स्वाभाविक है ।

पूर्ववर्ती कविगण

इस छन्दोग्रन्थमें प्राकृत और अपभ्रंश कवियोंके नाम देकर जो उदाहरण दिये हैं उनसे इन दोनों भाषाओंके उस विशाल साहित्यका आभास मिलता है जो किसी समय अतिशय लोकप्रिय था और जिसका अधिकांश लुप्त हो चुका है । यहाँ हम उन कवियोंके नाम देकर ही सन्तोष करेंगे—

प्राकृत कवि—वग्धअत्त (ब्रह्मदत्त), दिवायर (दिवाकर), अंगारगण,

- १ श्रीहर्षों निपुणः कविः परिषद्व्येषा गुणग्राहिणी,
लोके हरि च सिद्धराजचरितं नाव्ये च दक्षा वयम् ।
वस्त्वैकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तैः पदं कि पुन-
र्मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः ॥

सुद्धसहाव (शुद्धस्वभाव), ललिअसहाव (ललितस्वभाव), पंछमणाह, माउरदेव (मारुतदेव), कोहंत, णागह, सुद्धसील (शुद्धशील), हरआस (हरदास), हरअत्त (हरदत्त), धणदत्त, गुणहर (गुणधर), णिउण (निपुण), सुद्धराअ (शुद्धराज), उब्भट (उद्धट), चंदण, दुग्गसीह (दुर्गसिंह), कालिआस (कालिदास), वेरणाअ, जीउदेअ (जीवदेव), जणमणाणंद, सीलणिहि (शीलनिधि), हाल (सातवाहन), विमलएव (विमलदेव), कुमारसोम, मूलदेव, कुमारअत्त (कुमारदत्त), तिलोअण (त्रिलोचन), अंगवइ (अंगपति), रज्जउत्त (राजपुत्र), वेआल (वेताल), जोहअ, अजरामर, लोणुअ, कलाणुराअ (कलानुराग), दुग्गसत्ति (दुर्गशक्ति), अण्ण, अब्भुअ (अब्भुत), इसहल, रविवप्प (रविवप्र), छइल्ल, विअड्ढ, सुहड्ढराअ (सुभटराज), चंदराअ (चन्द्रराग), ललअ ।

अपभ्रंश कवि—चउमुहु (चतुर्मुख) धुत्त, धनदेव, छइल्ल, अज्जदेव (आर्यदेव), गोइंद (गोविन्द), सुद्धसील (शुद्धशील), जिणआस (जिनदास), विअड्ढ ।

इन कवियोंमें जैन कौन कौन हैं और अजैन कौन, यह हम नहीं जानते । हमारे लिए हाल कालिदास आदिको छोड़कर प्रायः सभी अपरिचित हैं । फिर भी इनमें जैन कवि काफी होंगे बल्कि अपभ्रंश कवि तो अधिकांश जैन ही होंगे । क्योंकि अबतक अपभ्रंश साहित्य अधिकांशमें उन्हींका लिखा हुआ मिला है ।

वेताल कविके पद्यके प्रारंभिक अंशका जो उदाहरण दिया है, उससे वह जैन जान पड़ता है । चौथे अध्यापके १७, १९, २१, २४, २६ नं० के जो छह पद्य हैं, वे गोइन्दके हैं और हरिवंशकी कथाके प्रसंगके हैं । उनसे मालूम होता है कि गोइन्द भी जैन है और उसका भी एक हरिवंशपुराण है । माउरदेव, जिनदास और चउमुहु तो जैन हैं ही । चतुर्मुखके जो ४-२, ६-७१, ८३, ८६, ११२ नं० के पद्य हैं वे राम-कथासम्बन्धी हैं और उनके पउमचरिउसे लिये गये हैं । चतुर्मुखके हरिवंश, पउमचरिउ और पंचमीचरिउ नामक तीन ग्रन्थोंके होनेका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है ।

स्वयंभु-व्याकरण

हमारा अनुमान है कि स्वयंभुदेवने स्वयंभु-छन्दके समान अपभ्रंश भाषाका

१ कामवाणो वेआलस्स—

‘ णिच्चं णमो वीअराआ ’ एवमाइ त्ति ॥ १-१७७

कोई व्याकरण भी लिखा था क्योंकि पउमचरिउके एक पद्यमें कहा है कि अपभ्रंशरूप मतवाला हाथी तभी तक स्वच्छन्दतासे भ्रमण करता है जबतक कि उसपर स्वयंमु-व्याकरणरूप अंकुश नहीं पड़ता और इसमें स्वयंमु-व्याकरणका स्पष्ट उल्लेख है ।

एक और पद्यमें स्वयंमुको पंचानन सिंहकी उपमा दी गई है, जिसकी सच्छन्द-रूप विकट दाढ़ें हैं, जो छन्द और अलंकाररूप नखोंसे दुष्प्रेक्ष्य है और व्याकरण-रूप जिसकी केसर (अयाल) है । इससे भी उनके व्याकरण ग्रन्थ होनेका विश्वास होता है ।

समय-विचार

पउमचरिउ और रिद्धनेभिचरिउमें स्वयंमुदेवने अपने पूर्ववर्ती कवियों और उनके कुछ ग्रन्थोंका उल्लेख किया है जिनके समयसे उनके समयकी पूर्व सीमा निश्चित की जा सकती है । पाँच महाकाव्य, पिंगलका छन्दशास्त्र, भरतका नाट्यशास्त्र, भामह और दंडीके अलंकारशास्त्र, इन्द्रका व्याकरण, व्यास, बाणका अक्षराडम्बर (कादम्बरी), श्रीहर्षका निपुणत्व और रविषेणाचार्यकी रामकथा (पद्मचरित) । समयके लिहाजसे जहाँ तक हम जानते हैं इनमें सबसे पीछेके रविषेण हैं और उन्होंने अपना पद्मचरित वि० स० ७३४ (वीर-निर्वाण संवत् १२०३) में समाप्त किया था^१ । अर्थात् स्वयंभू वि० स० ७३४ के बाद किसी समय हुए हैं ।

इसी तरह जिन सब लेखकोंने स्वयंमुका उल्लेख किया है और जिनका समय

१ खुवंश, कुमारसंभव, शिशुपालवध, किराताजुनीय और भट्टि । कोई कोई भट्टिके बदले श्रीहर्षके नैषधचरितको पाँच महाकाव्योंमें गिनते हैं ।

२ नैषधचरितके कर्ता श्रीहर्ष नहीं किन्तु बाणके आश्रयदाता सम्राट हर्ष, जिनके नागानन्द, प्रियदर्शिका आदि नाटक-ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं । ' श्रीहर्षो निपुणः कविः ' आदि पद्य श्री हर्षके नागानन्दका ही है और उसे स्वयंमुछन्दमें उद्धृत किया गया है । इसी पद्यके ' निपुण ' विशेषणका अनुकरण स्वयंमुने ' सिरिहरिसिं गियण्जिणत्तण्ड ' पदमें किया है । नैषधचरितके कर्ता श्रीहर्ष स्वयंमुसे और पुष्पदन्तसे भी पीछे हुए हैं । पुष्पदन्तने भी श्रीहर्ष (हर्षवर्द्धन) का ही उल्लेख किया है ।

३ देखो मा० जै० ग्रन्थमालामें प्रकाशित पद्मचरितकी भूमिका ।

ज्ञात है, उनमें सबसे पहले महाकवि पुष्पदन्त हैं। पुष्पदन्तने अपना महापुराण वि० स० १०१६ (श० स० ८८१) में प्रारंभ किया था। अतएव स्वयंभुके समयकी उत्तर सीमा वि० स० १०१६ है। अर्थात् वे ७३४ से १०१६ के बीच किसी समय हुए हैं। आचार्य हेमचन्द्रने भी अपने छन्दोनुशासनमें स्वयंभुका उल्लेख किया है जो विक्रमकी तेरहवीं सदीके प्रारंभमें हुए हैं।

परन्तु यह लगभग तीन सौ वर्षका समय बहुत लम्बा है। हमारा खयाल है कि स्वयंभु रविषेणसे बहुत अधिक बाद नहीं हुए। वे हरिवंशपुराणकर्ता जिनसेनसे कुछ पहले ही हुए होंगे। क्योंकि जिस तरह उन्होंने पउमचरिउमें रविषेणका उल्लेख किया है, उसी तरह रिद्वणेमिचरिउमें हरिवंशके कर्ता जिनसेनका भी उल्लेख अवश्य किया होता, यदि वे उनसे पहले हो गये होते तो। इसी तरह आदिपुराण-उत्तरपुराणके कर्ता जिनसेन-गुणभद्र भी स्वयंभु-देवद्वारा स्मरण किये जाने चाहिए थे। यह बात नहीं जंचती कि वाण, श्रीहर्ष, आदि अजैन कवियोंकी तो वे चर्चा करते और जिनसेन आदिको छोड़ देते। इससे यही अनुमान होता है कि स्वयंभु दोनों जिनसेनोंसे कुछ पहले हो चुके होंगे। हरिवंशकी रचना वि० स० ८४० (श० स० ७०५) में समाप्त हुई थी। इसलिए ७३४ से ८४० के बीच स्वयंभुदेवका समय माना जा सकता है। परन्तु इसकी पुष्टिके लिए अभी और भी प्रमाण चाहिए।

नीचे दोनों ग्रन्थोंके वे सब महत्त्वपूर्ण अंश उद्धृत कर दिये जाते हैं जिनके आधारसे कवियोंका यह परिचय लिखा गया है।

परिशिष्ट

पञ्चमचरितके प्रारंभिक अंश

(१)

गेमह णव-कमल-कोमल-मणहर-वर-बहल-कंति-सोहिल्लं ।
 उसहस्स पायकमलं ससुरासुरवंदियं सिरसा ॥ १ ॥
 चउमह-मुहम्मि सहो दंती^१ भदे च मणहरो अत्थो ।
 विणि वि सयंभुकव्वे किं कीरइ कइयणो सेसो ॥ २ ॥
 चउमुहएवस्स सहो सयंभुएवस्स मणहरा जीहा ।
 भहस्स य गोगाहणं अज्ज वि कइणो ण पावन्ति ॥ ३ ॥
 जलकीलाए सयंभुं चउमुहएवं च गोगाहकहाए ।
 भहं च मच्छवेहे अज्ज वि कइणो ण पावन्ति ॥ ४ ॥
 तावाच्चि य सच्छंदो भमइ अवब्भंस-मच्च-मायंगो ।
 जाव ण सयंभु-वायरण-अंकुसो पडइ ॥ ५ ॥
 सच्छइ-वियड-दाढो छंदालंकार-णहर-दुप्पिच्छो ।
 वायरण-केसरइढो सयंभु-पंचाणणो जयउ ॥ ६ ॥
 दीहर-समास-गालं सह-दलं अत्थेकेसरग्घविया ।
 बुह-महुयर-पीयरसं सयंभु-कव्वुप्पलं जयउ ॥ ७ ॥

१ मंगलाचरणके इस पद्यके बाद और दूसरे पद्यके पहले सांगानेरवाली प्रतिमें कवि ईशानशयनके संस्कृत 'जिनेन्द्रद्राष्टक'के सात पद्य दिये हैं। एक श्लोक शायद छूट गया है। मालूम नहीं, इनकी यहाँ क्या जरूरत थी।

२ दूसरेसे छठे तकके पद्य पूनेकी प्रतिमें नहीं है, परन्तु सांगानेरवाली प्रतिमें है।

३ सांगानेरकी प्रतिमें 'दंती सहं च'।

४ 'अत्थकेसरद्वियं' पाठ पूनेकी प्रतिमें है।

(२)

बहुमाण-मुह-कुहर-विणिग्गय	रामकहाणए एह कमागय ।
अक्खर-वास-जलोह-मणोहर	सुयलंकार-छंद-मच्छोहर ।
दीह-समास-पवाहावंकिय	सकय-पायय-पुलिणालंकिय ।
देसीभासा-उभय-तडुजल	कवि-दुक्कर-घण-सद्-सिलायल ।
अत्थबहल-कल्लोलाणिट्ठिय	आसासय-सम-तूह-पराड्य ।
एह रामकह-सरि सोहंती	गणहर-देवहिं दिट्ठ वहंती ।
पच्छइं इंदमूइ-आयरिएं	पुणु धम्मणेण गुणालंकरिएं ।
पुणु एवहिं संसाराराएं	कित्तिहरेण अणुत्तरवाएं ।
पुणु रविसेणायोरिय-पसाएं	बुद्धिए अवगाहिय कइराएं ।
पउमिणि-जणणि-गम्भसंभूएं	मारुयएव-रुव-अणुराएं ।
अइतणुएण पईहरगत्ते	छिव्वर-णासें पविरल-देत्ते ।

धत्ता—णिम्मल-पुण्ण-पवित्त-कह-कित्तणु आढप्पइ ।

जेण समाणिजंतएण थिरकित्ति विट्ठप्पइ ॥ २ ॥

(३)

बुहयण सयंसु पइं विण्णवइ	मइं सरिसउ अणुणु णत्थि कुकइ ।
वायरणु कयावि ण जाणियउ	णउ वित्ति-सुत्तु वक्खाणियउ ।
णउ पच्चाहारहो तत्ति किय	णउ संधिहे उप्परि बुद्धि ठिय ।
णउ णिसुणुणउ सत्तविहत्तियाउ	छत्विहउ समास-पउत्तियाउ ।
छक्कारय दस-ल्यार ण सुय	वीसोवसग्ग पच्चय पडुय ।
ण बलाबल-धाउ-णिवाय-गणु	णउ लिंगु उणाइ चउक्कु वयणु ।
णउ णिसुणुणउ पंच महायकवु	णउ भरहु ण लक्खणु छंदु सबु ।
णउ बुद्धिउ पिंगल पत्थार	णउ भम्मह दंडियलंकार ।
ववसाउ तोवि णउ परिहरमि	वरि रयडाडुत्तु कवु करमि ।

अन्तिम अंश

तिहुयण-सयंसु णवरं एक्को कइराय-चक्किणुप्पणो ।

पउमचरियस्स चूडामणि व्व सेसं कयं जेण ॥ १ ॥

१ सांगानेरवाली प्रतिमें 'बुद्धि णियइ जणिय कइराएं' पाठ है । २ उक्त प्रतिमें 'अणुण्णाहि कुकइ' पाठ है । ३ सांगानेरवाली प्रतिमें 'सेसे' ।

कइरायस्स विजय-सेसियस्स विथारिओ जसो भुवणे ।
 तिहुयण-सयंभुणा पउमचरियसेसेण णिस्सेसो ॥ २ ॥
 तिहुयण-सयंभु-धवलस्स को गुणो वणिणउं जए तरइ ।
 बालेण वि जेण सयंभुकव्वभारो समुव्वूढो ॥ ३ ॥
 वायरण-दद-क्खंघो आगम-अंगोपमाण-वियडपओ ।
 तिहुयण-सयंभु-धवलो जिणतित्थे बहउ कव्वभरं ॥ ४ ॥
 चउमुह-सयंभुएवाण वणिणयत्थं अचक्खमाणेण ।
 तिहुयण-सयंभु-रइयं पंचमि-चरियं महच्छरियं ॥ ५ ॥
 सव्वे वि सुया पंजर-सुय व्व पढिअक्खराइं सिक्खंति ।
 कइरायस्स सुओ सुय व्व सुइगम्भ-संभूओ ॥ ६ ॥
 तिहुयण-सयंभु जइ ण हुंतु णंदणो सिरिसयंभुदेवस्स ।
 कव्वं कुलं कवित्तं तो पच्छा को समुद्धरइ ॥ ७ ॥
 जइ ण हुउ छंदचूडामणिस्स तिहुयण-सयंभु लहुतणउ ।
 तो पद्धडियाक्खं सिरिपंचमि को समारेउ ॥ ८ ॥
 सव्वो वि जणो गेण्हइ णिय ताय-विढत्त-दव्व-संताणं ।
 तिहुयण-सयंभुणा पुण गहियं णं सुकइत्त-संताणं ॥ ९ ॥
 तिहुयण-सयंभुमेक्कं मोत्तूण सयंभुकव्व-मयरहरो ।
 को तरइ गंतुमंतं मज्जे णिस्सेस-सीसाणं ॥ १० ॥
 इय चारु पोमचरियं सयंभुएवेण रइय सम्भत्तं ।
 तिहुयण-सयंभुणा तं समाणियं परिसमत्तमिणं ॥ ११ ॥
 मारुय-सुय-सिरिकइराय-तणय-कय-पोमचरिय-अवसेसं ।
 संपुण्णं संपुण्णं वंदइओ लहउ संपुण्णं ॥ १४ ॥
 गोइंद-मयण सुयणंत विरइयं (?) वंदइय-पढमतणयस्स ।
 वच्छलदाए तिहुयण-सयंभुणा रइयं महप्पयं ॥ १५ ॥
 वंदइय-णाग-सिरिपाल-पहुइ-भव्वयण-समूहस्स ।
 आरोगत्त-समिद्धी संति सुंइ होउ सव्वस्स ॥ १६ ॥

१. सांगानेरवाली प्रतिमें १, ३ और ४ को क्रमसे ८८, ९० और ८९ वीं संधिके
 प्रारम्भमें भी दिया है । २. 'वाणियत्थं ।'

सत्तमहासगंगी तिरयणभूसा सु रामकह-कण्णा ।
तिहुयण-सयंभु जणिआ परिणउ वंदइय मणतणउ ॥ १७ ॥

इय रामायणपुराणं समत्तं ।

‘सिरि-विजाहर-कंडे संधीओ हुंति वीसपरिमाणं ।
उज्झाकंडंमि तहा बावीस मुणेह गणणाए ॥
चैउदह सुंदरकंडे एकाहिय वीस जुज्झकंडे य ।
उत्तरकंडे तेरह संधीओ णवइ सव्वाउ ॥ छ ॥

पउमचरिउकी सन्धियाँ

- १ इय इत्थ पउमचरिए धणंजयासिय-सयंभुएवकए
जिण-जम्मुप्पत्ति इयं पढमं चिय साहियं पव्वं ॥
- २ जिणवरणिक्खमणं इमं बीयं चिय साहियं पव्वं ॥
- १४ जलकीलाए सयंभू चउमुहएवं च गोग्गहकहाए ।
भदं च मच्छेवेहे अज्जवि कइणो ण पावंति ॥
- २० इय विजाहरकंडं वीसहिं आसासएहिं मे सिद्धं ।
एहिम उज्झाकंडं साहिज्जं तं णिसामेह ॥
धुवरायधोव (?) तइय मुअप्पणत्तिणतीसुयाणुपाढेण ।
णामेण सामिअव्वा सयंभुचरिणी महासत्ता ॥
तीए लिहावियमिणं वीसहिं आसासएहिं पडिबद्धं ।
सिरि विजाहरकंडं कंडं पि व कामएवस्स ॥

४२ अउज्झाकंडं समत्तं ।

आइच्चुएवि पडिमोवमाए आइच्चंविआए ।
बीयउ उज्झाकंडं सयंभुचरिणीए लेहवियं ॥

७८ जुज्झकंडं समत्तं ॥ ज्येष्ठ वदि १ सोम ।

- ८३ इय पोमचरिय-सेसे सयंभुएवस्स कहवि उज्जवरिए ।
तिहुयण-सयंभु-रइयं समाणयं सीयदीव-पव्वमिणं ॥
वंदइआसिय-तिहुयणसयंभु-कइ-कहिय-पोमचरियस्स ।
सेसे भुवणपगासे तेयासीमो इमो सग्गो ॥
कइरायस्स विजयसेसियस्स विरयारिओ जसो भुवणे ।
तिहुयणसयंभुणा पोमचरियस्स सेसेण णिस्सेसे ॥

१-२ सांगानेरकी प्रतिमें ये पद्य ‘तिहुवण सयंभुणवरं’ आदि पद्यके पहले दिये हैं ।

- ८४ इय पउमचरियसेसे सयंभुएवस्स कहवि उव्वरिए ।
 तिहुयणसयंभुरइए सपरियण-हलीस-भवकहणं ॥
 इय रामएव-चरिए वंदइआसियसयंभुसुय-रइए ।
 बुहयण-मण-सुह-जणणो चउरासीमो इमो सग्गो ॥
- ८५ वंदइआसिय-महकइ सयंभु-लहु-अंगजाय-विणिबद्धो ।
 सिरिपोमचरियसेसो पंचासीमो इमो सग्गो ॥
- ९० इय पोमचरियसेसे सयंभुएवस्स कहवि उव्वरिए ।
 तिहुयणसयंभुरइए राहवणिव्वाणपव्वामिणं ॥
 वंदइआसिय-तिहुयण-सयंभुपरिविरइयमि महाकव्वे ।
 पोमचरियस्स सेसे संपुण्णो णवइमो सग्गो ॥

रिट्टणेमिचरिउका प्रारंभिक अंश

सिरिपरमागम-णालु सयल-कला-कोमल-दलु ।

करहु विहूसणु कण्णे जायव-कुरुव-कुलुप्पलु ॥

*

*

*

*

चित्तवइ सयंभु काइ करम्मि

गुरु-वयण-तरंडउ लहु णवि

णउ णाइउ बाहत्तरि कलाउ

तहि अवसरि सरसइ धीरवइ

इंदेण समप्पिउ वायरणु

पिंगलेण छंद-पय-पत्थारु

बाणेण समप्पिउ घणघणउ

सिरिहरिसैं णिय णिउणत्तणउ

छंडणिय-दुवइ-धुवएहिं जडिय

जण-णयणाणंद-जणेरियए

पारंभिय पुणु हरिवंस-कहा

वत्ता—पुच्छइ मागहणाहु, भवजरमरण-वियारा

थिय जिण-सासणु केम, कहि हरिवंस भडारा ॥ २ ॥

हरिवंस-महण्णउ कै तरम्मि ।

जम्महो वि ण जोइउ को वि कवि ॥

एक्कु वि ण गंधु परिमोक्कलाउ ।

करि कव्वु दिण्ण मइ विमलमइ ।

रसु भरहैं वासैं वित्थरणु ।

भम्मह-दंडिणिहिं अलंकार ।

तं अक्खर-डंबरु अप्पणउ ।

अवरेहिं मि कइहिं कइत्तणउ ।

चउमुहेण समप्पिय पद्धडिय ।

आसीसए सव्वहु केरियए ।

स-समय-पर-समय-वियार-सहा ।

अन्तिम अंश

इह-भारह-पुराणु सुपसिद्धउ
 वीरजिगंसें भवियहो अक्खिउ
 सोहम्मं पुणु जंबूसामें
 णंदिमित्त-अवरज्जियणाहें
 एम परंपराइं अणुलगाउ
 सुणि संखेवसुत्तु अवहारिउ
 पद्धडिया-छंदें सुमणोहरु
 जसपरिसेसिकविहिं जं सुण्णउ
 तासु पुत्तें पिउ-भरणिन्वाहिउ
 गय तिहुयणसयंभु सुरठाणहो
 तं जसकित्ति-मुणिहि उद्धरियउ
 णिय-गुरु-सिरि-गुणकित्ति-पसाएं
 सरहसेणेदं (?) सेठि-आपसें
 गोवगिरिहे समीवे विसालए
 सावयजणहो पुरउ वम्बवाणिउ
 जं अमुणतें इह मइं साहिउ
 गंदउ सासणु सम्मइणाहहो
 गंदण णरवइ पय-पालंतहो
 कालं वि य णिच्च परिसक्कउ
 भइवमासि विणासिय-भवकलि

णेमिचरिय-हरिवंसाइद्धउ ।
 पच्छइं गोयमसामिण रक्खिउ ।
 विण्हुकुमारें दिग्गयगामें ।
 गोवद्धणेण सुभइहवाहें ।
 आयरियह मुहाउ आवगाउ ।
 विउसें सयंमें महि वित्थारिउ ।
 भवियण-जण-मण-सवण-सुहंकरु ।
 ते तिहुवण-सयंभु किउ पुण्णउ ।
 पिय-जसु णिय-जसु भुवणे पसाहिउ ।
 जं उव्वरिउ किं पि सुणियाणहो ।
 णिएवि सुत्तु हरिवंसच्छरियउ ।
 किउ परिपुण्णु मणहो अणुराएं ।
 कुमार-णयारि आविउ-सविसेसें ।
 पणियारहे जिणवर-चेयालए ।
 दिद्ध मिच्छत्तु मोहु अवमाणिउ ।
 तं सुयदेवि खमउ अवराहउ ।
 गंदउ भवियण कय-उच्छाहहो ।
 गंदउ दयधम्मु वि अरहंतहो ।
 कासु वि धणु कणु दित्तु ण थक्कउ ।
 हुउ परिपुण्णु चउइसि णिम्मलि ।

वत्ता—इय चउविह संघहं, विहुणिय-विग्घहं, णिण्णासिय-भव-जर-मरण ।

जसकित्ति-पयासणु, अखिलय-सासणु, पयडउ संति सयंभु जिणु ॥१७॥

इय रिट्ठणेमिचरिए धवलइयासिय-सयंभुएव-उव्वरिए ।

तिहुवण-सयंभु-इए समाणियं कण्हकित्तिहरिवंसं ॥

१ बम्बईके ये० पन्नालाल सरस्वती-भवनकी प्रतिमें यह एक चरण और आगेके तीन चरण अधिक हैं । इससे सम्बन्ध ठीक बैठ जाता है । ये चारों चरण पूनेकी और प्रो० हीरालालजीकी प्रतिमें नहीं हैं । २ बम्बईकी प्रतिमें यह और आगेकी पंक्ति नहीं है ।

गुरु-पत्न्य-वासमयं सुयणाणाणुकमं जहाजायं ।
सयमिक-दुदह-अहियं संधीओ परिसमत्ताओ ॥ संधि ११२ ॥

इति हरिवंशपुराणं समाप्तं ।

हरिवंशकी सन्धियाँ

- १ इय रिट्ठणेमिचरिए धवलइयासिय-सयंमुएवकए ।
पढमो समुद्विजयाहिसेयणामो इमो सगो ॥
- १२ तेरह जाइवकंडे कुरुकंडेकूणवीससंधीओ,
तहसट्ठि जुज्झयकंडे एवं वाणउदि संधीओ ॥ १ ॥
सोमसुयस्स य वारे तइयादियहम्मि फग्गुणे रिक्खे,
सिउणासेण य जोए समाणियं जुज्झकंडं व ॥ २ ॥
छव्वरिसाहं तिमासा एयारसवासरा सयंमुस्स,
वाणवह-संधिकरणे वोलीणो इत्तिओ कालो ॥ ३ ॥
दियहाहिवस्सवारे दसमीदियहम्मि मूलणक्खत्ते,
एयारसम्मि चंदे उत्तरकंडं समाढत्तं ॥ ४ ॥
वरं तेजस्विनो मृत्युर्न मानपरिखण्डनं ।
मृत्युस्तत्क्षणक दुःखं मानभंगो दिने दिने ॥ ५ ॥
- १९ इय रिट्ठणेमिचरिए धवलइयासिय-सयंमु-कए कविराजधवल-
विनिमित्ते श्री समवसरणकथनं नाम निन्याणवो संधिः ॥
काऊण पोमचरियं सुव्वय-चरियं च गुणगणप्पवियं ।
हरिवंस-मोहहरणे सरस्सई सुढिय-देह व्व ॥ छ ॥
इय रिट्ठणेमिचरिए धवलइयासिय-सयंमुएव-उव्वरिए ।
तिहुवण-सयंमुमहाकइ-समाणिए समवसरणं णाम सउमो सगो ॥
- १०२ इय.....सयंमु-उव्वरिए
तिहुवण-सयंमु-महाकइ-समाणिए कण्ह-महिल-भवगहणमिणं ॥
तिहुवणो जइ वि ण हौतु णंदणो सिरिसयंमुएवस्स ।
कव्वं कुलं कवित्तं तो पच्छा को समुद्धरइ ॥
- १०६ घत्ता—ते घण्णा सउण्णा के वि णरा पालिय-संजुम फेडिय-दुम्मइ ।
इह भवे जसुक्कित्ति पवित्थरिवि हुंति सयंमुवणाहिवइ ॥
इय रिट्ठ.....सयंमुविरइए-णारायणमरण-पव्वमिणं ॥

१ यह पद्य बम्बईकी प्रतिमें यहाँपर नहीं है ।

- १०७ घत्ता—सहंभुयएण विट्त्तु घणु जिम विलसिज्जइ संत ।
 तेम सुहासुह-कम्मडा भुंजिज्जहि णिम्मंत ॥
 इय रिट्ठ..... सयंभुएव-उव्वरिए ।
 तिहुवणसयंभु-इए समाणियं सोयबलभहं ॥
- १०८ पियमायरीहि विराइय मीहिविक्खाइय भूसिय णियजसकित्ति जणि ।
 जिणदिक्खहे कारणे दुक्खणिवारणे देउ सयंभुय घरेवि मणि ॥
 इय रिट्ठ.....सयंभुएवउव्वरिए ।
 तिहुयणसयंभुरइए हलहर-दिक्खासमं कहियं ॥
 जरकुमररज्ज-लंभो, पंडवघरवास-मोहपरिचायं ।
 सय-अट्ठाहिय संधी समाणियं एत्थ वरकइणा ॥
- १०९ इय रिट्ठेमिपुराणसंगहे धवलइयासियकइ-सयंभुएव-उव्वरिए
 तिहुयण-सयंभुरइए समाणियं पंडुसुयहो भवं णवोहिय-सयं संधी ॥
 इह जसकिति-कएणं पव्वसुद्धरण-राय-एक्कमणं ।
 कइरायस्सुव्वरियं पयडत्थं अक्खियं जइणा ॥ ९ ॥
 ते जीवंति य भुवणे सज्जन-गुण-गणहरा य भावत्था ।
 पर-कव्व कुलं वित्तं विहडियं पि जे समुद्धरिहिं ॥ २ ॥
- ११० सव्वु सुयंगु गाणु जिण-अक्खिउ,
 भव्वसहंतरि किं पि ण रक्खिउ ।
 णिय-जसुक्कित्ति तिलोए पयासिउ,
 जिह सयंभु जिणे चिर आहासिउ ॥
 इय रिट्ठेमिचरिए धवलइयासिय-सयंभुएव-उव्वरिए ।
 तिहुवण-सयंभुकइणा समाणियं दहसयं सगं ॥
 एक्को सयंभुविउसो तहो पुत्तो णाम तिहुयण-सयंभू ।
 को वणिणउं समत्थो पिउभरणिव्वहण-एक्कमणो ॥ १ ॥
- १११ घत्ता—तेतीससहसवरिसे असणं गिण्हंति माणसे सुब्बं ।
 तेत्तिय पक्खुत्तासं जसकित्ति-विहूसिय-सरीरे ॥ छ ॥
 इय-रिट्ठेमिचरिए धवलइयासिय-सयंभुएव उव्वरिए ।
 तिहुवण-सयंभुरइए णेमिणिन्वाणं पंडुसुयतिणं ॥

वादिराजसूरि

परिचय और कीर्तन

दिगम्बरसम्प्रदायमें जो बड़े बड़े तार्किक हुए हैं, वादिराजसूरि उन्हींमेंसे एक हैं। वे प्रमेयकमलमार्तण्ड न्यायकुमुदचन्द्रादिके कर्त्ता प्रभाचन्द्राचार्यके समकालीन हैं और उन्हींके समान भट्टकलंकदेवके एक न्याय-ग्रन्थके टीकाकार भी।

तार्किक होकर भी वे उच्चकोटिके कवि थे और इस दृष्टिसे उनकी तुलना सोमदेवसूरिसे की जा सकती है जिनकी बुद्धिरूप गजने जीवन-भर शुष्क तर्करूप घास खाकर काव्यदुग्धसे सहृदयजनोंको तृप्त किया था।

वादिराज द्रमिल या द्राविड संघके थे। इस संघमें भी एक नन्दिसंघ था, जिसकी अरंगल शाखाके ये आचार्य थे। अरंगल किसी स्थान या ग्रामका नाम था, जहाँकी मुनिपरम्परा अरंगलान्वय कहलाती थी।

षट्त्तर्कषण्मुख, स्याद्वादविद्यापति और जगदेकमल्लवादि^१ उनकी उपाधियाँ थीं। एकीभावस्तोत्रके अन्तमें एक श्लोक है जिसका अर्थ है कि सारे शान्दिक (वैयाकरण), तार्किक और भव्यसहायक वादिराजसे पीछे हैं, अर्थात् उनकी बराबरी कोई नहीं कर सकता।^२ एक शिलालेखमें कहा है कि सभामें वे अकलंक-देव (जैन), धर्मकीर्ति (बौद्ध), बृहस्पति (चार्वाक), और गौतम (नैयायिक) के तुल्य हैं और इस तरह वे इन जुदा जुदा धर्मगुरुओंके एकीभूत

१—देखो 'द्रविड संघमें भी नन्दिसंघ।' पृ० ५४।

२ षट्त्तर्कषण्मुख स्याद्वादविद्यापतिगणु जगदेकमल्लवादिगणु एनिसिद् श्रीवादिराजदेवरम् ।

—सि० राहस्यद्वारा सम्पादित नगर ताल्लुकाके इन्क्रिप्शन्स जं० ३६

३ वादिराजमनु शान्दिकलोको वादिराजमनु तार्किकसिंहः ।

वादिराजमनु काव्यकृतस्ते वादिराजमनु भव्यसहायः ।—एकीभावस्तोत्र

प्रतिनिधिसे जान पड़ते हैं ।

मैलिषेण-प्रशस्तिमें उनकी और भी अधिक प्रशंसा की गई है और उन्हें महान् वादी, विजेता और कवि प्रकट किया गया है^३ ।

वे श्रीपालदेवके प्रशिष्य, मतिसागरके शिष्य और रूपसिद्धि (शाकटायन

१ सदसि यदकलङ्कः कीर्तने धर्मकीर्तिर्वचसि सुरपुरोधा न्यायवादेऽक्षपादः ।

इति समयगुरूणामेकतः संगतानां प्रतिनिधिरिव देवो राजते वादिराजः ॥

—३० नं० ३९

२ यह प्रशस्ति श० सं० १०५० (वि० सं० ११८५) की उत्कीर्ण की हुई है ।

३ त्रैलोक्यदीपिका वाणी द्वाभ्यामेवोदगादिह ।

जिनराजत एकस्मादेकस्माद्वादिराजतः ॥ ४०

आरुद्धाम्बरमिन्दुबिम्बरचितौत्सुक्यं सदा यद्यश—

श्छत्रं वाक्चमरीजराजिरुचयोऽभ्यर्णो च यत्कर्णयोः ।

सेव्यः सिंहसमर्च्यपीठविभवः सर्वप्रवादिप्रजा—

दत्तोच्चैर्जयकारसारमहिमा श्रीवादिराजो विदाम् ॥ ४१

यदीय गुणगोचरोऽयं वचनविलासप्रसरः कवीनाम्—

श्रीमच्चौलुक्यचक्रेश्वरजयकटके वाग्वधूजन्मभूमौ,

निष्काण्डं डिण्डिमः पर्यटति पटुरटो वादिराजस्य जिष्णोः ।

जह्युद्यद्वाददपो जहीहि गमकता गर्वभूमा जहाहि,

व्याहारेष्यो जहीहि स्फुट-मृदु-मधुर-श्रव्यकाव्यावलेपः ॥ ४२

पाताले व्यालराजो वसति सुविदितं यस्य जिह्वासहस्रं,

निर्गन्ता स्वर्गतोऽसौ न भवति धिषणो वज्रभृद्यस्य शिष्यः ।

जीवेतान्तावदेतौ निलयबलवशाद्वादिनः केऽत्र नान्ये,

गर्वे निर्मुच्य सर्वे जयिनमिन-समे वादिराजं नमन्ति ॥ ४३

वाग्देवीसुचिरप्रयोगसुदृढप्रेमाणमप्यादरा—

दादत्ते मम पार्श्वतोऽयमधुना श्रीवादिराजो मुनिः ।

भो भो पश्यत पश्यतैष यमिनां किं धर्म इत्युच्चैः—

रत्नक्षण्यपराः पुरातनमुनेर्वाग्वृत्तयः पान्तु वः ॥ ४४

व्याकरणकी टीका) के कर्त्ता दर्यापाल मुनिके सतीर्थ या गुरुमाई थे। वादिराज यह एक तरहकी पदवी या विशेषण है जो अधिक प्रचलित होनेके कारण नाम ही बन गया जान पड़ता है परन्तु वास्तव नाम कुछ और ही होगा, जिस तरह वादीमसिंहका असल नाम अजितसेन था।

समकालीन राजा

चौलुक्यनरेश जयसिंहदेवकी राजसभामें इनका बड़ा सम्मान था और ये प्रख्यात वादी गिने जाते थे। मल्लिखेण-प्रशस्तिके अनुसार जयसिंहद्वारा ये पूजित भी थे—
'सिंहसमर्च्यपीठविभवः।'

जयसिंह (प्रथम) दक्षिणके सोलंकी वंशके प्रसिद्ध महाराजा थे। पृथ्वीवह्मभ महाराजाधिराज, परमेश्वर, चालुक्यचक्रेश्वर, परमभट्टारक, जगदेकमल्ल आदि उनकी उपाधियाँ थीं। इनके राज्यकालके तीसरे ऊपर शिलालेख दानपत्र आदि मिल चुके हैं जिनमें पहला लेख श० सं० ९३८ का है और अन्तिम श० सं० ९६४ का। अतएव कमसे कम ९३८ से ९६४ तक तो उनका राज्य-काल निर्विवाद है। उनके पौष वदी द्वितीया श० सं० ९४५ के एक लेखमें उन्हें भोजरूप कमलके लिए चन्द्र, राजेद्र चोल (परकेशरी वर्मा) रूप हाथीके लिए सिंह, मालवेकी सम्मिलित सेनाको पराजित करनेवाला और चेर-चोल राजाओंको दण्ड देनेवाला लिखा है।

वादिराजने अपना पार्ष्वनाथचरित सिंहचक्रेश्वर या चौलुक्यचक्रवर्ती जयसिंहदेवकी राजधानीमें ही निवास करते हुए श० सं० ९४७ की कार्तिक सुदी ३ को बनाया था। यह जयसिंहका ही राज्य-काल है। यह राजधानी लक्ष्मीका निवास थी और सरस्वतीदेवी (वाग्वधू) की जन्मभूमि थी।

१ हितैषिणां यस्य नृणामुदात्तवाचा निबद्धा हितरूपसिद्धिः।

वन्द्यो दयापालमुनिः स वाचा सिद्धस्ततामूर्द्धनि यः प्रभावैः ॥३८॥ म० प्र०

२ सकलभुवनपालानम्रमूर्द्धाववदस्फुरितमुकुटचूडालीङ्गपादारविन्दाः।

मन्दवदखिलवादीभेन्द्रकुम्भप्रभेदी गणभृदजितसेनो भाति वादीमसिंहः ॥ ५७

—म० प्र०

३ वादिराजकी एक पदवी 'जगदेकमल्ल-वादि' है। क्या आश्चर्य जो उसका अर्थ 'जगदेकमल्ल (जयसिंह) का वादि' ही हो।

यशोधरचरितके तीसरे सर्गके अन्तिम ८५ वें पद्यमें और चौथे सर्गके उपान्त्य पद्यमें कविने चतुराईसे महाराजा जयसिंहका उल्लेख किया है। इससे मालूम होता है कि यशोधरचरितकी रचना भी जयसिंहके समयमें हुई है।

राजधानी

चाळुक्य जयसिंहकी राजधानी कहाँ थी, इसका अभी तक ठीक ठीक पता नहीं लगा है। परन्तु पार्ष्वनाथ-चरितकी प्रशस्तिके छठे श्लोकसे ऐसा मालूम होता है कि वह 'कट्टगेरी' नामक स्थानमें होगी जो इस समय मद्रास सदर मराठा रेलवेकी गदग-होटगी शाखापर एक साधारण-सा गाँव है और जो बदामीसे १२ मील उत्तरकी ओर है। यह पुराना शहर है और इसके चारों ओर अब भी शहर-पनाहके चिह्न मौजूद हैं। उक्त श्लोकका पूर्वार्द्ध मुद्रित प्रतिमें इस प्रकार है—

लक्ष्मीवासे वसति कटक कट्टगातीरभूमौ,

कामावाप्तिप्रमद सुभगे सिंहचक्रेश्वरस्य।

इसमें सिंहचक्रेश्वर अर्थात् जयसिंहदेवकी राजधानी (कटक) का वर्णन है जहाँ रहते हुए ग्रन्थकर्त्ताने पार्ष्वनाथचरितकी रचना की थी। इसमें राजधानीका नाम अवश्य होना चाहिए; परन्तु उक्त पाठसे उसका पता नहीं चलता। सिर्फ इतना मालूम होता है कि वहाँ लक्ष्मीका निवास था, और वह कट्टगानदीके तीरकी भूमिपर थी। हमारा अनुमान है कि शुद्ध पाठ 'कट्टगेरीति भूमौ' होगा, जो उत्तरभारतके अर्द्धदग्ध लेखकोंकी कृपासे 'कट्टगातीरभूमौ' बन गया है। उन्हें क्या पता कि 'कट्टगेरी' जैसा अड़बड़ नाम भी किसी राजधानीका हो सकता है ?

जयसिंहके पुत्र सोमेश्वर या आहवमल्लने 'कल्याण' नामक नगरी बसाई और वहाँ अपनी राजधानी स्थापित की। इसका उल्लेख विह्वणने अपने 'विक्रमांक-देवचरित' में किया है^१। कल्याणका नाम इसके पहलेके किसी भी शिलालेख या ताम्रपत्रमें उपलब्ध नहीं हुआ है, अतएव इसके पहले चौलुक्योंकी राजधानी

१ व्यातन्वज्जयसिंहतां रणमुखे दीर्घे दधौ धारिणीम्।

२ रणमुखजयसिंहो राज्यलक्ष्मीं बभार ॥

३ सर्ग २ श्लोक १।

‘कट्टोरी’ में ही रही होगी। इस स्थानमें चालुक्य विक्रमादित्य (द्वि०) ई० स० १०९८ का कनड़ी शिलालेख भी मिला है जिससे उसका चालुक्य राज्यके अन्तर्गत होना स्पष्ट होता है। कट्टगा नामकी कोई नदी उस तरफ नहीं

मठाधीश

पार्श्वनाथचरितकी प्रशस्तिमें वादिराजसूरिने अपने दादागुरु श्रीपालदेव ‘सिंहपुरैकमुख्य’ लिखा है और न्यायविनिश्चयविवरणकी प्रशस्तिमें आपको भी ‘सिंहपुरेश्वर’ लिखा है। इन दोनों शब्दोंका अर्थ यही मालूम होता है कि वे सिंहपुर नामक स्थानके स्वामी थे, अर्थात् सिंहपुर उन्हें जागीरमें मिला हुआ था और शायद वहींपर उनका मठ था।

श्रवणबेलगोलके ४९३ नम्बरके शिलालेखमें जो श० सं० १०४७ का उक्त किया हुआ है—वादिराजकी ही शिष्यपरम्पराके श्रीपाल त्रैविन्द्रदेवको होयसलने विष्णुवर्द्धन पोयसलदेवने जिनमन्दिरोंके जीर्णोद्धार और ऋषियोंको आहार-दान हेतु शल्य नामक गाँवको दान स्वरूप देनेका वर्णन है और ४९५ नम्बरके शिलालेखमें—जो श० सं० ११२२ के लगभगका उत्कीर्ण किया हुआ है—लिख है कि षड्दर्शनके अध्येता श्रीपालदेवके स्वर्गवास होनेपर उनके शिष्य वादिर (द्वितीय) ने ‘परवादिमल्ल जिनालय’ नामका मन्दिर निर्माण कराया और उसके पूजन तथा मुनियोंके आहार-दानके लिए कुछ भूमिका दान किया।

इन सब बातोंसे साफ समझमें आता है कि वादिराजकी गुरु शिष्यपरम्परा मठाधीशोंकी परम्परा थी, जिसमें दान लिया भी जाता था और दिया भी जाता था। वे स्वयं जैनमन्दिर बनवाते थे, उनका जीर्णोद्धार कराते थे और अन्य मुनियोंके आहार-दानकी भी व्यवस्था करते थे। उनका ‘भव्यसहाय’ विशेषण भी इसी दानरूप सहायताकी ओर संकेत करता है। इसके सिवाय वे राजाओंके दरबारोंमें उपस्थित होते थे और वहाँ वाद-विवाद करके वादियोंपर विजय प्राप्त करते थे।

देवसेनसूरिके दर्शनसारके अनुसार द्राविडसंघके मुनि कच्छ, खेत, वसति (मन्दिर) और वाणिज्य करके जीविका करते थे और शीतल जलसे स्नान

१ इस मुनिपरम्परामें वादिराज और श्रीपालदेव नामके कई आचार्य हो गये हैं। ये वादिराज दूसरे हैं। ये गंगनरेश राचमल्ल चतुर्थ या सत्यवाक्यके गुरु थे।

करते थे। मन्दिर बनानेकी बात तो ऊपर आ चुकी है, रही खेती-बारी, सो जब पट्टागिरी थी तब वह होती ही होगी और आनुषङ्गिक रूपसे वाणिज्य भी। इसी है कि शायद दर्शनसारमें द्राविडसंघको जैनाभास कहा गया है।

कुष्ठरोगकी कथा

चादि राजसूरिके विषयमें एक चमत्कारकारिणी कथा प्रचलित है कि उन्हें नहीं कुष्ठरोग हो गया था। एक बार राजाके दरबारमें इसकी चर्चा हुई तो उनके एक होतानन्य भक्तने अपने गुरुके अपवादके भयसे झूठ ही कह दिया कि “उन्हें कोई मरोग नहीं है।” इसपर बहस छिड़ गई और आखिर राजाने कहा कि “मैं १ त्रयं इसकी जाँच करूँगा।” भक्त घबड़ाया हुआ गुरुजीके पास गया और बोला भी मेरी लाज अब आपके ही हाथ है, मैं तो कह आया।” इसपर गुरुजीने दिलासा प्रदा और कहा, “धर्मके प्रसादसे सब ठीक होगा, चिन्ता मत करो।” इसके बाद उन्होंने एकीभावस्तोत्रकी रचना की और उसके प्रभावसे उनका कुष्ठ दूर हो गया।

एकीभावकी चन्द्रकीर्ति भट्टारककृत संस्कृत टीकामें यह पूरी कथा तो नहीं दी है परन्तु चौथे श्लोककी टीका करते हुए लिखा है कि “मेरे अन्तःकरणमें जब आप प्रतिष्ठित हैं तब मेरा यह कुष्ठरोगाक्रान्त शरीर यदि सुवर्ण हो जाय तो क्या आश्चर्य नही ?” अर्थात् चन्द्रकीर्तिजी उक्त कथासे परिचित थे। परन्तु जहाँ तक हम जानते हैं यह कथा बहुत पुरानी नहीं है और उन लोगोंद्वारा गढ़ी गई है जो ऐसे ताम्बकारोंसे ही आचार्यों और भट्टारकोंकी प्रतिष्ठाका माप किया करते थे। अमावसके दिन पूतोंके चन्द्रमाका उदय कर देना, चवालीस या अड़तालीस बेड़ियोंको तोड़कर कैदमेंसे बाहर निकल आना, साँपके काटे हुए पुत्रका जीवित हो जाना आदि, इस तरहकी और भी अनेक चमत्कारपूर्ण कथायें पिछले भट्टारकोंकी गढ़ी हुई प्रचलित हैं जो असंभव और अप्राकृतिक तो हैं ही, जैनमुनियोंके चरित्रको और उनके वास्तविक महत्त्वको भी नीचे गिराती हैं।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि सच्चे मुनि अपने भक्तके भी मिथ्याभाषणका समर्थन नहीं करते और न अपने रोगको छुपानेकी ही कोशिश करते हैं।

यदि यह घटना सत्य होती तो मल्लिषेणप्रशस्ति (श० सं० १०५०) तथा दूसरे

१ हे जिन, मम स्वान्तोर्हं ममान्तःकरणमन्दिरं त्वं प्रतिष्ठः सन् यत् इदं मदीयं कुष्ठरोगाक्रान्तं वपुः शरीरं सुवर्णी करोषि, तर्हि चित्रं तत्किमाश्चर्यं न किमपि आश्चर्यमित्यर्थः।

शिलालेखोंमें जिनमें बादिराजसूरिकी बेहद प्रशंसा की गई है, इसका उल्लेख अवश्य होता । परन्तु जान पड़ता है तब तक इस कथाका अविर्भाव ही न हुआ था ।

इसके सिवाय एकीभावके जिस चौथे पद्यका आश्रय लेकर यह कथा गढ़ी गई है, उसमें ऐसी कोई बात ही नहीं है जिससे उक्त घटनाकी कल्पना की जाय । उसमें कहा है कि जब स्वर्गलोकसे माताके गर्भमें आनेके पहले ही आपने पृथ्वीमण्डलको सुवर्णमय कर दिया था, तब ध्यानके द्वारा मेरे अन्तरमें प्रवेश करके यदि आप मेरे इस शरीरको सुवर्णमय कर दें तो कोई आश्चर्य नहीं है । यह एक भक्त कविकी सुन्दर और अनूठी उत्प्रेक्षा है, जिसमें वह अपनेको कर्मोंकी मलिनतासे रहित सुवर्ण या उज्ज्वल बनाना चाहता है । आगे ५, ६, ७ वें पद्योंमें भी इसी तरहके भाव हैं : जब आप मेरी चित्तशय्यापर विश्राम करेंगे, तो मेरे क्लेशोंको कैसे सहन करेंगे ? आपकी स्याद्वाद-वापिकामें स्नान करनेसे मेरे दुःख-सन्ताप क्यों न दूर होंगे ? जब आपके चरण रखनेसे तीनों लोक पवित्र हो जाते हैं तब सर्वांग रूपसे आपको स्पर्श करनेवाला मेरा मन क्यों कल्याणभागी न होगा ? आदि ।

सम्राट् हर्षवर्धनके समयके मयूर कविके विषयमें भी जो महाकवि वाणके ससुर और सूर्यशतक नामक स्तोत्रके कर्त्ता हैं एक ऐसी ही कथा प्रसिद्ध है । मम्मटकृत काव्यप्रकाशके टीकाकार जयरामने लिखा है कि मयूर कवि सौश्लोकोसे सूर्यका स्तवन करके कुष्ठ रोगसे मुक्त हो गया । सुधासागर नामके दूसरे टीकाकारने लिखा है कि मयूर कवि यह निश्चय करके कि या तो कुष्ठसे मुक्त हो जाऊँगा या प्राण ही छोड़ दूँगा हँसकर गया और गगान्तटके एक बहुत ऊँचे झाड़की शाखापर सौ रस्सियोंवाले छीकेंमें बैठ गया और सूर्यदेवकी स्तुति करने लगा । एक एक पद्यको कहकर वह छीकेंकी एक एक रस्सी काटता जाता था । इस तरह करते करते सूर्यदेव सन्तुष्ट हुए और उन्होंने उसका शरीर उसी समय निरोग और सुन्दर कर दिया । काव्यप्रकाशके तीसरे टीकाकार जगन्नाथने भी लगभग यही बात

१ “मयूरनामा कविः शतश्लोकेन आदित्यं स्तुत्वा कुष्ठान्निर्लीणः इति प्रसिद्धिः ।

२ पुरा किल मयूरशर्मा कुष्ठी कविः कुशमसहिष्णुः सूर्यप्रसादेन कुष्ठान्निस्तारामि प्राणान्वात्यजामि इति निश्चित्य हरिद्वारं गत्वा गंगातटे अत्युच्चशाखावलम्बी शतरज्जुशिक्यं अधिरूढः सूर्यमस्तौषीत । अकरोच्चैकेकपद्यान्ते एकैकरज्जुविच्छेदं । एवं क्रियमाणे काव्यतुष्टौ रवि सद्य एव निरोगां रमणीयां च तत्तनुं अकार्षीत । प्रसिद्धं तन्मयूरशतकं सूर्यशतकापरपर्यायमिति । ”

कही है'। हमारा अनुमान है कि इसी सूर्यशतक-स्तवनकी कथाके अनुकरणपर वादिराजसूरिके एकीभावस्तोत्रकी कथा गढ़ी गई है।

हिन्दुओंके देवता तो 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ' होते हैं, इस लिए उनके विषयमें इस तरहकी कथायें कुछ अर्थ भी रखती हैं परन्तु जिनभगवान् न तो स्तुतियोंसे प्रसन्न होते हैं और न उनमें यह सामर्थ्य है कि किसीके भयंकर रोगको बातकी बातमें दूर कर दें। अतएव जैनधर्मके विश्वासोंके साथ इस तरहकी कथाओंका कोई सामञ्जस्य नहीं बैठता।

ग्रन्थ-रचना

वादिराजसूरिके अभी तक नीचे लिखे पाँच ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं—

१ **पार्श्वनाथचरित**—यह एक १२ सर्गका महाकाव्य है और माणिकचन्द्र-जैन-ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो चुका है। इसकी बहुत ही सुन्दर सरस और प्रौढ रचना है। 'पार्श्वनाथकाकुत्स्थचरित' नामसे भी इसका उल्लेख किया गया है।

२ **यशोधरचरित**—यह एक चार सर्गका छोटा-सा खण्डकाव्य है जिसमें सब मिलाकर २९६ पद्य हैं। इसे तंजौरके स्व० टी० एस० कुप्पूस्वामी शास्त्रीने बहुत समय पहले प्रकाशित किया था जो अब अनुपलब्ध है। इसकी रचना पार्श्वनाथचरितके बाद हुई थी। क्योंकि इसमें उन्होंने अपनेको पार्श्वनाथचरितका कर्त्ता बतलाया है।

३ **एकीभावस्तोत्र**—यह एक छोटा-सा २५ पद्योंका अतिशय सुन्दर स्तोत्र है और 'एकीभावं गत इव मया' से प्रारंभ होनेके कारण एकीभाव नामसे प्रसिद्ध है।

४ **न्यायविनश्चयविवरण**—यह भट्टाकलंकदेवके 'न्यायविनश्चय' का भाष्य है और जैनन्यायके प्रसिद्ध ग्रन्थोंमें इसकी गणना है। इसकी श्लोकसंख्या २०,००० है। अभी तक यह प्रकाशित नहीं हुआ है।

१ श्रीमन्मयूरभट्टः पूर्वजन्मदुष्टहेतुकगलितकुष्ठजुष्टो ... इत्यादि।

२ श्रीपार्श्वनाथकाकुत्स्थचरितं येन कीर्तितम्।

तेन श्रीवादिराजेन दृढ्वा याशोधरी कथा ॥ ५—यशोधरचरित, पर्व १

पहले मैंने भूअसे 'श्रीपार्श्वनाथकाकुत्स्थचरित' पदसे पार्श्वनाथचरित और काकुत्स्थ-चरित नामके दो ग्रन्थ समझ लिये थे। मेरी इस भूलको मेरे बादके लेखकोंने भी दुहराया है। परन्तु ये दो ग्रन्थ होते तो द्विवचनान्तपद होना चाहिये था, जो नहीं है। 'काकुत्स्थ' पार्श्वनाथके वंशका परिचायक है।

५ प्रमाणनिर्णय—प्रमाणशास्त्रका यह एक छोटा-सा स्वतंत्र ग्रन्थ है जिसमें प्रमाण, प्रत्यक्ष, परोक्ष और आगम नामके चार अध्याय हैं। माणिकचन्द्र-जैन-ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो चुका है।

अध्यात्माष्टक—यह भी एक छोटा-सा आठ पद्योंका ग्रन्थ है और माणिक-चन्द्र-ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो चुका है। पर यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इसके कर्ता ये ही वादिराज हैं।

त्रैलोक्यदीपिका नामका ग्रन्थ भी वादिराजसूरिका होना चाहिए जिसका संकेत ऊपर टिप्पणीमें उद्धृत किये हुए 'त्रैलोक्यदीपिका वाणी' आदि पद्यमें मिलता है। स्व० सेठ माणिकचन्द्रजीने अपने यहाँके ग्रन्थ-संग्रहकी प्रशस्तियोंका जो रजिस्टर बनवाया था उससे मालूम होता है कि उक्त संग्रहमें 'त्रैलोक्यदीपिका' नामका एक अपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें आदिके दस और अन्तके ५८ वें पत्रसे आगेके पत्र नहीं हैं। संभव है, यह वादिराजसूरिकी ही रचना हो। इसे करणानुयोगका ग्रन्थ लिखा है।

पार्श्वनाथचरितकी प्रशस्ति

श्रीजैनसारस्वतपुण्यतीर्थनित्यावगाहामलबुद्धिसत्त्वैः ।

प्रसिद्धभागी मुनिपुंगवेन्द्रैः श्रीनन्दिसंघोऽस्ति निर्वर्हितांहाः ॥ १ ॥

तस्मिन्नभूदुद्यतसंयमश्रील्लैविद्यविद्याधरगीतकीर्तिः ।

सूरिः स्वयं सिंहपुरैकमुख्यः श्रीपालदेवो नयवर्त्मशाली ॥ २ ॥

तस्याभवद्भव्यसरोरुहाणां तमोपहो नित्यमहोदयश्रीः ।

निषेधदुर्मार्गनयप्रभावः शिष्योत्तमः श्रीमतिसागराख्यः ॥ ३ ॥

तत्पादपद्मभ्रमरेण भूम्ना निश्रेयसश्रीरतिलोलुपेन ।

श्रीवादराजेन कथा निबद्धा जैनी स्वबुद्धेयमनिर्दयापि ॥ ४ ॥

शाकाब्दे नगवार्धिरन्ध्रगणने संवत्सरे क्रोधने,

मासे कार्तिकनाम्नि बुद्धिमहिते शुद्धे तृतीयादिने ।

सिंहे पाति जयादिके वसुमतीं जैनी कथेयं मया,

निष्पत्तिं गमिता सती भवतु वः कल्याणनिष्पत्तये ॥ ५ ॥

लक्ष्मीवासे वसतिकटके कट्टगातीरभूमौ

कामावाप्तिप्रमदसुभगे सिंहचक्रेश्वरस्य ।

निष्पन्नोऽयं नवरससुधास्यन्दसिन्धुप्रबंधो

जीयाद्बुद्धैर्जिनपतिभवप्रक्रमैकान्तपुण्यः ॥ ६ ॥

अन्यश्रीजिनदेवजन्मविभवव्यावर्णनाहारिणः
 श्रोता यः प्रसरत्प्रमोदसुभगो व्याख्यानकारी च यः ।
 सोऽयं मुक्तिवधूनिर्गसुभगो जायेत किं चैकशः
 सर्गात्तेऽप्युपयाति वाङ्मयलसल्लक्ष्मीपदश्रीपदम् ॥ ७ ॥
 समाप्तमिदं पार्श्वनाथचरितम् ।

न्यायविनिश्चयविवरणकी प्रशस्ति

श्रीमन्न्यायविनिश्चयस्तनुभृतां चेतोदगुर्वीनलः
 सन्मार्गं प्रतिबोधयन्नपि...निःश्रेयसप्रापणम् ।
 येनायं जगदेकवत्सलधिया लोकोत्तरं निर्मितो
 देवस्तार्किकलोकमस्तकमणिर्भूयात्स वः श्रेयसे ॥ १ ॥
 विद्यानन्दमनन्तवीर्यसुखदं श्रीपूज्यपादं दया-
 पालं सन्मतिसागरं कनकसेनाराध्यमभ्युद्यमी ।
 शुद्धयन्नोतिनरेन्द्रसेनमकलंकं वादिराजं सदा,
 श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्रमतुलं वंदे जिनेन्द्रं मुदा ॥ २ ॥
 भूयो मेदनयावगाहगहनं देवस्य यद्वाङ्मयं
 कस्तद्विस्तरतो विविच्य वदितुं मन्दप्रभुमहिम्नः ।
 स्थूलः कोऽपि न यस्तदुक्तिविषयो व्यक्तीकृतोऽयं मया
 स्थेयाच्चेतसि धीमतां मतिमलप्रक्षालनैकक्षमः ॥ ३ ॥
 व्याख्यानरत्नमालेयं प्रस्फुरन्नयदीधितिः ।
 क्रियतां हृदि विद्वद्भिस्तुदन्ती मानसं तमः ॥ ४ ॥
 श्रीमत्सिंहमहीपतेः परिषदि प्रख्यातवादोन्नति-
 स्तर्कन्यायतमोपहोदयगिरिः सारस्वतः श्रीनिधिः ।
 शिष्यश्रीमतिसागरस्य विदुषां पत्युस्तपः श्रीभृतां
 भर्तुः सिंहपुरेश्वरो विजयते स्याद्वादविद्यापतिः ॥ ५ ॥
 इति स्याद्वादविद्यापतिविरचितायां न्यायविनिश्चयतात्पर्यावद्योतिन्यां
 व्याख्यानरत्नमालायां तृतीयः प्रस्तावः समाप्तः ।
 समाप्तं च शास्त्रमिदं ।

श्रुतसागरसूरि

ये मूल संघ, सरस्वती गच्छ, बलात्कार गणमें हुए हैं और इनके गुरुका नाम विद्यानन्दि था। विद्यानन्दि देवेन्द्रकीर्तिके और देवेन्द्रकीर्ति पद्मनन्दिके शिष्य और उत्तराधिकारी थे। विद्यानन्दिके बाद मल्लिभूषण और उनके बाद लक्ष्मीचन्द्र भट्टारक-पदपर आसीन हुए थे। श्रुतसागर शायद गद्दीपर बैठे ही नहीं, फिर भी वे भारी विद्वान् थे। मल्लिभूषणको उन्होंने अपना गुरु भाई लिखा है।

विद्यानन्दिका भट्टारक-पट्ट गुजरातमें ही किसी स्थानपर था, परन्तु कहाँपर था, इसका उल्लेख नहीं मिला।

श्रुतसागरके भी अनेक शिष्य होंगे जिनमें एक शिष्य श्रीचन्द्र थे जिनकी बनाई हुई वैराग्यमणिमाला उपलब्ध है। आराधनाकथाकोश, नेमिपुराण आदि ग्रन्थोंके कर्त्ता ब्रह्म नेमिदत्तने भी जो मल्लिभूषणके शिष्य थे—श्रुतसागरको गुरुभावे से स्मरण किया है और मल्लिभूषणकी वही गुरुपरम्परा दी है जो श्रुतसागरके ग्रन्थोंमें मिलती है। उन्होंने सिंहनन्दिका भी उल्लेख किया है जो मालवाकी गद्दीके भट्टारक थे और जिनकी प्रार्थनासे श्रुतसागरने यशस्तिलककी टीका लिखी थी।

श्रुतसागरने अपनेको कलिकालसर्वज्ञ, कलिकालगौतम, उभयभाषाकवि-चक्रवर्ती, व्याकरणकमलमार्तण्ड, तार्किकशिरोमणि, परमागमप्रवीण, नवनवति-महामहावादिविजेता, आदि विशेषणोंसे अलंकृत किया है। ये विशेषण उनकी अहम्मन्यताको खूब अच्छी तरह प्रकट करते हैं।

वे कट्टर तो थे ही, असहिष्णु भी बहुत ज्यादा थे। अन्य मतोंका खण्डन और विरोध तो औरोंने भी किया है, परन्तु इन्होंने तो खण्डनके साथ जुरी तरह गालियाँ

१ ये पद्मनन्दि वही माखस होते हैं जिनके विषयमें कहा जाता है कि गिरिनारपर सरस्वती देवीसे उन्होंने कहला दिया था कि दिगम्बर पन्थ ही सच्चा है। इन्हींकी एक शिष्य-शाखामें सकलकीर्ति, सुवनकीर्ति, विजयकीर्ति और शुभचन्द्र भट्टारक हुए हैं।

भी दी हैं। सबसे ज्यादा आक्रमण इन्होंने मूर्तिपूजा न करनेवाले लोंकागच्छ (ढाँड़ियों) पर किया है। जरूरत गैरजरूरत जहाँ भी इनकी इच्छा हुई है, ये उनपर दूट पड़े हैं। इसके लिए उन्होंने प्रसंगकी भी परवा नहीं की। उदाहरणके तौरपर हम उनकी षट्पाहुड़टीकाको पेश कर सकते हैं। षट्पाहुड़ भगवत्कुन्दकुन्दका ग्रन्थ है जो एक परमसहिष्णु, शान्तिप्रिय और आध्यामिक विचारक थे। उनके ग्रन्थोंमें इस तरहके प्रसंग प्रायः है ही नहीं कि उनकी टीकामें दूसरोंपर आक्रमण किये जा सकें। परन्तु जो पहलेसे ही भरा बैठा हो, वह तो कोई न कोई बहाना ढूँढ़ ही लेता है। दर्शन-पाहुड़की मंगलाचरणके बाद-की पहली ही गाथा है—

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेंहिं सिस्साणं ।

तं सोऊण सकण्णे दंसणद्दीणो ण वंदिच्चो ॥

इसका सीधा अर्थ यह है कि जिनदेवने शिष्योंको उपदेश दिया है कि धर्म दर्शनमूलक है, इसलिए जो सम्यग्दर्शनसे रहित है उसकी वंदना नहीं करनी चाहिए। अर्थात् चरित्र तभी वन्दनीय है जब वह सम्यग्दर्शनसे युक्त हो।

इस सर्वथा निरुपद्रव गाथाकी टीकामें कलिकालसर्वज्ञ स्थानकवासियोंपर बुरी तरह बरस पड़ते हैं और कहते हैं, दर्शनहीन कौन हैं ? जो तीर्थंकर प्रतिभा नहीं मानते, उसे पुष्पादिसे नहीं पूजते। जो कहते हैं व्रतोंकी क्या जरूरत है, आत्माका ही पोषण करना चाहिए, उसे दुख न देना चाहिए। मयूरकी पिच्छि सुन्दर नहीं होती, सूतकी सुन्दर होती है, शासनदेवोंको न पूजना चाहिए, आत्मा ही देव है, दूसरा कोई नहीं। वीर भगवानके बाद तीन नहीं आठ केवली हुए हैं, महापुराणादि

१ कोऽसौ दर्शनहीन इति चेत् तीर्थंकरपरमदेवप्रतिमां न मानयन्ति, न पुष्पादिना पूजयन्ति । ... मिथ्यादृष्टयः किल वदन्ति व्रतैः किं प्रयोजनं, आत्मैव पोषणीयः, तस्य दुःखं न दातव्यं । मयूरपिच्छं किल रुचिरं न भवन्ति, सूत्रपिच्छं रुचिरं । ... शासनदेवता न पूजनीयाः आत्मैव देवो वर्तते, अपरः कोपि देवो नास्ति । वीरादनन्तरं किल केवालिनोऽष्ट जाता न तु त्रयः, महापुराणादिकं किल विकथा इत्यादि ये उत्सृजं भवन्ते ते मिथ्यादृष्टयः चार्वाकाः नास्तिकास्ते । यदि जिनसूत्रमुल्लंघ्यते तदाऽऽस्तिकैर्युक्तिवचनेन निषेधनीयाः । तथापि यदि कदाग्रहं न मुञ्चन्ति तदा समर्थैरास्तिकैरुपानद्धिः गृथलिप्तामिमुखे ताडनीयाः तत्र पापं नास्ति ।

विकथा हैं। परन्तु ऐसा कहनेवाले मिथ्यादृष्टि चार्वाक नास्तिक हैं। जब ये जिन-सूत्रका उल्लंघन करें तब आस्तिकोंको चाहिए कि युक्तियुक्त वचनोंसे उनका निषेध करें। फिर भी यदि वे कदाग्रह न छोड़ें तो समर्थ आस्तिक उनके मुँहपर विष्टासे लिपटे हुए जूते मारें, इसमें जरा भी पाप नहीं !

इसके आगे चौथी गाथाकी टीकामें भी कलिकालगौतम विना प्रसंगके ही कहते हैं कि जिन-वचनोंको माननेरूप आराधनासे रहित पापी लोंका पन्थके अनु-यायी नरकादि दुर्गतियोंमें भ्रमण करते हैं और कदापि मोक्ष नहीं पाते।^१ इसी तरह छठी गाथाकी टीकामें भी उन्हें नरकगामी बतलाया है।^२

अधिकतर टीका-ग्रन्थ ही श्रुतसागरजीने रचे हैं, परन्तु उन टीकाओंमें मूलग्रंथ-कर्ताके अभिप्रायोंकी अपेक्षा उन्होंने अपने अभिप्रायोंको ही प्रधानता दी है। दर्शन-पाहुड़की २४ वीं गाथाकी टीकामें उन्होंने जो अपवादवेषकी व्याख्या की है, वह यही बतलाती है। वे कहते हैं कि दिगम्बर मुनि चर्याके समय चटाई आदिसे अपने नग्नत्वको ढँक लेता है।^३ परन्तु यह उनका खुदका ही अभिप्राय है, मूलका नहीं। इसी तरह तत्त्वार्थ-टीका (संयमश्रुतप्रतिसेवनादि सूत्रकी टीका) में जो द्रव्य-लिंगी मुनिको कम्बलादि ग्रहणका विधान किया है,^४ वह भी उन्हींका अभिप्राय है, मूल-ग्रंथकर्ताका नहीं।

ग्रन्थ-रचना

१—यशस्तिलकचन्द्रिका—आचार्य सोमदेवके प्रसिद्ध यशस्तिलक चम्पूकी यह टीका है और निर्णयसागर प्रेसकी काव्यमालामें प्रकाशित हो चुकी है। यह अपूर्ण है। पाँचवें आश्वासके थोड़ेसे अंशकी और छठे आश्वासकी टीका नहीं है। जान पड़ता है, यही उनकी अन्तिम रचना है। इसकी प्रतियाँ अन्य अनेक भंडारोंमें उपलब्ध हैं परन्तु सभी अपूर्ण हैं।

२—तत्त्वार्थवृत्ति—यह श्रुतसागरी टीकाके नामसे अधिक प्रसिद्ध है। इसकी एक प्रति बम्बईके ए० पन्नालाल सरस्वती-भवनमें मौजूद है जो वि० सं०

१ 'आराहणा विरहिया' जिनवचनमाननलक्षणाभाराधनामकुर्वाणा लोंकाः पातकिनः तत्रैव तत्रैव नरकादिष्वेव दुर्गतिषु भ्राम्यन्ति न कदाचिदपि मोक्षं लभन्ते इत्यर्थः।

२ मूलसंघे परमदिगम्बरा मोक्षं प्राप्नुवन्ति लोंकास्तु नरकादौ पतन्ति।

३-४ देखो पृष्ठ ३६३-६४ के टिप्पण।

१८४२ की लिखी हुई है। श्लोक संख्या नौहजार है। यह अभी तक प्रकाशित नहीं हुई। इसकी एक भाषावचनिका भी हो चुकी है।

३—तत्त्वत्रयप्रकाशिका—श्रीशुभचन्द्राचार्यके ज्ञानार्णव या योगप्रदीपके अन्तर्गत जो गद्यभाग है, यह उसीकी टीका है। इसकी एक प्रति स्व० सेठ माणिकचन्द्रजीके ग्रन्थ-संग्रहमें है।

४—जिनसहस्रनाम-टीका—यह पं० आशाधरकृत सहस्रनामकी विस्तृत टीका है। इसकी भी एक प्रति उक्त सेठजीके ग्रन्थसंग्रहमें है। पं० आशाधरने अपने सहस्रनामकी स्वयं भी एक टीका लिखी थी जो उपलब्ध है।

५—औदार्यचिन्तामणि—यह प्राकृत व्याकरण है और हेमचन्द्र तथा त्रिविक्रमके व्याकरणोंसे बड़ा है। इसकी प्रति बम्बईके ए० पन्नालाल सरस्वती-भवनमें है (४६८ क), जिसकी पत्रसंख्या ५६ है। यह स्वोपज्ञवृत्तियुक्त है।

६—महाभिषेक-टीका—पं० आशाधरके नित्यमहोद्योतकी यह टीका है। यह उस समय बनाई गई है जब कि श्रुतसागर देशव्रती या ब्रह्मचारी थे।

७—व्रतकथाकोश—इसमें आकाशपंचमी, मुकुटसप्तमी, चन्दनषष्ठी, अष्टाह्निका आदि व्रतोंकी कथायें हैं। इसकी भी एक प्रति बम्बईके सरस्वतीभवनमें है और यह भी उनकी देशव्रती या ब्रह्मचारी अवस्थाकी रचना है।

८—श्रुतस्कन्धपूजा—यह छोटीसी नौ पत्रोंकी पुस्तक है। इसकी भी एक प्रति यहाँके सरस्वती-भवनमें है।

इनके सिवाय श्रुतसागरके और भी कई ग्रन्थोंके नाम ग्रन्थसूचियोंमें मिलते हैं परन्तु उनके विषयमें जब तक वे देख न लिये जायँ, निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

समय-विचार

इन्होंने अपने किसी भी ग्रन्थमें रचनाका समय नहीं दिया है परन्तु यह प्रायः निश्चित है कि ये विक्रमकी १६ वीं शताब्दिमें हुए हैं। क्योंकि

१—महाभिषेकटीकाकी जिस प्रतिका प्रशस्ति आगे दी गई है वह वि० सं० १५८२ की लिखी हुई है और वह भट्टारक मल्लिभूषणके उत्तराधिकारी रुक्मीचन्द्रके शिष्य ब्रह्मचारी ज्ञानसागरके पढ़नेके लिए दान की गई है और इन रुक्मीचन्द्रका उल्लेख श्रुतसागरने स्वयं अपने टीका-ग्रन्थोंमें कई जगह किया है।

२—ब्र० नेमिदत्तने श्रीपालचरित्रकी रचना वि० सं० १५८५ में की थी और वे मल्लिभूषणके शिष्य थे। आराधना-कथाकोशकी प्रशस्तिमें उन्होंने मल्लिभूषणका गुरु रूपमें उल्लेख किया है और साथ ही श्रुतसागरका भी जयकार किया है, अर्थात् कथाकोशकी रचनाके समय श्रुतसागर मौजूद थे।

३—स्व० बाबा दुलीचन्दजीकी सं० १९५४ में लिखी गई ग्रन्थ-सूचीमें श्रुतसागरका समय वि० सं० १५५० लिखा हुआ है।

४—षट्प्राभृतटीकामें लोंकागच्छपर तीव्र आक्रमण किये गये हैं और कहा जाता है कि यह गच्छ वि० सं० १५३० के लगभग स्थापित हुआ था। अतएव उससे ये कुछ समय पीछे ही हुए होंगे। संभव है, ये लोंकाशाहके समकालीन ही हों।

ग्रन्थ-प्रशस्तियाँ

(१)

श्रीविद्यानन्दिगुरोर्बुद्धिगुरोः पादपंकजभ्रमरः ।

श्रीश्रुतसागर इति देशव्रती तिलकष्टीकतेस्मेदम् ॥

इति ब्रह्मश्रीश्रुतसागरकृता महाभिषेकटीका समाप्ता ।

संवत् १५८२ वर्षे चैत्रमासे शुक्लपक्षे पंचम्यां तिथौ रवौ श्रीआदिजिनचैत्यालये श्रीमूत्रसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारकश्रीपद्मनन्दि-देवास्तत्पट्टे भट्टारक श्रीदेवेन्द्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीविद्यानन्दिदेवास्तत्पट्टे भट्टारक-श्रीमल्लिभूषणदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीलक्ष्मीचन्द्रदेवास्तेषां शिष्यवरब्रह्मश्रीज्ञानसागर-पठनार्य आर्या श्रीविमलश्री चेली भट्टारकश्रीलक्ष्मीचन्द्रदीक्षिता विनयश्रिया स्वयं लिखित्वा प्रदत्तं महाभिषेकभाष्यं । शुभं भवतु । कल्याणं भूयात् । श्रीरस्तु ।

—आशाधरकृतमहाभिषेककी टीका

(२)

इति श्रीपद्मनन्दिदेवेन्द्रकीर्ति-विद्यानन्दि-मल्लिभूषणाम्नायेन भट्टारकश्रीमल्लिभूषण-गुरुपरमामीष्टगुरुभ्रात्रा गुर्जरदेशसिंहासनभट्टारकश्रीलक्ष्मीचन्द्रकाभिमतेन मालवदेश-भट्टारकश्रीसिंहनन्दिप्रार्थनया यतिश्रीसिद्धान्तसागरव्याख्याकृतिनिमित्तं नवनवतिमहा-

१ श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुर्भूयात्सतां शर्मणे ॥ ६९

२ जीयान्मे सूरिवर्यो व्रतनिचयलसत्पुण्यपण्यः श्रुताब्धिः ॥ ७१

३ स्व० सेठ प्राणिकचन्दजी जौहरीके भंडारकी प्रति ।

महावादिस्याद्वादलब्धविजयेन तर्क-व्याकरण-छन्दोलंकार-सिद्धान्तसाहित्यादिशास्त्रनि-
पुणमतिना प्राकृतव्याकरणाद्यनेकशास्त्रचंचुना सूरि श्रीश्रुतसागरेण विरचितायां यश-
स्तिलकचन्द्रिकाभिधानायां यशोधरमहाराजचरितचम्पुमहाकाव्यटीकायां यशोधरमहा-
राजराजलक्ष्मीविनोद-वर्णनं नाम तृतीयाश्वासचन्द्रिका परिसमाप्ता ।

—यशस्तिलकटीका

(३)

श्रीपद्मनन्दिपरमात्मपरः पवित्रो देवेन्द्रकीर्तिरथ साधुजनाभिवन्द्यः ।
विद्यादिनन्दिवरसूरिरनल्पबोधः श्रीमल्लिभूषण इतो स्तु च मंगलं मे ।

अदः पट्टे भट्टादिकमतघटाघट्टनपटुः

घटद्वर्मध्यानः स्फुटपरमभट्टारकपदः ।

प्रभापुंजः संयद्विजितवरवीरस्मरनरः

सुधी लक्ष्मीचन्द्रश्चरणचतुरोऽसौ विजयते ॥ ३

आलंबनं सुविदुषां हृदयाम्बुजानां आनन्दनं मुनिजनस्य विमुक्तिहेतोः ।

सटीकनं विविधशास्त्रविचारचारुचेतश्चमत्कृतिकृतं श्रुतसागरेण ॥ ४

श्रुतसागरकृतिवरवचनामृतपानमत्र यैर्विहितं ।

जन्मजरामरणहरं निरन्तरं तै शिवं लब्धं ॥ ५

अस्ति स्वस्ति समस्तसंघतिलकं श्रीमूलसंघोऽनघं,

वृत्तं यत्र मुमुक्षुवर्गशिवदं संसेवितं साधुभिः ।

विद्यानन्दिगुरुस्त्विहास्ति गुणवद्गच्छे गिरः साम्प्रतं

तच्छिष्यः श्रुतसागरेण रचिता टीका चिरं नन्दतु ॥ ६

इति सूरिश्रीश्रुतसागरविरचितायां जिननामसहस्रटीकायामन्तकृच्छतविवरणो नामः
दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥ श्रीविद्यानन्दिगुरुभ्यो नमः ।

—जिनसहस्रनामटीका

(४)

आचार्यैरिह शुद्धतत्त्वमतिभिः श्रीसिंहन्याह्वयैः

सम्प्रार्थ्य श्रुतसागरं (रां) कृ (कि) तवरं भाष्यं शुभं कारितं ।

गद्यानां गुणवत्प्रियं विनयतो ज्ञानार्णवस्यान्तरे

विद्यानन्दिगुरुप्रसादजनितं देयादमेयं सुखम् ॥

इति श्रीज्ञानार्णवस्थितगद्यटीका तत्त्वत्रयप्रकाशिका समाप्ता ।

—तत्त्वत्रयप्रकाशिका

(५)

इत्युभयभाषाकविचक्रवर्तिव्याकरणकमलमार्तण्डतार्किकशिरोमणि-परमागम-प्रवीण-
सूरि-श्रीदेवेन्द्रकीर्तिप्रशिष्य-मुमुक्षुविद्यानन्दिभट्टारकान्तेवासि श्रीमूलसंघ-परमात्मविदुष
(?) सूरि-श्रीश्रुतसागरविरचिते औदार्यचिन्तामणिनाम्नि स्वोपश्रुतिनि प्राकृत-
व्याकरणे संयुक्ताव्ययो निरूपणो नाम द्वितीयोऽध्यायः ।

—औदार्यचिन्तामणि

(६)

श्रीवर्द्धमानमकलंकसमन्तभद्रश्रीपूज्यपादसदुमापतिपूज्यपादं ।

विद्यादिनन्दिगुणरत्नमुनीन्द्रसेव्यं भक्त्या नमामि परतः श्रुतसागराप्त्यै ॥

इत्यनवद्यगद्यपद्यविद्याविनोदनोदितप्रमोदपीयूषरसपानपावनमतिसमाजरत्नराजम-
तिसागरमतिराजराजितार्थनसमर्थेन तर्क-ध्याकरण-छन्दोऽलंकार-साहित्यादिशास्त्रनि-
श्चितमतिना यतिना श्रीमदेवेन्द्रकीर्तिभट्टारकप्रशिष्येण शिष्येण च सकलविद्वज्जनवि-
हितचरणसेवस्य विद्यानन्दिदेवस्य संछर्दितमिथ्यामतदुर्गरेण श्रुतसागरेण सूरिणा विर-
चितायां श्लोकवार्तिक-सर्वार्थसिद्धि-त्यायकुमुदचन्द्रोदय-प्रमेयकमलमार्तण्ड-राजवार्ति-
कप्रचण्डाष्टसहस्रीप्रभृतिग्रन्थसन्दर्भनिर्भरावलोकन-बुद्धिविराजितायां तत्त्वार्थटीकायां
दशमोऽध्यायः ।

—तत्त्वार्थवृत्ति

(७)

सुदेवेन्द्रकीर्तिश्च विद्यादिनन्दी गरीयान् गुरुर्मेऽर्हदादिप्रवन्दी ।

तयोर्विद्धि मां मूलसंघे कुमारं श्रुतस्कन्धमीडे त्रिलोकैकसारम् ॥

सम्यक्त्वसुरत्नं सद्गतयत्नं सकलजन्तुकरुणाकरणम्

श्रुतसागरमेतं भजत समेतं निखिलजने परितः शरणम् ॥

इतिश्रुतकन्धपूजाविधिः ।

मल्लिषेणसूरि

आचार्य मल्लिषेण वादिराजसूरिके ही समसामयिक हैं। उभयभाषाकविचक्रवर्ती, कविशेखर और गारुडमंत्रवादवेदी आदि उनकी पदवियाँ हैं। सकलागमवेदी, लक्षण(व्याकरण)वेदी और तर्कवेदी भी वे अपनेको लिखते हैं। वे उच्च श्रेणीके कवि थे। कहा गया है कि उनके सामने संस्कृत-प्राकृतका कोई कवि अपनी कविताका अभिमान न कर सकता था। यों तो वे विविध विषयोंके पंडित थे; परन्तु दिगम्बर सम्प्रदायमें उनकी ख्याति मंत्रवादीके रूपमें ही विशेष है।

वे उन अजितसेनाचार्यकी शिष्यपरम्परामें हुए हैं जो गंगनरेश राचमल्ल और उनके मंत्री तथा सेनापति चामुण्डरायके गुरु थे और जिन्हें नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्तीने 'भुवनगुरु' कहा है। अजितसेनके शिष्य कनकसेन, कनकसेनके जिनसेन और जिनसेनके शिष्य मल्लिषेण। जिनसेनके अनुज या सतीर्थ नरेन्द्रसेनका भी मल्लिषेणने गुरुरूपसे स्मरण किया है।

वादिराजसूरिने भी अपने न्यायविनिश्चयविवरणकी प्रशस्तिमें कनकसेन और नरेन्द्रसेनका स्मरण किया है^१। वादिराज चूँकि मल्लिषेणके ही समकालीन हैं, इसलिए उनके द्वारा स्मृत कनकसेन और नरेन्द्रसेन यही जान पड़ते हैं।

वादिराजके समान मल्लिषेण भी मठपति ही होंगे। उनके मंत्र-तंत्रविषयक ग्रन्थोंसे जिनमें स्तंभन, मारण, मोहन, वशीकरण, अंगनाकर्षण, और दूसरे तरह तरहके प्रयोग हैं यही जान पड़ता है कि वे अपने गृहस्थ शिष्योंके कल्याणके लिए मंत्र-तंत्र और रोगोपचारकी प्रवृत्ति भी करते होंगे। कमसे कम परमविरक्त वनवासी मुनि तो वे नहीं थे।

१ भाषाद्वयकवितायां कवयो दर्पे बहन्ति तावदिह।

नालोकयन्ति यावत्कविशेखरमल्लिषेणमुनिम् ॥

—मै० प० क०

२ देखो न्या० वि० प्रशस्तिका दूसरा पद्य जो पहले पृष्ठ, ४०४ में दिया जा चुका है।

वे विक्रमकी ग्यारहवीं सदीके अन्त और बारहवीं सदीके प्रारंभके विद्वान् हैं। अपना महापुराण उन्होंने ज्येष्ठ सुदी ५, श० सं० ९६९ (वि० सं० ११०४) को समाप्त किया था। अपने अन्य किसी ग्रन्थमें उन्होंने रचनाका समय नहीं दिया, इसलिए यह नहीं बतलाया जा सकता कि यह उनका प्रारंभिक ग्रन्थ है या पीछेका और न यही बतलाया जा सकता है कि कबसे कब तक वे इस धरा-धामपर रहे।

मुलगुन्द धारवाड़ जिलेकी गदग तहसीलमें गदगसे १२ मील दक्षिण पश्चिमकी ओर है। यहाँके एक जैनधर्मालय (जैनमन्दिर) में रहते हुए उन्होंने महापुराण रचा था। इस स्थानका उन्होंने तीर्थरूपमें उल्लेख किया है। उस समय यह तीर्थरूपमें प्रसिद्ध था। इस समय भी वहाँ चार जैनमन्दिर हैं। इन मन्दिरोंमें शक संवत् ८२४, ८२५, ९०२, ९७५, १०५३, ११९७, १२७५, और १५९७ के शिलालेख हैं। एक लेखमें आचार्यद्वारा सेनवंशके कनकसेन मुनिको एक खेतके दान देनेका भी उल्लेख है। एक मन्दिरके पीछेकी पहाड़ी चट्टानपर २५ फीट ऊँची जैनमूर्ति उत्कीर्ण की हुई है। संभव है, मल्लिषेणका मठ भी इसी स्थानमें रहा हो।

वे उभयभाषाके अर्थात् संस्कृत प्राकृतके कवि थे; परन्तु अभी तक उनके जितने ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं वे सब संस्कृतके हैं, प्राकृतका एक भी नहीं है। प्राकृतसे यदि उनका अभिप्राय उनके देशकी भाषा कनड़ीसे हो, तो कनड़ीमें भी अभी तक उनका कोई ग्रन्थ नहीं मिला है।

अब तक उनके नीचे लिखे ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं—

१ महापुराण—यह दो हजार श्लोकोंका संस्कृत ग्रन्थ है, जिसमें ६३ शलाका पुरुषोंकी संक्षिप्त कथा है। रचना सुन्दर और प्रसादगुणयुक्त है। कोल्हापुरके लक्ष्मीसेन भट्टारकके मठमें इसकी एक प्रति कनड़ी लिपिमें लिखी हुई है।

२ नागकुमार काव्य—छोटा-सा पाँच सगोंका खण्डकाव्य है जो ५०७ श्लोकोंमें पूर्ण हुआ है। इसके प्रारम्भमें कहा है कि जयदेवादि कवियोंने जो गद्य-

१ देखो, ब्र० श्री शीतलप्रसादजीद्वारा लिखित बम्बई प्रान्तके प्राचीन जैन स्मारक, पृ० १२०। ब्र० जीके ये स्मारक ग्रन्थ इतनी असावधानीसे मुद्रित हुए हैं और इतने अशुद्ध हैं कि उनके सन् संवत्तोंके अंकोंपर और नामोंपर पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता।

पद्यमय कथा लिखी है वह मन्दबुद्धियोंके लिए विषम हैं । मैं मल्लिषेण विद्वज्जनोंके मनको हरण करनेवाली उसी कथाको प्रसिद्ध संस्कृत वाक्योंमें पद्यबद्ध रचता हूँ ।^१ वास्तवमें यह काव्य बहुत सरल और सुन्दर है^२ ।

जयदेव कविका कोई नागकुमार काव्य अभीतक उपलब्ध नहीं हुआ ।

३—भैरव-पद्मावती कल्प—इसमें ४०० अनुष्टुप श्लोक हैं और १ मन्त्रिलक्षण, २ सकलीकरण, ३ देव्यर्चन, ४ द्वादशरंजिकामंत्रोद्धार, ५ क्रोधादि-स्तंभन, ६ अङ्गनाकर्षण, ७ वशीकरणयन्त्र, ८ निमित्त, ९ वशीकरणतंत्र और १० गारुडतंत्र नामके दश अधिकार हैं । मंत्रशास्त्रका यह प्रसिद्ध ग्रन्थ है और बन्धुषेणके संस्कृत-विवरणके सहित प्रकाशित हो चुका है ।^४ बम्बईके सरस्वती-भवनमें इसकी दो हस्तलिखित सटीक प्रतियाँ हैं ।

४ सरस्वती-मंत्र-कल्प—यह भी मंत्र-ग्रन्थ है इसमें ७५ पद्य और कुछ गद्य-विधि दी हुई है । यह भी उक्त भैरवपद्मावती कल्पके साथ प्रकाशित हो चुका है ।

५ ज्वालालिनी कल्प—इस मंत्र-ग्रन्थकी एक प्रति स्व० से० माणिकचन्दजीके

१ कविभिर्जयदेवाद्यैर्गद्यैःपद्यैर्विनिर्मितम् ।

यत्तदेवास्ति चेदत्र विषमं मन्दमेधसाम् ॥

प्रसिद्धैस्संस्कृतैर्वाक्यैर्विद्वज्जनमनोहरम् ।

तन्मया पद्यबन्धेन मल्लिषेणेन रच्यते ॥

२ इसकी एक हस्तलिखित प्रति मेरे पुस्तक-संग्रहमें है, जिसमें प्रशस्ति नहीं है ।

३ बन्धुषेणने अपना कोई परिचय नहीं दिया है परन्तु वे भी कर्नाटक प्रान्तके ही जान पड़ते हैं । ९ वें परिच्छेद के ३५ वें श्लोककी टीकामें वे 'खरकर्णी' शब्दका अर्थ करते हुए लिखते हैं—“गर्दभकर्णी कर्णाटभाषया कार्येगिरी ।”

४ इसे अहमदाबादके श्री साराभाई मणिलाल नवाबने सरस्वतीकल्प और दूसरे अनेक परिशिष्टोंके साथ गुजराती अनुवादसहित प्रकाशित किया है ।

५ 'ज्वालामालिनी कल्प' नामका एक और मंत्रशास्त्र बम्बईके ए० पन्नालाल सरस्वती-भवनमें है जिसके कर्त्ता द्वाविडसंघी इन्द्रनन्दि योगीन्द्र हैं जो वर्पनन्दिके शिष्य और वासवनन्दिके प्रशिष्य थे । वासवनन्दिके गुरुका भी नाम इन्द्रनन्दि था । यह ग्रन्थ श० सं०

ग्रन्थ संग्रहमें है, जिसमें १४ पत्र हैं और जो वि० सं० १५६२ की लिखी हुई है। मल्लिषेण नामके अनेक आचार्य हो गये हैं और ग्रन्थ-सूचियोंमें उनके प्रवचन-सारटीका, पंचास्तिकायटीका, वज्रपंजरविधान, ब्रह्मविद्या, कामचण्डालिनी कल्प, आदि अनेक ग्रन्थोंके नाम मिलते हैं परन्तु उक्त पाँच ग्रन्थोंको छोड़कर अन्य ग्रन्थोंके विषयमें जब तक कि वे सामने उपस्थित न हों यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे इन्हींके हैं अथवा अन्यके। सज्जनचित्तवल्लभ नामका एक छोटा-सा २५ पद्यांका काव्य भी मल्लिषेणका है जो प्रकाशित हो चुका है। उसमें मुनियोंको उपदेश दिया गया है कि तुम अपने चरित्रको निर्मल रखो, ग्रामके समीप मत रहो, स्त्रियोंसे सम्पर्क मत रखो, परिग्रह धनादिकी आकांक्षा मत रखो, भिक्षामें जो कुछ लूखा सूखा मिले उसीसे सन्तोषपूर्वक पेट भर लो और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करके अपने यति नामको सार्थक करो। हमारा खयाल है कि इसके कर्त्ता कोई दूसरे ही मल्लिषेण हैं और वे वनवासी सम्प्रदायके हैं, मठवासी नहीं।

विद्यानुशासन या विद्यानुवाद नामका ग्रन्थ भी मल्लिषेणका बतलाया जाता है परन्तु वास्तवमें वह उनका नहीं है, उनसे पीछेके किसी अन्य आचार्यका है।

८६१ में मान्यखेटमें रचा गया था। अर्थात् यह मल्लिषेणसे लगभग सौ वर्ष पहलेकी रचना है। ग्रन्थकी उत्थानिकामें लिखा है कि दक्षिणके मलयदेशके हेमग्राममें द्राविडसंघके अधिपति हेलाचार्य थे। एक बार उनकी शिष्या कमलश्रीको ब्रह्मराक्षस लग गया। उसकी पीड़ाको देखकर हेलाचार्य नीलगिरिके शिखरपर गये और वहाँ उन्होंने ज्वालामालिनीकी विधिपूर्वक साधना की। सात दिनमें देवीने उपस्थित होकर पूछा कि क्या चाहते हो? मुनिने कहा, मुझे और कुछ नहीं चाहिए, कमलश्रीको ग्रहमुक्त कर दो। देवीने एक लोहेके पत्रपर मंत्र लिख कर दिया और उसकी विधि बतला दी। इससे शिष्या स्वस्थ हो गई। फिर देवीके आदेशसे हेलाचार्यने ज्वालालिनी-मतकी रचना की। उसके बाद परम्परासे यह हेलाचार्यके शिष्य गांगमुनि, नीलग्रीव आदिको प्राप्त हुआ और फिर कंदर्प (?) तथा गुणनन्दि मुनिके पास अध्ययन करके इन्द्रनन्दिने इसकी रचना की।

१ बम्बईके ऐ० पन्नालाल सरस्वती-भवनमें इसकी दो प्रतियाँ हैं: एक सम्पूर्ण है जिसमें २४ अध्याय हैं और दूसरा काव्यसाहित्यतीर्थाचार्य प्राच्यविद्यावारिधि श्रीचन्द्रशेखरशास्त्रीकी साषाटीकाके संहित है, जो अपूर्ण है। अर्थात् उसका केवल ७ अध्याय हैं। जो प्रती सम्पूर्ण

प्रशस्तियाँ

(१)

तीर्थे श्रीमुल्लुन्दनाम्नि नगरे श्रीजैनधर्मालये
 स्थित्वा श्रीकविचक्रवर्तियतिपः श्रीमल्लिषेणाह्वयः ।
 संक्षेपात्प्रथमानुयोगकथनव्याख्यान्वितं शृण्वतां
 भव्यानां दुरितापहं रचितवान्निःशेषविद्याम्बुधिः ॥ १
 वर्षैकत्रिंशताहीने सहस्रे शकभूभुजः ।
 सर्वजिद्वत्सरे ज्येष्ठे सशुक्ले पंचमीदिने ॥ २
 अनादि तत्समाप्तं तु पुराणं दुरितापहम् ।
 जीयादाचन्द्रतारार्कं विदग्धजनचेतसि ॥ ३
 श्रीजिनसेनसूरितनुजेन कुदृष्टिमत्प्रभेदिना
 गारुडमंत्रवादसकलागमलक्षणतर्कवेदिना ।
 तेन महापुराणमुदितं भुवनत्रयवर्तिकातिर्ना ।
 प्राकृतसंस्कृतोभयकवित्वधृता कविचक्रवर्तिना ॥

—महापुराण

(२)

जितकषायरिपुर्गुणवारिधिर्नियतचारुचरित्रतपोनिधिः ।
 जयतु भूपकिरीटविघट्टितक्रमयुगोऽजितसेनमुनीश्वरः ॥ १

है, उसके आदि अन्तमें कहीं ग्रन्थकर्ताका नाम नहीं है और न अन्तमें कोई प्रशस्ति है परन्तु शास्त्रीजीने अपनी भाषाटीकाके प्रत्येक अध्यायकी पुष्पिकामें उसे श्रीसुकुमात्सेनमुनि-विरचित बतलाया है। मालूम नहीं जिस मूल प्रतिसे उन्होंने भाषाटीका लिखी है उसीमें यह नाम दिया है या उन्हें यह अन्य किसी स्रोतसे मालूम हुआ है। मल्लिषेणका तो हय निश्चयसे नहीं है। क्योंकि भाषाटीका (पत्र १६१) में लिखा है 'श्रीमदाशाधरपदामथगणधरा बलयमनुशिष्यते' अर्थात् यह रचना पं० आशाधरके बादकी है। मूलग्रन्थ (पत्र ८५) में लिखा है, 'तथाचोक्तं मट्टहस्तिमल्लेन।' अर्थात् हस्तिमल्लके भी बादकी यह रचना है। इन्द्रनन्दि, पद्मनन्दि, इमडि मट्टोपाध्याय आदिके भी उद्धरण इसमें दिये हैं। स्वयं मल्लिषेणका ज्वालिनीदेवीका स्तोत्र भी (पत्र ७३) संग्रह किया गया है। रावणकृत बालग्रहचिकित्सा भी इसमें संग्रहीत है।

अजनि तस्य मुनेर्वरदीक्षितो विगतमानमदो दुरितान्तकः ।
 कनकसेनमुनिर्मुनिपुंगवो वरचरित्रमहाव्रतपालकः ॥ २
 गतमदोऽजनि तस्य महामुनेः प्रथितवान् जिनसेनमुनीश्वरः ।
 सकलशिष्यवरो हतमन्मथो भवमहोदधितारतरेडकः ॥ ३
 तस्यानुजश्चारुचरित्रवृत्तिः प्रख्यातकीर्तिर्भुवि पुण्यमूर्तिः ।
 नरेन्द्रसेनो जितवादिसेनो विज्ञाततत्त्वो जितकामसूत्रः ॥ ४
 तच्छिष्यो विबुधाग्रणीर्गुणनिधिः श्रीमल्लिषेणाह्वयः
 संजातः सकलागमेषु निपुणो वाग्देवतालंकृतः ।
 तेनैषा कविचक्रिणा विरचिता श्रीपंचमीसत्कथा
 भव्यानां दुरितौघनाशनकरी संसारविच्छेदिनी ॥ ५
 स्पष्टं श्रीकविचक्रवर्तिगणिना भव्याब्जधर्मोशुना
 ग्रन्थी पंचशती मया विरचिता विद्वज्जनानां प्रिया ।
 तां भक्त्या विलखंति चारुवचनैर्व्यावर्णयन्त्यादरात्
 ये शृण्वन्ति मुदा सदा सहृदयास्ते यान्ति मुक्तिश्रियम् ॥ ६

—नागकुमार-काव्य

(३)

सकलनृपमुकुटघट्टितचरणयुगः श्रीमदजितसेनगणी ।
 जयतु दुरितापहारी भव्यौघभवार्णवोत्तारी ॥ ५५
 जिनसमयागमवेदी गुरुतरसंसारकाननोच्छेदी ।
 कर्मेन्धनदहनपटुस्तच्छिष्यः कनकसेनगणिः ॥ ५६
 चारित्रभूषितांगो निःसंगो मथितदुर्जयानंगः ।
 तच्छिष्यो जिनसेनो बभूव भव्याब्जधर्मोशुः ॥ ५७
 तदीयशिष्योऽजनि मल्लिषेणः सरस्वतीदत्तवरप्रसादः ।
 तेनोदितो भैरवदेवतायाः कल्पः समासेन चतुःशतेन ॥ ५८
 यावद्धार्षिमहीधरतारकगणगगनचन्द्रदिनपतयः ।
 तिष्ठतु भुवि तावदयं भैरवपद्मावतीकल्पः ॥ ५९

—भैरवपद्मावतीकल्प

(४)

जगदीशं जिनं देवमभिवन्द्याभिर्शंकरम् ।
 वक्ष्ये सरस्वतीकल्पं समासेनाल्पमेधसाम् ॥ १
 अभयज्ञानमुद्राक्षमालापुस्तकधारिणी ।
 त्रिनेत्रा पातु मां वाणी जटाबालेन्दुमण्डिता ॥ २
 लब्धवाणीप्रसादेन मल्लिषेणेन सूरिणा ।
 रच्यते भारतीकल्पः स्वल्पजाप्यफलप्रदः ॥ ३

* * *

कृतिना मल्लिषेणेन जिनसेनस्य सूनुना ।
 रचितो भारतीकल्पः शिष्टलोकमनोहरः ॥ ७७
 सूर्यचन्द्रमसौ यावन्मेदिनीभूधरणवाः ।
 तावत्सरस्वतीकल्पः स्थेयाच्चेतसि धीमताम् ॥ ७८

—सरस्वतीकल्प

(५)

चन्द्रप्रभं जिनं नत्वा शरच्चन्द्रसमप्रभम् ।
 वक्ष्येहं ज्वालिनीकल्पं संकल्पितसमप्रभम् ॥ १
 श्रीमतोऽजितसेनस्य सूरः कर्मार्तिधूरिणः ।
 शिष्यः कनकसेनोभूद्वणिक् (?) मुनिजनस्तुतः ॥ २
 तदीयशिष्यो जिनसेनसूरिः तस्याग्राशिष्योऽजनि मल्लिषेणः ।
 वाग्देवतालक्षितचारुवक्त्रस्तेनारचि (?) शिखिदेविकल्पः ॥ ३
 कुमतिमतविभेदी जैनतत्त्वार्थवेदी
 हृतदुरितसमूहः क्षीणसंसारमोहः ।
 भवजलधितरण्डो वाग्ववास्त्ररण्डो (?) ।
 विबुधकुमुदचन्द्रो मल्लिषेणो गणीन्द्रः ॥ ४

—ज्वालिनीकल्प

आचार्य जिनसेन और उनका हरिवंश

ग्रन्थ-परिचय

दिगम्बर सम्प्रदायके संस्कृत कथा-साहित्यमें हरिवंशचरित या हरिवंशपुराण प्रसिद्ध और प्राचीन ग्रन्थ है। उपलब्ध कथा-ग्रन्थोंमें समयकी दृष्टिसे यह तीसरा ग्रन्थ है। इसके पहलेका एक पद्मचरित है जिसके कर्त्ता रविषेणाचार्य हैं और दूसरा वरांगचरित है जिसके कर्त्ता जटा-सिंहनन्दि हैं और इन दोनोंका स्पष्ट उल्लेख हरिवंशके प्रथम सर्गमें किया गया है।^१

आचार्य वीरसेनके शिष्य जिनसेनका पार्श्वाम्बुदय काव्य भी हरिवंशके पहले बन चुका था, क्योंकि उसका भी उल्लेख हरिवंशमें किया गया है,^२ इस लिए यदि उसको भी कथा-ग्रन्थ माना जाय, तो फिर हरिवंशको चौथा ग्रन्थ मानना चाहिए।

महासेनकी सुलोचना-कथाका और कुछ अन्य ग्रन्थोंका भी हरिवंशमें जिक्र किया गया है^३ परन्तु वे अभीतक अनुपलब्ध हैं।

हरिवंशका ग्रन्थ-परिमाण बारह हजार श्लोक है और उसमें ६६ सर्ग हैं। अधिकांश सर्ग अनुष्टुप् छन्दोंमें हैं। कुछ सर्गोंमें द्रुतविलम्बित, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित आदि छन्दोंका भी उपयोग किया गया है। बावीसवें तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ और वे जिस वंशमें उत्पन्न हुए थे उस हरिवंशके महापुरुषोंका चरित लिखना ही इसका उद्देश्य है; परन्तु गौण रूपसे जैसा कि छयासठवें सर्ग (श्लोक ३७-३८) में कहा गया है चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नव नारायण, नव बलभद्र और नव प्रतिनारायण, इस तरह त्रैसठ शलाका पुरुषोंका और सैकड़ों अवान्तर राजाओं और विद्याधरोंके चरितोंका कीर्तन भी इसमें किया गया है। इसके सिवाय चौथेसे सातवें सर्गतक ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोकोंका वर्णन तथा अजीवादिक

१ देखो श्लोक नं० ३४-३५। २ देखो श्लोक नं० ४०। ३ देखो श्लोक नं० ३३।

द्रव्योंका स्वरूप भी बतलाया गया है। जगह जगह जैनसिद्धान्तोंका निरूपण तो है ही।

हरिवंशकी रचनाके समय तक भगवज्जिनसेनका आदिपुराण नहीं बना था और गुणभद्रका उत्तरपुराण तो हरिवंशसे ११५ वर्ष बाद निर्मित हुआ है, इसलिए यह ग्रन्थ उनके अनुकरणपर या उनके आधारपर तो लिखा हुआ हो नहीं सकता, परन्तु ऐसा मालूम होता है कि भगवज्जिनसेन और गुणभद्रके समान इनके समक्ष भी कविपरमेश्वर या कविपरमेष्ठीका 'वागर्थसंग्रह' पुराण रहा होगा। भले ही वह संक्षिप्त हो और उसमें इतना विस्तार न हो।

उत्तरपुराणमें हरिवंशकी जो कथा है, वह यद्यपि संक्षिप्त है परन्तु इस ग्रन्थकी कथासे ही मिलती जुलती है, इसलिए संभावना यही है कि इन दोनोंका मूल स्रोत 'वागर्थसंग्रह' होगा।

ग्रन्थकर्त्ता और पुन्नाट संघ

इस ग्रन्थके कर्त्ता जिनसेन पुन्नाट संघके आचार्य थे और वे स्पष्ट ही आदि-पुराणादिके कर्त्ता भगवज्जिनसेनसे भिन्न हैं^१। इनके गुरुका नाम कीर्तिषेण और दादा गुरुका नाम जिनसेन था, जब कि भगवज्जिनसेनके गुरु वीरसेन और दादा गुरु आर्यनन्दि थे।

पुन्नाट कर्नाटकका प्राचीन नाम है। संस्कृत साहित्यमें इसके अनेक उल्लेख मिलते हैं। हरिषेणने अपने कथाकोशमें लिखा है कि भद्रबाहु स्वामीकी आज्ञानुसार उनका सारा संघ चन्द्रगुप्त या विशाखाचार्यके साथ दक्षिणापथके पुन्नाट देशमें गयौ। दक्षिणापथका यह पुन्नाट कर्नाटक ही है। कन्नड़ साहित्यमें भी पुन्नाट राज्यके उल्लेख मिलते हैं। प्रसिद्ध भूगोलवेत्ता टालेमीने इसका 'पोन्नट' नामसे उल्लेख किया है। इस देशके मुनि-संघका नाम पुन्नाट संघ था। संघोंके

१ इसकी चर्चा पहले 'पद्मचरित और पद्मचरिय' शीर्षक लेख (पृ० २८२) में की जा चुकी है।

२ स्व० डा० पाठक, टी० एस० कुप्पूवामी शास्त्री आदि विद्वानोंने पहले समय-साम्यके कारण दोनोंको एक ही समझ लिया था।

३ अनेन सह संघोऽपि समस्तो गुरुवाक्यतः।

दक्षिणापथदेशस्थपुन्नाटविषयं ययौ ॥ ४२-भद्रबाहुकथा

नाम प्रायः देशों और स्थानोंके ही नामसे पड़े हैं। श्रवणबेलगोलके १९४ नं० के शिलालेखमें जो श० सं० ६२२ के लगभगका है एक 'किचूर' नामके संघका उल्लेख है। किचूर या कीर्तिपुर पुन्नाटकी पुरानी राजधानी थी जो इस समय मैसूरके 'होगाडेवन्कोटे' ताल्लुकेमें है। सो यह किचूर संघ या तो पुन्नाट संघका ही नामान्तर होगा और या उसकी एक शाखा।

ग्रन्थकर्त्ताके समय तककी अविच्छिन्न गुरुपरम्परा

हरिवंशके छयासठवें सर्गमें महावीर भगवानसे लेकर लोहाचार्य तककी वही आचार्य-परम्परा दी है, जो श्रुतावतार आदि अन्य ग्रन्थोंमें मिलती है— अर्थात् ६२ वर्षमें तीन केवली (गौतम, सुधर्मा, जम्बू), १०० वर्षमें पाँच श्रुतकेवली (विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन, भद्रबाहु), १८३ वर्षमें ग्यारह दशपूर्वके पाठी (विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय, बुद्धिल्ल, गंगदेव, धर्मसेन), २२० वर्षमें पाँच ग्यारह अंगधारी (नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन, कंस), और फिर ११८ वर्षमें सुभद्र, जयभद्र, यशोबाहु और लोहार्य ये चार आचाराङ्गधारी हुए, अर्थात् वीरनिर्वाणसे ६८३ वर्ष बाद तक ये सब आचार्य हो चुके। उनके बाद नीचे लिखी परम्परा चली—

विनयधर, श्रुतिगुप्त, ऋषिगुप्त, शिवगुप्त (जिन्होंने कि अपने गुणोंसे अर्हद्वल्लिपद प्राप्त किया) मन्दार्य, मित्रवीर, बलदेव, बलमित्र, सिंहबल, वीरवित, पद्मसेन, व्याघ्रहस्ति, नागहस्ति, जितदण्ड, नन्दिषेण, दीपसेन, धरसेन, धर्मसेन, सिंहसेन, नन्दिषेण, ईश्वरसेन, नन्दिषेण, अमयसेन, सिद्धसेन, अमयसेन, भीमसेन, जिनसेन, शान्तिषेण, जयसेन, अमितसेन, (पुन्नाटगणके अगुआ और सौ वर्ष तक जीनेवाले), इनके बड़े गुरु भाई कीर्तिषेण और फिर उनके शिष्य जिनसेन (ग्रन्थकर्त्ता)।

इनमेंसे प्रारम्भके चार तो वही मालूम होते हैं जिन्हें इन्द्रनान्दिने अपने श्रुतावतारमें अंगपूर्वके एक देशको धारण करनेवाले आरातीय मुनि कहा है और जिनके नाम विनयधर, श्रीधर शिवदत्त और अर्हदत्त हैं। विनयधर और विनयधरमें तो कोई फर्क ही नहीं है। शिवदत्त और शिवगुप्त भी एक हो सकते हैं। 'गुप्त'का प्राकृतरूप 'गुप्त' भ्रमवश दत्त हो सकता है। बीचके दो नाम शंकास्पद हैं। 'महातपोभृद्विनयधरः श्रुतामृषिश्रुति गुप्तपदादिकां दधत्' इस चरणका ठीक

अर्थ भी नहीं बैठता, शायद कुछ अशुद्ध है। श्रुतिगुप्त और ऋषिगुप्तकी जगह गुप्तऋषि और गुप्तश्रुति नाम भी शायद हों। यहाँ यह भी खयाल रखना चाहिए कि अक्सर एक ही मुनिके दो नाम भी होते हैं, जैसे कि लोहार्यका दूसरा नाम सुधर्मा भी है।

इसमें शिवगुप्तका ही दूसरा नाम अर्हद्वलि है और ग्रन्थान्तरोंमें शायद इन्हीं अर्हद्वलिको संघोंका प्रारंभकर्त्ता बतलाया है। अर्थात् इनके बाद ही मुनिसंघ जुदा जुदा नामोंसे अभिहित होने लगे थे।

वीर-निर्वाणकी वर्तमान काल-गणनाके अनुसार वि० सं० २१३ तक लोहार्यका अस्तित्व-समय है और उसके बाद आचार्य जिनसेनका समय वि० सं० ८४० है, अर्थात् दोनोंके बीचमें यह जो ६२७ वर्षका अन्तर है, जिनसेनने उसी बीचके उपर्युक्त २९-३० आचार्य बतलाये हैं। यदि प्रत्येक आचार्यका समय इक्कीस बाईस वर्ष गिना जाय तो यह अन्तर लगभग ठीक बैठ जाता है।

वीर-निर्वाणसे लोहार्य तक अष्टाईस आचार्य बतलाये गये हैं और उन सबका संयुक्त काल ६८३ वर्ष, अर्थात् प्रत्येक आचार्यके कालकी औसत २४ वर्षके लगभग पड़ती है, और इस तरह दोनों कालोंकी औसत लगभग समान ही बैठ जाती है।

इस विवरणसे अब हम इस नर्ताजेपर पहुँचते हैं कि वीर-निर्वाणके बादसे विक्रम संवत् ८४० तककी एक अविच्छिन्न—अखंड गुरु-परम्परा इस ग्रन्थमें सुरक्षित है, जो कि अब तक अन्य किसी ग्रन्थमें भी नहीं देखी गई और इस दृष्टिसे यह ग्रन्थ बहुत ही महत्त्वका है। अवश्य ही यह आरातीय मुनियोंके बादकी एक शाखाकी ही परम्परा होगी जो आगे चलकर पुष्पाट संघके रूपमें प्रसिद्ध हुई। अन्य संघोंकी वीर नि० सं० ६८३ के बादकी परम्परायें जान पड़ता है कि नष्ट हो चुकी हैं और अब शायद उनके प्राप्त करनेका कोई उपाय भी नहीं है।

ग्रन्थकी रचना कहाँपर हुई ?

आ० जिनसेनने लिखा है कि उन्होंने हरिवंशपुराणकी रचना वर्द्धमानपुरमें की और इसी तरह आ० हरिषेणने उससे १४८ वर्ष बाद अपने कथाकोशको भी वर्द्धमानपुरमें ही बनाकर समाप्त किया है। जिनसेनने वर्द्धमानपुरको 'कल्याणैः

- १ इस चरणका अर्थ पं० गजाधरलालजी शास्त्रीने "नयंघर ऋषि, गुप्त ऋषि इतना ही किया है और पुराने वचनिकाकार पं० दौलतरामजीने "नयंघर ऋषि, श्रुति ऋषि, गुप्ति" किया है।

परिवर्द्धमान-विपुलश्री' और हरिषेणने 'कार्तस्वरापूर्णजनाधिवास' कहा है। 'कल्याण', और 'कार्तस्वर' ये दोनों शब्द सुवर्ण या सोनेके वाचक भी हैं। सुवर्णके अर्थमें कल्याण शब्द संस्कृत कोशोंमें तो मिलता है पर वाङ्मयमें विशेष व्यवहृत नहीं है। हाँ, भावदेवकृत पार्श्वनाथचरित आदि जैन संस्कृत ग्रन्थोंमें इसका व्यवहार किया गया है। जिनसेनने भी उसी अर्थमें उपयोग किया है। अर्थात् दोनोंके ही कथनानुसार वर्द्धमानपुरके निवासियोंके पास सोनेकी विपुलता थी, वह बहुत धनसम्पन्न नगर था और दोनों ही ग्रन्थकर्त्ता पुन्नाट संघके हैं, इसलिए दोनों ग्रन्थोंकी रचना एक ही स्थानमें हुई है, इसमें सन्देह नहीं रहता।

चूँकि पुन्नाट और कर्नाटक पर्यायवाची हैं, इसलिए हमने पहले अनुमान किया था कि वर्द्धमानपुर कर्नाटक प्रान्तमें ही कहींपर होगा; परन्तु अभी कुछ ही समय पहले जब मेरे मित्र डा० ए० एन० उपाध्येने हरिषेणके कथाकोशकी चर्चाके सिलसिलेमें सुझाया कि वर्द्धमानपुर काठियावाड़का प्रसिद्ध शहर बड़वाण मालूम होता है, और उसके बाद जब हमने हरिवंशमें बतलाई हुई उस समयकी भौगोलिक स्थितिपर विचार किया, तब अच्छी तरह निश्चय हो गया कि बड़वाण ही वर्द्धमानपुर है।

हरिवंशके अन्तिम सर्गके ५२ पद्यमें लिखा है कि शक संवत् ७०५ में, जब कि उत्तर दिशाकी इन्द्रायुध नामक राजा, दक्षिणकी कृष्णका पुत्र श्रीवल्लभ, पूर्व दिशाकी अवन्तिभूप वत्सराज और पश्चिमके सौरोंके अधिमण्डल या सौराष्ट्रकी वीर जयवराह रक्षा करता था, तब इस ग्रन्थकी रचना हुई।

यदि वर्द्धमानपुरको कर्नाटकमें माना जाय, तो उसके पूर्वमें अवन्ति या मालवेकी, दक्षिणमें श्रीवल्लभ (राष्ट्रकूट) की और इसी तरह दूसरे राज्योंकी अवस्थिति ठीक नहीं बैठ सकती। परन्तु जैसा कि आगे बतलाया गया है, काठियावाड़में माननेसे ठीक बैठ जाती है।

इतिहासज्ञोंकी दृष्टिमें यद्यपि हरिवंशका पूर्वोक्त पद्य बहुत ही महत्त्वका रहा है और उस समयके आसपासका इतिहास लिखनेवाले प्रायः सभी लेखकोंने इसका

१ आगे 'हरिषेणका आराधना-कथाकोश' लेखमें बतलाया है कि उस समय विनायक-पाल नामका जो राजा था, वह भी काठियावाड़का ही था।

२ देखो माणिकचन्द्र-जैन-ग्रन्थ-मालाके ३२-३३ वें ग्रन्थ हरिवंशकी भूमिका और जैनहितैषी भाग १४ अंक ७-८ में 'हरिषेणका कथाकोश' शीर्षक लेख।

उपयोग किया है; परन्तु इस बातपर शायद किसीने भी विचार नहीं किया कि आखिर यह वर्द्धमानपुर कहाँ था जिसके चारों तरफके राजाओंकी स्थिति इस पद्यमें बतलाई गई है और इसी लिए इसके अर्थमें सभीने कुछ न कुछ गोलमाल किया है। यह गोलमाल इस लिए भी होता रहा कि अभी तक इन्द्रायुध और वत्सराजके राजवंशोंका सिलसिलेवार इतिहास तैयार नहीं हुआ है और उनका राज्य कब कहाँसे कहाँ तक रहा, यह भी प्रायः अनिश्चित है।

अब हमें देखना चाहिए कि चारों दिशाओंमें उस समय जिन-जिन राजाओंका उल्लेख किया है, वे कौन थे और कहाँके थे।

१ **इन्द्रायुध**—स्व० चिन्तामणि विनायक वैद्यने बतलाया है कि इन्द्रायुध भण्डि कुलका था और उक्त वंशको वर्म वंश भी कहते थे। इसके पुत्र चक्रायुधको परास्त करके प्रतिहारवंशी राजा वत्सराजके पुत्र नागभट दूसरेने जिसका कि राज्य-काल विन्सेंट स्मिथके अनुसार वि० सं० ८५७-८८२ है कन्नौजका साम्राज्य उससे छीना था। बड़वाणके उत्तरमें मारवाड़का प्रदेश पड़ता है। इसका अर्थ यह हुआ कि कन्नौजसे लेकर मारवाड़ तक इन्द्रायुधका राज्य फैला हुआ था।

२ **श्रीवल्लभ**—यह दक्षिणके राष्ट्रकूट वंशके राजा कृष्ण (प्रथम) का पुत्र था। इसका प्रसिद्ध नाम गोविन्द (द्वितीय) था। कावीमें मिले हुए ताम्रपटमें भी इसे गोविन्द न लिखकर वल्लभ ही लिखा है, अतएव इस विषयमें सन्देह नहीं रहा कि यह गोविन्द द्वितीय ही था और वर्द्धमानपुरकी दक्षिण दिशामें उसीका राज्य था। श० सं० ६९२ का अर्थात् हरिवंशकी रचनाके १३ वर्ष पहलेका उसका एक ताम्रपत्र भी मिला है।

३ **वत्सराज**—यह प्रतिहारवंशका राजा था और उस नागावलोक या नागभट दूसरेका पिता था जिसने चक्रायुधको परास्त किया था। हरिवंशके पूर्वोक्त पद्यका गलत अर्थ लगाकर इतिहासज्ञोंने इसे पश्चिम दिशाका राजा बतलाया है और वर्द्धमानपुरकी ठीक अवस्थितिका पता न होनेसे ही उसके पश्चिममें मारवाड़को

१ देखो, सी० वी० वैद्यका ' हिन्दू भारतका उत्कर्ष ' पृ० १७५।

२ म० म० ओझाजीके अनुसार नागभटका समय वि० सं० ८७२ से ८९० है।

३ इण्डियन एण्टिक्वेरी जिल्द ५ पृ० १४६।

४ एफिग्राफिआ इण्डिका जिल्द ६, पृ० २०९

मान लिया है। परन्तु बड़वानसे पश्चिममें मारवाड़ नहीं हो सकता। वास्तवमें उक्त पद्यमें वत्सराजको पूर्व दिशाका और अवन्तिका राजा कहा है और जयवराहको पश्चिम दिशाका राजा बतलाया है जिसकी चर्चा आगे की गई है। इसलिए हरिवंशकी रचनाके समय श० सं० ७०५ में मालवेपर वत्सराजका ही अधिकार होना चाहिए।

वत्सराजने गौड़ और बंगालके राजाओंको जीता था और उनसे दो श्वेत छत्र छीन लिये थे। आगे इन्हीं छत्रोंको राष्ट्रकूट गोविन्द (द्वि०) के छोटे भाई ध्रुवराजने चढ़ाई करके उससे छीन लिया था और उसे मारवाड़की अगम्य रेतीली भूमिकी तरफ भागनेको मजबूर किया था। ओझाजीने लिखा है कि उक्त वत्सराजने मालवेके राजापर चढ़ाई की थी और मालव-राजको बचानेके लिए ध्रुवराज उसपर चढ़ दौड़ा था। यह सही हो सकता है, परन्तु हमारी समझमें यह घटना श० सं० ७०५ के बादकी होगी, ७०५ में तो मालवा वत्सराजके ही अधिकारमें था। क्योंकि ध्रुवराजका राज्यारोहण-काल श० सं० ७०७ के लगभग अनुमान किया गया है, उसके पहले ७०५ में तो गोविन्द द्वि० ही राजा था और इसलिए उसके बाद ही ध्रुवराजकी उक्त चढ़ाई हुई होगी।

श्वेताम्बराचार्य उद्योतनसूरिने अपनी 'कुवलयमाला' नामक प्राकृत कथा जावालिपुर या जालोर (मारवाड़) में जब श० सं० ७०० के समाप्त होनेमें एक दिन बाकी था तब समाप्त की थी और उस समय वत्सराजका राज्य था। अर्थात् हरिवंशकी रचनाके समय (श० ७०५ में) तो (उत्तरमें) मारवाड़ इन्द्रायुधके अधिकारमें था और (पूर्वमें) मालवा वत्सराजके अधिकारमें। परन्तु इसके पाँच वर्ष पहले (श० ७०० में), कुवलय-मालाकी रचनाके समय, मारवाड़का अधिकारी भी वत्सराज था। इससे अनुमान होता है कि पहले मारवाड़ और मालवा दोनों ही इन्द्रायुधके अधिकारमें थे और वत्सराजने दोनों ही प्रान्त उससे जीते थे। पहले, शक सं० ७०० से पहले,

१ सगकाले वोलीणे वरिसाणसएहिं सत्तहिं गएहिं ।

एक दिणेणूणेहिं रहआ अवरहूबेलाए ॥

२ परमडभिउडिंमंगो पणईयणरोहिणीकलाचंदो ।

सिरिवच्छरायणामो णरहत्थी पत्थिवो जइआ ॥

—जैनसाहित्यसंशोधक खण्ड ३, अङ्क २

मारवाड़ और फिर श० ७०५ से पहले मालवा । इसके बाद ७०७ में ध्रुवराजने मालव-राजकी सहायताके लिए चढ़ाई करके वत्सराजको मारवाड़की अर्थात् जालोरकी ओर खदेड़ दिया होगा और मालवेका पुराना राजा यह इन्द्रायुध ही होगा जिसकी सहायता ध्रुवराजने की थी ।

यह निश्चित है कि कन्नौजका साम्राज्य जो बहुत विस्तृत था और जिसमें मारवाड़ और मालवा भी शामिल था इसी वत्सराजके पुत्र नागभटने इसी इन्द्रायुधके पुत्र चक्रायुधसे छीना था और इस प्रवृत्तिका प्रारंभ वत्सराजके समयसे ही हो गया था । पहले ध्रुवराजने इसमें बाधा डाली परन्तु पीछे उक्त साम्राज्य प्रतीहारोंके ही हाथमें चला गया ।

इन सब बातोंसे हरिवंशकी रचनाके समय उत्तरमें इन्द्रायुध और पूर्वमें वत्सराजका राज्य होना ठीक मालूम होता है ।

४ वीर जयवराह—यह पश्चिममें सौरोंके अधिमण्डलका राजा था । सौरोंके अधिमण्डलका अर्थ हम सौराष्ट्र ही समझते हैं जो काठियावाड़का प्राचीन नाम है । सौर लोगोंका राष्ट्र सो सौर-राष्ट्र या सौराष्ट्र । सौराष्ट्रसे बड़वाण और उससे पश्चिमकी ओरके प्रदेशका ही ग्रन्थकर्त्ताका अभिप्राय जान पड़ता है । यह राजा किस वंशका था, इसका ठीक ठीक पता नहीं चलता । हमारा अनुमान है कि बहुत करके यह चालुक्य वंशका ही कोई राजा होगा और 'वराह' उसको उसी तरह कहा गया होगा जिस तरह कीर्तिवर्मा (द्वि०) को 'महा वराह' कहा है । बड़ोदामें गुजरातके राष्ट्रकूट राजा कर्कराजका श० सं० ७३४ का एक ताम्रपत्र मिला है जिसमें राष्ट्रकूट कृष्णके विषयमें कहा है कि उसने कीर्तिवर्मा महा वराहको हरिण बना दिया । चौलुक्योंके दानपत्रोंमें उनका राजचिह्न वराह मिलता है, इसीलिए कविने कीर्तिवर्माको महा-वराह कहा है । धराश्रय भी वराहका पर्यायवाची है । इसलिए और भी कई चौलुक्य राजाओंके नामके साथ यह धराश्रय पद विशेषणके रूपमें जुड़ा हुआ मिलता है । जैसे गुजरातके चौलुक्योंकी दूसरी शाखाके स्थापनकर्त्ता जयसिंह धराश्रय, तीसरी शाखाके मूल

१ इण्डियन एण्टिक्वेरी भाग १२, पृ० १५९ ।

२ यो युद्धकण्डूतिगृहीतमुच्चैः शौर्योष्मसंदीपितमापतन्तम् ।

महावराहं हरिणीचकार प्राज्यप्रभावः खलु राजसिंहः ॥

गुरुष जयसिंह धराभय (द्वि०), और उनके पुत्र शिलादित्य धराभय ।

राष्ट्रकूटोंसे पहले चौलुक्य सार्वभौम राजा थे और काठियावाड़पर भी उनका अधिकार था । उनसे यह सार्वभौमत्व श० सं० ६७५ के लगभग राष्ट्रकूटोंने छीना था, इसलिए बहुत संभव यही है कि हरिवंशके रचनाकालमें काठियावाड़पर चौलुक्य वंशकी ही किसी शाखाका अधिकार हो और उसीको जयवराह लिखा हो । पूरा नाम शायद जयसिंह हो और वराह विशेषण । राटोड़ोंका वह सामन्त भी हो सकता है और स्वतंत्र भी ।

प्रतीहार राजा महीपालके समयका एक दान-पत्र हड्डाला गाँव (काठियावाड़) से श० सं० ८३६ का मिला है । उससे मालूम होता है कि उस समय बड़वाणमें धरणीवराहका अधिकार था जो चावड़ावंशका था और प्रतिहारोंका सामन्त था । इससे एक संभावना यह भी है कि उक्त धरणीवराहका ही कोई ४-६ पीढ़ी पहलेका पूर्वज ही उक्त जयवराह हो ।

बड़वाणमें ही पुन्नाट संघका एक और ग्रन्थ

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है पूर्वोक्त वर्द्धमानपुर या बड़वाणमें ही हरिषेण नामके एक और आचार्य हुए हैं जिन्होंने श० सं० ८५३ (वि० सं० ९८९) में अर्थात् हरिवंशकी रचनाके १४८ वर्ष बाद ' कथाकोश ' नामक ग्रन्थकी रचना की और ये भी उसी पुन्नाट संघके थे जिसमें कि जिनसेन हुए हैं । हरिषेणने अपने गुरु भरतसेन, उनके गुरु श्रीहरिषेण और उनके गुरु मौनि भट्टारक तकका उल्लेख किया है । यदि एक एक गुरुका समय पचीस तीस तीस वर्ष गिन लिया जाय, तो अनुमानसे हरिवंशकर्त्ता जिनसेन मौनि भट्टारकके गुरुके गुरु हो सकते हैं या एकाध पीढ़ी और पहलेके । यदि जिनसेन और मौनि भट्टारकके बीचके एक दो आचार्योंका नाम और कहींसे मालूम हो जाय तो फिर इन ग्रन्थोंसे वीर-निर्वाणसे श० सं० ८५३ तककी अर्थात् १४५८ वर्षकी एक अविच्छिन्न गुरुपरम्परा तैयार हो सकती है ।

आ० जिनसेन अपने गुरु कीर्तिषेणके भाई अमितसेनको जो सौ वर्षतक जीवित रहे थे खास तौरसे ' पवित्रपुन्नाटगणाग्रणी ' कहा है, जो यह ध्वनित करता है कि शायद पहले पहल वे ही काठियावाड़में अपने संघको लाये थे ।

१ देखो महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश जिल्द १३, पृ० ७३-७४

२ देखो इण्डियन एण्टिकवेरी जि० १२, पृ० १९३-९४

पुन्नाट संघ काठियावाड़में

यों तो मुनिजन दूर दूर तक सर्वत्र ही विहार करते रहते हैं परन्तु पुन्नाट संघका सुदूर कर्नाटकसे चलकर काठियावाड़में पहुँचना और वहाँ लगभग दो सौ वर्षतक रहना एक असाधारण घटना है। इसका सम्बन्ध दक्षिणके चोलुक्य और राष्ट्रकूट राजाओंसे ही जान पड़ता है जिनका शासन काठियावाड़ और गुजरातमें बहुत समय तक रहा है और जिन राजवंशोंकी जैनधर्मपर विशेष कृपा रही है। अनेक चालुक्य और राष्ट्रकूट राजाओं तथा उनके माण्डलिकोंने जैनमुनियोंको दान दिये हैं और उनका आदर किया है। उनके बहुतसे, अमात्य, मंत्री, सेनापति आदि तो जैनधर्मके उपासक तक रहे हैं। ऐसी दशामें यह स्वाभाविक है कि पुन्नाटसंघके कुछ मुनि उन लोगोंकी प्रार्थना या आग्रहसे सुदूर काठियावाड़में भी पहुँच गये हों और वहीं स्थायी रूपसे रहने लगे हों। हरिषेणके बाद और कब तक काठियावाड़में पुन्नाट संघ रहा, इसका अभी तक कोई पता नहीं चला है।

जिनसेनने अपने ग्रन्थकी रचनाका समय शक संवत्में दिया है और हरिषेणने शक संवत्के सिवाय विक्रम संवत् भी साथ ही दे दिया है। पाठक जानते हैं कि उत्तरभारत, गुजरात, मालवा आदिमें विक्रम संवत्का और दक्षिणमें शक संवत्का चलन रहा है। जिनसेनको दक्षिणसे आये हुए एक दो पीढ़ियाँ ही बीती थीं इसलिए उन्होंने अपने ग्रन्थमें पूर्व संस्कारवश श० सं० का ही उपयोग किया, परन्तु हरिषेणको काठियावाड़में कई पीढ़ियाँ बीत गई थीं, इसलिए उन्होंने वहाँकी पद्धतिके अनुसार साथमें वि० सं० देना भी उचित समझा।

नन्नराज-वसति

वर्द्धमानपुरकी नन्नराज-वसतिमें अर्थात् नन्नराजके बनवाये हुए या उसके नामसे उसके किसी वंशधरके बनवाये हुए जैनमन्दिरमें हरिवंशपुराण लिखा गया था। यह नन्नराज नाम भी कर्नाटकवालोंके सम्बन्धका आभास देता है और ये राष्ट्रकूट वंशके ही कोई राजपुरुष जान पड़ते हैं। इस नामको धारण करनेवाले

कुछ राष्ट्रकूट राजा हुए भी हैं।^१ राष्ट्रकूट राजाओंके घरू नाम कुछ और ही हुआ करते थे, जैसे कन्न, कन्नर, अण्ण, बदिग आदि। यह नन्न नाम भी ऐसा ही जान पड़ता है।

पुनाटसंघका इन दो ग्रन्थोंके सिवाय अभीतक और कहीं भी कोई उल्लेख नहीं मिला है; यहाँतक कि जिस कर्नाटक प्रान्तका यह संघ था वहाँके किसी शिलालेख आदिमें भी नहीं और यह एक आश्चर्यकी बात है। ऐसा जान पड़ता है कि पुनाट (कर्नाटक) से बाहर जानेपर ही यह संघ पुनाटसंघ कहलाया होगा जिस तरह कि आजकल जब कोई एक स्थानको छोड़कर दूसरे स्थानमें जा रहता है, तब वह अपने पूर्वस्थानवाला कहलाने लगता है। आचार्य जिनसेनने हरिवंशके सिवाय और किसी ग्रन्थकी रचनाकी या नहीं, इसका कोई पता नहीं।

आचार्य जिनसेनने अपने समीपवर्ती गिरिनारकी सिंहवाहिनी या अम्बादेवीका उल्लेख किया है और उसे विघ्नोका नाश करनेवाली शासनदेवी बतलाया है^२। अर्थात् उस समय भी गिरिनारपर अम्बादेवीका मन्दिर रहा होगा।

दोस्तटिका नामक स्थानका कोई पता नहीं लग सका जहाँकी प्रजाने शान्तिनाथके मन्दिरमें हरिवंशपुराणकी पूजा की थी। बहुत करके यह स्थान बड़वाणके पास ही कहीं होगा।

उस समय मुनि प्रायः जैनमन्दिरोंमें ही रहते होंगे। आचार्य जिनसेनने अपना यह ग्रन्थ पार्श्वनाथके मन्दिरमें रहते हुए ही निर्माण किया था।

पूर्ववर्ती आचार्योंका उल्लेख

जिनसेनने अपने पूर्वके नीचे लिखे ग्रन्थकर्त्ताओं और विद्वानोंका उल्लेख किया है—

समन्तभद्र—जीवसिद्धि और युक्त्यनुशासनके कर्त्ता।

सिद्धसेन—सूक्तियोंके कर्त्ता। इन सूक्तियोंसे सिद्धसेनकी द्वात्रिंशतिकाओंका अभिप्राय जान पड़ता है।

१ मुलताई (वैतूल सी०पी०) में राष्ट्रकूटोंकी जो दो प्रशस्तियाँ मिली हैं उनमें दुर्गराज, गोविन्दराज, स्वामिकराज और नन्नराज नामके चार राष्ट्रकूट राजाओंके नाम दिये हैं। सौन्दर्यिके राष्ट्रकूटोंकी दूसरी शाखाके भी एक राजाका नाम नन्न था। बुद्ध गयासे राष्ट्रकूटोंका एक लेख मिला है उसमें भी पहले राजाका नाम नन्न है।

२ ग्रहीतचक्राऽप्रतिचक्रदेवता तथोर्जयन्तालयरसिंहवाहिनी।

शिवाय यस्मिन्निह सन्निधीयते क तत्र विघ्नाः प्रभवन्ति शासने ॥ ४४

देवनन्दि—ऐन्द्र, चान्द्र, जैनेन्द्र, व्याडि आदि व्याकरणोंके पारगामी ।

वज्रसूरि—देवनन्दि या पूज्यपादके शिष्य वज्रनन्दि ही शायद वज्रसूरि हैं जिन्होंने देवसेनसूरिके कथनानुसार द्वाविड़ संघकी स्थापना की थी । इनके विचारोंको गणधर देवोंके समान प्रमाणभूत बतलाया है और उनके किसी ऐसे ग्रन्थकी ओर संकेत किया गया है जिसमें बन्ध और मोक्षका सहेतुक विवेचन है ।

महासेन—सुलोचना कथाके कर्त्ता ।

रविषेण—पद्मपुराणके कर्त्ता ।

जटा-सिंहनन्दि—वरांगचरितके कर्त्ता ।

शान्त—पूरा नाम शांतिषेण होगा । इनकी उत्प्रेक्षा अलंकारसे युक्त वक्रोक्तियोंकी प्रशंसा की गई है । इनका कोई काव्य-ग्रन्थ होगा ।

विशेषवादी—इनके किसी ऐसे ग्रन्थकी ओर संकेत है जो गद्यपद्यमय है और जिनकी उक्तियोंमें बहुत विशेषता है । वादिराजसूरिने भी अपने पार्श्वनाथ-चरितमें इनका स्मरण किया है और कहा है कि उनकी रचनाको सुनकर अनायास ही पांडितजन विशेषाभ्युदयको प्राप्त कर लेते हैं ।

कुमारसेन गुरु—चन्द्रोदयके कर्त्ता प्रमाचन्द्रके कारण जिनका यश उज्ज्वल हुआ । प्रमाचन्द्रके गुरु ।

वीरसेन गुरु—कवियोंके चक्रवर्ती ।

जिनसेनस्वामी—उस पादार्वाभ्युदयके कर्त्ता जिसमें पार्श्वजिनेन्द्रके गुणोंकी स्तुति है ।

आगे हम हरिवंशके प्रारम्भके और अन्तके वे अंश देते हैं जिनका इस लेखमें उपयोग किया गया है—

जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनं ।

वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते ॥ २९ ॥

जगत्प्रसिद्धबोधस्य वृषभस्येव निस्तुषाः ।

बोधयन्ति सतां बुद्धिं सिद्धसेनस्य सूक्तयः ॥ ३० ॥

१ विशेषवादिगीर्गुम्फश्रवणाबद्धबुद्धयः ।

अक्लेशादधिगच्छन्ति विशेषाभ्युदयं बुधाः ॥ २९

२ आदिपुराणके कर्त्ता जिनसेनने भी इन प्रमाचन्द्रका स्मरण किया है—
चन्द्राशुशुभ्रयशसं प्रमाचन्द्रकविं स्तुवे । कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाह्लादितं जगत् ॥

इंद्रचंद्रार्कजैनेन्द्रव्याडिव्याकरणेक्षिणः ।
 देवस्य देववन्द्यस्य न वन्द्यते गिरः कथं ॥ ३१ ॥
 वज्रसूरेर्विचारिण्यः सहेत्वोर्बन्धमोक्षयोः ।
 प्रमाणं धर्मशास्त्राणां प्रवक्तृणामिवोक्तयः ॥ ३२ ॥
 महासेनस्य मधुरा शीलालंकारधारिणी ।
 कथा न वर्णिता केन वनितेव सुलोचना ॥ ३३ ॥
 कृतपद्मोदयोद्योता प्रत्यहं परिवर्तिता ।
 मूर्तिः काव्यमयी लोके खेखि खेः प्रिया ॥ ३४ ॥
 वराङ्गनेव सर्वाङ्गैर्वराङ्गचरितार्थवाक् ।
 कस्य नोत्पादयेद्वाढमनुरागं स्वगोचरं ॥ ३५ ॥
 शान्तस्यापि च वक्रोक्ती रम्योत्प्रेक्षाबलान्मनः ।
 कस्य नोद्धाटितेऽन्वये रमणीयेऽनुरंजयेत् ॥ ३६ ॥
 योऽशेषोक्तिविशेषेषु विशेषः पद्यगद्ययोः ।
 विशेषवादिता तस्य विशेषत्रयवादिनः ॥ ३७ ॥
 आकूपारं यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वलम् ।
 गुरोः कुमारसेनस्य विचरत्यजितात्मकम् ॥ ३८ ॥
 जितात्मपरलोकस्य कवीनां चक्रवर्तिनः ।
 वीरसेनगुरोः कीर्तिरकलंकावभासते ॥ ३९ ॥

यामिताभ्युदये पार्श्वजिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः ।

स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्तिः संकीर्तयत्यसौ ॥ ४० ॥

—प्रथम सर्ग

* * *

त्रयः क्रमाकेवलिनो जिनात्पेर द्विषाष्टिवर्षान्तरभाविनोऽभवन् ।
 ततः परे पंच समस्तपूर्विणस्तपोधना वर्षशतान्तरे गताः ॥ २२ ॥
 त्र्यशीतिके वर्षशतेऽनुरूपयुगदशैव गीता दशपूर्विणः शते ।
 द्वये च विशेषेऽङ्गभूतोऽपि पंच शते च साष्टादशके चतुर्गुणिः ॥ २३ ॥
 गुरुः सुभद्रो जयभद्रनामा परो यशोबाहुरनन्तरस्ततः
 महाहंलोहार्यगुरुश्च ये दधुः प्रसिद्धमाचारमहाङ्गमत्र ते ॥ २४ ॥
 महातपोभूद्विनयधरः श्रुतामृषिश्रुतिं गुप्तिपदादिकां दधन् ।
 मुनीश्वरोऽन्यः शिवगुप्तिसंज्ञको गुणैः स्वमहद्वलिरप्यघातपदम् ॥ २५ ॥
 समंदरायोऽपि च मित्रवीरविं (?) गुरु तथान्यौ बलदेवमित्रकौ ।
 विवर्धमानाय त्रिरत्नसंयुतः श्रियान्वितः सिंहबलश्च वीरवित् ॥ २६ ॥

स पद्मसेनो गुणपद्मखंडभृद्गुणाग्रणीव्याघ्रपदादिहस्तकः ।
 स नागहस्ती जितदंडनामभृत्स नंदिवेणः प्रभुदीपसेनकः ॥ २७ ॥
 तपोधनः श्रीधरसेननामकः सुधर्मसेनोऽपि च सिंहसेनकः ।
 सुनन्दिषेणेश्वरसेनकौ प्रभू सुनन्दिषेणाभयसेननामकौ ॥ २८ ॥
 स सिद्धसेनोऽभयभीमसेनकौ गुरु परौ तौ जिनशान्तिषेणकौ ।
 अखंडषट्खंडमखंडितस्थितिः समस्तसिद्धान्तमधत्त योऽर्थतः ॥ २९ ॥
 दधार कर्मप्रकृतिं च श्रुतिं च यो जिताक्षवृत्तिर्जयसेनसद्गुरुः ।
 प्रसिद्धवैयाकरणप्रभाववानशेषराद्धान्तसमुद्रपारगः ॥ ३० ॥
 तदीयशिष्योऽमितसेनसद्गुरुः पवित्रपुत्राटगणाग्रणीर्गणी ।
 जिनेन्द्रसच्छासनवत्सलात्मना तपोभृतावर्षशताधिजीविना ॥ ३१ ॥
 सुशास्त्रदानेन वदान्यतामुना वदान्यमुख्येन भुवि प्रकाशिता ।
 यदग्रजो धर्मसहोदरः शमी समग्रधीर्धर्म इवात्तविग्रहः ॥ ३२ ॥
 तपोमयी कीर्तिमशेषदिक्षु यः क्षिपन्बभौ कीर्तितकीर्तिषेणकः ।
 तदग्रशिष्येण शिवाग्रसौख्यभारादिष्टनेमीश्वरभक्तिभूरिणा
 स्वशक्तिभाजा जिनसेनसूरिणा धियाल्पयोक्ता हरिवंशपद्धतिः ॥ ३३ ॥

* * * *

शाकेश्वरदशतेषु सप्तसु दिशं पंचोत्तरेषूत्तरां,
 पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणां ।
 पूर्वा श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्सादिराजेऽपरां,
 सौराणामाधिपमंडलं जययुते वीरे वराहेऽवति ॥ ५३ ॥
 कल्याणैः परिवर्धमानविपुलः श्रीवर्धमाने पुरे,
 श्रीपार्श्वालयनन्नराजवसतौ पर्याप्तशेषः पुरा ।
 पश्चाद्दोस्तटिकाप्रजाप्रजनितप्राज्यार्चनावर्चने (?)
 शान्तेः शान्तिग्रहे जिनस्य रचितो वंशो हरीणामयम् ॥ ५४ ॥
 व्युत्सृष्टपरसंघसन्ततिबृहत्पुत्राटसंघान्वये
 प्राप्तः श्रीजिनसेनसूरिकविना लाभाय बोधे पुनः ।
 दृष्टोऽयं हरिवंशपुण्यचरितश्रीपर्वतः सर्वतो
 व्याप्ताशामुखमण्डलः स्थिरतरः स्थेयात्पृथिव्यां चिरम् ॥ ५५ ॥

—सर्ग ६६

हरिषेणका आराधना-कथाकोश

उपलब्ध जैन-कथाकोशोंमें यह कथाकोश सबसे प्राचीन है। इसकी रचना शक संवत्, ८५३, वि० सं० ९८९, में हुई थी और इसकी श्लोकसंख्या सोढ़ बारह हजार हैं।^१

दिगम्बर सम्प्रदायमें 'आराधना कथाकोश' नामके दो संस्कृत ग्रन्थ और हैं, एक आचार्य प्रभाचन्द्रका गद्यवद्ध और दूसरा मल्लिभूषणके शिष्य ब्र० नेमिदत्तका पद्यवद्ध। दूसरा पहलेका अनुवाद मात्र है। ये दोनों इस कथाकोशकी अपेक्षा परिमाणमें छोटे हैं, इसीलिए जान पड़ता है कि इसके साथ 'बृहत्' विशेषण लगा दिया गया है। स्वयं ग्रन्थकर्ताने इसे 'कथाकोश' ही लिखा है।

इसमें छोटी बड़ी सब मिलाकर १५७ कथायें हैं। इनमें कुछ कथायें चाणक्य, शकटाल, भद्रबाहु, वररुचि, स्वामि कार्तिकेय आदि ऐतिहासिक पुरुषोंसे सम्बन्ध रखनेवाली भी हैं, यद्यपि उनका उद्देश्य इतिहासकी अपेक्षा आराधनाका महत्त्व बतलाना अधिक है।

इसमें भद्रबाहुकी जो कथा है उसमें दो बातें विलक्षण हैं जो अन्य कथा-ग्रन्थोंसे विरुद्ध जाती हैं। एक तो यह कि भद्रबाहुने बारह वर्षोंके घोर दुर्मिक्ष पड़नेका भविष्य जानकर अपने तमाम शिष्योंको तो दक्षिणापथ तथा सिन्धु आदि देशोंकी ओर भेज दिया, पर वे स्वयं वहीं रह गये और फिर उज्जयिनीभव (निकट ?) भाद्रपद देश (स्थान ?) में पहुँच कर उन्होंने अनशनपूर्वक समाधिमरण करके स्वर्ग प्राप्त किया।^२

१ इस कथाकोशकी प्रति पूनेके माण्डारकर ओरिएण्टल इन्स्टिट्यूटमें है जो वि० सं० १८६८ की लिखी हुई है। यह जयपुरके गोधाजीके मन्दिरमें लिखी गई थी और सम्भवतः वहाँसे गवर्नमेण्टके लिए खरीदी गई थी।

२ भद्रबाहुमुनिर्घोरो भयसप्तकवर्जितः।

॥ 'पपा-क्षुधा-श्रमं' तीव्रं जिगाय सहस्रोत्थितम् ॥ ४२

दूसरी यह कि उज्जयिनीके राजा चन्द्रगुप्तने भद्रबाहुके ही समीप दीक्षा ले ली थी और यह चन्द्रगुप्त ही आगे मुनि होनेपर विशाखाचार्य कहलाये जो दशपूर्वके धारियोंमें प्रथम थे। वे सर्व संघके स्वामी हो गये और उन्हींके साथ समस्त संघ गुरुवाक्यके अनुसार दक्षिणापथके पुत्राट देशमें पहुँचा।

अन्य कथाओं और शिलालेखोंके अनुसार भद्रबाहु आचार्य भी अपने शिष्योंके साथ दक्षिणापथको चले गये थे और उनका स्वर्गवास श्रवणबेलगोलके चन्द्रगिरिपर्वतपर हुआ था। चन्द्रगुप्त उनके साथ ही गये थे और उनका दूसरा नाम विशाखाचार्य नहीं किन्तु प्रभाचन्द्र था। यद्यपि एक विशाखाचार्य नामके आचार्य भी उस संघमें थे, परन्तु वे दूसरे ही थे, चन्द्रगुप्त नहीं। कथाओंका यह विरोध इतिहासज्ञोंके लिए खास तौरसे विचारणीय है।

दूसरे कथाकोशोंमें समन्तभद्र, अकलंकदेव और पात्रकेसरीकी जो कथायें दी हैं वे इसमें नहीं हैं। सबसे पहले ये कथायें प्रभाचन्द्रके कथाकोशमें दिखलाई देती हैं और इनका कुछ अस्पष्ट आभास श्रवणबेलगोलकी श० सं० १०५० (वि० सं० ११८८) की मल्लिषेण प्रशस्तिमें मिलता है। इससे सन्देह होता है कि कहीं इनकी रचना किंवदन्तियों या प्रचलित प्रवादोंके अनुसार ही बादमें न की गई हो।

इस ग्रन्थकी प्रशस्तिके आठवें श्लोकमें इसे 'आराधनोद्धृत' बतलाया है। इससे मालूम होता है कि 'आराधना' नामक किसी ग्रन्थमें जो उदाहरणरूप कथायें थीं उन्हें इसमें उद्धृत किया गया है। जैसे कि शिवार्यकी भगवती आराधनामें इस तरहके अनेक उदाहरण संकेत रूपमें जगह जगह दिये गये हैं।

डा० ए० एन० उपाध्येका खयाल है कि इस ग्रन्थके कितने एक अंश संभवतः किसी प्राकृत ग्रन्थ परसे संस्कृतमें अनूदित हुए हैं क्योंकि इसमें बहुतसे प्राकृत नाम असावधानीसे प्राकृत ही रह गये हैं जैसे मेदज मुनि। असलमें यह मेतार्यका

प्राप्यं भाद्रपदं देशं श्रीमदुज्जयिनीभवम् ।

चकाशानशनं धीरः स दिनानि बहून्यलम् ॥ ४३

आराधनां समाराध्य विधिना स चतुर्विधाम् ।

समाधिमरणं प्राप्य भद्रबाहुर्दिवं ययौ ॥ ४४

१. उपाध्यायजीके द्वारा यह ग्रन्थ सम्पादित हो रहा है और शीघ्र ही संघी-ग्रन्थमालामें प्रकाशित होगा। उसकी भूमिका बहुत महत्त्वकी होगी।

प्राकृत रूप है। इस तरहके बीसों शब्द इस ग्रन्थमें मिलते हैं। 'भारते वास्ये' (प्रा० भारहे वासे=भारतवर्षे), वाणारसी आदि प्रयोग भी ऐसे ही हैं। एक ही राजाका नाम विजुहंघ्र और विजुद्धद दिया गया है। प्राकृत नाम 'विज्जुदाद' है। पंपा, विकुर्व्वाणा, इत्यादि कितने ही शब्द ऐसे हैं जो संस्कृत ग्रंथोंमें तो दुर्मिल हैं किन्तु प्राकृत ग्रंथोंमें खूब प्रचलित हैं। 'आराधनोद्धृत' का अर्थ आराधना नामक प्राकृत ग्रन्थसे उद्धृत किया हुआ या लिया हुआ भी हो सकता है।

इसके कर्त्ता आचार्य हरिषेण अपनी गुरुपरम्परा इस प्रकार बतलाते हैं—मौनि भट्टारकके शिष्य श्रीहरिषेण, श्रीहरिषेणके भरतसेन और भरतसेनके हरिषेण (ग्रन्थकर्त्ता)। अपने गुरु भरतसेनको उन्होंने छन्द-अलंकार-काव्य-नाटक-शास्त्रोंका ज्ञाता, काव्यका कर्त्ता, व्याकरणज्ञ, तर्कनिपुण और तत्त्वार्थवेदी बतलाया है। कमसे कम 'काव्यस्य कर्त्ता' विशेषण स्पष्ट ही उनके किसी काव्य-ग्रन्थका संकेत करता है।

हरिषेण उसी पुत्राट संघके आचार्य हैं जिसमें हरिवंशपुराणके कर्त्ता जिनसेन हुए हैं और जिसकी चर्चा पिछले लेखमें विस्तारसे की जा चुकी है। जिस वर्द्धमानपुरमें हरिवंशकी रचना हुई थी उसीमें यह कथाकोश भी रचा गया है और ऐसा जान पड़ता है कि हरिषेणके दादा गुरुके गुरु मौनि भट्टारक जिनसेनकी उत्तरवर्ती दूसरी तीसरी पीढ़ीमें ही होंगे। यदि बीचकी दो-तीन पीढ़ियोंका पता लग जाय तो लोहार्यके बादसे हरिषेण तककी अविच्छिन्न गुरुपरम्परा तैयार हो सकती है।

हरिषेणने वर्द्धमानपुरके विषयमें लिखा है कि वह बड़ा समृद्ध नगर था, जिनके पास बहुत सोना था ऐसे लोगोंसे आबाद था, वहाँ जैन मन्दिरोंका समूह था और सुन्दर महल बने हुए थे।

कथाकोशकी रचना वर्द्धमानपुरमें उस समय की गई है जब कि वहाँपर विनायकपाल नामक राजा राज्य करता था और उसका राज्य शक्र या इन्द्रके जैसा विशाल था।

यह विनायकपाल प्रतिहार वंशका राजा जान पड़ता है जिसके साम्राज्यकी राजधानी कन्नौज थी। उस समय प्रतिहारोंके अधिकारमें केवल राजपूतानेका ही अधिकांश भाग नहीं, गुजरात, काठियावाड़, मध्यभारत और उत्तरमें सतलजसे लेकर बिहार तकका प्रदेश था। यह महाराजाधिराज महेन्द्रपालका पुत्र था और अपने माइयों महीपाल और भोज (द्वितीय) के बाद गद्दीपर बैठा था। कथाकोशकी रचनाके लगभग एक ही वर्ष पहलेका, वि० सं० ९५५ का इसका

एक दान-पत्र भी मिला है^२।

काठियावाड़के हड्डाला गाँवमें विनायकपालके बड़े भाई महीपालके समयका भी श० सं० ८३६ (वि० सं० ९७१) का एक दानपत्र मिला है जिससे मालूम होता है कि उस समय वर्द्धमानपुर या बड़वाणमें उसके सामन्त चापवंशी घरेणी-वराहका अधिकार था। इसके सिर्फ १७ वर्ष बाद ही बड़वाणमें कथाकोशकी रचना हुई है, अतएव उस समय भी बड़वाणमें प्रतिहारोंके किसी सामन्तका अधिकार होनेकी संभावना है। परन्तु जान पड़ता है हरिषेणने मुख्य महाराजाधिराजका ही नाम दिया है, और उसके राज्यको शक्र (इन्द्र) के राज्यके समान बतलाया है, उसके सामन्तका नाम देनेकी जरूरत नहीं समझी है। प्रतिहारवंशके महाराजाओंने कबसे कब तक राज्य किया, इसके ठीक ठीक जाननेके पूरे साधन अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। विनायकपालके बाद ही प्रतिहार वंश निर्बल होने लगा था, और उसके सामन्त स्वतंत्र बनने लगे थे।

हरिषेणके बाद पुत्राटसंघके मुनियोंका काठियावाड़में और कब तक अस्तित्व रहा, इसका कोई पता नहीं चलता।

अन्तमें हरिषेणके कथाकोशके प्रारंभका मंगलाचरण और अन्तकी प्रशस्ति देकर हम इस लेखको समाप्त करते हैं:—

श्रियं परां प्राप्तमनन्तबोधं मुनीन्द्रदेवेन्द्रनरेन्द्रवन्द्यम् ।

निरस्तकन्दर्पगजेन्द्रदर्पं नमाम्यहं वीरजिनं पवित्रम् ॥ १ ॥

विघ्नो न जायते नूनं न क्षुद्रामरलंघनम् ।

न भयं भव्यसत्त्वानां जिनमंगलकारिणाम् ॥ २ ॥

जि (ज) नस्य सर्वस्य कृतानुरागं विपश्चितां कर्णरसायनं च ।

समासतः साधुमनोभिरामं परं कथाकोशमहं प्रवक्ष्ये ॥ ३ ॥

*

*

*

*

१ इण्डियन एण्टिक्वेरी जिल्द, १५ पृ० १४०-४१। दानपत्रमें पहले सं० १८८ पढ़ा गया था और उसे हर्ष संवत् मान लिया था परन्तु म० म० ओझाजीने उसका शुद्ध पाठ सं० ९८८ पढ़ा है। २ देखो ओझाजीका राजपूतानेका इतिहास जिल्द १, पृ० १६३।

यो बोधको भव्यकुमुद्वतीनां निःशेषराद्धान्तवचोमयूवैः ।
 पुष्पाटसंघांबरसन्निवासी श्रीमौनिभट्टारकपूर्णचन्द्रः ॥ ३
 जैनालयत्रातविराजितान्ते चन्द्रावदातद्युतिसौधजाले ।
 कार्तस्वरपूर्णजनाधिवासे श्रीवर्धमानाख्यपुरे वसन्तः ॥ ४
 सारागमाहितमतिविदुषां प्रपूज्यो नानातपोविधिविधानकरो विनेयः ।
 तस्याभवद्गुणनिधिर्जनताभिवन्द्यः श्रीशब्दपूर्वपदको हरिषेणसंज्ञः ॥ ५
 छन्दोलंकृतिकाव्यनाटकचणः काव्यस्य कर्ता सतो,
 वेत्ता व्याकरणस्य तर्कनिपुणस्तत्त्वार्थवेदी परं ।
 नानाशास्त्रविचक्षणो बुधगणैः सेव्यो विशुद्धाशयः,
 सेनान्तो भरतादिरत्र परमः शिष्यः बभूव क्षितौ ॥ ६
 लक्ष्यलक्षणविधानविहीनश्छन्दसापि रहितः प्रमथा च ।
 तस्य शुभ्रयशसो हि विनेयः संबभूव विनयी हरिषेणः ॥ ७
 आराधनोद्धृतः पथ्यो भव्यानां भावितात्मनाम् ।
 हरिषेणकृतो भाति कथाकोशो महीतले ॥ ८
 हीनाधिकं चारुकथाप्रबन्धं ख्यातं यदस्माभिरतिप्रमुग्धैः ।
 मात्सर्यहीनाः कवयो धरायां तच्छोधयन्तु स्फुटमादरेण ॥ ९
 मद्रं भूयाजिनानां निरुपमयशसां शासनाय प्रकामं,
 जैनो धर्मोपि जीयाज्जगति हिततमो देहभाजां समस्तम् ।
 राजानोऽवन्तु लोकं सकलमतितरां चारुवातोऽनुकूलः,
 सर्वे शाम्यन्तु सत्त्वाः जिनवरवृषभाः सन्तु मोक्षप्रदा नः ॥ १०
 नवाष्टनवकेष्वेषु स्थानेषु त्रिषु जायतः ।
 विक्रमादित्यकालस्य परिमाणमिदं स्फुटम् ॥ ११
 शतैष्वष्टसु विस्पष्टं पंचाशत् त्र्याधिकेषु च ।
 शककालस्य सत्यस्य परिमाणमिदं भवेत् ॥ १२
 संवत्सरे चतुर्विंशे वर्तमाने खराभिधे ।
 विनयादिकपालस्य राज्ये शक्रोपमानके ॥ १३
 एवं यथाक्रमोक्तेषु कालराज्येषु सत्सु कौ ।
 कथाकोशः कृतोऽस्माभिर्भव्यानां हितकाम्यया ॥ १४

कथाकोशोऽयमीदृक्षो भव्यानां मलनाशनः ।

पठतां श्रण्वतां नित्यं व्याख्यातृणां च सर्वदा ॥ १५

सहस्रैर्द्वादशैर्बद्धो नूनं पंचशतान्वितैः ।

जिनधर्मश्रुतोद्युक्तैरस्माभिर्मतिवर्जितैः ॥ १६

संवत् १८६८ का मासोत्तममासे जेठमास शुक्लपक्ष चतुर्थ्यां तिथौ सूर्यवारे श्रीमूलसंघे नन्द्याम्नाये बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारकजी श्रीमहेन्द्रकीर्तिजी तत्पट्टे भट्टारकजी श्रीक्षेमेन्द्रकीर्तिजी तत्पट्टे भट्टारकजी श्रीसुरेन्द्रकीर्तिजी तत्पट्टे भट्टारकशिरोमणी भट्टारकजी श्रीसुखेन्द्रकीर्तिजी तदाम्नाये सवाई जयनगरे श्रीमन्नेमिनाथचैत्यालये गोधाख्यमन्दिरे पंडितोत्तमपंडितजी श्रीसंतोषरामजी तत्सिख्य पंडित वषतरामजी तच्छिष्य हरिवंशदासजी तत्सिख्य कृष्णचन्द्रः तेषां मध्ये वषतरामकृष्णचंद्राभ्यां ज्ञानावरणीकर्मक्षयार्थं बृहदाराधनाकथाकोशाख्यं ग्रन्थं स्वाशयेन लिखितं श्रोतृवक्तृजनानामिदं शास्त्रं मंगलं भवतु ।

आचार्य शुभचन्द्र और उनका समय

आचार्य शुभचन्द्रका 'ज्ञानार्णव' या 'योगप्रदीप' दिगम्बर सम्प्रदायका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। परन्तु ये शुभचन्द्र किस संघ या गण गच्छके थे और उनके गुरुका क्या नाम था; इसका अभी तक कोई पता नहीं चला। निदान ग्रन्थकी उपलब्ध प्रतियोंमें तो इसका कोई संकेत नहीं मिलता। शुभचन्द्र नामके और भी कई आचार्य हो गये हैं, परन्तु वे सब इनसे भिन्न मालूम होते हैं।

विश्वभूषण भट्टारकके 'भक्तामर-चरित' नामक संस्कृत ग्रन्थकी उत्थानिकामें शुभचन्द्र और भर्तृहरिकी एक लम्बी कथा दी है^१ जिसके अनुसार शुभचन्द्र तथा भर्तृहरि उज्जयिनीके राजा सिन्धुलके पुत्र थे और सिन्धुलके पैदा होनेके पहले उनके पिताने मुंजको एक मूँजके खेतमें पड़ा हुआ पाकर पाल लिया था। एक दिन शुभचन्द्र और भर्तृहरिके असीम बलको देखकर मुंजने उन्हें मरवा डालनेका विचार किया और इसका पता लग जानेपर उन दोनोंको संसारसे विरक्ति हो गई। तब शुभचन्द्रने तो जैनधर्मकी दीक्षा ले ली और भर्तृहरिने कौल या तांत्रिक मतकी। भर्तृहरिने बारह वर्षमें जो अनेक सिद्धियाँ प्राप्त कीं उनमें एक ऐसे रसकी सिद्धि भी थी जिसके संयोगसे ताँबा सोना हो जाता था। यह रस उन्होंने अपने भाईको दिया, परन्तु भाई शुभचन्द्रने उसे तुच्छ समझकर फेंक दिया और अपने पैरोंके नीचेकी धूल डालकर एक पूरीकी पूरी शिला सोनेकी बना दी। भर्तृहरिको अपनी तुच्छताका मान हुआ और अन्तमें उन्होंने भी जिन-दीक्षा ले ली। फिर उन्हें मुनि-मार्गमें दृढ़ करने और सच्चे योगका ज्ञान करानेके लिए शुभचन्द्रने इस

१ एक शुभचन्द्रका जिह्न श्रवणवेल्लोलके ४३ वें नम्बरके शिलालेखमें है जो गण्डविसुक्त मलधारिदेवके शिष्य थे और जिनका स्वर्गवास वि० सं० ११८० में हुआ था, दूसरे शुभचन्द्र उन देवकीर्तिके शिष्य थे जिनका स्वर्गवास वि० सं० १२२० में हुआ था और जिनका ३९ वें शिलालेखमें वर्णन है।

२ यह कथा रायचन्द्र-शास्त्रमालाद्वारा प्रकाशित 'ज्ञानार्णव'के प्रारम्भमें प्रकाशित हुई है।

योगप्रदीप या ज्ञानार्णवकी रचना की।

आगे इतना और कहा गया है कि मुंजने सिंहलकी आँखें फुड़वा दीं और उनके जो भोज नामका पुत्र हुआ उसको भी मरवा डालनेका प्रयत्न किया।

कथाके उत्तरार्धमें कालिदास, वररुचि, धनंजय और मानतुंगसूरिको भोजका समकालीन बतलाया है और भक्तामरस्तोत्रके प्रभावसे मानतुंगका ४८ बेड़ियाँ तोड़कर बन्दीगृहसे बाहर निकल आनेकी घटनाका भी वर्णन किया है।

यह कथा केवल जैनधर्मका महत्त्व प्रकट करनेके लिए गढ़ी गई है, इतिहासका इसमें सर्वथा अभाव है। भर्तृहरि, शुभचन्द्र और सिन्धुल तथा मुंजको समसामयिक बतलाना दुस्साहस ही है। कहाँ विक्रमकी ग्यारहवीं सदीके मुंज और सिन्धुल और कहाँ सातवीं आठवीं शताब्दिके भर्तृहरि ? इसी तरह कहाँ कालिदास जो विक्रमादित्यकी सभाके रत्न समझे जाते हैं^३, कहाँ महाकवि धनंजय जिनकी नाममालाका एक श्लोक धवला टीकामें वीरसेन-स्वामीने उद्धृत किया है^४, कहाँ नन्दवंशके समयके वररुचि, कहाँ हर्ष-वर्द्धनके समकालीन मानतुंगसूरि और कहाँ विक्रमकी बारहवीं सदीके भोजदेव।

१ कथाका यह उत्तरार्ध मेरे भाषापद्यानुवादसहित आदिनाथ-स्तोत्रकी प्रारम्भिक आवृत्ति-योंमें प्रकाशित हुआ है।

२ चीनी यात्री हुएनसांगने जो वि० सं० ६८६ से ७०२ तक भारतवर्षमें रहा था भर्तृहरिके विषयमें लिखा है कि वे इस समय बहुत प्रख्यात पंडित हैं।

३ सर विलियम जौन्स, डा० पिटर्सन, पं० नन्दर्गीकर आदि विद्वान् कालिदासको विक्रमादित्यका समकालीन अर्थात् ई० स० से ५७ वर्ष पहलेका अनुमान करते हैं और कुछ विद्वान् गुप्तकालका—चन्द्रगुप्त द्वितीय या कुमारगुप्त और समुद्रगुप्तका—समकालीन बतलाते हैं। वि० सं० ६९१ के जैन कवि रविकीर्तिने अपनेको कालिदास और भारविकी कीटिका कवि बतलाया है। इसलिए कमसे कम इसके बाद तो कालिदास हो ही नहीं सकते।

४ देखो धवला टीकाकी भूमिका पृ० ६२। धवला टीका श० सं० ७३८ (वि० सं० ८७३) में भोजदेवसे कोई दो शताब्दि पहले समाप्त हुई थी।

५ वररुचिका दूसरा नाम कात्यायन है। ये प्रसिद्ध वैयाकरण हैं। इनका काल ई० स० से ३५० वर्ष पहले अनुमान किया जाता है।

६ भोजदेवका अस्तित्वकाल वि० सं० १०७६ से १०९९ तक है

बह्मल कविके भोजप्रबन्धके समान इस कथामें भी चाहे जिस पुराने कविको भोजदेवकी सभामें लाकर खड़ा कर दिया गया है। अतएव इस तरहकी कथाओंमें सबे इतिहासकी खोज करना ही ग़लत है। हमें इन कथाओंको छोड़कर स्वतंत्र रूपसे ही आचार्य शुभचन्द्रके और उनके ज्ञानार्णवके समयपर विचार करना चाहिए।

ज्ञानार्णवके प्रारम्भमें समन्तभद्र, देवनन्दि, भट्टाकलंक और जिनसेनका स्मरण किया गया है और इनमें सबसे पिछले जिनसेनस्वामी हैं जिन्होंने जयधवल टीकाका शेषभाग वि० सं० ८९४ में समाप्त किया था। इससे निश्चित हो गया कि ज्ञानार्णवकी रचना वि० सं० ८९४ के बाद किसी समय हुई है।

अब यह देखना चाहिए कि वि० ८९४ के कितने बाद हुई। ज्ञानार्णवके 'गुणदोषविचार' नामक प्रकरण (पृ० ७५) में नीचे लिखे तीन श्लोक 'उक्तं च ग्रन्थान्तरे' कहकर उद्धृत किये गये हैं—

ज्ञानहीने क्रिया पुंसि परं नारभते फलम्।

तरोऽच्छायेव किं लभ्या फलश्रीर्नष्टदृष्टिभिः ॥ १

ज्ञानं पङ्क्तौ क्रिया चान्धे निःश्रेद्धे नार्थकृद्द्वयम्।

ततो ज्ञानं क्रिया श्रद्धा त्रयं तत्पदकारणम् ॥ २

हतं ज्ञानं क्रियाशून्यं हता चाज्ञानिनः क्रिया।

धावन्नप्यन्वको नष्टः पश्यन्नपि च पंगुकः ॥ ३

ये तीनों श्लोक यशस्तिलक चम्पूके छठे आश्वास (पृ० २७१) में ज्योंके त्यों इसी क्रमसे दिये हुए हैं। इनमेंसे पहले दोनों स्वयं यशस्तिलककर्त्ता सोमदेवके हैं और तीसरा यशस्तिलकमें 'उक्तं च' कहकर किसी अन्य ग्रन्थसे उद्धृत किया गया है। अकलंकदेवके राजवार्तिकमें भी यह श्लोक किंचित् पाठ-भेदके साथ 'उक्तं च' रूपसे उद्धृत पाया जाता है और इससे यह श्लोक किसी अन्य प्राचीन ग्रन्थका जान पड़ता है। ज्ञानार्णवके कर्त्ताके लिए ये तीनों ही अन्यकृत थे, इस लिए उन्होंने तीनोंको 'उक्तं च ग्रन्थान्तरे' कहकर उद्धृत कर दिया। यशस्तिलककी रचना वि० सं० १०१६ में हुई है, इस लिए सिद्ध हुआ कि ज्ञानार्णव इसके भी बादका ग्रन्थ है।

ज्ञानार्णव (पृ० १७७) में एक श्लोक पुरुषार्थसिद्धयुपायका भी ('मिथ्या-त्ववेदरागा' आदि) उद्धृत किया गया है, परन्तु उसके कर्त्ता अमृतचन्द्राचार्यका

समय भी अभी तक अनिर्णीत है, इसलिए वह एक तरहसे निरूपयोगी ही है इतना ही कहा जा सकता है कि शुभचन्द्र अमृतचन्द्रके परवर्ती हैं ।

एक प्राचीन प्रति

पाटण (गुजरात) के खेतरवसी नामक श्वेताम्बर जैन-भण्डारमें (नं० १३) श्रीशुभचन्द्राकार्यकृत ज्ञानार्णवकी वैशाख सुदी १० शुक्रवार संवत् १२९४ की लिखी हुई एक प्राचीन प्रति है, जिसमें १५×२ साइजके २०७ पत्र हैं । उससे ज्ञानार्णवके समयकी उत्तरसीमा निश्चित हो जाती है । उक्त प्रतिके अन्तमें जो कर्त्ताओंकी लिपि-प्रशस्तियाँ हैं वे अनेक दृष्टियोंसे बड़े महत्वकी हैं, इस लिए उन्हें यहाँ प्रकाशित किया जाता है—

“इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे पंडिताचार्यश्रीशुभचन्द्रविरचिते मोक्षप्रकरणम् ।

अस्यां श्रीमन्नृपुर्यां श्रीमदर्हदेवचरणकमलचंचरीकः सुजनजनहृदयपरमानन्दकन्दलीकन्दः श्रीमाथुरान्वयसमुद्रचन्द्रायमानो भव्यात्मा परमश्रावकः श्रीनेमिचन्द्रो नामाभूत् । तस्याखिल-विज्ञानकलाकौशल-शालिनी सती पतिव्रतादिगुणगुणालंकार भूषित शरीरा निजमनोवृत्तिरिवाव्यभिचारिणी स्वर्णानाम धर्मपत्नी संजाता । अथ तयोः समासादितधर्मार्थकामफलयोः स्वकुलकुमुदवनचन्द्रलेखा निजवंश वैजयन्तीः सर्वलक्षणालंकृतशरीरा जाहिणि-नाम-पुत्रिका समुत्पन्ना । छ ।

ततो गोकर्ण-श्रीचद्रौ सुतौ जातौ मनोरमौ ।

गुररत्नाकरौ भव्यौ रामलक्ष्मणसन्निभौ ॥

सा पुत्री नेमिचन्द्रस्य जिनशासनवत्सला ।

विवेकविनयोपेता सम्यग्दर्शनलांछिता ॥

ज्ञात्वा संसारवैचित्र्यं फलुतां च नृजन्मनः ।

तपसे निरगाद्गेहात् शान्तचित्ता सुसंयता ॥

बान्धवैर्वार्यमाणापि प्रण (य) तैः शास्त्रलोचनैः ।

मनागपि मनो यस्या न प्रेम्णा कश्मलीकृतं ।

गृहीतं मुनिपादांते तया संयतिकाव्रतं ।

स्वीकृतं च मनःशुद्ध्या रत्नत्रयमखंडितम् ॥

तया विरक्तयात्यंतं नवे वयसि यौवने ।

आरब्धं तत्तपः कर्तुं यत्सतां साध्विति स्तुतं ॥

यमव्रततपोद्योगैः स्वाध्यायध्यानसंयमैः ।
 कायक्लेशाद्यनुष्ठानैर्गृहीतं जन्मनः फलम् ॥
 तपोभिर्दुष्करैर्नित्यं बाह्यान्तर्भेदलक्षणैः ।
 कषायरिपुभिः सार्धं निःशेषं शोषितं वपुः ॥
 विनयाचारसम्पत्त्या संघः सर्वोप्युपासितः ।
 वैयावृत्योद्यमात्तद्वाक्कीर्तिर्नीता दिगंतरे ॥
 किमियं भारती देवी किमियं शासनदेवता ।
 दृष्टपूर्वैरपि प्रायः पौरैरिति वितर्क्यते ॥
 तया कर्मक्षयस्यार्थं ध्यानाध्ययनशालिने ।
 तपः श्रुतनिधानाय तत्त्वज्ञाय महात्मने ॥
 रागादिरिपुमल्लाय शुभचन्द्राय योगिने ।
 लिखाप्य पुस्तकं दत्तमिदं ज्ञानार्णवाभिधम् ॥

संवत् १२८४ वर्षे वैशाखसुदि १० शुक्ले गोमंडले दिगम्बरराजकुल-सहस्र-कीर्ति (तै) स्यार्थे पं० केशरिसुतवीसलेन लिखितमिति ।”

भावार्थ—इस नृपुरीमें अरहंत भगवान्‌के चरण-कमलोंका भ्रमर, सज्जनोंके हृदयको परमानन्द देनेवाला, माथुरसंघरूप समुद्रको उल्लासित करनेवाला, भव्यात्मा श्रीनेमिचन्द्र नामका परम भ्रावक हुआ, जिसकी धर्मपत्नीका नाम स्वर्णा था जो कि अखिल विज्ञानकलाओंमें कुशल, सती, पातिव्रत्यादि-गुणोंसे भूषित और अपनी मनोवृत्तिके ही समान अव्यभिचारिणी थी । धर्म, अर्थ और कामको सेवन करने-वाले इन दोनोंके जाहिणी नामकी पुत्री हुई, जो अपने कुलरूप कुमुदवनकी चन्द्रलेखा, निजवंशकी वैजयन्ती (ध्वजा) और सर्वलक्षणोंसे शोभित थी ।

इसके बाद इस दम्पतिके राम और लक्ष्मणके समान गोकर्ण और श्रीचन्द्र नामके दो सुन्दर, गुणी और भव्य पुत्र उत्पन्न हुए ।

फिर नेमिचन्द्रकी वह जिनशासनवत्सला, विवेक-विनयशीला और सम्यग्दर्शन-वती पुत्री (जाहिणी) संसारकी विचित्रता तथा नरजन्मकी निष्फलताको जानकर तपके लिए घरसे चल दी । वह शान्तचित्त और अतिशय संयत थी । शास्त्रज्ञ बन्धुजनोंके प्रयत्न-पूर्वक रोकनेपर भी उसके मनको प्रेम या मोहने जरा भी मैला न होने दिया ।

आखिर उसने मुनियोंके चरणोंके निकट आर्थिकाके व्रत ले लिये और मनकी

शुद्धिसे अखंडित रत्नत्रयको स्वीकार किया ।

उस विरक्ताने नवयौवनकी उम्रमें ऐसा कठिन तप करना आरम्भ किया कि सज्जनोंने उसकी 'साधु साधु' कहकर स्तुति की ।

उसने यम, व्रत और तपके उद्योगसे, स्वाध्याय ध्यान और संयमसे तथा कायकेशादि अनुष्ठानोंसे अपने जन्मको सफल किया ।

उसने निरन्तर ब्राह्म और अन्तरंग दुष्कर तप तपकर कषाय-रिपुओंके साथ अपने सारे शरीरको भी सुखा डाला ।

उसने अपनी विनयाचार-सम्पत्तिसे सारे संघकी उपासना की और वैवाचित्ति करके अपनी कीर्तिको दिगन्तरोत्तक पहुँचा दिया ।

जिन पौरजनोंने उसे पहले देखा था वे भी इस तरहका वितर्क करने लगे कि न जाने यह साक्षात् भारती (सरस्वती) देवी है या शासनदेवता है ।

उस जाहिणी आर्थिकाने कर्मोंके क्षयके लिए यह ज्ञानार्णव नामकी पुस्तक ध्यान-अध्ययनशाली, तप और शास्त्रके निधान, तत्त्वोंके ज्ञाता और रागादि-रिपुओंको पराजित करनेवाले महल जैसे शुभचन्द्र योगीको लिखाकर दी ।

वैशाख सुदी १०, शुक्रवार, वि० सं० १२८४ को गोमंडल (गोंडल-काठियावाड़) में दिगम्बर राजकुल (भट्टारक ?) सहस्रकीर्तिके लिए पं० केशरीके पुत्र वीसलने लिखी ।

ऐसा मालूम होता है कि इस पुस्तकमें लिपि-कर्त्ताओंकी दो प्रशस्तियाँ हैं । पहली प्रशस्तिमें तो लिपिकर्त्ताका नाम और लिपि करनेका समय नहीं दिया है, सिर्फ लिपि करानेवाली जाहिणीका परिचय और जिन्हें प्रति भेंट की गई है उनका नाम दिया है ।

हमारी समझमें आर्थिका जाहिणीने जिस लेखकसे उक्त प्रति लिखाई होगी, उसका नाम और समय भी अन्तमें अवश्य दिया होगा; परन्तु दूसरे लेखकने उक्त पहली प्रतिका वह अंश अनावश्यक समझकर छोड़ दिया होगा और अपना नाम और समय अन्तमें लिख दिया होगा । इस दूसरी प्रतिके लेखक पं० केशरीके पुत्र वीसल हैं और उन्होंने गोंडलमें श्रीसहस्रकीर्तिके लिए इसे लिखा था जब कि पहली प्रति नृपुरीमें श्रीशुभचन्द्र योगीके लिए लिखाकर दी गई थी ।

जब दूसरी प्रति वि० सं० १२८४ की लिखी हुई है, तब पहली प्रति अवश्य ही उससे काफी पहले लिखी गई होगी । नृपुरी स्थान कहाँ है, ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता । संभव है, यह ग्वालियर राज्यका नरवर हो । नरपुर और

नृपुर (स्त्रीलिंग नृपुरी) एक हो सकते हैं । नरपुरसे नरउर और फिर नरवर रूप सहज ही बन जाते हैं ।

गोमंडल और गोंडल एक ही हैं । गोमंडलका ही अपभ्रंशरूप गोंडल है । अभी कुछ समय पहले डा० हंसमुखलाल सौंकल्लियाने गोंडल राज्यके ढांक नामक स्थानकी प्राचीन जैन गुफाओंके विषयमें एक लेख प्रकाशित किया था, जहाँसे कि बहुत-सी दिगम्बर प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं । यह स्थान जूनागढ़से ३० मील उत्तर-पश्चिमकी तरफ गोंडल राज्यके अन्तर्गत है । चूँ कि इस समय गोंडल और उसके आसपास दिगम्बर-सम्प्रदायके अनुयायियोंका प्रायः अभाव है, इस-लिए डा० साहवने अनुमान किया था कि उक्त प्रतिमायें उस समयकी होंगीं जब दिगम्बर-श्वेताम्बर भेद हुए अधिक समय न बीता था और दोनोंमें आज-कलके समान वैमनस्य न था । उक्त लेख जैनप्रकाश (भाग ४ अंक १-२) में प्रकाशित हुआ है और उसपर सम्पादक महाशयने अपना यह नोट दिया है कि पहले श्वेताम्बर भी निर्वस्त्र या दिगम्बर मूर्तियोंकी पूजा करते थे ।

यह बात सही है कि पहले श्वेताम्बर भाई भी निर्वस्त्र मूर्तियोंकी पूजा करते थे, लंगोट आदि चिह्नोंवाली प्रतिमायें प्रतिष्ठित करनेकी पद्धति बहुत पीछे शुरू हुई है और यह भी संभव है कि ढांककी गुफाओंकी मूर्तियाँ मथुराके कंकाली टीलकी मूर्तियोंके समान बहुत प्राचीन कालकी हों; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इस समय गोंडलराज्यमें दिगम्बर-सम्प्रदायके अनुयायी नहीं हैं, इसलिए पहले भी न रहे होंगे । ज्ञानार्णवकी वीसलकी लिखी हुई उक्त प्रतिसे मालूम होता है कि विक्रमकी तेरहवीं शताब्दिमें गोंडलमें दिगम्बर-सम्प्रदाय था और उसके सहस्रकीर्ति नामक साधुके लिए वह लिखी गई थी । सहस्रकीर्ति दिगम्बर सम्प्रदायके भट्टारक थे, और इसलिए वहाँ उनके अनुयायी भी काफी रहे होंगे ।

काठियावाड़के ही वर्द्धमानपुरमें जो इस समय बड़वाणके नामसे प्रसिद्ध है आचार्य जिनसेनने अपना हरिवंशपुराण श० सं० ७०५ में और हरिषेणने अपना कथाकोश श० सं० ८५३ में समाप्त किया था । अतएव काठियावाड़में दिगम्बरसम्प्रदाय काफी प्राचीन कालसे रहा है ।

पहली प्रशस्तिमें एक विलक्षण बात यह है कि आर्थिका जाहिणीने वह प्रति ध्यानाध्ययनशाली, तपःश्रुतनिधान, तत्त्वज्ञ, रागादिरिपुमहल और योगी शुभचन्द्रको भेंट की है और ज्ञानार्णव या योगप्रदीपके कर्ता भी शुभचन्द्राचार्य ही माने जाते

हैं। उक्त विशेषण भी उनके लिए सर्वथा उपयुक्त मालूम होते हैं। ऐसी हालतमें प्रश्न होता है कि क्या जाहिणीने स्वयं ग्रन्थकर्त्ताको ही उनका ग्रन्थ लिखकर भेंट किया गया होगा? असंभव न होनेपर भी यह बात कुछ विचित्र-सी जरूर मालूम होती है। यदि ऐसा होता तो प्रशस्तिमें आर्थिकाकी ओरसे इस बातका भी संकेत किया जाता कि शुभचन्द्र योगीको उन्हींकी रचना लिखकर भेंट की जाती है। इसलिए यही अनुमान करना पड़ता है कि ग्रन्थकर्त्ताके अतिरिक्त उन्हींके नामके कोई दूसरे शुभचन्द्र योगी थे जिन्हें इस प्रतिका दान किया गया है। अक्सर आचार्य-परम्पराओंमें जो नाम एक आचार्यका होता था वही उसके प्रशिष्यका भी मिलता है, जिस तरह धर्मपरीक्षाके कर्त्ता अमितगतिक परदादा गुरुका भी नाम अमितगति था। बहुत संभव है कि जिन शुभचन्द्र योगीको उक्त प्रति दान की गई है, ग्रन्थकर्त्ता उनके ही प्रगुरु (दादा गुरु) या प्रगुरुके भी गुरु हों। इसके सिवाय शुभचन्द्र नाम कुछ ऐसा लोकप्रिय रहा है कि इस नामके बीसों आचार्य हो गये हैं।

पाटणकी उक्त प्रति वि० सं० १२८४ की लिखी हुई है और आर्थिका जाहिणीवाली प्रति यदि उससे अधिक नहीं पचीस-तांस वर्ष पहलेकी भी समझ ली जाय और ग्रन्थ उस प्रतिसे केवल तीस चालीस वर्ष पहले ही रचा गया हो, तो विक्रमकी बारहवीं शताब्दिके अन्तिम पादसे भी पहले ज्ञानार्णवकी रचनाका समय जा पहुँचता है।

योगशास्त्र और ज्ञानार्णव

प्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रके योगशास्त्र और ज्ञानार्णवमें बहुत अधिक समानता है। योगशास्त्रके पाँचवें प्रकाशसे लेकर ग्यारहवें प्रकाश तकका प्राणायाम और ध्यानवाला भाग ज्ञानार्णवके उन्तीसवेंसे लेकर ब्यालीसवें तकके सगोंकी एक तरहसे नकल ही मालूम होता है। छन्द-परिवर्तनके कारण जो थोड़े बहुत शब्द बदलने पड़े हैं उनके सिवाय सम्पूर्ण विषय दोनों ग्रन्थोंमें प्रायः एक-सा है। इसी तरह चौथे प्रकाशमें कषायजयका उपाय इन्द्रियजय, इन्द्रियजयका उपाय मनः शुद्धि, उसका उपाय रागद्वेषका जय, उसका उपाय समत्व और समत्वकी प्राप्ति ही ध्यानकी मुख्य योग्यता है, ऐसा जो कोटि-क्रम दिया है वह भी

१ पहली प्रति नरवर (मालवा) में लिखी गई थी और दूसरी गोंडल (काठियावाड़) में। मालवेसे गोंडल उस समयकी दृष्टिसे काफी दूर है।

ज्ञानार्णवके २१ से २७ तकके सर्गोंमें शब्दशः और अर्थशः एकजैसा है। अनित्यादि भावनाओंका और अहिंसादि महाव्रतोंका वर्णन भी कमसे कम शैलीकी दृष्टिसे समान है। शब्द-साम्य भी जगह जगह दिखाई देता है। कुछ नमूने देखिए—

किम्पाकफलसंभोगसन्निभं तद्धि मैथुनम् ।

आपातमात्ररम्यं स्याद्विपाकेऽत्यन्तभीतिदम् ।

—ज्ञानार्णव पृ० १३४

रम्यमापातमात्रे यत्परिणामेऽतिदारुणम् ।

किम्पाकफल-संकाशं तत्कः सेवेत मैथुनम् ॥ ७८ ॥

—योगशास्त्र द्वि० प्र०

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम् ।

यस्य चित्तं स्थिरीभूतं स हि ध्याता प्रशस्यते ॥ ३

स्वर्णाचल इवाकम्पा ज्योतिः पथ इवामलाः ।

समीर इव निःसङ्गा निर्ममत्वं समाश्रिताः ॥ १५

—ज्ञानार्णव पृ० ८४-८६

विरतः कामभोगेभ्यः स्वशरीरेऽपि निःस्पृहः ।

संवेगहृन्निर्मग्नः सर्वत्र समताश्रयन् ॥ ५

सुमेरुरिव निष्कम्पः शशीवानन्ददायकः ।

समीर इव निस्संगः सुधीर्ध्याता प्रशस्यते ॥ १६

योगशास्त्र सप्तम् प्र०

आचार्य हेमचन्द्रका स्वर्गवास वि० सं० १२२९ में हुआ है। विविध विषयोंपर उन्होंने सैकड़ों ग्रन्थोंकी रचना की है। योगशास्त्र महाराजा कुमारपालके कहनेसे रचा गया था और उनका कुमारपालसे अधिक निकटका परिचय वि० सं० १२०७ के बाद हुआ था। अतएव योगशास्त्र वि० सं० १२०७ से लेकर १२२९ तकके बीचके किसी समयमें रचा गया है।

यह तो निश्चित है कि शुभचन्द्र और हेमचन्द्र दोनोंसे किसी एकके सामने दूसरेका ग्रन्थ मौजूद था। परन्तु जबतक शुभचन्द्रका ठीक समय निश्चित नहीं हो जाता, तब तक जोर देकर यह नहीं कहा जा सकता कि किसने किसका अनुकरण और अनुवाद किया है।

‘उक्तं च’ श्लोकोंकी खोज करते हुए हमें मुद्रित ज्ञानार्णवके २८६ पृ०

(सर्ग २९) में नीचे लिखे दो श्लोक इस प्रकार मिले—

उक्तं च श्लोकद्वयं—

समाकृष्य यदा प्राणधारणं स तु पूरकः ।

नाभिमध्ये स्थिरीकृत्य रोधनं स तु कुम्भकः ॥

यत्कोष्ठादतित्यत्नेन नासा ब्रह्मपुरातनैः ।

बहिःप्रक्षेपणं वायोः स रेचक इति स्मृतः ॥

और यही श्लोक हेमचन्द्रके योगशास्त्रके पाँचवें प्रकाशमें नं० ६ और ७ पर मौजूद हैं। सिर्फ इतना अन्तर है कि योगशास्त्रमें ' नाभिमध्ये ' की जगह ' नाभिपद्मे ' और ' पुरातनैः ' की जगह ' पुराननैः ' पाठ है।

इससे यह अनुमान होता है कि ज्ञानार्णव योगशास्त्रके बादकी रचना है और उसके कर्त्ताने इन श्लोकोंको योगशास्त्र परसे ही उठाया है। परन्तु हमें इस विषयमें सुदृढ़ प्रतिपत्ति विश्वास न हुआ और हमने ज्ञानार्णवकी हस्तलिखित प्रतियोंकी खोज की।

बम्बईके तेरहपन्थी जैनमन्दिरके भण्डारमें ज्ञानार्णवकी एक १७×७ साईजकी हस्तलिखित प्राचीन प्रति है, जिसके प्रारम्भके ३४ पत्र (स्त्रीस्वरूपप्रतिपादक प्रकरणके ४६ वें पद्य तक) तो संस्कृत टीकासहित हैं और आगेके पत्र बिना टीकाके हैं। परन्तु उनके नीचे टीकाके लिए जगह छोड़ी हुई है। टीकाकर्त्ता कौन हैं, सो मालूम नहीं होता। वे मंगलाचरण आदि कुछ न करके इस तरह टीका शुरू कर देते हैं—

ओं नमः सिद्धेभ्यः । अहं श्रीशुभचन्द्राचार्यः परमात्मानमव्ययं नौमि नमामि किं भूतं परमात्मानं अजं जन्मरहितं पुनः किं भूतं परमात्मानं अव्ययं विनाशरहितं पुनः किं भूतं परमात्मानं निष्ठितार्थं निष्पन्नार्थं पुनः किं भूतं परमात्मानं ज्ञानलक्ष्मीघनाश्लेषप्रभवानन्दनन्दितं ज्ञानमेव लक्ष्मीस्तस्या योऽसौ घनाश्लेषं निविद्धाश्लेषस्तस्मात् प्रभव उत्पन्नो योऽसौ आनन्दस्तेन नन्दितम् । ”

इस प्रतिके शुरूके पत्रोंके ऊपरका हिस्सा कुछ जल-सा गया है और कहीं कहींके कुछ अंश झड़ गये हैं। प्रारम्भके पत्रकी पीठपर कागज चिपकाकर बड़ी सावधानीसे मरम्मत की गई है। पूरी प्रति एक ही लेखककी लिखी हुई मालूम होती है। यद्यपि ग्रन्थान्तमें लिपिकर्त्ताका नाम तिथि, संवत् आदि कुछ भी नहीं है, फिर भी हमारे अनुमानसे वह डेढ़-दो सौ वर्षसे इधरकी लिखी हुई नहीं है।

इस प्रतिमें हमने देखा कि प्राणायाम-सम्बन्धी वे दो 'उक्तं च' पद्य हैं ही नहीं, जो छपी हुई प्रतिमें दिये हैं और जो आचार्य हेमचन्द्रके योगशास्त्रके हैं। तब ये छपी प्रतिमें कहाँसे आये ?

स्व० पं० पन्नालालजी वाकलीवालने पं० जयचन्द्रजीकी भाषा वचनिकाको ही खड़ी बालीमें परिवर्तित करके ज्ञानार्णव छपाया था। इसलिए हमने पं० जयचन्द्रजीकी वचनिकावाली प्रति भी तेरहपन्थी मन्दिरके भंडारसे निकलवाकर देखी। मालूम हुआ कि उन्होंने इन श्लोकोंको उद्धृत करते हुए लिखा है—“इहाँ उक्तं च दोय श्लोक हैं—”

पं० जयचन्द्रजीने अपनी उक्त वचनिका माघ सुदी पंचमी भृगुवार संवत् १८०८ को समाप्त की थी। या तो इन श्लोकोंको प्रकरणोपयोगी समझ कर स्वयं पं० जयचन्द्रजीने ही योगशास्त्र परसे 'उक्तं च' रूपमें उठा लिया होगा या फिर उनके पास जो मूल प्रति रही होगी उसमें ही किसीने उद्धृत कर दिया होगा। परन्तु मूलकी सभी प्रतियोंमें ये श्लोक न होंगे। निदान दो सौ वर्षसे पुरानी प्रतियोंमें तो नहीं ही होंगे। पाठकोंको चाहिए कि वे प्राचीन प्रतियोंको इसके लिए देखें।

लिपिकर्त्ताओंकी कृपासे 'उक्तं च' पद्योंके विषयमें इस तरहकी गड़बड़ अक्सर हुआ करती है और यह गड़बड़ समय-निर्णय करते समय बड़ी झंझटें खड़ी कर दिया करती है।

ज्ञानार्णवकी छपी हुई प्रतिको ही देखिए। इसके पृष्ठ ४३१ (प्रकरण ४२) के 'शुचिगुणयोगाद्' आदि पद्यको 'उक्तं च' नहीं लिखा है परन्तु तेरहपन्थी मंदिरकी उक्त संस्कृतटीकावाली प्रतिमें यह 'उक्तं च' है। पं० जयचन्द्रजीकी वचनिकामें भी इसे 'उक्तं च आर्या' करके लिखा है, परन्तु छपानेवालोंने 'उक्तं च' छोड़ दिया है ! इसी तरह अड़तीसवें प्रकरणमें संस्कृतटीकावाली प्रतिमें और वचनिकामें भी 'शंखेन्दुकुन्दधवला ध्यानोद्देवास्त्रयो विधानेन' आदि

१ पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने भी एक श्लोकके सम्बन्धमें लिखा था कि वह 'ज्ञानार्णव' का नहीं है किन्तु 'इष्टोपदेश' से या किसी पुराने ग्रन्थसे उद्धृत किया गया है, जब कि ज्ञानार्णवकी छपी प्रतिमें 'उक्तं च' न लिखकर उसे मूलका बना दिया गया है —देखो जैनहितैषी भाग, १५, पृ० १९७-१८ में 'ज्ञानार्णवके एक पद्यकी जाँच।'

पद्य 'उक्तं च' करके दिया है परन्तु छपी हुई प्रतिमें यह मूलमें ही शामिल कर लिया गया है।

'ध्येयं स्याद्वीतरागस्य' आदि पद्य छपी प्रतिके ४०७ पृष्ठमें 'उक्तं च' है परन्तु पूर्वोक्त सटीक प्रतिमें इसे 'उक्तं च' न लिखकर इसके आगेके 'वीतरागो भवेद्योगी' पद्यको 'उक्तं च' लिखा है और छपीमें तथा वचनिकामें भी, दोनोंको ही 'उक्तं च'।

'उक्तं च' पद्योंके सम्बन्धमें छपी और सटीक तथा वचनिकावाली प्रतियोंमें इसी तरह और भी कई जगह फर्क है, जो स्थानाभावसे नहीं बतलाया जा सका। अभिप्राय यह है कि ज्ञानार्णवकी छपी प्रतिमें हेमचन्द्रके योगशास्त्रके उक्त दो पद्योंके रहनेसे यह सिद्ध नहीं होता कि शुभचन्द्राचार्यने स्वयं ही उन्हें उद्धृत किया है और इस कारण वे हेमचन्द्रके पीछेके हैं। इसके लिए कुछ और पुष्ट प्रमाण चाहिए।

पाटणके भंडारकी उक्त प्राचीन प्रति तो बहुत कुछ इसी ओर संकेत करती है कि ज्ञानार्णव योगशास्त्रसे पीछेका नहीं है।

नोट—अबसे कोई चौतीस वर्ष पहले (जुलाई सन १९०७ में) मैंने ज्ञानार्णवकी भूमिकामें 'शुभचन्द्राचार्यका समय-निर्णय' लिखा था और विश्वभूषण भट्टारकके 'भक्तामरचरित'को प्रमाणभूत मानकर धाराधीशभोज, कालिदास, वररुचि, धनंजय, मानतुंग, भर्तृहरि आदि भिन्न भिन्न समयवर्त्ती विद्वानोंको समकालीन बतलानेका प्रयत्न किया था। परन्तु जब पिछले भट्टारकोंद्वारा निर्मित अधिकांश कथा-साहित्यकी ऐतिहासिकतापर सन्देह होने लगा, तब उक्त भूमिका लिखनेके कोई आठ नौ वर्ष बाद दिगम्बर जैनके विशेषाङ्क (श्रावण संवत् १९७३) में 'शुभचन्द्राचार्य' शीर्षक लेख लिखकर मैंने पूर्वोक्त बातोंका प्रतिवाद कर दिया, परन्तु ज्ञानार्णवकी उक्त भूमिका अब भी ज्योंकी त्यों पाठकोंके हाथोंमें जाती है। मुझे दुःख है कि प्रकाशकोंसे निवेदन कर देने पर भी वह निकाली नहीं गई और इस तीसरी आवृत्तिमें भी बदस्तूर कायम है। विद्वान् पाठकोंसे निवेदन है कि 'भक्तामरचरित' की कथाका खयाल न करके ही वे श्रीशुभचन्द्राचार्यका ठीक समय निर्णय करनेका प्रयत्न करें।

आचार्य अनन्तकीर्ति

आचार्य अनन्तकीर्ति बहुत बड़े यशस्वी तार्किक हो गये हैं। धर्मशसिद्धि या सर्वशसिद्धिके अन्तमें उन्होंने लिखा है—

समस्तभुवनव्यापियशसानन्तकीर्तिना ।

कृतेयमुज्ज्वला सिद्धिर्धर्मज्ञस्य निरर्गला ॥

उनके बनाये हुए सर्वशसिद्धि और बृहत्सर्वशसिद्धि नामके दो ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, परन्तु उनमें कोई प्रशस्ति आदि नहीं है जिससे उनकी गुरुपरम्परा आदिका कुछ पता लग सके। वादिराजसूरिने अपने पार्श्वनाथचरितमें उनका स्मरण इस प्रकार किया है—

आत्मनैवाद्वितीयेन जीवसिद्धिं निबध्नता ।

अनन्तकीर्तिना मुक्तिरात्रिमार्गेण लक्ष्यते ॥ २४

‘जीवसिद्धिं निबध्नता’ पदसे ऐसा मालूम होता है कि उन्होंने जीवसिद्धि ग्रन्थपर कोई निबन्ध या टीका लिखी थी, और यह उसी ‘जीवसिद्धि’ नामक ग्रन्थकी टीका होगी, जिसका कि उल्लेख आचार्य जिनसेनने अपने हरिवंशपुराणमें इस प्रकार किया है—

जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम् ।

वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते ॥

वादिराजने आचार्य जिनसेनके बाद अनन्तकीर्तिका स्मरण किया है और ऐसा मालूम होता है कि उन्होंने पूर्व कवियोंका स्मरण प्रायः समयक्रमसे किया है। इससे अनन्तकीर्तिका समय जिनसेनके बाद और वादिराजसूरिसे पहले अर्थात् वि० सं० ८४० और १०८२ के बीच मानना चाहिए।

न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीने लिखा है कि सिद्धिविनिश्चय टीकामें आचार्य अनन्तवीर्यने भी एक अनन्तकीर्तिका उल्लेख किया है और वे बहुत करके यही होंगे। इनके बृहत्सर्वशसिद्धि ग्रन्थका न्यायकुमुदचन्द्रपर प्रभाव पड़ा है, अतएव ये प्रभाचन्द्रसे पहलेके होना चाहिए और प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदकी रचना परमार राजा जयसिंहदेवके राज्यमें वि० सं० १११२ के लगभग की है।

पद्मप्रभ मलधारिदेव

भगवान् कुन्दकुन्दके 'नियमसार' की 'तात्पर्यवृत्ति' नामक टीकाके कर्त्ता पद्मप्रभ मलधारिदेव हैं जो अपनेको सुकविजनपयोजमित्र, पंचेन्द्रियप्रसरवर्जित, और गात्रमात्रपरिग्रह लिखते हैं। 'मलधारि' विशेषण दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सन्प्रदायके अनेक मुनियोंके नामके साथ जुड़ा हुआ पाया जाता है। हमारी समझमें यह शरीरकी स्वच्छता आदिकी ओरसे सर्वथा लापरवाह होनेको सूचित करता है।

पद्मप्रभने अपनी कोई गुरुपरम्परा या संघ गण गच्छ आदिकी सूचना नहीं दी और न ग्रन्थ रचनेका कोई समय ही दिया है। फिर भी हम उन्हें विक्रमकी बारहवीं सदीका अन्त और तेरहवीं सदीके प्रारंभका ग्रन्थकर्त्ता मानते हैं और इस विषयमें हमें उनके अन्य ग्रन्थोंसे लिखे हुए उद्धरण और उल्लेख सहायता देते हैं।

१—मुद्रित तात्पर्यवृत्तिके पृ० ५३-७३ और ९९ में 'तथा चोक्तं गुणभद्रस्वामिभिः' कहकर गुणभद्राचार्यके ग्रन्थोंके उद्धरण दिये गये हैं और गुणभद्र स्वामिने अपना उत्तरपुराण श० सं० ८२० (वि० सं० ९५५) में समाप्त किया था।

२—पृ० ८३ में 'उक्तं च सोमदेवपण्डितदेवैः' लिखकर यशस्तिलकका एक पद्य उद्धृत किया है जो श० सं० ८८१ (वि० सं० १०१६) में समाप्त हुआ था।

३—पृ० ६० में 'तथाचोक्तं वादिराजदेवैः' लिखकर वादिराजका एक पद्य दिया है और वादिराजका 'पार्श्वनाथचरित' श० सं० ९४७ (वि० सं० १०८२) में समाप्त हुआ था।

१ जैसे मलधारि गण्डविमुक्तदेव, मलधारि माधवचन्द्र, मलधारि बालचन्द्र, मलधारि मल्लिखेण आदि दिगम्बर और मलधारि हेमचन्द्र, अमयदेव, जिनभद्र आदि श्वेताम्बर।

४—पृ० ६१ में चन्द्रकीर्ति मुनिके मनकी बन्दना की गई है^१ और पृ० १४२ में उन्हींके श्रुतबिन्दु नामक ग्रंथका 'तथा चोक्तं श्रुतबिन्दौ' कहकर एक पद्य उद्धृत किया है। श्रवणबेलगोलकी मल्लिषेण-प्रशस्ति (शिलालेख नं० ५४) में इन्हीं चन्द्रकीर्ति मुनिका स्मरण किया गया है और उन्हें श्रुतबिन्दुका कर्त्ता भी बतलाया है^२।

यह शिलालेख फागुन वदी ३ श० सं० १०५० (वि० सं० ११८५) का लिखा हुआ है जिस दिन मल्लिषेणमुनिने आराधनापूर्वक शरीर त्याग किया था। इसमें गोतम गणधरसे लेकर उस समय तकके बीसों आचार्यों और ग्रंथकर्त्ताओंकी प्रशस्तियाँ लिखी हैं। दुर्भाग्यसे यद्यपि आचार्योंका पूर्वापरसम्बन्ध और क्रमागत गुरु-शिष्यसम्बन्ध नहीं बतलाया है फिर भी लेख बड़े महत्त्वका है और उससे हमें अनेक आचार्योंके विषयमें काफी सूचनायें मिलती हैं। इसमें श्रुतबिन्दुके कर्त्ता चन्द्रकीर्तिके बाद कर्मप्रकृति भट्टारक, श्रीपालदेव, उनके शिष्य मतिसागर, प्रशिष्य वादिराजसूरि (पार्वचरितके कर्त्ता), हेमसेन, दयापाल (वादिराजके गुरुभाई), श्रीविजय, कमलभद्र, दयापाल, शान्तिदेव, गुणसेन, अजितसेन और उनके शिष्य मल्लिषेणका उल्लेख है जिनकी स्मृतिमें उक्त लेख उत्कीर्ण किया गया है। माना कि ये सब नाम समयक्रमसे नहीं दिये गये हैं, इनमेंके बहुतसे विद्वान् शायद समकालीन भी हों, फिर भी चन्द्रकीर्तिको मल्लिषेणकी मृत्युसे पचीस वर्ष पहले, अर्थात् वि० सं० ११६० के लगभगका मानना हमारी समझमें कुछ अयुक्त न होगा। अतएव पद्मप्रभदेवने वि० सं० ११६० के बाद अपने टीका-ग्रन्थकी रचना की होगी।

१ सकलकरणग्रामालम्बाद्विमुक्तमनाकुलं
स्वाहितनिरतं शुद्धं निर्वाणकरणकारणम् ।

शमयममात्रालं मैत्रीदयादममन्दिरं
निरुपममिदं वन्द्यं श्रीचन्द्रकीर्तिमुनेर्मनः ॥

२ विश्वं यश्श्रुतबिन्दुनावरुध्वे भावं कुशाग्रायया,
बुध्येवाति महीयसा प्रवचसा बद्धं गणाधीश्वरैः,
शिष्यान्प्रत्यनुकम्पय । कृशमतीनैदं युगीनात्सुगी-
स्तं वाचार्चितचन्द्रकीर्तिगणिनं चन्द्रामकीर्ति बुधाः ॥ ३२

नियमसारकी तात्पर्यवृत्तिके प्रारंभमें^१ और पाँचवें अध्यायके अन्तमें^२ वीरनन्दि मुनिकी बन्दना की गई है और इस रूपमें की गई है, जैसे वे उनके गुरु हों ।

मद्रास प्रान्तके पटशिवपुरम् ग्राममें एक स्तंभपर पश्चिमी चालुक्य राजा त्रिभुवनमल्ल सोमेश्वर देवके समयका श० सं० ११०७का एक लेख (नं० २८) है जब कि उसके माण्डलिक त्रिभुवनमल्ल भोगदेव चोल हेजिरा नगरपर राज्य कर रहे थे । उसमें लिखा है कि जब यह जैन-मन्दिर बनवाया गया तब श्री पद्मप्रभ मलधारिदेव और उनके गुरु वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती विद्यमान् थे^३ ।

इससे यह निश्चय हो जाता है कि उक्त लेखमें जिनका जिक्र है वे पद्मप्रभ-मलधारि यही हैं और उनके गुरु भी वही वीरनन्दि हैं जिनकी तात्पर्यवृत्तिमें बन्दना की गई है । अर्थात् श० सं० ११०७ या वि० सं० १२४२ में पद्मप्रभ और उनके गुरु वीरनन्दि विद्यमान् थे ।

पद्मनन्दि-पंचविंशतिकाके कर्त्ता पद्मनन्दि नामके आचार्य भी अपने गुरुका नाम वीरनन्दि बतलाते हैं । क्या आश्चर्य जो वे यही वीरनन्दि हों और इस तरह पद्मप्रभ और वीरनन्दि एक ही गुरुके शिष्य या गुरु हों । पद्मनन्दि पंचविंशतिकाका ही एक प्रकरण 'एकत्व-सप्तति' है जो पृथक् ग्रन्थरूपमें भी मिलता है । इस 'एकत्व-सप्तति' के अनेक पद्य नियमसार टीकामें उद्धृत किये गये हैं^४ । इससे भी उक्त अनुमानको पुष्टि मिलती है ।

वीरनन्दि नामके अनेक आचार्य हुए हैं । एक वीरनन्दि आचारसारके कर्त्ता हैं जिन्होंने अपने इस आचारसारपर स्वोपज्ञा कनडी टीका श० १०७६ (वि०

१ तद्विद्याढयं वीरनन्दिब्रतीन्द्रम् ।

२ निर्यापकाचार्यनिरुक्तियुक्तामुक्तिं सदाकर्ण्य च यस्य चित्तम् ।

समस्तचारित्रनिकेतनं स्यात् तस्मै नमः संयमधारिणेऽस्मै ॥

यस्य प्रतिक्रमणमेव सदा मुमुक्षोर्नास्त्यप्रतिक्रमणमप्यणुमात्रमुच्चैः ।

तस्मै नमः सकलसंयमभूषणाय श्रीवीरनन्दिमुनिनामधराय नित्यम् ॥

३ देखो ब्रह्मचारी श्रीशीतलप्रसादद्वारा सम्पादित 'मद्रास मैसूर प्रान्तके प्राचीन जैन स्मारक ।' और एपिग्राफिया इंडिका सन् १९१६-१७ ।

४ देखो नियमसारकी तात्पर्यवृत्ति पृ० ४२, ४६ ।

सं० १२११) में समाप्त की थी और जो उन मेघचन्द्र त्रैविद्यदेवके शिष्य थे जिनका स्वर्गवास वि० ११७२ में हुआ था। यद्यपि इनका समय लगभग समीपका ही है, फिर भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि दोनों एक ही हैं जब तक कि पद्मनन्दिके गुरु वीरनन्दिके गुरु कौन थे, इसका पता न लग जाय।

इस तरह पद्मप्रभ मलधारिदेवको विक्रमकी तेरहवीं सदीके प्रारंभका विद्वान् मानना चाहिए।

पद्मप्रभदेवने अमृतचन्द्रसूरिके अनेक पद्योंको इस टीकामें उद्धृत किया है, इतना ही नहीं उनकी टीकापर अमृतचन्द्रकी टीकाओंका खूब प्रभाव भी है। जिस तरह अमृतचन्द्र अपनी टीकाओंमें जगह जगह मूलका अभिप्राय व्यक्त करनेके बाद उपसंहार रूपमें अपनी ओरसे कलशरूपमें नये पद्य बनाकर उपस्थित करते हैं ठीक उसी तरह पद्मप्रभदेव भी। इससे अमृतचन्द्र उनसे पहलेके हैं।

पद्मप्रभदेवने पृष्ठ ७२ में एक पद्य 'उक्तं च' रूपमें शुभचन्द्राचार्यके ज्ञानार्णवका उद्धृत किया है^३ और चूँकि ज्ञानार्णवमें अमृतचन्द्रके पुरुषार्थसिद्धयुपायका एक श्लोक 'उक्तं च' रूपमें उद्धृत है, अतएव शुभचन्द्र पद्मप्रभसे पहलेके और अमृतचन्द्र शुभचन्द्रसे भी पहलेके हैं।

पद्मप्रभदेवका पार्श्वनाथ-स्तोत्र या लक्ष्मीस्तोत्र नामका एक छोटा-सा स्तोत्र भी मिलता है जो माणिकचन्द्रजैन-ग्रन्थमालाके सिद्धान्तसारादिसंग्रहमें प्रकाशित हो चुका है। संभव है, उसके कर्त्ता यही पद्मप्रभ मलधारिदेव हों।

१ स्वस्तिश्रीमन्मेघचन्द्रत्रैविद्यदेवर श्रीपादप्रसादादादितात्मप्रभावसमस्तविद्याप्रभावसकल-दिग्वर्तिकीर्ति श्रीमद्वीरनन्दिसैद्धान्तिकचक्रवर्तिगण्ड शक वर्ष १०७६ श्रीमुखनामसंवत्सरे ज्येष्ठशुक्ल १ सोमवारदंदु तावु माळिदाचारसारके कर्णाटवृत्तिय माळिदपर।

२—देखो पृ० ७, १९, २२, ३४, ३७, ४०, ४४, ६६, ६८, ७५, ७८, ८१, ८५, ९०, १२०, १२९, १३७, १३९, १५२।

३—देखो पृ० ७२—तथा चोक्तं—

निष्क्रियं करणातीतं ध्यानध्येयविवर्जितम्।

अन्तर्मुखं च यद्व्यानं तच्छुक्लं योगिनं विदुः ॥—ज्ञानार्णव पृ० ४३१

आचार्य अमृतचन्द्र

आध्यात्मिक विद्वानोंमें भगवत्कुन्दकुन्दके बाद यदि किसीका नाम लिया जा सकता है तो वे आचार्य अमृतचन्द्र हैं। दुःखकी बात है कि इतने महान् आचार्यके विषयमें इसके सिवाय हम कुछ भी नहीं जानते कि उनके बनाये हुए अमुक अमुक ग्रन्थ हैं। उनकी गुरु-शिष्यपरम्परासे और समयादिसे हम सर्वथा अनभिज्ञ हैं। अपने दो ग्रन्थोंके अन्तमें वे कहते हैं कि तरह तरहके वर्णोंसे पद बन गये, पदोंसे वाक्य बन गये और वाक्योंसे यह पवित्र शास्त्र बन गया। मैंने कुछ भी नहीं किया। अन्य ग्रन्थोंमें भी उन्होंने अपना यही निर्लिप्त भाव प्रकट किया है। इससे अधिक परिचय देनेकी उन्होंने आवश्यकता ही नहीं समझी।

उनके बनाये हुए पाँच ग्रन्थ उपलब्ध हैं और वे पाँचों ही संस्कृतमें हैं—
१ पुरुषार्थसिद्धयुपाय, २ तत्त्वार्थसार, ३ समयसार-टीका, ४ प्रवचनसार टीका और ५ पञ्चास्तिकाय-टीका। पहला श्रावकाचार है जो उपलब्ध तमाम श्रावकाचारोंसे निराला और अपने ढँगका अद्वितीय है। दूसरा उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका अतिशय स्पष्ट, सुसम्बद्ध और कुछ पल्लवित पद्यानुवाद है। शेष तीन भगवत्कुन्द-कुन्दके प्रसिद्ध प्राकृत ग्रन्थोंकी संस्कृत टीकायें हैं जिनकी रचनाशैली बहुत ही प्रौढ़ और मर्मस्पर्शिनी है।

पं० आशाधरने अपने अनगारधर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिकाटीकामें अमृत-चन्द्रको दो स्थानोंमें 'ठक्कुर' नामसे अभिहित किया है—

१ एतदनुसारेणैव ठक्कुरोपीदमपाठीत्—लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे आदि।—पृ० १६०

२ एतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृतचन्द्रसूरिविरचितसमयसारटीकायां दृष्टव्यम्।
—पृ० ५८८

१ वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।

वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः ॥—पु० सि०

ठक्कुर और ठाक्कुर एकार्थवाची हैं। अक्सर राजघरानेके लोग इस पदका व्यवहार करते थे। सो यह उनकी गृहस्थावस्थाके कुलका उपपद जान पड़ता है।

अनगारधर्मामृत टीका वि० सं० १३०० में समाप्त हुई थी। अतएव उक्त समयसे पहलेके तो वे निश्चयसे हैं और प्रवचनसारकी तत्त्वदीपिका टीकामें 'जावदिया वयणवहा' और 'परसमयाणं वयणं' आदि दो गाथायें गोम्मटसार (कर्मकाण्ड ८९४-९५) से उद्धृत की गई जान पड़ती हैं। चूँ कि गोम्मटसारके कर्त्ता नेमिचन्द्र सि० च० का समय विक्रमकी ग्यारहवीं सदीका पूर्वार्ध है इस लिए अमृतचन्द्र उनसे बादके हैं। अर्थात् वे वि० १३०० से पहले और ग्यारहवीं सदीके पूर्वार्धके बाद किसी समय हुए हैं।

आचार्य शुभचन्द्रने अपने ज्ञानार्णव (पृ० १७७) में अमृतचन्द्रके पुरुषार्थ-सिद्धयुपायका 'मिथ्यात्ववेदरागा' आदि पद्य 'उक्तं च' रूपसे उद्धृत किया है, इस-लिए अमृतचन्द्र शुभचन्द्रसे भी पहलेके हैं और पद्मप्रभ मलधारिदेवने शुभचन्द्रके ज्ञानार्णवका एक श्लोक उद्धृत किया है इस लिए शुभचन्द्र पद्मप्रभसे पहलेके हैं।

लेखान्तरमें हमने पद्मप्रभका समय विक्रमकी बारहवीं सदीका अन्त और तेरहवीं सदीका प्रारंभ बतलाया है, इसलिए अमृतचन्द्रका समय विक्रमकी बारहवीं सदीके बाद नहीं माना जा सकता।

डा० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी प्रस्तावनामें तात्पर्यवृत्तिके कर्त्ता जयसेनका समय इसाकी बारहवीं सदीका उत्तरार्ध, अर्थात् विक्रमकी तेरहवीं सदीका प्रारंभ, अनुमान किया है और जयसेन अमृतचन्द्रकी तत्त्वदीपिकासे यथेष्ट परिचित जान पड़ते हैं। इससे भी अमृतचन्द्रका समय उनसे पहले, विक्रमकी बारहवीं सदी, ठीक जान पड़ता है।

क्या अमृतचन्द्रका कोई प्राकृत ग्रन्थ है ?

प्रवचनसारकी तात्पर्यवृत्तिमें जयसेनाचार्यने नीचे लिखी दो गाथाओंकी टीका की है, परन्तु अमृतचन्द्रसरिने अपनी वृत्तिमें नहीं की। इससे मालूम होता है कि वे इन्हें मूलग्रन्थकी नहीं मानते थे।

पकेसु अ आमेसु अ विपच्चमाणासु मंसपेसीसु ।

संततियमुववादी तज्जादीणं णिगोदाणं ॥

१ देखो नियमसारटीकाका पृ० ७२ और ज्ञानार्णवका पृ० ४३१।

जो पक्कमपक्कं वा पेसीं मंसस्स खादि फासदि वा ।

सो किल णिहणदि पिंडं जीवाणमणेगकोडीणं ॥

राजवार्तिकमें सूत्र २२ की टीका (पृ० २८४) में नीचे लिखी गाथा 'उक्तं च' रूपमें दी गई है—

रागादीणमणुप्पा अहिसकत्तेति देसिदं समये ।

तेसिं चेदुप्पत्ती हिंसेति जिणे हि णिहिट्ठा ॥

इसी तरह अनगारधर्मामृत-टीका (पृ० ५४२) में नीचे लिखी गाथा 'उक्तं च' रूप दी हुई है—

अप्पा कुणदि सहावं तत्थ गदा पुग्गला सहावेहिं ।

गच्छंति कम्मभावं अण्णुणागाढमोगाढा ॥

हम देखते हैं कि पुरुषार्थसिद्धयुपायमें इन चारों गाथाओंका प्रायः शब्दशः अनुवाद इस प्रकार मौजूद है—

आमास्वपिं पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु ।

सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥ ६६

आमां वा पक्कां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम् ।

स निहन्ति सततं निचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम् ॥ ६७ ॥

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।

तेषामेवोत्पात्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥ ४४ ॥

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।

स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥ १२

इन अनुवादित पद्योंको देखकर पहले हमने यह अनुमान किया था कि अमृतचन्द्रका पुरुषार्थसिद्धयुपाय जैसा ही कोई प्राकृत ग्रन्थ भी होगा और अपने ही ग्रन्थका उन्होंने संस्कृत अनुवाद कर लिया होगा । परन्तु अब ऐसा मालूम होता है कि उक्त प्राकृत पद्य किसी प्राचीन ग्रन्थके हैं और उनकी ही छाया पुरुषार्थसिद्धयुपायमें ले ली गई है । क्योंकि राजवार्तिकमें उद्धृत पूर्वोक्त पद्यको अमृतचन्द्रका माननेसे वे अकलंकदेवके भी पूर्ववर्ती सिद्ध होंगे; और उनको इतना प्राचीन माननेके लिए और कोई प्रमाण नहीं है । तत्त्वार्थसारके 'मोक्षतत्त्व' अध्यायका 'दग्धे बीजे यथात्यन्तं' आदि सातवों श्लोक और २० से लेकर ५४ तकके श्लोक अकलंकदेवके राजवार्तिकसे लिये गये जान पड़ते हैं । इसके सिवाय ये सब श्लोक तत्त्वार्थाधिगम भाष्यमें भी दो-चार शब्दोंके हेर फेरके साथ मिलते हैं । अतएव कमसे कम ये स्वयं अमृतचन्द्रके तो नहीं जान पड़ते ।

श्वेताम्बराचार्य मेघविजयजीने अपने युक्तिप्रबोधमें अमृतचन्द्रके नामसे कई पद्य उद्धृत किये हैं। उनमें भी नीचे लिखे दो पद्य प्राकृतके हैं। अतएव इनसे भी हमने अनुमान किया था कि अमृतचन्द्रका कोई प्राकृत ग्रन्थ होगा—

१—“यदुवाच अमृतचन्द्रः—

सव्वे भावा जम्हा पच्चक्खाई परिसि नाऊण ।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेरव्वं ॥”

—सातवीं गाथाकी टीका

२—“श्रावकाचारे अमृतचन्द्रोप्याह—

संघो कोवि न तारइ कडो मूले तहेव निप्पिच्छो ।

अप्पा तारइ अप्पा तम्हा अप्पा दु झायव्वो ॥”

इनमेंसे पिछली गाथा तो ‘ढाढसी गाथा’ नामक ग्रन्थकी है, अमृतचन्द्रकी नहीं। इसी तरह पहली गाथा भी अमृतचन्द्रके किसी ग्रन्थमें नहीं मिलती, यह भी किसी प्राचीन ग्रन्थकी जान पड़ती है और इसे भी अमृतचन्द्रकी बतलानेमें मेघ-विजयजीका कुछ प्रमाद हुआ है।

‘ढाढसी गाथा’ ३८ गाथाओंका एक छोटा-सा प्रकरण है। बम्बईकी रायल एशियाटिक सोसाइटीकी लाइब्रेरीमें जो हस्तलिखित ग्रन्थोंका संग्रह है उसमें इसकी एक संस्कृतटीकासहित प्रति (नं० १६१०) भी है। अभी हाल ही हमने बड़ी उत्सुकतासे इस प्रतिको देखा। सोचा कि टीकासे शायद इसके कर्त्ता आदिके विषयमें कोई नई बात मालूम हो। परन्तु निराश होना पड़ा। उसमें न तो टीका-कर्त्ताने अपना नाम ही दिया है और न मूलके विषयमें ही कुछ लिखा है। अन्तमें इतना ही लिखा है—“इति ढाढसीमुनीनां विरचिता गाथा सम्पूर्णा।” मालूम नहीं, ये ढाढसी मुनि कौन हैं और कब हुए हैं। ढाढसी नाम भी बड़ा अद्भुत-सा है।

इस ग्रन्थमें काष्ठासंघ, मूलसंघ और निःपिच्छिक (माथुर) संघोंका उल्लेख है और इनमेंसे अन्तिम माथुर संघकी उत्पत्ति देवसेनसूरिके दर्शनसारमें वि० सं० ९५३ के लगभग बतलाई गई है। यदि वह सही है तो यह ग्रन्थ विक्रमकी ग्यारहवीं सदीके पहलेका नहीं हो सकता। परन्तु इससे अमृतचन्द्रके समय-निर्णयमें कोई सहायता नहीं मिल सकती। हाँ, यदि अमृतचन्द्रने अपने किसी ग्रन्थमें उक्त ‘संघो कोवि’ आदि गाथा उद्धृत की हो और उस उद्धृत गाथाको ही मेघ-विजयजीने उनकी समझ लिया हो, तो फिर इससे भी ढाढसी गाथाके बाद १२ वीं शताब्दिका अमृतचन्द्रको मान सकते हैं।

जिनशतकके टीकाकर्ता कौन हैं ?

स्वामी समन्तभद्रका 'जिनशतक' जिसका दूसरा नाम 'स्तुति-विद्या' है, अबसे कोई तीस वर्ष पहले स्वर्गीय गुरुजी पं० पन्नालालजी वाकलीवालने संस्कृतटीका और पं० लालारामजी शास्त्रीकृत भाषानुवादसहित प्रकाशित किया था। उसके टाइटिल पेजपर संस्कृत टीकाको 'भव्योत्तमनरसिंहभट्टकृतव्याख्या' लिखा है। परन्तु ग्रन्थके प्रारंभमें टीकाकर्ताकी जो उत्थानिका है, उससे तो यह मालूम होता है कि उक्त टीका नरसिंह भट्टकी नहीं किन्तु वसुनन्दिकी बनाई हुई है। देखिए—

नमो वृषभनाथाय लोकालोकावलोकिने ।
 मोहपंकविशोषाय भासिने जिनभानवे ॥ १ ॥
 समन्तभद्रं सद्बोधं स्तुवे वरगुणालयम् ।
 निर्मलं यद्यशष्कान्तं बभूव भुवनत्रयम् ॥ २ ॥
 यस्य च सद्गुणाधारा कृतिरेषा सुपद्मिनी ।
 जिनशतकनामेति योगिनामपि दुष्करा ॥ ३ ॥
 तस्याः प्रबोधकः कश्चिन्नास्तीति विदुषां मतिः ।
 यावत्तावद्बभूवैको नरसिंहो विभाकरः ॥ ४ ॥
 दुर्गमं दुर्गमं काव्यं श्रूयते महतां वचः ।
 नरसिंहं पुनः प्राप्य सुगमं सुगमं भवेत् ॥ ५ ॥
 स्तुतिविद्यां समाश्रित्य कस्य न क्रमते मतिः ।
 तद्वृत्तिं येन जाज्ये तु कुस्ते वसुनन्द्यपि ॥ ६ ॥
 आश्रयाज्जायते लोके निःप्रभोऽपि महाद्युतिः ।
 गिरिराजं श्रितः काको धत्ते हि कनकच्छविम् ॥ ७ ॥

पहले पद्यमें भगवान् ऋषभदेवको नमस्कार किया गया है और दूसरेमें समन्तभद्रस्वामीके सद्बोधकी स्तुति की गई है और फिर कहा गया है कि उन्हीं समन्तभद्रकी सद्गुणोंकी आधारभूत यह जिनशतक नामकी रचना योगियोंके लिए भी

दुष्कर या कठिन है। जिस समय विद्वानोंका यह खयाल हो रहा था कि इस पद्मिनी या कमलिनी जैसी कृतिका प्रबोधक या खोल देनेवाला कोई नहीं है, उसी समय एक नरसिंह नामक सूर्य उदित हुआ और बड़े बड़े लोगोंसे उसके विषयमें सुनाया गया कि अतिशय दुर्गम काव्य भी नरसिंहको पाकर बिल्कुल सुगम हो जाता है और फिर स्तुतिविद्याके आश्रयसे किसकी बुद्धि नहीं चलने लगती या चंचल नहीं हो जाती? इसीलिए उसकी (स्तुतिविद्या या जिनशतककी) टीका जड़बुद्धि वसुनन्दि भी कर रहा है। सो ठीक ही है। संसारमें आश्रयसे तो प्रभाहीन भी महान् प्रभावाला हो जाता है। देखो न गिरिराज हिमालयके सहारे कौआ भी सोने जैसी छविको धारण कर लेता है।

मेरी समझमें ऊपरके श्लोकोंका यही अभिप्राय है और इससे इस टीकाके कर्त्ता 'नरसिंह' नहीं किन्तु 'वसुनन्दि' जान पड़ते हैं। नरसिंह कोई बड़े भारी विद्वान् आचार्य थे जो कठिनसे कठिन काव्योंको सुगमतासे समझा सकते थे। सो एक तो उनकी सहायतासे और दूसरे स्वयं स्तुतिविद्याके प्रभावसे वसुनन्दि इस टीकाको बनानेमें समर्थ हुए। वृत्तिकारने आलंकारिक दंगसे यही बात स्पष्ट की है।

मालूम नहीं, नरसिंहके साथ 'भट्ट' विशेषण कहाँसे लगा दिया गया है और यदि नरसिंहको ही वृत्तिकर्त्ता माना जाय, तो फिर 'कुरुते वसुनन्द्यपि' वाक्यका क्या होगा? उसकी तो फिर कोई संगति ही नहीं बैठती।

जान पड़ता है कि इन पद्योंका ठीक ठीक अभिप्राय समझमें न आनेके कारण ही भाषाटीकाकारने इस वृत्तिको अपनी कल्पनासे 'भव्योत्तमनरसिंहभट्टकृत' छपा दिया है। ग्रन्थकी मूल प्रतिमें यह लिखा होनेकी संभावना नहीं है। 'समझमें न आनेके कारण' मैं जान बूझकर कर लिख रहा हूँ और यह इसलिए कि भाषाकारने मूल ग्रन्थके अन्य सब श्लोकोंका भावार्थ तो लिख दिया है परन्तु इन पद्योंको बिल्कुल ही छोड़ दिया है।

ग्रन्थके प्रारंभमें जो सूचना प्रकाशककी ओरसे दी गई है, उसमें लिखा है कि "जयपुरसे प्राप्त एक ही प्रतिसे इसका सम्पादन हुआ है, दूसरी प्रति नहीं मिली," परन्तु उसके ठीक आगेके ही पृष्ठमें 'इति पुस्तकान्तरे पाठः' टिप्पणी दी हुई है! अर्थात् कोई दूसरी प्रति भी सम्पादकके समक्ष थी। गरज यह कि पुस्तकका प्रकाशन बहुत असावधानीसे हुआ है और इसलिए यह अनुमान होता है कि भाषाकारकी कृपासे ही वसुनन्दिकी यह टीका भव्योत्तम नरसिंहभट्टकृत बन गई है।

वसुनन्दि नामके अनेक आचार्य हो गये हैं परन्तु ये वसुनन्दि हमें वही मालूम होते हैं जिन्होंने स्वामी समन्तभद्रकी एक दूसरी कृति देवागमकी वृत्ति भी लिखी है। क्योंकि एक तो दोनोंकी रचनाशैली एक-सी है और दूसरे जिस तरह जिनशतक वृत्तिके कर्त्ताने अपनी जड़ता प्रारंभके छठे श्लोकमें प्रकट की है, उसी तरह देवागमवृत्तिके अन्तमें भी उन्होंने लिखा है—“श्रीमत्समन्तभद्राचार्यस्य... देवागमाख्यायाः कृतेः संक्षेपभूतं विवरणं कृतं श्रुतविस्मरणशीलेन वसुनन्दिना जडमतिनाऽऽत्मोपकाराय।” अर्थात् देवागमका यह संक्षिप्त विवरण जडमति और श्रुतविस्मरणशील वसुनन्दिने अपने उपकारके लिए बनाया। इसके सिवाय जिनशतकवृत्तिमें जिस तरह समन्तभद्रके सद्बोधकी बन्दना की गई है उसी तरह देवागमवृत्तिमें समन्तभद्रके मतकी।—“बन्दे तद्वत्कालदोषममलं सामन्तभद्रं मतम्।” यहाँ संबोध और मत प्रायः एकार्थवाची हैं।

प्रतिष्ठासारसंग्रह, उपासकाचार, और मूलचारकी आचारवृत्ति ये तीन ग्रन्थ और भी वसुनन्दिकृत उपलब्ध हैं। मालूम नहीं, इनके कर्त्ता भी ये ही हैं अथवा इनसे भिन्न कोई दूसरे। पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने इनका समय आचार्य अमितगतिके बाद और पं० आशाधरसे पहले विक्रमकी बारहवीं सदी निश्चित किया है^१। क्योंकि आशाधरने पहले दो ग्रन्थोंके उद्धरण अपने सागारधर्मामृत और जिनयज्ञकल्पमें दिये हैं और वसुनन्दिने अपनी आचारवृत्तिमें अमितगतिके उपासकाचारके पाँच श्लोक ‘उक्तं च’ रूपसे दिये हैं।

परन्तु अमितगतिने भी भगवती आराधनाके अन्तमें आराधनाकी स्तुति करते हुए एक वसुनन्दियोगीका उल्लेख किया है—

या निःशेषपरिग्रहेभदलने दुर्वारसिंहायते,

या कुज्ञानतमोघटाविघटने चंद्राशुरोचीयते।

या चिन्तामणिरेव चिन्तितफलैः संयोजयन्ती जनान्,

सा वः श्रीवसुनन्दियोगिमहिता पायात्सदाराधना ॥

या तो ये वसुनन्दि योगी इन वसुनन्दिसे पूर्ववर्ती कोई दूसरे ही हैं और या फिर अमितगति और वसुनन्दि समकालीन हैं, जिससे वे एक दूसरेका उल्लेख कर सके हैं। यदि समकालीन हैं, तो फिर वसुनन्दिको विक्रमकी बारहवीं नहीं किन्तु ग्यारहवीं शताब्दिका मानना चाहिए।

महाकवि धनंजय

ग्रन्थ-रचना

महाकवि धनंजयके नीचे लिखे हुए सिर्फ तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं—

१ द्विसन्धान या राघवपाण्डवीय महाकाव्य । अष्टादशसर्गात्मक इस काव्यमें राघव और पाण्डवोंकी अर्थात् रामायण और महाभारतकी कथा इस कुशलतासे ग्रथित की गई है कि उसके एक अर्थमें तो राम-चरित्र निकलता है और दूसरेमें कृष्णचरित्र । इस पद्धतिका यह सर्वश्रेष्ठ और शायद सबसे पहला काव्य है । पीछे अनेक कवियोंने इसीके अनुकरणपर अनेक काव्योंकी रचना की है । उपलब्ध जैन काव्योंके किसी न किसी एक सर्गमें जैनधर्मका स्वरूप रहता है; परन्तु इसमें यह बात नहीं है । इसी तरह प्रायः सभी जैन काव्य मुख्य नायकके निर्वाण-गमनपर समाप्त होते हैं; परन्तु यह निष्कण्टक राज्यप्राप्तिपर ही समाप्त हो गया है । इसकी ये दो विशेषतायें खास तौरपर विचारणीय हैं । कविने इसमें न तो अपने किसी पूर्ववर्ती कवि या आचार्यका उल्लेख किया है और न अपना ही कोई परिचय दिया । अन्तिम पद्यसे सिर्फ इतना ही मालूम होता है जैसा कि टीकाकारने स्पष्ट किया है कि उनकी माताका नाम श्रीदेवी, पिताका वसुदेव और गुरुका दशरथ था ।

इस ग्रन्थपर दो टीकायें उपलब्ध हैं, एक तो 'पदकौमुदी' जिसके कर्ता विनयचन्द्रके शिष्य और पद्मनन्दिके प्रशिष्य नेमिचन्द्र हैं और दूसरी 'राघव-पाण्डवीय-प्रकाशिका' जिसके कर्त्ता परवादघिरष्ट रामभट्टके पुत्र कवि देवर । इनकी रचनाका समय मालूम नहीं हो सका; परन्तु आराके जैनसिद्धान्त-भवनमें ये दोनों टीकायें मौजूद हैं ।

तीसरी संस्कृतटीका जयपुरकी पाठशालाके अध्यापक पं० बदरीनाथने पहली टीकाको संक्षिप्त करके तैयार की है और इसी टीकाके सहित यह ग्रन्थ निर्णय-सागर प्रेससे प्रकाशित हुआ है ।

१ इन टीकाओंका परिचय पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने जैनहितोषी भाग १५, अंक ५ पृ० १५२-५४ में दिया है ।

२ धनंजय-निघण्टु या नाममाला और अनेकार्थ-नाममाला—
नाममाला एक छोट्टा-सा दो सौ पद्योंका परन्तु बहुत ही महत्त्वपूर्ण शब्दकोश है।
इसके साथ ४६ श्लोकोंकी एक अनेकार्थनाममाला भी जुड़ी हुई है। संस्कृत
विद्यार्थियोंको कण्ठस्थ करनेके लिए यह बहुत ही उपयोगी रचना है।

३ विषापहारस्तोत्र—यह ३९ इन्द्रवज्रा वृत्तोंका स्तुतिपरक काव्य है और
अपनी प्रौढता, गंभीरता और अनूठी उक्तियोंके लिए प्रसिद्ध है। इसपर अनेक
संस्कृत-टीकायें मिलती हैं जिनमेंसे एक पार्ष्वनाथके पुत्र नागचन्द्रकी है जिनका
समय विक्रमकी सोलहवीं शताब्दि है^२।

कविकी प्रशंसा

प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणं।

धनंजयकवेः काव्यं रत्नत्रयमश्विमम् ॥

अर्थात् अकलंकदेवका प्रमाणशास्त्र, पूज्यपाद या देवनिन्दिका लक्षणशास्त्र या
व्याकरण और धनंजयकविका काव्य (द्विसन्धान) ये तीन अपरिचय या
बेजोड़ रत्न हैं।

यह श्लोक नाममालाके अन्तमें लिखा मिलता है। भले ही यह स्वयं धनंजयका
न हो परन्तु इसमें जो बात कही गई है, वह बिल्कुल ठीक है।

द्विसन्धाने निपुणतां स तां चक्रे धनंजयः।

यया जातं फलं तस्य सतां चक्रे धनं जयः ॥

अर्थात् धनंजयने (कविने और अर्जुनने) द्विसन्धानमें (इस नामके काव्यमें
और दोहरे निशाने लगानेमें) जो निपुणता प्राप्त की, उससे उन्हें (कविको और
अर्जुनको) सज्जनोंके समूहमें धन और जयरूप फल प्राप्त हुआ।

यह पद्य काव्यमीमांसा आदि ग्रन्थोंके कर्त्ता महाकवि राजशेखरका कहा हुआ है^३।

अनेकमेदसंधानाः खनंतो हृदये मुहुः।

वाणा धनंजयोन्मुक्ताः कर्णस्येव प्रियाः कथम् ॥

१ कवेर्धनंजयस्येयं सत्कवीनां शिरोमणिः।

प्रमाणं नाममालेति श्लोकानां च शतद्वयम् ॥

२ देखो, जैनहितैषी भाग १२, अंक १, पृ० ८७-९०

३ राजशेखरने प्राचीन कवियोंकी प्रशंसामें जो पद्य लिखे थे, वे सूक्तिमुक्तावली और
सुभाषितहारावलीमें संगृहीत हैं। उनमेंसे यह एक है।

अर्थात् अनेक (दो) प्रकारके सन्धान (निशाना और अर्थ) वाले और हृदयमें बारंबार चुभनेवाले धनंजय (अर्जुन और धनंजय कवि)के वाण(और शब्द) कर्णको (कुन्तीपुत्र कर्णको और कानोंको) प्रिय कैसे होंगे ?

यह पद्य वादिराजसूरिने अपने पार्श्वनाथचरित काव्यके प्रारंभमें लिखा है^१ ।

कविका समय

महाकवि धनंजयने स्वयं अपने समयका कोई निर्देश नहीं किया है; परन्तु नीचे लिखे प्रमाणोंसे उनके समयपर प्रकाश पड़ता है ।

१ ऊपर जिन कवियोंके प्रशंसापरक पद्य उद्धृत किये गये हैं उनमेंसे वादिराजने अपना पार्श्वचरित वि० सं० १०८२ में समाप्त किया था और महाकवि राजशेखर प्रतीहारराजा महेन्द्रपालदेवके उपाध्याय थे । महेन्द्रपालका समय वि० सं० ९६० के लगभग है अतएव वे इनसे भी पहले हुए हैं ।

२ अभी अभी एक नया प्रमाण मिला है और वह यह कि भगवज्जिनसेनके गुरु वीरसेन स्वामीने अपनी ध्वला टीका (पृ० ३८७) में जो वि० सं० ८७३ में समाप्त हुई थी धनंजयकी अनेकार्थनाममालाका नीचे लिखा श्लोक प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है—

हेतावेवं प्रकाराद्यैः व्यवच्छेदे विपर्ययः ।

प्रादुर्भावे समाप्ते च इति शब्दं विदुर्बुधैः ॥

इससे यह विश्वासके साथ कहा जा सकता है कि धनंजय विक्रमकी नौवीं शताब्दिके पूर्वार्धके बादके तो नहीं हैं और यदि नाममालाका 'प्रमाणमकलंकस्य' आदि पद्य स्वयं उनका लिखा हुआ है तो वे अकलंकसे कुछ बादके हैं । पं० महेन्द्रकुमारजी शास्त्रीने अकलंकका काल वि० सं० ७९७ से ८३७ तक निश्चित किया है । अर्थात् विक्रमकी आठवीं शताब्दिके अन्तिम चरणसे नवीं शताब्दिके पूर्वार्ध तक उनका समय समझना चाहिए ।

आचार्य जिनसेन प्रथम और द्वितीय दोनोंने अपने आदिपुराण और हरिवंशमें पुरा कवियोंकी स्तुतिके प्रसंगमें इस महाकविका उल्लेख नहीं किया, इसका कारण शायद यही हो सकता है कि धनंजय गृहस्थ थे मुनि नहीं । अन्यथा उनसे पूर्ववर्ती तो ये ये ही ।

१ आचार्य प्रभाचन्द्रने भी अपने प्रमेयकमलमार्तण्डमें दिसन्धान काव्यका उल्लेख किया है

२ देखो, पट्खण्डागमकी प्रस्तावना पृ० ६२

धनपाल नामके तीन कवि

१ धक्कड़वंशी धनपाल—इस कविको बहुत ही कम लोग जानते हैं । अपभ्रंश भाषाका यह बहुत प्राचीन कवि है । इसका सिर्फ एक ही ग्रन्थ भविसयत्त-कहा (भविष्यदत्त-कथा) या पंचमी-कहा उपलब्ध है जिसे सबसे पहले जर्मनीके सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० जैकोबीने रोमन लिपिमें प्रकाशित किया था और उसके बाद स्व० सी० डी० दलाल और डॉ० पी० डी० गुणेने गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीजमें नागरी लिपिमें । डा० जैकोबीकी राय है कि इसकी अपभ्रंश उस समयकी है, जब कि वह बोलचालकी भी भाषा थी, केवल साहित्यकी भाषा नहीं । इसके सिवाय वह नवीं शताब्दिके हरिभद्रसूरिके 'नेमिनाथचरित' की भाषासे बहुत कुछ समानता रखती है^३ और उनसे कुछ पीछे की है । डॉ० गुणे भी उसे आचार्य हेमचन्द्रने जिस अपभ्रंशका व्याकरण लिखा है उससे लगभग दो शताब्दि पहलेकी मानते हैं और इस तरह इन दोनोंके मतसे धनपाल ईसाकी दसवीं शताब्दिके कवि जान पड़ते हैं ।

धनपालने अपने ग्रन्थमें सिर्फ इतना ही परिचय दिया है कि वे धक्कड़ नामक वणिग वंशके माएसर पिता और धनश्री देवी माताके पुत्र थे^१ । इसके सिवाय और कुछ भी नहीं लिखा । अपने गुरु या सम्प्रदाय आदिका भी कुछ उल्लेख नहीं किया; परन्तु डा० जैकोबीने बतलाया है कि वे दिगम्बर सम्प्रदायके थे । क्योंकि पंचमी-कहामें सोलहवें अच्युत स्वर्गका उल्लेख है जो कि दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार है ।

१ सन् १९१८ में प्रकाशित हुआ । २ सन् १९२३ में प्रकाशित ।

३ डा० जैकोबीने उस समय हरिभद्रको ईसाकी नवीं सदीका माना था, परन्तु पीछे मुनिश्रीजिनविजयजीने अपने 'हरिभद्रसूरिका समय-निर्णय' शीर्षक लेखमें अनेक पृष्ठ प्रमाणोंसे उनको ७०५ से ७७५ ई० स० के बीचका सिद्ध किया है ।

४ धक्कड़वणिगंवि माएसरहो समुग्भविण ।

धणसिरिदेविसुएण विरइउ सरसइसंभविण ॥ ९

श्वेताम्बर संप्रदायके अनुसार स्वर्ग बारह ही हैं। इसके सिवाय इस ग्रंथके पाँचवीं सन्धिके २० वें कड़वकमें जो 'मंजिवि जेण दियंवरि लायउ' पद है उससे भी वे दिगम्बर ही मालूम होते हैं, परन्तु यह आश्चर्य है कि इस कविका पीछेके किसी दिगम्बर-जैनग्रन्थकारने कही कोई उल्लेख नहीं किया। इसकी जिन दो हस्तालिखित प्रतियोंके आधारसे पूर्वोक्त एडीशन प्रकाशित हुए हैं, वे भी श्वेताम्बर भंडारोंमें ही प्राप्त हुई हैं, दिगम्बर भंडारोंमें अभी तक इसकी कोई प्रतिलिपि नहीं देखी सुनी गई।

धक्कड़, धर्कट या धक्कड़वाल वैश्योंकी ही एक जाति है। अपभ्रंश भाषाकी धम्मपरिक्खाके कर्त्ता हरिषेण भी इसी धक्कड़वंशके हैं जिनका समय वि० सं० १०४४ है। देलवाड़में वि० सं० १२८७ का जो तेजपालका शिलालेख है, उसमें भी धर्कट या धक्कड़ जातिका उल्लेख है^१। आबूके दो अन्य शिलालेखोंमें भी इस जातिके लोगोंका जिक्र है^२। यह धक्कड़वाल जाति अब भी मौजूद है। दिगम्बर जैन डिस्कटरीके अनुसार सन् १९१४ में इसकी जनसंख्या १२७२ थी। इस जातिके लोग दिगम्बर-जैनधर्मका पालन करते हैं और अधिकांशमें बरारके आकोला और यवतमाल जिलोंमें आबाद हैं। कुछ लोग निजाम राज्यके परभणी जिलेमें भी हैं। मूलमें यह राजपूतानेकी ही जाति है और बघेरवालोंकी तरह यह भी बरारकी ओर चली आई है। हरिषेणने 'सिरिउजपुरणिग्गय-धक्कड़कुल' लिखा है, अर्थात् सिरिउजपुरसे निकला हुआ धक्कड़ कुल। इस सिरिउजपुरका ठीक ठीक पता तो नहीं चला; परन्तु शायद टोंक राज्यके सिरोंजका ही यह पुराना नाम हो। मेवाड़की पूर्व सीमापर टोंक राज्य है और सिरोंज पहले मेवाड़में ही शामिल था। हरिषेणने अपनेको मेवाड़ देशका कहा भी है।

२ महाकवि धनपाल—ये फर्रुखाबाद जिलेके सांकाश्वै नामक स्थानमें जन्म लेनेवाले काश्यपगोत्री ब्राह्मण देवर्षिके पौत्र और सर्वदेवके पुत्र थे। पहले ये जैनधर्मके विरोधी थे परन्तु पीछे अपने छोटे भाई शोभनके जिनदीक्षा ले लेनेके बाद स्वयं भी जैनधर्मके उपासक बन गये थे। परमारवंशी राजा सीयकसे लेकर महाराजा मोजके समय तक ये जीवित रहे। वाक्पातिराज मुंजकी राजसभाके ये प्रमुख रत्न थे और मुंजने इन्हें 'सरस्वती'की उपाधिसे विभूषित किया था।

१-२ देखो मुनिजिनविजयजी सम्पादित प्राचीन जैन-लेख-संग्रह, पृ० ८६, ९५, १२२

३ इस समय यह संकिता नामसे प्रसिद्ध है।

४ श्रीमुंजेन सरस्वतीति सदसि क्षोणीश्रुताव्याहृतः। —ति० सं०

संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओंपर इनका असाधारण अधिकार था । सीयक-देवने जिस समय (वि० स० १०२९ में) राष्ट्रकूटोंकी राजधानी मान्यखेटको लूटा था, उस समय इन्होंने अपनी छोटी बहिन सुन्दरीके लिए ' पाइअलच्छी नाममाला ' (प्राकृत-लक्ष्मीनाममाला) नामक कोशकी रचना की थी । उसके बाद राजा भोजके जिनागमोक्त कथा सुननेके कुतूहलको मिटानेके लिए ' तिलक-मंजरी ' नामक गद्यकाव्य लिखा, जो न केवल जैनसाहित्यमें बल्कि समग्र संस्कृत-साहित्यमें एक बेजोड़ रचना है । अपने छोटे भाई शोभनमुनिकृत संस्कृत स्तोत्रपर एक संस्कृतटीका भी इन्होंने लिखी है जिसके अन्तमें लिखा है—तस्यैव ज्येष्ठभ्रातुः पण्डितधनपालस्य । ' इसके सिवाय ऋषभ-पंचासिका (प्राकृत), महावीरस्तुति और सत्यपुरीय-महावीर-उत्साह (अपभ्रंश भाषा) नामकी कुछ फुटकर रचनायें भी इनकी मिलती हैं ।

महाकवि धनपाल श्वेताम्बरसम्प्रदायके अनुयायी थे और उनके भाईने भी इसी सम्प्रदायकी दीक्षा ली थी । प्रभावकचरित आदि ग्रन्थोंमें धनपालके जैन होनेकी विस्तृत कथा मिलती है ।

३ पल्लीवाल धनपाल—धनपाल नामके एक और कविका पता लगा है जिन्होंने महाकवि धनपालके प्रसिद्ध गद्य-काव्य ' तिलकमंजरी ' के आधारसे ' तिलकमंजरी-कथा-सार ' नामका ग्रन्थ लिखा है । उसके प्रारंभमें आदिनाथ भगवान् और भारतीकी स्तुति करके महाकवि धनपालको नमस्कार किया गया है और फिर कहा है कि उनकी विज्ञानगुम्फत और कर्णस्थित तिलकमंजरी किसको अलंकृत नहीं करती ? भ्रमरके समान मैं उसीका रस लेकर संक्षेपमें कुछ मधु उद्गिरण करूँगा । इसमें कथानक वही है, अर्थ भी प्रायः वही है, परन्तु रसौचित्यके खयालसे किया हुआ कुछ नवीन वर्णन भी है* ।

१ देखो, पृ० ३२७ की टिप्पणीमें उद्धृत गाथा ।

२—३ ये दोनों रचनायें जैनसाहित्यसंशोधक वर्ष ३ अंक ३ में प्रकाशित हो चुकी हैं ।

४—श्रीनाभेयः श्रियं दिश्याद्यस्यांशतटयोजेडा ।

भेजुर्मुखाभुजोपान्तभ्रान्तभृङ्गावलिभ्रमम् ॥ १ ॥

ग्रन्थान्तमें कविने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—अणहिल्लपुरके पल्ली-
बाल कुलमें अशेष शास्त्रोंके ज्ञाता आमन नामके कवि हुए, जिन्होंने
नेमिचरित नामक महाकाव्यकी रचना की। उनके चार पुत्र हुए, जिनमें सबसे
बड़े अनन्तपाल थे जिन्होंने पाटी-गणितकी रचना की। दूसरे धनपाल, तीसरे
रत्नपाल और चौथे गुणपाल। धनपाल अल्पज्ञ है, तो भी उसने अपने पिताकी
अभ्रान्त शिक्षाके प्रसादसे यह तिलकमंजरी कथाका सार लिखा। कातिक सुदी

जडोऽपि यत्प्रभावेन भवेन्मान्यो मनीषिणाम् ।

सदा सेव्यपदा महां सा प्रसीदतु भारती ॥ २ ॥

नमः श्रीधनपालाय येन विज्ञानगुम्फिता ।

कं नालंकुस्ते कर्णस्थिता तिलकमंजरी ॥ ३ ॥

तस्या रहस्यमादाय मधुव्रत इवादरात् ।

मन्दवागपि संक्षेपादुद्गिरामि किमप्यहम् ॥ ४ ॥

कथागुम्फः स एवात्र प्रायेणार्थास्त एव हि ।

किञ्चिन्नवीनमप्यस्ति रसौचित्येन वर्णनम् ॥ ५ ॥

१—अणहिल्लपुरख्यातः पल्लीपालकुलोद्भवः ।

जयत्यशेषशास्त्रज्ञः श्रीमान् सुकविरामनः ॥ १

सुस्लिष्टशब्दसन्दर्भमद्भुतार्थं रसोर्मिं यत् ।

येन श्रीनेमिचरितं महाकाव्यं विनिर्ममे ॥ २

चत्वारः सूनवस्तस्य ज्येष्ठस्तेषु विशेषवित् ।

अनन्तपालश्चक्रे स्पष्टां गणितपाटिकाम् ॥ ३

धनपालस्ततो नव्यकाव्यशिक्षापरायणः ।

रत्नपालः स्फुरत्प्रज्ञो गुणपालश्च विश्रुतः ॥ ४

धनपालोऽल्पज्ञश्चापि पितुरभ्रान्तशिक्षया ।

सारं तिलकमंजर्याः कथायाः किञ्चिदग्रयत् ॥ ५

इन्दु-दर्शन-सूर्याङ्गिकासरे मासि कार्तिके ।

शुक्लाष्टम्यां गुरावेषः कथासारः समर्थितः ॥ ६

ग्रन्थः किञ्चिदभ्यधिकः शतानि द्वादशान्यसौ ।

वाच्यमानः सदासद्भिर्वावदकं च नन्दतात् ॥ ७

८ गुरुवार वि० सं० १२६१ को यह समाप्त हुआ। इसमें १२०० से कुछ अधिक श्लोक हैं।

मुनि श्रीजिनविजयजी इस कविको दिगम्बर सम्प्रदायका बतलाते हैं। अपना लेख लिखते समय उनके समक्ष इस ग्रन्थकी पूरी प्रति मौजूद थी। उनके दिये हुए उद्धरणोंमें यद्यपि कविके सम्प्रदायका कोई उल्लेख नहीं है परन्तु ग्रन्थके भीतर ऐसी कोई बात अवश्य होगी जिससे वे इस निर्णयपर पहुँचे हैं। पल्लीवाल जाति दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंकी अनुयायी रही है।

मूल तिलकमंजरीके कर्ता यद्यपि श्वेताम्बरसम्प्रदायके अनुयायी थे परन्तु उनका सार इस दिगम्बरसम्प्रदायके विद्वानने लिखा, और मूलग्रन्थकारको नमस्कार भी किया, इससे उस समयके साहित्यिक विद्वानोंकी उदार-बुद्धि और मतसहिष्णुतापर प्रकाश पड़ता है। वाग्भटालंकारपर भी जो एक श्वेताम्बर कविकी रचना है खण्डेलवाल वंशके पं० वादिराजने—जो दिगम्बर सम्प्रदायके थे—अपनी संस्कृत टीका लिखी है।

देखो, जैन श्वे० का० हेरलड वर्ष ११, अंक ७-८-९-१० में 'तिलकमंजरी' शीर्षक गुजराती लेख।

महाकवि हरिचन्द्र

इस महाकविकी केवल एक ही रचना उपलब्ध है और वह है धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य । काव्यमाला-सम्पादक स्व० महामहोपाध्याय पं० दुर्गाप्रसादजीने इसकी भूमिकामें लिखा है कि यह कवि अपने कविताकी प्रौढ़तासे माघादि प्राचीन महाकवियोंकी कक्षामें आता है । परन्तु दुर्भाग्यसे इस कविके विषयमें हमारा ज्ञान बहुत ही थोड़ा है । न तो इनका इनसे पीछेके किसी ग्रन्थकर्त्ताने कहीं उल्लेख किया और न इन्होंने ही किसी पूर्ववर्ती कवि या ग्रन्थकर्त्ताका स्मरण किया है जिससे यह निर्णय किया जा सके कि ये किस समयमें हुए हैं ।

धर्मशर्माभ्युदयके अन्तमें कविने अपना सिर्फ इतना ही परिचय दिया है कि बड़ी मारी महिमावाले और सारे जगतके अवतंसरूप नोमकोंके वंशमें और कायस्थ कुलमें आर्ददेव नामके पुरुषरत्न हुए जिनकी पत्नीका नाम रथ्या था तथा उनसे हरिचन्द्र नामका पुत्र हुआ जो अरहंत भगवानके चरणकमलोंका भ्रमर था और जिसकी वाणी सारस्वत स्रोतमें निर्मल हो गई थी । हरिचन्द्र अपने माई लक्ष्मणकी

१ जीवंधरचम्पु नामका एक और ग्रन्थ महाकवि हरिचन्द्रके नामसे प्रकाशित हुआ है; परन्तु कहा जाता है कि यह हरिचन्द्रके ही अनुकरणपर किसी अज्ञातनामा विद्वान्की रचना है । यद्यपि जीवंधरचम्पुमें धर्मशर्माभ्युदयके भावों और शब्दों तकमें बहुत कुछ समानता है, इससे दोनोंको एक ही कर्त्ताकी कृति कहा जा सकता है; परन्तु साथ ही यह भी तो कह सकते हैं कि किसी अन्यने ही धर्मशर्माभ्युदयसे वे भावादि ले लिये हों । इस विषयमें अभी अधिक विचार करनेकी जरूरत है ।

२ श्रीमानमेयमहिमास्ति स नोमकानां वंशः समस्तजगतीवलयावतंसः ।

हस्तावलम्बनमवाप्य समुल्लसन्ती वृद्धापि न स्वलति दुर्गपथेषु लक्ष्मीः ॥

मुक्तफलस्थितिरलंकृतिषु प्रसिद्धस्तत्रार्द्रदेव इति निर्मलमूर्तिरासीत् ।

कायस्थ एव निरवद्यगुणग्रहः सन्नेकोऽपि यः कुलमशेषमलंचकार ॥ २

लावण्याम्बुनिधिः कलाकुलगृहं सौभाग्यसद्भाग्ययोः ।

क्रीडावेस्म विलासवासवलभीभूषास्पदं संपदाम् ।

भक्ति और शक्तिसे हरिचन्द्र उसी तरह निर्व्याकुल होकर शास्त्र-समुद्रके पार हो गये जिस तरह राम लक्ष्मणके द्वारा सेतु पार हुए थे ।

इस प्रशस्तिसे यह नहीं मालूम होता कि हरिचन्द्र कहाँके रहनेवाले थे । यह नोमकोंका वंश कौन-सा था, सो भी समझमें नहीं आया । संभव है, पाठ कुछ अशुद्ध हो । वंश और कुलके विशेषणोंसे जान पड़ता है कि हरिचन्द्र किसी राजमान्य कुलके थे और यह राजमान्यता उनके यहाँ पीढ़ियोंसे चली आ रही थी ।

कायस्थोंमें जैनधर्मकी उपासनाके बहुत ही कम उदाहरण मिलते हैं और हरिचन्द्रका उदाहरण उनमें मुख्य है । कविने यह तो लिखा है कि गुरुके

शौचाचारविवेकविस्मयमही प्राणप्रिया शूलिनः

शर्वाणीव पतिव्रता प्रणयिनी रथ्येति तस्याभवत् ॥ ३

अर्हत्पदाम्भोरुहचञ्चरीकस्तयोः सुतः श्रीहरिचन्द्र आसीत् ।

गुरुप्रसादादमला बभूवुः सारस्वते स्रोतसि यस्य वाचः ॥ ४

भक्तेन शक्तेन च लक्ष्मणेन निर्व्याकुलो राम इवानुजेन ।

यः पारमासादित बुद्धिसेतुः शास्त्राम्बुराशेः परमाससाद ॥ ५

पदार्थवैचित्र्यरहस्यसंपत्सर्वस्वनिर्वेशमयात्प्रसादात् ।

वाग्देवतायाः समवेदि सभ्यैर्यः पश्चिमोऽपि प्रथमस्तनूजः ॥ ६

स कर्णपीयूषरसप्रवाहं रसध्वनेरध्वनि सार्थवाहः

श्रीधर्मशर्माभ्युदयाभिधानं महाकविः काव्यमिदं व्यधत् ॥ ७

एष्यत्यसारमपि काव्यमिदं मदीयमादेयतां जिनपतेरनघैश्चरित्रैः ।

पिण्डं मृदः स्वयमुदस्य नरा नरेन्द्रमुद्राङ्कितं किमु न मूर्धनि धारयन्ति ॥ ८

दक्षैः साधुपरीक्षितं नवनवोल्लेखार्पणेनादराद्

यच्चेतःकषपाट्टिकासु शतशः प्राप्तप्रकर्षोदयम् ।

नानामङ्गिविचित्रभावघटनासौभाग्यशोभास्पदं

तन्नः काव्यसुवर्णमस्तु कृतिनां कर्णद्वयीभूषणम् ॥ ८

जीयाजैनमिदं मतं शमयतु क्रूरानपीयं कृपा

मारत्या सह शीलयत्वविरतं श्रीसाहचर्यव्रतम् ।

मात्सर्यं गुणिषु त्यजन्तु पिशुनाः संतोषलीलाजुषः

सन्तः सन्तु भवन्तु च श्रमविदः सर्वे कवीनां जनाः ॥ १०

प्रसादसे उनकी वाणी निर्मल हो गई थी, परन्तु गुप्तका नाम नहीं दिया । वे दिगम्बर सम्प्रदायके अनुयायी थे ।

कर्पूरमंजरी नाटिकामें महाकवि राजशेखरने प्रथम जवनिकाके अनन्तर एक जगह विदूषकके द्वारा हरिचन्द्र कविका जिक्र किया है^२ । यदि ये हरिचन्द्र धर्मशर्माभ्युदयके ही कर्त्ता हों, तो इन्हें राजशेखरसे पहलेका वि० सं० ९६० से पहलेका मानना चाहिए ।

धर्मशर्माभ्युदयकी एक संस्कृतटीका मण्डलाचार्य ललितकीर्तिके शिष्य यशः-कार्तिकृत मिलती है, जिसका नाम 'सन्देहध्वान्तदीपिका' है । बहुत ही मामूली टीका है । इस महाकाव्यपर तो एक दो अच्छी टीकायें होनी थीं ।

दो प्राचीन प्रतियाँ

पाटण (गुजरात) के संघवी पाढ़ाके पुस्तक-भाण्डारमें धर्मशर्माभ्युदयकी जो हस्तलिखित प्रति है वैह वि० १२८७ की लिखी हुई है और इसलिए उससे यह निश्चय हो जाता है कि महाकवि हरिचन्द्र उक्त संवत्से बादके तो किसी तरह हो ही नहीं सकते, पूर्वके ही हैं । कितने पूर्वके हैं, यह दूसरे प्रमाणोंकी अपेक्षा रखता है । इस ग्रन्थ-प्रतिका नं० ३६ है और इसकी पुष्पिकामें लिखा है—“संवत् १२८७ वर्षे हरिचन्द्रकविविरचितधर्मशर्माभ्युदयकाव्यपुस्तिका श्रीरत्नाकरसूरि आदेशेन कीर्तिचंद्रगणिना लिखितमिति भद्रम् ॥”

इस प्रतिमें १२॥×११ साइजके १९५ पत्र हैं ।

उक्त संघवी पाढ़ेके ही भाण्डारमें इस ग्रन्थकी १७६ नम्बरकी एक प्रति और भी है^३ जिसमें २०×२१ साइजके १४८ पत्र हैं । इस प्रतिमें लिखनेका समय तो नहीं दिया है; परन्तु प्रति लिखाकर वितरण करनेवालेकी एक विस्तृत

१ विदूषकः (सक्थं)—उज्जुअं पव्व ता किं ण मणइ, अम्हाणं चेडिआ हरिअन्द-णदिअंदकोट्टिसहालप्पहुदीणं पि पुरदो सुकइत्ति । (ऋज्वेव तत्किं न भण्यते, अस्माकं चेदिका हरिचन्द्र-नन्दिचन्द्र-कोटिश-हालप्रभृतीनामपि पुरतः सुकविरिति ।

२ इस टीकाकी एक प्रति बम्बईके ए० प० सरस्वतीभवन (१३८ क) में है जो वि० सं० १६५२ की लिखी हुई है । कर्त्ताका समय मालूम नहीं हुआ ।)

३-४ देखो गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीजमें प्रकाशित पाटणके जैन भाण्डारोंकी सूची ।

प्रशस्ति दी है,^१ जिसका भावार्थ यह है कि—

धर्मचक्रियों (तीर्थङ्करों) के तीर्थों और धनी मनुष्योंके कारण जो तीन भुवनमें विख्यात है, उस गुर्जर (गुजरात) देशमें विद्या और वैभवसे सम्पन्न विद्यापुर (बीजापुर) नामका नगर है । वहाँ हूँबड़ कुलमें एक पद्म नामक गृहस्थ विख्यात हुए जिनकी पत्नीका नाम शर्करा था । उसी वंशमें दाद हुए जिनके भाईका नाम निर्मल था । जिसने सर्वज्ञोंको भी प्रतिष्ठा दी अर्थात् जैन मंदिरोंकी प्रतिष्ठा कराई, उस दाताकी भला कौन प्रशंसा कर सकता है ? दादकी

४—अथास्ति गुर्जरो देशो विख्यातो भुवनत्रये ।

धर्मचक्रभृतां तीर्थैर्धनाद्वैर्मानवैरपि ॥ १ ॥

विद्यापुरं पुरं तत्त विद्याविभवसम्भवं ।

पद्मः शर्करया ख्यातः कुले हुंबडसंशके ॥ २ ॥

तस्मिन्वंशे दादनामा प्रसिद्धो भ्राता जातो निर्मलख्यस्तदीयः ।

सर्वज्ञेभ्यो यो ददौ सुप्रतिष्ठां तं दातारं को भवेत्स्तोतुमीशः ॥ ३ ॥

दादस्य पत्नी भुवि मोषलाख्या शीलांबुराशेः शुचिचंद्ररेखा ।

तन्नन्दनश्चाहणिदेविभर्ता देपालनामा महिमैकधाम ॥ ४ ॥

ताभ्यां प्रसूतो नयनाभिरामो रुंडाकनामा तनयो विनीतः ।

श्रीजैनधर्मेण पवित्रदेहो दानेन लक्ष्मीं सफलां करोति ॥ ५ ॥

हानू-जासलसंशकेऽस्य शुभगे भार्ये भवेतां द्वये,

मिथ्यात्वद्रुमदाहपावकशिखे सद्धर्ममार्गे रते ।

सागारव्रतरक्षणैकनिपुणे रत्नत्रयोद्भासिके,

रुद्रस्येव नभोनदीगिरिसुते लावण्यलीलायुते ॥ ६ ॥

श्रीकुंदकुंदस्य बभूव वंशे श्रीरामचंद्रः प्रथितप्रभावः ।

शिष्यस्तदीयः शुभकीर्तिनामा तपोगनावक्षसि हारभूतः ॥ ७ ॥

प्रद्योतते संप्रति तस्य पट्टं विद्याप्रभावेण विशालकीर्तिः ।

शित्वैरनेकैरुपसेव्यमान एकांतवादादिविनाशवज्रम् ॥ ८ ॥

जयति विजयसिंहः श्रीविशालस्य शिष्यो

जिनगुणमणिमाला यस्य कंठे सदैव ।

अमितमहिमराशेर्धर्मनाथस्य काव्यं

निजमुक्कतनिमित्तं तेन तस्मै वितीर्णम् ॥ ९ ॥

पत्नीका नाम मोषला था जो शीलवती और चन्द्ररेखाके समान पवित्र थी। उसके पुत्रका नाम महिमाधाम देपाल (देवपाल) था जिसकी चाहणि देवी नामक भार्यासे सुन्दर विनयशील रंडाक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो दान कर करके अपनी लक्ष्मीको सफल करता है। उसकी हानू और जासल नामकी दो भार्यायें महादेवकी गंगा और पार्वतीके सदृश थीं, जो सद्धर्ममार्गमें रत, सागारव्रतोंकी रक्षा करनेवाली और रत्नत्रयको प्रकाशित करनेवाली थीं।

श्रीकुन्दकुन्दके वंशमें प्रभावशाली रामचन्द्रके शिष्य शुभकीर्ति हुए जो बड़े तपस्वी थे। इस समय उनके पदको अपनी विद्याके प्रभावसे विशालकीर्ति शोभित कर रहे हैं, जिनके अनेक शिष्य हैं और जो एकान्तवादियोंको पराजित करनेवाले हैं।

विशालकीर्तिके शिष्य विजयसिंह हैं, जिनके कंठमें जिनगुणोंकी मणिमाला सदैव शोभा देती है।

उसने (रंडाकने ?) यह भगवान् धर्मनाथका काव्य (धर्मशर्माभ्युदय) पुण्यवृद्धिके निमित्त विजयसिंहको वितरण किया।

इस १७६ नम्बरवाली प्रतिमें प्रति लिखनेका समय नहीं दिया है; परन्तु रामचन्द्र, शुभकीर्ति या विशालकीर्तिके समयका पता यदि अन्य साधनोंसे लगाया जा सके तो वह मालूम हो सकता है। विद्यापुर गुजरातका बीजापुर ही मालूम होता है। वहाँ हूँवड़ जातिके जैनोंकी बस्ती अब भी है।

साहित्याचार्य पं० राजकुमार शास्त्री अपने ता० २२-११-४१ के पत्रमें लिखते हैं कि वाग्भटके नेमिनिर्वाण काव्य और धर्मशर्माभ्युदयका तुलनात्मक अध्ययन करनेसे ऐसा मालूम होता है कि वाग्भटने धर्मशर्माभ्युदयका अच्छी तरह परिशीलन किया था। कई पद्योंको थोड़ेसे ही हेरफेरके साथ उन्होंने अपना बना लिया है। उदाहरणके लिए दोनोंका प्रथम पद्य देखिए। इसी तरह धर्मशर्माभ्युदयके पंचम सर्गका और नेमिनिर्वाणके द्वितीय सर्गका प्रारंभिक अंश भी मिलता जुलता है जिसमें कि एक सुरांगना आकाशसे उतरती हुई राजाको दिखलाई देती है और इससे धर्मशर्माभ्युदय नेमिनिर्वाणसे पहलेका जान पड़ता है। अन्यत्र बतलाया गया है कि नेमिनिर्वाण विक्रमकी बारहवीं शताब्दिके प्रारम्भसे पहलेकी रचना है। अतएव हरिचन्द्रका समय ग्यारहवीं शताब्दितक तो पहुँच ही जाता है।

महाकवि वादीभसिंह

वादीभसिंहके दो काव्य ग्रन्थ उपलब्ध हैं, गद्यचिन्तामणि और क्षत्रचूड़ामणि । पहला गद्य-काव्य है और दूसरा अनुष्टुप् श्लोकबद्ध पद्य-काव्य । पहला महाकवि वाणकी कादम्बरी और धनपालकी तिलकमंजरीके ढंगका है और जैनोंके काव्य-साहित्यमें बहुत ही महत्त्वकी रचना है । दूसरेकी विशेषता यह है कि कथाके साथ साथ उसमें नीति और उपदेश भी चलता है । कवि श्लोकके पूर्वार्धमें तो अपनी कथाको कहता चलता है और साथ साथ उत्तरार्धमें आर्यान्तरन्यासके द्वारा कोई न कोई नीति या शिक्षाकी सुन्दर सूक्ति देता जाता है । दोनों काव्योंके कथानक बिल्कुल एक हैं, क्षत्र या क्षत्रियोंमें चूड़ामणिके तुल्य जीवंधर नामक पुराण पुरुषका चरित दोनोंमें निबद्ध है । पहला शृंगारादि रसोंसे परिष्कृत है, अतएव प्रौढ लोगोंके लिए है और दूसरा शायद सुकुमारमति कुमारोंके लिए लिखा गया है, इसलिए उसमें शिक्षाकी प्रधानता है ।

कविने गद्यचिन्तामणिके प्रारंभमें अपने गुरुका नाम आचार्य पुष्पसेन बतलाया है और कहा है कि उन्हींके प्रसादसे उन्हें वादीभसिंहता और मुनिपुंगवता (आचार्यता) प्राप्त हुई और अन्तके दो श्लोकोंमें बतलाया है कि उनका वास्तव नाम ओडयदेव था ।

१—श्रीपुष्पसेनमुनिनाथ इति प्रतीतो,
दिव्यो मनुर्हृदि सदा मम संनिदध्यात् ।
यच्छक्तितः प्रकृतिमूढमतिर्जनोऽपि,
वादीभसिंहमुनिपुंगवतामुपैति ॥ ६

२—श्रीमद्वादीभसिंहेन गद्याचिन्तामणिः कृतः,
स्थेयादोडयदेवेन चिरायास्थानभूषणः ॥
स्थेयादोडयदेवेन वादीभहरिणा कृतः,
गद्याचिन्तामणिलोकं चिन्तामणिरिवापरः ॥

वादीमसिंहका अर्थ है वादिरूपी हाथियोंके लिए सिंहके तुल्य । स्पष्ट ही यह एक विशेषण है जो उनके वादिविजेता होनेको प्रकट करता है । यह उनका नाम नहीं, विशेषण या पदवी है जो आगे चलकर नाम ही बन गई है ।

और भी अनेक आचार्योंको यह पदवी प्राप्त थी और उसका उपयोग कहीं कहीं उनके नामोंके साथ और कहीं कहीं बिना नामके भी किया जाता था । मल्लिषेण-प्रशास्तिमें आचार्य अजितसेनका उनके वादीमसिंह पदके साथ उल्लेख किया गया है^१ और श्रवणबेलगोलके ४९३ वें शिलालेखमें अरुंगलान्वयके श्रीपाल त्रैविद्यदेवको भी वादीमसिंह लिखा है^२ ।

भगवज्जिनसेनने आदिपुराणके प्रारंभमें अपने पूर्ववर्ती विद्वानोंकी स्तुति करते हुए एकका उल्लेख 'वादिसिंह' नामसे किया है^३ जो कि निश्चयसे किसीकी पदवी है और वह पदवी उस समय इतनी प्रसिद्ध थी कि उसके साथ वास्तविक नाम देनेकी उन्हें आवश्यकता ही प्रतीत न हुई । लघुसमन्तभद्रने भी अपने अष्टसहस्री-टिप्पणमें 'आप्तमीमांसा' को 'वादीमसिंहोपलालित' विशेषण दिया है, जो पदवी ही है, नाम नहीं । इस पदवीपरसे हम तब तक पदवीधरके नामका ठीक ठीक अनुमान नहीं कर सकते जब तक कि उसके लिए कोई दूसरे सबल प्रमाण न हों ।

अजितसेन और ओडयदेव

सबसे पहले सन् १९१६ में स्व० पं० टी० एस० कुप्पूस्वामी शास्त्रीने गद्यचिन्तामणिकी भूमिकामें लिखा था कि मल्लिषेण-प्रशास्तिके अजितसेन और गद्यचिन्तामणिके कर्त्ता वादीमसिंह एक ही जान पड़ते हैं । परन्तु इसके लिए उन्होंने कोई विशेष प्रमाण उपस्थित नहीं किये थे । उसके बाद पं० के० भुजबलि शास्त्रीने उक्त धारणाको पुष्ट करनेके लिए हाल ही दो विस्तृत लेख

१—सकलभुवनपालानम्रमूर्द्धावबद्धस्फुरितमुकुटचूडालीढपादारविन्दः ।

मदवदखिलवादीभेन्द्रकुम्भप्रभेदी गणभृदजितसेनो माति वादीमसिंहः ॥ ५७

२ इन्तु निरवधस्याद्वादभूषणरं गणपोषणसमेतस्मागि वादीमसिंह वादिकोलाहल ... श्रीपाल त्रैविद्यदेवगो ।

३ कवित्वस्य परा सीमा वाग्मिवस्य परं पदम् ।

गमकत्वस्य पर्यन्तो वादिसिंहोऽर्च्यते न कैः ॥ ५४

प्रकाशित किये हैं, परन्तु उनमें वे एक भी प्रमाण ऐसा नहीं दे सके हैं जो निःसंशयरूपसे अजितसेनको गद्यचिन्तामणिका कर्त्ता सिद्ध करनेके लिए पर्याप्त हो।

एक तो अजितसेनके गुरुका नाम पुष्पसेन नहीं है, और लगभग उसी समयके जिन एक पुष्पसेन मुनिको अजितसेनका गुरु माननेके लिए शास्त्रीजीने आविष्कृत किया है, उनका अजितसेन नामका कोई शिष्य ही नहीं है, बल्कि उनके शिष्यका नाम वासुपूज्य सिद्धान्तदेव है, साथ ही पुष्पसेन और अजितसेनका स्थितिकाल भी दोनोंके गुरु-शिष्य होनेमें बहुत कुछ बाधक है। दूसरे अजितसेन राजमान्य विद्वान् थे, अनेक राजा उनके चरणोंमें सिर झुकाते थे, परन्तु ओडयदेव या वादीमसिंहके विषयमें ऐसा कोई उल्लेख नहीं है जिसमें उन्हें राजमान्य कहा गया हो^१। तीसरे अजितसेनके सम्बन्धमें जितने उद्धरण शास्त्रीजीने दिये हैं उनमेंसे किसीमें भी उन्हें महाकवि या काव्य-ग्रन्थोंका कर्त्ता नहीं बतलाया है। यदि वे गद्यचिन्तामणि जैसे श्रेष्ठ काव्यके कर्त्ता होते, तो कमसे कम मल्लिषेण-प्रशस्तिमें उनकी इस विशेषताका संकेत अवश्य होता। इस प्रशस्तिमें उनकी प्रशंसामें एक दो नहीं ५० पंक्तियाँ खर्च की गई हैं। उक्त प्रशस्ति और दूसरे उल्लेखोंसे तो वे बड़े भारी वादिविजेता और तार्किक ही मालूम होते हैं, कवि नहीं। इन सब बातोंसे ओडयदेव और अजितसेन एक नहीं हो सकते। दोनोंमें सिर्फ एक ही समता है और वह यह कि दोनों 'वादीमसिंह' पदको धारण करनेवाले थे।

अकलंकदेवके समकालीन ओडयदेव

पं० कैलासचन्द्रजी शास्त्रीने न्यायकुमुदचन्द्र (प्रथम खंड) की भूमिकामें लिखा है कि मल्लिषेण-प्रशस्तिमें जिन पुष्पसेन मुनिको अकलंकदेवका सधर्मा या गुरुभाई बतलाया है, वादीमसिंह उन्हींके शिष्य प्रतीत होते हैं और लघुसमन्तभद्रके अष्टसहस्री-टिप्पणमें जिन वादीमसिंहका उल्लेख है वे भी शायद यही हों।

१ देखो जैनसिद्धान्त भास्कर भाग ६, अंक २ पृ० ७८-८७ और भाग ७ अंक १ पृ० १-८

२ शास्त्रीजीने गद्यचिन्तामणिकी प्रशस्तिमें 'चिरायास्थान-भूषणः' पदसे शायद यह समझ लिया है कि वे राजमान्य थे। 'आस्थान-भूषण' का अर्थ है सभाका भूषण या शोभा और यह विशेषण गद्यचिन्तामणिके लिए दिया गया है, कविके लिए नहीं। कविका सिर्फ इतना ही अभिप्राय है कि यह ग्रन्थ चिरकालके लिए सभाओंका भूषणरूप होकर रहे।

इसके सिवाय उन्होंने भगवज्जिनसेन और वादिराजेन्द्रा स्मृत वादिसिंहको भी वादीभसिंह ही होनेकी संभावना प्रकट की है ।

पहले मेरा भी यही खयाल था; परन्तु अब मैं ओडयदेव या वादीभसिंहको इतना प्राचीन नहीं समझता । मेरी समझमें एक वादिसिंह या वादीभसिंह भगवज्जिनसेनसे पहले हुए जरूर हैं जिनका वास्तविक नाम मालूम नहीं है और आत्ममीमांसापर भी शायद उन्हींकी कोई टीका थी परन्तु गद्यचिन्तामणिकारसे वे पृथक् हैं, यद्यपि वे भी कवि, वादी और तार्किक थे । इसके सिवाय अकलंकदेवके सधर्मा पुष्पसेनके ही वे शिष्य थे, यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता ।

सोमदेवका शिष्यत्व

श्रुतसागरसूरिने यशस्तिलककी टीका (आश्वास २) में वादिराज महाकविका एक पद्य उद्धृत करके लिखा है कि ये वादिराज भी सोमदेवके शिष्य हैं^२ । क्योंकि सोमदेव कहते हैं कि ' वादीभसिंह भी मेरे शिष्य हैं और वादिराज भी । ' परन्तु श्रुतसागरके इस कथनपर विश्वास नहीं किया जा सकता । क्योंकि एक तो उन्होंने यह बतलानेकी कृपा नहीं की कि सोमदेवने उक्त वचन किस ग्रन्थमें किस प्रसंगपर कहा है और दूसरे सोमदेवने अपने यशस्तिलकको शक संवत् ८८१ (वि० सं० १०१६) में पूरा किया है और वादिराजने अपना पार्श्वनाथचरित श० सं० ९४७ (वि० सं० १०८२) में उनसे ६६ वर्ष बाद । इसके सिवाय वादिराज स्वयं अपने गुरुका नाम मतिसागर बतलाते हैं और वादीभसिंह अपने गुरुका नाम पुष्पसेन । अतएव कमसे कम गद्यचिन्तामणिके कर्त्ता वादीभसिंहको तो सोमदेवका शिष्य किसी तरह नहीं माना जा सकता ।

१-स्याद्वादगिरिमाश्रित्य वादिसिंहस्य गर्जिते ।

दिङ्नागस्य मदध्वंसे कीर्तिमंगो न दुर्घटः ॥—पा० च०

२—" उक्तं च वादिराजमहाकविना—

कर्मणा कवलिता जनिता जातः पुरान्तरजनंगमवाटे ।

कर्मकोद्वरसेन हि मत्तः किं किमत्येशुभघाम न जीवः ।

स वादिराजोऽपि श्रीसोमदेवाचार्यस्य शिष्यः । ' वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्यः श्रीवादी-राजोऽपि मदीयशिष्यः ' इत्युक्त्वाच्च । " ' कर्मणाकवलिता ' पद्य वादिराजके किस् ग्रन्थका है, यह भी मालूम नहीं हो सका । पार्श्वचरितमें तो यह है नहीं ।

कविका स्थान

कविके ओडयेदेव नामसे पं० के० मुजबलि शास्त्रीने उन्हें तमिल या द्राविड़-प्रान्तका निवासी बतलाया है और बी० शेषगिरि राव एम० ए० ने कलिंग (तेलुगु) के गंजाम जिलेके आसपासका। गंजाम जिला मद्रासके एकदम उत्तरमें है और अब उड़ीसामें जोड़ दिया गया है। वहाँ राज्यके सर्दारोंकी ओडेय और गोडेयनाम्की दो जातियाँ हैं जिनमें पारस्परिक सम्बन्ध भी है। अतएव उनकी समझमें वादीभसिंह जन्मतः ओडेय या उड़िया सदार होंगे।

ओडयेदेवका समय

गद्यचिन्तामणि और क्षत्रचूड़ामणिका जो कथानक है, वह गुणभद्राचार्यके जीवंधरचरित्र (उत्तरपुराणान्तर्गत) से लिया गया है और दोनोंमें बहुत अधिक समानता है। इसका संकेत भी गद्यचिन्तामणिके निम्नलिखित पद्यमें मिलता है—

निःसारभूतमपि बन्धनतन्तुजातं मूर्ध्ना जनो वहति हि प्रसवानुसंगात् ।

जीवंधरप्रभवपुण्यपुराणयोगाद्वाक्यं ममाप्युभयलोकहितप्रदायि ॥ ९ ॥

यह जीवंधरचरित्रका उत्पादक पुण्यपुराण उत्तरपुराण ही जान पड़ता है जो श० सं० ७०५ (वि० सं० ८४०) की रचना है, अतएव वादीभसिंह इससे पीछेके हैं।

सुप्रसिद्ध धाराधीश राजा भोजके विषयमें एक श्लोक प्रायः सभी विद्वानोंके लिए परिचित है जो कि उनके सभाकवि कालिदास (अभिनव कालिदास या परिमल) ने उनकी मृत्युका झूठा समाचार सुनकर कहा था—

अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती ।

पण्डिताः खण्डिताः सर्वे भोजराजे दिवं गते ॥

और इसी श्लोकके पूर्वार्धकी छाया सत्यधर महाराजके शोकके प्रसंगमें कही हुई गद्यचिन्तामणिकी इस उक्तिमें मिलती है—“अद्य निराधारा धरा निरालम्बा सरस्वती।” स्व० कुप्पूस्वामी शास्त्रीने इससे अनुमान किया था कि गद्यचिन्तामणि भोजराजके बादकी रचना है। भोजदेवका राज्य-काल वि० सं० १०७६ से वि० १११२ तक माना जाता है।^१

१ देखो, जैनसिद्धान्तभास्कर वर्ष ८, अंक २ पृ० ११७

२ भोजदेवके उत्तराधिकारी जयसिंहका वि० सं० १११२ का एक दानपत्र मिला है अतएव इससे कुछ पहले ही उनका स्वर्गवास हुआ होगा।

तामिल भाषामें 'जीवक-चिन्तामणि' नामका एक प्रसिद्ध काव्य है जिसके कर्त्ता तिरुत्तकदेव नामके कवि हैं। तामिल साहित्यके विशेषज्ञ पं० स्वामिनाथ-य्याका मत है कि इस ग्रन्थकी रचना क्षत्र-चूडामणि और गद्य-चिन्तामणिकी छाया लेकर की गई है और श्री कुप्पूस्वामी शास्त्रीने अपने सम्पादित किये हुए क्षत्रचूडामणिमें इस तरहके छायामूलक बीसों पद्य टिप्पणके रूपमें उद्धृत करके इस बातकी पुष्टि भी की है।

जीवक-चिन्तामणिके बननेका ठीक समय तो मालूम नहीं है परन्तु 'पेरिय-पुराण' नामक तामिलग्रन्थमें उसका पहले पहल उल्लेख किया गया है जो कि चोल-नरेश कुलोटुंगकी प्रार्थनासे शेक्किलार नामक पंडितने बनाया था। कुलोटुंगका राज्य-काल वि० सं० ११३७ से ११७५ है, अतएव इससे पहले विक्रमकी बारहवीं सदीके पूर्वार्धमें जीवक-चिन्तामणि और प्रथम पादमें गद्य-चिन्तामणि रचे गये होंगे। उस समय भोजदेवसम्बन्धी पूर्वोक्त पद्यका अनुकरण भी किया जा सकता है।

अतएव जब तक प्राचीनताके और कोई प्रमाण न मिलें तब तक ओडयदेवको विक्रमकी बारहवीं सदीके प्रारंभका कवि मानना चाहिए और यह भी कि वे किसी ऐसी गुरुपरम्परामें हुए हैं जिसका हमें पता नहीं। अपने संघ या गणका उन्होंने कोई उल्लेख नहीं किया।

चार वाग्भट

वाग्भट नामके अनेक ग्रन्थकर्त्ता हो गये हैं, उनमेंसे कुछ ये हैं—

१ 'अष्टाङ्गहृदयके कर्त्ता वाग्भट—इस सुप्रसिद्ध वैद्यक ग्रन्थके कर्त्ता वाग्भट सिन्धुदेशके रहनेवाले थे और इनके पिताका नाम सिंहगुप्त था'। ये बहुत प्राचीन हैं और अधिकांश विद्वानोंके मतसे बौद्धधर्मके अनुयायी थे। पण्डितप्रवर आशाधरने इस ग्रन्थपर एक टीका लिखी थी, जो अभी तक अप्राप्य है। इसी कारण कुछ लोगोंका खयाल है कि ये जैन थे, परन्तु इसके लिए कोई प्रमाण नहीं है।

२ नेमिनिर्वाण महाकाव्यके कर्त्ता वाग्भट। काव्यमालामें प्रकाशित नेमिनिर्वाणमें कविकी कोई प्रशस्ति नहीं है; परन्तु आराके जैनसिद्धान्तभवनमें संवत् १७२७ पौष कृष्ण अष्टमी शुक्रवारकी लिखी हुई जो प्रति^२ है, उसके अन्तमें निम्नलिखित परिचय-पद्य दिया हुआ है और उससे कविका थोड़ा-सा परिचय मिल जाता है—

अहिच्छत्रपुरोत्पन्न-प्राग्वाटकुलशालिनः ।

छाहडस्य सुतश्चक्रे प्रबन्धं वाग्भटः कविः ॥ ८७

श्रवणबेल्लोलेके स्व० पं० दौर्बलि जिनदास शास्त्रीके पुस्तकालयमें नेमिनिर्वाणकी जो प्रति है उसमें भी यह पद्य लिखा हुआ है^३। इससे मालूम होता है कि

१ मैसूरके पंडित पद्मराजके पुस्तकालयमें अष्टाङ्गहृदयकी जो प्रति कनड़ी लिपिमें लिखी-हुई है उसके अन्तमें नीचे लिखे दो पद्य हैं—

यजन्मनः सुकृतिनः खलु सिन्धुदेशे यः पुत्रवन्तमकरोद्भुवि सिंहगुप्तम् ।

तेनोक्तमेतदुभयज्ञभिषग्वरेण स्थानं समाप्तमिति.....॥ १

नमो वाडव (वाग्भट ?) तीर्थीय विदुषे लोकबन्धवे ।

येनेदं वैद्यवृद्धानां शास्त्रं संगृह्य निर्मितम् ॥ २

२ देखो, जैनहितैषी भाग १५, अंक ३-४ पृ० ७९ में पं० जुगलकिशोरजी मुस्तारका नोट।

३ देखो, जैनहितैषी भाग ११, अंक ७-८ पृ० ४८२

नेमिनिर्वाणके कर्त्ता वाग्भट (बाहड) छाहडके पुत्र थे जो प्राग्वाट या पोरवाड-कुलके थे और अहिच्छत्रपुरमें उत्पन्न हुए थे । इन्होंने न तो अपने किसी गुरु आदिका नाम लिखा है और न और कोई परिचय ही दिया है । अपने किसी पूर्ववर्ती कवि या आचार्यका भी कहीं स्मरण नहीं किया है, जिससे इनके समयपर कुछ प्रकाश डाला जा सके । परन्तु इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ये वाग्भटालंकारके कर्त्ता वाग्भटसे पहलेके हैं । क्योंकि वाग्भटालंकारमें नेमिनिर्वाणके अनेक पद्योंको उदाहरणस्वरूप उद्धृत किया गया है^१ और जैसा कि आगे बतलाया गया है वाग्भटालंकारके कर्त्ता वाग्भटका समय वि० सं० ११७९ के लगभग है । अतएव नेमिनिर्वाणकी रचना बारहवीं सदीके प्रारंभके बादकी नहीं हो सकती ।

नेमिनिर्वाण काव्यपर भट्टारक ज्ञानभूषणकी एक पंजिका टीका उपलब्ध है । और कोई टीका अभी तक प्राप्त नहीं हुई । जहाँ तक हम जानते हैं ये वाग्भट दिगम्बरसम्प्रदायके अनुयायी थे । नेमिनिर्वाणके प्रथम सर्गके १९ वें पद्यमें कहा है कि वे मल्लि जिन तुम्हारा कल्याण करें, जिन्हें तपके कुठारसे कर्मबल्लीको काट डाला है और जो कुरु (कुरुवंशी या इक्ष्वाकुवंशी) के सुत होनेपर भी दुःशासन (कुरुपुत्र दुःशासन राजा और दूसरे पक्षमें दुष्टतासे शासन करनेवाले) नहीं हुए^२ । इससे मालूम होता है कि वे मल्लि जिनको श्वेताम्बर सम्प्रदायके समान इक्ष्वाकुवंशी राजाकी सुता (लडकी) नहीं किन्तु सुत (लडका) मानते थे ।

३ वाग्भटालंकारके कर्त्ता वाग्भट—इनके पिताका नाम सोमश्रेष्ठी था ।

१ म० म० ओझाजीके अनुसार ' नागौर 'का पुराना नाम अहिच्छत्रपुर है । देखो ना० प्र० पत्रिका भाग २, पृ० ३२९ ।

२ नेमिनिर्वाणके छोटे सर्गके ' कान्तारभूमौ ' ' जडुवंसन्ते ' और ' नेमिर्विशाल-नयनो ' आदि ४६, ४७ और ५१ नम्बरके पद्य वाग्भटालंकारके चौथे परिच्छेदके ३५, ३९ और ३२ न० के पद्य हैं और सातवें सर्गका ' वरणा प्रसूननिकरा ' आदि २६ वें न० का पद्य चौथे परिच्छेदका ४० नं० का पद्य है ।

३ तपःकुठारक्षतकर्मवह्निर्मह्निर्जिनो वः श्रियमातनोतु ।

कुरोः सुतस्यापि न यस्य जातं दुःशासनत्वं भुवनेश्वरस्य ॥ १९

४ बंभंडसुत्तिसंपुडसुत्तिअमणिणो पहासमूहव्व ।

सिरिबाहडत्ति तनओ आसि बुहो तस्स सोमस्स ॥

सिंहदेवगणिके कथनानुसार वे महाकवि और एक राज्यके महामात्य थे। कवि-चन्द्रिका टीकाके कर्त्ता वादिराजेने भी उन्हें 'महामात्यपदभूत्' लिखा है।

संकरालंकारके उदाहरणमें कविने कहा है कि संसारमें तीन ही रत्न हैं, एक अणहिल्लपाटण नगर, दूसरा कर्णदेवके पुत्र राजा जयसिंहदेव और तीसरा श्रीकलश नामका उनका हाँथी। इससे स्पष्ट होता है कि ये वाग्भट गुजरातके सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिंहके समकालीन और उनके मंत्री थे।

जयसिंहका राज्य-काल वि० सं० ११५० से ११९९ तक निश्चित हुआ है^३।

स्वेताम्बराचार्य प्रभाचन्द्रने अपने प्रभावकचरितमें लिखा है कि बाहड़ नामके धनी धर्मात्माने गुरुचरणोंमें प्रणाम करके पूछा कि कोई ऐसा प्रशंसनीय कार्य बतलाइए कि जिसमें धन व्यय किया जाय ? तब गुरुने भगवानका मन्दिर बनानेमें धनकी सफलता बतलाई और तब वाग्भटने हिमालयके समान धवल और ऊँचा मन्दिर बनवाया और उसमें विराजमान करनेके लिए वर्द्धमान जिनकी प्रतिमा भी। वि० सं० ११७८ में मुनिचन्द्रसूरिका समाधिमरण हुआ और उसके एक वर्ष बाद वाग्भटने देवसूरिके द्वारा उक्त मूर्तिकी प्रतिष्ठा करवाई। इससे पता लगता

१ इदानीं ग्रन्थकार इदमलंकारकर्तृत्वख्यापनाय वाग्भटाभिधस्य महाकवेः महामात्यस्य तन्नाम गाथयैकया निदर्शयति।

२-अणहिल्लपाटकपुरमवनिपतिः कर्णदेवनृपसूनुः।

श्रीकलशनामधेयः करी च रत्नानि जगतीह ॥

३ देखो श्री दुर्गाशंकर शास्त्रीका 'गुजरातनो मध्यकालीन राजपूत इतिहास।' पृ० २२५

४-अथास्ति बाहड़ो नाम धनवान्धार्मिकाग्रणीः।

गुरुपादान्प्रणम्याथ चक्रे विज्ञापनामसौ ॥

आदिश्यतामतिश्लाघ्यं कृत्यं यत्र धनं व्यये।

प्रभुराहालये जैने द्रव्यस्य सफलो व्ययः ॥

आदिशानन्तरं तेनाकार्यत श्रीजिनालयः।

हेमाद्रिधवलस्तुंगो दीप्यकुम्भमहामणिः ॥

श्रीमंता वर्धमानस्याग्नीभरद्विभुमुत्तमम्।

यत्तेजसा जिताश्चन्द्र.....कान्तमणिप्रभाः ॥

है कि वि० सं० ११७९ में वाग्भट थे और यह सिद्धराज जयसिंहका ही राज्य-काल है ।

आचार्य हेमचन्द्रने भी अपने द्वाश्रय काव्य (सर्ग २० श्लोक ९१-९२) में वाग्भटको जयसिंहका अमात्य बतलाया है ।

वाग्भटालंकारपर जिनवर्द्धनसूरि, सिंहदेवगणि, क्षेमहंस गणि, और राजहंस उपाध्याय इन चार श्वेताम्बर विद्वानोंकी टीकायें उपलब्ध हैं । इनके सिवाय पोमराजके पुत्र वादिराज नामक दिगम्बर विद्वानकी और अनन्तभट-सुत गणेश नामक अजैन विद्वानकी भी टीका है ।

ये वाग्भट श्वेताम्बर सम्प्रदायके अनुयायी थे ।

यह एक आश्चर्यकी बात है कि अपने ग्रन्थमें नेमिनिर्वाणके अनेक पद्योंका उदाहरणस्वरूप उपयोग करके भी इन्होंने उसके कर्त्ताका कहीं भूलकर भी स्मरण नहीं किया ।

४ काव्यानुशासनके कर्त्ता वाग्भट—ये नेमिकुमारके पुत्र थे । अपने पिताको इन्होंने कौन्तेयकुलदिवाकर, महान् विद्वान्, धर्मात्मा और यशस्वी लिखा है । इन्होंने मेदपाट (मेवाड़) में प्रतिष्ठित पार्वनाथ जिनका यात्रा-महोत्सव किया था जिससे उनका यश भुवनव्यापी हो गया था, राहड़पुरमें नेमि भगवानका और नलोटकपुरमें ऋषभ जिनका बाईस देवकुलिकाओंसहित विशाल मन्दिर निर्माण कराया था । नेमिकुमार अपने बड़े भाई राहड़के परम भक्त थे ।

शतैकादशके साष्टसप्ततौ विक्रमार्कतः ।

वत्सराणां व्यतिक्रान्ते श्रीमुनिचन्द्रसूरयः ॥

आराधनाविधिभ्रेष्ठं कृत्वा प्रायोपवेशनं ।

शमपीयूषकल्लोलप्लुतास्ते त्रिदिवं ययुः ॥ युग्मम्

वत्सरे तत्र चैकेन पूर्णे श्रीदेवसूरिभिः ।

श्रीवीरस्य प्रतिष्ठां स बाहडोऽकारयन्मुदा ॥

१-वाग्भट नामके एक और जैन अमात्य जयसिंहके उत्तराधिकारी कुमारपालके समयमें हुए हैं परन्तु वे उदयनके पुत्र थे ।

२ राहड़पुर शायद नेमिकुमारके बड़े भाई राहड़का ही बसाया हुआ हो । राहड़पुर और नलोटकपुर मेवाड़में ही कहीं होंगे ।

राहड़की भी कविने बहुत प्रशंसा की है। उन्होंने भी अपने न्यायोपाजित धनसे आदि जिनका मन्दिर बनवाया था। नेमिकुमारके पिताका नाम मक्कल (मोकल) और माताका महादेवी था।

कौन्तेय कुल कौन-सा है, हम नहीं जानते। परन्तु इन वाग्भटका कुल कोई बहुत प्रतिष्ठित और राजमान्य कुल जान पड़ता है। धनके अतिरिक्त विद्यासे भी यह कुल बहुत समृद्ध था।

वाग्भट महाकवि थे। काव्यानुशासनके सिवाय इन्होंने अनेक काव्य, नाटक और छन्दोग्रन्थ लिखे थे^१। उनमेंसे काव्यानुशासनकी स्वोपज्ञवृत्तिमें (पृ० १५) इन्होंने अपने 'ऋषभदेवचरित' महाकाव्यका एक पद्य उद्धृत किया है और एक जगह (पृ० २०) वाग्भट-छन्दोनुशासनकी भी चर्चा की है^३। परन्तु किसी नाटकका उल्लेख नहीं मिला।

वाग्भटालंकारके कर्तासे ये पीछे हुए हैं और उनसे भिन्न हैं। क्योंकि इन्होंने काव्यानुशासनके गुण-प्रकरणमें लिखा है कि दण्डि, वामन, और वाग्भटप्रणीत दश गुण हैं परन्तु मैं तो माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीन ही गुण मानता हूँ।

काव्यानुशासनसे इस बातका ठीक ठीक पता नहीं चलता कि ये वाग्भट किस सम्प्रदायके अनुयायी थे परन्तु अधिक संभावना यही है कि वे दिगम्बर होंगे। क्योंकि इन्होंने अपने इस ग्रन्थमें ऋषभदेवचरितके प्रारंभका नीचे लिखा पद्य उद्धृत किया है—

यत्पुष्पदन्तमुनिसेनमुनीन्द्रमुख्यैः पूर्वैः कृतं सुकविभिस्तदहं विधित्सुः ।

हास्याय कस्य ननु नास्ति तथापि सन्तः शृण्वन्तु कंचन ममापि सुयुक्तिसूक्तम्॥

इसमें भूलसे जिनसेनकी जगह मुनिसेन छप गया जान पड़ता है। इसका अभिप्राय यह है कि पूर्ववर्ती पुष्पदन्त और जिनसेनादि मुनियोंने जिसे बनाया

१ देखो काव्यानुशासन-टीकाकी उत्थानिका।

२ विनिर्मितानेकनव्यमव्यनाटकछन्दोऽलंकारमहाकाव्यप्रमुखमहाप्रबन्धवन्धुरोऽपारतारशास्त्र-
सत्पारसमुत्तरणतीर्थायमानशेमुपी ... महाकवि श्रीवाग्भटो...

३ अयं च सर्वः प्रपंचः श्रीवाग्भटाभिधस्वोपज्ञछन्दोनुशासने प्रपंचित इति नान्नोच्यते ।
मुनिश्रीजिनविजयजीके कथनानुसार इस ग्रन्थकी एक ताड़पत्रपर लिखी हुई प्रति पाटण्के जैन भंडारमें है।

है, उसे बनाते हुए मैं किसके हास्यका पात्र न बनूँगा ? और ये दोनों अर्थात् आदिपुराणके कर्त्ता जिनसेन और महापुराणके कर्त्ता पुष्पदन्त दिगम्बर सम्प्रदायके ही थे। इनके ग्रन्थोंको वाग्भटने पढ़ा था।

इसके सिवाय नेमिनिर्वाण, चन्द्रप्रभचरित और धनंजयकी नाममालाके उद्धरण भी इसी बातको पुष्टि करते हैं। क्योंकि ये तीनों भी दिगम्बर सम्प्रदायके कवियोंकी रचनायें हैं।

कुछ स्थानोंमें 'राजीमती-परित्याग' काव्यका भी उल्लेख मिलता है जो शायद पं० आशाधरका 'राजीमती-विप्रलम्भ' नामक काव्य हो। परित्याग और विप्रलम्भ एकार्थवाची हैं। आशाधरका 'राजीमती-विप्रलम्भ' उपलब्ध नहीं है। आश्चर्य नहीं जो 'राजीमती-परित्याग' भी उसका नाम हो। यदि हमारा यह अनुमान ठीक हो तो इन वाग्भटको आशाधरके बाद विक्रमकी चौदहवीं शताब्दिका मानना होगा।

काव्यानुशासनमें पचासों ग्रन्थोंके उद्धरण दिये हैं। यदि उनकी अच्छी तरह छान-बीन की जाय और पता लगाया जाय कि वे किन किन ग्रन्थोंके हैं तो इससे न केवल कविके समयपर ही प्रकाश पड़ेगा अनेक अपरिचित ग्रन्थोंका भी पता लगेगा।

१ उद्यानजलकेलिमधुपानवर्णनं नेमिनिर्वाण-राजीमतीपरित्यागादौ। पृ० १६।

२ तत्राशीर्यथा चन्द्रप्रभकाव्ये—श्रियं क्रियाद्यस्य सुरागमे आदि, पृ० १५ और चन्द्रो-दयास्तसमयवर्णनं शिशुपालवध-चन्द्रप्रभचरितादौ, पृ० १६

३ अमिधानक्रोशो नाममाला। ततो हि शब्दनिश्चयः। ननु प्रयुक्तमेव प्रयुज्यते, अन्यथा प्रयुक्तत्वदोषावकाशः, तत्किं नाममालया। मैवम्। सामान्येन प्रयुक्तादर्थावगतिर्भवति। यथा नीवीशब्देन जघनवल्लग्रन्थिरुच्यते इति कस्यचिन्निश्चयः 'स्त्रियः पुरुषस्य वा' इति संशये 'नीविराग्रन्थं नार्या जघनस्थस्य वाससः' इति नाममालापदावलोकनादेव निर्णयो भवति ॥

कवि वादिराज

इनकी अभी तक दो रचनायें उपलब्ध हुई हैं एक तो वाग्भटालंकारकी 'कविचन्द्रिका' नामकी संस्कृत टीका और एक 'ज्ञानलोचनस्तोत्र' नामका छोटा-सा स्तोत्र । पहले ग्रन्थकी उत्थानिका और प्रशस्तिसे^३ मालूम होता है कि ये

१ इसकी एक प्रति जयपुरके पाटोदीके मन्दिरमें है और दूसरी संघीजीके मन्दिरमें । दूसरी प्रतिके अन्तके कुछ पत्र नहीं हैं ।

२ यह स्तोत्र माणिकचन्द्र-जैनग्रन्थमालाके सिद्धान्तसारादिसंग्रहमें छप चुका है ।

३ अनन्तानन्तसंसारपारगं पार्श्वमीश्वरम् ।

प्रमाणनयभंगाब्धि भुक्तिभूषोज्जितं स्तुवे ॥ १

वाग्भटकवीन्द्ररचितालंकारस्यावचूरिरियममला ।

जिनवचनगुरुकृपातो विरच्यते वादिराजेन ॥ २

धनंजयाशाधरवाग्भटानां धत्ते पदं सम्प्रति वादिराजः ।

खाण्डिल्यवंशोद्भवपोमसनुः जिनोक्तिपीयूषसुतृप्तगात्रः ॥ ३

...इति मत्वा रत्नत्रयालंकृतल्लैविद्यवित्तो विमलसोमश्रेष्ठिकुलभूयोमहामात्यपद-
भृच्छ्रीमद्वाग्भटमहाकविस्तावदिष्टदेवतामभीष्टौति ।...

संवत्सरे निधिदृगश्वशशाङ्कयुक्ते दीपोत्सवाख्यदिवसे संगुरौ सचित्रे ।

लग्नेऽलिनाम्नि च समाप गिरःप्रसादात् सद्वादिराजरचिता कविचन्द्रिकेयम् ॥ १

श्रीराजसिंहनृपतिर्जयसिंह एव श्रीतक्षकाख्यनगरी अणहिल्लतुल्या ।

श्रीवादिराजविबुधोऽपरवाग्भटोऽयं श्रीसूत्रवृत्तिरिह नन्दतु चार्कचन्द्रम् ॥ २

श्रीमद्भीमनृपालजस्य बलिनः श्रीराजसिंहस्य मे,

सेवायामवकाशमाप्य विहिता टीका शिक्षां हिता ।

हीनाधिक्यवचो यदत्र लिखितं तद्वै बुधैः क्षम्यताम्,

गार्हस्थ्यवनिनाथसेवनधियः कः स्वस्थतामाप्नुयात् ॥

इति श्रीवाग्भटालंकारटीकायां पोमराजश्रेष्ठिसुतवादिराजविरचितायां

कविचन्द्रिकायां पञ्चमः परिच्छेदः ।

खण्डेलवाल वंशमें उत्पन्न हुए थे और उनके पिताका नाम पोमराज (पद्मराज) श्रेष्ठी था । श्रेष्ठी शायद सेठीका संस्कृतरूप है, जो कि खण्डेलवालोंनेका एक गोत्र है । उन्होंने अपनेको उस समयमें धनंजय, आशाधर और वाग्भटका पद धारण करनेवाला अर्थात् उन्हींकी जोड़का विद्वान् बतलाया है । वे तक्षक नगरीके राजा राजसिंहके मंत्री थे और उनके सेवा-कार्यमें रहते हुए कुछ अवकाश निकालकर उन्होंने यह बालोपयोगी टीका लिखी थी । राजसिंहको भीमनृपात्मज अर्थात् राजा भीमसिंहका पुत्र लिखा है ।

वे अपनेको दूसरा वाग्भट बतलाते हुए लिखते हैं कि राजा राजसिंह दूसरे जय-सिंहदेव हैं, तक्षक-नगर दूसरा अणहिल्लपुर है और मैं वादिराज दूसरा वाग्भट हूँ ।

टीकाकी उत्थानिकामें उन्होंने वाग्भटको महामात्यपदभृत् लिखा है, इससे शायद वादिराज भी राजसिंहके अमात्य होंगे ।

इस टीकाको उन्होंने वि० सं० १७२९ की दीपमालिकाको, गुरुवार, चित्रा नक्षत्र और वृश्चिक लग्नमें समाप्त किया था ।

नेमिचरित-काव्य

काव्य-परिचय

काव्यमालाके द्वितीय गुच्छकमें यह काव्य नेमिदूतके नामसे प्रकाशित हुआ है। पर वास्तवमें इसका नाम 'नेमिचरित' मालूम होता है। यह 'मेघदूत'के ढँगका काव्य है और मेघदूतके ही चरण लेकर इसकी रचना की गई है। शायद इसीलिए इसे नेमिदूत नाम मिल गया है। परन्तु यथार्थमें इसमें दूतपना कुछ भी नहीं है। न इसमें नेमिनाथ दूत बनाये गये हैं और न उनके लिए कोई दूसरा दूत बनाया गया है। राजीमतीने नेमि भगवानको संसारासक्त करनेके लिए जो जो प्रयत्न किये हैं, जो जो अनुनय विनय किये हैं और जो जो विरह-व्यथायें सुनाई हैं उन्हींका वर्णन करके यह हृदयद्रावक काव्य बनाया गया है। अन्तमें राजाजमीतीके सारे प्रयत्न निष्फल हुए। नेमिनाथने उसे संसारका स्वरूप समझाया; विषय-भोगोंका परिणाम दिखलाया, मानव-जन्मकी सार्थकता बतलाई और इसका फल यह हुआ कि राजीमती स्वयं देह-भोगोंसे उदास होकर साध्वी हो गई। यदि अन्तके दो श्लोकोंमें ये पिछली बातें न कही गई होतीं, तो इस काव्यका 'राजीमती-विप्रलम्भ' या 'राजीमती-विलाप' अथवा ऐसा ही और कोई नाम अन्वर्थक होता; परन्तु अन्तिम श्लोकोंसे इसमें नेमिनाथको प्रधानता प्राप्त हो गई है, राजीमतीके सारे विरह-विलाप उनके अटल निश्चय और उच्च चरित्रके पोषक हो गये हैं; इसलिए इसमें सन्देह नहीं कि इसका 'नेमिचरित' नाम बहुत सोच समझ कर रक्खा गया है।

इस काव्यकी रचना सुन्दर और भावपूर्ण है। परन्तु जगह जगह क्लिष्टता आ

१.....प्रवरकवितुः कालिदासस्य काव्या—

दन्त्यं पादं सुपदरचितान्मेघदूतादृष्टीत्वा ।

श्रीमन्नेमेश्वरितविशदं सांगणस्यांगजन्मा

चक्रे काव्यं बुधजनमनः प्रीतये विक्रमाख्यः ॥

गई है। दूरान्वयता बहुत है। प्रयत्न करनेसे विशेष परिश्रमसे कविका हृदय आशय समझमें आता है। पर इसमें कविका दोष नहीं—उसे लाचार होकर ऐसा करना पड़ा है। कविकुलगुरु कालिदासके सुप्रसिद्ध काव्य मेघदूतके प्रत्येक श्लोकके चौथे चरणको अपने प्रत्येक श्लोकका चौथा चरण मानकर कविने इस काव्यकी रचना की है। ऐसी दशामें चौथे चरणोंके शब्दों, वाक्यों, और उनके आशयोंकी अधीनतामें पड़कर कवि और करता ही क्या ! अपने हृदय भावोंको दूसरे कविके शब्दों, वाक्यों और आशयोंके द्वारा रुद्ध हुए मार्गमेंसे प्रकट करनेके सिवा उसे कोई गति ही न थी। ऐसी परिस्थितिमें काव्यमें क्लिष्टता आना ही चाहिए। किन्तु इस पराधीन कार्यमें भी कविने जो काव्यकौशल दिखलाया है और जो मार्मिकता दिखलाई है, उससे अनुमान हो सकता है कि यदि कवि अपने भावोंको स्वच्छन्दतापूर्वक प्रकट करनेका, अपनी भावधाराको विना बाधाके कहनेका मौका पाता, तो इसमें कोई संदेह नहीं कि यह काव्य और भी सुन्दर बन जाता।

इस काव्यके बनानेमें कविको कितना परिश्रम करना पड़ा होगा इसका अनुमान पाठक तब कर सकेंगे जब मेघदूतको सामने रखकर इस काव्यको पढ़ेंगे और मेघदूतके चौथे चरणोंके मूल भावोंके साथ इसके चौथे चरणोंके भावोंका मिलान करेंगे। मेरी समझमें यह काम वैसा ही कठिन है जैसा कि आमके एक पौधेको काटकर उसकी पीढ़में दूसरे पौधेकी कलमको जोड़ देना और दोनोंके शरीरको, रसको और चेतनाशक्तिको एक कर देना। पूरे काव्यका पाठ करके हम देखते हैं कि कविने इस कठिन कार्यमें काफी सफलता प्राप्त की है।

काव्यका कर्त्ता

इस काव्यके कर्त्ताका नाम विक्रम है। वह सांगणका पुत्र था। नेमिचरितके अन्तिम श्लोकसे कविका केवल इतना ही परिचय मिलता है। वह किस समय हुआ, किस वंशमें हुआ, किस स्थानमें उसका निवास था, उसने और किन किन ग्रंथोंकी रचना की, इत्यादि बातोंका कुछ भी पता नहीं चलता।

ऋषभदास नामके एक श्वेताम्बर सम्प्रदायके कवि हो गये हैं जिनके बनाये हुए कुमारपालरास (वि० सं० १६७०), हीरविजयसूरिरास (वि० सं० १६८५) आदि गुजराती भाषाके ग्रन्थ मिलते हैं। मेरे मित्र श्री मोहनलालजी देसाईने इनका काव्य-काल वि० सं० १६५६ से १६८६ तक निश्चित किया है। इनके पिताका नाम संघवी सांगण था और ये खंभातके रहनेवाले थे। पहले हमने

अनुमान किया था कि उक्त सांगणके ही पुत्र और ऋषभदासके भाई थे विक्रम होंगे परन्तु अभी हाल ही मालूम हुआ है कि नेमिचरितकी एक प्रति वि० सं० १६०२ की लिखी हुई बाल्मिकीके गङ्गाबालूके संग्रहमें मौजूद है, इस लिए विक्रम कवि ऋषभदासके भाई नहीं हो सकते। इसके सिवाय ऋषभदासने अपने किसी ग्रन्थमें विक्रमका कोई जिक्र भी नहीं किया है।

खंभातके चिन्तामणि-पार्वनाथमन्दिरमें एक विस्तृत शिलालेख है^१ जो वि० सं० १३५२ का है। इस लेखके २८ वें से लेकर ३१ वें नम्बर तकके पद्योंमें मालवा, सपादलक्ष और चित्रकूट (चित्तोड़) से खंभातमें आये हुए सांगण, जयता और प्रह्लादन आदि धनी श्रावकोंका उल्लेख है^२ जिन्होंने उक्त मन्दिरकी निरन्तर पूजा होते रहनेके लिए व्यापारपर कुछ लाग बॉध दी थी। इनमेंसे सांगण हुंकारवंश (हूँबड़) के और जयता सिंहपुरवंश (नरसिंहपुरा) के थे। संभव है कि इनमेंसे पहले श्रावक सांगणके ही पुत्र विक्रम हों और ये सांगण आदि दिगम्बर सम्प्रदायके मालूम होते हैं। क्योंकि इस लेखके चौथे पद्यमें सहस्रकीर्तिका और सत्ताईसवें पद्यमें यशःकीर्ति गुरुका उल्लेख है और ये दोनों दिगम्बर साधु हैं। इसके सिवाय हूँबड़ और नरसिंहपुरा जातियोंके श्रावक इस समय भी अधिकांशमें दिगम्बर आम्नायके अनुयायी हैं।

यों काव्यके विषयसे तो कवि श्वेतांबर या दिगम्बर किस सम्प्रदायका था, इसका कुछ पता नहीं लगता क्योंकि काव्यमें जो कुछ कहा गया है वह साम्प्रदायिक मत-भेदकी सीमासे बाहर है।

१ देखो, मुनि श्रीजिनविजयजी सम्पादित 'प्राचीन-जैन-लेखसंग्रह' का ४४९ नं० का शिलालेख। इस लेखकी बहुत-सी पंक्तियोंका कुछ अंश नष्ट हो गया है। प्राचीन मन्दिर शायद वि० सं० ११६५ में बना था और १३५२ में उसका जीर्णोद्धार हुआ है जब कि यह लेख उत्कीर्ण हुआ।

२ हुंकारवंशजमहर्षमणीयमानः श्रीसाङ्गणः प्रगुणपुण्यकृतावतारः ।
तोरशसन्निभयशो जिनशासनाहो निःशेषकल्मषविनाशनभयवर्णः ॥
सिंहपुरवंशजन्मा जयताख्यो विजित एनसः पक्षः ।....इत्यादि ।
अत्रागमन्मालवदेशतोऽमी सपादलक्षादथ चित्रकूटात् ।...

३ दिनोदयं स चक्रे गुरुजगताभ्युदितः सहस्रकीर्तिः ॥

४ गुरुपदे बुधैर्वर्ण्यो यशःकीर्तिः यशोनिधिः ।

कविका क्षेत्र-ज्ञान

मेघदूतके यक्षने प्रेयसीके पास सन्देश भेजनेके लिए बादलोंको मार्ग बतलाया है कि तुम अमुक अमुक स्थानोंसे होकर जाओगे; तो उसके समीप पहुँच जाओगे। इस मार्ग-सूचनमें कालिदासने अपने भूगोल-ज्ञानका विलक्षण परिचय दिया है। विद्वानोंने निश्चय किया है कि उनके वर्णनमें देश-स्थानसंबंधी कोई भूल नहीं है। मानो कालिदासने स्वयं पर्यटन करके उक्त सब स्थान और नगरादि देखकर अपना काव्य लिखा था।

यही बात नेमिचरितमें भी है। इस कविकी भी इस विषयमें अच्छी जानकारी थी। यद्यपि उसका वर्णित क्षेत्र कालिदासके जितना बड़ा नहीं है; तो भी उसने उसमें पर्यटन किया है और स्वयं आँखों देखे हुए स्थानोंका वर्णन किया है; जिससे मालूम होता है कि कवि काठियावाड़का या उसके आसपासके ही किसी स्थानका रहनेवाला होगा।

नीचे उन थोड़ेसे स्थानोंके विषयमें खुलासा किया जाता है जिनका वर्णन नेमिचरितमें आया है—

(१) रामगिरि (श्लोक १)—मेघदूतका रामगिरि अमरकंटक पर्वत है। परन्तु नेमिचरितके कर्त्ताने यह नाम गिरिनारके लिए दिया है। ऊर्जयन्तगिरि, रैवताद्रि आदि नाम तो गिरिनारके जगह जगह मिलते हैं; पर यह नाम इस काव्यके अतिरिक्त कहीं नहीं देखा गया। संभव है कि कविने मेघदूतके चतुर्थ चरणके वशवर्ती होकर जिसमें कि ‘रामगिरि’ नाम पड़ा हुआ है—गिरिनारका नाम रामगिरि न होनेपर भी अगत्या मान लिया हो और हमारे देशमें ‘राम’ शब्द इतना पूज्य है कि उसे किसी भी पूज्य तीर्थके लिए विशेषणरूपमें देना अनुचित भी नहीं कहा जा सकता।

(२) द्वारिका (श्लोक १६)—गिरिनारसे द्वारिका वायव्य-कोणमें है। इसलिए इस श्लोकमें कहा है कि द्वारिका जानेके लिए आपको उत्तरकी ओर जाकर फिर पश्चिमको जाना पड़ेगा।

(३) वेत्रवती (श्लोक २६)—यह द्वारिकाके प्राकारके पास है। ६४ वें श्लोककी गोमती और यह एक ही मालूम होती है। गोमती अब भी गोमती ही कहलाती है; वेत्रवती या तो इसका दूसरा नाम होगा, या उसमें बेत अधिक होंगे, इसलिए कविने उसका इस अन्वर्थक नामसे उल्लेख किया होगा। मेघदूतके

जिस चरणकी यह समस्यापूर्ति है उसमें यह शब्द पड़ा हुआ है; इसलिए कवि ऐसा करनेके लिए विवश था। मेघदूतकी वेन्नवती 'मालवे' की 'बेतवा' नदी है।

(४) स्वर्णरेखा (श्लोक ३२ और ४५) — यह नदी गिरिनार पर्वतसे ही निकली है। छोटी-सी पहाड़ी नदी है। इसकी रेतमें सोनेका बहुत सूक्ष्म अंश अब भी पाया जाता है। इसे लोग 'सुवर्णा' कहते हैं। आगे चलकर यह नदी शायद किसी दूसरे नामसे प्रसिद्ध हुई है।

(५) क्रीडापर्वत (श्लोक २७) — 'तुलसीश्याम' नाम पर्वतको लोग श्रीकृष्णका क्रीडापर्वत कहते हैं। इसपर रुठी रक्मिणीकी मूर्ति बनी हुई है।

(६) वामनराजाकी नगरी (श्लोक ३२) — इसको इस समय वणथली कहते हैं, जो कि 'वामनस्थली' का अपभ्रंश है। यह जूनागढ़ स्टेटका एक कस्बा है, और जूनागढ़से लगभग ५ कोसकी दूरीपर है। यहाँ वह स्थान भी बना हुआ है, जहाँ विष्णुने तीन पैरसे पृथ्वी मापी थी।

(७) भद्रा (श्लोक ५०) — यह नदी इस समय 'भादर' नामसे प्रसिद्ध है। यह जसदणके पासके पर्वतसे निकली और नवीनन्दरसे आगे अरब समुद्रमें मिली है। कविने इसके संगमस्थलका ही वर्णन किया है।

(८) पौर (श्लोक ५१) — यह इस समय पोरबन्दरके नामसे प्रसिद्ध है। भद्रा (भादर) को पार करनेके बाद कविने इस नगरके मिलनेकी बात कही है।

(९) गन्धमादन और वेणुनपर्वत (श्लोक ५३ और ६१) — हालार और बरडो प्रान्तके बीचकी पर्वतश्रेणीको 'बरडो' कहते हैं। संभवतः इसी श्रेणीके किन्हीं दो पर्वतोंका नाम गन्धमादन और वेणुन होगा। कविने इन दोनोंका वर्णन पोरबन्दरसे आगे चलकर किया है।

मेघदूतके मूल श्लोक ११५ हैं और १० श्लोक क्षेपक बतलाये जाते हैं। पर इस काव्यमें क्षेपकसहित सभी श्लोकोंके चरणोंकी पूर्ति की गई है और इसीलिए इसमें १२५ श्लोक हैं। इससे मालूम होता है कि कविके समयमें उक्त क्षेपक श्लोक प्रचलित थे।

यह काव्य काव्यमालामें बहुत समय पहले छप चुका है। स्व० पं० उदयलालजी काशीवालाने इसका हिन्दी अनुवाद भी किया था, जो प्रकाशित हो चुका है।

ज्योतिःप्रभाकल्याण नाटक

लगभग पचास वर्ष हुए 'काव्याम्बुधि' नामका एक संस्कृत मासिक पत्र उस समयके सुप्रसिद्ध जैन विद्वान् पं० पद्मराजने बंगलोरसे निकालना शुरू किया था, जो निर्णयसागर प्रेसकी सुप्रसिद्ध काव्य-मालाके ढंगका था। इसमें केवल जैन काव्योंके प्रकाशित करनेकी व्यवस्था की गई थी। इसका एक अंक बिना टाइपिलका भेरे संग्रहमें है जिसमें पद्मनन्दिकी 'एकत्व-सप्तति' के ५१ पद्य व्याख्यासहित और श्रीब्रह्मसूत्रिके 'ज्योतिःप्रभाकल्याण नाटक' के दो अंक पूरे और तृतीयांकके तीन पेज और हैं। दोनों ग्रन्थोंके डिमाई साइजके चौबीस चौबीस पेज दिये गये हैं। मालूम नहीं इससे आगे और कितने अंक इस पत्रके निकले। यदि एक दो अंक ही और निकले हों तो ये दोनों ग्रन्थ उनमें पूर्ण हो गये होंगे। इनमेंसे 'एकत्व-सप्तति' तो 'पद्मनन्दि-पंचविंशतिका' के अन्तर्गत प्रकाशित हो चुकी है और इस लिए सुलभ है; परन्तु 'ज्योतिःप्रभाकल्याण' नाटक दुर्लभ है।

यह सोलहवें तीर्थंकर श्रीशान्तिनाथके पूर्वभवसम्बन्धी अमिततेज विद्याधर और ज्योतिःप्रभाके कथानकको लेकर रचा गया है और भगवद्गुणभद्रका उत्तरपुराण इसका मूल है। इसके कर्ता ब्रह्मसूत्रि हैं जो नाट्याचार्य हस्तिमल्लके वंशज हैं और उनसे लगभग सौ वर्ष बाद विक्रमकी पन्द्रहवीं शताब्दिमें हुए हैं और जिनके त्रिवर्णाचार और प्रतिष्ठातिलक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। नाटकके अन्तमें कविने शायद अपना परिचय दिया हो और उससे कुछ अधिक प्रकाश उसके सम्बन्धमें पड़ सके।

शान्तिनाथ भगवानके जन्म-कल्याणके पूजा-महोत्सवके दिन खेलनेके लिए इस नाटककी रचना हुई थी। नाटककी रचना सुन्दर मालूम होती है।

१ प्रदोषे जायते प्रातः किं का मंगलवाचकम्।

किं रूपयन्तु तच्चेह ब्रह्मसूत्रिकृतिश्च का ॥

तीन महान् ग्रन्थकर्त्ता

वीरसेन, जिनसेन और गुणभद्र

दिगम्बर-जैन-सम्प्रदायमें एकके बाद एक ये तीन महान् आचार्य ऐसे हुए हैं कि इनकी जोड़ नहीं मिलती। लगातार कई पीढ़ियों तक इन्होंने ज्ञान-ज्योतिको अखण्ड रूपसे प्रज्वलित रक्खा और जैन-साहित्य-भण्डारको विशाल ग्रन्थ-रत्नोंसे समृद्ध किया।

पंचस्तूपान्वय और सेनान्वय

ये मूलसंघके 'पंच-स्तूप' नामके अन्वयमें हुए हैं जो आगे चलकर सेनान्वय या सेन-संघके नामसे विख्यात हुआ। स्वामी वीरसेन और जिनसेनने तो अपने वंशको पंचस्तूपान्वय ही लिखा है परन्तु गुणभद्रस्वामीने सेनान्वय लिखा है और जहाँ तक हम जानते हैं वीरसेन जिनसेनके सिवाय उनके बादके अन्य किसी भी आचार्यने किसी ग्रन्थमें पंचस्तूपान्वयका उल्लेख नहीं किया।

संघोंकी उत्पत्ति, उनका नामकरण, और उनके गण-गच्छोंका इतिहास अभी तक बहुत कुछ अन्धकारमें हैं। इस विषयमें आचार्य इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें जो कुछ लिखा है वह बहुत ही संक्षिप्त और अस्पष्ट है और ऐसा मालूम होता है कि स्वयं उनके निकट भी यह स्पष्ट न था; फिर भी उससे ऐसा ज्ञान पड़ता है कि जैन मुनि पहले बस्तियोंसे बाहर गुहाओं, स्तूपों, अशोक, पुंनाग,

१—अजज्जणंदिसिस्सेणुज्वकम्मस्स चंदसेणस्स ।

तह णत्तुवेण पंचत्थूहण्णयभाणुणा मुणिणा ॥ ४

—धवला

यस्तपोदीप्तकैरणैर्भव्याम्भोजानि बोधयन् ।

व्यद्योतिष्ठ मुनीनेनः पंचस्तूपान्वयाम्बरे ॥ ५

—ज० ध०

२—श्रीमूलसंघवाराशौ मुनीनामिव सार्चिषाम् ।

महापुरुषरत्नानां स्थानं सेनान्वयोऽजनि ॥ २

—उत्तरपुराण प्र०

शास्त्रमलि (सेमर) आदि वृक्षोंके उपवनों या उनके मूलमें रहते थे और शायद उस समय उन्हींके संकेतसे उनके संघों या दलोंका उल्लेख किया जाता था । यह पंचस्तूपान्वय या पंचस्तूप संघ उसी समयका नाम है । किसी जगह कोई पाँच प्रसिद्ध स्तूप होंगे और उन्हींके पास इनका निवास रहा होगा । श्रुतावतारके अनुसार जो पंचस्तूप-निवाससे आये, उन मुनियोंमें किसीको सेन और किसीको भद्र नाम दिया गया तथा कुछ लोगोंके मतसे सेन नाम ही दिया गया । सो यह सेनान्त और भद्रान्त नामवाले मुनियोंका समूह ही पीछे सेनान्वय या सेनसंघ कहलाने लगा होगा ।

जम्बूस्वामीचरितके कर्त्ता पं० राजमल्लने—जो कि मुगल-सम्राट् अकबरके समकालीन हैं—लिखा है कि उस समय मथुरामें ५१५ जीर्णस्तूप मौजूद थे और उनका उद्धार टोडर नामके एक धनिक साहुने अगणित द्रव्य व्यय करके कराया था । इससे मालूम होता है कि प्राचीन कालमें जैन-स्तूपोंकी परिपाटी थी और तब वहाँ मुनियोंका निवास रहता होगा ।

गुरु-शिष्य-परम्परा

इन आचार्योंकी पूर्व-परम्पराका पता हमें आर्य चन्द्रसेन तक मिलता है, उनसे पूर्वका नहीं । चन्द्रसेनके शिष्य आर्य आर्यनन्दि, उनके शिष्य वीरसेन, वीरसेनके शिष्य जिनसेन, उनके शिष्य गुणभद्र और गुणभद्रके शिष्य लोकसेन ।

आत्मानुशासनके टीकाकार प्रभाचन्द्रने लिखा है कि अपने बड़े धर्म-भाई विषय-

१—पंचस्तूप्यनिवासादुपागता येऽनगारिणस्तेषु ।

कौश्चित्सेनाभिख्यान्कौश्चिद्भद्राभिधानकरोत् ॥ ९३ ॥

२—अन्ये जगुर्गुहाया विनिर्गता नन्दिनो महात्मानः ।

देवाश्चाशोकवनात्पंचस्तूप्यास्ततः सेनः ॥ ९७ ॥

३—वीरसेन और जिनसेनके नाममें तो सेन और गुणभद्रके नाममें भद्र है; परन्तु वीरसेनके दादागुरु आर्यनन्दि थे, इसलिये श्रुतावतारके अनुसार वे पंचस्तूपोंसे नहीं किन्तु गुहासे आये हुए होने चाहिये ।

४—देखो, मा० जै० ग्रन्थमालाद्वारा प्रकाशित जम्बूस्वामीचरितका प्रथम सर्ग और सम्पादककी भूमिका ।

व्यासमुग्धबुद्धि लोकसेनको बोध देनेके लिए यह ग्रन्थ बनाया गया। परन्तु उत्तरपुराणकी प्रशस्तिके अनुसार लोकसेन गुणभद्रके अनेक शिष्योंमें मुख्य शिष्य थे और वे विदितसकलशास्त्र, मुनीश और अविकलवृत्त थे। अतएव टीकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं मालूम होता कि लोकसेन उनके गुरु भाई थे।

मण्डलपुरुष नामक विद्वान्का बनाया हुआ 'चूडामणि-निघण्टु' नामका द्राविड़ भाषाका एक कोश है। इस कोशमें उन्होंने अपनेको गुणभद्रका शिष्य बतलाया है और लिखा है कि उनकी प्रेरणासे ही यह कोश बनाया गया। परन्तु मण्डलपुरुषके गुरु एक दूसरे ही गुणभद्र थे।^३

१—बृहद्धर्मभ्रातुर्लोकसेनस्य विषयव्यासमुग्धबुद्धेः संबोधनव्याजेन सर्वसत्त्वोपकारक-सन्मार्गमुपदर्शयितुकामो गुणभद्रदेवो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्ट-देवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह—

२ विदितसकलशास्त्रो लोकसेनो मुनीशः

कविरविकलवृत्तस्तस्य शिष्येषु मुख्यः।

सततमिह पुराणे प्रार्थ्य साहाय्यमुच्चै—

गुरुविनयमनैषीन्मान्यतां स्वस्य सद्भिः ॥२८—उत्तर-पु० प्र०

३ स्व० टी० एस०कुप्पूस्वामी शास्त्रीने जीवंधरचरित्रकी भूमिकामें लिखा था कि चूडामणि-निघण्टुके कर्त्ता मण्डलपुरुष दक्षिण अर्काट जिलेके तिहन्नरंगुड नामक गाँवके रहनेवाले थे और ज्योतिष तथा नीतिशास्त्रके महान् पंडित गुणभद्रके शिष्य थे। उसकी रचना उन्होंने कृष्णके राज्यकालमें की थी जो कि उस राष्ट्रकूट अकालवर्षका ही दूसरा नाम है जिसके राज्य-कालमें गुणभद्रका उत्तरपुराण समाप्त हुआ था। इसीके आधारसे अपने 'जिनसेन और गुणभद्राचार्य' (विद्वद्रत्नमाला) शीर्षक लेखमें हमने भी इन मण्डलपुरुषको गुणभद्रका शिष्य लिखा था। परन्तु उसके बाद तामिल विद्वानोंमें इसकी बहुत चर्चा हुई और हो रही है। उसमें कहा गया है कि चूडामणिनिघण्टुमें जिस कृष्णका उल्लेख है वह विजयनगरका राजा कृष्णदेवराय है जिसका समय ई० स० १५०९ से १५३० तक है। इसके सिवाय चूडामणिनिघण्टुकी भाषा भी बहुत पीछेकी है और उसमें दिवाकर और पिंगलन्दि नामके जिन कोशोंका उल्लेख है, वे भी इतने पुराने नहीं हैं। अतएव मण्डलपुरुषके गुरु गुणभद्र कोई दूसरे ही गुणभद्र थे, उत्तरपुराणके कर्त्ता नहीं। एक नामके अनेक आचार्य होनेसे इस तरहकी भ्रान्त धारणायें अवसर हो जाया करती हैं।

लोकसेनके सिवाय गुणभद्रस्वामीके और भी अनेक शिष्य थे; परन्तु हमें उनका पता नहीं ।

वीरसेन स्वामीके जिनसेनके सिवाय दशरथ गुरु नामके एक शिष्य और थे और गुणभद्रने अपनेको इन दोनोंका ही शिष्य बतलाया है ।^१

वीरसेनके एक और शिष्य विनयसेन नामके भी थे जिनकी प्रेरणासे जिनसेनने पार्श्वाम्युदय काव्यकी रचना की थी^२ और दर्शनसारके कर्त्ता देवसेनके कथनानुसार जिनके शिष्य कुमारसेनने आगे चलकर काष्ठासंघकी स्थापना की^३ थी ।

जिनसेन स्वामीने जयधवला टीकामें श्रीपाल, पद्मसेन, और देवसेन नामके तीन विद्वानोंका उल्लेख और भी किया है^४ । संभवतः ये भी उनके सधर्मा या गुरुभाई

१—स श्रीमान् जिनसेनपूज्यभगवत्पादो जगन्मंगलम् ।...८

दशरथगुरुरासीत्तस्य धीमान्सधर्मा.....

शिष्यः श्रीगुणभद्रसूरिरनयोरासीजगद्विश्रुतः ॥१४...उत्तरपुराण प्र०

२—श्रीवीरसेनमुनिपादपथोजभृंगः श्रीमानभूद्विनयसेनमुनिर्गरीयान् ।

तच्चोदितेन जिनसेनमुनीश्वरेण काव्यं व्यधायि परिवेष्टितमेधदूतम् ॥

३—सिरिवीरसेनसिस्सो जिणसेणो सयलसत्थविण्णाणी ।

सिरिपउमणंदिपच्छा चउसंघसमुद्धरणधीरो ॥ ३१ ॥

तस्स य सिस्सो गुणवं गुणभदो दिव्वणाण-परिपुण्णो ।

पक्खोववासमंडियमहातवो भावलिंगो य ॥ ३२ ॥

तेण पुणोवि य मिच्छुं णाऊण मुणिस्स विणयसेणस्स ।

सिद्धंतं घोसित्ता सयं गयं सग्गलोयस्स ॥ ३३ ॥

आसी कुमारसेणो णंदियडे विणयसेणदिक्खयओ...

सो सवणसंघवज्झो कुमारसेणो दु समयमिच्छत्तो ।

चत्तोवसमो रुद्धो कट्ठं संघं परूवेदि ॥ ३५ ॥

४—सर्वज्ञप्रतिपादितार्थगणभृत्सूत्रानुटीकामिमां

येऽभ्यस्यन्ति बहुश्रुताः श्रुतगुरुं संपूज्य वीरप्रभुम् ।

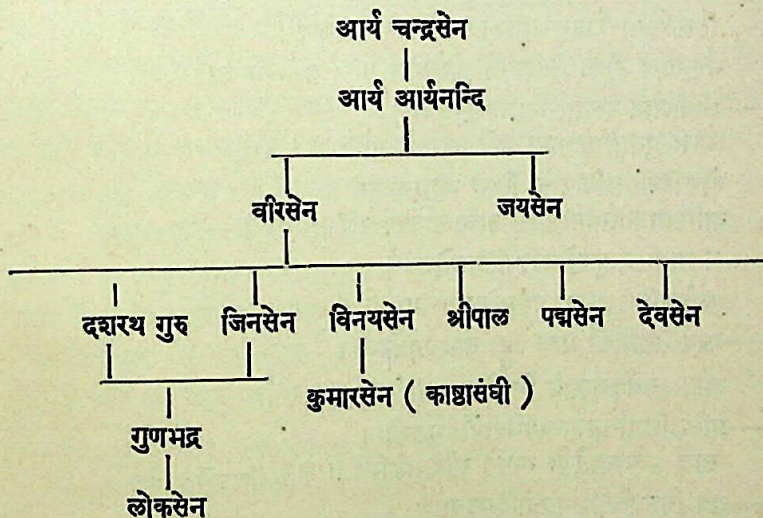
ते नित्योज्ज्वलपद्मसेनपरमाः श्रीदेवसेनार्चिताः

भासन्ते रविचन्द्रभासिसुतपःश्रीपालसत्कीर्तयः ॥ ४४ ॥—जयधवला

थे । श्रीपालको तो उन्होंने अपनी जयधवला टीकाका संपालक या पोषक कहा है^१ और अपने आदिपुराणमें भी उनकी प्रशंसा की है^२ ।

आदिपुराणकी उत्थानिकामें जिनसेनने लिखा है कि तपोलक्ष्मीके जन्मस्थान, श्रुत और प्रशमके निधि, विद्वानोंके अगुए जयसेन गुरु मेरी रक्षा करें । इससे मालूम होता है कि ये भी वीरसेन स्वामीके गुरु-भाई होंगे और इसलिए जिनसेनने इनका भी गुरुरूपसे स्मरण किया है ।

वीरसेन स्वामीने चित्रकूटमें जाकर एलाचार्यके समीप सिद्धान्त-ग्रन्थोंका अध्ययन किया था और तब उन्होंने जयधवला टीका लिखी थी । अत एव एलाचार्य भी उनके गुरु थे । परन्तु वे किसके शिष्य थे और किस अन्वयके थे, इसका कोई उल्लेख नहीं मिला । कुन्दकुन्दाचार्यका भी एक नाम एलाचार्य बतलाया जाता है परन्तु उनसे ये भिन्न हैं ।



१—टीका श्रीजयचिह्नितोऽरु धवला सूत्रार्थसंघोतिनी ।

स्थेयादारविचन्द्रमुज्ज्वलतपःश्रीपालसंपालिता ॥ ४३ ॥—ज० घ०

२—भट्टाकलंक-श्रीपाल-पात्रकेसरीणां गुणाः ।

विदुषां हृदयारूढा हारायन्तेति निर्मलाः ॥ ५३ ॥—आ० पु०

वीरसेन स्वामी

वीरसेन स्वामी अपने समयके महान् आचार्य थे । उन्होंने अपनेको सिद्धान्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण और प्रमाण शास्त्रोंमें निपुण कहा है^१ । जिनसेनने उन्हें वादिमुख्य, लोकवित्, वाग्मी और कविके^२ अतिरिक्त श्रुतकेवलीतुल्य भी बतलाया है और कहा है कि उनकी सर्वार्थगामिनी प्रज्ञाको देखकर बुद्धिमानोंको सर्वज्ञकी सत्तामें कोई शंका नहीं रही थी^३ । सिद्धान्त-समुद्रके जलमें घोई हुई अपनी शुद्ध बुद्धिसे वे प्रत्येकबुद्धोंके साथ स्पर्धा करते थे^४ । गुणभद्रने उन्हें तमाम वादियोंको त्रस्त करनेवाला और उनके शरीरको ज्ञान और चारित्र्यकी सामग्रीसे बना हुआ कहा है^५ । जिनसेन (द्वितीय) ने उन्हें कविचक्रवर्ती कहा है^६ ।

उनके बनाये हुए तीन ग्रन्थोंका उल्लेख मिलता है जिनमेंसे दो उपलब्ध हैं—

१ सिद्ध-भूपद्धन्ति-टीका—उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें गुणभद्रस्वामीने इस

१—सिद्धन्त-छन्द-जोइसु-वायरण-पमाणसत्थणिउणेण ।

भट्टारण टीका लिहिएसा वीरसेणेण ॥ ५ ॥—धवल

२—श्रीवीरसेन इत्याप्त-भट्टारकपृथुप्रथः ।

स नः पुनातु पूतात्मा वादिवृन्दारको मुनिः ॥ ५५ ॥

लोकवित्त्वं कवित्त्वं च स्थितं भट्टारके द्वयं ॥

वाग्मिता वाग्मिनो यस्य वाचा वाचस्पतेरपि ॥ ५६ ॥—आ० पु०

३—यं प्राहुः प्रस्फुरद्बोधदीधतिप्रसरोदयं ।

श्रुतकेवलिनं प्राज्ञाः प्रज्ञाश्रमणसत्तमम् ॥ २२ ॥

४—यस्य नैसर्गिकी प्रज्ञां दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीं ।

जाताः सर्वज्ञसद्भावे निरारेका मनीषिणः ॥ २१ ॥

५—प्रसिद्धसिद्धसिद्धान्तवार्धिवाधौतशुद्धधीः ।

सार्द्धं प्रत्येकबुद्धैर्यः स्पर्धते धीद्वबुद्धिभिः ॥ २३ ॥—ज० ध०

६—तत्र विज्ञासिताशेषप्रवादिमदवारणः ।

वीरसेनाग्रणीवीरसेनभट्टारको बभौ ॥ ३ ॥

७—ज्ञानचारित्रसामग्रीमग्रहीदिव विग्रहम् ।

विराजते विघातुं यो विनेयानामनुग्रहम् ॥ ४—उत्तरपुराण प्र०

८—जितात्मपरलोकस्य कवीनां चक्रवर्तिनः ।

वीरसेनगुरोः कीर्तिरकलंकावभासते ॥ ३९—हरिवंश

टीकाका उल्लेख किया है और कहा है कि सिद्धभूपद्धति ग्रन्थ पद पदपर विषम या कठिन था । परन्तु इस टीकासे वह भिक्षुओंके लिए अत्यन्त सुगम हो गया ।

इस नामपरसे ऐसा अनुमान होता है कि यह क्षेत्रगणितसम्बन्धी ग्रन्थ होगा और वीरसेनस्वामी बड़े भारी गणितज्ञ तो थे ही जैसा कि उनकी धवला टीकासे मालूम होता है । इस लिए उनके द्वारा ऐसी टीकाका लिखा जाना सर्वथा सम्भव है । परन्तु अभी तक यह ग्रन्थ कहीं प्राप्त नहीं हुआ है और न अन्यत्र कहीं इसका उल्लेख ही मिला है । यह भी न मालूम हो सका कि मूल ग्रन्थ किसका है जिसकी कि यह टीका है ।

२ धवला टीका—पूर्वोंके अन्तर्गत 'महाकर्मप्रकृति' नामका एक पाहुड़ था जिसमें कृति, वेदना आदि चौबीस अधिकार थे । पुष्पदन्त और भूतबलि मुनिने आचार्य धरसेनके निकट इनका अध्ययन करके आदिके छह अधिकारों या खंडोंपर सूत्ररूपमें रचना की जिन्हें षट्खण्डागम कहते हैं । उनके नाम हैं जीवस्थान, क्षुद्रकबन्ध, बन्धस्वामित्व, वेदना, वर्गणा और महाबन्ध । धवला टीका इनमेंसे आदिके पाँच खण्डोंकी व्याख्या है । छठे महाबन्ध खण्डके विषयमें वीरसेनस्वामीने लिखा है कि स्वयं भूतबलिने महाबन्धको विस्तारके साथ लिखा है अतएव उसकी पुनराक्ति करनेकी जरूरत नहीं मालूम होती । और फिर पूर्वके चौबीस अधिकारोंमेंसे शेषके अठारह अधिकारोंकी संक्षिप्त व्याख्या कर दी है जिनपर भूतबलिके सूत्र नहीं हैं । इस भागको उन्होंने चूलिका कहा है और इसे ही छठा खण्ड मानकर धवलाको भी षट्खण्डागम कहा जाता है । यह पूरा ग्रन्थ ७२ हजार श्लोक प्रमाण है और संस्कृत-प्राकृतभाषा मिश्र है ।

जयधवला टीका—यह आचार्य गुणधरके कषाय-प्राभृत सिद्धान्तकी टीका है और सब मिलाकर ६० हजार श्लोक प्रमाण है । इसके प्रारम्भकी बीस

१—सिद्धभूपद्धतिर्यस्य टीकां संवीक्ष्य भिक्षुभिः ।

टीक्यते हेलयान्येषां विषममपि पदे पदे ॥ ६—उत्तरपुराण प्र०

२ यह महाबन्ध भूतबलिकृत है और महाधवलके नामसे प्रसिद्ध है । इसका परिमाण ३०-४० हजार बतलाया जाता है । अभी तक यह प्रकाशमें नहीं आया है । मूढविद्रीमें इसकी जो प्रति है उसके प्रारम्भमें लगभग साढ़े तीन हजार श्लोकप्रमाण 'सत्कर्मपंजिका' है जो धवलान्तर्गत वीरसेनकृत शेषके अठारह अधिकारोंमेंसे निबन्धनादि चार अधिकारोंके विषयपदोंकी व्याख्यारूप है । इसके कर्त्ताका अभीतक पता नहीं लग सका ।

हजार श्लोक प्रमाण टीका तो वीरसेन स्वामीकी है और शेष चालीस हजार जिनसेन स्वामीकी । बीस हजार टीका लिख चुकनेपर गुरुका स्वर्गवास हो गया और तब शिष्यने उसे पूरा किया ।

जयधवल टीकाको जिनसेनस्वामीने 'वीरसेनीया टीका' भी लिखा है जो कि उनके गुरुके कर्तृत्वको प्रकट करती है । उसका एक तिहाई भाग तो गुरुकृत है ही, शेष भाग भी उन्हींके आदेश और सूचनाओंके अनुसार लिखा गया है ।

उक्त दोनों टीका-ग्रन्थ राष्ट्रकूटनरेश अमोघवर्ष (प्रथम)के समयमें रचे गये थे और अमोघवर्षका एक नाम 'धवल' या 'अतिशय धवल' भी था, इसलिए अनुमान होता है कि इनका नामकरण उन्हींके नामको चिरस्थायी करनेके लिए किया गया होगा ।

धवल और जयधवल टीकाओंके विषयमें इससे अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं मालूम होती, क्योंकि धवलाका प्रकाशन हो रहा है, चार खंड प्रकाशित भी हो चुके हैं और जयधवलके प्रकाशनका कार्य शुरू हो गया है । लगभग हजार वर्ष तक मूडबिंद्रीके मंडारमें कैद रहनेके बाद अब ये टीकायें सर्वसाधारणके नेत्रपथमें आ रही हैं ।

इन तीन ग्रन्थोंके सिवाय वीरसेन स्वामीकी और किसी रचनाका पता नहीं । संभव यही है कि न होगी । क्योंकि पिछली दो टीकायें ही ९२ हजार श्लोक परिमित हैं और एक मनुष्यके द्वारा इतनी रचनाका होना भी कम नहीं है ।

जिनसेन स्वामी

ये भी अपने गुरुके ही समान् महान् विद्वान् और उनके सच्चे उत्तराधिकारी सिद्ध हुए । गुणभद्र भदन्तने ठीक ही कहा है कि जिस तरह हिमालयसे गंगाका, सर्वज्ञके मुँहसे दिव्य ध्वनिका और उदयाचलसे भास्करका उदय होता है उसी तरह वीरसेनसे जिनसेनका उदय हुआ ।

जयधवलाकी प्रशस्तिमें स्वयं जिनसेन स्वामीने अपना परिचय बड़ी ही सुन्दर आलंकारिक शैलीसे दिया है—

१—अभवदिव हिमाद्रेद्वेवसिन्धुप्रवाहो, ध्वनिरिव सकलज्ञात्सर्वशास्त्रैकमूर्तिः ।

उदयगिरितटाद्वा भास्करो भासमानो, मुनिरनु जिनसेनो वीरसेनादमुष्मात् ॥

—उ० पु० प्र०

जिनके दोनों कान अविद्ध होनेपर भी ज्ञान-शलाकासे बेधे गये थे,
(इससे ऐसा मालूम होता है कि कर्णवेध-संस्कार होनेके पहले ही इन्होंने दीक्षा
ले ली थी ।) निकट-भव्य होनेके कारण मुक्तिरूपी लक्ष्मीने उत्सुक होकर
मानों स्वयं ही वरण करनेके लिए जिनके लिए श्रुत-मालाकी योजना की थी,^२
जिनके द्वारा बचपनसे अखंडित ब्रह्मचर्य व्रतका आचरण किये जानेके कारण
स्वयंवर-विधानमें सरस्वती चित्रलिखित-सी मूढ़ हो रही,^३ जो न तो बहुत
सुन्दर थे और न बहुत चतुर, फिर भी अनन्यशरण होकर सरस्वती देवीने
जिनकी उपचर्या या सेवा की ।^४ बुद्धि, शान्ति और विनय इन स्वाभाविक
गुणोंसे जिन्होंने आचार्योंकी आराधना की और गुणोंसे कौन आराधित नहीं
होता ?^५ जो शरीरसे कृश (दुबले) होनेपर भी तपसे कृश नहीं हुए थे ।
शारीरिक कृशत्व सच्चा कृशत्व नहीं है ।^६ जो गुणोंसे कृश होता है वास्तवमें वही
कृश है । जिन्होंने न तो कापलिका (सांख्यशास्त्र और पक्षमें तैरनेका घड़ा) को
ग्रहण किया और न अधिक चिन्तन किया, फिर भी^७ जो अध्यात्म विद्यासागरके

- १—तस्य शिष्योऽभवच्छ्रीमान् जिनसेनः समिद्धधीः ।
अविद्धावपि यत्कर्णौ विद्धौ ज्ञानशलाकया ॥ २७ ॥
- २—यस्मिन्नासन्नभव्यत्वान्मुक्तिलक्ष्मीः समुत्सुका ।
स्वयं वरीतिकामेव श्रौतिं मालामयूयुजत् ॥ २८ ॥
- ३—येनानुचरिता बाल्याद्ब्रह्मव्रतमखण्डितम् ।
स्वयंवरविधानेन चित्रमूढा सरस्वती ॥ २९ ॥
- ४—यो नातिसुन्दराकारो न चातिचतुरो मुनिः ।
तथाप्यनन्यशरणा यं सरस्वत्युपाचरत् ॥ ३० ॥
- ५—धीः शमो विनयश्चेति यस्य नैसर्गिकाः गुणाः ।
सूरीनाराधयन्ति स्म गुणैराराध्यते न कः ॥ ३१ ॥
- ६—यः कृशोपि शरीरेण न कृशोऽभूत्तपोगुणैः ।
न कृशत्वं हि शरीरं गुणैरेव कृशः कृशः ॥ ३२ ॥
- ७—यो नागृहीत्कापलिकान्नाप्यचिन्तयदंजसा ।
तथाप्यध्यात्मविद्यान्वेः परंपारमशिभियत् ॥ ३३ ॥

परली पार पहुँच गये । जिनका काल निरन्तर ज्ञानकी आराधनामें ही व्यतीत हुआ और इसलिए तत्त्वदर्शियोंने जिन्हें ज्ञानमय पिंड या ज्ञानशरीरी कहा ।

जिनसेन सिद्धान्तोंके ज्ञाता तो थे ही, कवि भी उच्च कोटिके थे । जय-धवलटीकाके शेष भागके सिवाय उनके दो ग्रन्थ और भी उपलब्ध हैं, एक पार्श्वभ्युदय काव्य और दूसरा आदिपुराण ।

१ पार्श्वभ्युदय—यह ३६४ मन्दाक्रान्ता वृत्तोंका एक खण्ड काव्य है और संस्कृत साहित्यमें अपने ढंगका अद्वितीय है । इसमें महाकवि कालिदासका सुप्रसिद्ध काव्य मेघदूत सबका सब वेष्टित है । मेघदूतमें जितने भी पद्य हैं और उनके जितने भी चरण हैं वे सब एक एक या दो दो करके इसके प्रत्येक पद्यमें प्रविष्ट कर लिये गये हैं, अर्थात् मेघदूतके प्रत्येक चरणकी समस्यापूर्तिके रूपमें यह कौतुकावह काव्य निर्मित हुआ है । मेघदूतके अन्तिम चरणोंको लेकर तो अनेक काव्य लिखे गये हैं, परन्तु सारे मेघदूतको वेष्टित कर लेनेवाला यह एक ही काव्य है और इसकी महत्ता उस समय और भी बढ़ जाती है जब हम देखते हैं कि पार्श्वनाथचरितकी कथामें और मेघदूतके विरही यक्षकी कथामें कोई समानता नहीं है । इन सब कठिनाइयोंके होते हुए भी यह काव्य बहुत ही सुन्दर और सरस बन पड़ा है^२ ।

इस काव्यकी रचना जिनसेनस्वामीने अपने सधर्मा विनयसेनकी प्रेरणासे की थी और यह इनकी सबसे पहली रचना मालूम होती है ।

योगिराट् पण्डिताचार्य नामके किसी विद्वान्ने इस काव्यकी एक संस्कृत टीका लिखी है जो विक्रमकी पन्द्रहवीं सदीके बादकी है^३ । उन्होंने लिखा है कि कवि

१—ज्ञानाराधनया यस्य गतः कालो निरन्तरम् ।

ततो ज्ञानमयं पिण्डं यमाहुस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

२ मैंने अपने 'जिनसेन और गुणमद्राचार्य' शीर्षक विस्तृत लेखमें जो सन् १९१२ में प्रकाशित हुआ था, पार्श्वभ्युदयके बहुतसे पद्य अनुवादसहित दिये हैं और इस काव्यकी विशेषताओंपर भी विस्तारके साथ लिखा है ।

३ पार्श्वभ्युदय-टीकामें जगह जगह 'रत्नमाला' नामक कोशके प्रमाण दिये हैं और इस रत्नमालाका कर्ता 'इरुगुण्डनाथ' विजयनगरनरेश हरिहरराजके समय श० सं० १३२९ (वि० सं० १४५६) के लगभग हुआ है । अतएव पण्डिताचार्य उससे पीछेके हैं ।

कालिदास बंकापुरनरेश अमोघवर्षकी सभामें आये और उन्होंने बड़े धमण्डके साथ अपना मेघदूत काव्य पढ़कर सुनाया। उस सभामें जिनसेनस्वामी मौजूद थे। उन्हें कोई भी रचना हो, एक बार पढ़नेसे, कण्ठस्थ हो जाती थी, अतएव मेघदूत भी उन्हें याद हो गया। उनके गुरुभाई विनयसेन भी वहीं थे। उन्होंने प्रेरणा की कि इस कविका अहंकार नष्ट करना चाहिए और तब जिनसेनने कहा कि पुरानी रचनामेंसे चुराया होनेके कारण ही यह काव्य इतना सुन्दर लगता है ! इसपर कालिदासने क्रोधित होकर कहा कि यदि ऐसी कोई पुरानी कृति है तो उसे पढ़कर सुनाओ। जिनसेनने कहा कि पुरानी कृति तो यहाँसे बहुत दूर एक नगरमें है, अतएव वह वहाँसे कोई आठ दिनमें लाई जा सकेगी। आखिर जिनसेनने सात दिनके भीतर ही पार्श्वभ्युदयकी रचना कर डाली और फिर उसे आठवें दिन राजसभामें जाकर सुना दिया। पर अन्तमें यह भी कह दिया कि वास्तवमें मेघदूत स्वतंत्र ही है, मैंने तो यह काव्य कालिदासके गर्वको चूर करनेके लिए उनके मेघदूतकी ही पूर्ति करके लिखा है। इत्यादि।

परन्तु यह कथा सर्वथा कल्पित और अविश्वसनीय है। क्योंकि एक तो मेघदूतके कर्त्ता कालिदास जिनसेनसे बहुत ही पहलेके हैं और दूसरे अमोघवर्षकी राजधानी जो बंकापुर बतलाई गई है सो बिल्कुल गलत है। अमोघवर्षकी राजधानी मान्यखेट थी और बंकापुर अमोघवर्षके उत्तराधिकारी अकालवर्षके सामन्त लोकादित्यकी। लोकादित्यके पिताका नाम बंकेयरस था और उसने अपने नामसे ही राजधानीका बंकापुर नाम रखवा था। अतएव अमोघवर्षके समय तो शायद बंकापुर नामका ही अस्तित्व न होगा और सबसे बड़ी बात यह कि इस तरह झूठ कहकर किसीको छकाना जिनसेन स्वामी जैसे महान् आचार्यके पदके लिए शोभास्पद नहीं, उलटा निन्दाजनक है। धर्मप्रभावना ऐसे निन्द्य कार्योंसे हो भी नहीं सकती।

२ आदिपुराण—जिनसेन स्वामीने सारे त्रैसठशलाका पुरुषोंका चरित्र लिखनेकी इच्छासे महापुराणका प्रारंभ किया था परन्तु बीचमें ही शरीरान्त हो जानेसे उनकी वह इच्छा पूरी न हो सकी और महापुराण अधूरा रह गया, जिसे

१ जैनकवि रविकीर्तिने पहलेके मन्दिरकी प्रशस्तिमें श० सं० ५५६ (वि० सं० ६९१) में कालिदास और भारविका उल्लेख किया है—

“ स जयति कविरविकीर्तिः कविताभितकालिदास-भारविकीर्तिः । ”

पीछे उनके शिष्य गुणभद्राचार्यने पूरा किया। महापुराणके दो भाग है—एक आदिपुराण और दूसरा उत्तरपुराण। आदिपुराणमें प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ या ऋषभदेवका चरित है और उत्तरपुराणमें शेष २३ तीर्थंकरों और अन्य शलाका पुरुषोंका। आदिपुराणमें १२ हजार श्लोक और ४७ पर्व या अध्याय हैं। इनमेंसे ४२ पर्व पूरे और ४३ वें पर्वके ३ श्लोक जिनसेनके और शेष चार पर्वोंके १६२० श्लोक उनके शिष्यके हैं। इस तरह आदिपुराणके १०३८० श्लोकोंके कर्त्ता जिनसेन स्वामी हैं।

आदिपुराण केवल पुराण ही नहीं है, ऊँचे दर्जेका महाकाव्य भी है। गुणभद्र स्वामीने उसकी प्रशंसामें कहा है कि यह सारे छन्दों और अलंकारोंको लक्ष्यमें रखकर लिखा गया है, इसकी रचना सूक्ष्म अर्थ और गूढ़ पदोंवाली है, इसमें बड़े बड़े विस्तृत वर्णन हैं, जिनको पढ़नेसे तमाम-शास्त्रोंका साक्षात् हो जाता है, इसके सामने दूसरे काव्य नहीं ठहर सकते, यह श्रव्य है, व्युत्पन्नबुद्धिवालोंके द्वारा ग्रहण करने योग्य है, और अतिशय ललित है।

आदिपुराण सुभाषितोंका भी भंडार है। जिस तरह बहुमूल्य रत्नोंका उत्पत्ति-स्थान समुद्र है, उसी तरह सूक्त-रत्नोंका भण्डार यह पुराण है। जो अन्यत्र दुर्लभ हैं, ऐसे सुभाषित इसमें सुलभ हैं और स्थान स्थानसे इच्छानुसार संग्रह किये जा सकते हैं।

१—सकलच्छन्दोलङ्कृतिलक्ष्यं सूक्ष्मार्थगूढपदरचनम्
व्यावर्णनोरु सारं साक्षात्कृतसर्वशास्त्रसद्भावम् ।
अपहस्तितान्यकाव्यं श्रव्यं व्युत्पन्नमतिभिरादेयम्
जिनसेनभगवतोक्तं मिथ्याकविदर्पदलनमतिललितम् ॥...

२—यथा महार्घ्यरत्नानां प्रसूतिर्मकरालयात् ।
तथैव सूक्तरत्नानां प्रभवोऽस्मात्पुराणतः ॥ १६ ॥

सुदुर्लभं यदन्यत्र चिरादपि सुभाषितम् ।

सुलभं स्वैरसंग्राह्यं तदिहास्ति पदे पदे ॥ १७ ॥ —उ० पु० प्र०

विद्वत्तमालामें मैने आदिपुराणके भी अनेक पद्य बानगीके तौर पर सानुवाद उद्धृत किये हैं देखो, पृष्ठ ६७-७०

वर्द्धमानपुराण (१)—जिनसेनने अपने हरिवंशपुराणमें लिखा है—

यामिताभ्युदये पार्श्वजिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः ।

स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्तिः संकीर्तयत्यसौ ॥ ४० ॥

वर्द्धमानपुराणोद्यदादित्योक्तिगभस्तयः ।

प्रस्फुरन्ति गिरीशान्तः स्फुटस्फटिकमिच्छिषु ॥ ४१ ॥

पहले हमने इन दोनों श्लोकोंको जिनसेन स्वामीकी प्रशंसा करनेवाला समझा था और कल्पना की थी कि उनका बनाया हुआ कोई वर्द्धमानपुराण भी होगा । परन्तु अब अधिक विचार करनेसे इस निश्चयपर आना पड़ा है कि जिनसेनकी स्तुति इसके पहलेके ४० वें श्लोकमें ही समाप्त हो गई है और इस ४१ वें श्लोकमें किन्हीं अन्य ही आचार्यके वर्द्धमानपुराणकी प्रशंसा है जिनका नाम नहीं दिया गया है । इसके पहले ३५ वें श्लोकमें भी बिना नाम दिये वे वरांगचरितकी प्रशंसा कर चुके हैं । उक्त वर्द्धमानपुराण उस समय शायद इतना प्रसिद्ध था कि उसके कर्त्ताका नाम देनेकी उन्होंने आवश्यकता ही नहीं समझी ।

एक तो जो चौबीसों तीर्थकरोंका चरित्र लिखने बैठा है, वह अलगसे वर्द्धमानपुराण पहले लिख देगा, यह कुछ अद्भुत-सा लगता है , और दूसरे यदि जिनसेनका कोई वर्द्धमानपुराण होता तो गुणभद्र स्वामी उसका उल्लेख अवश्य करते, कमसे कम अपने महावीरपुराण (उत्तरपुराणान्तर्गत) में तो उसकी चर्चा करना उनके लिए आवश्यक ही हो जाता । इसके सिवाय अन्य भी किसी कविने कहीं इस वर्द्धमानपुराणका उल्लेख नहीं किया है । गरज यह कि द्वि० जिनसेनद्वारा प्रशंसित वर्द्धमानपुराण किसी अन्य ही आचार्यकी रचना है ।

गुणभद्राचार्य

जिनसेन और दशरथ गुरुके शिष्य गुणभद्र स्वामी भी बहुत बड़े ग्रन्थकर्त्ता हुए । जैसा कि पहले कहा जा चुका है इन्होंने आदिपुराणके अन्तके १६२० श्लोक रचकर उसे पूरा किया और फिर उसके बाद उत्तरपुराणकी रचना की जिसका परिमाण आठ हजार श्लोक है । जिस ढंगसे महापुराण प्रारंभ किया गया था और जितना

१—वरांगनेव सर्वौगैर्वरांगचरितार्थवाक् ।

कस्य नोत्पादयेद्वाढमनुरागं स्वगोचरम् ॥ ३५

इस वरांगचरितके कर्त्ता जय-सिंहनन्दि हैं ।

विस्तार उसके प्रथम अंश आदिपुराणका है, यदि वही ढंग आगे भी कायम रखा जाता तो यह ग्रन्थ महाभारत जैसा विशाल होता, और भगवज्जिनसेनकी इच्छा भी शायद यही थी; परन्तु गुणभद्रने अतिशय विस्तारके भयसे और हीनकालके अनुरोधसे थोड़ेमें ही समाप्त करना उचित समझा और इस तरह केवल आठ हजार श्लोकोंमें ही शेष तेइस तीर्थकरों और अन्य महापुरुषोंका चरित लिख डाला और इस तरह उन्होंने गुरुके प्रति अपने कर्तव्यका पालन किया।

गुणभद्र बड़े ही गुरुभक्त थे। काव्य-प्रतिभा भी उनकी बड़ी चढ़ी थी। गुरुकी अधूरी रचनामें हाथ लगाते समय उन्होंने जो थोड़ेसे पद्य लिखे हैं, वे इस गुरुभक्ति और काव्य-प्रतिभाको बहुत ही स्पष्ट रूपसे प्रकट करते हैं। वे कहते हैं—

गन्नेके समान इस ग्रन्थका पूर्वार्ध ही रसावह है, उत्तरार्धमें तो ज्यों त्यों करके ही रसकी प्राप्ति होगी।^१ गन्नेका प्रारम्भका (नीचेका) भाग ही स्वादिष्ट होता है, ऊपरका नहीं। यदि मेरे वचन सरस या सुस्वादु हों, तो यह गुरुका ही माहात्म्य समझना चाहिए। यह वृक्षोंका स्वभाव है कि उनके फल मीठे होते हैं^२। वचन हृदयसे निकलते हैं और हृदयमें मेरे गुरु विराजमान हैं। तब वहाँसे वे उनका संस्कार करेंगे ही। इसमें मुझे परिश्रम न करना पड़ेगा, गुरुकृपासे मेरी रचना संस्कारकी हुई ही होगी।^३ भगवज्जिनसेनके अनुयायी तो पुराण (पुराने) मार्गके आश्रयसे संसार-समुद्रसे पार होना चाहते हैं, फिर मेरे लिए पुराण-सागरके पार पहुँचना क्या कठिन है ?^४

१—अतिविस्तरभीरुत्वादवशिष्टं संग्रहीतममलधिया ।

गुणभद्रसूरिणेदं प्रहीणकालानुरोधेन ॥ १९ ॥

२—इक्षोरिवास्य पूर्वार्द्धमेवामावि रसावहम् ।

यथातथास्तु निष्पत्तिरिति प्रारभ्यते मया ॥ १४ ॥

३—गुरुणामेवमाहात्म्यं यदपि स्वादु मद्बचः ।

तरूणां हि स्वभावोऽसौ यत्फलं स्वादु जायते ॥ १७ ॥

४—निर्यान्ति हृदयाद्वाचो हृदि मे गुरुवः स्थिताः ।

ते तत्र संस्कारिष्यन्ते तन्न मेऽत्र परिश्रमः ॥ १८ ॥

५—पुराणं मार्गमासाद्य जिनसेनानुगा ध्रुवम् ।

भवान्धेः पारमिच्छन्ति पुराणस्य किमुच्यते ॥ १९ ॥

उत्तरपुराण यद्यपि संक्षिप्त है, उसमें कथा-भागकी अधिकता है; फिर भी उसमें कवित्वकी कमी नहीं है और वह सब तरहसे जिनसेनके शिष्यके अनुरूप है।

२ आत्मानुशासन—यह २५२ पद्योंका छोटा-सा ग्रन्थ अपने नामके अनुरूप आत्मापर शासन प्राप्त करनेके लिए बहुत ही उत्तम साधन है। इसकी रचनाशैली भर्तृहरिके वैराग्य-शतकके ढंगकी और बहुत ही प्रभावशालिनी है। इसका प्रचार भी खूब है।

३ जिनदत्तचरित्र—यह ग्रन्थ अभीतक हमें देखनेको नहीं मिला। इसका हिन्दी अनुवाद पं० श्रीलालजी काव्यतीर्थने जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्थाद्वारा प्रकाशित किया है परन्तु न तो उक्त अनुवादमें श्लोकोंके नम्बर दिये गये हैं और न कोई प्रशस्ति आदि ही दी है जिससे मूलग्रन्थके सम्बन्धमें कुछ विचार किया जा सके। अनुवाद भी भावार्थरूप है। यह नवसर्गात्मक खण्डकाव्य है और साराका सारा अनुष्टुप् श्लोकोंमें है। भावार्थसे जहाँ तक अनुमान किया जा सकता है, रचना प्रौढ और सुन्दर है।

गुरु-शिष्यका लम्बा जीवन

वीरसेन-जिनसेनने इतनी लम्बी उम्र पाई थी कि उन्हें शतजीवी कहा जा सकता है।

द्वितीय जिनसेनने अपना हरिवंशपुराण श० सं० ७०५ में समाप्त किया था और उसकी उत्थानिकामें उन्होंने वीरसेनको कविचक्रवर्ती और उनके शिष्य जिनसेनको पार्श्वाम्युदयकी कीर्तिशालिनी रचनाका कर्त्ता कहा है। हरिवंशके बारह हजार श्लोकोंके बनानेमें यदि पाँच ही वर्ष लगे हों और यदि उसकी उत्थानिका ग्रन्थ प्रारम्भ करते समय ही लिखी गई हो, तो मानना होगा कि श० सं० ७०० से पहले ही पार्श्वाम्युदयकी रचना हो चुकी थी और यदि उस समय कविकी अवस्था २५ वर्षकी ही मान ली जाय, तो वीरसेनके शिष्य जिनसेनका जन्म श० सं० ६७५ के लगभग हुआ होगा और यदि शिष्यसे गुरुकी उम्र पन्द्रह वर्ष

१ देखो विद्वद्रत्नमाला पृ० ७४-७७

२ देखो ऊपर पृ० ५०९ में उद्धृत 'यामिता' आदि श्लोक।

ही अधिक मान ली जाय तो वीरसेन स्वामीका जन्म-काल श० सं० ६६० के लगभग समझना चाहिए ।

उन्होंने अपनी धवला टीका श० सं० ७३८ में समाप्त की है । यदि उसके बाद तत्काल ही जयधवला टीका प्रारम्भ कर दी हो, जो कि दुर्भाग्यसे पूरी न हो सकी, तो उसके २० हजार श्लोकोंकी रचनामें निदान सात आठ वर्ष जरूर लग गये होंगे और इस हिसाबसे उनका स्वर्गवास श० सं० ७४५ के लगभग ८५ वर्षकी उम्रमें हुआ होगा ।

अब जिनसेन स्वामीको लीजिए । ऊपर उनका जन्म श० ६७५ के लगभग अनुमान किया गया है और जयधवला टीका उन्होंने श० सं० ७५९ में समाप्त की है^१ । अर्थात् उस समय उनकी उम्र ८४ वर्षकी होगी । जयधवलाके बाद ही उन्होंने अपना आदिपुराण शुरू किया होगा जिसे कि वे पूरा न कर सके । उसके लगभग दस हजार श्लोकोंकी रचनामें उनकी वृद्धावस्थाको देखते हुए ५-६ वर्षसे कम न लगे होंगे और इस तरह श० सं० ७६५ के लगभग ९० वर्षकी उम्रमें उनका स्वर्गवास हुआ होगा ।

इस तरह हम देखते हैं कि ये दोनों महान् ग्रन्थकर्ता खूब दीर्घजीवी हुए ।

भदन्त गुणभद्रकी उम्र यदि गुरुके स्वर्गवासके समय २५ वर्षकी मान

१ अठतीसहि सतसए विक्कमरायंकिए सु-सगणामे ।

वासे सुतेरसीए भाणुविलगो धवलपक्खे ॥ ६ ॥ आदि

२—एकान्नषष्टिसमधिकसप्तशताब्देषु शकनरेन्द्रस्य ।

समतीतिषु समाप्ता जयधवला प्राभृतव्याख्या ॥

३—आदिपुराणकी उत्थानिकामें जिनसेनने अपने गुरुको सिद्धान्त-ग्रन्थोंके उपनिबन्धोंका या टीकाओंका कर्ता लिखा है—“ सिद्धान्तोपनिबन्धानां विधातुर्मद्बुदोश्चिरम् । मन्मनःसरसि स्थेयान्मृदुपादकुशेशयम् ॥ ५७ ” इससे धवला और जयधवला दोनों टीकाओंका मतलब निकलता है । अर्थात् आदिपुराणके प्रारंभ करते समय जयधवला (२० हजार श्लोक) बन चुकी थी और गुरुकी मृत्यु हो चुकी थी । इसी लिए उनके चरण-कमलोंको अपने मनमें स्थिर रखनेकी भी इच्छा प्रकट की गई है । बहुवचनान्त ‘उपनिबन्धानां’ पद होनेसे एक और सिद्धान्त ग्रंथकी टीकाकी भी इससे ध्वनि निकलती है । शायद वह ‘सिद्धभूपद्धति-टीका’ ही हो ।

ली जाय तो वे श० सं० ७४० के लगभग जन्मे होंगे परन्तु उन्होंने उत्तर-पुराणकी समाप्ति कब की और वे कब तक जीते रहे इसका पता नहीं लगता ।

उत्तरपुराण कब समाप्त हुआ ?

उत्तरपुराणकी प्रशस्तिके अनुसार हमने अपने पहले लेखमें उसकी समाप्तिका समय श० सं० ८२० माना था और अन्य विद्वान् भी यही मानते आ रहे हैं; परन्तु इस लेखके लिखते समय यह बात बुरी तरह खटकी कि इतने महान् आचार्यका ग्रन्थ जिसके एकसे एक बढ़कर गुरुभाई और शिष्य मौजूद थे, लगभग ५० वर्ष तक अधूरा कैसे पड़ा रहा होगा । तब प्रशस्तिका बारीकीसे अध्ययन करना पड़ा और उससे मालूम हुआ कि उपलब्ध प्रशस्तिके दो हिस्से हैं । पहला हिस्सा एकसे लेकर सत्ताईसवें पद्य तक है और दूसरा अट्ठाईसवेंसे ब्यालीसवें पद्य तक । पहलेके कर्त्ता हैं गुणभद्रस्वामी और दूसरे हिस्सेके कर्त्ता उनके शिष्य लोकसेन मुनि । प्रति-लेखकोंकी कृपासे दोनों हिस्से मिलजुलकर एक हो गये हैं ।

गुणभद्रस्वामीने अपनी प्रशस्तिके प्रारंभके १९ पद्योंमें अपने संघकी और गुरुओंकी महिमाका परिचय दिया है और फिर बीसवें पद्यमें लिखा है कि अति-विस्तारके भयसे और अतिशय हीनकालके अनुरोधसे अवशिष्ट महापुराणको मैंने संक्षेपमें संग्रह किया । फिर पाँच छह श्लोकोंमें ग्रन्थका महात्म्य वर्णन करके अन्तके २७ वें पद्यमें कहा है कि भव्यजनोंको इसे सुनना चाहिए, व्याख्यान करना चाहिए, चिन्तन करना चाहिए, पूजना चाहिए और भक्तजनोंको इसकी

१ शकनृपकालाभ्यन्तरविंशत्यधिकाष्टशतमिताब्दान्ते ।

मङ्गलमहार्थकारिणि पिङ्गलनामनि समस्तजनसुखदे ॥ ३५ ॥

श्रीपञ्चम्यां बुधार्द्रायुजि दिवसकरे मन्त्रिवारे बुधांशे

पूर्वायां सिंहलग्ने धनुषि धरणिजे वृश्चिकाकौ तुलायाम् ।

सपै शुक्रे कुलीरे गवि च सुरगुरौ निष्ठितं भव्यवर्यैः

प्राप्तेज्यं सर्वसारं जगति विजयते पुण्यमेतत्पुराणम् ॥ ३६ ॥

२ ये पद्यसंख्यायें पं० लालरामजीशास्त्रीद्वारा प्रकाशित उत्तरपुराणकी प्रशस्तिके अनुसार दी गई हैं ।

प्रोतलिपियाँ लिखना लिखाना चाहिए। बस, यहीं गुणभद्रस्वामीका वक्तव्य समाप्त हो जाता है और वास्तवमें इसके बाद कुछ कहनेके लिए रह भी नहीं जाता।

इसके बाद २८ वें पद्यसे लोकसेनकी लिखी हुई प्रशस्ति शुरू होती है जिसमें कहा है कि उन गुणभद्रस्वामीके शिष्योंमें मुख्य लोकसेन हुआ जिसने इस पुराणमें निरन्तर गुरु-विनयरूप सहायता देकर सज्जनोंद्वारा बहुत मान्यता प्राप्त की थी। फिर २९-३०-३१ नम्बरके पद्योंमें राष्ट्रकूट अकालवर्षकी वीरताकी प्रशंसा की है जो उस समय अखिल पृथ्वीका पालन करता था। फिर ३२ से ३६ तकके पद्योंमें कहा है कि जब अकालवर्षके सामन्त लोकादित्य बंकापुर राजधानीसे सारे वनवास देशका शासन करते थे, तब श० सं० ८२० के अमुक मुहूर्तमें इस पवित्र और सर्वसाररूप पुराणकी श्रेष्ठ भव्यजनोंद्वारा पूजा की गई। फिर ३७ वें पद्यमें यह कहकर लोकसेनने अपना वक्तव्य समाप्त किया है कि यह महापुराण चिरकालतक सज्जनोंकी वाणी और चित्तमें स्थिर रहे।^१

इस तरह ये गुणभद्र और लोकसेनकी लिखी हुई दो जुदी जुदी प्रशस्तियाँ हैं, जो मिलकर एक हो गई हैं। पहली प्रशस्ति तो स्वयं ग्रन्थकर्ताकी ही है और वह ग्रन्थसमाप्तिके समयकी लिखी हुई है; परन्तु दूसरी प्रशस्ति उनके शिष्य लोकसेनकी है जिसे उन्होंने उस समय लिखा है जब कि उनके गुरुके इस महान् ग्रन्थका विधिपूर्वक पूजामहोत्सव किया गया था। यह पूजामहोत्सव ही श० सं० ८२० की उक्त तिथि और मुहूर्तमें किया गया था, ग्रन्थ-समाप्तकी तिथि वह नहीं है। ग्रन्थ-समाप्तिकी तिथि गुणभद्रस्वामीने लिखी ही नहीं।

इससे अब हम इस निर्णयपर पहुँचते हैं कि गुणभद्रस्वामीने अपने गुरुके अधूरे ग्रन्थको उनके स्वर्गवास होनेके अनतिकाल बाद ही लिखना शुरू कर दिया होगा, और वे उसके लगभग साढ़े नौ हजार श्लोक पाँच सात वर्षोंमें लिख सके होंगे।

बहुत संभव है कि महापुराणका उक्त पूजामहोत्सव लोकसेनने अपने गुरु गुणभद्रस्वामीके स्वर्गवास होनेपर ही किया हो। क्योंकि लोकसेनकी प्रशस्तिसे ऐसा नहीं मालूम होता कि उनके गुरु उस समय जीवित थे।

१ देखो पृ० ४९९ के पाद-टिप्पणका २८ वाँ पद्य।

२ इसके आगे पाँच पद्य और हैं जो सब प्रतियोंमें नहीं मिलते। उदाहरणार्थ टी० पस० कुप्पू स्वामी शास्त्रीके जीवधरचरित्रमें जो उत्तरपुराणकी प्रशस्ति उद्धृत है, उसमें ये ३८ से ४२ तकके पद्य नहीं हैं। इन पद्योंमें महापुराणकी महिमा वर्णन की गई है। संभव है, ये पद्य किसी अन्यके लिखे हुए हों और पीछेसे शामिल हो गये हों।

स्थान-विचार

मौटे तौरपर यह कहा जा सकता है कि ये तीनों आचार्य कर्नाटक प्रान्तके थे, अतएव इनका भ्रमण-क्षेत्र अधिकतर इसी प्रान्तमें रहा होगा। इनके ग्रन्थोंमें बंकापुर, वाट-ग्राम और चित्रकूट इन तीन ही स्थानोंका उल्लेख मिलता है। इनमेंसे बंकापुर तो उस समय वनवास प्रान्तकी राजधानी था और इस समय कर्नाटकके धारवाड़ जिलेमें है। इसे राष्ट्रकूट अकालवर्ष (कृष्ण द्वितीय) के सामन्त लोकादित्यके पिता बंकेयरसने अपने नामसे राजधानी बनाया था।^१ वाट-ग्राम कहाँपर था और अब वह किस नामसे प्रसिद्ध है, इसका पता नहीं लगता। परन्तु वह गुर्जरार्यानुपालित था, अर्थात् अमोघवर्षके राज्यमें था और अमोघवर्षका राज्य मालवेसे लेकर दक्षिणमें कांचीपुर तक फैला हुआ था। अतएव इतने लम्बे चौड़े देशमें वह किस जगह होगा, इसका निर्णय करना कठिन है। अमोघवर्षके राज्य-कालकी श० सं० ७८८ की एक प्रशस्तिसे मालूम होता है कि गोविन्दराज (तृतीय) ने जिनके उत्तराधिकारी अमोघवर्ष थे केरल, मालवा, गुर्जर और चित्रकूटको जीता था और इन सब देशोंके राजा अमोघवर्षकी सेवामें रहते थे। इनमेंका चित्रकूट ही शायद वह चित्रकूट है जहाँ एलाचार्य रहते थे और जिनके पास जाकर वीरसेन स्वामीने सिद्धान्तोंका अध्ययन किया था।

मैसूर राज्यके उत्तरमें चित्तलदुर्ग जिलेका सदर मुकाम है। यह पहले होयसाल राजवंशकी राजधानी रहा है। यहाँ बहुत-सी पुरानी गुफायें हैं और पाँच सौ वर्ष पुराने मन्दिर हैं। मुनि शीलविजयने इसका चित्रगढ़ नामसे उल्लेख किया है। गढ़ और कूट लगभग एक ही अर्थको बतलानेवाले शब्द हैं। संभव है, एलाचार्यका

१—आगत्य चित्रकूटात्ततः स भगवान्गुरोरनुज्ञानात्।

वाटग्रामे चात्रानतेन्द्रकृतजिनगृहे स्थित्वा ॥ १७९ आदि। —श्रुता०

इति श्रीवीरसेनीया टीका सूत्रार्थदर्शिनी।

वाटग्रामपुरे श्रीमद्गुर्जरार्यानुपालिते ॥...६—जयध्वला

२ श्रीमति लोकादित्ये प्रध्वस्तप्रथितशत्रुसंतमसे—.....

वनवासदेशमाखिलं मुंजति निष्कण्टकं सुखं सुचिरम्। .

तत्पितृनिजनामकृते ख्याते बंकापुरे पुरेष्वधिके ॥ ३१ ॥—उ० पु०

३ पृथ्वाफिआ इंडिका भाग ६, पृ० १०२

चित्रकूट यहीं हो। शीलविजयजीने अपनी तीर्थयात्रामें चित्रगढ़, वनौसी (वनवास) और बंकापुरका लगातार एक साथ वर्णन किया है और इससे इन स्थानोंके बीच बहुत ज्यादा अन्तर नहीं मालूम होता। बंकापुर वही है जहाँपर उत्तरपुराणका पूजा-महोत्सव हुआ था और वनौसी वही है जहाँपर बंकापुरसे पहले राजधानी थी। इस तरह यदि चित्रकूट चित्तलदुर्ग ही है, तो वाटग्राम वनवासी और चित्तलदुर्गके बीच कहीं पास ही होगा।

आधुनिक चित्तौड़का (मेवाड़का) भी प्राचीन नाम चित्रकूटका ही अपभ्रंश रूप चित्तौड़ है। परन्तु यह स्थान कर्नाटकसे इतनी अधिक दूर है कि उसके एलचार्यका चित्रकूट होनेकी संभावना बहुत ही कम है।

वीरसेन और जिनसेनके रहनेका प्रधान स्थान कौन-सा था, इसका कहीं कोई उल्लेख नहीं मिला है, परन्तु शायद वह वनौसी या वनवासी होगा जो पहले वनवास देशकी राजधानी था और पीछे जहाँसे राजधानी हटाकर बंकापुरमें आ गई थी जहाँ कि लोकसेनने उत्तरपुराणकी पूजा की थी। अमोघवर्षकी राजधानी मान्यखेटमें उनके रहनेका कोई उल्लेख नहीं मिला। हाँ, मान्यखेट राजधानीको एकाधिक बार अपने चरणोंसे उन्होंने पवित्र अवश्य किया होगा। क्योंकि अमोघवर्ष जिनसेनके भक्त थे।

समकालीन-राजा

इन तीन महान् ग्रन्थ-कर्ताओंके समयमें राष्ट्रकूट वंशके तीन महान् राजाओंका राज्य रहा,—जगत्तुंगदेव, अमोघवर्ष और अकालवर्ष।

जगत्तुंगदेव—वीरसेन स्वामीने श० सं० ७३८ में जब धवला टीका समाप्त की, तब जगत्तुंगदेव (गोविन्द तृतीय) ने सिंहासन छोड़ दिया था और बोद्धराय या अमोघवर्ष राज्य कर रहे थे। जगत्तुंगका उल्लेख करनेका कारण यह जान पड़ता है कि धवलाका प्रारंभ उन्हींके समयमें हुआ था।

१ देखो, 'दक्षिणके तीर्थक्षेत्र' शीर्षक लेख पृ० २३६

१ अठतीसहि सतसए विक्रमरायंकिए सु-सगणामे ।

वासे सुतेरसीए भाणुविलग्गे धवलपक्खे ॥ ६ ॥

जगत्तुंगदेवरज्जे रियग्घि कुंभग्घि राहुणा कोणे ।

सूरे तुलाए संते गुरुग्घि कुलविल्लए होंते ॥ ७ ॥

जगत्तुंगदेवके श० सं० ७१६ से ७३५ तकके अनेक शिलालेख मिले हैं। ये ध्रुवराजके पुत्र और उत्तराधिकारी थे। ये बड़े प्रतापी थे। उत्तरमें मालवासे लेकर दक्षिणमें कांचीतकके राजा इनकी आज्ञाका पालन करते थे और नर्मदा और तुंग-भद्राके बीचके सारे देशपर इनका अधिकार था। इन्होंने अपने जीते जी ही अपने पुत्र अमोघवर्षको राज्य दे दिया था। ये श० सं० ७१५ के लगभग सिंहासन-पर बैठे होंगे और ७३७ के लगभग इन्होंने गद्दी छोड़ दी होगी।

अमोघवर्ष (प्रथम)—ये जगत्तुंगदेव या गोविन्द (तृतीय)के पुत्र थे। इनका घरू नाम बोद्धणराय था। नृपतुंग, शर्व, शण्ड, अतिशय धवल, वीरनारायण, पृथिवीवल्लभ, लक्ष्मीवल्लभ, महाराजाधिराज, भटार, परमभट्टारक आदि इनकी उपाधियाँ थीं। ये भी बड़े पराक्रमी थे। इन्होंने अनेक युद्धोंमें विजय प्राप्त करके अनेक राजाओंको भस्म कर दिया था। वैगीके चालुक्य नरेशको मारकर यमराज-को सन्तुष्ट किया था। नवसारीके दानपत्रमें लिखा है कि अमोघवर्ष चालुक्य समुद्रमें डूबी हुई राष्ट्रकूटोंकी लक्ष्मीका पृथ्वीके समान उद्धार करके वीरनारायण कहलाये। इन्होंने बहुत बड़ी उम्र पाई और लगभग ६३ वर्ष तक राज्य किया।

चावग्नि तरणिवुत्ते सिंघे सुक्कम्मि मीणे चंदम्मि ।
 कत्तियमासे एसा टीका हु समाणिआ धवला ॥ ८ ॥
 बोद्धणरायणरिंदे नरिंदिचूडामणिग्नि मुंजंते ।
 सिद्धंतगंथमस्थिय गुरुप्पसाएण विगत्ता सा ॥ ९ ॥

—धवला

१ इनका श० सं० ७३५ का एक दानपत्र कदंब (मैसूर) में मिला है, जिसमें विजयकीर्तिके शिष्य अर्ककीर्तिको जैनमन्दिरके लिए दान देनेका उल्लेख है। श० ए० जि० १२ पृ० १३।

२ यह नाम सबसे पहले धवलामें ही मिला है। इतिहासज्ञोंको अभीतक इसका पता नहीं है।

३ चालुक्याभ्युपखाद्यैर्जनितरतियमः प्रीणितो विंगवल्ल्याम्। श० ए० जि० १२ पृ० २४९-५२

४ निमग्नां यश्चुलुक्याब्धौ रट्टराज्यभ्रियं पुनः ।
 पृथ्वीमिवोद्धरन् धीरो वीरनारायणोऽभवत् ॥

श० सं० ७३५ में जब धवलाकी समाप्ति हुई तब ये ही राजा थे और श० सं० ७७० के लगभग जब जिनसेनने आदिपुराणको अधूरा छोड़कर स्वर्गवास किया तब भी इन्हींका राज्य था। श० सं० ७८२ के ताम्रपत्रसे मालूम होता है कि इन्होंने स्वयं मान्यखेटमें जैनाचार्य देवेन्द्रको दान दिया था। यह दानपत्र इनके राज्यके ५२ वें वर्षका है। इसके बाद श० संवत् ७९९ का एक लेख कन्हरीकी एक गुफामें मिला है जिसमें इनका और इनके सामन्त कपर्दी द्वितीयका उल्लेख है^१। परन्तु ऐसा मालूम होता है कि इससे कुछ पहले ही अमोघवर्षने अपने पुत्र अकालवर्ष या कृष्ण द्वितीयको राज्यकार्य सौंप दिया था। क्योंकि श० सं० ७९७ का एक लेख कृष्ण द्वितीयके महा सामन्त पृथ्वीरायका मिला है जिसमें उसके द्वारा सौन्दतिके एक जैनमन्दिरके^२ लिए कुछ भूमि दान किये जानेका उल्लेख है। अपने पिताके समान अमोघवर्षने भी पिछली उम्रमें राज्य त्याग दिया था। इसका उल्लेख उन्होंने अपनी प्रश्नोत्तररत्नमाला नामकी पुस्तकमें भी किया है। लिखा है कि जिसने विवेकपूर्वक राज्य छोड़ दिया उस राजा अमोघवर्षने इसकी रचना की^३। इन्द्रपुरीकी उपमाको धारण करनेवाली मान्यखेट नगरीको इसीने आवाद किया था और वहाँ अपनी राजधानी कायम की थी^४। इसके पहले राष्ट्रकूटोंकी राजधानी मयूरखंडी (नासिकके पास) में थी। यह राजा स्वयं विद्वान्, कवि और विद्वानोंका आश्रयदाता था। प्रश्नोत्तररत्नमालाके अतिरिक्त 'कविराजमार्ग' नामक अलंकारका ग्रन्थ भी इसीका बनाया हुआ बतलाया जाता है जो कि कनड़ी भाषामें है। शाकटायनने अपने शब्दानुशासनकी टीका अमोघवृत्ति अमोघवर्षके ही नामसे ही बनाई, धवला और जयधवला टीकायें भी उसीके अतिशय धवल या धवल नामके उपलक्ष्यमें बनीं और महावीराचार्यने अपने गणितसारसंग्रहमें उसीकी महामहिमाका

१ ए० इ० जि० पृ० २९। २ इ० ए० जि० १३, पृ० १३५

३ जर्नल बाम्बे ब्रांच रा० ए० सो० जि० १०, पृ० १९४

४ विवेकात्यक्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका।

रचितामोघवर्षेण सुधियां सदलंकृतिः ॥

५ यो मान्यखेटममेन्द्रपुरोपहासि, गीर्वाणगर्वमिव खर्वयितुं विधत्त ॥

—ए० इ० जि० ५, पृ० १९२-९६

विस्तार किया। इससे मालूम होता है कि यह राजा विद्वानोंका विशेष करके जैनाचार्योंका बड़ा भारी आश्रयदाता था। जैनमुनियोंके लिए भी उसने कई दान किये थे।

अकालवर्ष—यह अमोघवर्षका पुत्र था और कृष्णराज (द्वितीय) के नामसे प्रसिद्ध है। यह भी बड़ा प्रतापी था। इसने गुर्जर (प्रतिहार) और गौड़ राजाओंसे युद्ध किया और (गुजरात) के राष्ट्रकूट राज्य (शाखा) को छीनकर अपने राज्यमें मिला लिया। इसके पास हाथियोंकी बड़ी भारी सेना थी। उत्तरपुराणकी प्रशस्तिके अनुसार इसके हाथियोंने अपने मद-जलसे गंगाका पानी भी कड़ुवा कर डाला था। अर्थात् इसका राज्य उत्तरमें गंगातट तक पहुँच गया था। उत्तरपुराणकी दूसरी प्रशस्ति जिस समय अर्थात् श० सं० ८२० में लिखी गई उस समय यही सम्राट् था^१। यह श० सं० ७९७ के लगभग सिंहासनपर बैठा और ८३३ के लगभग इसका देहान्त हुआ।

लोकादित्य—यह अकालवर्ष या कृष्ण (तृतीय) का सामन्त और वनवास देशका राजा था। इसके पिताका नाम बंकेयरस या बंकराज था। यह चेल्छव्वज था। अर्थात् इसकी ध्वजापर चिह्न या चीलका चिह्न था। इसके पिता और भाई भी चेल्छव्वज थे^२। गुणभद्रने इसे जैनधर्मकी वृद्धि करनेवाला और महान् यशस्वी कहा है। इसीके राज्यकालमें बंकापुरमें ही महापुराणकी पूजा की गई थी।

क्या अमोघवर्ष जैन थे ?

यह एक विवादग्रस्त विषय है कि महाराजा अमोघवर्ष जैन थे या नहीं, अर्थात् उन्होंने वास्तवमें जैनधर्म धारण कर लिया था या जैनधर्मके प्रति उनकी केवल सहानुभूति-भर थी ? गुणभद्रने लिखा है कि जिनके चरणोंमें राजा

१ यस्योत्तुंगमतंगजा निजमदस्रोतास्त्रिनीसंगमाद् ।

गाङ्गं वारि कलंकितं कटु मुहुः पीत्वाप्यगच्छत्पृष्ठः ॥...२९ — उत्तर पु०

२ अकालवर्षभूपाले पालयत्यखिलामिलाम् । इत्यादि — उ० पु०

३ देखो पृ० की टिप्पणीका उद्धरण।

४ चेल्छपतके चेल्छध्वजानुजे चेल्छकैतनतनूजे ।

जैनेन्द्रधर्मवृद्धिविधायिनि स्वविधुवीम्रप्रथुयशसि...॥ ३३

अमोघवर्षने अपना मस्तक झुकाया और कहा कि आज मैं पवित्र हो गया वे पूज्य जिनसेन संसारके लिए कल्याणकारक हों। परन्तु केवल इतनेसे अमोघवर्षको जैनी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अधिकांश हिन्दू राजा ऐसे ही हुए हैं जो प्रायः सभी धर्मोंके साधु-सन्तोंका सत्कार किया करते थे। गुणभद्रने यह तो लिखा नहीं कि वे जैनधर्मके अनुयायी भी थे। अतएव इसके लिए कुछ और प्रमाण चाहिए।

१— ऊपर हम अमोघवर्षकी प्रश्नोत्तररत्नमालाका जिक्र कर आये हैं। एक तो उसके मंगलाचरणमें वर्द्धमान तीर्थंकरको नमस्कार किया गया है^३ और दूसरे उसमें अनेक बातें जैनधर्मानुमोदित ही कही गई हैं। इससे कमसे कम उस समय जब कि रत्नमाला रची गई थी, अमोघवर्ष जैनधर्मके अनुयायी ही जान पड़ते हैं।

प्रश्नोत्तररत्नमालाका तिब्बती भाषामें एक अनुवाद हुआ था जो मिलता है और उसके अनुसार वह अमोघवर्षकी ही बनाई हुई है। ऐसी दशामें उसे शंकराचार्यकी, शुक्रयतीन्द्रकी या विमलसूरिकी रचना बतलाना जवर्दस्ती है।

१ यस्य प्रांशुनखांशुजालविसरद्वारान्तराविर्भवत्
पादाम्भोजरजः पिशङ्गमुकुटप्रत्यग्ररत्नद्युतिः ।
संस्मर्ता स्वममोघवर्षनृपतिः पूतोऽहमद्येत्यलं
स श्रीमान् जिनसेनपूज्यभगवत्पादो जगन्मङ्गलम् ॥ ८

२ प्राणिपत्य वर्द्धमानं प्रश्नोत्तररत्नमालिकां वक्ष्ये ।
नागनरामरवन्द्यं देवं देवाधिपं वीरम् ॥

३ त्वरितं किं कर्तव्यं विदुषा संसारसन्ततिच्छेदः ।
किं मोक्षतरोर्बीजं सम्यग्ज्ञानं क्रियासहितम् ॥ ४ ॥
को नरकः परवशता किं सौख्यं सर्वसङ्गविरतिर्या ।
किं सत्यं भूतहितं किं प्रेयः प्राणिनामसवः ॥ १३ ॥

४ शंकराचार्य और शुक्रयतीन्द्रके नामकी जो प्रतियाँ मिली हैं उनमें छह सात श्लोक नये मिला दिये गये हैं परन्तु वे वसन्ततिलका छन्दमें हैं जो विलकुल अलग मालूम होते हैं और उनके अन्त्य-पद्योंमें न शुक्रयतीन्द्रका नाम है और न शंकरका।

५ श्वेताम्बर साहित्यमें ऐसे किसी विमलसूरिका उल्लेख नहीं मिलता जिसने प्रश्नोत्तररत्नमाला बनाई हो। विमलसूरिने अपने नामका उल्लेख करनेवाला जो अन्तिम पद्य जोड़ा है वह आर्याछन्दमें है, परन्तु ऐसे लघु प्रकरण-ग्रन्थोंमें अन्तिम छन्द आम तौरसे भिन्न होता है जैसा कि वास्तविक प्र० २० मालामें है और वही ठीक मालूम होता है।

२ अमोघवर्षके ही समयमें महावीराचार्यने गणितसारसंग्रह नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकी रचना की थी। उसकी उत्थानिकामें उन्होंने अमोघवर्षके विषयमें कहा है कि अपने इष्ट जनों (प्रजा) के हितैषी जिस अमोघवर्ष (जिसकी वर्षा व्यर्थ नहीं जाती) ने प्राणिरूप धान्यको प्रसन्न किया—सींचा और ईति भीतिरहित किया; जिसकी चित्तवृत्तिरूपी अभिमें पापरूप पराक्रम भस्म हो गया और तब जो वन्ध्य-कोप हो गया; जो सारे जगतको वशमें करके स्वयं दूसरोंके वश न हुआ और न अभिभूत या पराजित हुआ, अतएव जो अपूर्व मकरध्वज है; जो अपने पराक्रमसे चक्रियोंके चक्र (समूह) को आक्रान्त करके कृतकार्य हुआ और जो वेगपूर्वक उस चक्रिकाको अर्थात् शत्रुसमूहको नष्ट करके चक्रिका-भंजन कहलाया; जो विद्यारूप नदियोंका अधिष्ठान, मर्यादारूप वज्रवेदिकासे युक्त, रत्नगर्भ और यथाख्यात (सत्) चारित्रका महान् समुद्र है, जिसने एकान्त पक्षको विध्वस्त कर दिया है और जो स्याद्वादन्यायवादी है, उस नृपतुंग देव (अमोघवर्ष) का शासन वृद्धिको प्राप्त हो।

१ प्रीणितः प्राणिसस्यौघो निरीतिर्निर्वग्रहः ।

श्रीमतामोघवर्षेण येन स्वेष्टहितैषिणा ॥ ३ ॥

पापरूपाः परा यस्य चित्तवृत्तिहविर्भुजि ।

भस्मसाद्भावमीयुस्ते वन्ध्यकोपो भवेत्ततः ॥ ४ ॥

वशीकुर्वन् जगत्सर्वं स्वयं नानुवशः परैः ।

नाभिभूतः प्रभुस्तस्मादपूर्वमकरध्वजः ॥ ५ ॥

यो विक्रमक्रमाक्रान्तचक्रचक्रिकृतक्रियः ।

चक्रिकाभंजनो नाम्ना चक्रिकाभंजनोऽञ्जसा ॥ ६ ॥

यो विद्यानद्यधिष्ठानो मर्यादावज्रवेदिकः ।

रत्नगर्भो यथाख्यातचारित्रजलधिर्महान् ॥ ७ ॥

विध्वस्तएकान्तपक्षस्य स्याद्वादन्यायवादिनः ।

देवस्य नृपतुंगस्य वर्द्धतां तस्य शासनम् ॥ ८ ॥

२ यह वही घटना है जिसका उल्लेख श० सं० ८३२ के शिलालेखमें ' भूपालान् कण्टकाभान् वेष्टयित्वा ददाह ' शब्दोंमें और अमोघवर्षकी ' अदहदमोघवर्षोऽजातीन् ' वृत्तिमें किया गया है। एक साथ बिगड़ खड़े हुए राजाओंके समूहको ही यहाँ ' चक्र ' कहा गया है जिन्हें अमोघवर्षने नष्ट किया था। इसके लिए देखो ' शाकटायन और उनका शब्दानुशासन ' शीर्षक लेखका पृ० १६०

इससे बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि अमोघवर्ष एकान्तवाद छोड़कर स्याद्धादी या जैन हो गये थे और उन्होंने सम्यक्चारित्र धारण कर लिया था ।

यह उत्थानिका जिस समय लिखी गई है उस समय ऐसा मालूम होता है कि उन्होंने राज्य तो नहीं छोड़ा था, परन्तु उनकी वृत्ति युद्धकी ओरसे हट गई थी और उनका कोप बन्ध्य (निष्फल) हो गया था, अर्थात् इसके बाद ही उन्होंने विवेकपूर्वक राज्य छोड़ दिया होगा और तभी प्रश्नोत्तररत्नमाला लिखी होगी ।

३ इसमें तो सन्देह ही नहीं कि अमोघवर्षकी जैनधर्मके प्रति बहुत सहानुभूति थी, तभी न शाकटायनने अपने व्याकरणकी टीकाका नाम अमोघवृत्ति रक्खा, और उन्हींके नामसे वीरसेन-जिनसेनने अपनी टीकाओंके नाम धवला जयधवला रक्खे और जिनसेन स्वामीने उनकी इतनी प्रशंसा की जितनी शायद ही जैन साधुने किसी राजाकी की होगी । उनकी कीर्तिके सामने गुप्त नरेशकी कीर्तिको गुप्त और शककी कीर्तिको मशक (मच्छर) तुल्य बतलाया । भरत सगरादि प्राचीन कालके राजाओंसे भी उनका यश विस्तृत और सारे राजाओंसे बढ़ चढ़कर वर्णन किया । ऐसी दशामें यदि उनकी वह सहानुभूति ही आगे चलकर पूर्ण श्रद्धामें परिणत हो गई हो, तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है ।

इसके विरुद्ध यह कहा जाता है कि अमोघवर्षके जो दान-पत्र मिले हैं, उनमें शिवकी स्तुति की गई है, उनमें शिव, शिवलिंग आदिके चिह्न हैं, और उसे महाविष्णुराज्यबोल (महाविष्णु राज्यके समान) कहा है । अतएव वह जैन हो गया था, यह कैसे कहा जा सकता है ? इसका समाधान यह है कि राज्योंके कार्य प्रायः मशीनके माफिक चला करते हैं और वे कार्य कुल-परम्पराके अनुसार जैसे चलते आये हैं वैसे ही चलते रहते हैं । राष्ट्रकूटोंके दान-पत्र जैसे पहलेसे लिखे जाते थे, उसी पद्धतिपर अमोघवर्षके दानपत्र भी लिखे गये और उनमें वंश-

१ गुर्जरनरेन्द्रकीर्त्तरेन्तः पतिता शशाङ्कशुभ्रायाः ।

गुप्तैव गुप्तनृपतेः शकस्य मशकायते कीर्तिः ॥ १२

२ भरतसागरादिनरपतियशांसि तारानिभेन संहृत्य ।

गुर्जरयशसो महतः कृतोऽवकाशो जगत्सृजा नूनं ॥ १४

इत्यादि सकलनृपतीनातिशय्य पयःपयोधिकेनाच्छा ।

गुर्जरनरेन्द्रकीर्तिः स्थेयादाचन्द्रतारमिह भुवने ॥ १५

परम्पराके चिह्न अंकित किये गये और जो ब्राह्मण पंडित लिखनेके अधिकारी थे उन्होंने परम्पराकी पद्धतिसे उन्हें लिख दिया। स्वयं अमोघवर्षके जैन हो जानेसे उनका सारा राज्यतंत्र थोड़े ही जैनधर्मानुयायी हो गया होगा।

कलिंग-नरेश खारवेल स्वयं जैनधर्मानुयायी था, फिर भी उसका राज्याभिषेक वैदिक विधिसे हुआ था। इसी तरह सम्राट् हर्षके बौद्ध होनेपर भी दान-शासनमें उसे परम माहेश्वर और कुमारपालके जैन होनेपर भी उसे परम माहेश्वर लिखा जाता रहा है।

एक दलील यह दी जाती है कि यदि अमोघवर्षने जैनधर्म धारण कर लिया था, तो इसका उल्लेख जिनसेनने स्वयं अपने ग्रन्थोंमें क्यों नहीं किया और उसे अपना शिष्य क्यों न बतलाया? इसके उत्तरमें हम यह कह सकते हैं कि उस समय तक उन्होंने जैनधर्म धारण न किया होगा, जैनधर्मके प्रति उनकी केवल सहानुभूति ही होगी, रही शिष्य बतलानेकी बात, सो अमोघवर्ष जिनसेनके शिष्य थे, ऐसा तो कोई कहता भी नहीं। हमारा खयाल यही है कि पिछली उम्रमें वे जैनधर्मके अनुयायी हो गये थे। अवश्य ही इसमें जिनसेनपर उनको जो श्रद्धा हो गई थी, उसीने उन्हें इस ओर आकर्षित किया होगा।

अमोघवर्षके जैन न होनेकी एक दलील यह भी दी जाती है कि उन्होंने 'कविराजमार्ग' नामक अलंकार ग्रन्थकी अवतारिकामें विष्णुकी स्तुति की है। यद्यपि विद्वानोंमें इस विषयपर मतभेद है कि यह ग्रन्थ स्वयं अमोघवर्षका है या उनके किसी दरबारी कविका; परन्तु यदि वह उनका ही हो, तो भी यही कहा जा सकता है कि वह जैनधर्म ग्रहण करनेके पहलेकी रचना होगी।

मुनि रत्नसिंहका प्राणप्रिय काव्य

यह छोटा-सा खण्ड काव्य बड़ा ही सुन्दर और प्रसादगुणयुक्त है। आचार्य मानतुंगके सुप्रसिद्ध भक्तामरस्तोत्रके चौथे चरणोंकी समस्यापूर्ति रूपमें इसकी रचना की गई है। अन्तका ४९ वाँ पद्य उसके कर्त्ताका परिचय इस प्रकार देता है—

श्रीसिंहसंघसुविनेयक-धर्मसिंह-पादारविन्दमधुलिङ्गमुनिरत्नसिंहः ।

भक्तामरस्तुतिचतुर्थपदं गृहीत्वा, श्रीनेमिवर्णनमिदं विदधे कवित्वम् ॥

अर्थात् सिंह संघके अनुयायी धर्मसिंहके चरण-कमलोंमें भ्रमरके समान अनुरक्त मुनि रत्नसिंहने यह नेमिनाथ भगवानका वर्णन करनेवाला काव्य बनाया।

सिंह संघकी कोई पट्टावली अभी तक उपलब्ध नहीं है, जिससे मुनि रत्नसिंहके समयादिका कुछ पता लगाया जा सके। ये किस प्रान्तमें हुए हैं, इसके जाननेका भी कोई साधन नहीं है। इनकी और कोई रचना भी प्राप्य नहीं है। बसवा (जयपुर) के स्व० पंडित सुन्दरलालजीको यह काव्य कण्ठस्थ था, एक बार जब वे बम्बई आये थे, तब उन्होंने मुझे लिखा दिया था और तभी मैंने इसका हिन्दी अनुवाद करके मूलके सहित प्रकाशित भी कर दिया था।

इसमें भक्तामरके ४८ पद्योंकी समस्यापूर्ति की गई है, इस लिए यह स्पष्ट है कि इसके कर्त्ता दिगम्बर सम्प्रदायके हैं और सिंह संघ भी इसी सम्प्रदायका है। दिगम्बर सम्प्रदायमें भक्तामरस्तोत्रके ४८ पद्य माने जाते हैं और श्वेताम्बर सम्प्रदायमें ४४।

इसका प्रारंभिक पद्य 'प्राणप्रियं नृप सुता' आदिसे शुरू होता है, इस लिए यह 'प्राणप्रिय काव्य' नामसे प्रसिद्ध है^१। इस काव्यके बानगीके तौरपर सिर्फ दो अतिशय सरस पद्य दे दिये जाते हैं—

तर्किं वदामि रजनीसमये समेत्य, चन्द्रांशवो मम तनुं परितः स्पृशन्ति ।

दूरे धवे सति विभो परदारशक्तान्, कस्तास्त्रिवारयति संचरतो यथेष्टम् ॥ १४

पूर्वं मया सह विवाहकृते समागाः, मुक्तिस्त्रियास्त्वमधुना च समुद्यतोऽसि ।

चेच्चञ्चलं तव मनोऽपि बभूव हा तत्, किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित् १५

१ देखो जैनहितैषी भाग ६, अंक १ और २-३।

२ प्राणप्रियं नृपसुता किल रैवताद्रिशृंगाग्रसंस्थितमवोचदिति प्रगल्भ्यम् ।

अस्मादशामुदितनील वियोगरूपेऽवालम्बनं भवजले पततां जनानाम् ॥

जयकीर्तिका छन्दोऽनुशासन

अनेकान्तकी पाँचवीं किरणमें योगसार और अमृताशीति नामका एक नोट प्रकाशित हुआ है, जिसमें डॉ० पिटसनकी पाँचवीं रिपोर्टके आधारमें योगसारकी उस प्रतिका उल्लेख किया गया है, जो संवत् ११९२ की ज्येष्ठ सुदी १३ को जयकीर्तिसूरिके शिष्य अमलकीर्तिने लिखवाई थी—

श्रीजयकीर्तिसूरीणां, शिष्येणामलकीर्तिना ।

लेखितं योगसाराख्यं विद्यार्थिवामकीर्तिनात् ॥

अमलकीर्तिके गुरु इन्हीं जयकीर्तिका बनाया हुआ 'छन्दोऽनुशासन' नामका एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ जैसलमेरके सुप्रसिद्ध श्वेताम्बर पुस्तक-मंडारमें है, जिसका प्रारम्भिक और अन्तिम अंश इस प्रकार है—

प्रारंभ—

श्री वर्द्धमानमानस्य छंदसां पूर्वमक्षरम् ।

लक्ष्यलक्षणमावीक्ष्य वक्ष्ये छन्दोऽनुशासनम् ॥

छन्दःशास्त्रं वहित्रं तद्विविक्षोः काव्यसागरम् ।

छन्दोभावाद्भयं सर्वं न किञ्चिच्छन्दसो विना ॥ २ ॥

अन्त—

माण्डव्य-पिंगल-जनाश्रय-सेतवाख्य—

श्रीपूज्यपाद-जयदेव-बुधादिकानाम् ।

छन्दांसि वीक्ष्य विविधानपि सत्प्रयोगान्

छन्दोऽनुशासनमिदं जयकीर्तिनोक्तम् ॥

इति जयकीर्तिकृतौ छन्दोऽनुशासन—संवत् ११९२ आषाढ शुदि १० शनौ
लिखितामिदमिति ।

ये दोनों अंश बड़ौदाकी गायकवाड़-संस्कृत-सीरीजमें प्रकाशित 'जैसलमेर-माण्डागारीयग्रंथानां सूची' में प्रकट हुए हैं । इस सूचीके सम्पादक महाशयने

जयकीर्तिके सम्बन्धमें अपने नोट (पृष्ठ ६१) में लिखा है कि “ वर्द्धमानको नमस्कार करनेसे यह कवि जैन मालूम होता है । उसने अन्तमें बतलाया है कि जयदेव आदि विद्वानोंके छन्दोंको देखकर यह ग्रन्थ बनाया । सं० ११९२ में योगसारके लिखनेवाले अमलकीर्ति इसके शिष्य जान पड़ते हैं । प्राकृत शीलोपदेश-मालाका प्रणेता जयकीर्ति इससे भिन्न है, क्योंकि वह आपको जयसिंहसूरिका शिष्य प्रकट करता है । ”^१

हमारी समझमें जयकीर्ति दिगम्बर सम्प्रदायके ही विद्वान् हैं । क्योंकि एक तो वे पूज्यपादका उल्लेख करते हैं, दूसरे योगसार ग्रन्थ भी दिगम्बर सम्प्रदायका है जिसे उनके शिष्यने लिखवाया है, तीसरे जयकीर्ति, अमलकीर्ति, वामकीर्ति इस प्रकारकी कीर्त्यन्त नाम-परम्परा दिगम्बर सम्प्रदायमें ही अधिक देखी जाती है ।^२

१ “ वर्द्धमाननमस्कारमङ्गलकरणेनायं कविर्जैनः प्रतिभाति । माण्डव्य-पिंगल-जनाश्रय-सेतव-पूज्यपाद-जयदेवबुधादीनां छन्दासि वीक्ष्यैतच्छन्दोऽनुशासनं विहितमिति प्रान्ते दर्शितम् । सं० ११९२ वर्षे योगसारलेखिताऽमलकीर्तिस्य शिष्यो ज्ञायते । प्राकृतशीलोपदेशमालायाः प्रणेता जयकीर्तिः स्वं जयसिंहसूरिशिष्यत्वेन परिचायतिस्म, स त्वस्माद्भिन्नो विज्ञायते । ”

२ पं० जुगल किशोरजी मुख्तारने बतलाया है कि चित्तौड़गढ़में एक शिलालेख (५० ई० जिल्द २) मिला है जो जयकीर्तिके शिष्य रामकीर्तिका है । उसमें रामकीर्तिने अपनेको दिगम्बराचार्य लिखा है—

“ श्रीजयकीर्तिशिष्येण दिगम्बरगणेशिना ।

प्रशास्तिरीदृशीचक्रे...श्रीरामकीर्तिना ॥

संवत् १२०७ सूत्रधा.....”

इसके १२०७ संवत्को देखते हुए छन्दोनुशासनके कर्ता जयकीर्ति ही रामकीर्तिके गुरु जान पड़ते हैं । अमलकीर्ति रामकीर्तिके ही गुरुमार्ह होंगे ।

ज्ञानभूषण और शुभचन्द्र

श्री जिनचन्द्रसूरिके सिद्धान्तसारके भाष्यमें यद्यपि भाष्यकारने अपना कोई स्पष्ट परिचय नहीं दिया है और न उसमें कोई प्रशस्ति ही है; परन्तु मंगलाचरणके नीचे लिखे श्लोकसे मालूम होता है कि वह भ० ज्ञानभूषणका बनाया हुआ है—

श्रीसर्वज्ञं प्रणम्यादौ लक्ष्मीवीरेन्दुसेवितम् ।

भाष्यं सिद्धान्तसारस्य वक्ष्ये ज्ञानसुभूषणम् ॥

इसमें सर्वज्ञको जो ज्ञानसुभूषण विशेषण दिया गया है, वह निश्चय ही भाष्यकर्त्ताका नाम है। और भी कई ग्रन्थकर्त्ताओंने मंगलाचरणोंमें इसी तरह अपने नाम प्रकट किये हैं। इसके सिवाय 'लक्ष्मीवीरेन्दुसेवितम्' पदसे यह भी मालूम होता है कि लक्ष्मीचन्द्र और वीरचन्द्र नामके उनके (ज्ञानभूषणके) कोई शिष्य या प्रशिष्य थे, जिनके पढ़नेके लिए उक्त भाष्य बनाया गया है। ज्ञानभूषणके प्रशिष्य शुभचन्द्राचार्यकी बनाई हुई स्वामिकार्तिकेयानुपेक्षा-टीकाकी प्रशस्तिके १०-१५ वें श्लोकमें, जो कि आगे टिप्पणीमें उद्धृत की गई है, इन लक्ष्मीचन्द्र और वीरचन्द्रका उल्लेख है और उस उल्लेखसे हम निश्चय पूर्वक कह सकते हैं कि भाष्यके मंगलाचरणका 'लक्ष्मीवीरेन्दुसेवितम्' पद उन्हींको लक्ष्य करके लिखा गया है।

भट्टारक ज्ञानभूषण मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ और बलात्कारणके आचार्य थे। उनकी गुरुपरम्पराका प्रारंभ भ० पद्मनन्दिसे होता है। पद्मनन्दिसे पहलेकी परंपराका अभी तक ठीक ठीक पता नहीं लगा है। १ पद्मनन्दि—२ सकलकीर्ति—३ सुवनकीर्ति और ४ ज्ञानभूषण, यह ज्ञानभूषणकी गुरुपरम्पराका क्रम है।

ज्ञानभूषणके बाद पाँचवें विजयकीर्ति और फिर उनके शिष्य छठे शुभचन्द्र हुए हैं और इस तरह शुभचन्द्र ज्ञानभूषणके प्रशिष्य हैं। प्रत्येक भट्टारकके अनेकानेक शिष्य होते थे; परन्तु उपर्युक्त शिष्य-क्रममें केवल उन्हींका नाम दिया

१ माणिकचन्द्र-जैन-ग्रन्थमालाके २१ वें ग्रन्थ 'सिद्धान्तसारादिसंग्रह' में यह प्रकाशित हुआ है।

गया है, जो एकके बाद दूसरेके क्रमसे भट्टारक-पदके या गद्दीके अधिकारी होते गये हैं । उक्त शिष्यक्रम स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा-टीकाकी प्रशस्तिसे स्पष्ट होता है ।

आगे शुभचन्द्राचार्यकी शिष्यपरम्पराका क्रम इस प्रकार निश्चित होता है—
७—सुमतिकीर्ति—८ गुणकीर्ति—९ वादिभूषण—१० रामकीर्ति—११ यशःकीर्ति और

१ श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसंघः वरो बलात्कारगणप्रसिद्धः ।

श्रीकुन्दकुन्दो वरसूरिवर्यो विभाति भाभूषणभूषिताङ्गः ॥ २ ॥

तदन्वये श्रीमुनिपद्मनन्दी ततोऽभवच्छ्रीसकलादिकीर्तिः ।

तदन्वये श्रीभुवनादिकीर्तिः श्रीज्ञानभूषो वरवृत्तिभूषः ॥ ३ ॥

तदन्वये श्रीविजयादिकीर्तिस्तत्पट्टधारी शुभचन्द्रदेवः ।

तेनेयमाकारि विशुद्धटीका श्रीमत्सुमत्यादिसुकीर्तितश्च ॥ ४ ॥

सूरिश्रीशुभचन्द्रेण वादिपर्वतवज्रिणा ।

त्रिविधेनानुप्रेक्षाया वृत्तिर्विरचिता वरा ॥ ५ ॥

श्रीमद्विक्रमभूपतेः परिमिते वर्षे शते षोडशे,

माघे मासि दशाग्रबहिसहिते ख्याते दशम्यां तिथौ ।

श्रीमच्छ्रीमहिसारसारनगरे चैत्यालये श्रीगुरोः

श्रीमच्छ्रीशुभचन्द्रदेवविहिता टीका सदा नन्दतु ॥ ६ ॥

वर्णिश्रीक्षेमचन्द्रेण विनयेनाकृत प्रार्थना ।

शुभचन्द्रगुरो स्वांमिन् कुरु टीकां मनोहराम् ॥ ७ ॥

तेन श्रीशुभचन्द्रेण त्रैविद्येन गणेशिना ।

कार्तिकेयानुप्रेक्षाया वृत्तिर्विरचिता वरा ॥ ८ ॥

तथा साधुसुमत्यादिकीर्तिनाकृतप्रार्थना ।

सार्थीकृता समर्थेन शुभचन्द्रेण सूरिणा ॥ ९ ॥

भट्टारकपदाधीशा मूलसंघे विदां वराः ।

रमावीरेन्दुचिद्रूपगुरवो हि गणेशिनः ॥ १० ॥

लक्ष्मीचन्द्रगुरुस्वामी शिष्यस्तस्य सुधी यशः ।

वृत्तिर्विस्तारिता तेन श्रीशुभेन्दुप्रसादतः ॥ ११ ॥

इति श्रीस्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षायां त्रिविधविद्याधर-षड्भाषाकविचक्रवर्तिश्रीशुभ-चन्द्रविरचितायां टीकायां.....॥ *

१२ पद्मनन्दि आदि । इनमेंसे वादिभूषण तककी परम्पराका उल्लेख अध्यात्मतरंगिणीकी उस प्रतिके लिखनेवालेकी प्रशस्तिमें मिलता है जो स्वर्गीय दानवीर सेठ माणिकचन्दजीके सरस्वतीभण्डारमें मौजूद है और वादिभूषणके बादके भट्टारकोंका उल्लेख बलात्कारगणकी गुवावलीमें है जो भ० नेमिचन्द्रकी बनाई हुई है । शुभचन्द्रकी पट्टावलीसे भी यही क्रम निश्चित होता है^२ ।

श्रीज्ञानभूषण सागवाड़े (बागड़) की गद्दीके भट्टारक पदपर आसीन थे । नन्दिसंघकी पट्टावलीसे मालूम होता है कि “वे गुजरातके रहनेवाले थे । गुजरातमें उन्होंने सागारधर्म धारण किया, अहीर (आभीर) देशमें ग्यारह प्रतिमायें धारण कीं और वाग्वर या बागड़ देशमें दुर्धर महाव्रत ग्रहण किये । तौलैव देशके यतियोंमें उनकी बड़ी प्रतिष्ठा हुई, तैलंग देशके उत्तम उत्तम पुरुषोंने उनके चरणोंकी बन्दना की, द्रविड़ देशके विद्वानोंने उनका स्तवन किया, महाराष्ट्रमें उन्हें बहुत यश मिला, सौराष्ट्रके धनी श्रावकोंने उनके लिए महामहोत्सव किया, रायदेश (ईडरके आसपासका प्रान्त) के निवासियोंने उनके वचनोंको अतिशय प्रमाण माना, मेदपाट (मेवाड़) के मूर्ख लोगोंको उन्होंने प्रतिबोधित किया, मालवेके भव्य जनोंके हृदय-कमलको विकसित किया, मेवातमें उनके अध्यात्मरहस्यपूर्ण व्याख्यानसे विविध विद्वान् श्रावक प्रसन्न हुए, कुरुजांगलके लोगोंका

१ “ संवत् १६५२ वर्षे ज्येष्ठद्वितीयकृष्णदशम्यां शुक्ले मूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दान्वये भ० श्रीपद्मनन्दि देवास्तत्पट्टे भ० सकलकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ० सुवनकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ० ज्ञानभूषणदेवास्तत्पट्टे भ० श्रीविजयकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ० शुभचन्द्रदेवास्तत्पट्टे भ० श्रीसमुत्तिकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ० श्रीगुणकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ० श्रीवादिभूषणगुरुस्तच्छिष्ये प० देवजी पठनार्थम् । ”

२ देखो, जैनसिद्धान्तभास्करकी प्रथम किरण, पृ० ४५-४६

३ देखो जैन सि० भा० की चौथी किरण पृ० ४३-४५

४ नागचंद्रसूरिने जो तौलैवदेशके देवचंद्रमुनिके शिष्य थे विपापहारस्तोत्रटीका इन्हीं बागड़ देशके मण्डलाचार्य ज्ञानभूषणके बारबार कहनेसे बनाई थी—“ बागड़देशमण्डलाचार्य-ज्ञानभूषणदेवैर्मुंहुवरुपः । ” इससे भी मालूम होता है कि वे तौलैवदेशमें गये थे और वहाँके यतियोंने उनका सम्मान किया था । देखो, जैनहितैषी भाग १२, पृ० ९७-९९ में पं० जुगलकिशोरजीका इतिहास-प्रसङ्ग ।

अज्ञान रोग दूर किया, तूख (?) के बटुदर्शन और तर्कके जाननेवालोंपर विजय प्राप्त किया, वैराट् (जयपुरके आसपास) के लोगोंको उभय मार्ग (सागर-अनगर) दिखलाये, नमियाड (निमाड ?) में जैनधर्मकी प्रभावना की, टग राट हड्डीबटी नागर चाल (?) आदि जनपदोंमें प्रतिबोधके निमित्त विहार किया, भैरव राजाने उनकी भक्ति की, इन्द्रराजाने चरण पूजे, राजाधिराज देवराजने चरणोंकी आराधना की, जिनधर्मके आराधक मुदिलियार, रामनाथराय, वोम्मरसराय, कलपराय, पाण्डुराय आदि राजाओंने पूजा की, और उन्होंने अनेक तीर्थोंकी यात्रा की^१ । व्याकरण-छन्द-अलंकार-साहित्य-तर्क-आगम-अध्यात्म-आदि शास्त्ररूपी कमलोंपर विहार करनेके लिए वे राजहंस थे और शुद्ध ध्याना-मृत-पानकी उन्हें लालसा थी । ” यह प्रशस्ति अतिशयोक्तिपूर्ण अवश्य है फिर भी इससे जान पड़ता है कि ज्ञानभूषण अपने समयके बहुत प्रसिद्ध और विद्वान् आचार्य थे ।

भ० ज्ञानभूषणके तत्त्वज्ञानतंत्रिणी और सिद्धान्तसार-भाष्य ये दो ग्रंथ मुद्रित हो चुके हैं । परमार्थोपदेश भी उपलब्ध है । इनके सिवाय नेमिनिर्वाण-काव्यकी पञ्चिका टीका, पचास्तिकाय-टीका, दशलक्षणोद्यापन, आदीश्वर-फाग, भक्तामरो-द्यापन और सरस्वतीपूजा इन ग्रन्थोंको भी ज्ञानभूषणका बतलाया जाता है^२ । संभव है कि इनमें अन्य किसी ज्ञानभूषणके ग्रंथ भी शामिल हों । सिद्धान्तसार भाष्यकी रचना किस समय हुई, यह तो नहीं मालूम हो सका परन्तु

१ ‘ गोम्मटसार-टीका ’ को भी कुछ लोगोंने ज्ञानभूषणकृत मान रक्खा है । परन्तु यह भ्रम है । २६ अगस्त १९१५ के जैनमित्रमें उक्त टीकाकी जो प्रशस्ति प्रकाशित हुई है, उससे मालूम होता है कि इसके कर्त्ता वे नेमिचंद्र हैं जिन्होंने ज्ञानभूषणसे दीक्षा ली थी, भट्टारक प्रभाचंद्रने जिन्हें आचार्यपदपर विठाया था, दक्षिण देशके सुप्रसिद्ध आचार्य मुनिचंद्रके पास जिन्होंने सिद्धान्त ग्रन्थ पढ़े थे, विशालकीर्तिने जिन्हें टीका-रचनामें सहायता दी थी और जो लाला ब्रह्मचारीके आग्रहवश गुजरातसे आकर चित्रकूट (चित्तौर) में जिनदासशाहके बनवाये हुए पार्श्वनाथ-मन्दिरमें रहे थे । यह टीका वीरनिर्वाण संवत् २१७७ में समाप्त हुई है । गोम्मटसारके कर्त्ताके मतसे २१७७ में विक्रम संवत् (२१७७-६०५ = १५७२ + १३५) १७०७ पड़ता है, अतएव उक्त नेमिचंद्रके गुरु ज्ञानभूषण कोई दूसरे ही ज्ञानभूषण हैं, जो सिद्धान्तसार-भाष्यके कर्त्तासे सौ सवा सौ वर्ष बाद हुए हैं ।

तत्त्वज्ञानतरंगिणीकी प्रशस्तिसे मालूम होता है कि वह विक्रम संवत् १५६० में बनी है ।

‘जैन-धातु-प्रतिमा-लेख-संग्रह’ में प्रकाशित बीसनगर (गुजरात) के शान्ति-नाथके श्वेताम्बर-मन्दिरकी एक दिगम्बर प्रतिमाके लेखसे और पैथापुरके श्वे० मन्दिरकी दि० प्रतिमाके लेखसे मालूम होता है कि वि० सं० १५५७ और १५६१ में ज्ञानभूषणजी भट्टारक-पदपर नहीं थे किन्तु उनके शिष्य विजयकीर्ति थे और वे १५५७ के पहले ही इस पदको छोड़ चुके थे । इस लिए तत्त्वज्ञानतरंगिणीकी रचना उन्होंने उस समय की है जब भट्टारकपदपर विजयकीर्ति थे ।

पूर्वोक्त ‘जैन-धातु-प्रतिमा-लेखसंग्रह’ नामक ग्रन्थमें विक्रम संवत् १५३४-३५ और १५३६ के तीन प्रतिमा-लेख और भी हैं जिनसे मालूम होता है कि उक्त संवत्तोंमें ज्ञानभूषण भट्टारकपदपर थे । भट्टारक पद छोड़नेके बाद भी वे बहुत समयतक जीवित रहे हैं ।

भट्टारक शुभचन्द्र भी बहुत बड़े विद्वान् थे । त्रिविधविद्याधर (शब्दागम, युक्त्यागम और परमागमके ज्ञाता) और षट्भाषाकविचक्रवर्ती थे उनकी पद-वियाँ थीं । पट्टावलीके अनुसार वे “ प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, पुष्पपरीक्षा (?) परीक्षामुख, प्रमाणनिर्णय, न्यायमकरंद, न्यायकुमुदचन्द्र, न्यायविनिश्चय, श्लोकवार्तिक, राजवार्तिक, प्रमेयकमलमार्तण्ड, आप्तमीमांसा, अष्टसहस्री, चिन्ता-

१ यदैव विक्रमातीताः शतपञ्चदशाधिकाः ।

षष्ठिसंवत्सरा जातास्तदेयं निर्मिता कृतिः ॥ ५३ ॥

२ देखो श्रीबुद्धिसागरसुरिसम्पादित ‘ जैनधातुप्रतिमालेखसंग्रह, ’ प्रथम भाग, पृष्ठ ८७ और १२३ ।

३—“ सं० १५५७ वर्षे माघवदि ५ गुरौ श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्री-कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० सकलकीर्तिस्तत्पट्टे भ० श्रीभुवनकीर्तिस्तत्पट्टे भ० श्रीज्ञानभूषणस्त-त्पट्टे भ० श्रीविजयकीर्तिगुरुपदेशात् ह्रूँबडशातीय पते श्रीशान्तिनाथं नित्यं प्रणमन्ति । ”

४—“ सं० १५६१ चैत्रवदि ८ शुक्ले मूलसंघे भ० ज्ञानभूषण भट्टारकश्रीविजयकीर्ति उप-देशात् हुम्बड कडुआ श्रीनेमिनाथधाम्बं ... । ”

५—देखो नं० ६७२, १५०९ और ५६७ के लेख ।

मणिमीमांसाविवरण, वाचस्पतितत्त्वकौमुदी आदि कर्कश तर्क-ग्रन्थोंके, जैनेन्द्र, शाकटायन, ऐन्द्र, पाणिनि, कलाप आदि व्याकरण-ग्रन्थोंके, त्रैलोक्यसार, गोम्मट-सार, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकप्रज्ञप्ति, सुविज्ञप्ति (?), अध्यात्माष्टसहस्री (?) और छन्दोलकार, आदि शास्त्र-समुद्रोंके पारगामी थे । उन्होंने अनेक देशोंमें विहार किया था, अनेक विद्यार्थियोंका वे पालन करते थे, उनकी समामें अनेक विद्वज्जन रहते थे, गौड, कलिंग, कर्णाट, तौलव, पूर्व, गुर्जर, मालव, आदि देशोंके वादियोंको उन्होंने पराजित किया था और अपने तथा अन्य धर्मोंके वे बड़े भारी ज्ञाता थे । ” इसमें भी अतिशयोक्ति तो होगी ही ।

म० शुभचन्द्रजीके बनाये हुए अनेक ग्रन्थ हैं और प्रायः उन सभीकी प्रशस्तिमें उन्होंने अपनी गुरुपरम्पराका परिचय दिया है । स्वामिकार्तिकयानुप्रेक्षा-टीकाकी प्रशस्ति टिप्पणीमें दी जा चुकी है । पाण्डवपुराणकी प्रशस्ति भी हमारे पास है जिसके ७२ से ८६ नम्बरतकके पद्योंमें उनके नीचे लिखे ग्रन्थोंका उल्लेख है—

१—चन्द्रनाथचरितं चरितार्थं पद्मनाभचरितं शुभचन्द्रम् ।

मन्मथस्य महिमानमतन्द्रो जीवकस्य चरितं च चकार ॥७२॥

चन्दनायाः कथा येन दृग्धा नान्दीश्वरी तथा ।

आशाधरकृतार्चायाः वृत्तिः सद्वृत्तिशालिनी ॥ ७३ ॥

त्रिंशच्चतुर्विंशतिपूजनं च सद्वृत्तसिद्धान्तमव्ययधत्त ।

सारस्वतीयार्चनमत्र शुद्धं चिन्तामणीयार्चनमुच्चिरणुः ॥ ७४ ॥

श्रीकर्मदाहविधिबन्धुरसिद्धसेवां नानागुणौघगणनाथसमर्चनं च ।

श्रीपार्श्वनाथवरकाव्यसुपञ्जिकां च यः संचकार शुभचन्द्रयतीन्द्रचन्द्रः ॥७५॥

उद्यापनमदीपिष्ठं पत्योपमविधेश्च यः ।

चारित्रशुद्धितपसश्चतुस्त्रिंशदशालम्बनः ॥ ७६

संज्ञयिवदनविदारणमपशब्दसुखण्डनं परं तर्कम् ।

सत्तत्त्वनिर्णयं वरस्वरूपसंबोधिनीं वृत्तिम् ॥ ७७

अध्यात्मपद्यवृत्तिं सर्वार्थापूर्वतोभद्रम् ।

योऽकृतसद्भाकरणं चिन्तामणिनामधेयं च ॥ ७८

१ चन्द्रप्रभचरित, २ पद्मनाभचरित, ३ जीवंधरचरित, ४ चन्दना कथा, ५ नन्दीश्वरकथा, ६ आशाधरकृत नित्यमहोद्योतकी टीका, ७ त्रिंशच्चतुर्विंशति-पूजापाठ, ८ सिद्धचक्रव्रतपूजा, ९ सरस्वतीपूजा, १० चिन्तामणियंत्रपूजा, ११ कर्मदहनविधान, १२ गणधरखल्यपूजा, १३ (वादिराजकृत) पार्श्वनाथकाव्यकी पंजिका टीका, १४ पत्यव्रतोद्यापन, १५ चतुर्लिंगादधिकद्वादशशतोद्यापन (१२३४ व्रतोंका उद्यापन), १६ संशयिवर्देनविदारण (श्वेताम्बरमतखण्डन), १७ अपशब्दखण्डन, १८ तत्त्वनिर्णय, १९ स्वरूपसम्बोधनकी वृत्ति, २० अध्यात्मपद्यटीका, २१ सर्वतोभद्र, २२ चिन्तामणि नामक प्राकृत व्याकरण, २३ अंगपैण्णत्ति (प्राकृत), २४ अनेकस्तोत्र, २५ षड्वाद (?) और पाण्डवपुराण ।

पाण्डवपुराण वि० संवत् १६०८ में समाप्त हुआ है । अतएव इसके पहलेके रचे हुए ग्रन्थोंके ही नाम इस प्रशस्तिसे मालूम हो सकते हैं । पाण्डवपुराणके बाद भी उन्होंने अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है और इसके प्रमाणमें हम दो ग्रन्थोंको पेश कर सकते हैं—एक तो स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा-टीका जो संवत् १६१३ में बनी है और दूसरा करकुंडुचरित जो सं० १६११ में बना है । संभव है, इनके सिवाय और भी कुछ ग्रन्थ इनके बाद बने हों ।

कृता येनांगप्रज्ञप्तिः सर्वाङ्गार्थाप्ररूपिका ।

स्तोत्राणि च पवित्राणि षड्वादाः श्रीजिनेशिनान् ॥ ७९

तेन श्रीशुभचन्द्रदेवविदुषा सत्पाण्डवानां परम् ।

पुष्यतपुष्यपुराणमत्र सुकरं चाकारि प्रीत्या महत् ॥ ८०

श्रीमद्विक्रमभूपतेर्द्विकहते स्पष्टाष्टसंख्ये शते

रम्येऽष्टाधिकवत्सरे सुखकरे भाद्रे द्वितीयातिथौ ।

श्रीमद्वाग्वरनिर्वृतीदमतुले श्रीशाकवाटे पुरे

श्रीमच्छ्रीपुरुषाभिधे विराचितं स्थेयात्पुराणं चिरम् ॥ ८६

१ यह ग्रन्थ स्वर्गीय सेठ माणिकचन्दजीके ग्रन्थमण्डारमें मौजूद है ।

२ यह जैन सि० प्र० संस्थाद्वारा प्रकाशित हो चुका है ।

३ सिद्धान्तसारादिसंग्रहमें प्रकाशित ।

माघनन्दि योगीन्द्र

वे 'शास्त्रसारसमुच्चय' नामक सूत्रग्रन्थके कर्त्ता हैं। इस नामके भी कई आचार्य हो गये हैं, इस कारण नहीं कहा जा सकता कि इसके कर्त्ता कौनसे माघनन्दि हैं। कर्नाटक-कवि-चरित्रके अनुसार एक माघनन्दिका समय ईस्वी सन् १२६० (वि० संवत् १३१७) है और उन्होंने इस शास्त्रसारसमुच्चयपर एक कनड़ी टीका भी लिखी है तथा माघनन्दि-श्रावकाचारके कर्त्ता भी वही हैं। इससे मालूम होता है कि शास्त्रसारसमुच्चय (मूल) के कर्त्ता इनसे पहले हुए हैं और उनका समय भी विक्रमकी चौदहवीं शताब्दिसे पहले समझना चाहिए।

मद्रासकी ओरियण्टल लायब्रेरीमें 'प्रतिष्ठाकल्पटिप्पण' या 'जिनसंहिता' नामका एक ग्रन्थ है। उसकी उत्थानिका और अन्तकी पुष्पिकासे मालूम होता है कि प्रतिष्ठाकल्प-टिप्पणके कर्त्ता कुमुदेन्दु या कुमुदचन्द्र माघनन्दिसिद्धान्त-चक्रवर्तिके शिष्य थे।

माघनन्दि-श्रावकाचार और शास्त्रसारसमुच्चयके टीकाकार माघनन्दिने कर्नाटक-कविचरित्रके अनुसार कुमुदेन्दुको अपना गुरु बतलाया है। संभव है कि सिद्धान्त-सारसमुच्चयके कर्त्ता माघनन्दि (पहले) के ही शिष्य थे कुमुदेन्दु हों जिनका उक्त प्रतिष्ठाकल्प-टिप्पण नामक ग्रन्थ है और उन्हींके शिष्य श्रावकाचारके कर्त्ता दूसरे माघनन्दि हैं। अक्सर राजाओंके समान मुनियोंमें भी दादा और पोतेके नाम एक-से रखे जाते रहे हैं। यदि यह ठीक है तो शास्त्रसारसमुच्चयके कर्त्ताका समय ५० वर्ष और पहले अर्थात् विक्रमसंवत् १२६७ के लगभग मानना चाहिए।

१-श्रीमाघनन्दिसिद्धान्तचक्रवर्तितनूभवः ।

कुमुदेन्दुरहं वच्मि प्रतिष्ठाकल्पटिप्पणम् ॥

२-इति श्रीमाघनन्दिसिद्धान्तचक्रवर्तितनूभवचतुर्विधपाण्डित्यचक्रवर्तिश्रीवादि कुमुदचन्द्र-मुनीन्द्रविरचिते जिनसंहिताटिप्पणे पूज्यपूजकपूजकाचार्यपूजाफलप्रतिपादनं समाप्तम् ॥

भट्टारक गुणभद्र

चित्रबन्धस्तोत्रके कर्त्ता गुणभद्रकीर्ति नामके आचार्य भगवाजिनसेनके शिष्य गुणभद्राचार्यके अतिरिक्त कोई दूसरे ही हैं। २७ वें श्लोकमें इस स्तुतिको 'मेधाविना संस्कृतां' (मेधावीके द्वारा संस्कार की हुई) विशेषण दिया है। संभवतः ये वही पं० मेधावी हैं जो धर्मसंग्रहश्रावकाचारके कर्त्ता हैं और जिन्होंने मूलआचारकी 'वसुनिन्दवृत्ति', 'त्रिलोकप्रज्ञप्ति' आदि ग्रन्थोंके अन्तमें उक्त ग्रन्थोंके दान करनेवालोंकी बड़ी बड़ी प्रशस्तियाँ जोड़ी हैं। यदि हमारा यह अनुमान ठीक है, तो यह स्तोत्र १६ वीं शताब्दिका बना हुआ है। क्योंकि पं० मेधावीने उक्त प्रशस्तियाँ वि० सं० १५१६ और १५१९ में रची हैं।^३

मेधावीके समयमें एक गुणभद्र नामके आचार्य थे भी, इसका पता जैनसिद्धान्तभवन आराके 'ज्ञानार्णव' नामक ग्रन्थकी लेखक-प्रशस्तिसे लगता है। यथा—

“संवत् १५२१ वर्ष आषाढ़ सुदि ६ सोमवासरे श्रीगोपाचलदुर्गे तोमरवंशे राजाधिराजश्रीकीर्तिसिंहराज्यप्रवर्तमाने श्रीकाष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे भ० श्रीगुणकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ० श्री० श्रीयशःकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ० श्रीमलयकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ० श्रीगुणभद्रदेवास्तदाम्नाये गर्गगोत्रे....।”

इससे मालूम होता है कि वि० सं० १५२१ में ग्वालियरमें गुणभद्रनामके आचार्य थे जो काष्ठासंघ-माथुरान्वय और पुष्करगणकी गद्दीपर आरूढ़ थे। बहुत संभव है कि चित्रबन्धस्तोत्रके कर्त्ता यही हों और इन्हींकी रचनाको उसी समयमें होनेवाले पं० मेधावीने संस्कृत किया हो।

१ माणिकचन्द्र-ग्रन्थमालाके सिद्धांतसारादिसंग्रहमें प्रकाशित।

२ यो नाधीत इमां स्तुतिं विनयतो मेधाविना संस्कृताम्।

पुनागः कवितां स याति सन्तुष्टः (?) स्वर्गश्रियं चाश्नुते ॥

३ देखो जैनहितैषी माग १५, अंक ३-४। पं० मेधावीका बनाया हुआ धर्मसंग्रहश्रावकाचार नामका ग्रन्थ भी है, जो वि० संवत् १५४१ में समाप्त हुआ है और भाषा-टीका-सहित प्रकाशित हो चुका है।

कुछ अप्राप्य ग्रन्थ

१—सुमतिदेवके दो ग्रन्थ

पार्श्वनाथचरितके कर्त्ता वादिराजसूरिने प्राचीन कवियोंका स्मरण करते हुए लिखा है—

नमः सन्मतये तस्मै भवकूपनिपातिनाम् ।

सन्मतिर्विवृता येन सुखधामप्रवेशिनी ॥ २२ ॥

अर्थात् उस सन्मति (आचार्य) को नमस्कार हो, जिसने भवकूपमें पड़े हुए लोगोंके लिए सुखधाममें पहुँचानेवाली 'सन्मति'को विवृत किया, अर्थात् सन्मतिकी वृत्ति या टीका लिखी ।

हमारी समझमें यह सन्मति सिद्धसेन आचार्यका सुप्रसिद्ध 'सन्मति-प्रकरण' नामका ग्रन्थ है, जिसपर श्वेताम्बराचार्य अभयदेवकी विस्तृत टीका है और जो गुजरात विद्यापीठद्वारा प्रकाशित भी हो चुका है । इस उल्लेखसे अनुमान होता है कि दिगम्बरसम्प्रदायमें उस समय तक इसका इतना प्रचार था कि उसपर दिगम्बराचार्योंने टीकायें भी लिखी थीं । इसी लिए तो हरिवंशपुराण और आदिपुराणके कर्त्ताओंने उनकी अतिशय प्रशंसा की है और उन्हें महान् तार्किक बतलाया है ।

श्रवणबेलगोलकी मल्लिषेण-प्रशस्तिमें सुमतिदेव नामके आचार्यका उल्लेख है जिन्होंने 'सुमति-सप्तक' नामका कोई ग्रन्थ बनाया था—

सुमतिदेवममुं स्तुत येन वः सुमतिसप्तकमाप्ततया कृतं ।

परिहृतापथतत्त्वपथार्थिनां सुमतिकोटिविवर्ति भवार्तिहृत् ॥

१—जगत्प्रबोधसिद्धस्य वृषभस्येव निस्तुषः ।

बोधयन्ति सतां बुद्धिं सिद्धसेनस्य सूक्तयः ॥ ३०—हरि०

२—सिद्धसेनकविर्जीयाद्विकल्पनखराङ्कुरः ॥

प्रवादिकरियूथानां केसरी नयकेसरः । ४२—आ० पु०

जान पड़ता है कि पूर्वोक्त सन्मति और ये सुमतिदेव एक ही हैं। क्योंकि सन्मति और सुमति प्रायः एकार्थवाची हैं। कविगण अक्सर नामों में भी पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग कर दिया करते हैं, जैसे देवसेनको सुरसेन और कनक नन्दिको कलघौतनन्दि लिखा गया है। सन्मतिकी टीकाके कर्त्ताका नाम एक कविको 'सुमति' की जगह 'सन्मति' ही विशेष उपयुक्त और आकर्षणीय मालूम हुआ होगा और वह सुगमतासे प्राप्त इस शब्दालंकारको नहीं छोड़ सका होगा।

मल्लिषेण-प्रशस्तिमें कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, सिंहनन्दि, वक्रग्रीव, वज्रनन्दि और पात्रकेसरीके बाद सुमतिदेवकी स्तुति की गई है और उनके बाद कुमारसेन, वर्द्धदेव, अकलंकदेव आदिकी। यद्यपि उक्त प्रशस्तिसे हम यह आशा नहीं कर सकते हैं कि उसमें सब आचार्योंका स्तवन ठीक ठीक समय-क्रमसे ही किया होगा, फिर भी सुमतिदेव बहुत प्राचीन आचार्य मालूम होते हैं।

२—वज्रनन्दिके दो ग्रन्थ

मल्लिषेण-प्रशस्तिमें वज्रनन्दिके 'नवस्तोत्र' नामक ग्रन्थका उल्लेख मिलता है, जिसमें सारे अर्हत्प्रवचनको अन्तर्भुक्त किया गया है और जिसकी रचनाशैली बहुत सुन्दर है—

नवस्तोत्रं तत्र प्रसरति कवीन्द्राः कथमपि
प्रमाणं वज्रादौ रचयत परान्दिनि मुनौ ।
नवस्तोत्रं येन व्यरचि सकलार्हत्प्रवचन—
प्रपञ्चान्तर्भावप्रवणवरसन्दर्भसुभगम् ॥ ११

इसी तरह आचार्य जिनसेनने भी अपने हरिवंशपुराणमें वज्रसूरिकी स्तुति करते हुए लिखा है—

वज्रसूरेर्विचारण्यः सहेत्वोर्बन्धमोक्षयोः ।

प्रमाणं धर्मशास्त्राणां प्रवक्तृणां भिवोक्तयः ॥ ३२

अर्थात् वज्रसूरिकी सहेतुक बन्ध-मोक्षकी विचारणायें धर्मशास्त्रोंके प्रवक्ता अर्थात् गणधरदेवोंकी उक्तियोंके समान प्रमाणभूत हैं।

इस स्तुतिमें वज्रसूरिके किसी ऐसे ग्रन्थका संकेत किया गया है जिसमें बन्ध, मोक्ष और उनके कारण राग-द्वेष तथा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रादिकी चर्चा है।

महाकवि धवलने अपने अपभ्रंशभाषाके हरिवंशपुराणमें लिखा है—

वज्रसूरि सुप्रसिद्ध मुनिवर, जेण प्रमाणगंधु किउ चंगउ ।
 अर्थात् वज्रसूरि नामके सुप्रसिद्ध मुनिवर हुए जिन्होंने सुन्दर प्रमाण-ग्रंथ बनाया ।
 जिनसेन और धवल दोनोंने ही वज्रसूरिका उल्लेख पूज्यपाद या देवनन्दिके बाद
 किया है, अतएव ये वही वज्रनन्दि मालूम होते हैं जो पूज्यपादके शिष्य थे और
 जिन्हें देवसेनसूरिने अपने दर्शनसारमें द्राविड संघका उत्पादक बतलाया है ।
 नवस्तोत्रके अतिरिक्त इनका कोई प्रमाण ग्रन्थ भी था । आचार्य जिनसेनने उनके
 जिस बन्ध-मोक्षकी चर्चा करनेवाले ग्रन्थका संकेत किया है, वह शायद इन दोनोंसे
 ही कोई हो अथवा कोई तीसरा ही हो । यह बात खास तौरसे ध्यान देने योग्य
 है कि जिनसेन तो उन्हें गणधर देवोंके समान प्रमाणिक मानते हैं और देवसेन
 जैनाभास बतलाते हैं !

३—महासेनकी सुलोचना कथा

आचार्य जिनसेनने अपने हरिवंशपुराणकी उत्थानिकामें लिखा है—

महासेनस्य मधुरा शीलालंकारधारिणी ।

कथा न वर्णिता केन वनितेव सुलोचना ॥ ३३

अर्थात् शीलरूप अलंकारको धारण करनेवाली, सुनेत्रा और मधुरा वनिताके
 समान महासेनकी सुलोचना-कथाकी प्रशंसा किसने नहीं की ?

कुवलयमालाके कर्त्ता श्वेताम्बराचार्य उद्योतनसूरिने भी शायद इसी सुलोचना
 कथाके विषयमें कहा है—

सण्णहियजिणवरिंदा धम्मकहाबंधदिक्खियणरिंदा ।

कहिया जेण सुकहिया सुलोयणा समवसरणं व ॥ ३९ ॥

अर्थात् जिसने समवसरण जैसी सुकथिता सुलोचना कथा कही । जिस तरह
 समवसरणमें जिनेन्द्र स्थित रहते हैं और धर्मकथा सुनकर राजा लोग दीक्षित
 होते हैं, उसी तरह सुलोचना कथामें भी जिनेन्द्र सन्निहित हैं और उसमें राजाने
 दीक्षा ले ली है ।

उद्योतनसूरिने जिनसेनसे पाँच वर्ष पहले अपने ग्रन्थकी रचना की थी, अतएव
 अधिक संभावना यही है कि इन दोनोंके द्वारा प्रशंसित 'सुलोचना कथा' एक ही
 है और महासेन विक्रमकी संवत् ८३५ के पहलेके हैं । बहुत करके यह कथा
 प्राकृत भाषामें होगी ।

धवल महाकविने भी अपने अपभ्रंश हरिवंश-पुराणमें रविषेणके पद्मचरितके साथ महासेनकी सुलोचना कथाका उल्लेख किया है—

मुणि महसेणु सुलोयणु जेण, पउमचरिउ मुणि रविसेणेण ।

४—प्रभंजनका यशोधरचरित

मुनि वासवसेनने यशोधरचरितमें लिखा है—

प्रभंजनादिभिः पूर्वं हरिषेणसमन्वितैः ।

यदुक्तं तत्कथं शक्यं मया बालेन भाषितुम् ॥

अर्थात् हरिषेण प्रभंजनादि कवियोंने पहले जो कुछ कहा है, वह मुझ बालकसे कैसे कहा जा सकता है ? इसमें मालूम होता है कि प्रभंजन कविका बनाया हुआ यशोधरचरित नामका ग्रन्थ वासवसेनके पहले था और जान पड़ता है कि इसीका उल्लेख कुवलयमालामें भी किया गया है—

सत्तूण जो जसहरो जसहरचरिएण जणवए पयडो ।

कलिमलपभंजणो चिय पभंजणो आसि रायरिसी ॥ ४० ॥

अर्थात् जो शत्रुओंके यशका हरण करनेवाला था और जो यशोधरचरितके कारण जनपदमें प्रकट या प्रसिद्ध हुआ, वह कलिके पापोंका प्रभंजन करनेवाला प्रभंजन नामका राजर्षि है । अर्थात् प्रभंजन पहले राजा थे और पीछे उन्होंने जिनदीक्षा ले ली थी ।

यह ग्रन्थ भी सम्भवतः प्राकृतमें होगा ।

छान-बीन

१—संघी, संघवी, सिंघई, सिंगई

ये सब शब्द 'संघपति' के अपभ्रंश हैं। संघपतिके प्राकृत रूप 'संघवई' 'संघवइ' होते हैं। गुजरात काठियावाड़में प्रचलित 'संघवी' शब्द इससे बिलकुल नजदीकका है। यह 'संघवी' ही बुन्देलखंड आदिमें 'सिंघई' या 'सिंगई' हो गया है। राजपूतानेका 'संघी' या 'सिंघी' पद भी इसीका रूप है।

प्राचीन कालमें धनी-मानी लोग तीर्थयात्राके लिए बड़े बड़े संघ निकालते थे, जिनमें मुनि-आर्थिका-श्रावक-श्राविकारूप-चतुर्विध संघ होता था। उन दिनों यात्रा-कार्य बड़ा कठिन था। सबकी जान-मालकी रक्षा करना, यात्रामें किसीको किसी प्रकारका कष्ट न होने देना, सारा प्रबन्ध करना, सारा खर्च उठाना, यह साधारण काम नहीं था। इसका भार जो कोई उठाता था, शायद वही संघपति कहलाता था।

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें शत्रुंजय, गिरनार आदिके लिए संघ निकालनेकी परम्परा अनवच्छिन्नरूपसे अबतक चली आ रही है और अब भी इस तरहके संघ निकाल-नवाले संघपतिकी पदवीसे विभूषित किये जाते हैं, परन्तु दिगम्बर-सम्प्रदायमें बीचमें यह परम्परा नष्ट-सी हो गई थी। उसके पहलेके अवश्य ही इसके बहुतसे प्रमाण मिलते हैं। फिर भी इस पदवीका मोह नष्ट नहीं हुआ। इसलिए संघ निकालनेके बदले जो लोग भगवानका गज-रथ निकालने लगे, उन्हें भी पीछेसे यह पदवी दी जाने लगी। अब बुन्देलखण्ड और सी० पी० की परवार, गोलापूर्व, गोलालोरे आदि जातियोंके लोग गजरथ निकालकर ही 'सिंघई' या 'सिंगई' बन जाते हैं, संघ निकालनेकी बातको तो शायद वे भूल ही गये हैं।

खण्डेलवालों और दूसरी कुछ जातियोंमें भी 'संघी' पद है। परन्तु जान पड़ता है, वह पुराने संघपतियोंके ही वंशमें चला आया हुआ पद है, गजरथ चलाकर प्राप्त किया हुआ नहीं।

बड़े-बड़े नगरोंमें जहाँ जैनोंका जन-संघ काफी होता था, ऐसा मालूम होता है कि वहाँके सर्वप्रधान मुखियाको भी 'संघपति' कहा जाता था।

प्राचीन शिखालेखों, प्रतिमालेखों और ग्रन्थ-प्रशस्तियोंमें संघपतिका संक्षिप्तरूप 'सं०' लिखा मिलता है। शायद यह पद आगेके वंशधरोंको भी परम्परासे प्राप्त होता था।

२—साधु और साहु

'साधु' शब्दका प्राकृत रूप 'साहु' होता है, और चूँकि 'साहु' लोकभाषामें एक प्रचलित पदवी थी, इसलिए जब संस्कृतके लेखकोंको अपनी संस्कृत रचनामें उसके निर्देशकी आवश्यकता हुई, तब उन्होंने उसका संस्कृतरूप 'साधु' बना लिया और साहुकी पत्नी 'साहुणी'को 'साध्वी'। परन्तु इन शब्दोंसे प्रायः भ्रम हो जाया करता है। आम तौरसे साधु शब्दका उच्चारण करते ही हमारे सामने मुनि या यतिका भाव आ जाता है और साध्वीसे आर्थिका या तपस्विनीका। परन्तु ग्रन्थ-प्रशस्तियों प्रतिमालेखों आदिमें साधु शब्द साहुकार या धनी गृहस्थके अर्थमें ही अधिकतासे व्यवहार किया गया गया है और साध्वी उसकी पत्नीके लिए।

पं० आशाधरजीने अपनी प्रशस्तिमें एक जगह लिखा है—“मुग्धबुद्धिप्रबो-धाय महीचन्द्रेण साधुना, धर्माभूतस्य सागारधर्मटीकास्ति कारिता।” इसका अर्थ बड़े बड़े पंडितोंतकने यही कर डाला है कि महीचन्द्र नामक साधुने टीका बनवाई। परन्तु वास्तवमें महीचन्द्र एक साहु या सेठ थे। यथार्थमें साहु या शाह शब्द फारसी भाषाका है जिसका अर्थ स्वामी, राजा, सज्जन, महाजन आदि होता है। मुसलमान-कालमें यह शब्द लोकभाषामें प्रचलित हो गया था। संस्कृतमें भी साधु शब्द भला, सज्जन आदि अर्थोंमें व्यवहृत होता था, इसलिए यद्यपि 'साहु' का 'साधु' रूप बहुत दूरवर्ती नहीं हो जाता है, फिर भी यह 'साहु' शब्द संस्कृतसे आया हुआ नहीं मालूम होता।

३—पति-पत्नीके समान नाम

कथा-ग्रन्थोंमें अक्सर भविष्यदत्त सेठ भविष्यदत्ता सेठानी, सोमदत्त ब्राह्मण सोमश्री ब्राह्मणी, धनदत्त धनदत्ता, यज्ञदत्त यज्ञदत्ता आदि पति-पत्नियोंके एकसे नाम मिलते हैं। इससे आजकलके पढ़नेवालोंको यह खयाल हो जाता है कि ये सब

कल्पित नाम हैं और यों ही गढ़ लिये गये हैं। यह हो सकता है कि बहुत-सी कथायें कल्पित हों, कथायें कल्पित बनानेके लिए कोई स्कावट भी नहीं है, परन्तु केवल इस प्रकारके नामोंसे ही उन्हें कल्पित नहीं कहा जाता सकता। जिस तरह आजकल पतिके नामके पूर्व 'मिसिस' या 'श्रीमती' जोड़ देनेसे उसकी पत्नीका बोध होता है, उसी तरह जान पड़ता है पूर्वकालमें भी बहुधा पतिके नामके आगे श्री, दे (देवी), ही (ही) जोड़ देने या लिंग-परिवर्तन कर देनेसे पत्नीका नाम हो जाता था। प्राचीन लेखों और ग्रन्थ-प्रशस्तियोंमेंसे इस तरहके बहुत-से उदाहरण दिये जा सकते हैं। जैसे—

“ संवत् १७९७ वर्षे श्रावणसुदि १४ शनिवासरे श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्कुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्रीदेवेन्द्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भट्टारक श्रीमहेन्द्रकीर्तिस्तदाम्नाये सवाई जयपुरमध्ये श्रीपार्श्वनाथचैत्यालये विलालगोत्रे साह श्रीहर (हीरा) राम तस्य भार्या हीरादे, तयोः पुत्रः साहश्री सांवलदासजी तस्य भार्या सांवलदे, तयोः पुत्रौ द्वौ प्रथम साह श्री नैणसुखजी तस्य भार्या नैणादे, तयोः पुत्रौ द्वौ। चिरंजीवि हितरामजी द्वितीय भागचन्द्रः। सांवलदासस्य द्वितीय पुत्रः साहजी श्रीगोपीरामजी। तस्य भार्ये द्वे। एतेषां मध्ये साहजी श्रीगोपीरामजी इदं पुस्तकं षट्कर्मोपदेशरत्नमालानामकं आचार्य श्रीक्षेमकीर्तिजी तच्छिष्य पंडित गोवर्द्धनदासाय लिखापि (?) घटापितं ज्ञानावरणीकर्मक्षयार्थं। श्रीरस्तुकल्याण-मस्तु। शुभं भवतु। ”

जयपुरके उक्त मंडारमें ही पंडित जिनदास वैद्यका ‘ होलीरेणुकापर्वचरित्र ’ नामका ग्रन्थ (गठरी ६, नं० १ पत्र ५६, श्लोक ८४३) है, जिसकी प्रशस्तिमें जिनदास वैद्यकी विस्तृत पूर्व-कुलपरम्परा दी हुई है। उसमें फीरोज़-शाह, ग्यासुद्दीन और नादिरशाह आदि बादशाहोंके द्वारा सम्मानित पं० हरपति, पन्न, औह और बिंझकी प्रशंसा की गई है और फिर लिखा है कि बिंझके पुत्र धर्मदास वैद्यशिरोमणि थे। इन धर्मदासकी पत्नीका नाम धर्मश्री था—‘ धर्मश्रीरिति नामतोऽस्य वनिता देवादिपूजारता । ’

१ भट्टारक सकलभूषणके इस ग्रंथकी प्रति जयपुरके पाटोदीजीके मंदिरमें (गठरी नं० ८, ग्रन्थ नं० ४, पत्र संख्या १३६, श्लोक संख्या ३५८०) है। स्व० गुरुजी पं० पन्नालालजी बाकलीवालने जब वे जयपुरमें थे, इस प्रशस्तिकी नकल मेरे पास भेजी थी।

इन दोनोंके 'रेखा' नामक पुत्र हुए जिनका रणथंभेरमें शेरशाह नरेन्द्रने सम्मान किया। इनकी पत्नीका नाम 'रेखा-श्री' था—भार्यास्य सद्गुणोपेता नाम्ना रेखासिरिः स्मृता।'

इन्हींके पुत्र ग्रन्थकर्त्ता जिनदास हुए। वैद्य जिनदासकी पत्नीका नाम भी दिया है परन्तु वह ठीक ठीक पढ़ा नहीं गया।

बम्बईके ऐ० प० सरस्वतीभवनमें धर्मशर्माभ्युदय-टीकाकी सं० १६५२ की लिखी हुई एक प्रति है, उसमें गोधा गोत्रके सा० पंचाङ्गकी बड़ी लम्बी वंश-प्रशस्ति दी है, उसमें सा० नूना भार्या नुनसिरि, सा० जीवा भार्या जीवलदे, सा० पूना भार्या पुनसिरि, सा० मल्लिदास भार्या मल्लिसिरि आदि पति-पत्नियोंके नाम दिये हैं।

करकंडुचरिउ (कारंजा-सीरीज) की प्रतिके अन्तमें यह प्रशस्ति दी है—
“संवत् १५९७ वर्षे.....खंडेलवालान्वये गोधागोत्रे साहा नांदा (नयण) तद्भार्या नयणश्री, तत्पुत्र साह मेहा तद्भार्या द्वे प्रथमा मेहादे द्वितीया सुहागदे, तत्पुत्रौ द्वौ प्रथम साह करमा.....”

मुनि श्रीजिनविजयजी द्वारा सम्पादित 'प्राचीन जैन-लेख-संग्रह'में पाली ग्रामका एक लेख (नं० ४३३) इस प्रकारका है—“सं० १५०७ वर्षे फा० व० ३ बुधे ओशवंशे वहरा हीरा भा० हीरादे, पु० व० षेता भा० षेतलदे, पु० व० हिमति पितृश्रेयसे श्रीशान्तिनाथबिंबं कारितं श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनभद्रसूरिश्रीजिनसागर-सूरिभिः प्रतिष्ठिता।”

इस तरहके और भी अनेक उदाहरण ढूँढ़कर दिये जा सकते हैं। यह पद्धति जान पड़ती है अब भी कहीं कहीं प्रचलित है। आठ नव वर्ष पहले घाटकोपर (बम्बईका उपनगर) में मैं जिन घनी सेठके मकानमें रहता था, वे दो भाई हैं और कच्छी हैं। उनमें एक भाईका नाम बेलजी और उनकी पत्नीका नाम बेलाबहू है। दूसरे भाईका नाम मैं भूल गया हूँ, परन्तु उनकी पत्नीका नाम भी उनके नामके साथ ही 'बहू' जोड़कर रखा हुआ है।

करीब करीब सभी जगह स्त्रीके दो नाम होते हैं एक पिताके घरका और दूसरा पतिके घरका। पतिके घर आनेपर उसे नया नाम दिया जाता है। कोई नया नाम रखनेकी अपेक्षा पतिके नामके साथ श्री, देवी, द्वी, बहू आदि जोड़कर नया नाम बना लेना अधिक सुभीतेका है। परन्तु स्त्रियाँ अपने पतिका नाम

लेनेमें संकोच करती हैं और इस तरह उनके नाममें भी पतिके नामका उच्चारण हो जाता है, शायद इसी लिए इस सुन्दर पद्धतिका विस्तार नहीं हुआ और यह बन्द हो गई ।

४—साधुओंका बहुपत्नीत्व

हमारे भंडारोंमें जो हस्तलिखित ग्रन्थ हैं, उनके अन्तमें ग्रंथकर्त्ताओंकी प्रशस्तियोंके सिवाय ग्रन्थ लिखानेवालों और उन्हें 'ज्ञानावरणी-कर्मक्षयार्थ' दान करनेवालोंकी भी प्रशस्तियाँ रहती हैं । इनमें प्रायः उनके सारे कुटुम्बके नाम रहते हैं । उनमें ऐसे बहुतसे संघपतियों या साधुओं (साधुओं) के नाम मिलते हैं जिनके एकाधिक स्त्रियाँ होती थीं । उनकी प्रथमा, द्वितीया, तृतीया भार्याओंके नाम और उनके पुत्रोंके नाम भी रहते हैं । इससे पता लगता है कि उस समय धर्मी प्रतिष्ठित कुलोंमें बहुपत्नीत्वका आम रिवाज था और वह शायद प्रतिष्ठाका ज्ञापक था । कमसे कम अप्रतिष्ठाका कारण तो नहीं समझा जाता था । उदाहरणके लिए हम यहाँपर केवल पं० राजमल्लजीकी वि० सं० १६४१ में बनी हुई लाटी-संहिताकी विस्तृत प्रशस्तिका कुछ अंश उद्धृत कर देना काफी समझते हैं—

तत्रत्यः श्रावको मारु भार्या तिस्रोऽस्य धार्मिकाः ।

कुलशीलवयोरुपधर्मबुद्धिसमन्विताः ॥ १० ॥

नाम्ना तत्रादिमा मेघी द्वितीया नाम रूपिणी ।

रत्नगर्भा घरित्रीव तृतीया नाम देविला ॥ ११ ॥

अर्थात् मारु नाम श्रावककी मेघी, रूपिणी और देविला नामकी तीन स्त्रियाँ थीं । आगे चलकर मारुके नाती न्योताके विषयमें लिखा है ।

न्योतासंघाधिनाथस्य द्वे भार्ये शुद्धवंशजे ॥ १५ ॥

आद्या नाम्ना हि पद्माही गौराही द्वितीया मता ।

अर्थात् संघपति न्योताकी पद्माही और गौराही नामकी दो स्त्रियाँ थीं । न्योताके पुत्र देईदासके भी दो भार्या थीं—एक रामूही और दूसरी कामूही—

भार्या देईदासस्य रामूही प्रथमा मता ॥ १९ ॥

कामूही द्वितीया ज्ञया भर्तृच्छन्दानुगामिनी ।

इसी वंशमें आगे संघपति मोल्हाकी भी छाजाही, वीधूही आदि तीन और सं० फामणकी झगरही और गंगा ये दो स्त्रियाँ बतलाई हैं ।

ऊपर धर्मशर्माभ्युदय-टीकाकी जिस प्रतिका उल्लेख किया गया है, उसके लिखनेवालेके कुटुम्बकी जो सूची दी है, उसमें प्रायः सभी साहुओंकी दो दो तीन तीन भार्यायें हैं, एक तो किसीकी भी नहीं है और सभीके दो दो तीन तीन पुत्रोंके भी नाम दिये हैं ।

ऐसा नहीं मालूम होता कि सन्तानादि न होनेके कारण उक्त धनी लोग अनेक शादियाँ करते थे, क्योंकि प्रायः उन स्त्रियोंके पुत्रोंके भी उल्लेख हैं और उन्हें कुल, शील, रूप, धर्मबुद्धियुक्त और पतिच्छन्दानुगामिनी भी बतलाया है । ऐसी दशामें यही कहा जा सकता है कि उस समय अनेक पत्नियाँ होना बड़े पुरुषोंकी शोभा थी और यह इतना रूढ़ था कि इसमें दोषकी कल्पना ही नहीं हो सकती थी ।

५—पराशरस्मृतिके श्लोकका अर्थ

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ ।

पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥

पराशरस्मृतिके इस श्लोकका सीधा अर्थ यह है कि पतिके लापता हो जाने पर, मर जाने पर, साधु हो जाने पर, नपुंसक होने पर और पतित हो जाने पर, इस तरह इन पाँच आपत्तियोंमें स्त्रियोंके लिए दूसरा पति करनेकी या पुनर्विवाहकी विधि है । परन्तु व्याकरणके साधारण नियमके अनुसार 'पति' शब्दका सप्तमी विभक्तिमें 'पतौ' रूप नहीं बनता है, 'पत्यौ' बनता है । इस लिए विधवा-विवाहके विरोधी 'पति' शब्दको 'पतिरिव पतिः' (जिसके साथ सगाई की गई हो विवाह नहीं हुआ हो, इस लिए जो पतिके ही समान हो) कहकर उसका 'पतौ' रूप मानकर अर्थ करते हैं । परन्तु वास्तवमें यह अर्थ गलत है । स्मृतिकारने 'पतौ' रूप विवाहित पतिके लिए ही व्यवहृत किया है । इसके लिए एक बहुत पुराना प्रमाण जैनाचार्य श्री अमितगतिकी धर्मपरीक्षामें मिलता है जो कि वि० सं० १०७० की बनी हुई है । इस ग्रन्थके ग्यारहवें परिच्छेदमें मण्डप-कौशिककी कथाके नीचे लिखे श्लोक देखिए—

तैरुक्तं विधवा क्वापि त्वं संगृह्य सुखी भव ।

नोभयोर्विद्यते दोष इत्युक्तस्तापसागमे ॥ ११ ॥

पत्यौ प्रव्रजिते क्लीबे प्रनष्टे पतिते मृते ।

पञ्चस्वाप्तसु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥ १२ ॥

तेनातो विधिना ग्राहि तापसादेशवर्तिना ।

स्वयं हि विषये लोलो गुर्वादेशेन किं पुनः ॥ १३ ॥

इससे मालूम होता है कि विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीमें भी उक्त श्लोकका विधवाविवाह-पोषक अर्थ ही माना जाता था और उसका शायद एक पाठान्तर भी प्रचलित था जिसका रूप १२ वें नम्बरके श्लोक जैसा था ।

सत्यके अनुरोधसे यह कह देना आवश्यक है कि उक्त कथामें ग्रन्थकर्ताका जो रुख है, वह विधवा-विवाहका विरोधी मालूम होता है । उन्होंने पराशरका उक्त श्लोक उद्धृत करके बतलाया है कि तापसोंके (ब्राह्मण ऋषियों) के शास्त्रमें विधवा-विवाहका विधान है और यह कहकर उनका मज़ाक उड़ाया है । अर्थात् ग्यारहवीं सदीमें भी लोकमत विधवा-विवाहका विरोधी था ।

६—परिग्रहपरिणामव्रतके दासी-दास गुलाम थे

संसारमें स्थायी कुछ नहीं, सभी कुछ परिवर्तनशील है । हमारी सामाजिक व्यवस्थाओंमें भी बराबर परिवर्तन होते रहते हैं, यद्यपि उनका ज्ञान हमें जल्दी नहीं होता । जो लोग यह समझते हैं कि हमारी सामाजिक व्यवस्था अनादिकालसे एक-सी चली आरही है, वे बहुत बड़ी भूल करते हैं । वे जरा गहराईसे विचार करके देखें तो उन्हें मालूम हो जाय कि परिवर्तन निरन्तर ही होते रहते हैं, हर एक सामाजिक नियम समयकी गतिके साथ कुछ न कुछ बदलता ही रहता है । उदाहरणके लिए इस लेखमें हम दास-प्रथाकी चर्चा करना चाहते हैं । प्राचीन कालमें सारे देशोंमें दास-प्रथा या गुलाम रखनेका रिवाज था और वह भारतवर्षमें भी था । इस देशके अन्य प्राचीन ग्रन्थोंके समान जैनग्रन्थोंमें भी इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं । जैनधर्मके अनुसार बाह्य परिग्रहके दस भेद हैं ।

बाहिरसंगा खेत्तं वत्थं धणधणकुप्पमंडानि ।

दुपय-चउप्पय-जाणाणि चेव सयणासणे य तहा । १११९

—भगवती आराधना ।

इस पर श्री अपरजितसूरिकी टीका देखिए—

“बाहिरसंगा बाह्यपरिग्रहाः । खेत्तं कर्षणाद्यधिकरणं । वत्थं वास्तु गृहं । धणं

सुवर्णादिः । घण्ण धान्यं ग्रीह्यादिः । कुप्प कुप्पं वस्त्रं । भंड भाण्डशब्देन हिंशुमरिचादिकमुच्यते । द्विपदशब्देन दासदासीभृत्यवर्गादिः । चउप्पय गजतुरगादयः चतुष्पदाः । जाणाणि शिविकाविमानादिकं यानं । सयणासणे शयनानि आसनानि च ।”

अर्थात्—खेत, वास्तु (मकान), धन (सोना, चाँदी), धान्य (चावल आदि), कुप्प (कपड़े), भाण्ड (हिंमिर्चादि मसाले), द्विपद (दो-पाये दास-दासी), चतुष्पद (चौपाये हाथी, घोड़े आदि), यान (पालकी विमान आदि), शयन (बिछौने) और आसन ये बाह्य परिग्रह हैं ।

लगाभग यही अर्थ पंडित आशाधरजी और आचार्य अमितगतिने भी अपनी टीकाओंमें किया है । इन दसमेंसे हम अपने पाठकोंका ध्यान द्विपद और चतुष्पद अर्थात् दोपाये और चौपाये शब्दोंकी ओर खींचना चाहते हैं । ये दोनों परिग्रह हैं । जिस तरह सोना चाँदी मकान वस्त्र आदि चीजें मनुष्यकी मालिकीकी समझी जाती हैं उसी तरह दोपाये और चौपाये जानवर भी हैं । चौपाये तो खैर, अब भी मनुष्यकी जायदादमें गिने जाते हैं, परन्तु पूर्वकालमें दास-दासी भी जायदादके अन्तर्गत थे । पशुओंसे उनमें यही भिन्नता थी कि उनके चार पाँव होते हैं और इनके दो । पाँचवें परिग्रह-त्यागव्रतके पालनमें जिस तरह और सब चीजोंके छोड़नेकी जरूरत है उसी तरह इनकी भी । परन्तु शायद इन द्विपदोंकी स्वयं छूटनेका अधिकार नहीं था । दास-दासियोंका स्वतंत्र व्यक्तित्व कितना था, इसके लिए देखिए—

सच्चिता पुण गंथा वधंति जीवे सयं च दुक्खंति ।

पावं च तण्णिमित्तं परिग्गहं तस्स से होई ॥ ११६२ ॥

विजयोदया टीका—सच्चिता पुण गंथा वधंति जीवे गंथा परिग्रहाः दासीदास-गोमहिष्यादयो भ्रन्ति जीवान् स्वयं च दुःखिता भवन्ति । कर्मणि नियुज्यमानाः कृष्यादिके पापं च स्वपरिग्रहीतजीवकृतासंयमनिमित्तं तस्य भवति ।

अर्थात्—जो दासी दास गाय भैंस आदि सचित्त (सजीव) परिग्रह हैं, वे जीवोंका घात करते हैं और खेती आदि कामोंमें लगाये जानेपर स्वयं दुखी होते हैं । इसका पाप इनके स्वीकार करनेवाले या मालिकोंको होता है । क्योंकि मालिकोंके निमित्तसे ही वे जीववधादि करते हैं । इससे स्पष्ट हो जाता है कि उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व एक तरहसे था ही नहीं, अपने किये हुए पाप पुण्यके मालिक भी वे स्वयं नहीं थे । अर्थात् इस तरहके बाह्य परिग्रहोंमें जो दास-दासी परिग्रह है उसका अर्थ जैसा कि आजकल किया जाता है ‘ नौकर नौकरानी ’ नहीं, किन्तु गुलाम

(Slave) है। इस समय नौकरका स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। वह पैसा लेकर काम करता है, गुलाम नहीं होता। कौटिलिय अर्थशास्त्रमें गुलामके लिए दास, और नौकरके लिए कर्मकर शब्दोंका व्यवहार किया गया है। अनंगारधर्मामृत अध्याय ४, श्लोक १२१ की टीकामें स्वयं पं० अशाधरने दास शब्दका अर्थ किया है—“ दासः क्रयक्रीतः कर्मकरः । ” अर्थात् खरीदा हुआ काम करनेवाला। पं० राजमल्लजीने लाटीसाहिताके छठे सर्गमें लिखा है—

दासकर्मरता दासी क्रीता वा स्वीकृतासती ।

तत्संख्या व्रतशुद्ध्यर्थं कर्तव्या सानतिक्रमात् ॥ १५० ॥

यथा दासी तथा दासः...

अर्थात्—दास कर्म करनेवाली दासियाँ, चाहे वे खरीदी हुई हों और चाहे स्वीकार की हुई, उनकी संख्या भी व्रतकी शुद्धिके लिए बिना अतिक्रमके नियत कर लेनी चाहिए। इसी तरह दासोंकी भी...

पं० राजमल्लजीने और भी लिखा है—

देवशास्त्रगुरुत्वा बन्धुवर्गात्मसाक्षिकम् ।

पत्नी परिग्रहीता स्यात्तदन्या चेष्टिका मता ॥

अर्थात्—जिसके साथ विधिपूर्वक बन्धुजनोंके समक्ष ब्याह किया गया हो वह पत्नी और यह नहीं किया गया हो वह चेष्टिका या दासी। आगे और स्पष्ट किया है—

पाणिग्रहणशून्या चेष्टिका सुरतप्रिया । ला० सं० १८४ ।

चेष्टिका भोगपत्नी च द्वयोर्भोगांगमात्रतः ॥ १८५ ॥

अर्थात् चेष्टिका सुरतप्रिया होती है और वह केवल भोगकी चीज़ है। इससे मालूम होता है कि काम करनेवाली दासियाँ खरीदी जाती थीं और उनमेंसे कुछ स्वीकार भी कर ली जाती थीं। स्वीकृताका अर्थ शायद रखेले है। ‘परिग्रहीता’ शब्द भी शायद इसीका पर्यायवाची है—परिग्रहणकी हुई या रखी हुई। यशस्ति-लकमें श्रीसोमदेवसूत्रिने लिखा है—

वधू-वित्तस्त्रियौ मुक्त्वा सर्वत्रान्यत्र तज्जने ।

माता स्वसा तनूजेति मतिर्ब्रह्म गृहाश्रमे ॥

अर्थात् पत्नी और वित्त-स्त्रीको छोड़कर अन्य सब स्त्रियोंको माता, बहिन और बेटी समझना गृहस्थाश्रमका ब्रह्मचर्याणुव्रत है। वित्तका अर्थ धन होता है, इसलिए

वित्त-स्त्रीसे तात्पर्य धनसे खरीदी हुई दासी होना चाहिए। इसका अर्थ वेदया भी किया जाता है, परन्तु अब मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि दासी अर्थ ही अधिक उपयुक्त है। शब्द-कोशोंमें वेदयाके वारयोषित, गणिका, पण्यस्त्री आदि नाम मिलते हैं, जिनके अर्थ समूहकी, बहुतोंकी, या बाजारू औरत होता है, पर धन-स्त्री या वित्त-स्त्री जैसा नाम कहीं नहीं मिला। गृहस्थ अपनी पत्नी और दासीको भोगता हुआ भी चतुर्थ अणुव्रतका पालक तभी माना जा सकता है, जब दासी गृहस्थकी ज्ञायदाद मानी जाती हो। जो लोग इस व्रतकी उक्त व्याख्यापर नाक भौंह सिकोड़ते हैं वे उस समयकी सामाजिक व्यवस्थासे अनभिज्ञ हैं, जिसमें कि 'दासी' एक परिग्रह या जायदाद थी। अवश्य ही वर्तमान दृष्टिकोणसे जब कि दास प्रथाका अस्तित्व नहीं रहा है और दासी किसीकी जायदाद नहीं रही है, ब्रह्माणुव्रतमें उसका ग्रहण निषिद्ध माना जाना चाहिए।

कौटिलीय अर्थशास्त्रमें 'दास-कल्प' नामका एक अध्याय ही है जिससे मालूम होता है कि दास-दासी खरीदे जाते थे, गिरवी रखे जाते थे और धन पानेपर मुक्त कर दिये जाते थे। दासियोंपर मालिकका इतना अधिकार होता था कि वह उनमें सन्तान भी उत्पन्न कर सकता था और उस दशामें वे गुलामीसे छुट्टी पा जाती थीं। देखिए—

स्वामिनोऽस्यां दास्यां जातं समातृकमदासं विद्यात् ॥ ३२ ॥

गृह्या चेत्कुटुम्बार्थचिन्तनी माता भ्राता भगिनी चास्याः दास्याः स्युः ॥ ३३ ॥

—धर्मस्थीय तीसरा अधिकरण

अर्थात्—यदि मालिकसे उसकी दासीमें सन्तान उत्पन्न हो जाय तो वह सन्तान और उसकी माता दोनों ही दासतासे मुक्त कर दिये जायें। यदि वह स्त्री कुटुम्बार्थ-चिन्तनी होनेसे ग्रहण कर ली जाय, भार्या बन जाय, तो उसकी माता, बहिन और भाइयोंको भी दासतासे मुक्त कर दिया जाय।

इन सूत्रोंकी रोशनीमें सोमदेवसूरिका ब्रह्माणुव्रतका विधान अयुक्त नहीं मालूम होता। स्मृति-ग्रन्थोंमें दासोंका वर्णन बहुत विस्तारसे किया गया है। मनुस्मृतिमें सात प्रकारके दास बतलाये हैं—

ध्वजाहृतो मुक्तदासो गृहजः क्रीतदन्त्रिमौ।

पैत्रिको दण्डदासश्च सत्तैते दासयोनयः ॥ ४८-१५

१-देखो, पं० उदयवीर शास्त्रीके अनुवाद सहित कौटिलीय अर्थशास्त्र द्वि० भा०, पृ० ६५-७०।

अर्थात्—ध्वजाहृत (संग्राममें जीता हुआ), मुक्तदास (भोजनके बदले रहनेवाला), गृहज (दासीपुत्र), क्रीत (खरीदा हुआ), दन्निम (दूसरेका दिया हुआ), पैत्रिक (पुरखोंसे चला आया) और दण्डदास (दण्डके धनको चुकानेके लिए जिसने दासता स्वीकार की हो) ये सात प्रकारके दास हैं।

पूर्वकालमें दास और शूद्रका एक ही अर्थ था। यद्यपि सभी शूद्र दास नहीं होते थे परन्तु यह निश्चय है कि सभी दास शूद्र गिने जाते थे। मनुस्मृतिमें जो यह लिखा है कि शूद्रका निजका धन कुछ भी नहीं है, उसका मालिक उसके धनको खुशीसे ले सकता है, सो इस शूद्रका अर्थ दास ही है।

न हि तस्यास्ति किञ्चित्स्वं भर्तृहार्यधनो हि सः ॥ १७ ॥ —अध्याय ८
और भी लिखा है—

शूद्रं तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा ।

दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा ॥ —अ० ८-४१३

अर्थात्—शूद्र चाहे खरीदा हुआ हो और चाहे विना खरीदा, उससे दासता करानी चाहिए। क्योंकि स्वयंभु ब्रह्माने उसे दासताके लिए ही बनाया है।

याज्ञवल्क्य स्मृतिके टीकाकार विश्वनेश्वर (१२ वीं सदी) ने पन्द्रह प्रकारके दास बतलाये हैं जिनमें ऊपर बतलाये हुए तो हैं ही, उनके सिवाय जुएमें जीते हुए, अपने आप मिले हुए, दुर्भिक्षके समय बचाये हुए, आदि अधिक हैं। ये दास जो कुछ कमाते थे उसपर उनके स्वामीका ही अधिकार होता था।

भारतके सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेदमें भी दासी-दासोंके दान देनेका उल्लेख मिलता है।

—(ऋ० ८-१९-१६)

महोंच बहुत पुराना बन्दरगाह है। बहुत प्राचीन कालसे यहाँसे विदेशोंके साथ आयात-निर्यात व्यापार होता रहा है। इण्डियन एण्टिक्वेरीके वॉल्यूम VIII में यूनान आदि देशोंसे जो जो चीजें आती थीं और यहाँसे जो जो चीजें जाती थीं उनका एक कोष्ठक प्रकाशित हुआ है। उससे मालूम होता है कि उस समय सुन्दर लड़कियाँ भी यहाँ विदेशोंसे बेचनेके लिए लाई जाती थीं। संस्कृत नाटकोंमें राजाओंके समीप रहनेवाली यवनियोंका जो वर्णन आता है, वे शायद इसी तरह खरीदकर लाई हुई सुन्दरियाँ होती थीं। महाकवि कालिदासके शकुन्तला नाटक (अंक २) में राजाका आगमन सूचित करते हुए लिखा है—“एष वाणा-

सनहस्ताभिर्यवनीभिर्वनपुष्पमालाधारिणीभिः परिवृत इत एवागच्छति प्रियवयस्य ।” अर्थात् जंगली फूलोंकी माला धारण करनेवाली और हाथोंमें धनुष रखनेवाली यवनियोंसे घिरा हुआ राजा इधर ही आ रहा है ।

बौद्धोंके अंगुत्तर-निकायमें^२ कौमारभृत्य जीवककी कथा है, जो बड़ा भारी वैद्य था और जिसे राजा बिम्बसार (श्रेणिक) के पुत्र अभयकुमारने पाला-पोसा था । तक्षशिलासे वैद्य-विद्याको पढ़कर और आचार्य होकर जब यह लौटा, तो इसने रास्तेमें साकेत (अयोध्या) के नगरसेठकी भार्याका इलाज करके उसे एक कठिन रोगसे मुक्त किया । इससे प्रसन्न होकर स्वयं सेठानीने, उसके पुत्रने, बहूने और सेठने उसे चार चार हजार रुपये दक्षिणा दी, साथ ही सेठने एक रथ, एक दास और एक दासी भेंट की । इससे मालूम होता है कि राजा श्रेणिकके समयमें दासी-दास भी धन-दौलतके समान ही भेंट मेहनताने आदिमें दिये जाते थे । उस समय जो जितना बड़ा आदमी होता था, उसके उतने ही अधिक दासी-दास होते थे ।

थेरी-गाथाकी अट्ट-कथा (काश्यप सैन्यासीकी कथा) में^३ पिप्पली माणवकके वैभवका वर्णन करते हुए लिखा है उसके यहाँ १२ योजनतक फैले हुए खेत, १४ हाथियोंके झुण्ड, १४ घोड़ोंके झुण्ड, १४ रथोंके झुण्ड और १४ दासोंके ग्राम थे । ये दास गुलाम ही थे ।

पूर्वकालमें भारतवर्षमें दास-विक्रय होता था, इसके अपेक्षाकृत आधुनिक प्रमाण भी अनेक मिलते हैं—

ईस्वी सन् १३१७ में प्रसिद्ध भारतयात्री इब्नबतूताने बंगालका वर्णन करते हुए लिखा है कि “ यहाँ तीस गज लम्बे सूती वस्त्र दो दीनारमें और सुन्दर दासी एक स्वर्ण दीनारमें मिल सकती है । मैंने स्वयं एक अत्यन्त रूपवती ‘आशोरा’ नामक दासी इसी मूल्यमें तथा मेरे एक अनुयायीने छोटी अवस्थाका ‘लूल्ह’ नामक एक दास दो दीनारमें मोल लिया था । ” एक जगह वह और लिखता है “ वजीरने दस दासियाँ मेरे लिये भेज दीं । गन्दी तथा असम्भ्य

१ मूल वाक्य प्राकृतमें है । पाठकोंके सुभीतेके लिए यहाँ संस्कृतच्छाया ही दी है ।

२ देखो बुद्धचर्या पृष्ठ २९७-३०७ । ३ बुद्धचर्या पृष्ठ ४१-४२ ।

४ देखो काशीविद्यापीठद्वारा प्रकाशित इब्नबतूताकी भारतयात्रा पृ० ३३ ।

होनेके कारण इस देशमें लूटकी दासियाँ खूब सस्ती मिलती हैं। परन्तु जब सीखी सिखाई ही सस्ती मिल जाती हैं, तब फिर ऐसीको कौन ले ? साधारण दासीका मूल्य ८ टंकसे अधिक न था और पत्नी बनाने योग्य दासी १५ टंकको मिलती थी।” अर्थात् उस समय दास-दासी अन्य चीजोंके ही समान मोल मिल सकते थे।

बंगला मासिक भारतवर्ष (वर्ष ११, खण्ड २, अंक ६, पृ० ८४७) में प्रो० सतीशचन्द्र मित्रका ‘मनुष्य विक्रय-पत्र’ नामक एक लेख छपा है, जिसमें दो दस्तावेजोंकी नकल दी है। (१) प्रायः २५० वर्ष पहले बरीसालके एक कायस्थने सात छोटे बड़े स्त्री पुरुषोंको इकतीस रुपयेमें बेचा था। यह दस्तावेज फाल्गुन १३१९ (बंगला संवत्) के ‘ढाका-रिव्यू’ में प्रकाशित हुई है। (२) दूसरी दस्तावेज १६ पौष ११९४ (बं० सं०) दिसम्बर सन् १७८८ की लिखी हुई है। उसका सार यह है कि अमीराबाद परगने (फरीदपुर-जिला) के गोयलग्रामनिवासी रामनाथ चक्रवर्तीने अपने पद्मलेचन नामक सात वर्षकी उम्रके दासको दुर्भिक्षवश अन्न-वस्त्र न दे सकनेके कारण २) पण लेकर राजचन्द्र सरकारको बेच दिया। यह सदैव सेवा करेगा। इसे अपनी दासीके साथ ब्याह देना। ब्याहसे जो सन्तान होगी भारतमें भी यही दास-दासी कर्म करेगी। यदि यह कभी भाग जाय तो अपनी क्षमतासे पकड़वा लिया जाय। यदि मुक्त होना चाहे तो २२ सीसा (?) और रसून (लशुन ?) देकर मुक्त हो जाय। दस्तावेज लिख दी कि सनद रहे।

इन प्रमाणोंसे स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वकालमें दास-दासी एक तरहकी जायदाद ही थी जो खरीदी बेची जा सकती है। वे स्वयं अपने मालिक न थे, इसलिए उनकी गणना परिग्रहमें की गई है। यह सच है कि अमेरिका यूरोप आदि देशोंके समान भारतमें गुलामोंपर उतने भीषण अत्याचार न होते थे जिनका वर्णन पढ़कर रोगटे खड़े हो जाते हैं और जिनको स्वाधीन करनेके लिए अमेरिकामें (सन् १८६०) चार पाँच वर्षतक जारी रहनेवाला ‘सिविल-वार’ हुआ था। फिर भी इस बातसे इन्कार नहीं किया जा सकता कि भारतवर्षमें भी गुलाम रखनेकी प्रथा थी और उनकी हालत लगभग पशुओं जैसी ही थी। सन् १८५५ में ब्रिटिश पार्लमेंटने एक नियम बनाकर इसे बंद किया है। यद्यपि इनके अवशेष

१ गुलामीका परिचय प्राप्त करनेके लिए बुकर टी० वाशिंगटनका ‘आत्मोद्धार’ और मिसेज एच० बी० स्टीकी लिखी हुई ‘टामकाकाकी कुटिया’ आदि पुस्तकें पढ़नी चाहिए।

अब भी कहीं कहीं मौजूद हैं। सन् १८६० में इंडियन पिनल कोडमें गुलाम खरीदना बेचना अपराध ठहराया गया। सुप्रसिद्ध हिन्दू राज्य नेपालमें तो यह दास प्रथा अभी सन् १९३२ में ही कानून बनाकर बंद की गई है।

७—भगवान् महावीरका वंश

बौद्ध ग्रंथोंमें भगवान् महावीरका 'निगंठ नातपुत्त' के नामसे उल्लेख मिलता है। 'निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र' यह उसका संस्कृतरूप है। प्राचीनकालमें वंशके नामसे भी लोगोंका परिचय दिया जाता था। महात्मा बुद्धदेव शाक्यवंशके थे, इस कारण वे 'शाक्य-पुत्र' कहलाते थे। भगवान् महावीर 'ज्ञातृ' नामक क्षत्रियकुलके थे, इस कारण उन्हें ज्ञातृपुत्र (नातपुत्त) कहते थे। शाक्यपुत्र या बुद्धदेवके अनुयायी श्रमण या साधु शाक्यपुत्राय और भगवान् महावीर या नातपुत्तके अनुयायी साधु नातपुत्तीय (ज्ञातृपुत्राय) कहलाते थे। पाली ग्रन्थोंमें जैनसाधुओंका उल्लेख प्रायः इसी नामसे हुआ है। दिगम्बरसम्प्रदायके ग्रन्थोंमें भगवान् महावीरके वंशका नाम 'नाथ-वंश' लिखा है; परन्तु हम लोग प्रायः भूल ही गये हैं कि यह 'नाथ' शब्द 'ज्ञातृ' शब्दका ही पाली या प्राकृतरूप है। हमारे द्वादशांगश्रुतमें एक अंगका नाम 'णायधम्मकहा' (ज्ञातृधर्मकथा) है। गुजरात-विद्यापीठके अध्यापक न्याय-व्याकरणतीर्थ पं० बेचरदासजीने इसका अर्थ किया है 'भगवान् महावीरकी धर्मकथायें'। अर्थात् वे 'ज्ञातृ' शब्दको भगवान् महावीरका वाचक मानते हैं।

बौद्ध धर्मके धुरन्धर पंडित त्रिपिटकाचार्य श्री गहुल सांकृत्यायनने अपनी 'बुद्ध-चर्या' में इस ज्ञातृवंशके विषयमें एक नई बात लिखी है। उनके मतसे यह ज्ञातृजाति लिच्छवियोंकी ही एक शाखा थी, जो वैशालीके आसपास रहती थी। इस समय भी वैशाली (वर्तमान वसाह जिला मुजफ्फरपुर) के आसपास जथरिया नामकी एक जाति रहती है, जो भूमिहारोंकी एक शाखा है। सांकृत्यायनजीका ख्याल है कि 'ज्ञातृ' से ही अपभ्रष्ट होकर यह 'जथरिया' शब्द बना है, और जथरियोंका प्रधान निवासस्थल 'रत्ती' परगना भी ज्ञातृ-नत्ती-लत्ती-रत्तीसे बना है। उनकी यह दलील और भी जोरदार है कि भगवान् महावीर और जथरिया जाति इन दोनोंका ही गोत्र 'काश्यप' है।

१ भगवानकी माता 'त्रिशला' इसी लिच्छवि वंशकी थीं।

इस समय भूमिहार लोग अपनेको 'ब्राह्मण' कहते हैं; परन्तु दूसरे लोग उन्हें ब्राह्मण नहीं मानते। वास्तवमें वे क्षत्रिय ही हैं और उनके नाम सिंहान्त होते हैं। इस वंशमें अब भी बहुतसे ज़मीन्दार और राजा हैं।

८-शूद्रोंके लिए जिनमूर्तियाँ ?

प्रायः जैनमन्दिरोंके शिखरोंपर और दरवाज़ोंकी चौखटोंपर जिनमूर्तियाँ दिखलाई देती हैं। उनके विषयमें कुछ सज्जनोंने, कुछ ही समयसे यह कहना शुरू किया है कि उक्त मूर्तियाँ शूद्रों और अस्पृश्योंके लिए स्थापित की जाती रही हैं, जिससे वे मन्दिरोंमें प्रवेश किये बिना बाहरसे ही भगवान्‌के दर्शनोंका सौभाग्य प्राप्त कर सकें। यह बात कहने सुननेमें तो बहुत अच्छी मालूम होती है, परन्तु अभी तक इस विषयमें किसी शिल्पशास्त्र, प्रतिष्ठा-पाठ या पूजा-प्रकरणका कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया गया है और यह बात कुछ समझमें भी नहीं आती है कि जो लोग दर्शन-पूजन-पाठादिके अधिकारी ही नहीं माने जाते हैं, उनके लिए शिखरोंपर या द्वारोंपर मूर्तियाँ जड़नेका परिश्रम क्यों आवश्यक समझा गया होगा। यदि शूद्रों या अस्पृश्योंको दूरसे दर्शन करने देना ही अभीष्ट होता, और उनके आने जानेसे मन्दिरोंका भीतरी भाग ही अपवित्र होनेकी आशंका होती, तब तो मन्दिरोंके बाहर दीवारोंमें या आगे खुले चबूतरोंपर ही मूर्तियाँ स्थापित कर दी जातीं, और ऐसा प्रबन्ध कर दिया जाता, जिससे वे समीप आये बिना दूरसे ही बन्दना कर लेते। इसके सिवाय जो लोग इन अभागों प्राणियोंको दूरसे दर्शन करने देनेमें कोई हानि नहीं समझते हैं, उन्होंने क्या कभी यह भी सोचा है कि दूरसे दर्शन करनेवाले उक्त प्रतिमाओंके उद्देश्यसे पुष्पादि भी तो चढ़ा सकते हैं ? तब क्या दूरसे किया हुआ पूजन पूजन नहीं कहलायगा ? और क्या मन्दिर मूर्तिसे भी अधिक पवित्र होता है ?

मेरी समझमें तो शिखरपर या द्वारपर जो मूर्तियाँ रहती हैं, उनका उद्देश्य केवल यह प्रकट करना होता है कि उस मन्दिरमें कौन-सा देव प्रतिष्ठित है अर्थात् वह किस देवताका मन्दिर है। वास्तवमें वह मुख्य देवका संक्षिप्त चिह्न होता है जिससे लोग दूरसे ही पहिचान जायें कि यह अमुकका मंदिर है। अभी मैं पूने गया था, वहाँ संगमपर ऐसे बहुतसे मन्दिर देखे, जिनके द्वारोंपर उन मन्दिरोंके मुख्य देवोंकी छोटी छोटी प्रतिकृतियाँ लगी हुई हैं।

इस बातका पता लगानेकी ज़रूरत है कि शिल्पशास्त्रोंमें तथा प्रतिष्ठापाठोंमें भी इसके लिए कुछ विधान है या नहीं और यह पद्धति कितनी पुरानी है ।

९-दक्षिणकी जैन जातियाँ

दक्षिणमहाराष्ट्र-जैनसभाने अपने यहाँकी अन्तर्जातियोंको एक करनेके सम्बन्धमें एक प्रस्ताव पास किया है । उसके अनुसार प्रचार करनेके लिए सभाके महामन्त्री श्रीयुक्त कुदले महाशयने दौरा करके उसकी एक रिपोर्ट लिखी है । उससे मालूम हुआ कि दक्षिण महाराष्ट्र और कर्नाटक प्रान्तमें (मैसूर स्टेटको छोड़कर) जैनोंकी केवल चार जातियाँ हैं, (१) पंचम, (२) चतुर्थ, (३) कासार बोगार और (४) शेतवाल । पहले ये चारों जातियाँ एक ही थीं और 'पंचम' कहलाती थीं । 'पंचम' यह नाम वर्णाश्रमी ब्राह्मणोंका दिया हुआ जान पड़ता है । प्राचीन जैनधर्म जन्मतः वर्णव्यवस्थाका विरोधी था, इसलिए उसके अनुयायियोंको ब्राह्मणधर्मानुयायी लोग अवहेलना और तुच्छताकी दृष्टिसे देखते थे और चातुर्वर्णसे बाहर पाँचवें वर्णका अर्थात् 'पंचम' कहते थे । जिस समय जैनधर्मका प्रभाव कम हुआ और उसे राजाश्रय नहीं रहा, उस समय धीरे धीरे यह नाम रूढ़ होने लगा और अन्ततोगत्वा स्वयं जैनधर्मानुयायियोंने भी इसे स्वीकार कर लिया ! ऐसा जान पड़ता है कि नवीं दसवीं शताब्दिके लगभग यह नामकरण हुआ होगा । इसके बाद वीरशैव या लिंगायत सम्प्रदायका उदय हुआ और उसने इन जैनों या पंचमोंको अपने धर्ममें दीक्षित करना शुरू किया । लाखों जैन लिंगायत बन गये; परन्तु लिंगायत हो जानेपर भी उनके पीछे पूर्वोक्त 'पंचम' विशेषण लगा ही रहा और इस कारण इस समय भी वे 'पंचम लिंगायत' कहलाते हैं । उस समय तक चतुर्थ, शेतवाल आदि जातियाँ नहीं बनी थीं, इस कारण जो लोग जैनधर्म छोड़कर लिंगायत हुए थे, वे 'पंचम लिंगायत' ही कहलाते हैं 'चतुर्थ लिंगायत' आदि नहीं । दक्षिणमें मालगुजार या नम्बरदारको पाटील कहते हैं । वहाँके जिस गाँवमें एक पाटील लिंगायत और दूसरा पाटील जैन होगा, अथवा जिस गाँवमें लिंगायत और जैन दोनोंकी बस्ती होगी, वहाँ लिंगायत पंचम जातिके ही आपको मिलेंगे और जिस गाँवमें पहले जैनोंका प्राबल्य था, वहाँके सभी लिंगायत पंचम होंगे । अनेक गाँव ऐसे हैं, जहाँके जैन पाटीलों और लिंगायत पाटीलोंमें कुछ पीढ़ियोंके पहले परस्पर सूतक तक पाला जाता था । जिस

गाँवके जैन पाटीलोंमें चतुर्थ और पंचम दोनों भेद हैं, वहाँके लिंगायत पाटील केवल पंचम हैं। इससे मालूम होता है कि लिंगायत सम्प्रदायके जन्मसे पहले बारहवीं शताब्दि तक सारे दक्षिणात्य जैन पंचम ही कहलाते थे, चतुर्थ आदि भेद पीछेके हैं। दक्षिणके अधिकांश जैन ब्राह्मण भी—जो उपाध्याय कहलाते हैं—पंचम-जातिभुक्त हैं, चतुर्थादि नहीं। इससे भी जान पड़ता है कि ये भेद पीछेके हैं।

पहले दक्षिणके तमाम जैनोंमें परस्पर रोटी-बेटीव्यवहार होता था और वे सब 'पंचम' कहलाते थे। लिंगायत सम्प्रदायका जोर होनेपर उनकी संख्या कम हो गई, इसलिए सोलहवीं शताब्दिके लगभग भट्टारकोंने अपने प्रान्तीय या प्रादेशिक संघ तोड़कर जातिगत संघ बनाये और उसी समय जुदे जुदे मठोंके अनुयायियोंको चतुर्थ, शेतवाल, बोगार अथवा कासार नाम प्राप्त हुए। साधारण तौरसे खेती और ज़मीन्दारी (पाटीली) करनेवाले चतुर्थ, काँसे पीतलके बर्तन बनानेवाले कासार या बोगार और केवल खेती और सिलाई तथा कपड़ेका व्यापार करनेवाले शेतवाल कहलाने लगे। (हिन्दीमें जिन्हें कँसेरे या तमेरे कहते हैं, वे ही दक्षिणमें कासार कहलाते हैं और मराठीमें खेतीका पर्यायवाची शब्द शेती या शेतकी है, जिससे कि शेतवाल शब्द बना है।) और ये सब धंधे जिस मूल समुदायमें थे और जो पुराने नामसे चिपटे रहे, वे 'पंचम' ही बने रहे। इसी लिए पंचमोंमें ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णोंके धंधे करनेवाले प्रायः समान रूपसे मिलते हैं। कासारोंमें वैष्णव भी हैं। वैष्णव 'त्वष्टा कासार' कहलाते हैं और जैन 'पंचम कासार'। 'कासार' नाम पेशेके कारण है और 'पंचम' नाम धर्मके कारण। जिनसेन मठ (कोल्हापुर) के अनुयायियोंको छोड़कर और किसी मठके अनुयायी चतुर्थ नहीं कहलाते।

पंचम, चतुर्थ, शेतवाल और बोगार या कासारोंमें परस्पर रोटी-व्यवहार अबतक चालू है, इससे भी इनका पूर्वकालीन एकत्व प्रकट होता है। इन सभी जातियोंमें विधवा-पुनर्विवाह जायज़ है।

कुदले महाशयने अपनी रिपोर्टमें जो कुछ लिखा है, मेरे शब्दोंमें यह उसीका सार है। इससे दक्षिणकी उक्त चारों पाँचों जातियोंकी एकतापर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है; केवल 'चतुर्थ' नाम ही कुछ अँधेरेमें रह जाता है। स्वर्गीय पं० कल्लापा भरभापा निटवेने एक बार मुझे इस शब्दकी उपपत्ति बतलाई थी, परन्तु

कनड़ी भाषाका ज्ञान न होनेसे खेद है कि मैं उसे भूल गया। उन्होंने कहा था कि 'चतुर्थ' शब्दने तो अभी अभी ही पढ़े लिखे लोगोंके व्यवहारमें पड़कर संस्कृत रूप धारण कर लिया है, परन्तु अपढ़ लोगोंमें इसका उच्चारण अमुक प्रकारसे होता है, जो संस्कृतके 'चतुर्थ' शब्दसे कुछ साम्य तो जरूर रखता है, परन्तु पुरानी कनड़ीमें—जिसे कि लोग भूल गये हैं—उसका अर्थ 'क्षत्री' होता है। स्वर्गीय पण्डितजीके उक्त कथनकी ओर हम दक्षिणके विद्वानोंका ध्यान आकर्षित करते हैं। शायद इससे 'चतुर्थ' नामकी सन्तोषजनक उपपत्ति बैठानेमें कुछ सहायता मिले।

हमारा खयाल है कि उत्तरभारतकी जातियोंमें भी अनेक जातियाँ ऐसी होंगी जिनका मूल एक होगा और पीछे उनकी ही शाखायें स्वतन्त्र जातियाँ बन गई हैं। उदाहरणार्थ पं० बखतरामजीने अपने 'बुद्धिविलास' नामक ग्रन्थके 'श्रावकोत्पत्तिवर्णन' नामक प्रकरणमें परवारजातिकी अठसखा, चौसखा, छःसखा, दोसखा, सोरठिया, गांगज और पद्मावतीपुरवार ये सात शाखायें बतलाई हैं।

१०—विक्रमादित्य और खारवेल

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ बाबू काशीप्रसादजी जायसवालने बिहार-उड़ीसा-रिसर्च सोसाइटीके (सितम्बर-दिसम्बर १९३०) जर्नलमें इतिहासके कई उलझे हुए प्रश्नोंको सुलझाया है और उसमें अपने अगाध पाण्डित्यका परिचय दिया है। उनमेंसे कुछ बातें ये हैं:—

शकारि विक्रमादित्य—अभी तक अधिकांश इतिहासज्ञोंका मत यह है कि विक्रमसंवत्का प्रवर्तक विक्रमादित्य राजा ईस्वीसन्से ५७ वर्ष पहले न होकर बहुत पीछे पाँचवीं छठी शताब्दिमें हुआ है। कोई उसे गुप्तवंशी समुद्रगुप्त बतलाता है, कोई चन्द्रगुप्त और कोई कुछ। किसी किसीके मतसे मालवगण संवत् ही पीछे विक्रमसंवत् कहलाने लगा है। अब श्रीयुक्त जायसवालजीने सिद्ध किया है कि गौतमीपुत्र सातकर्णि ही सुप्रसिद्ध विक्रमादित्य थे। ये आन्ध्रके राजा थे और सातकर्णि, सातवाहन और शालिवाहन, ये इस राजवंशकी उपाधियाँ थीं। गाथा सप्तशतीके कर्त्ता हालने जो ईस्वी सन् ६९ के लगभग या उससे कुछ पूर्व हुआ है, एक गाथामें विक्रमादित्य (विक्रमादित्य) की दानशीलताका वर्णन किया है। इससे जान पड़ता है कि विक्रमादित्य उससे पहले हो गये हैं। इसी समयके बृहत्-कथा नामक ग्रन्थसे भी उस समयसे पूर्व ही विक्रमादित्यका होना पाया जाता है।

विक्रमादित्य 'शकारि' या शकोंको जीतनेवाले थे। उनका स्थान उज्जयिनी बतलाया जाता है। यह मौर्यकालमें, टालेमीके कथनानुसार चंद्रनके समयमें और हरिवंशपुराणकर्त्ता जिनसेनके आधारपर शुंग-कालमें भी पश्चिमी-भारतकी राजधानी थी। प्रो० रापसनने ऋषभदत्त और गौतमीपुत्रके शिलालेखों और नहपानके सिक्कोंके आधारपर सिद्ध किया है कि नहपानको गौतमीपुत्रने जीत लिया था और इस प्रकार सारा मालवा उज्जयिनी और अवन्तीसहित शकोंसे मुक्त हो गया था। नहपान शक था। आवश्यक सूत्र और उसकी टीका आदि जैनग्रन्थोंसे जान पड़ता है कि शालिवाहन राजाने नहवान (नहवान) की राजधानी कई चढ़ाईयोंके पश्चात् जीत ली और नहवान अन्तिम घेरेमें मारा गया। यह शालिवाहन गौतमी पुत्र शातकर्णि ही था। इसका समय ईस्वी सन् पूर्व १००-४४ है। इसके अभिषेकके १८ वें वर्षमें यह युद्ध हुआ था। सोपपत्तिपूर्वक समझनेके लिए पूरा लेख पढ़ना चाहिए।

खारवेल और गर्दमिल्ल—जायसवाल महाशयने यह भी सिद्ध किया है कि उड़ीसाके जैन सम्राट् महामेघवाहन खारवेलकी सन्ततिमें जो सात राजा हुए हैं, वे गर्दमिल्ल कहलाते थे। खारवेल और गर्दमिल्ल एक ही हैं। खारवेलसे खरवेल हुआ, खर और गर्दम पर्यायवाची एक ही अर्थके शब्द हैं। इस तरह खारवेलसे गर्दमिल्ल शब्द बन गया। उज्जैनका गर्दमिल्ल राजा जिसका उल्लेख कालिकाचार्यके कथानकमें है, उक्त राजाओंमें अन्तिम था।

१ त्रिलोकप्रशस्तिमें वीरनिर्वाण-काल-गणना बतलाते हुए जिस नरवाहनका ४० वर्ष राज्य करना लिखा है, वह शायद यही है। इसके बाद 'भञ्जधान'का २४२ वर्ष राज्य बतलाया है, जो हमारी समझमें 'अत्यान्त्राणां' का अपभ्रंश है। गौतमीपुत्र इस आन्ध्रवंशका ही होगा।

२ त्रिलोकप्रशस्तिमें पुष्यमित्र और अग्निमित्र राजाओंके बाद १०० वर्ष तक 'गंधव्वाण' (गन्धर्व राजाओं) का राज्य बतलाया है। संस्कृत हरिवंशपुराणके कर्त्ताने त्रिलोकप्रशस्तिके ही आधारसे अपनी काल-गणना लिखी है। उन्होंने शायद 'गंधव्वाण' को 'गद्दमाण' पढ़कर संस्कृतमें 'गर्दमानां' समझा और उसका पर्यायवाची शब्द रासमानां अर्थात् रासम राजा लिख दिया है। क्या गन्धर्व, गर्दम, या रासम उक्त खारवेल या खरवेलके ही वंशके राजा नहीं हो सकते ?

११—यज्ञोपवीत और जैनधर्म

उपनयन या यज्ञोपवीत धारण सोलह संस्कारोंमेंसे एक मुख्य संस्कार है। इस शब्दका अर्थ समीप लेना है।—उप=समीप, नयन=लेना। आचार्य या गुरुके निकट वेदाध्ययनके लिए लड़केको लेना अथवा ब्रह्मचर्याश्रममें प्रवेश कराना ही उपनयन है। इस संस्कारके चिह्नस्वरूप लड़केकी कमरमें मूँजकी डोरी बाँधनेको मौञ्जीबन्धन और गलेमें सूतके तीन धागे डालनेको उपवीत, यज्ञोपवीत या जनेऊ कहते हैं—यज्ञेन संस्कृतं उपवीतं यज्ञोपवीतम्। यह एक शुद्ध वैदिक क्रिया या आचार है और अब भी वर्णाश्रम धर्मके पालन करनेवालोंमें चालू है, यद्यपि अब गुरुगृहगमन और वेदाध्ययन आदि कुछ भी नहीं रह गया है।

यज्ञोपवीत नामसे ही प्रकट होता है कि यह जैन क्रिया नहीं है। परन्तु भगव-ज्जिनसेनने अपने आदिपुराणमें श्रावकोंको भी यज्ञोपवीत धारण करनेकी आज्ञा दी है और तदनुसार दक्षिण तथा कर्नाटकके जैन गृहस्थोंमें जनेऊ पहना भी जाता है। इधर कुछ समयसे उनकी देखादेखी उत्तर भारतके जैनी भी जनेऊ धारण करने लगे हैं। परन्तु हमारी समझमें यह क्रिया प्राचीन नहीं है, संभवतः नवीं दसवीं शताब्दिके लगभग या उसके बाद ही इसे अपनाया गया है और शायद आदिपुराण ही सबसे पहला ग्रन्थ है जिसने यज्ञोपवीतको भी जैनधर्ममें स्थान दिया है। इसके पहलेका और कोई भी ऐसा ग्रन्थ अबतक उपलब्ध नहीं हुआ है जिसमें यज्ञोपवीत धारण आवश्यक बतलाया हो। उपलब्ध श्रावकाचार्योंमें सबसे प्राचीन स्वामी समन्तभद्रका रत्नकरण्ड है, पर उसमें यज्ञोपवीतकी कोई भी चर्चा नहीं की गई है। अन्यान्य श्रावकाचार आदिपुराणके पीछेके और उसीका अनुधावन करनेवाले हैं अतएव इस विषयमें उनकी चर्चा व्यर्थ है।

१ आचार्य रविषेणका पद्मपुराण आदिपुराणसे कोई डेढ़ सौ वर्ष पहलेका है। उसके चौथे पर्वका यह श्लोक देखिए—

वर्णत्रयस्य भगवन् संभवो मे त्वयोदितः ।

उत्पत्तिः सूत्रकण्ठानां ज्ञातुमिच्छामि साम्प्रतम् ॥ ८७

अर्थात् राजा श्रेणिक गौतम स्वामीसे कहते हैं कि भगवन्, आपने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णोंकी उत्पत्ति तो बतला दी, पर अब मैं सूत्र-कण्ठोंकी (गलेमें सूत लटकानेवाले ब्राह्मणोंकी) उत्पत्ति जानना चाहता हूँ ।

विक्रमकी पहली शताब्दिके बने हुए प्राकृत पउमचरियमें भी ठीक इसी आशयकी एक गाथा है—

वण्णाणसमुप्पत्ती तिण्हं पि सुया मए अपरिसेसा ।

यत्तो कहेह भयवं उप्पत्ती सुत्तकंठाणं ॥ ६५

इन दोनों पद्योंका 'सूत्रकण्ठ' या 'सुत्तकंठ' शब्द ध्यान देने योग्य है जो ब्राह्मणोंके लिए प्रयुक्त किया गया है। यह शब्द ब्राह्मणों और उनके जनेऊके प्रति आदर या श्रद्धा प्रकट करनेवाला तो कदापि नहीं है, इससे तो एक प्रकारकी तुच्छता या अवहेला ही प्रकट होती है। ग्रन्थकर्त्ता आचार्योंके भाव यदि यज्ञोपवीतके प्रति अच्छे होते, तो वे इसके बदले किसी अच्छे उपयुक्त शब्दका प्रयोग करते। इससे अनुमान होता है कि जब पउमचरिय और पद्मपुराण लिखे गये थे, तब जैनधर्ममें यज्ञोपवीतको स्थान नहीं मिला था।

२ यदि जनेऊ धारण करनेकी प्रथा प्राचीन होती तो उत्तर भारत और गुजरात आदिमें इसका थोड़ा बहुत प्रचार किसी न किसी रूपमें अवश्य रहता, उसका सर्वथा लोप न हो जाता। हम लोग पुराने रीति-रवाजोंकी रक्षा करनेमें इतने कट्टर हैं कि बिना किसी बड़े भारी आघातके उन्हें नहीं छोड़ सकते। यह हो सकता है कि उन रीति-रवाजोंका कुछ रूपान्तर हो जाय परन्तु सर्वथा लोप होना कठिन है। इससे मालूम होता है कि उत्तर भारत और गुजरात आदिमें इसका प्रचार हुआ ही नहीं और शायद आदिपुराणका प्रचार हो चुकनेपर भी यहाँके लोगोंने इस नई प्रथाका स्वागत नहीं किया।

अबसे लगभग तीन-सौ वर्ष पहले आगरेमें पं० बनारसीदासजी एक बड़े भारी विद्वान् हो गये हैं जिनके नाटक-सामयसार और बनारसी-विलास नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। उन्होंने 'अर्द्ध-कथानक' नामकी एक पद्यबद्ध आत्मकथा लिखी है, जिसमें उनकी ५२ वर्ष तककी मुख्य-मुख्य जीवन-घटनायें लिपिबद्ध हैं। एक बार बनारसीदासजी अपने एक मित्र और समुरके साथ एक चोरोंके गाँवमें पहुँच गये। वहाँ रक्षाका और कोई उपाय न देखकर उन्होंने उसी समय धागा बँटकर जनेऊ पहिन लिये और ब्राह्मण बन गये !—

सूत काढ़ि डोरा बख्यौ, किए जनेऊ चारि ।

पहिरे तीनि तिहूँ जने, राख्यो एक उबारि ॥

माटी लीनी भूमिसों, पानी लीनों ताल ।

बिप्र भेष तीनों बनें, टीका कीनों भाल ॥

इस उपायसे वे बच गये, चोरोंके सर्दारने ब्राह्मण मानकर उन्हें छोड़ ही न दिया, अभ्यर्थना भी की और एक साथी देकर आगे तक पहुँचा दिया।

बनारसीदासजी जैनधर्मके बड़े मर्मज्ञ थे। यदि उन्हें इस क्रियापर श्रद्धा होती, तो वे अवश्य ही जनेऊधारी होते। इससे पता चलता है कि उस समय आगेरे आदिके जैनी जनेऊ नहीं पहिनते थे।

३ पद्मपुराण आदि कथा-ग्रन्थोंमें जिन जिन महापुरुषोंके चरित लिखे गये हैं, उनमें कहीं भी ऐसा नहीं लिखा कि उनका यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ या उन्हें जनेऊ पहिनाया गया, जब कि उनकी विद्यारम्भ, विवाह आदि क्रियाओंका वर्णन किया गया है। कई महा पुरुषोंने अनेक प्रसंगोंपर जिनेन्द्रदेवकी पूजा की है, वहाँ अनेक वस्त्राभूषणोंका वर्णन भी किया गया है, पर जनेऊका कहीं भी उल्लेख नहीं है।

४ श्वेताम्बर सम्प्रदायके साहित्यमें भी यज्ञोपवीत-क्रियाका विधान नहीं है। श्रीवर्द्धमानसूरिके 'आचार-दिनकर' नामके एक श्वेताम्बर ग्रन्थमें जिनोपवीतका वर्णन है, परन्तु वह बहुत पीछेका, वि० सं० १५०० के लगभगका, ग्रन्थ है और संभवतः दिगम्बर सम्प्रदायके आदिपुराणके अनुकरणपर ही बनाया गया है। श्वेताम्बर समाजमें जनेऊ पहननेका रिवाज भी नहीं है। पहलेका भी कोई उल्लेख नहीं मिलता।

संसारका कोई भी धर्म, सम्प्रदाय या पन्थ अपने समयके और परिस्थितियोंके प्रभावसे नहीं बच सकता। उसके पड़ोसी धर्मोंका कुछ न कुछ प्रभाव उसपर अवश्य पड़ता है। वह उनके बहुतसे आचारोंको अपने ढंगसे अपना बना लेता है और इसी प्रकार उसके भी बहुतसे आचारोंको पड़ोसी धर्म ग्रहण कर लेते हैं। जैनधर्मकी अहिंसाका यदि अन्य वैष्णव आदि सम्प्रदायोंपर प्रभाव पड़ा है—उसे उन्होंने समधिक रूपमें ग्रहण कर लिया है, तो यह असंभव नहीं है कि जैन धर्मने भी उनके बहुतसे आचारोंको ले लिया हो, अवश्य ही जैनधर्मके मूल तत्त्वोंके साथ सामंजस्य करके। मूलतत्त्वोंके साथ वह सामंजस्य किस प्रकार किया जाता है, इसके समझनेके लिए आदिपुराणका ४० वाँ पर्व देखना चाहिए जहाँ वैदिक ग्रन्थोंके समान अग्निकी पूजा विहित बतलाई गई है।

न स्वतोऽग्नेः पवित्रत्वं देवताभूतमेव वा ।
 किन्त्वर्हदिव्यमूर्तीज्यासम्बन्धात्पावनोऽनलः ॥ ८८ ॥
 ततः पूजाङ्गतामस्य मत्वाऽर्चन्ति द्विजोत्तमाः ।
 निर्वाणक्षेत्रपूजावत्तत्पूजाऽतो न दूष्यति ॥ ८९ ॥
 व्यवहारनयापेक्षा तस्थेष्टा पूज्यता द्विजैः ।
 जैनैरध्यवहार्योऽयं नयोऽद्यत्वेऽग्रजन्मभिः । ९० ॥

अर्थात् अग्निमें न स्वयं कोई पवित्रता है और न देवपना; परन्तु अर्हत भगवानकी दिव्यमूर्तिकी पूजाके सम्बन्धसे वह पवित्र हो जाता है। इसलिए द्विजोत्तम अर्थात् जैन ब्राह्मण अग्निको पूजाके योग्य मानकर पूजते हैं और निर्वाण-क्षेत्रोंकी पूजाके समान इस अग्निपूजामें कोई दोष भी नहीं है। व्यवहारनयकी अपेक्षा उसकी (अग्निकी) पूजा द्विजोंके लिए इष्ट है और आजकल अग्रजन्मों या जैन ब्राह्मणोंको यह व्यवहारनय व्यवहारमें लाना चाहिए।

इससे साफ मालूम होता है कि वैदिक धर्मकी आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिण अग्नियोंकी पूजाको ही कुछ परिवर्तित रूपमें जैनधर्ममें स्थान दिया गया है, पर इसके साथ ही जैन धर्मकी मूल भावनाओंकी रक्षा कर ली गई है। उपर्युक्त श्लोकोंके 'अद्यत्वे' (आजकल या वर्तमान समयमें) और 'व्यवहारनयापेक्षा' शब्द ध्यान देने योग्य हैं। इनसे ध्वनित होता है कि यह अग्निपूजा पहले नहीं थी, परन्तु आचार्य अपने समयके लिए उसे आवश्यक बतलाते हैं और व्यवहार नयसे कहते हैं कि इसमें कोई दोष नहीं है।

आचार्य सोमदेवने अपने यशास्तिलकमें लिखा है—

यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ।

सर्वमेव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः ।

अर्थात् वे सभी लौकिक विधियाँ या क्रियायें जैनोंके लिए मान्य हैं जिनमें सम्यक्त्वकी हानि न होती हो और व्रतोंमें कोई दोष न लगता हो।

इस सूत्रके अनुसार ही अग्निपूजा और यशोपवीतकी विधियोंको जैनधर्ममें स्थान मिल सकता है।

१२—जैनधर्म अनीश्वरवादी है

संसारमें सबसे अधिक संख्या ईश्वरवादियोंकी है। वर्तमान दृष्ट संसारके लगभग ढाई अरब मनुष्योंमें ऐसे ही लोग अधिक हैं जो इस सृष्टिका कर्त्ता हर्त्ता

विधाता एक अदृश्य शक्ति-विशेषको मानते हैं और वही ईश्वर, खुदा या गॉड आदि नामोंसे अभिहित होता है। हिन्दू, ईराणी, यहूदी, ईसाई आदि सभी धर्म ईश्वरके उपासक हैं और इन्हींके अनुयायियोंकी संख्या सबसे अधिक है। जीते जागते बचे खुचे धर्मोंमें जैन और बौद्ध ये दो ही धर्म ऐसे हैं जो वास्तवमें अनीश्वरवादी हैं, अर्थात् किसी ईश्वर विशेषके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करते और इस भारतवर्षमें तो केवल जैनधर्म ही अनीश्वरवादके अस्तित्वको टिकाये हुए है। बौद्ध धर्म यहाँ नाम मात्रको है। जो कुछ है यहाँसे बाहर चीन, जपान, सयाम आदि देशोंमें है। जैन और बौद्ध धर्म इस अनीश्वरवादके कारण ही 'नास्तिक' कहलाते हैं। यद्यपि बहुतसे विद्वानोंके मतसे जो लोग परलोकको नहीं मानते हैं, वे ही 'नास्तिक' कहे जाने चाहिए और इस दृष्टिसे जैनधर्म इस नास्तिकतासे मुक्त हो जाता है, परंतु नास्तिकताका प्रचलित अर्थ ईश्वरका न मानना ही है। सर्व साधारण लोग इस शब्दको इसी अर्थमें व्यवहृत करते हैं, इस कारण यह कहना असंगत नहीं कि जैनधर्म अनीश्वरवादी भी है और नास्तिक भी है।

परंतु आजकलके जैनधर्मानुयायी अपनेको 'नास्तिक' नहीं कहलाना चाहते। इसे वे एक अपमानजनक शब्द समझते हैं और इस कारण उनके व्याख्यानों और लेखोंमें इस विषयका अकसर प्रतिवाद देखा जाता है। वे बड़ी बड़ी युक्तियाँ देकर सिद्ध किया करते हैं कि जैनधर्म नास्तिक नहीं है—वह आस्तिक है। कुछ समय पहले तो इस विषयकी चर्चा और भी जोरोंपर थी। परंतु हमारी समझमें यदि लोग 'नास्तिक' कहनेसे ईश्वरको न माननेवाला ही समझते हैं, अथवा 'नास्तिको वेदनिन्दकः' इस वाक्यके अनुसार वेदोंको न माननेवाला 'नास्तिक' पद-वाच्य है, तो जैनोंको 'नास्तिक' कहनेसे चिढ़नेकी आवश्यकता नहीं है, वरन् इसे उसी प्रकार अपना गौरव बढ़ानेवाला समझना चाहिए जिस तरह वे अपने अन्य 'स्याद्वाद' आदि मुख्य सिद्धान्तोंको समझते हैं।

बहुतसे जैनधर्मानुयायियोंको 'नास्तिक' के समान 'अनीश्वरवादी' बनना भी नापसन्द है। वे इस कलंक (?) के टीकेको भी अपने मस्तकमें नहीं लगाये रखना चाहते। इस टीकेको पोंछ डालनेका—कमसे कम फीका कर डालनेका—प्रयत्न अभी ही नहीं, बहुत समयसे हो रहा है। इस प्रयत्नमें थोड़ी बहुत

सफलता भी हुई है। सर्वसाधारण लोग यह समझने लगे हैं कि जैनी भी ईश्वरको मानते हैं और मंदिरोंमें हमारे ही समान उसकी मूर्तियाँ भी स्थापित करके पूजते हैं, सिर्फ इतना अन्तर है कि वे अपने ईश्वरको 'महावीर' 'पार्श्वनाथ' 'नेमिनाथ' 'जिनदेव' आदि नामोंसे पुकारते हैं। परंतु वास्तवमें जैनधर्म अनीश्वरवादी है और यह उसकी अस्थिमज्जागत प्रकृति है। वह न छुपायेसे छुप सकती है और न बदलनेसे बदली जा सकती है। जब तक जैनधर्म और जैन-विज्ञानका आमूल परिवर्तन न कर दिया जाय, तब तक इसमेंसे अनीश्वर-वाद पृथक् नहीं किया जा सकता।

जिन्होंने संसारके विविध धर्मोंके इतिहासका अध्ययन किया है वे जानते हैं कि प्रत्येक धर्मपर उसके पड़ोसी धर्मोंका, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष किसी न किसी रूपमें कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा है और जिस धर्मके अनुयायियोंकी संख्या कम हो जाती है अथवा जिसका प्रचार कम हो जाता है, उसपर तो दूसरे बलवान् और देशव्यापक धर्मोंका प्रभाव बहुत ही अधिक पड़ता है। उनके प्रभावोंसे प्रभावान्वित हुए बिना वह रह ही नहीं सकता। जिस समय बौद्ध और जैन-धर्मका प्रभाव देशव्यापी हो रहा था, उनके अहिंसामूलक उपदेशोंके प्रति-जन साधारणका बहुत ही अधिक झुकाव हो रहा था, उस समय हिन्दूधर्मपर इन दोनों ही धर्मोंका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा था और उसका फल यह हुआ था कि हिन्दूधर्ममेंसे 'वैदिकी हिंसा' की विधियाँ निकाल दी गईं या परिवर्तित कर दी गईं और दूसरी सैकड़ों बातोंमें संशोधन परिवर्तन किया गया। इस विषयमें किसी किसी विद्वान्की तो यहाँतक सम्मति है कि वर्तमान हिन्दू धर्म प्राचीन हिन्दू धर्मका मूल स्वरूप नहीं किन्तु संस्कृत (संस्कार किया हुआ) स्वरूप है और उसके अंग प्रत्यंगोंमें बौद्ध-जैन-धर्मोंके प्रभावके चिह्न सुस्पष्टरूपसे दृष्टिगोचर होते हैं। इसी प्रकार जब जैनधर्मका हास हुआ और हिन्दूधर्मका प्रभाव फिर बढ़ा, तब स्वयं उसे भी हिन्दूधर्मके प्रभावसे प्रभावान्वित होना पड़ा। २०-२५ करोड़ हिन्दुओंके बीचमें १०-१५ लाख जैनधर्मानुयायी रहें और उनपर उनका प्रभाव न पड़े, यह संभव नहीं। जैनधर्मने जिस प्रकार हिन्दूधर्मको कुछ दिया था, उसी प्रकार उससे कुछ लिया भी।

ब्राह्मणधर्मसे जैनधर्मने क्या क्या लिया है, इसका विवेचन करनेकी यहाँ जरूरत नहीं, यहाँ केवल अनीश्वरवादका प्रसंग है। अतएव इसके सम्बन्धमें इतना ही

कहना पर्याप्त होगा कि हिन्दूधर्मके प्रभावसे जैनोंने अपने अनीश्वरवादपर ऐसा मुलम्मा चढ़ा दिया है, कि वह साधारण दृष्टिसे देखनेवालोंको ईश्वरवाद जैसा ही प्रतीत होता है। केवल विशेषज्ञ ही यह जान सकते हैं कि जैनधर्ममें वस्तुतः ईश्वरके लिए कोई स्थान नहीं है।

ईश्वर शब्दके वास्तविक अर्थ हैं, ऐश्वर्यशाली, वैभवशाली, शक्तिशाली, स्वामी, अधिकारी, कर्तृत्ववान् आदि। इह लोकमें जो दर्जा स्वतंत्र सम्राट् या महाराजाका है, वही परलोकमें ईश्वर या परमेश्वरका है। परंतु जैनधर्म इहलोक या परलोकमें इस प्रकारके किसी सत्ताधीशको माननेसे सर्वथा इंकार करता है। उसका ईश्वर किसी साम्राज्यका स्वेच्छाचारी शासक तो क्या होगा, किसी प्रजातंत्र देशका प्रेसीडेण्ट भी नहीं। वह एक ईश्वरको भी तो नहीं मानता है। उसके यहाँ यदि ईश्वर है तो वह एक नहीं, लाखों करोड़ों असंख्य अनंतकी संख्यामें है। अर्थात् जैन-मतानुसार इतने ईश्वर हैं कि उनकी गिनती नहीं हो सकती और आगे भी वे बराबर इसी अनंत संख्यामें अनंत कालतक होते रहेंगे, क्योंकि जैनसिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक आत्मा अपनी अपनी स्वतंत्र सत्ताको लिये हुए मुक्त हो सकता है। आज तक ऐसे अनंत आत्मा मुक्त हो चुके हैं और आगे भी होते रहेंगे। ये मुक्त जीव ही जैनधर्मके ईश्वर हैं। इन्हींमेंसे कुछ मुक्तात्माओंको जिन्होंने मुक्त होनेके पहले संसारको मुक्तिका मार्ग बतलाया था जैनधर्म तीर्थंकर मानता है।

जैनधर्मके ये मुक्तात्मा या ईश्वर संसारसे कोई सम्बन्ध नहीं रखते। न सृष्टि-संचालन कार्यमें उनका कोई हाथ है, न वे किसीका भला बुरा कर सकते हैं, न किसीपर कभी प्रसन्न होते हैं और न अप्रसन्न। न उनके पास कोई ऐसी सांसारिक वस्तु है जिसे ऐश्वर्य, वैभव या अधिकारके नामसे पुकारा जा सके। न ये किसीका न्याय करते हैं, और न किसीके अपराधोंकी जाँच। जैनसिद्धान्तके अनुसार जीव स्वयं ही सुख-दुख पाते हैं। ऐसी दशामें मुक्तात्मा ईश्वरोंको इन सब झंझटोंमें पड़नेकी जरूरत भी नहीं है।

गरज यह है कि जैनधर्ममें माने हुए मुक्तात्माओंका उस ईश्वरत्वसे कोई सम्बन्ध नहीं है जिसे कि सर्वसाधारण लोग संसारके कर्ता हर्ता विधाता ईश्वरमें कल्पना किया करते हैं। उस ईश्वरत्वका तो उल्टा जैनधर्मके तर्क-ग्रन्थोंमें खूब जोरोंके साथ खण्डन किया गया है और इस तरहकी प्रबल युक्तियोंके साथ किया गया है कि उसे पढ़कर बड़ेसे बड़े ईश्वरवादियोंकी भी श्रद्धा डगमगाने लगती

है। उक्त ग्रन्थोंके अध्ययनसे यह बात अच्छी तरह समझमें आ जाती है कि जैनधर्म वास्तवमें अनीश्वरवादी ही है, ईश्वरवादी नहीं।

इस ईश्वरके न माननेका जैनधर्मके मूल सिद्धान्तोंसे इतना घनिष्ठ और अविच्छेद्य सम्बन्ध है कि यदि यह निकाल दिया जाय, और दूसरे धर्मोंके समान एक सृष्टिकर्ता ईश्वर मान लिया जाय, तो जैन विज्ञानकी सारी ही इमारत धरा-शायी हो जाय। ऐसी दशामें जैनधर्ममेंसे 'अनीश्वरवाद' का सर्वथा अलग किया जाना तो असंभव था, अधिकसे अधिक उसका गहरा रंग कुछ फीका किया जा सकता था और अन्य ईश्वरवादियोंके प्रभावने यही किया। जैनोंने अपने मूल अनीश्वरवादको सिद्धान्त-ग्रन्थोंमें तो सुरक्षित रक्खा, परन्तु उसके बाहरी रूपमें यथासाध्य परिवर्तन कर डाला।

एक बात और है। सर्वसाधारण लोग गहरी सैद्धान्तिक बातोंको नहीं समझते। धर्मके असली तत्त्वोंसे वे प्रायः अनभिज्ञ रहते हैं। तत्त्वोंके समझने समझानेका भार बहुश्रुत धर्मगुरुओंपर ही प्रायः न्यस्त रहता है। वे स्वयं जो धर्मकी ऊपरी बातोंको क्रियाकाण्ड आदिको ही धर्म समझते और मानते हैं। ऐसी दशामें यह संभव नहीं कि जैनधर्मके सर्वसाधारण उपासक—वे उपासक कि जिनके आसपास उनसे सैकड़ों गुणें ईश्वरको मानने-पूजनेवाले अजैन रहते हैं, बिना ईश्वरके रह जायें। जैनधर्ममें चाहे ईश्वर हो या न हो, पर उनका काम ईश्वरके बिना कैसे चलता? अतएव उनके लिए अनीश्वरवादी होते हुए भी जैनधर्मने ईश्वरवादको उतना स्थान दे दिया जितना कि मूल सिद्धान्तोंकी रक्षा करते हुए दिया जा सकता है।

इसमें संदेह नहीं कि जैनधर्ममें मूर्तिपूजा बहुत प्राचीन समयसे प्रचलित है, परन्तु इस रूपमें नहीं जिसमें कि इस समय दिखलाई देती हैं। मूर्तियोंका पंचामृत अभिषेक, उनका आह्वान, स्थापन, सन्निधीकरण, अष्टद्रव्यसे पूजन, विसर्जन, अरहंत-सिद्धका जाप, मूर्तियोंका प्रतिष्ठा-विधान आदि क्रियाओंपर हिन्दूधर्मके क्रियाकाण्डका और ईश्वरवादका रंग चढ़ा हुआ दिखलाई देता है। जैन स्तोत्रों और स्तवनोंपर कहीं कहीं यह रंग इतना गहरा है कि वे नाम मात्रके परिवर्तनसे ईश्वरवादियोंके स्तोत्रोंकी पंक्तिमें निर्भय होकर रक्खे जा सकते हैं। पिछले जैन-साहित्यमें तो कहीं कहीं भक्ति-गंगा ऐसी तेजीसे बही है कि उसके प्रवाहमें बेचारे अनीश्वरवादके अस्तित्वकी कल्पना भी नहीं होती। एक भक्त कहते हैं—

“ स्वामी, जैसे बने तैसे तारो, मेरी करनी कुछ न विचारो । ”

यह ईश्वरवाद नहीं तो और क्या है ?

पौराणिक लेखकोंने इस विषयकी ओर और भी अधिक ध्यान दिया है । उन्होंने अपनी कवि-सुलभ कल्पनाओंसे जैनधर्मके उपासकोंके लिए प्रायः वे सभी मानतायें सुलभ कर देनेका प्रयत्न किया है जो अन्य ईश्वरवादियोंमें प्रचलित हैं । वे कहते हैं कि भगवान् ऋषभदेव सृष्टिकर्ता ब्रह्मा है क्योंकि उन्होंने ब्राह्मण क्षत्रिय आदि वर्णोंको उत्पन्न किया था, उनके मुखसे चतुरनुयोगरूप चार वेद उत्पन्न हुए । वे सृष्टिके रक्षक थे, इसलिए विष्णु कहलाये, विष्णुके समान उनके भी सहस्र नाम हैं, वे कल्याणके करनेवाले हैं अतएव शंकर भी हैं । इस प्रकारकी और भी सैकड़ों बातें हैं ।

और जैनधर्मके वर्तमान अनुयायियोंपर तो ईश्वरवादका रंग बेतरह चढ़ा हुआ है । उनमें १०० मेंसे लगभग ९० मनुष्य ऐसे होंगे जो औरोंके सम्मान जिन भगवानको ही सुख-दुख देनेवाले समझते हैं, उन्हींका नाम जपा करते हैं, उन्हींकी सौगन्ध खाते हैं और कहते हैं कि हमारा अमुक काम सिद्ध हो जायगा तो हम भगवानका अमुक उत्सव करेंगे । शिखरजी या गिरनारजीकी यात्रा करेंगे, अथवा मन्दिर बनवा देंगे । गरज यह कि ये लोग पूरे ईश्वरवादी बन रहे हैं । अन्तर केवल यही है कि इनके भगवान् श्रीकृष्ण, रामचन्द्र, शिव आदि न होकर ऋषभदेव, पार्श्वनाथ आदि हैं । यह सब उनके पड़ोसके धर्मोंका ही प्रभाव है ।

गरज यह कि वर्तमान जैनधर्मपर जो कुछ ईश्वरवादकी छाया दिखाई देती है वह स्वयं उसकी अपनी वस्तु नहीं है, किन्तु दूसरोंके प्रभावसे उत्पन्न हुई है । वास्तवमें जैनधर्म अनीश्वरवादी है और धर्मोंके इतिहासमें यही उसकी सबसे बड़ी विशेषता तथा महत्ता है । गतानुगतिकताके प्रवाहमें न बहकर, युक्ति और प्रमाणोंसे असिद्ध ईश्वरको माननेसे स्पष्ट इंकार कर देना कोई साधारण बात नहीं ।

परिशिष्ट

[लेखोंके छप चुकनेपर कुछ नई बातें मालूम हुई हैं, जो यहाँ क्रमशः दे दी जाती हैं ।]

लोकविभाग और तिलोयपण्णात्ति (पृ० १-२२)

१—नागहस्ति और आर्यमंक्षु गुणधरके साक्षात् शिष्य नहीं थे

आचार्य इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारके १५२-५४ पद्योंमें स्पष्ट लिखा है कि गुणधर आचार्यने अपने कषाय-प्राभृतको नागहस्ति और आर्यमंक्षुके लिए पन्द्रह मंहा अधिकारोंमें विभाजित करके व्याख्यान किया । अर्थात् उनके कथनानुसार नागहस्ति और आर्यमंक्षुका गुणधर आचार्यसे साक्षात् परिचय था और यतिवृषभ उनके साक्षात् शिष्य थे । परन्तु जयधवला टीकामें एक जगह बतलाया है कि नागहस्ति और आर्यमंक्षुको गुणधर आचार्यसे साक्षात्में नहीं किन्तु परम्परासे कषाय-प्राभृतका ज्ञान प्राप्त हुआ । अतएव यहाँ उसका उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है—

“ वट्टमाणजिणिदे णिव्वाणं गदे पुणो ६८३ एत्तिएसु वासेसु अइक्कंतेसु एदग्गि भरहखेत्ते सव्वे आइरिया सव्वेसिमंगपुव्वाणमेगदेसधारया जादा । तदो अंगपुव्वाण-मेगदेसो चेव आइरियपरंपराए आगंतूण गुणहराइरियं संपत्तं । पुणो तेण गुणहरभडारएण णाणपवाद-पंचमपुव्व-दसमवत्थु-तदियकसायपाहुडमहण्वपारएण गंथवोच्छेदभएण वच्छलपरवसिकयहियएण एवं पेज्जदोसपाहुडं सोलस-पदसहस्सपरिमाणं होतं असीदिसदमेत्तगाहाहिं उवसंहारिदं । पुणो ताओ चेव सुत्तगाहाओ आइरियपरंपराए आगच्छमाणाओ अज्जमंखु-णागहत्थीणं पत्ताआं । पुणो तेसिं दोण्हं पि पादमूले असीदिसदगाहाणं गुणहरमुहकमलविणिग्गयाणमत्थं सम्मं सोऊण जयिवसहभडारएण पवयणवच्छलेण चुणिसुत्तं कयं । ”

रेखांकित वाक्यका शब्दार्थ यह है कि फिर वे ही सूत्र-गाथायें जो आचार्य परम्परासे चली आई थीं आर्य मंखु और नागहस्तिको प्राप्त हुईं ।

२ नन्दिसूत्रमें आर्य मंगु और नागहस्तिका उल्लेख

भणगं करगं झरगं पमावगं णाणदंसणगुणाणं ।

वंदामि अज्जमंगुं सुयसागरपारगं धीरं ॥ २८ ॥

णाणंमि दंसणंमि अ तवविणए णिच्चकालमुज्जुत्तं ।

अज्जं णंदिलखमणं सिरसा वंदे पसन्नमणं ॥ २९ ॥

वड्डउ वायगवंसो जसवंतो अज्जणागहत्थीणं ।

वागरणकरणभंगिय कम्मपयडीपहाआणं ॥ ३० ॥

इन गाथाओंमें आर्य मंगु, नन्दिलक्ष्मण और आर्य नागहस्तिको नमस्कार किया गया है। मंगु और मंशु एक ही हैं। ये गाथायें पं० फूलचन्द्रजी शास्त्रीने तलाश करके भेजनेकी कृपा की है।

३ लोकविभागका उल्लेख तिलोयपण्णत्तिमें

लेखमें यह बतलाया गया है कि कुन्दकुन्दके नियमसारमें लोक-विभागका जो उल्लेख है वह सर्वनन्दि मुनिके श० सं० ३८० में लिखे हुए लोयविभाग नामक प्राकृत ग्रन्थका होना चाहिए और इसलिए नियमसारके कर्त्ता श० सं० ३८० के बादके जान पड़ते हैं। उक्त लेखके छप चुकनेपर पं० जुगलकिशोरजी सुख्तारके “श्रीकुन्दकुन्द और यतिवृषभमें पूर्ववर्ती कौन ?” शीर्षक लेखपर मेरी दृष्टि गई। उसमें उन्होंने बतलाया है कि यतिवृषभकी तिलोयपण्णत्तिमें भी लोक-विभागका दो जगह उल्लेख किया गया है—

जलसिहरे विक्खंभो जलणिहिणो जोयणा दससहस्सा ।

एवं संगाइणिए लोयविभाए विणिहिट्ठं ॥ अ० ४

लोयविणिच्छयगंथे लोयविभागाग्नि सन्वसिद्धाणं ।

ओगाहणपरिमाणं भणिदं किंचूण चरिमदेहसमो ॥ अ० ९

इससे भी यही मालूम होता है कि यतिवृषभके सामने लोकविभाग ग्रन्थ मौजूद था और संभवत वह सर्वनन्दिका ही होगा। चूँकि यतिवृषभका समय श० सं० ४०० के लगभग है, इस लिए वे अपनेसे लगभग २० वर्ष पहलेके ग्रन्थका उल्लेख अवश्य कर सकते हैं। इसी तरह यदि कुन्दकुन्द भी यतिवृषभके समकालीन हों जिसकी कि संभावना बतलाई गई है तो उनका भी अभिप्राय उक्त लोकविभागसे ही हो सकता है। लोकविभागमें चतुर्गतजीव-भेदोंका या तिर्येचों और देवोंके चौदह और चार भेदोंका विस्तार नहीं है, यह कहना भी

विचारणीय है। उसके छोटे अध्यायका नाम ही तिर्यक्लोकविभाग है और चतुर्विध देवोंका वर्णन भी है।

‘लोकविभागोऽसु णादत्वं’ पाठपर जो यह आपत्ति की गई है कि वह बहुवचनान्त पद है, इसलिए किसी लोकविभाग नामक एक ग्रन्थके लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता, सो इसका एक समाधान यह हो सकता है कि पाठको ‘लोकविभागोऽसु णादत्वं’ इस प्रकार पढ़ना चाहिए। ‘सु’ को ‘णादत्वं’ के साथ मिला देनेसे एकवचनान्त ‘लोकविभागो’ ही रह जायगा और अगली क्रिया सुणादत्वं (सुज्ञातव्यं) हो जायगी। पद्मप्रभने भी शायद इसी लिए उसका अर्थ ‘लोक-विभागामिधानपरमागमे’ किया है।

ऐसा मालूम होता है कि सर्वनन्दिका प्राकृत लोकविभाग बड़ा होगा। सिंह-सूरिने उसका संक्षेप किया है। ‘व्याख्यास्यामि समासेन’ पदसे वे इस बातको स्पष्ट करते हैं। इसके सिवाय आगे ‘शास्त्रस्य संग्रहस्त्विदं’ से भी यही ध्वनित होता है - संग्रहका भी एक अर्थ संक्षेप होता है। जैसे गोम्मटसंग्रहसुत्त आदि। इसलिए यदि संस्कृत लोकविभागमें तिर्य्यचोके १४ भेदोंका विस्तार नहीं है, तो इससे यह भी तो कहा जा सकता है कि वह मूल प्राकृत ग्रन्थमें रहा होगा, संस्कृतमें संक्षेप करनेके कारण नहीं लिखा गया।

४—लोक-विभागके अध्यायोंके नाम कुछ गलत छप गये हैं। आठवाँ अध्याय अधोलोक, नवाँ मध्यलोक व्यन्तरलोक, दसवाँ स्वर्गलोक और ग्यारहवाँ मोक्ष है।

यापनीय साहित्यकी खोज (पृ० ४१—६०)

१—विजयोदया टीकाके पृ० २ पर नीचे लिखी गाथा उद्धृत की गई है—
धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो ।

देवा वि तं नमस्संति जस्स धम्मे सया मणो ॥

यह दशवैकालिककी सबसे पहली गाथा है। इससे भी निश्चित होता है कि अपराजितसूरि इन ग्रन्थोंको प्रमाण माननेवाले यापनीय संघके थे।

२—गाथा ६ की विजयोदया-टीकामें लिखा है—“संस्कारिताभ्यन्तरतपसा इति वा असम्बद्धं । अन्तरेणापि बाह्यतपोऽनुष्ठानं अन्तर्मुहूर्तमात्रेणाधिगतरत्नत्रयाणां

भद्रराजप्रभृतीनां पुरुदेवस्य भगवतः शिष्याणां निर्वाणगमनागमे प्रतीतमेव । ” यह भद्रराज आदिकी अन्तर्मुहूर्तमें निर्वाण-प्राप्तिकी कथा भी दिगम्बर साहित्यमें नहीं मिलती ।

३—मेदज या मेलार्य मुनिकी कथा, पीछेसे मालूम हुआ कि हरिवेणकृत कथाकोशमें है, यद्यपि उसमें और श्वेताम्बर कथामें बहुत कुछ भिन्नता है ।

४—पृ० ४२ की दूसरी टिप्पणी कहींकी कहीं छप गई है । असलमें वह ‘अनेक भूमिदानादि किये गये थे ।’ इस वाक्यकी टिप्पणी है ।

आचार्य अमितगति (१७२-१८२)

पंडित गोविन्दरायजी काव्यतीर्थके लेख (जैनमित्र, १३ नवम्बर १९४१) से मालूम हुआ कि आचार्य अमितगतिने अपना पंचसंग्रह जिस मसूतिकापुरमें बनाया था वह धारसे सात कोस दूर बगड़ीके पासका ‘मसीद विलोदा’ नामक गाँव है ।

जंबुदीवपण्णत्ति (२५१-२६१)

बारा नगर या बारां (कोटा) का राजा जो ‘सत्ति भूपाल’ लिखा है वह मेवाड़का गुहिलवंशी राजा शक्तिकुमार मालूम होता है । एक प्रतिमें ‘सत्तिभूपालो’ (शान्ति-भूपालः) पाठ भी है । म० म० ओझाजीके अनुसार इस राजाका एक शिलालेख वैशाख सुदी १ वि० स० १०३४ का आहाड़में (उदयपुरके समीप) मिला है । इसके समयके दो लेख और भी मिले हैं, परन्तु उनमेंसे संवत्के अंश जाते रहे हैं । पिछले दो लेख जैनमन्दिरोंमें मिले हैं । बारां उस समय मेवाड़के ही अन्तर्गत था । यदि इसी गुहिलवंशीय या शक्तिकुमारके समयमें जंबुदीवपण्णत्तिकी रचना हुई हो, तो उसके कर्त्ता पद्मनन्दिका समय विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दि मानना चाहिए ।

पद्मचरित और पउमचरिय (२७२-२९२)

१—उद्योतनसूरिने श० सं० ७०० में बनाई हुई अपनी ‘कुवलयमाला कथा’ में पउमचरियके कर्त्ता विमलसूरिके ‘हरिवंशपुराण’ नामक ग्रन्थका भी

१ देखो, राजपूतानेका इतिहास द्वि० भा०, पृ० ४३३-३७

उल्लेख किया है और उन्होंने उन्हें हरिवंशका पहला उत्पादक बतलाया है, अर्थात् हरिवंश-कथापर भी शायद सबसे पहला ग्रन्थ विमलसूरिका ही था—

बुहयणसहस्रदइयं हरिवंसुप्पत्तिकारयं पढमं ।

वंदामि वंदियं पि हु हरिवंसं चैव विमलपयं ॥ ३८

अर्थात् मैं हजारों पंडितोंके प्यारे, हरिवंशोत्पत्तिकारक, पहले, वंदनीय और विमलपद, हरिवंशकी बन्दना करता हूँ । इसमें जो विशेषण दिये गये हैं, वे हरिवंश और विमल-पद (विमल-सूरिके चरण अथवा विमल हैं पद जिसके ऐसा ग्रन्थ) दोनोंपर घटित होते हैं ।

विमलसूरिका यह हरिवंश अभी तक कहीं प्राप्त नहीं हुआ है । इसके प्राप्त होनेपर जिनसेनके हरिवंशका मूल क्या है, इसपर बहुत कुछ प्रकाश पड़नेकी संभावना है । संभव है पद्मपुराणके समान यह भी विमलसूरिके हरिवंशकी छाया लेकर ही बनाया गया हो ।

२—इस लेखमें (पृ० २८५) में हमने लिखा है कि “ अभी अभी एक विद्वानसे मालूम हुआ है कि श्वेताम्बर सम्प्रदायके भी एक प्राचीन ग्रन्थमें भ० महावीरको अविवाहित बतलाया है । ” सो वह प्राचीन ग्रन्थ आवश्यक-निर्युक्ति है । उसमें लिखा है—

वीरं अरिद्धनेमिं पासं मल्लिं च वासुपुजं च ।

एए मुत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो ॥ २२१ ॥

रायकुलेसु वि जाया विसुद्धवंसेसु खत्तिअकुलेसु ।

ण य इत्थिआभिसेआ कुमारवात्तंमि पव्वइया ॥ २२२ ॥

इसके ‘णयइत्थिआभिसेआ’ पदकी टिप्पणीमें लिखा है—“ स्त्री-पाणिग्रहण-राज्याभिषेकोभयरहिता इत्यर्थः । ” अर्थात् महावीर, अरिष्टनेमि, पार्श्व, मल्लि, और वासुपूज्य ये पाँच तीर्थंकर ऐसे हुए हैं कि न इनका स्त्री-पाणिग्रहण हुआ और न राज्याभिषेक । ये क्षत्रियराजकुलोत्पन्न थे और कुमारावस्थामें ही प्रव्रजित हो गये थे ।

महाकवि पुष्पदन्त (पृ० ३०१—३३४)

हमने अनुमान किया था कि आचार्य हेमचन्द्रने ‘अभिमानचिह्न’ नामक ग्रन्थकर्त्ताका जो उल्लेख किया है, वे शायद पुष्पदन्त ही हों । क्योंकि

इनका भी नाम अभिमानमेरु या अभिमानांक है। परन्तु उद्योतनसूरिने अपनी कुवलयमालामें अभिमानाङ्क, पराक्रमाङ्क, और साहसाङ्क नामके तीन पूर्ववर्ती कवियोंका उल्लेख किया है, अतएव संभव है कि हेमचन्द्रका अभिप्राय इनमेंसे पहले अभिमानांकसे ही हो—

अण्णे वि महाकङ्णो गरुअकहाब्धंचितियमईआ ।

अभिमाण-परक्कम-साहसांक वि णएवि इत्तेमि ॥ ३४

वनवासी और चैत्यवासी सम्प्रदाय (३४७—३६९)

मर्करासे भी पहलेका एक शिलालेख साँचीमें मिला है जो गुप्त संवत् ९३ (वि० सं० ४६८-६९) की भाद्रपद चतुर्थीका है। इसमें उन्दानके पुत्र आमरकार देवद्वारा दिये गये ईश्वरवासक गाँव और २५ दीनारोंके दानका उल्लेख है^१। यह दान काकनाबोटके विहारमें नित्य पाँच जैनभिक्षुओंके भोजनके लिए और रत्नगृहमें दीपक जलानेके लिए दिया गया था। यह आमरकारदेव चन्द्रगुप्त (द्वि०) के यहाँ किसी सैनिक पदपर नियुक्त था।

आचार्य शुभचन्द्र और उनका समय (पृ० ४४०—४५१)

पाटनके भंडारकी ज्ञानार्णवकी प्रति जिन सहस्रकीर्तिके लिए पं० केशरीके पुत्र वीसलने लिखी थी, ऐसा जान पड़ता है कि उन्हीं सहस्रकीर्तिका उल्लेख खंभातके चिन्तामणि-पार्श्वनाथके मन्दिरके शिलालेखमें किया गया है^२। उक्त शिलालेख वि० सं० १३५२ का है। लेखकी दाहिनी ओरकी ११ पंक्तियोंका प्रारंभिक अंश खंडित हो गया है। इसलिए पूरे लेखका भावार्थ समझमें नहीं आता; फिर भी इतना मालूम होता है कि उक्त मन्दिरका निर्माण वि० सं० १२६५ में हुआ था, और जीर्णोद्धार वि० सं० १३५२ में जिसके उपलक्ष्यमें उक्त लेख

१ कौपर्स इन्सक्रिप्शन्स इंडिकेरम, जिल्द ३, पृ० २९ और भारतके प्राचीन राजवंश

द्वि० भा० पृ० २६३

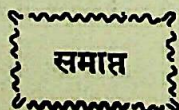
२ देखो, मुनि जिनविजयजीद्वारा सम्पादित प्राचीन जैन-लेख-संग्रह, लेख नं० ४४९

उत्कीर्ण किया गया। उस समय गुरुपदपर यशःकीर्ति गुरु विराजमान् थे। ये सहस्रकीर्तिके शिष्य या प्रशिष्य होंगे। सहस्रकीर्तिका उल्लेख उत्कीर्ण लेखके चौथे आर्या छन्दके उत्तरार्धमें इस प्रकार किया गया है “दिनोदयं स चक्रे गुरुगगनाभ्युदितः सहस्रकीर्तिः” परन्तु इसका पूर्वार्ध नष्ट हो गया है। चौथे पद्यके इस उत्तरार्धके बाद ही यह वाक्य दिया हुआ है—“संवत् ११६५ वर्षे ज्येष्ठ वदि ७ सोमे सजय (ति)।” ऐसा जान पड़ता है कि यह ११६५ नहीं किन्तु १२६५ है और प्रतिलिपि करनेवालेने भूलसे दोके अंकको एक पढ़ लिया हो। यदि १२६५ ही ठीक हो तो उस समय सं० १२८४ में ज्ञानार्णवकी प्रति जिन सहस्रकीर्तिको भेट की गई थी वे यही हो सकते हैं।

इसी लेखमें हुंकारवंशज अर्थात् हूमड़ जातिके सांगण, सिंहपुरवंशज अर्थात् नरसिंहपुरा जातिके जयता और महाभव्य प्रह्लादन इन तीन श्रावकोंका भी उल्लेख है जो मालवेसे, सपादलक्ष (सवालख) से और चित्रकूट (चित्तौड़) से आये थे, साथ ही शामदेव नामके साधु (साहु) भी अपने भाई आभाके साथ आये थे—

अत्रागमत्मालवदेशतोऽमी सपादलक्षादथ चित्रकूटात्
आभानुजेनैव समं हि साधुर्यः शामदेवो विदितोऽथ जैनः ॥ ३१

हमने नृपुरीको मालवेका नरवर होनेका जो अनुमान किया है, उसकी भी इस उल्लेखसे पुष्टि होती है। क्योंकि इसमें उक्त श्रावकोंके मालवे आदिसे खंभा-तमें आनेकी बात लिखी है। नृपुरीमें जाहिणीने जो प्रति लिखवाई थी वह इन लोगोंके साथ आ सकती है और उसकी दूसरी प्रति सहस्रकीर्तिके लिए गोंडलमें लिखी जा सकती है। सहस्रकीर्ति खंभात और गोंडलके आसपास विहार करते होंगे। वीसलने पूर्वोक्त प्रति वि० सं० १२८४ में लिखी थी और यह लेख सहस्रकीर्तिके शिष्य यशःकीर्तिके समयका उससे ६८ वर्ष बादका है।



नाम-सूची

[इस सूचीमें मुख्यतया ग्रन्थों और ग्रन्थकारोंका निर्देश किया गया है। संघ, गोत्र, स्थल, क्षेत्र, राजा और आचार्य आदिके नामोंका भी समावेश किया है। यदि किसी लेखमें किसी ग्रन्थ या ग्रन्थकारका नाम बार बार आया है, तो वहाँ पृष्ठांकके बाद इ० (इत्यादि) लिख दिया गया है।]

अकबर २४६, ४९८

अकलंक ६६, ६९, ७०, ७४, ९७,
१०३, १०८, १०९, ११३, ११६,
३२५, ४०५, ४४२, ४५९, ४६५-
६६, ४७९-८०, ५३७

अकालवर्ष ७५, ८७, २३६, ३२१,
४९९, ५१४-१६, ५१८, ५१९ इ०

अगरोहा १७३

अगल ११०

अग्निपुराण २७७

अग्निमित्र २०, ५५८

अग्रवाल ३४

अग्रोतक (अग्रवाल) ३४

अचलपुर २०८-९, ३२६, ३७१

अज ७३

अजयवर्मा १३५

अजरामर ३८५

अज्जदेव ३८५

अज्जवइर १६२

अजितसेन १५५, २९४-५-६, ३९८,
४१३, ४५४, ४७८

अजितंजय ८, १९, २१

अजिलवंश २३५

अणहिल्लपुर ४७०

अण्ण २९३, ३८५

अण्णय्या ३१६

अद्भुत रामायण २७७, २८०

अध्यात्म-तरंगिणी ३६, १७८, ५२९

अध्यात्म पद्य-टीका ५३३

अध्यात्म-मत-परीक्षा १५३

अध्यात्म-रहस्य १३२, १३५, १३७

अध्यात्म रामायण २७७

अध्यात्माष्टक ४०४

अध्यात्माष्टसहस्री ५३२

अनगार-धर्माभूत ३६, ५३, ९८, १०३,
११२, १३२-३४, १३६-३७,
१४३, ३६१, ४५७, ४५९, ५४८

अनगार-टीका ३१, १३७

अनीश्वरवाद ५६२ इ०

अनेक स्तोत्र ५३३

अनेकान्त जयपताका १६४

अनेकार्थ नाममाला ४६५

अनंगकुमार २०१

अनंतकीर्ति ३४२, ४५२

अनंतपाल ४७०

अनंतवीर्य ९९, ४०५

अपराजित १५, २५५

अपराजित सूरि २३, २९, ३१, ३२,
४०, ४३, ४५, ५०, ५६, ५७,
१३५, ५४६

अपशब्द-खंडन ५३३

अपापापुरी १८९

अपिशली ९३

अबूहसन कुतुबशाह २३०

अमय १९०, १९१

अमयचन्द्र १५१, १५५, २९९

अमयदेव ५३६

अमयनंदि ११, १००-२, १०४-८,
११०-१, ११४, ११६, २८६-७

अमयसेन ४२२

अभिनंदनदेव-कल्प १३९

अभिमानांक ५७३

अभिमानचिह्न ३१५, ५७१

अभिमानमेरु ३१०

अभिषेकपाठसंग्रह १३६

अब्जुअ ३८५

अमर ९३

अमर १२७

अमरकीर्ति १७६, २१९-२०, २७५

अमरकोश १२९, १३५

अमरकंटक २०५

अमरचंद ३०, ५९, २२४

अमरसेन १७६

अमरशतक १३३, १४०, १७९

अमलकीर्ति ५२५, ५२६

अम्बरसेन १७२

अम्मइय ३०८, ३२१, ३७६

अमितगति (प्रथम और द्वि०) २३,
३२, ३६, ३७, ३९, ४०, ५८,
१३५, १७२ इ०, २५२, २७५,
४४७, ४६३, ५४५, ५४७

अमितगति-श्रावकाचार १७७

अमितसेन ४२२, ४२८

अमृतचन्द्र ४४२, ४५६-७ इ०

अमृताशीति ५२५

अमोघवर्ष ७५, ७६, ८७, १२२,
१५४, १६०-१, २३६, ३२२,
३२५-६, ५०४, ५१५-६, ५१७,
इ० ५१९ इ०

अमोघवृत्ति ४४, ४५, ५७, ११८,
१५०, १५३-५, १५७-९, १६१,
५१८

अय्यपार्य २६५-६

अरिकेसरी ७५, ७६, ७८, ८६, ८७
८८, ३१६, ३२८, ३५९

अरिद्वनेमिचरिउ ४२, ३२५

अरुंगल ११, ५५, ३९६, ४७८

अरुंगलान्वय ११

अर्ककीर्ति ५४, १६१, ५१७

अर्जुनदेव १७२

अर्जुनराज २६६

अर्जुनवर्म देव १३२, १७९

अर्जुनवर्मा १२९, १३०, १३३-४
१४०-१

अर्जुरिका ११२, १३८

अर्थशास्त्र ६१, ६४, ७२, ८१, ८३
५४८

अर्बुदाद्रि १८९
 अर्हप्रतिष्ठाक्षण १२३-४
 अर्हत्सेन २७३
 अर्हदत्त १६
 अर्हदत्त ५३
 अर्हदास १४१-३
 अर्हद्वलि ८, ४२३
 अर्हन्मुनि २७२-३
 अलक्तक ३५८
 अलाउद्दीन २४२
 अल्हण १४१
 अवन्ति (चंडप्रद्योत) १९
 अवन्ति देश १३९
 अविनीत ११, ११६, ३५९
 अष्टपाहुड-पंजिका ३३९
 अष्टशती ७०, २६७
 अष्टसहस्री २८, १०७, ५३१
 अष्टसहस्री टिप्पण ४७८
 अष्टापद १८८
 अष्टांगहृदय १२९, ४८३
 अष्टांगहृदयोद्योतिनी टीका १३६
 अष्टाध्यायी १५०
 अहिच्छत्रपुर ४८३
 अंकलेश्वर ११०
 अंग २०१
 अंगवद् ३८५
 अंगपण्णत्ति ५३३
 अंगारगण ३८४
 अंगुत्तरनिकाय ५५१
 अंचलगच्छ २३१
 ३७

अंजनगिरि २३४
 अंजनापवनंजय २६३-४, २६६
 अंतरीक्ष २००, २२६
 अंतरीक्ष पार्श्वनाथ २२७
 अंतिग ३२३
 आइच्चम्बा ३७४, ३७६
 आचार-दिनकर ५६१
 आचार-प्रणिधि ४७
 आचार-वृत्ति ४६३
 आचार-सार ८०, ९८, ११३,
 ४५५
 आचारांग (सूत्र) ३०, ३२, ४७,
 ४८, ५९, ६०, ३५०
 आत्मप्रबोध २६२
 आत्मानुशासन २६३, ४९८, ५११
 आत्मानुशासन-तिलक ३३९
 आदित्यमत ७२
 आदिपुराण ४, २५, २६, ७६,
 ८९, १११, १२०-१, १६४,
 २६१, २६६, २८२, ३१२,
 ३३७, ३३८, ३७६, ३८७,
 ४२१, ४३१, ४७८, ५०१,
 ५०७ इ०, ५१०, ५३६, ५६१
 आदीश्वर-फाग ५३०
 अन्वीक्षिकी ८५
 आनर्तपुर १९१
 आनंद रामायण २७७
 आपली संघ (देखो यापनीय संघ)
 ३७१
 आपुली संघ ३७४

आत्ममीमांसा ४७८, ५३१
 आपिशल ७२
 आबू २२६, २४७
 आमा ५७४
 आम २४३
 आंबा २३०
 आरातीय ३१
 आराधना (भगवती) २३ इ०,
 ५६, ५७, ५९, १५३, १७७,
 ४३५
 आराधना-कथाकोश २५, ३३९,
 ४०६ ४१०, ४३४ इ.
 आराधना-कथाकोश २५, ३३९,
 ४०६, ४१०, ४३४ इ०
 आराधना टीका ३२९
 आराधना-दर्पण ३९
 आराधना-पंजिका २३, ३३ इ०
 आराधना-सार १३५, १७१
 आराधना टीका १३५
 आर्द्रदेव ४७२
 आर्य नन्दि ४२१, ४९७-८, ५०१
 आर्य भट्ट २५१
 आर्य मंक्षु ६-८, १२, १३, ५६८
 आर्य मंगु ६, ८, ५६९
 आर्यसेन २९५
 आर्हत ८५
 आलाप-पद्धति १६५
 आवश्यक ४४, ४५, १५३, २८३
 आवश्यक-निर्युक्ति ५७, ५८, १२७,
 १५२, ५७२
 आवश्यक सूत्र ९४, ५५८

आशाधर २३, २४, ३१, ३२, ३६,
 ३८-४०, ५२, ५८, ९८, १०३,
 ११२, १२१ इ०, १७२, १८७,
 १९४, २००, २६५, ३६१-२,
 ४०९, ४१७, ४५७, ४६३, ४८३,
 ४८८, ४९०, ५३३, ५४०, ५४७

आसकरण २३१

आसार्य ४१४

आहवमल्ल ३९९

आहाङ्ग १८०, ५७१

इत्तिग ११८

इन्द्र २०, ७२, ७६, ९३, ११२, १२७,
 १२८, १६२, २७३, ३०८, ३२३,
 ३८६

इन्द्रनन्दि ६-८, १०, १२-३, १६,
 ५५, २५५, २६५, २९६-७, ३६०,
 ४१५-६-७, ४२२, ४९७, ५६८

इन्द्रपुर १९

इन्द्राय ३२१

इन्द्रसेन २७३

इन्द्रायुध ४२४-६

इब्राहिम ३३६

इमडि भट्टोपाध्याय ४१७

इमदा नगरी २३८

इम्मडि भैरव २३५

इरुगदंडनाथ ५०६

इलिन्दिकुट ८७

इलोरि २३८

इष्टोपदेश १२१, ४५०

इष्टोपदेश-टीका १३५, १३७

इसहल ३८५
 ईदलशाह २३७
 ईशान ३२५, ३७१
 ईश्वरकृष्ण ११८-९
 ईश्वरसेन ४२२
 ईषत्प्राग्मार २९५
 उग्रादित्य १२२, २१२
 उज्जयिनी १८०
 उज्जयन्त २४५
 उत्तरपुराण ३९, १७४, १९२, १९४,
 २००, २०७, २१५, २१७, २५५,
 २७८, २८०-२, २८५, ३१२-३,
 ३२१, ३२७, ३३६, ३३८, ३८७,
 ४२१, ४९६, ४९९, ५०२, ५०९,
 ५१३ इ०
 उत्तराध्ययन ३२, ५०, ५१, १५३
 उदय २०१
 उदयकरण २३१
 उदयदेव ८८, १४१, ३५९
 उदयनराज २६६
 उदयपुर (ग्वालियर) ३२८
 उदयभूषण २६०
 उदयसेन १३०, १३७
 उदयादित्य ३२८
 उद्योतनसूरी २७३-४, ४२६, ५३८,
 ५७१
 उपदेशमाला-कर्णिका ९३
 उपदेश-सिद्धान्त-रत्नमाला ३५४
 उपनागर ३०५
 उपनिषत् २६७

उपासकाचार १७७, ४६३
 उपासकाध्ययन ३६
 उपेन्द्र ३२३
 उब्मट ३८५
 उमास्वाति १२१, ४५७
 उमास्वामि १७३
 उर (नदी) १९३
 उर्व ७१, ७८
 उशना ६२
 ऊखलद २३०
 ऊन १९३
 ऊर्जयन्त १८८, २१७
 ऋष्यद्वि २०१-३, २१५, २१७
 ऋषभपंचाशिका ४६९
 ऋषभदेव-चरित ४८७
 ऋषभदास ४९२
 ऋषिगुप्त ४२२
 एकत्वसप्तति ४५५, ४९६
 एकशैल २६५
 एकसंधि २६५
 एकीभाव (स्तोत्र) ३९६, ४०१, ४०३
 एचण २९५
 एयण ३१६
 एरेगितूर ५३
 एलगराय २२७
 एलाचार्य ५०१, ५१५
 एलोर (रा) १९९, २३८
 एहोले ५०७
 ऐन्द्र ९३ इ०, १२६-८, ४३१, ५३२
 ओडयदेव ४७७

ओसाबुदगिरि २२९, २३०
 ओकारेश्वर २०६
 औदार्य-चिन्तामणि ४०९
 औरंगाबाद २३८
 औशनस ८१
 औह ५४२
 कचनेर १९८
 कट्टगा ३९९
 कट्टगेरि ३९९, ४००
 कट्टाकूर ८७
 कण्ठ ७१
 कण्ह ३३२
 कण्हराय ३२१, ३२६
 कणाद ३२५
 कथाकोश २६, ४२१, ४२३, ४२८,
 ४४६
 कथामकरंद ३०२
 कदम्ब ४१, ११९, १६१, २५०
 कनककीर्ति १९८, २१२, २२०
 कनकगिरि २३३-४
 कनकनन्दि २९६, २९८
 कनकप्रभ ९९
 कनकसेन २०४, २३३, ४०५,
 ४१३, ४१४
 कनकामर ३७३
 कन्धारपुर ३२२
 कन्हड ३३२
 कपिल ३२५
 कमलभद्र ४५४
 कमलश्री १४१, ४१६

कमलसागर २६८
 कमलिनी १२३
 करकण्डुचरित ३७३, ५३३, ५४३
 करहिडा २३८
 कर्क ७६, ३१५, ३२०, ३२४
 कर्कराज ४२७
 कर्णकुब्ज ७७
 कर्णसुन्दरी नाटिका १४०
 कर्णाटक १४३
 कर्दम ८८
 कर्नाटक (करनाटक) २२८, २३१
 कर्पूरमंजरी ७७, ४७४
 कर्मदहन विधान ५३३
 कर्मप्रकृति भट्टारक ४५४
 कलचुरि १८०
 कलश १४०
 कलाप ५३२
 कलापुराण ३८५
 कलिकुंड पार्श्वनाथ २३८
 कलिंग ८६, २१३
 कलिंगारण्य २०८
 कल्कि ८, १९, २०, २१
 कल्प (बृहत) ४८
 कल्पव्यवहार ५९
 कल्पसूत्र ८, ९३, १६२, १८९, २४१
 कल्पसूत्रस्थविरावली १५
 कल्याण ४१, २२९, २३०, ३९९
 कल्याणकारक १२२, २१२
 कल्याणी २३०
 कविचन्द्र ४८९

कविपरमेश्वर २८२, २९६, ४२१

कविपरमेष्ठी ४२१

कविराजमार्ग ५१८, ५२३

कषाय-प्राभृत ६-८, १२, १३, २९९
५०३, ५६८

कषाय-प्राभृत (प्रायोदोषप्राभृत) १२

कंकाली टीला २४१

कंदर्प ४१६

कंस २५५

कंसार २३८

कंसार्य १६

काकोपल ३५८

काञ्ची २, २५

कातन्त्र १५५

कात्यायन ७३, १०४-५

कादम्बरी ६७, ३७६, ४७७

कान्यकुब्ज ७७, ७८

कामचंडालिनीकल्प ४१६

कामंदक ६२, ६३, ६४

काममहानर (प्रद्युम्न) १८३

कायस्थ ४७२

कारकल ८०, २३५, २४६

कार्तिकेय ४३४

कार्तिकेयानुप्रेक्षा ५३२-३

कालापक १२७-८

कालिक सूत्र १५२-३

कालिदास ७१, ७८, १५१, २१२, २६८

३८५, ४४१, ४५१, ४९२, ५०६-७,

५५०

कालिंजर ३२२

काव्यप्रकाश ४०२

काव्यमीमांसा ४३, ७६, १५४, ३०१,
४६५

काव्यानुशासन ४८६

काव्यालंकार १२९

काव्यालंकार-टीका १३६-७

काशकृत्स्न ९३, १२७

काशिका ९७, ११८

काशी २५

काश्मीर १४०

काष्ठासंघ १७०, १७३ इ०, १८४,
२५५-६, ३३६, ३४०-१, ३४४,
३५७-८, ३८०, ४६०, ५००, ५३४

कासार बोगार ५५५

काहत्याक ३३

किचूर ११, ५५, ४२२

किचूरान्वय ११

किरातार्जुनीय ११६, ३८६

कीर्तिचन्द्र ४७४

कीर्तिनन्दि ३२, ५३, १६२

कीर्तिपुर ५५

कीर्तिवर्मा २६७, ४२७

कीर्तिषेण ४२१, ४२२, ४२८

कीर्तिसागर २६८

कीर्तिसिंह ३८०, ५३४

कुतुबशाह २३०

कुमर नगरी ३७९

कुमार ७१, ७८

कुमारअत्त ३८५

कुमार कीर्तिदेव ५४

कुमारगुप्त ४४१
 कुमारनन्दि ३२, ५३, ५६, १२६,
 १६२
 कुमारनारायण (नवसाहसांक) १८०
 कुमारपाल ४४८, ५२३
 कुमारपाल-प्रतिबोध १९०
 कुमारपाल रास ४९२
 कुमारसंभव ३८६
 कुमारसेन १२१, १७३-४, ३४१,
 ४३१, ५००, ५०१, ५३७
 कुमार सोम ३८५
 कुमारिल ७२
 कुमुदेन्दु ५३४
 कुरुजांगल ३३६
 कुरुवंश ३८०
 कुलधर ३४
 कुलभूषण १७५, २१०
 कुलपाक्ष १९६
 कुलपाकपुर २३१
 कुल्लूक भट्ट ८२
 कुलोत्तुंग ४८२
 कुल्पाक १९६, २३१
 कुवल्यमाला २७३, ४२६, ५३८,
 ५७१
 कुसीनारा १८९
 कुँअरपाल ३६८
 कुंकण २२८
 कुंडकुंडपुर १०, १२
 कुंडल २०१
 कुंडलगिरि १४, २००

कुंतिमोज १३९
 कुंथुगिरि १८९, २१० इ०
 कुंद ३४, ३५
 कुंदकुंद ९-११, १३, १४, ५१,
 १७०, १८७, २४५, २५४, ३४२,
 ३४४, ३४५, ४०७, ४५७, ४७६,
 ५०१, ५३७, ५६९
 कुंदकुंदान्वय ११६-७, ३५७ इ०
 ३५९, ३६०, ५२९, ५४२
 कुंदव्वा ३१६
 कूचि भट्टारक २८२, २९६
 कृष्ण २१९, ३०५, ३२३, ३५९,
 ४२४, ४२५, ४२७, ४९९, ५१९
 कृष्णमिश्र यति २६७
 कृष्णराज (देव) ७५, ८७, ८८, ८९,
 २१७, २२०, ३१६, ३२१, ३२६
 केल्हण १४१
 केवलिभुक्तिप्रकरण ४३
 केवलिभुक्ति-स्त्रीभुक्तिप्रकरण १५३
 केशवभट्ट ३०१, ३०३
 कैलास १८८, १९०, २१७
 कोटिशिला २१२ इ०
 कोटिशिलाकल्प २१३
 कोपरग्राम १९७
 कोल्लपाक-माणिक्यदेवतीर्थकल्प १९६
 कोले १२३
 कोहल ३२५
 कोहंत ३८५
 कोंगणि ११
 कोंगुणि वर्मा २३३

कौडकुंड १४
 कौडकुंदपुर ११
 कौडकुंदान्वय ११
 कौटिलीय ८३, ५४८
 कौणपदंत ६२
 कौल ४४०
 कौडकुंदान्वय ३५८
 क्रियाकलाप १२१, १३५, १३७,
 १८७, १९३, १९४, २०५
 क्रियाकलाप टीका ३३९
 क्रीडापर्वत ४९५
 क्षत्रचूडामणि ४७७
 क्षत्रिय १६, २५५
 क्षपणसार २९८, ५३२
 क्षमाकल्याण ३१४
 क्षेमकीर्ति ३५, ५४२
 क्षेमहंस ४८६
 क्षेमेंद्रकीर्ति १९५-६-७-८, ४३९
 क्षेमेंद्रयश १९६
 खगेंद्रमणिदर्पण १२२
 खजराहा २०४
 खपुटाचार्य १९०, २४९
 खंड ३०६
 खंडलक ४९, ५०
 खंडेलवाल १४१
 खंभात २०५
 खारवेल २०, ५२३, ५५७-८
 खेतल ३४
 खेला साहु ३३२
 खोट्टिगादेव ३१५, ३२०-३२२,
 ३२७-३२८

गजपंथ १८६, १८९, १९४, १९६,
 १९७, १९९, २१७
 गजपंथाचल मंडलपूजा १९६
 गजपंथमंडलविधान १९८
 गणतंत्र १८९
 गणधरवल्लयपूजा ५३३
 गणरत्नमहोदधि ९९, १५९, २६२
 गणिततरंगिणी ३०४
 गणिततिलक ३०३
 गणितसार-संग्रह ५१८, ५२१
 गणेश ४८६
 गद्धव्या २०
 गद्यचिंतामणि ४७७
 गर्ग ७३
 गर्दभिल्ल २०, ५५८
 गलकुंड (गोलकुंडा) २३०
 गंगदेव १६, २५५
 गंगधारा ७५
 गंगवंश ३२, ५३, ११६
 गंगवाड़ी २३५
 गंजीकोट २३१
 गंडरादित्य ११२, १३८
 गंधर्व ३३२-३, ३७७
 गंधार २४७
 गाथा-सप्तशती ५५७
 गांगमुनि ४१६
 गिरनार १८८, १९०, २००, २४१,
 ३४१
 गिरनार २४२
 गिरीशेंद्र २१५

गुडिपत्तन २६१, २६४
 गुणकीर्ति ३८०, ५२८-९, ५३४
 गुणचंद्र ११, ११६
 गुणधर ७, ८, १२, १३, ५०३
 गुणनंदि ११, ९७, १००, १०२, १०५-
 ६, १११-११६, १२६, २९७, ४१६
 गुणपाल ४७०
 गुणमट्ट १२३, १२४
 गुणमद्र (म०) १७४, १९२, २१६-७,
 २३६, २५५, २६१, २७८, २८०,
 २८२, २९६, ३२७, ३३६, ३७६,
 ३८०, ३८७, ४२१, ४५३, ४९६,
 ४९७ इ०, ५३४
 गुणमद्रकीर्ति ५३४
 गुणरत्नसूरी ४४
 गुणवर्म ३१४, ३२१
 गुणसेन ४५४
 गुणहर ३८५
 गुणाकरसेन १७५, १८३
 गुणाढ्य ७१, ७८
 गुप्त १८, १९
 गुरु ६३, ७२
 गुरुदत्त २०८
 गृध्रपिच्छ १११
 गोहृद ३८५
 गोकर्ण ४४३
 गोप्रहकथा ३७२
 गोडी (पार्श्वनाथ) २२६
 गोतमगोत्र १५, ७३, १६२
 गोदीवाई १९५

गोपगिरि २४३
 गोपाचल २००, २०५, ३८०
 गोपुच्छक ३४१
 गोप्य ४१
 गोमंडल (गोंडल) २४३, ४४६
 गोम्मट २९३
 गोम्मटसार १६२, २९३, २९७, ४५८,
 ५३२
 गोम्मटसंग्रह सूत्र २९३
 गोम्मटस्वामीपुर २३४
 गोल ८९
 गोल्ह ८९
 गोल्हदेश ८९
 गोल्हाचार्य ८९
 गोवर्धन १५, २५५, ३२५
 गोवर्धनदास ५४२
 गोविंद (राज) ७६, ११५, ३७५,
 ४२५-६, ५१५, ५१७
 गोविंदमट्ट २६०, २६१, २६४
 गोविंदराज १६१, २९४, ४३०
 गोहिल ३४
 गौड ८९, १४१
 गौडसंघ ८६, ८९
 गौतम ३९६
 गौतमीपुत्र ५५७
 ग्यासुद्दीन ५४२
 ग्रहिल ७३
 चउसुह ३८५
 चक्रायुध ४२५, ४२७
 चतुर्थ २३८, ५५५

चतुर्मुख (कल्कि) १८

चतुर्मुख (कवि) २०, ३२५-६,
३७० इ०

चतुर्विंशतिप्रबंध १३८, १४२-३

चतुर्विंशदधिक-द्वादश-

शतोद्यापन ५३३

चरक ७०

चर्चासंग्रह ३५, १९७

चलना १९२

चंजाउरी २३१

चंजी २३१

चंडरसा ७३

चंदण ३८५

चंदन १९२

चंदन कथा ५३३

चंदप्पहचरित ३८०

चंदराअ ३८६

चंदेल १९३, २६७

चंद्र ७२, ९३, ११२, १२७, २०२

चंद्रकीर्ति १७६, ३४४, ४०१, ४५४

चंद्रगिरि २९४

चंद्रगुप्त १५, ६२, २३३, ४२१,
४३५, ४४१, ५७०

चंद्रगोमि ९९

चंद्रनंदि ११, ३१, ३२, ५२, ५३,
५६, ११६-७, १६२, ३५८-९

चंद्रनाथ २६१

चंद्रप २६१-२

चंद्रप्रज्ञप्ति १७९, २५२

चंद्रप्रमचरित ११०, १११, २९७,
३००, ४८८, ५३३

चंद्रय्य १२३

चंद्रवंश ८६

चंद्रसेन ४९८-९

चंद्रिका १०२

चंद्रोदय १२१, ४३१

चंपापुर (री) १८८, २००, २१७

चाणक्य ६२-६४, ४३४.

चांद्र ४३१

चांद्र कुल १२७

चामुंडराय ३, १८४, २३३, २८२,
२९३ इ०, ४१३

चामुंडराय पुराण २८०, २९९

चामुंडराय वस्ति २९५

चारणगिरि २३८

चारायण ७०

चारित्रसार २९६

चारुकीर्ति ११५, १५९, २३४

चालुक्य (सोलंकी) ७५, ७८, ८६, ८८

चावडावंश ४२८

चिकाकोल २३१

चिकाचार्य ३५८

चिक्रदेव १५९

चित्रकर्म ७२

चित्रकूट ५१५, ५३०

चित्रगढ़ २३६, ५१५

चित्रबंध-स्तोत्र ५३४

चिदानंद १५९

चिंतामणि १५४

चिंतामणि (प्राकृत-व्याकरण) ५३३

चिन्तामणि टीका १५५, १५८

चिंतामणिमीमांसा-विवरण ५३१
 चिंतामणि-यंत्रपूजा ५३३
 चूडामणि निघण्टु ४९९
 चूर्णटीका १२
 चूर्णिसूत्र १३
 चूलगिरि २०६, २०७ इ०, २१७
 चूलदुक्खक्खंधमुत्त २०३
 चेदी ३२२
 चेल ७५
 चेलप्रज्ञापना ५०
 चेल्लध्वज ५१९
 चैत्यक २०३
 चैत्यवासी ३४७ इ० ५७०
 चोरपंचाशिका १४०
 चोल ७५
 चौलुक्य ४२९
 चौहान १४३
 छद्म ३८५
 छक्कमोवएस २१९, २७५
 छत्रत्रयपुरी २६१
 छंगे साहु ३३२
 छंदोनुशासन ३८७
 छाहड १३१, १३२, ४८३
 छेदसूत्र ४४, ४५, १५२, -३
 जगत्तुंग ११५, ३२२, ५१६
 जगद्भूषण १९७
 जगन्नाथ ४०२
 जटा-सिंहनंदि १९१, ४२०, ४३१
 जटिल मुनि २७३
 जमणाण्ड ३८५

जनानंदि ११, ११६
 जनाश्रय ५२५
 जय १६
 जयकीर्ति ५२५ इ०
 जयचंद २२४
 जयता ५७४
 जयचंद्र ४५०
 जयदेव ४१४, ५२५
 जयधवल (ला) ७, १३, २०२,
 ३२५, ३७६, ४४२, ५००, ५०१,
 ५०३, ५१२, ५१८, ५६८
 जयनंदि ३९, ४०
 जयनाग २५५
 जयपाल १६
 जयराम १७७, ४०२
 जयवराह ४२४, ४२६-७
 जयंत भट्ट ३०३
 जयसिंह (सूरि) १३४, २५०, २६२,
 २७३, ३१३, ३३८, ३९८, ३९९
 ४२७, ४५२, ४८५, ५२६
 जयसेन १७५, १८३, ४२२, ४५८,
 ५०१
 जयहेम १२७
 जयादित्य ११८
 जल्पनिर्णय १२०, १२१
 जवालिपुर ४२६
 जसकित्ति २७९, ३८०
 जसदेव २४९
 जसहरचरित ३१४ इ०, ३३०
 जंबूस्वामी (चरित) २५५, ४९८
 जंबूदीवपण्णत्ति २५१ इ० ५७२
 जंबूदीपप्रज्ञप्ति १७९, २५२

जाजाक १४१
जातक पद्धति ३०३
जानोजी २३०
जाहिणी ४४५-४४६, ५७४
जिणआस ३८५
जितदंड ४२२
जिनकांचि २३१
जिनचंद्र २४६
जिनदत्त ३५४
जिनदत्तचरित्र ५११
जिनदास शाह ५३०
जिननंदि २४, २९, ५६, ३५८
जिनपति ३५४
जिनपालित ८
जिनप्रभसूरि १३९, १८६, १९६,
२०८, २१३
जिनप्रमितवाक्शास्त्रे ९८
जिनभद्रसूरि ५४३
जिनमती २३४
जिनयज्ञकल्प १३२, १३४, १३६,
१३७, १४१, ४६३
जिनवर्धन ४८६
जिनवल्लभ ३५३-४
जिनशतक ४६१ इ०
जिनसहस्रनाम १३१
जिनसहस्रनाम-टीका ४०९
जिनसंहिता ५३४
जिनसागर सूरि ५४३
जिनसेन (प्रथम और द्वितीय) १९
२५, २६, ३०, ८९, ९७, ११३,
१२०, १२१, १६१, १७३, २०२,

२६१, २६६, २७३, २८२, २९६,
३२५, ३७६, ३८७, ४१३, ४१७,
४२० इ० ४३१, ४३६, ४४२,
४४६, ४५२, ४६६, ४७८, ४८०,
४८७, ४९७ इ० ५३४, ५३७-८,
५५८, ५७१
जिनामिषेक १३६
जिनेन्द्रकल्याणाम्युदय २६५
जिनेन्द्रबुद्धि ९६, ९७
जिनेश्वरसूरि ३५३
जीउदेव ३८५
जीतकल्प २९, ५०, ६०
जीदकम्प ६०
जीवकचिंतामणि ४८२
जीवसिद्धि ४३०, ४५२
जीवंधर चम्पू ४७२
जीवंधर-चरित्र ५१४
जैतुगिदेव १३४
जैनबद्री
जैनामिषेक ९६, १२३
जैनेन्द्र ७२, ४३१, ५३२
जैनेन्द्र व्याकरण ७०, ९३, इ० १३७,
३३९
जैनेन्द्र न्यास १०७, १२२
जैनेन्द्र प्रक्रिया १०५, -६, १११, ११४
जैनेन्द्र महाव्याकरण १३८
जोल ७५
जोहअ ३८५
ज्ञातृवंश ५५३
ज्ञानदीपिका १३४
ज्ञानप्रबोध २५४

ज्ञानभूषण १, २६८, २७०, ४८४,
५२७ इ०

ज्ञानसागर ४०९

ज्ञानसूर्योदय २६७

ज्ञानलोचनस्तोत्र ४८९

ज्ञानार्णव ९८, १२२, ३८०, ४०९,
४४०, ४४२, ४४६-७ इ०, ४५६,
४५८, ५३४

ज्ञानेश्वरी ३०५

ज्योतिः प्रभाकल्याण नाटक ४९६ इ०

ज्योतिषरत्नमाला ३०३, ३०५

ज्वालामालिनी कल्प ३६६

ज्वालिनीकल्प ४१५

टीकमगढ़ १९३

टोडरमल्ल ८२

ठक्कुर (गंधर्व) ३३२, ४५७

ढाढसी गाथा ४६०

ढाढसी मुनि ४६०

ढूँढक (स्थानकवासी) ३६७

णागह ३८५

णायकुमारचरित ३१४ इ०

णायधम्मकहा ५५३

ण्डिण ३८५

तक्षक ९६, १२७

तगरिल ५५

तत्त्वज्ञानतरंगिणी ५३०

तत्त्वनिर्णय ५३३

तत्त्वभावना १७८

तत्त्वसार १७१

तत्त्वार्थ १२८, २९६

तत्त्वार्थ-टीका २९, १०७

तत्त्वार्थत्रयप्रकाशिका ४०९

तत्त्वार्थ-राजवार्तिक १०३-५

तत्त्वार्थ-वृत्ति ४०८

तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक १०२

तत्त्वार्थसार ४५७

तत्त्वार्थ सूत्र २८, १२१, ४५७

तत्त्वार्थ टीका ९८

तपागच्छ ८, १५, १९, १६२, २२५
२४६

तवनिधि २३८

तंजौर २६४

तारउर १८९, १९०, २१५

तारवर २१७

तारंगा १९१

तारापुर १९१, २४९

तालवहेट १९३

तिमि ७०

तिमिर १२६

तिरुत्तकदेव ४८२

तिलकमंजरी ६७, १७२, १८०, ४६९
४७७

तिलकमंजरी-कथासार ४६९

तिलिंग १९६

तिलोअण ३८५

तिलोयपण्णत्ति ५ इ०, ६२, १६२,
१८८, २०२, २५२, २८०, २९८
५६८-९

तिलोयसार-टीका २९९

तिसङ्गिमहापुरिसगुणालंकार ३१२

तीर्थमाला १८८, १९८, २०१, २०७
 २२५, २४६
 तीर्थार्चन-चन्द्रिका २१६
 तुडिगु ३२१, ३२२, ३२६
 तुलु (व) ४२, २३४
 तुंगगिरि २३८
 तुंगी १८९, १९९
 तुंगी गिरि १९९ इ०, २००, २१७
 तुंबलूर १२
 तुंबलूराचार्य १२
 तेजपाल २१८-२०, २५०
 तेरापंथ ३५९, ३६६ इ०
 तेरहपंथ खंडन १९७
 तैलप १८०
 तैलंग २३०
 तैलिपदेव १८४
 तोमरवंश १९२
 त्रिपुरी १८०
 त्रिमंगी २९८
 त्रिभुवन ३७५ इ०
 त्रिभुवनतिलक ११२
 त्रिभुवन स्वयंभु ४२, ३७० इ०
 त्रिलोकप्रशस्ति २५३, २५५, ५३२,
 ५३४, ५५८
 त्रिलोकसार २९५, २९७, २९८
 त्रिवर्गमहेन्द्रमातलिसंजल्प ७१, ८८
 त्रिवर्णाचार २६२, ४९६
 त्रिविक्रम ४०९
 त्रिषष्टि-लक्षण-महापुराण ३, २८२,
 २९६

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित २७९
 त्रिषष्टिस्मृति १३७
 त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र १३४, १४१, २००
 त्रि० स्मृ० सटीक १३६
 त्रिंशत्चतुर्विंशतिपूजा ५३३
 त्रैलोक्यदीपिका ४०४
 त्रैलोक्यसंग्रह ४
 त्रैलोक्यसार ३, ५, १८, ५३२
 त्र्यंबक १९९
 थेरी गाथा ५५१
 दक्षिणकुक्कुटजिन २९४
 दक्षिणमथुरा ५५, ११७
 दक्षिणापथ १५
 दयाचंद्र ३५
 दयापाल १५१, १५५, ३९८, ४०५,
 ४५४
 दरियूर ८७
 दर्पण ३६
 दर्शनसार ३६, ४१, ४४, ११७, १६५,
 १६७, १७०, १७१, १७३-५,
 ३४१-२, ३५५, ३५८, ३६७, ४००,
 ४०१, ४६०, ५००, ५३८
 दशमक्ति १२१, २३३, २३५
 दशरथ ४६४
 दशरथगुरु ५००, ५०१, ५०९
 दशरथ जातक २५८
 दशरूपावलोक टीका १८०
 दशलक्षणोद्यापन ५३०
 दशवैकालिक ३१, ४३-५, ४७, ५२,
 ५३, ५७२

दशार्ण (मिलसा) ७३, २१३

दंगइय ३२१, ३७६

दंडकारण्य २०८

दंडात्मक २१७

दंडी ३७१, ३८६, ४८७

दंति ३७२

दंतिग ३२२

दंतिल ३२५

दादा पार्श्वनाथ २१८

दानशासन ३६५

दिग्वल्ल ९९

दिङ्नाग ४८०

दिलसुख ३५

दिवढासाहु ३८०

दिवाकर २७३, ३८४, ४९९

दिवाकरसेन २७३

दीपसेन ४२२

दीपंगुडि २६४-६

दुग्गसत्ति ३८५

दुग्गसीह ३८५

दुर्गराज ४३०

दुर्लभदेव ३५३

दुर्लभसेन १७५

दुर्विनीत ११६

दृष्टिवाद ३५३

देपाल ४७६

देव ९७

देवकीर्ति ३३, ३४

देवगाढ़ २०४

देवगिरि १९८, २३८

देवचंद्र २५, १४०, ५२९

देवनंदि ७०, ९३ इ० ९५, १२८,

४३१, ४६५, ५३८

देवपाल १३४

देवर ४६४

देवरवल्लभ २६०

देवराय २३२

देवर्षि ४६८

देवल्ल ३२१

देवसंघ ६५, ८८, ८९

देवसूरि ४८५

देवसेन ३६, ४१, ५४, १३५, १६३ इ०

१७३, १७५-७, १९८, २७५,

३४१, ३५५, ३५७-८, ४००,

४३१, ४६०, ५००, ५०१, ५३८

देवागम २६०, २६१, ४६३

देवागम पंजिका ३३९

देवेन्द्र १११, ११२, ५४२

देवेन्द्रकीर्ति ३६०, ४०६, ५४२

देशभूषण २१०

देशीय गण ११, ११०, ११६, ११७

२३३, २९७

देसीनाममाला ३१५

दैवज्ञवल्लभ ३०३

दैवनंदि ४४२

दोस्तटिका ४३०

दौलताबाद २३८

द्रमिल ५४

द्रविड २३१

द्रविडसंघ ५४, ५५, ६६, ८९, १५५,

१७०

द्रव्यगुणपर्ययरासा १६६
 द्रव्यसंग्रह-पंजिका ३३९
 द्रव्यस्वभावप्रकाश १६३, १६८
 द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र १६७
 द्रव्यानुयोगतर्कणा १६६
 द्राविडसंघ ११७, १२४, ३५६, ३५८,
 ३५९, ३९६, ४००, ४०१, ४१५,
 ४१६, ५३८
 द्रोण ३२५, ३७१
 द्रोणगिरि १८९, २०८, २०८, २१५,
 २१७
 द्रोणीमति २०१
 द्वादशार नयचक्र १६४
 द्वारसमुद्र (हलेवीडु) २६१
 द्वारिका ४९४
 द्विजवदनचपेट ८२, ८३
 द्विज विश्वनाथ २०१
 द्विसंधान १२८, ४६४, ४६५
 द्वीपंगुडी २६४
 द्रव्याश्रयकाव्य ४८६
 धक्कड ३२५, ३७०, ४६७
 धनचंद १४१
 धणदत्त ३८५
 धनदेव ३८५
 धनपाल १७२, १८०, ३२४, ३२७,
 ३७३, ४६७ इ० ४७०, ४७७
 धनश्री ४६७
 धनंजय ९७, १२८, ३७५, ३८१,
 ४४१, ४५१, ४६४ इ० ४८८, ४९०
 धनंजय-निघंटु ४६५

धनिक १८०
 धम्मपरिक्खा १७७, ३२५, ३७०,
 ३७१, ४६८
 धराश्रय ४२७
 धरणीवराह ४२८, ४३७
 धरसेन ८, १२, १३७, ४२२
 धर्मकीर्ति ४२, ५६, १९८, ३९६
 धर्मघोष ३६४
 धर्मज्ञसिद्धि ४५२
 धर्मपरीक्षा ३६, ९८, १७६, ३२९
 ३३३, ४४७, ५४५
 धर्मपुर ७६
 धर्मभूषण १९६
 धर्मविजय २२५
 धर्मशर्माभ्युदय ४७२, ४७६
 धर्मशर्माभ्युदय-टीका ५४३, ५४५
 धर्मसंग्रह १७१
 धर्मसंग्रह-श्रावकाचार ५३४
 धर्मसागर २४१, २४५, ३५१
 धर्मसिंह ५२४
 धर्मसेन २५५, २८०, ३४४, ४२२
 धर्मामृत १३१, १३४, १३६-७,
 १४२
 धवल (ला) १०, १५, १२०,
 १२२, २०२, २३२, २७३,
 २९८, ३२५, ३७२, ४४१, ४६६,
 ५०३, ५१२, ५१८
 धवल कवि ५३९
 धवल (वृषभ) ३७५
 धवलइया ३७५, ३७६, ३८१

धार १४०
 धारा ११२, १३०, १३१, १३३,
 १४०, १७०, १७२, १७९,
 ३३५, ३५८
 धिषण ७०
 धीकोटिदकरण ३०४
 धीनाक १४१
 धुत्त ३८५
 धूमध्वज ७३
 धूर्ताख्यान १७७
 धृतिषेण २५५
 धृतिसेन १६
 ध्रुव १६१
 ध्रुवमानस-करण ३०३
 ध्रुवराज ४२६
 ध्रुवसेन १६, २५५
 नक्षत्र १६, २५५
 नन्न ३०९, ३१४-६, ३१९ इ०
 ३२९, ३३०
 नन्नराजवसति ४२९
 नमिलूर ५५
 नयकीर्ति ३६०
 नयचक्र १६३ इ०
 नयपाल ३४
 नरवाहन १९, २०
 नरसिंह ८६
 नरसिंह भट्ट ४६१
 नरेन्द्रसेन ४१३, ४१८
 नलकच्छ १३०
 नवनिधि २३८

नवसाहसांकचरित १८०
 नवस्तोत्र ५३७-८
 नहपान २०, ५५८
 नंद १९
 नंदकीर्ति २०७
 नंदराज ६२
 नंदवंश ६२, ४४१
 नंदि १५, ३५, २५५
 नंदिगणि ३१
 नंदिगुरु २५३
 नंदीतट १७३, १७४, ३४१, ३४२
 नंदिमित्र १५, २५५
 नंदि मुनीश्वर २८२, २९६
 नंदिल ५६९
 नंदिषेण ४२२
 नंदिसंघ ५३ इ०, ९७, ११०, १११,
 २४५, २५४, २५५, ३४२, ३९६,
 ५२९
 नंदिसूत्र १५२, १६०, २७३
 नंदि-आम्नाय ४२९
 नंदीश्वरकथा ५३३
 नाइल कुल २७२
 नाइल ३०६, ३१४, ३२१
 नाग १६, ३७५-६
 नागकुमार-काव्य ४१४
 नागकुमारचरित ३०२, ३०७,
 ३२१, ३२७-८, ३७३
 नागचन्द्र ४२, ५६, ११३-४, ११४,
 ४६५, ५२९
 नागदेव ३०३-४, ३५८

न्दि ३१, ५२
 रीय गच्छ १२७
 इ ४२५, ४२७
 ३०५
 स्ति ६-८, १२, १३, ४२२,
 ३८-९
 द ३८४, ३८६
 न १२३-४, २७३
 लोक ४२५
 १९५, १९७
 ५५३
 म ३४
 शाह ५४२
 लहार २३५
 ला ९७, ४४१, ४४८
 ७१, ७८, ३१७
 १३०, १३२, १३३
 १९४, १९९
 नातपुत्त ५५३
 अली २३०
 होद्योत १३६, १३७, ४०९
 होद्योत-टीका ५३३
 छक १७३, ४६०
 ध्याय ७२
 १०, ११, ५६९
 ७, संधु ८२
 १५०
 १०, ४४, ४५, १५३
 काण्ड १८७, १९३-४
 मक्ति १८६-७, १९०, १९१
 २०९, २१५
 ३८

निशीथ सूत्र ४८, ५९
 निहालचन्द्र ३५
 नीतिवाक्यामृत ६१ इ०, ६३, ७८,
 ९९, ३१६
 कनडी टीका ८०
 नीतिसार ६२-६४, ३६०
 नीलग्रीव ४१६
 नीलपट ७३
 नृपुरी ४४३, ५७४
 नेमिकुमार ४८६
 नेमिचरित ४७०, ४९१ इ०
 नेमिचंद्र ३, ४२, ५६, २९३, २९६,
 ३५४, ४१३, ४४३, ४६४, ५३०
 नेमिदूत ४९१
 नेमिदेव ६५, ६६, ८६
 नेमिनाथ ८०
 नेमिनाथचरित ४६७
 नेमिनिर्वाण ४७६, ४८३, ४८८
 नेमिनिर्वाण-पंजिका ५३०
 नेमिपुराण ४०६
 नेमिषेण ३६, १७६
 नेमिसेन ३४४
 नेरूर ८८
 नैनागिरि २१५
 नैषधचरित ३८६
 नोमक ४७२
 न्यायकुमुदचंद्र १०९, १२१, १५३,
 १७२, ३३९, ३९६, ४५२, ५३१
 न्यायमकरंद ५३१
 न्यायमंजरी ३०३

न्यायविनिश्चय १५५, ३५६, ४००,

४०३, ४१३, ५३१

पईठाण २३८

पउमचरिउ(य) ४२, ६०, २७२ इ०

२८५, ३२५, ३७०, ३७२-८,

३८०-३, ३८५-६, ५६०, ५७१

पट्टण ३३२

पतंजलि ७२, १०४, ३२५

पन्नपरीक्षा ५३१

पदकौमुदी ४६४

पदुमला २६५

पद्म ५४२

पद्मगुप्त १८०

पद्मचरित ३९, १९२, २००, २०७,

२१०, २७२ इ० ३३५, ३३६,

३८६, ४२०, ५३९, ५७१

पद्मनंदि ९ इ०, १०, १७०, २०९,

२४५-६, २५३-४, ३४१-२,

४०६, ४१७, ४५५, ४६४, ४९६,

५००, ५२७, ५२९, ५७२

पद्मनंदि-पंचविंशतिका ४५५

पद्मनाभचरित ५३३

पद्मपुराण २११, २१३, २१५, २७७

३१३, ३२५, ३७२-३, ४३१,

५५९, ५६१

पद्मप्रभ ५७०

पद्मप्रभ मलधारिदेव १०, ४५३, ४५८

पद्मसिंह १४१

पद्मसेन ४२२, ५००, ५०१

पपउर १८९, १९३

पपौरा १९३

परमात्मप्रकाश ३६३

परमार १७२, १७५, १७९, १९३,

३२३

परमार्थोपदेश ५३०

परवार १४१

पराशर ६२, ७२, ७३

पराशरस्मृति ५४५

पराशरमाधवीय ८२

परिकर्म १०

परिकर्म-टीका १२

परिमल १८०

परीक्षामुख ५३१

परीक्षित ७२

पर्यट १७२, १८३

पल्लीवाल ४७०

पल्यव्रतोद्यापन ५३३

पवनदूत २९८

पवा १९४

पवाजी १९३

पंचप्रतिक्रमणसूत्र ५७

पंचम २३८, ५५५

पंचमी कथा (णायकुमारचरिउ) ३७३

पंचमीचरिय ३२५

पंचमिचरिउ ३७६, ३८०, ३८५

पंचमी कहा ४६७

पंचवस्तु १००, १०८, १०९, इ०

११०, ११५

पंचवस्तु-प्रक्रिया १०६

पंचशैलपुर २०२

पंचसंग्रह ३६, १७७, १७९, २७५;

२९३

पंचस्तूपान्वय ८९, ४९७ इ०
 पंचाचार ६८
 पंचास्तिकाय १६७, ३३९, ४५७
 पंचास्तिकाय-टीका ४१६, ५३०
 पञ्चमणाह ३८५
 पंप ७६, ८८, १११, ११४
 पंप रामायण ११४
 पाइयलच्छी नार्ममाला ३२४, ३२७
 ४६९
 पाटलिक २
 पाणराष्ट्र २
 पाणिनि ७२, ७४, ९३, ९७, १०४-५
 १०७, ११२, ११८, १२०, १२२,
 १२३, १२४-७, १५०, १५१,
 ५३२
 पाणिनीय १००
 पाण्डवपुराण २७०, ५३२-३
 पाण्डु ७३, २०२, २५५
 पाण्ड्य ७३, ७५, २६३ इ० २६४,
 ३०६
 पातूर २३०
 पात्रकेसरी ५०१, ५३७
 पापापुर १८९, १९३
 पापा-साहु १४७
 पारिजात-मंजरी १३०, १३३, १४०
 पारियत्त २५३
 पारिसय्या ४२
 पार्श्वनाथ-काव्य ४६५
 पार्श्वनाथ-काव्य १११
 पार्श्वनाथ-चरित ६०, ६६, १५१,
 १५५, २१५, ३००, ३५६, ३९८,

४०३, ४२४, ४३१, ४५२, ४५३,
 ४६६, ५३६
 पार्श्वनाथचरित-पंजिका १५०, ५३३
 पार्श्वनाथ-स्तोत्र ४५६
 पार्श्वपंडित २६१
 पार्श्वपुराण २६९, ३४४
 पार्श्वाम्युदय ४२०, ४३१, ५००, ५०४
 पालक १९
 पाली (शांतिजिन) २००
 पाल्यकीर्ति (देखो शाकटायन) ४३,
 ५६, १५० इ०, १५४, १६१
 पावकगढ़ १९२, २१९
 पावकगिरि २१८
 पावागढ़ १८९, १९१-२, २१८
 पावागिरि १८९, १९२, (द्वि) १९३,
 २२२
 पावानगर १८९ पावापुर (सी) १८८
 २००
 पिशुन ६२
 पिंगल ७३, ३७१, ३८६, ५२५
 पिंगलछंदःसूत्र १८०
 पिंगलंदि ४९९
 पुण्यपुराण ४८१
 पुन्नागवृक्षमूलगण ५४, ५५, १६१
 पुन्नाट (संघ, देश) १९, ५५, ८९,
 २७३, ४२१, ४२८, ४२९,
 ४३५-६-७
 पुरंदर ३२५
 पुराणतिलक २९९
 पुराणसार ३९, ३३५
 पुरुदेव चम्पू १४१, १४२

पुरुषार्थसिद्धयुपाय ५४२, ४५६-७
 पुलकेशी ३५८
 पुल (ले) गेरी ७५, २३७
 पुलस्ति ७३
 पुलह ७३
 पुलोम ७३
 पुलोमा ६३
 पुष्कर गण ३३६, ३८०, ५३४
 पुष्पदंत ८, ३९, ६०, २८१, ३०१
 ३०, ३२६, ३३५-६, ३७०, ३७१
 ३७३-५, ३७७, ३८७, ४८७,
 ५७१
 पुष्पपरीक्षा ५३१
 पुष्पसेन ६६, ४७७, ४७९, ४८०
 पुष्यभिन्न १९, २०, ५५८
 पुस्तक गच्छ ११०
 पूज्यपाद (देखो देवनन्दि) ६९,
 ७०, ७२, ७४, ८८, ९५, ९६
 ३०, १०२, १०४, १०५, १०७,
 १०९, ११२-३, ११६, १२१,
 १३८, १८७, ३५९, ४०५,
 ४६५, ५२५-६, ५३८
 पूज्यपाद-चरित १२३
 पूर्ण (चंद्र) २४२
 पूर्वदेशीय चैत्यपरिपाटी २०२
 पृथुसार २१७
 पृथ्वीकौण्णि ३२, ४१, ५३, ५६
 पृथ्वीराज १३३
 पृथ्वीराज रासो १९२
 पेथडशाह २४२

पेहण भट्ट ८८
 पेद्दाविजय २३७
 पेरियपुराण ४८२
 पैठण मुनिसुव्रत २००
 पोदनपुर २०१, २१७
 पोन्न ७५
 पोन्नलि ५३
 पोमराज ४८६, ४९०
 पोय्सलदेव ३५७
 पौर ४९५
 पौरपाट १४१
 प्रकीर्णक १०
 प्रक्रिया १००, १०२
 प्रजापति ७२
 प्रज्ञाश्रमण १५, १६२
 प्रतिष्ठाकल्प-टिप्पण ५३४
 प्रतिष्ठाकाण्ड ७२
 प्रतिष्ठातिलक २६२, २६६, ४९६
 प्रतिष्ठानपुर २३८
 प्रतिष्ठासारसंग्रह ४६३
 प्रतिष्ठासारोद्धार १३६, २६१
 प्रतीहार ४२५, ४२७, -८
 प्रतीहार वंश ४३६
 प्रद्युम्नचरित १७२, १७५, १८३ ३०
 प्रबंधचिंतामणि १७९, १८०
 प्रबोधचंद्रोदय २६७
 प्रभंजन १३३, ५३९
 प्रमाचन्द्र २५, २६, २९, ३३, ३४
 ५८, १०६, १०८, १०९, ११३,
 १२०, १२१, १२६, १३५, १५३, ४
 १७२, १८७, २०९, २६८-९,

३१३, ३३५ इ०, ३३७, ३९६
४३१, ४३४, ४५२, ४६६, ४८५
४९८, ५३०

प्रभावकचरित ४६९, ४८५

प्रभूतवर्ष ४१, ५४, १६१

प्रमाणनिर्णय ४०४, ५३१

प्रमाण-परीक्षा ५३१

प्रमेयकमलमार्तण्ड २९, ३३, ५८,

१०९, १५३, १७२, ३३९, ३९६,

४६६, ५३१

प्रमेयरत्नाकर १३४, १३७

प्रवचनपरीक्षा २४१

प्रवचनसरोजभास्कर ३३९

प्रवचनसार ९, १६७, ४१६, ४५७

प्रवचनसेन ३३५

प्रश्नोत्तररत्नमाला १६१, ५१८, ५२०

प्राकृतव्याकरण २०९

प्राकृतसर्वस्व ३०५

प्राग्वाट ४८३

प्राचीनतीर्थमालासंग्रह १९८, २०२

प्राणप्रिय काव्य ५२४

प्रियदर्शिका ३८६

प्रोष्ठिल १६, २५५

फलवद्धी २०८

फलवर्द्धि १८९

फलहोषी २०८

फलोषी २०८

फिरोजशाह ५४२

बच्छराज १९०, १९१

बड़वानी १८९, २०७

बड़वाह २०६

बड़ोदा २१८

बह्मिग ७५, ७६, ८६-८८, ३२२,

३२४, ३२८, ३५९

बनारसीदास ३६६-७, ५६०

बनिकटपुल ८७, ३५९

बनोसी गाँव २३६

बराह २०३

बलदेवसूरि ३१, ३२, ५२, ५६, ४२२

बलनन्दि २५३-४

बलमित्र २०, ४२२

बलाकपिच्छ १११

बलात्कार ३५, २०४, २४५, २५५

३३६, ३३७, ३४३, ४०६, ४३९,

५२७, ५२९, ५४२

बलाहक २०१, २०३

बल्लाल कवि ४४२

बहुदेव १४१

बंकापुर २३६, २९४, ५०७,

५१४-५

बंकेयेरस २३६, ५०७, ५१५, ५१९

बंदइया ३७५-६, ३८१

बंधुषेण ४१५

बागड़ १७३, १७४

बागड़ गच्छ १७४

बाण १९, ७१, ७८, ३२५, ३७१,

३७५, ३७६-७, ४०२, ४७७

बानारसीमत ३६७

बारा (नगर) २५३, २५४, ५७१

बार्हस्पत्य ८१

बालचन्द्र ११४

बालसरस्वती १२९, १३३, १४०, १७२

बालचिकित्सा ४१७

बाहुदंतिपुत्र ६२

बिजल ३२२

बिदर २२९

बिधर २३०

बिलगोल २३३

बिल्हण १२९, १३२, १३९, १४०

बिल्हण-चरित १४०

बिहार २४७

बिज्ञ ५४२

बीजगणित ३०३

बीजानगर २३७

बीजापुर २३७

बीसल (साहु) ३३२, ३३३

बुध ५२५

बुद्धचर्या २०३

बुद्धिल १६, २५५

बुद्धिविलास ३६९, ५५७

बुद्धिसागर ३५३

बुन्देलखण्ड १९३, २६७

बृहट्टिप्पणिका १५३

बृहन्नयचक्र १६३-५, १६७

बृहन्मुनि ८२

बृहत्सर्वज्ञसिद्धि ४५२

बृहत्सिद्धमक्ति ३८

बृहस्पति ६२, ३९६

बेत्तवा १९४

बोद्धणराय ५१६, ५१७

बोधसार ३५

बोधिसत्वदेशीयाचार्य ९७

बोपदेव ९३

बोस ७१, ७८

बौटिक १२६

बौटिकमततिमिरोपलक्षण १२८

बौद्ध ८५

ब्रह्मदेव ३६३

ब्रह्म नेमिदत्त ४०६, ४१०, ४३४

ब्रह्मपुराण २७७

ब्रह्मविद्या ४१६

ब्रह्मसूत्रि २६१-२, २६४-६, ४९६

ब्रह्म हेमचन्द्र २५५

भक्तामरचरित १८०, ४४०, ४५१

भक्तामरस्तोत्र ५२४

भक्तामरोद्यापन ५३०

भगवती आराधना १०, २९, ५९,
१९८, २७५, ३६५, ४३५, ५४६

भगवतीसूत्र २५२

भगवद्वाग्वादिनी ९५ इ०, १२५

भट्टाकलंक २३३, ३९६, ४०३,
४४२, ५२१

भट्टि ३८६

भद्र ३७२

भद्रदेव ८६

भद्रबाहु १५, ५७, ५९, २३३,
२५५-६, ४३४

भद्रा ४९५

भरत ७३, ३०२, ३०५, ३०९,
३१४, ३१६, ३२१, ३२५,
३२८-९, ३८६

भरतराज २६६
 भरतसेन ४२८, ४३६
 भरताभ्युदय १३७
 भरतेश्वराभ्युदय १३४
 भर्ग ७३
 भर्तृमेष्ठ ७१, ७८
 भर्तृहरि ७१, ७८, ९९, ४४०, ४४१,
 ४५१
 भर्तृहरिशतक २६३, ५११
 भवभूति ७१, ७८
 भविसयत्तकहा ४६७
 भव्यकुमुदचन्द्रिका १३६-७, ४५७
 भव्यजनकण्ठाभरण १४१-२
 भव्यानन्द २६३
 भण्डि (वर्म) ४२५
 भागनगर २३०
 भागवतपुराण १९१
 भाद्रपद देश ४३४
 भानुमित्र २०
 मामह ३७१, ३८६
 भारत (विक्रमार्जुनविजय) ७६
 भारत चम्पू ११
 भारद्वाज ६२-६४, ७२
 भारवि ७१, ७८, ११६, ३२५,
 ४४१, ५०७
 भावदेव ४२४
 भावनाद्वात्रिंशतिका १७८
 भावसंग्रह १६९, १७१, २७५
 भावसेन त्रैविद्यदेव १५५
 भावार्थदीपिका ३४ इ०

भाष्य १०७
 भास ७१, ७८
 भास्कराचार्य २७१
 भिलाला २०६
 भीम ७२
 भीमनृपात्मज ४९०
 भीमसेन ४२२
 भीष्म ७२
 भुवनकीर्ति १, ४०६, ५२७, ५२९,
 ५३१
 भूतदिन २७३
 भूतबलि ८, १२०
 भूतुग ३२३
 भूपाल १३५
 भूपाल-चतुर्विंशतिका १३५
 भृगु ७३
 भृत्यान्ध्र २०
 भैरव ३०२
 भैरवपद्मावतीकल्प ३६६, ४१५
 भोगदेव ४५५
 भोगल्ल ३२१
 भोजदेव ३९, ९९, ११२-३, १३०,
 १३८-४०, १७२, १८०, १८४,
 ३१३, ३३८, ३९८, ४३६, ४४१,
 ४५१, ४६८, ४८१
 भोजप्रबन्ध १८०, ४४२
 भोजसागर १६६
 भगध ७३
 भगसीमंडन पार्श्वनाथ २००
 भघन १८३

मठवासी ३४९
 मणिकुण्डला ७३
 मणिजिदरुण ३५
 मणिप्रकाशिका १५५
 मतिसागर ६६, १५५, ३५६, ३९७,
 ४०५, ४५४, ४८०
 मत्स्यवेध ३७२
 मथुरा ११, १७३, २४१
 मदन १२९, १३०, १३२-३, १४१
 मदनकीर्ति १३०, १३८-९, १४२
 मदनकीर्ति-प्रबन्ध १३८
 मदनमंजरी १३८
 मदनवर्म १९३
 मदनार्णव ७३
 मदनोपाध्याय १४०, १७२
 मदिराक्षी ७३
 मदुरा ११७
 मधूक २६८
 मन्मथविनोद ७३
 मनु ६२, ८०, ८२, ८३
 मनुस्मृति ६३, ८०
 मम्मट ४०२
 मयूर ७१, ७८, ४०२
 मयूरखिंडी ५१८
 मयूरश्रेणी ३४२-३
 मयूरसंघ ३४१, ३४३
 मरीचि ७३
 मरुदय २०
 मर्करा ११, ११६, ५७३
 मलकापुर २२७

मलखेड़ ८९, ३४४
 मलयकीर्ति ३८०, ५३४,
 मलयगिरि १५२, १६०
 मलयनगर १२३
 मलेयूर २३३
 मल्ल १८९
 मल्लवादी १६३-४
 मल्लिभूषण २७०, ४०६, ४०९,
 ४१०, ४३४
 मल्लिषेण ३६६, ३७३, ४१३ इ०,
 ४३५, ४५४
 मसरूल १९४
 मसूतिकापुर १७७, ५७३
 मस्करि १६२
 महण १४१
 महसेन १८३
 महाकर्मप्रकृति ५०३
 महाकर्मप्रकृत्याचार्य ३२
 महाचन्द्र १०६, ११०
 महानन्दि १०७
 महापुराण ६०, ३०२, ३०७, ३१२,
 ३१५, ३२१, ३२५, ३२८, ३२९,
 ३३०, ३३५, ३३६, ३७१,
 ३७३-४, ३८७, ४१४
 महाप्रकृत्याचार्य ५२
 महाभारत ७२, २०३, २७७, ३७२
 महामिषेक-टीका ४०९
 महावीर ९८, १३७, ५१८, ५२१
 महावीरस्तुति ४६९
 महावृत्ति १००, १०२, १०६, १०७,
 इ०, ११०

महाश्रमणसंघ २५०
 महासेन १७२, १७५, १८३ इ०,
 १९८, ४२०, ४३१, ५३८ इ०
 महीचन्द्र २७१
 महीचन्द्र साहु १४१
 महीपाल ४२८, ४३६-७
 महेन्द्र ७१
 महेन्द्रकीर्ति ३५, २०६, ४३९, ५४२
 महेन्द्रदेव ६६, ७७, ७८
 महेन्द्रपाल ७७, ४३६, ४६६
 महेन्द्रसूरि ३६४
 महोदधि ३२१
 मंगराज ९७, १२२
 मंडपदुर्गा ५१, ३६३
 मंडलपुरुष ४९९
 मंडलाकार १४३
 मंदप्रबोधिका २९९
 मंदरार्थ ४२२
 माइल धवल १६३-४, १६६, १६८
 माउरदेव ३८४-५
 माएसर ४६७
 माघ ७१, ७८, ४७२
 माघकाव्य ६९
 माघनंदि ८, २५३-५, ५३४
 माणिकस्वामि १९५, २३१
 माणिक्यस्वामि १९६, २२६
 मातलि ७१
 मातंग ७३
 मातंगारण्य २०८

माथुर (संघ, अन्वय, गच्छ) ११,
 ३६, ५५, ८९, १७०, १७३ इ०,
 १७४, १७५, १८४, २१९, २५२,
 ३३६, ३५७, ३८०, ४४३, ५३४
 माथुरी वाचना ४५
 माधवचंद्र त्रैविद्यदेव ३, २९८-९
 माधव भट्ट १२३
 माधवसेन ३६, ३७, १७६-७
 मानतुंग ४४१, ४५१, ५२४
 मानव ८१
 मान्धाता २०७
 मान्यखेट ७४, ८९, ३०४, ३१५,
 ५०७, ५१६
 मान्यपुर ५४, १६१
 मारसिंह २९४-५, ३२४
 मारुतदेव ३७३, ३७५
 मार्कण्डेय ३०५
 मालव (वा) १२९, १३१, १३२,
 १४०, १७२, १७९
 मालवगण संवत् ५५७
 मांगीतुंगी १८६, १९९, २००
 मांगीतुंगी-पूजनविधान १९७
 मांडलगढ़ १३१, १३३, १४३
 मांडव्य ५२५
 मिताक्षरा ८२
 मित्रनंदि २४, ५६, १६२
 मित्रवीर ४२२
 मिहिरकुल २१
 मुक्तागिरि २०९, २२९
 मुग्धबोध ९३

मुग्धा ३०२
 मुडिगुंड १२३
 मुनिचंद्र ७७, ७८, ३५४, ४८५,
 ५३०
 मुनिवंशाभ्युदय १५९
 मुनिसुव्रत काव्य १४१-२
 मुनिसुंदर ३५४
 मुलगुंद ४१४
 मुंडीर ७३
 मुंज (राज) १७२, १७५-६, १७९,
 १८०, १८३, ४४०, ४४१, ४६८
 मूगी २३८
 मूडबिद्रि २३२, २३४, २४६
 मूलगुंदि ४१७
 मूलदेव ३८५
 मूलमूलगण ५५, ५६
 मूलसंघ ११३, २०४, २६८, २७०,
 ३४०, ३४२, ३४४, ३५७ इ०,
 ४०६, ४३९, ४६०, ५२७, ५२९,
 ५४२
 मूलाचार १०, ५७, ५९, ८९,
 ४६३, ५३४
 मूलाचार टीका ३३९
 मूलाराधना (दर्पण) २३, ३१, ३२ इ०
 ४५, ६०
 मूलाराधना-टीका १३५, १३७
 मूलिकल गच्छ ५४
 मेघचंद्र त्रैविद्यदेव ८०, ९८, ११३,
 ११४, ४५६
 मेघदूत २१२, २६८, ४९१-२, ५०६

मेघव (उ) २१९०
 मेघविजय ३६७-९, ४६०
 मेघेश्वर २६६
 मेडतय २०८
 मेढागिरि १८९, २०८
 मेतार्य ५७, ५८, ५७१
 मेदपाट ४८६
 मेधावी ५३४
 मेध्यगिरि २०८
 मेध्यारण्य २०८
 मेरुकीर्ति १९८
 मेरुतुंग १९, २०
 मेलपाटी ७५, ३०५, ३२१, ३२८
 मेलपाडी ८९
 मेलाली ३०५
 मेहण १९०
 मेंदूक २०१, २१७
 मैथिलीकल्याण २६५
 मैनपुरी १९७
 मैसूर १५९
 मोक्षमार्गप्रकाशक ८२, ८३
 मौनि भट्टारक ४२८, ४३६
 मौर्यवंश ६२
 यक्षवर्मा १५४-८
 यज्ञोपवीत ५५९, ५६० इ०
 यतिवृषभ ६, ७ इ०, १८८, २०२,
 २९९, ५६८-९
 यम ६३
 यवनदेश ७३
 यशःकीर्ति ९७, ४७४, ४९३, ५२८,
 ५३४, ५७२

यशःपाल २५५
 यशोदेव ६५, ६६, ८६, १९०
 यशोधर ७०, ७७
 यशोधरचरित ८७, २७१, ३०७, ३१२,
 ३१५, ३२०, ३२८, ३७७, ३९९,
 ४०३, ५३८
 यशोधवल ३३
 यशोनन्दी ९७
 यशोबाहु १६, २५५-६
 यशोभद्र १६, २६, १२०, १२१, २५५
 यशोविजय १५३, १६४, १६६
 यशश्चिह्न ३२५
 यशस्तिलक २७, ६३, ६६, ६७,
 ६९, ७०, ७१, ७३, ७६, ७८,
 ८३, ८८, ८९, ३२२, ३२८,
 ३५९, ३६२, ४०६, ४०८,
 ४४२, ४५३, ५४८, ५६२
 यशस्तिलक चन्द्रिका ४०८
 याज्ञवल्क्य ८०, ८२
 याज्ञवल्क्यशास्त्र ८१
 याज्ञवल्क्यस्मृति ८३, ५५०
 यापनीय २९, ३०, ३१, ४१ इ०,
 १५१-३, १५५, १६१, १७०,
 २४८, २८५, ३२५, ३४१,
 ३७४, ५७१
 यापनीय तंत्र ४२
 यास्काचार्य १५०
 युक्तिचिंतामणि ७१, ८८
 युक्तिप्रबोध ३६७-८, ४६०
 युक्त्यनुशासन ४३०

युद्धमल्ल ७६, ८६
 युवराजदेव १८०
 योग ८५
 योगप्रदीप ४०९, ४४०
 योगशास्त्र ७२, ९४, ४४७ इ०
 योगसार (प्राभृत) १७८, ५२५-६
 योगिनीपुर ३३२
 योगिराट् पंडिताचार्य ५०६
 रघुवंश ७७, ३८६
 रजउत्त ३८५
 रत्न २०१
 रत्नकरण्ड ३५, ६९
 रत्नकरण्ड-टीका ३३९, ५५९
 रत्नकरण्डश्रावकाचारवचनिका १०९
 रत्नकीर्ति ३४
 रत्नत्रयविधान १३६-७
 रत्नपरीक्षा ७२
 रत्नपाल ४७०
 रत्नप्रभ १५३
 रत्नमाला २६, २७, २९, ५०६
 रत्नमालिका १६१
 रत्नमण्डनगणि २४२
 रत्नमाला ३५५
 रत्नर्षि ९६, १२७
 रत्नसिंह ५२४ इ०
 रत्नाकरसूरि ४७४
 रत्नाकरावतारिका १५३
 रथ्या ४७२
 रत्न २९९
 रमन्ना १९३

रविकीर्ति ५६, ४४१, ५०७
 रविष्ण ५४
 रविवप्प ३८५
 रविषेण ३९, १९२, २००, २०७,
 २१०, २७२ इ०, ३२५, ३७५,
 ३८६, ४२०, ४३१, ५३९, ५५९
 रससंजीवनी १३३
 रसिकसंजीवनी १७९
 राघवपाण्डवीय ४६४
 राचमल्ल २९३, २९९, ४१३
 राजगृह २०३
 राजतरंगिणी २२
 राजमल्ल ४००, ४९८, ५४४, ५४८
 राजवार्तिक ११६, ४४२, ४५९, ५३१
 राजशेखर ४३, ७१, ७७, ७८, १३८,
 १५४, ३०१, ४६५, ४७४
 राजसिंह ४९०
 राजहंस ४८६
 राजा (साहू) ३४
 राजादित्य ३२३
 राजावलीकथे २५, २६१
 राजीमतीपरित्याग ४८८
 राजीमती-विप्रलंभ १३५, १३७,
 ४८८, ४९१
 राजीमती-विलाप ४९१
 राजेन्द्र-चोल ३९८
 राठौर ७५
 रामकीर्ति ५२६, ५२८
 रामगढ़ २१२
 रामगिरि २११, २१२, ४९४

रामगोड १९२
 रामचन्द्र १२७, २०७, २५२, ४७६
 रामभट्ट ४६४
 रामराय २३७
 रामसिंह १०९
 रामसेन १७३-५, ३४४
 रामसेनान्वय ३४१
 रामायण २७७, २८०, ३७१
 रायबाग २३८
 रावण ४१७
 राष्ट्रकूट ४१, ५४, ७५, ८६, ८८,
 ८९, ११५, १२२, २३६, ४२९
 रासम (राज) १९, २०
 राहड ४८६
 राहू २७२
 रिद्धिगेमिचरित ३४७, ३७०, ३७५-
 ६, ३७८, ३८१-२, ३८४, ३८६
 रुद्रकुमार २६५
 रुद्रट ३२५
 रूपमाला १५५
 रूपसिद्धि १५५, ३९७
 रेपाक ८७
 रेव ८८
 रेवा २०५
 रेंसिदीगिरि २१४
 रोहिणी खेड ३०४
 लक्ष्मण ४७२
 लक्ष्मणसेन २७२-३
 लक्ष्मीचन्द्र २७०, ४०९, ५२७
 लक्ष्मीवर्मा १३५

लक्ष्मीवल्लभ ९३, ९६
 लक्ष्मीस्तोत्र ४५६
 लक्ष्मेश्वर ७५, २३६
 लघीयस्त्रय ९९
 लघु जैनेन्द्र १०६, ११०
 लघु नयचक्र १६५-६
 लघुमासिक ४८
 लघु समंतभद्र २८, ४७८
 लब्धिसार ११४, २९८, ५३२
 ललज ३८५
 ललितसहाव ३८५
 ललितकीर्ति ४७४
 ललितविस्तरा ४२, ४४
 लाङ्ग-वागङ्ग ५५, १७३-५, १८३-४
 ३५७
 लाट-वर्गट १८३
 लाटीसहिता ५४४, ५४८
 लिच्छवि १८९
 लिंगानुशासन ११५
 लेंबुलपाटक ८७
 लोकचन्द्र १२६
 लोकतिलक ३२, ५३
 लोकविनिश्चय ४७
 लोकविभाग १ इ०, २७५, ५६८-९
 लोकसेन ४९८-९, ५०१, ५१३-४
 लोकादित्य २३६, ५०७, ५१४-५
 लोकायत ८५
 लोकाबिका ८६
 लोकागच्छ ४१०
 लोणुअ ३८५

लोह १६, २५५
 लोहाचार्य १२७, १७३, २५६
 लोहार्य २५५
 वक्रगीव ५३७
 वणकर २३८
 वच्छराय ३३२
 वज्र १६२
 वज्रनंदि ११७, १२४, ३५६, ३५९
 ४३१, ५३७-८
 वज्रपंजर-विधान ४१६
 वज्रयश १५, १६२
 वज्रसूरि ४३१, ५३७-८
 वत्सराज ४२४-६
 वनराज चावड़ा ३५३
 वनवास ५१४
 वनवासी २३६, ३२३, ३४७ इ०, ५७०
 वप्पमाट्टि २४३
 वप्पुक ३२३
 वम्मअत्त ३८४
 वरदत्त १९०
 वररुचि ७२, ७३, ४३४, ४४१, ४५१
 वराहमिहिर ७२
 वरांग १९०
 वरांगचरित १९१, २७३, ४२०,
 ४३१, ५०९
 वर्धदेव ५३७
 वर्धमान ९९, १५९, १९१, २३३, २३५,
 २६०, २६२, ५६१
 वर्धमानपुर ४२३, ४३६
 वर्धमानपुराण ५०९

वर्षनंदि ४१५
 वल्लभचंद्र १८३
 वल्लभ नरेंद्र ३१४, ३१५, ३१७,
 ३२१, ३२६, ३३२
 वल्लभी वाचना ४५
 वसंतकीर्ति ५१, ३६३-४
 वसंतमती ७३
 वसुदेव ४६४
 वसुदेवचरित २८०, २८१
 वसुदेव हिंडी २८०, २८३
 वसुनंदि २६५, ४६१, ४६३, ५३४
 वसुमित्र २०
 वस्तुपाल २४४
 वंशधर २१०
 वंशस्थल २१०
 वंशस्थलपुर २११
 वाक्पतिराज १७९
 वागराज ७६, ८८
 वागर्थ-संग्रह २८२, ४२१
 वाग्मट ४७६, ४८३ इ०, ४९०
 वाग्मटालंकार ४७१, ४८४, ४८९
 वाग्वर ५२९
 वाचस्पति तत्त्वकौमुदी ५३२
 वाटग्राम ५१५
 वातव्याधि ६२
 वादिचंद्रसूरि २६७ इ०
 वादिभूषण १९२, २२१, ५२८-९
 वादिराज ६६, ९७, १११, १५०, ३००,
 ३१४, ३५७, ३९६ इ०, ४१३,
 ४३१, ४५२-४, ४६६, ४७१,
 ४८०, ४८६, ४८९ इ०, ५३६

वादीमसिंह ६६, ३९८, ४७७ इ०
 वादीमसिंहोपलालित ४७८
 वामकीर्ति ५२६
 वामदेव २७५
 वामन ९९, ११५, ११८, ४८७
 वायुदूत २६९
 वायुपुराण २७७
 वायुविकार ३७१
 वार्षगण्य ११८
 वाल्मीकि २७७
 वासवनंदि ४१५
 वासवसेन ३१४, ३३३, ५३९
 वासिम २२७
 वासुपूज्य ३६५, ४७९
 विअड्ड ३८५
 विक्रम ४९२
 विक्रम संवत् ५५७
 विक्रमसिंह ३५७
 विक्रमादित्य ४४१, ५५७ इ०
 विक्रमार्जुनविजय ७६, ८८
 विक्रमांकदेवचरित १३९, १४०, ३९९
 विक्रान्त-कौरव २६, २६०, २६१,
 २६४-५
 विजय १६, १९, २५५
 विजयकीर्ति ५४, ५६, १६१, १७५,
 ३५७, ४०६, ५१७, ५२७,
 ५२९, ५३१
 विजयधर्मसूरि १९८, २०२
 विजयनगर १२२
 विजयपुर १३८, १३९

विजयसागर २०१
 विजयसिंह ४७६
 विजयादित्य ८८, ३५९
 विजयाचार्य ३१, ५२, २७२
 विजयेन्द्र २६२
 विजयोदया २३, ३१, ३२, ३६,
 ३७, ४५, ४६, ५२, ६०, ५७१
 विज्ञप्ति-त्रिवेणी २२४
 विज्ञानेश्वर ८२, ५५०
 विदिशा २१४
 विद्या गण ३४४
 विद्यानंदि (द) १०२, १०७, १२०
 १६३, १६४, २३७, २७०,
 ४०५-६, ४१०
 विद्यानुवाद ३६६, ४१६
 विद्यानुशासन ४१६
 विद्यापुर ४७५
 विद्याभूषण ३४४
 विद्याविजय ३६७
 विनयचन्द्र १३०, १४०, ४६४
 विनयदत्त ५३
 विनयधर १६, ४२२
 विनयविजय ९३, ९६
 विनयसेन १७४, ५००, ५०१
 विनायकपाल ४३६, ४३७
 विनुरि २३५
 विपुल २०१, २०२
 विपुलाद्रि २०१, २१७
 विबुध गुणनंदि
 विमलएव ३८५

विमलचंद ३२, ५३
 विमलसूरि २७२ इ०, ५२०, ५७१
 विमलसेन (गण, सूरि) १७०,
 ३४४
 विरोचन ७३
 विल्हण ३९९
 विविधतीर्थकल्प १२९, १८६, १८८,
 १९६, २०८, २१३
 विविधप्रबंध १८८
 विशाख १६, ३२५
 विशाखाचार्य २५५, ४२१, ४३५
 विशाखनन्दन २६१
 विशालकीर्ति ११२, १३०, १३८,
 १३९, १४३-४, ४७६, ५३०
 विशालाक्ष ६२-६४, ७२
 विशेषवादि ६०, ४३१
 विशेषाभ्युदय ६०
 विश्वतत्त्वप्रकाश १५५
 विश्वनाथ २००
 विश्वभूषण १९७, २००, ४४०, ४५१
 विश्वसेन ३४४
 विश्वासराव २३०
 विषमपदतात्पर्य २८
 विषापहार ४६५, ५२९
 विष्णु १५
 विष्णुकांची २३१
 विष्णुगुप्त ६३
 विष्णुनंदि १५
 विष्णुनंदी २५५
 विष्णुपुराण

विष्णुयशोधर्मा २१
 विष्णुवर्धन ३५७, ४०
 विध्यचर्मा १२९, १३०
 १३५, १४०
 वीरचंद्र २७०, ५२७
 वीरधवल २१८
 वीरनंदि ८०, ८९, ९८,
 २५३-४, २९६-७,
 वीरपाल ३४
 वीरभैरव ३१४
 वीरमत्तण्डी २९६
 वीरवित् ४२२
 वीरसेन २६, ११३,
 १७६, २०२, २६१,
 ४२१, ४३१, ४३१, ४६
 वीरो ३३२
 वीसल साहु ३७७, ४४६
 वृकोदरी ७३
 वृत्तविलास ९८
 वृद्ध मनु ८२
 वृषदीपक १९०, २०१,
 वृषभ २०३
 वृंदावन ३०, ५९, २२४
 वृंदावन-विलास ३०
 वेआल ३८५
 वेकोंडुराज २९४
 वेणूर २३५
 वेताल ३८५
 वेत्रवती ४९४
 वेरणाज ३८५

जु, २००८

थाना दिवस पर पुलिसजनों की भैरमौजूदगी से जिलाधिकारी नाखुश

मां शीतला का
भव्य शृंगार कल

मीरजापुर। शीतला मंदिर समिति, रामविलास का चौराहा, गोसाईं टोला के तत्वावधान में देवी का भव्य शृंगार, हवन-पूजन अखंड भंडारा का आयोजन दस जून को किया गया है। कार्यक्रम को सफल बनाने में मंगल मोदतवाल, अशोक शर्मा, ठाकुर प्रसाद जायसवाल, प्रेमचंद आदि देवी भक्त जुटे हुए हैं।

(गाजीपुर कार्यालय से)

गाजीपुर, ९ जून। जिलाधिकारी द्वारा गत सप्ताह थाना दिवस के अवसर पर थानों का निरीक्षण कर पुलिसजनों के नहीं रहने, ठीक से काम नहीं करने अपनी गहरी नाराजगी जतायी थी, तो इस पर पारसों ७ जन को पुलिस अधीक्षक

उन्हें अनुपस्थित दिखायें तथा मुझे अवगत करायें। थाना गहमर में ४ प्राथनापत्र पड़े थे, जिसमें दो का निस्तारण किया गया था। शेष दो के लिए टीमें बना कर खाना कराया गया गहमर में एक प्राथनापत्र ३-१ मई २००८ पूर्व के थाना दिवस का लंबित पाया गया थानाध्यक्ष गहमर ने बताया

गाजीपुर, ९ जून। ग्रंथचार एवं अंतकवाद रथ का शुभारम्भ महाहिम राष्ट्रपति जी से मुक्त नये भारत के निर्माण हेतु महादेव ने यथाशीघ्र नहीं किये, तो १६ जून से नयी दिल्ली में राष्ट्रीय कल्याण मोचन के अध्यक्ष सुधीर सिंह जायसवाल आमरण अनशन शुरू कर देंगे। जायसवाल ने कल यहाँ पत्रकारों से बात करते हुए कहा कि २००९ से दलतुंग का समापन का आगमन संनिहित है।